योगांकका सब मसाला ग्राहकोंको एक जिल्दमें साथ ही मिल जाय, इसलिये आश्विनका अंक ('कल्याण' तीसरी संख्या) भी इसी जिल्दमें बाँध दिया गया है। 10547
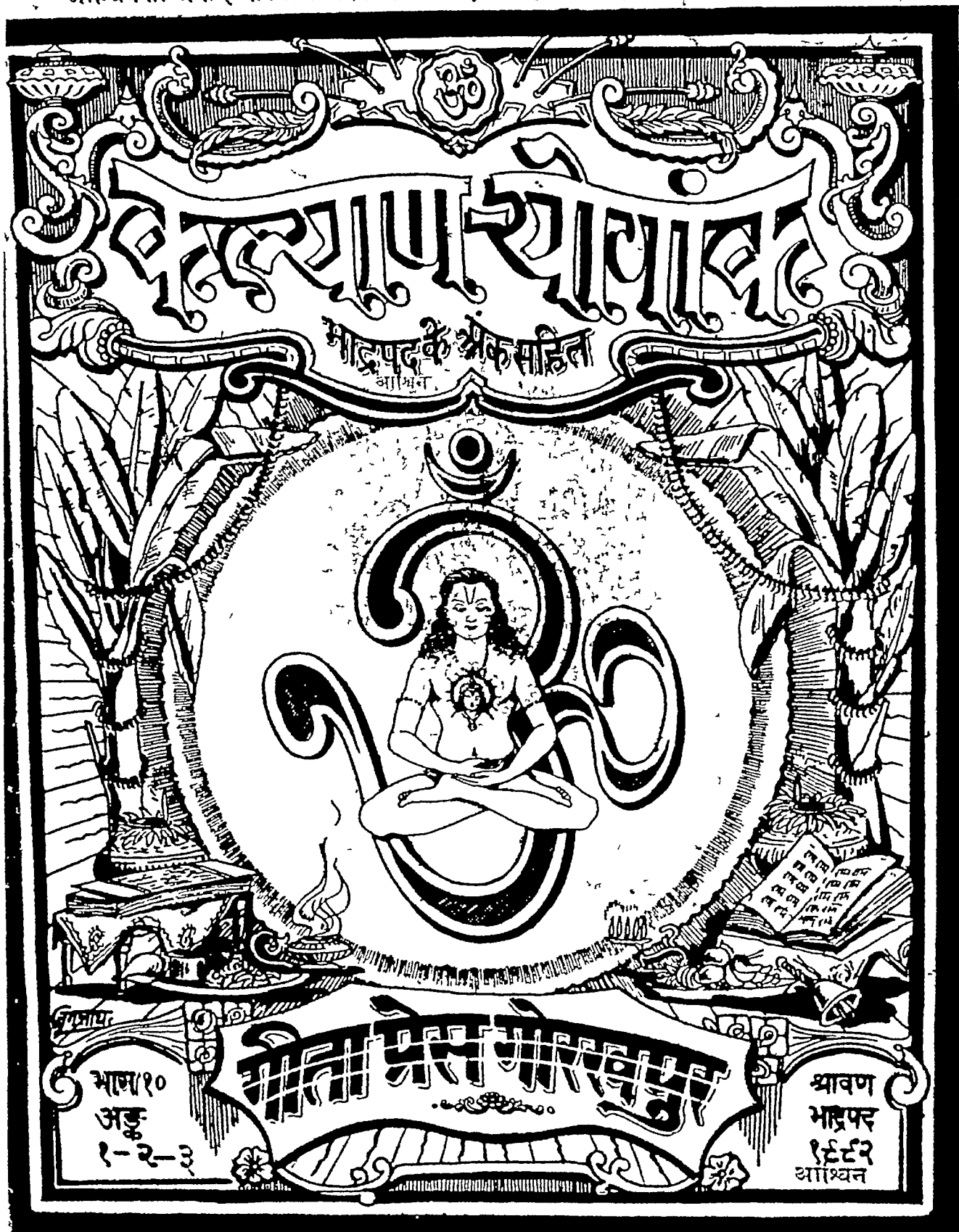
ग्राहकोंको इस प्रकार समझना चाहिये—श्रावणकी संख्या पृष्ठ १ से पृष्ठ ६१६ तक, भाद्रपदकी संख्या पृष्ठ ६१७ से ७६६ तक और आश्विनकी संख्या पृष्ठ ७६७ से ८८२ तक। गतवर्षकी अपेक्षा इस वर्ष सब मिलाकर ९८ पृष्ठ अधिक हैं।

दुर्गतिनाशिनि दुर्गा जय जय, कालविनाशिनि काली जय जय ।
उमा रमा ब्रह्माणी जय जय, राधा सीता रुक्मिणि जय जय ॥
साम्ब सदाशिव साम्ब सदाशिव साम्ब सदाशिव जय शंकर ।
हर हर शंकर दुखहर सुखकर अघ-तमहर हर हर शंकर ॥
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ आगारा ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम । गौरीशंकर सीताराम ॥
जय रघुनन्दन जय सियराम । व्रज-गोपी-प्रिय राधेश्याम ॥
रघुपति राघव राजा राम । पतितपावन सीताराम ॥

[प्रथम संस्करण ३०१००]

Approved by the Directors of Public Instruction, United Provinces, Bihar and Orissa, Assam, Bombay Presidency and Central Provinces.

कोई सज्जन विज्ञापन भेजनेका कष्ट न उठावें ।

कल्याणमें बाहरके विज्ञापन नहीं छपते ।

समालोचनार्थ पुस्तकें कृपया न भेजें ।

कल्याणमें समालोचनाका स्तम्भ नहीं है ।

वार्षिक मूल्य
भारतमें ४≡)
विदेशमें ६॥=)
(१० शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत् चित् आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

योगाङ्कका मूल्य
परिशिष्टांक स० ५)
विदेशमें ७)
साधारण प्रति ।)
विदेशमें ।≡)

Edited by L. N. Garde and Hanumanprasad Poddar.
Printed and Published by Ghanshyamdas Jalan at the Gita Press, Gorakhpur U.P. (India)

श्रीगीता और रामायणका प्रसार

परीक्षासमितिकी प्रार्थना

अभी अमेरिकाके प्रसिद्ध वयोवृद्ध विद्वान् तथा भारतवर्षके हितचिन्तक डा० सन्दरलैण्डने अँगरेजी 'कल्याण-कल्पतरु' के 'गीताङ्क'की एक प्रति 'हिन्दुस्तान टाइम्स' के प्रतिनिधि श्रीचम्मनलालको देकर बड़ा हर्ष प्रकट किया था। वे लिखते हैं कि 'इस गीताङ्ककी दस लाख प्रतियाँ यूरोप, अमेरिका आदि देशोंमें बिकनी चाहिये।' इससे पता चलेगा कि श्रीमद्भगवद्गीताके प्रति जगत्के विद्वानोंके हृदयमें कितना आदर है। गीताका महत्त्व केवल साहित्य या तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे ही नहीं है, प्रधान जीवनशास्त्रके नाते भी है। इसीलिये देशविदेशके सभी विद्वान् गीताके प्रचारके लिये उत्सुक हैं।

क्या ही अच्छा हो यदि जगत्के—खास करके भारतवर्षके इस किंकर्तव्यविमूढ जीवनमें, जिसमें चारों ओर निराशा-ही-निराशा दिखायी दे रही है, इस दिव्य ज्योतिर्मयी गीताका प्रचार घर-घर हो। और प्रत्येक व्यक्ति इससे प्रकाश और शक्ति प्राप्तकर अपना जीवन सफल बना सके।

श्रीगीताके साथ ही श्रीरामायणका भी अपना एक खास महत्त्व है। सदाचार, समता, प्रेम और विश्वबन्धुत्वका नाश करके व्यभिचार, कदाचार, विषमता, वैर और वैमनस्यको बढ़ानेवाला साहित्य हमारे पाठ्यक्रममें नहीं रहना चाहिये। यह प्रश्न आज सभी विचारशील पुरुषोंके सामने है।

इसके लिये श्रीरामचरितमानसके साथ ही श्रीतुलसीदासजीके अन्यान्य सभी ग्रन्थ बड़े उपयोगी हैं। यदि इन ग्रन्थोंके अध्ययनकी व्यवस्था कर दी जाय तो उपर्युक्त प्रश्न सहज ही हल हो सकता है। तुलसीदासजीके ग्रन्थोंमें सदाचार है, उनके शृङ्गारमें भी एक विशेष मर्यादा है, उनमें समाजको सुसंस्कृत, पवित्र और प्रेममय बनानेकी शक्ति है, उनमें निराशामय जीवनको आशापूर्ण, नास्तिक हृदयको आस्तिक एवं अशान्तिपूर्ण चित्तको शान्त बनानेकी शक्ति है।

इसी विचारसे गीता और तुलसीदासजीके अन्यान्य ग्रन्थोंसमेत रामायणकी शिक्षाके प्रचारके लिये 'श्रीगीता-परीक्षासमिति' और 'श्रीरामायणप्रसारसमिति' की स्थापना हुई थी। श्रीगीता रामायणके प्रचारका कुछ कार्य इन समितियोंके द्वारा हो भी रहा है। इन समितियोंके द्वारा अभी केवल परीक्षाका प्रबन्ध है और इनकी स्थापना हुए भी थोड़े ही वर्ष हुए हैं, प्रयत्न भी बहुत तीव्र नहीं है, इसपर भी गत वर्ष लगभग ६५०० परीक्षार्थी परीक्षामें बैठे थे। यदि गीता-रामायण-प्रेमी महानुभाव अपने-अपने स्थानोंमें दो-दो गीता-रामायण-परीक्षाके छात्र तैयार करनेका सङ्कल्प कर लें और अपने समीपस्थ किसी केन्द्रमें उनके सम्मिलित करनेकी व्यवस्था करा दें तो इस कार्यका विस्तार बहुत हो सकता है।

जिस प्रकार केन्द्र बनाने और छात्रोंकी संख्या बढ़ानेकी आवश्यकता है, उसी प्रकार लोगोंमें गीता-रामायणकी नियमित पढ़ाई और गीता-रामायणकी शिक्षाके अनुसार जीवन-निर्माणकी भी बड़ी आवश्यकता है। गीता-रामायणकी पढ़ाईकी व्यवस्था तो स्थान-स्थानपर होनी चाहिये। ऐसा होगा तो भारतीय संस्कृति और भारतके गौरवकी रक्षाके साथ-ही-साथ देववाणी संस्कृत और राष्ट्रभाषा हिन्दीके प्रचारमें भी बड़ी सहायता पहुँचेगी।

आशा है कि सभी विचारवान् भाई-बहिन गीता-रामायणकी शिक्षा घर-घर पहुँचानेके प्रयत्नमें तन-मनसे हमारी सहायता करेंगे।

इन समितियोंका कार्यालय 'बरहज' चला गया है, अतएव नियमावली आदि मँगानेके लिये पत्रव्यवहार निम्नलिखित पतेपर करना चाहिये। परीक्षाओंके लिये आवेदनपत्र भी बरहज भेजने चाहिये।

संयोजक,

श्रीगीतापरीक्षासमिति

या

श्रीरामायणप्रसारसमिति

पो० बरहज (गोरखपुर)

"Kalyana-Kalpataru"

or

The Bliss.

(English Edition of the "Kalyan")

The "Kalyana-Kalpataru" has been in existence for over a year and a half and during this short space of time it has been able to commend itself to the notice of eminent scholars, journalists and lovers of religion almost all over the world, thanks to the unstinted help and ungrudging co-operation received at the hands of its generous contributors, who include saints and savants of this country as well as abroad and representing various faiths and nationalities The "Kalyana-Kalpataru", like its Hindi prototype, issues, at the beginning of each year, a voluminous and profusely illustrated Special Number dealing with one main theme. The inaugural number for the first year was a "God Number" and that for the second year, a "Gītā Number", both of which have been highly appreciated in all quarters for the broad outlook of their contributors, the high standard and variety of their articles, the excellence of their get-up and the attractiveness of their pictures The following are the names of some of our contributors —

His Holiness Jagadguru Sri Sankaracharya of Puri, Sri Aurobindo of world-wide fame, Pandit Malaviya, Mahatma Gandhi, Sadhu Vaswani, Pandit Bhawani Shankar, Sri Anandsarup (Sahebji Maharaj), Dr Ganganath Jha, Principal Dhruva, Principal Gopinath Kabiraj, Sri Krishnaprema Bhikhari (whilom Prof. Nickson), Rev J T Sunderland, Rev Arthur E Massey, Rev Edwin Greaves, Prof F Otto Schrader, Dr Heinrich Lueders, Prof Otto Strauss, Prof Helmuth Glassenapp, Prof Ernest P Horrwitz, Swami Abhedanand, Syt Hirendra Nath Dutt, Swami Asanganand, Swami Yoganand, Swami Sivanand, Syt Nolinikanto Gupta, Syt Anilbaran Ray, Mrs Sophia Wadia, Dr I J S Taraporewalla, Dr M H. Syed, Prof Firoze Cowasji Davar, Dr Radhakamal Mukerjee, Principal Seshadri, etc., etc

The "Kalyana-Kalpataru" supplies about 800 pages yearly and is printed on thick 40 lb paper. The price of its annual Special Numbers is Rs 2/8/- each Subscribers for the whole year will get the Special Number along with eleven ordinary numbers (containing 48 pages and two multi-coloured pictures each) for Rs 4/8/- only, which is very cheap looking to the quality and quantity of the matter supplied.

Subscribers are enrolled from the beginning of the year File for the first year, including the "God Number" can be had for Rs 4/8/- The same, bound in beautiful cloth, can be had for Rs. 5/4/-

॥ श्रीहरिः ॥

श्रीयोगाङ्क और परिशिष्टाङ्क नं० १, २ की विषय-सूची

पृष्ठ-संख्या

परिशिष्टाङ्क नं० १ भाद्रपदका अंक

पद्य

संगृहीत

(परिशिष्टाङ्क नं० २ आश्विनके अङ्ककी विषय-सूची)

तिब्बत और हिमालयके योगी

थियोसोफी मतके योगी

चित्र-सूची

बहुरंगे

दुरंगे

इकरंगे

कल्याणके नियम

उद्देश्य

भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, धर्म और सदाचारसमन्वित लेखोंद्वारा जनताको कल्याणके पथपर पहुँचानेका प्रयत्न करना इसका उद्देश्य है।

प्रबन्ध-सम्बन्धी नियम

(१) यह हर एक महीनेकी कृष्णा एकादशीके लगभग प्रकाशित होता है।

(२) इसका डाकव्यय और विशेषांकसहित अग्रिम वार्षिक मूल्य भारतवर्षमें ४ऽ) और भारतवर्षसे बाहरके लिये ६॥=) नियत है। एक संख्याका मूल्य ।) है। बिना अग्रिम मूल्य प्राप्त हुए, पत्र प्रायः नहीं भेजा जाता। नमूना ।) मिलनेपर भेजा जाता है।

(३) एक वर्षसे कमके ग्राहक नहीं बनाये जाते। ग्राहक प्रथम अङ्कसे १२ वें अङ्कतकके ही बनाये जाते हैं। एक सालके बीचके किसी अङ्कसे दूसरी सालके उस अङ्क-तक नहीं बनाये जाते। कल्याणका वर्ष श्रावणसे आरम्भ होकर आषाढ़में समाप्त होता है।

(४) इसमें व्यवसायियोंके विज्ञापन किसी भी दरमें स्वीकारकर प्रकाशित नहीं किये जाते।

(५) कार्यालयसे 'कल्याण' दो-तीन बार जाँच करके प्रत्येक ग्राहकके नामसे भेजा जाता है। यदि किसी मासका 'कल्याण' ठीक समयपर न पहुँचे तो अपने डाकघरसे लिखा-पढ़ी करनी चाहिये। वहाँसे जो उत्तर मिले, वह अगला अङ्क निकलनेके कम-से-कम सात दिन पहलेतक कार्यालयमें पहुँच जाना चाहिये। देर होनेसे या डाकघरका जवाब शिकायती पत्रके साथ न आनेसे दूसरी प्रति बिना मूल्य मिलनेमें बड़ी अड़चन होगी।

(६) पता बदलनेकी सूचना (हिन्दी) महीनेकी कृष्ण प्रतिपदके पहले-पहले कार्यालयमें पहुँच जानी चाहिये। **लिखते समय ग्राहक-संख्या, पुराना और नया नाम, पता साफ-साफ लिखना चाहिये।** महीने-दो-महीनोंके लिये बदलवाना हो तो अपने पोस्टमास्टरको ही लिखकर प्रबन्ध कर लेना चाहिये।

लेख-सम्बन्धी नियम

भगवद्भक्ति, भक्तचरित, ज्ञान, वैराग्यादि ईश्वरपरक, कल्याणमार्गमें सहायक, अध्यात्मविषयक, व्यक्तिगत आक्षेप-रहित लेखोंके अतिरिक्त अन्य विषयोंके लेख भेजनेका कोई सज्जन कष्ट न करें। लेखोंको घटाने-बढ़ाने और छापने अथवा न छापनेका अधिकार सम्पादकको है। अमुद्रित लेख बिना माँगे लौटाये नहीं जाते। **लेखोंमें प्रकाशित मतके लिये सम्पादक उत्तरदाता नहीं हैं।**

आवश्यक सूचनाएँ

(१) ग्राहकोंको अपना नाम-पता स्पष्ट लिखनेके साथ-साथ **ग्राहक-संख्या** अवश्य लिखनी चाहिये।

(२) पत्रके उत्तरके लिये जवाबी कार्ड या टिकट भेजना आवश्यक है।

(३) ग्राहकोंको चन्दा मनिआर्डरद्वारा भेजना चाहिये क्योंकि वी० पी०के रुपये प्रायः देरीसे पहुँचते हैं। कभी-कभी तो डेढ़-दो महीनोंतक नहीं मिलते। इससे निश्चय नहीं होता कि वी० पी० छूटी या नहीं। रुपये न मिलनेतक ग्राहकोंमें नाम नहीं लिखा जाता, मिलनेपर ही आगेके अङ्क भेजे जाते हैं। खर्च दोनोंमें एक ही है परन्तु पहला अत्यन्त सुविधाजनक और दूसरा असुविधाका है। जिनका रुपया आता है उन्हींको कल्याण पहले भेजा जाता है।

(४) प्रेस-विभाग और कल्याण-विभाग अलग-अलग समझकर अलग-अलग पत्र-व्यवहार करना और रुपया आदि भेजना चाहिये। कल्याणके मूल्यके साथ पुस्तकों या चित्रोंका मूल्य या अधिक पैसे नहीं भेजने चाहिये।

(५) सादी चिट्ठीमें टिकट कभी नहीं भेजना चाहिये।

(६) मनिआर्डरके कूपनपर रुपयोंकी तादाद, रुपये भेजनेका मतलब, ग्राहक-नम्बर, पूरा पता आदि सब बातें साफ-साफ लिखनी चाहिये।

(७) प्रबन्ध-सम्बन्धी पत्र, ग्राहक होनेकी सूचना, मनिआर्डर आदि **'व्यवस्थापक "कल्याण" गोरखपुर'** के नामसे और सम्पादकसे सम्बन्ध रखनेवाले पत्रादि **'सम्पादक "कल्याण" गोरखपुर'** के नामसे भेजने चाहिये।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः । कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना । श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥

(भगवान् श्रीकृष्ण)

वर्ष १० | गोरखपुर, श्रावण १९९२, अगस्त १९३५ | संख्या १
पूर्ण संख्या १०९

स घा नो योग आ भुवत् स राये स पुरंध्याम् । गमद् वाजेभिरा स नः ।

(ऋग्वेद १ । ५ । ३)

शरणागतियोग

(भगवान् श्रीकृष्णका दिव्य उपदेश)

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥ (९ । ३२-३३)

हे अर्जुन ! मेरे अनन्यशरण होकर स्त्री, वैश्य और शूद्रगण तथा चाण्डालादि पापयोनिवाले भी निश्चय परमगतिको प्राप्त होते हैं । फिर पुण्ययोनि ब्राह्मण तथा राजर्षि (मेरे शरणागत) भक्तोंकी तो बात ही क्या है । अतएव तुम इस सुखरहित और अनित्य मनुष्यजन्मको पाकर निरन्तर मेरा ही भजन करो ।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥ (९ । ३४)

तुम मुझमे ही मन रक्खो, मेरे ही भक्त बनो, मेरा ही पूजन करो और मुझे ही नमस्कार करो । इस प्रकार मेरे शरण होकर आत्माको मुझमे समाहित करके तुम मुझको ही प्राप्त होओगे ।

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥ (१८ । ६४)

सब गोपनीयोंमे भी परम गोपनीय मेरे परम रहस्ययुक्त वचन तुम फिर सुनो । तुम मेरे अत्यन्त प्रिय हो, इसीलिये तुम्हारे हितकी बात बताता हूँ ।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ (१८ । ६५-६६)

हे अर्जुन ! तुम केवल मुझमे ही मन रक्खो, मेरे ही भक्त बनो, मेरा ही पूजन करो और मुझे ही नमस्कार करो । ऐसा करनेपर तुम मुझको ही प्राप्त होओगे । यह मै तुम्हें सत्य प्रतिज्ञा करके कहता हूँ, क्योंकि तुम मेरे (बहुत ही) प्यारे हो । सब धर्मों (दूसरे सब तरहके आश्रयों) को त्यागकर एकमात्र मेरी ही अनन्य-शरणमें आ जाओ । मै तुम्हे सब पापोंसे सर्वथा छुडा दूँगा । तुम चिन्ता न करो ।

यही सर्वोत्तम योग है ।

श्रीमद्भगवद्गीता और योगतत्त्वसमन्वयमीमांसा

(लेखक—श्रीगोवर्द्धनपीठाधीश्वर श्रीजगद्गुरु श्रीशङ्कराचार्य स्वामी श्री १ १ ० ८ श्रीभारतीकृष्णतीर्थजी महाराज)

गेहिकौध्विकफलालिविरक्तिं भक्तियुक्तनिजधर्मनिपक्तिम् ।
शान्तिदान्त्युपरतातितितिक्षामुख्यषड्गुणविवेकमुमुक्षाः ॥
शास्त्रदिष्टविधितस्त्वनुरोधं स्वान्तवृत्तिनिकुरुम्बनिरोधम् ।
यो ददाति गुरुरीश्वरयोगं नौमि नाशितनमद्भवरोगम् ॥
होमप्रमुख्यैर्जगति द्विजाद्याः कर्मव्रजैर्भक्तिविबोधनाभ्याम् ।
इच्छन्ति यत्तत्फलदायिकाभ्यां नमो नमः श्रीगुरुपादुकाभ्याम् ॥
हिरण्यगर्भाधिकबोधदाभ्यां शरण्यसंघातशिरोमणिभ्याम् ।
अरण्यमैक्यमतिप्रदाभ्यां नमो नमः श्रीगुरुपादुकाभ्याम् ॥
हौत्राग्निहोत्राग्निहविष्यहोतृहोमादिसर्वाकृतिभासमानम् ।
यद्ब्रह्म तद्बोधवितारिणीभ्यां नमो नमः श्रीगुरुपादुकाभ्याम् ॥

कल्याणकी इच्छासे प्रेरित होकर कल्याणके रास्ते और साधनकी खोजमें निकले हुए प्रत्येक विचारशील मनुष्यका अनुभव है कि यद्यपि भगवान्‌की रची हुई सृष्टिके अन्तर्गत अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंमें रहनेवाले अनन्तकोटि जीवोंमें शरीर, इन्द्रिय, चित्तवृत्तियों, बुद्धि, विद्या, अभ्यास आदि अंशोंमें अनन्त भेदोंके होनेके कारण कल्याण या शाश्वत श्रेयके साधनके विचारमें अनन्तकोटि मतभेद हुआ करते हैं, और एक-एक जीवके मनमें भी एक ही दिनमें असंख्य मतपरिवर्तन हो जाया करते हैं, तो भी सब जीवोंके विचारमें इस बातमें अत्यन्त एकता हमेशा नजर आती है कि उनका अन्तिम लक्ष्य तो एक ही हुआ करता है। वह यह है कि हमें सब स्थानोंमें, सब समयोंमें, सब अवस्थाओंमें और सब प्रकारसे सुख-शान्ति मिलती रहे और हमारी उन्नति ही होती रहे; किसी स्थानमें, किसी अवस्थामें, किसी बातमें, किसी प्रकारका तनिक भी दुःख, अशान्ति या अवनति न होने पावे। इसी स्वाभाविक एवं अनिवार्य चित्तवृत्ति तथा इच्छासे प्रेरित होकर सब जीव अपने-अपने विचार तथा शक्तिके अनुसार अनेक प्रकारके प्रयत्न करते रहते हैं।

जीवनका चिह्न

इसमें तो सन्देह या मतभेद नहीं है कि उन्नतिकी इच्छा स्वाभाविक ही नहीं, अपितु अत्यन्त आवश्यक एवं उचित भी है। क्योंकि उन्नतिकी इच्छा तथा उसके साधनका विचार और उसे प्राप्त करनेका उद्योग करना, यही हर एक जीवके जीवनका मुख्य एवं असंदिग्ध चिह्न है। सच पूछिये तो यह कहनेमें भी अत्युक्ति न होगी कि जहाँ उन्नतिकी इच्छा, विचार और प्रयत्न न होते हों वहाँ या तो जान ही नहीं है अथवा वह जान घटते-घटते शनैः-शनैः मृत्युकी ओर अग्रसर हो रही है। अर्थात् ऐसा जीव 'जीवन्नपि मृत एव'—कहनेको जीवित होते हुए भी यथार्थमें मुर्दा ही है। यह एक ऐसी सर्वथा सत्य बात है जिसका निराकरण या प्रतिवाद तो दूर रहा, जिसके बारेमें मतभेद या शङ्कातक नहीं हो सकती।

उन्नतिका सच्चा अर्थ

परन्तु साथ-ही-साथ उन्नतिके विचार और प्रयत्नमें इसलिये कठिनाई होती है कि हमलोग सच्चे दिलसे अपने कल्याण और उन्नतिको चाहते हुए भी किसी तत्त्वका भलीभाँति विचार नहीं करते और उन्नतिके यथार्थ लक्षणको न समझकर भ्रममें पड जाते हैं, बल्कि अपनी उन्नतिकी इच्छासे जो कुछ करते हैं उसीसे अवनतिके मार्गमें पहुँचकर स्वयं अपने ही अपराधोंसे अनेक नये-नये दुःखोंको भोगते हुए लाचार होकर पश्चात्तापसे बारंबार सन्तप्त होते रहते हैं। इसलिये इस बातकी अत्यन्त आवश्यकता होती है कि पहले हम अपने असली और सच्चे लक्ष्यका पता लगाकर उसके बाद साधन या रास्तेके विचारमें उतरें।

लक्ष्य और साधनका क्रम

लौकिक कार्योंमें भी तो यही क्रम होता है कि पहले हम अपने प्राप्तव्य स्थान (Goal या Destination) का सङ्कल्प या निश्चय कर लेते हैं और तत्पश्चात् रास्तेके बारेमें जिज्ञासा करने लगते हैं। यदि अनेक रास्ते हों तो उनमेंसे कौन-सा रास्ता सबसे नजदीक है, कौन सा सबसे शीघ्र पहुँचानेवाला है, कौन-सा सबसे सस्ता है और किसमें सबसे अधिक आराम है—इस बातका निश्चय करते हैं। किन्तु बड़े खेदकी बात है कि इन छोटी-छोटी यात्राओंमें भी इसी क्रमसे काम करते हुए और अपनी बुद्धिमत्ता, होशियारी और चालाकीपर अत्यन्त प्रसन्न होते हुए भी अपने जीवनरूपी इस बड़ी सांसारिक यात्राके विषयमें (जिसपर हमारे इसी जन्मके नहीं, अपितु सम्भवतः हजारों जन्मोंके सुख-दुःख निर्भर करते हैं) हमलोग अपने महान् उत्तरदायित्वका तनिक भी खयाल न करके इतनी विचारशून्यता दिखाया करते हैं कि हम इस प्रारम्भिक

बातको भी नहीं सोचते कि हमारी इस जीवनरूपी लम्बी यात्राका लक्ष्य क्या है।

उपहासकी बात

यात्रा तो शुरू हो चुकी है और हम अपने लक्ष्यकी दिशाको भी न जानते हुए, यात्रामें बहुत दूर निकल आनेके बाद भी, लक्ष्यका विचार न करके रास्तेमें मिलनेवाले प्रत्येक व्यक्तिसे पूछते रहते हैं कि हमें किस मार्गसे चलना चाहिये, अथवा केवल चर्चामात्र करते रहते हैं कि अमुक मार्ग ही अच्छा है, अमुक नहीं, इत्यादि। इससे बढ़कर अथवा इसके समान भी उपहासकी बात और क्या हो सकती है कि स्वयं हम ही न जानें कि हमें कहाँ जाना है, यही नहीं, हम औरोंके साथ चर्चा भी करते रहें कि कौन-सा रास्ता अच्छा है, इत्यादि ?

इसका परिणाम

जब स्वयं हम ही नहीं जानते कि हम कहाँ जाना है और इसीलिये अपने लक्ष्यका निर्देश न करते हुए हर एक व्यक्तिसे अपने मार्ग या साधनके बारेमें प्रश्न करते या सलाह माँगते चलते हैं, तब इसका यही परिणाम स्वाभाविक, उचित एवं अनिवार्य भी है कि जिससे सलाह माँगी जाती है वह हमारे भीतरके लक्ष्यको न जानते हुए, और कदाचित् अपने अन्दरके लक्ष्यका भी विचार न करते हुए उसी क्षण उसके मनमें जो मार्ग अच्छा या ठीक कर लगेगा उसीको बता सकेगा और बतानेको विवश होगा। अतः हम सबको पहले अपने असली और सच्चे लक्ष्यका पता लगाना होगा। लक्ष्यका निश्चय हो जानेके बाद साधनका विचार अपने आप उपस्थित होगा। इसलिये इस लेखके आरम्भमें इसी बातका उपोद्घातरूपसे विचार किया जाता है कि मनुष्यजातिका असली लक्ष्य क्या है ?

असली लक्ष्य एक ही है

यह विचार आरम्भ करनेसे पहले यह आक्षेप हो सकता है कि एक एक मनुष्यके मनमें भी एक ही दिनमें और एक एक क्षणमें बहुत सी इच्छाएँ उत्पन्न होती रहती हैं और उनमें बारम्बार परिवर्तन भी हुआ करते हैं, अतः एक ही व्यक्तिके हृदयका भी एक ही निश्चित और नियत लक्ष्य नहीं होता। ऐसी हालतमें हजारों प्रकारके और अत्यन्त विभिन्न विचारोंके मनुष्योंका एक ही लक्ष्य कैसे हो सकता है ? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि जब एक-एक [illegible] विचारों और इच्छाओंमें भी विपुल भेद हो जाया करते हैं तब अनन्तकोटि मनुष्योंके विचारोंमें अनन्त भेदोंका होना अवश्यम्भावी है। ऐसी दशामें सबके मनमें एक ही इच्छा या लक्ष्यका होना असम्भव सा ज्ञात होता है। तो भी बड़े आश्चर्य और आनन्दकी बात है कि जब हम ऊपर-ऊपरका विचार छोड़कर गहरे विचारोंमें उतरते हैं तब हमें उसी क्षण पता लग जाता है कि यद्यपि मनुष्य-मनुष्यके विचारोंमें और चित्तवृत्तियोंमें सङ्ख्यातीत भेद हैं तो भी हम सबका अन्तिम, असली और सच्चा लक्ष्य तो एक ही है, एक ही प्रकारका है और एक ही प्रकारके लक्षणोंवाला है।

साधनके विचारमें भेद

यह बिल्कुल सत्य है कि एक आदमी पैसेके पीछे पड़ा हुआ नजर आता है, दूसरा शरीरकी तन्दुरुस्ती एवं बलकी रक्षामें है, तीसरा विद्याकी चिन्तामें रहता है, चौथा कीर्तिका भूखा है, इत्यादि, इत्यादि। किन्तु ऊपर-ऊपर न जाकर थोड़ा ही गहरा विचार करनेपर हम सबको स्पष्ट हो जाता है कि कोई भी इन चीजोंके लिये इन चीजोंको नहीं चाहता, बल्कि उपर्युक्त एक-एक वस्तुको—सत्य सिद्धान्तके अनुसार या भ्रमसे—अपने हृदयके अभीष्ट अखण्ड, परिपूर्ण और शाश्वत शान्ति और आनन्दरूपी असली एवं सच्चे लक्ष्यका साधन समझकर और मानकर, उसकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करता है। उदाहरणार्थ, रात-दिन पैसेका ही चिन्तन और ध्यान करनेवाले किसी व्यक्तिसे पूछा जाय कि तू पैसा क्या चाहता है, तो वह जवाब देगा कि पैसेसे मैं अमुक-अमुक भोगोंका उपभोग कर सकता हूँ। इसपर उससे पूछा जाय कि तू अमुक-अमुक भोगोंका क्यों भोगना चाहता है, तो वह यही उत्तर देगा कि मुझे अमुक-अमुक भोगसे आनन्द होता है। अगर फिर उससे पूछा जाय कि तू आनन्दको क्या चाहता है तो इस प्रश्नके उत्तरमें यही जवाब हमेशा मिलता है कि आनन्द चाहना स्वाभाविक है। कोई यह नहीं कहता कि मैं अमुक प्रयोजन या लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये आनन्द चाहता हूँ। तन्दुरुस्ती, बल, विद्या, कीर्ति आदि अन्य सब पदार्थोंके बारेमें भी इसी प्रकारके प्रश्नोत्तर होते हैं।

लक्ष्यकी एकता और लक्षण

तात्पर्य यह है कि आनन्द ही सबका एकमात्र लक्ष्य है और धन-धान्य, गृह, स्त्री, पुत्र, विद्या, आरोग्य, कीर्ति आदि सब पदार्थोंको आनन्दरूपी अपने हृदयके असली, सच्चे और अन्तिम लक्ष्यका साधन समझकर हमलोग उन

सब चीजोंके पीछे पड़ा करते हैं। अर्थात् विचारमें जितने भेद होते हैं वे सब-के-सब साधनके बारेमें हैं, लक्ष्यके विषयमें तो तिलमात्र या अणुमात्र भी भेद नहीं होता और न हो सकता है। अब आगे हमें इस बातका विचार करना है कि हम सबके हृदयके भीतर हमेशा रहनेवाले इस शाश्वत और अखण्ड आनन्दरूपी लक्ष्यके अन्तर्गत क्या-क्या लक्षण होते हैं, उन्हें जाननेके लिये शास्त्रीय ग्रन्थोंके प्रमाण अथवा अन्य किसी मनुष्यविशेषकी साक्षी लेनेकी आवश्यकता नहीं है। अपने ही दिलसे पूछ-पूछकर कि हे दिल! तू क्या-क्या चाहता है, हम पता लगा सकते हैं कि हमारे हार्दिक लक्ष्यके कितने लक्षण होते हैं और वे क्या-क्या हैं।

पहला लक्षण—सत्स्वरूप

प्रत्येक जिज्ञासुको अपने दिलसे ही पूछनेपर कि हे हृदय! तू क्या चाहता है, पता लग सकता है कि मनुष्यमात्रके ही नहीं, बल्कि जीवमात्रके मनमें स्वभावसे ही सबसे पहले यही इच्छा हुआ करती है कि मैं सदा जीवित रहूँ। जो अत्यन्त वृद्ध और बिल्कुल कमजोर हो गया है, जिसके नेत्र, श्रोत्र, बुद्धि आदिसे कुछ भी काम नहीं होता, जिसकी जठराग्निमें अत्यन्त हलके खाद्य और पेय पदार्थोंको भी हजम करनेकी शक्ति नहीं रह गयी है और जो नाममात्रको जिन्दा रहते हुए भी यथार्थमें मरा हुआ ही समझा जाना चाहिये, ऐसा मनुष्य भी मरना नहीं चाहता, बल्कि सर्वदा जीते ही रहना चाहता है। ऐसे आदमीसे यदि पूछा जाय कि तू जिन्दा रहकर क्या करेगा और क्या कर सकता है, अथवा तू जिन्दा रहना क्यों चाहता है इत्यादि, तो कदाचित् उससे यही उत्तर मिलेगा कि जिन्दा रहनेकी इच्छा स्वाभाविक है, उसमें कारणकी अपेक्षा नहीं होती। अर्थात् जिन्दा रहना ही स्वतः एक लक्ष्य है, किसी इतर लक्ष्यका साधन नहीं है। इस प्रकारके विचारसे स्पष्ट है कि सदा जीवित रहना हम सबका प्रथम लक्ष्य है। और इसीका हमारे शास्त्रोंमें सत्पदार्थ (त्रिकालाबाध्यमस्तित्वम्) नाम है।

दूसरा लक्षण—चित्पदार्थ

इसी प्रकार अपने-अपने दिलसे पूछनेपर सबको पता लग सकता है कि हम सब जिन्दा रहते हुए सब पदार्थोंको जानना चाहते हैं। अर्थात् ज्ञान है हम सबका दूसरा लक्ष्य और इसीका नाम है हमारे वेदान्तकी परिभाषामें चित्।

तीसरा लक्षण—आनन्द-पदार्थ

पुनः इसी तरह विचार करनेसे स्पष्ट होता है कि केवल जिन्दा रहने और सब बातोंको जाननेसे ही तृप्त न होकर हम दुःखलेशसे भी रहित, केवल एवं अखण्ड और परिपूर्ण सुखको भी चाहते हैं। अर्थात् दुःखलेशसे भी रहित केवल शुद्ध, अखण्ड, परिपूर्ण सुख है हमारा तीसरा लक्ष्य और इसीका नाम हमारी संस्कृत भाषामें आनन्द है।

चौथा लक्षण—मुक्तस्वरूप

परन्तु, यदि अपने हृदयकी अभीष्ट सब सुखसामग्री हमें अपने स्वतन्त्र अधिकारसे न मिलकर दूसरे किसीके अनुग्रहसे मिला करे तो ऐसे सुखसे हमें तृप्ति और संतोष नहीं होता और हम कहने लगते हैं कि 'पराधीनतामें रहकर इन सब सुखोंको भोगनेकी अपेक्षा स्वतन्त्रतामें रहते हुए कम सुखोंका भोग करना श्रेष्ठ है, पराधीनता परम दुःख है,' इत्यादि।

भारतका इस समय बड़ा दुर्भाग्य है कि हमारे यहाँकी प्रचलित शिक्षाप्रणाली ही मिथ्या इतिहास सिखानेवाली है, जिसका परिणाम यह हुआ है कि हमलोग इस बातको भी नहीं जानते कि हमारे प्राचीन महर्षियोंसे पैत्रिक सम्पत्तिके रूपमें हमें कौन-कौन-सी विद्याएँ मिली हैं और यूरोप, अमेरिका आदि पाश्चात्त्य देशोंमें हमारे यहाँ कौन-कौन-सी वस्तुएँ आयी हैं, इत्यादि। अतएव हमलोग मिथ्या इतिहास सिखानेवाले पाश्चात्त्य देशोंके स्वार्थी प्रचारकोंकी अपने स्वार्थके लिये बतायी हुई हजारों असत्य बातोंको सत्य मानने और धोखा खानेको विवश हो गये हैं। उदाहरणार्थ, पाश्चात्त्य देशोंके स्वार्थी प्रचारक हिन्दुस्थानमें व्याख्यानों और पुस्तकोंके द्वारा प्रचार करते हैं कि राष्ट्रीय स्वतन्त्रता, स्वराज्य आदिका सिद्धान्त पाश्चात्त्य देशोंसे आया है, साइमन डी मांटफोर्ड (Simon De Montford), जॉन हैम्पडेन (John Hampden), जॉन मिल्टन (John Milton), ऑलिवर क्रॉमवेल (Oliver Cromwell), जॉन स्टुअर्ट मिल (John Stuart Mill), सर हेनरी केम्बेल बेनरमेन (Sir Henry Compbell Bannerman), प्रेजिडेंट विल्सन (President Wilson) आदि पाश्चात्त्य राजनैतिक नेता ही स्वतन्त्रताके सिद्धान्तके जगत्के लिये संस्थापक, सञ्चालक और प्रचारक थे और अँगरेजी साहित्य तथा इतिहासका परिचय न मिलनेतक भारतवर्षमें स्वतन्त्रताका स्वप्नान्तक न था, इत्यादि, इत्यादि। इन लोगोंकी असत्यप्रियता एवं असत्यवादिताके प्रमाणस्वरूप

आवश्यकता नहीं है। क्योंकि दुनियाभरके समस्त देशोंके समस्त स्मृतिकारोंमें सर्वप्रथम स्मृतिकार भगवान् मनुने भी दुःख और सुखका निर्वचन (Definition) करते हुए यही बताया है—

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्।

'परतन्त्रता ही दुःख है और स्वतन्त्रता ही सुख है।'

इसके अतिरिक्त इस बातको भी सबको स्मरण रखना चाहिये कि दूसरे किसी मतमें न मिलनेवाले, केवल सनातनधर्ममें ही मिलनेवाले मोक्ष या मुक्तिरूपी परम लक्ष्यका भी हमारे शास्त्रकारोंने यही निर्वचन किया है कि 'सर्वबन्धनिवृत्तिरूपो मोक्षः,' अर्थात् समस्त बन्धनोंसे निवृत्ति ही मोक्षका स्वरूप है। इस लक्ष्यका दूसरे किसी देशके किसी धर्म, मत या मजहबने कहीं भी कभी भी निर्देश नहीं किया, इससे यह स्पष्ट है कि यदि दुनियाभरमें कोई देश और कोई धर्म स्वतन्त्रताके सिद्धान्तको माननेवाला है तो वह देश हमारा हिन्दुस्थान है और वह धर्म हमारा सनातनधर्म है।

सब बन्धनोंकी निवृत्ति (Emancipation from all bondage) है हमारा लक्ष्य, दुनियाके और सब मतोंका लक्ष्य है स्वर्गमें सुखमय जीवन व्यतीत करना। किन्तु हम सनातनी भारतवासियोंकी दृष्टिमें तो स्वर्गवास भी तुच्छ एवं क्षुद्र, अतएव हेय है और हमारे मतमें मोक्ष ही (जिसका स्वरूप है सर्वबन्धनिवृत्ति) एकमात्र इच्छाकी वस्तु है।

इस आदर्शरूप परम ध्येयको अपने दिलसे कोई भी विचारशील मनुष्य निकाल नहीं सकता, क्योंकि यह इच्छा तो प्राणिमात्रके हृदयमें ईश्वरद्वारा ही स्थापित है। निम्नलिखित लौकिक दृष्टान्तोंसे भी यह बात सिद्ध होती है। तोते, चूहे आदि छोटे-छोटे जानवर भी किसी बड़े धनिक आदमीके घरमें सुवर्णके पिंजरे आदि अत्यन्त सुखमय स्थानमें खाने-पीने आदिकी दृष्टिसे भी सब आनन्दमें रहते हुए भी, मौका मिलनेपर तुरत अपने दीन-हीन जङ्गली स्थानकी ओर चल पड़ते हैं। इसका कारण यही है कि जीवमात्रके हृदयमें प्राकृतिक नियमोंके अनुसार यही भाव रहता है कि परतन्त्रतामें रहकर सुख भोगनेकी अपेक्षा दुःख भोगते हुए भी स्वतन्त्रतामें रहना श्रेष्ठ है। जब कृमि-कीट आदिके मनमें भी यही इच्छा रहती है तब मनुष्ययोनिमें उत्पन्न हुए उत्कृष्ट कोटिके जीवोंके लिये यह बात कैसे हो सकती है कि वे सर्वबन्धनिवृत्तिरूपी मोक्षसाम्राज्यको न चाहते हुए पराधीनताको पसंद करते रहें? इन सब विचारोंसे स्पष्ट है कि स्वतन्त्रता है हम सबका चौथा लक्ष्य और इसीका नाम है हमारे वेदान्तकी परिभाषामें मोक्ष।

पाँचवाँ लक्ष्य—ईशस्वरूप

अगला प्रश्न यह है कि क्या शाश्वत अस्तित्व, अखण्ड ज्ञान, परिपूर्ण आनन्द और स्वतन्त्रताके मिल जानेपर हम तृप्त हो जाते हैं? नहीं, क्योंकि फिर एक पाँचवीं वस्तुकी भी हमारे मनमें स्वाभाविक इच्छा हुआ करती है। वह यह है कि हम किसी दूसरेकी इच्छाके अनुसार न चलना पड़े, केवल इतनेसे ही हम सन्तोष नहीं कर लेते, अपितु यह चाहते हैं कि सारे जगत्के समस्त जीव हमारी इच्छाके अनुसार चलें। जिन्हें दुनियाका लेशमात्र भी अनुभव नहीं है, ऐसे छोटे-छोटे बालक भी तो यही चाहते हैं कि उनकी इच्छाके अनुसार उनके अनुभवी माता-पिता आदि भी चलें। अर्थात् हम औरोंके अधीन तो रहना चाहते ही नहीं, साथ-ही-साथ औरोंके ऊपर शासन करना भी अवश्य चाहते हैं। हमारे हृदयके इसी पाँचवें लक्ष्यका संस्कृतनाम ईशन या ईश्वरस्वरूप है।

छठा लक्षण—कोई नहीं है

और आगे विचार करनेपर पता लगता है कि इन पाँच लक्षणोंके बाद छठा लक्षण कोई नहीं है। इसका कारण यह है कि जब शाश्वत अस्तित्व, परिपूर्ण ज्ञान, अखण्ड आनन्द, सर्वथा स्वतन्त्रता और सर्वोपरि शासन—ये पाँच लक्षण प्राप्त हो जाते हैं तब इनके अतिरिक्त चाहनेयोग्य कोई वस्तु चौदह भुवनोंमें भी बाकी नहीं रह जाती। इसलिये हमारे हृदयके असली लक्ष्यके यही पाँच लक्षण हैं और हम जो-जो कार्य और प्रयत्न करते हैं वे सब-के-सब इन्हीं पाँचमेंसे किसी-न-किसी इच्छाकी प्रेरणासे किये जाते हैं।

इन पाँच लक्षणोंसे लक्षित लक्ष्यका नाम

अब इस बातका विचार करना है कि इन पाँच लक्षणोंसे लक्षित लक्ष्यका नाम क्या है, उसका स्थान कहाँ है, इत्यादि। सब धर्मोंके शास्त्रग्रन्थोंने बताया है कि ये पाँच लक्षण परमेश्वरमें पाये जाते हैं, और कहीं नहीं। अर्थात् इन पाँच लक्षणोंसे लक्षित लक्ष्यका नाम है भगवान्, और उसका स्थान भी वही है। जो मनुष्य अपनेको नास्तिक कहता हुआ बड़े गर्वके साथ कहता है कि मैं ईश्वरको नहीं मानता इत्यादि, वह भी तो नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-

सच्चिदानन्दघनस्वरूपी परमात्माके इन्हीं पाँच लक्षणोंको अपनेमें चाहता है। अर्थात् हम सब नर होते हुए भी, नारायणके लक्षण या अस्तित्वको भी न जानते हुए यथार्थमे नारायण ही बनना चाहते हैं और इसी इच्छाको पूर्ण करनेके लिये अपने-अपने विचारके अनुसार अनेक प्रकारके प्रयत्न करते रहते हैं।

मतान्तरोंका लक्ष्य

इस लक्ष्यकी दृष्टिसे विवेचन करनेपर आश्चर्य और चमत्कारका अनुभव होता है कि एक सनातनधर्मके अतिरिक्त और जितने मत-मतान्तर संसारमे है, उनमेसे एक भी इस लक्ष्यको (जो हर एक जीवके हृदयमे रहता है) नहीं बताता; बल्कि हमारे यह बतानेपर कि यही प्राणिमात्रके हृदयका असली और सच्चा लक्ष्य है, मतान्तरोंके अनुयायी हमसे लड पड़ते है और कहते है कि ऐसा खयाल करना भी blasphemous or sacrilegious (बड़ा भयङ्कर पाप) है, इत्यादि। परन्तु सनातनधर्म तो स्पष्ट कहता है—

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥

'जैसे बाण इधर-उधर न जाकर, अपने लक्ष्यके भीतर पैठकर उसके साथ एक हो जाता है, वैसे ही जीवरूपी बाणको इधर-उधर न भटककर अपने परमात्मरूपी लक्ष्यके भीतर प्रवेशकर उसके साथ एक हो जाना चाहिये।'

लक्ष्यप्राप्तिका साधन

यदि हम नरोको अपने-अपने दिलकी गवाहीसे सिद्ध हुए इस नारायणरूपी लक्ष्यको प्राप्त करना हो तो हमे उन विधर्मोंसे, जो हमारे हृदयके इस लक्ष्यका विचारतक नहीं करते, उसके साधनका ज्ञान कैसे मिल सकता है? इसलिये हमे अपने सनातनधर्मसे ही, जिसमे हमारे लक्ष्यका पता लगाकर उसकी प्राप्तिके उपाय भी बतलाये गये है, इसका साधन सीखना होगा।

साधनका नाम योग है

नारायणके साथ नरके एक हो जानेके लिये सनातनधर्ममे जो साधन या साधनसामग्री बतलायी है, उसीका नाम है संस्कृतमे योग। 'युजिर् योगे' इस धातुके आगे 'कर्तरि घञ्' प्रत्यय लगानेमे व्युत्पन्न होनेवाले 'योग' शब्दका अर्थ है मेल और 'करणे घञ्' लगानेपर उसका अर्थ मिलानेवाला होता है। अर्थात नर-नारायणसंयोगरूपी लक्ष्य भी 'योग' शब्दका अर्थ है और उन दोनोको एक करनेवाली साधनसामग्रीका नाम भी 'योग' है। क्रियात्मक दृष्टिसे रूढिमे तो साधनका ही नाम 'योग' है।

अनेक प्रकारके योग

इस साधनरूपी योगका जब विचार किया जाता है तब इस बातका अनुभव होता है कि शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, आध्यात्मिक आदि सब दृष्टिकोणोंसे विवेचन करनेपर साधकोकी अभिरुचि और सामर्थ्यमे जो अनन्त भेद होते हैं, उनके कारण स्वाभाविक और अनिवार्य अधिकारिभेदके अनुसार साधनमे भी अनेक प्रकारके भेदोंका होना अवश्यम्भावी और अनिवार्य है। इसलिये नरको नारायणके साथ एकता करानेवाला साधन सबके लिये एक नहीं हो सकता, बल्कि अपने-अपने अधिकारके अनुसार प्रत्येक साधकको अपने साधनका निश्चय करके उससे काम लेना होगा, अतएव परम कल्याणके साधनरूपी योग अनेक प्रकारके होते हैं और हमारे शास्त्रोंमें उन सबका नाम योग ही पाया जाता है। अर्थात् जो-जो साधनसामग्री जीवको परमात्मस्वरूपमे पहुँचानेवाले किसी-न-किसी रास्तेपर या सीढ़ीपर चढानेवाली हो या उसमे तनिक भी आगे बढानेवाली हो उसका 'योग' शब्दसे निर्देश किया जा सकता है। और उनमेसे भी जो साधनसामग्री नरको नारायणस्वरूपमे ही पहुँचा देती हो वही मुख्य वृत्ति (Primary meaning) से 'योग' कहलाती है, तथा जो-जो साधनसामग्री इस काममे सिर्फ सहायक हो वह तो गौण (Secondary) ही कहला सकती है। इस तरह गौण और मुख्यके विचारसे भी योगोंमें तारतम्यकी बात होती है।

आनुपूर्वीका विवेचन

इसके अतिरिक्त यह भी शास्त्रसिद्ध एवं युक्तियुक्त और अनुभवसिद्ध है कि एक-एक रास्तेपर चलनेवाले साधकोंके लिये भी जिन अनेक साधनोकी आवश्यकता हुआ करती है, उनमे भी आनुपूर्वी (आगे-पीछेके क्रम) का हिसाब करना पड़ता है और साधकोंको उन साधनोंसे उसी क्रमसे काम लेना अच्छा होता है जिसे शास्त्रोंने अधिकारिभेद आदिके विचारसे उस-उस साधकके लिये कल्याणकारी बताया हो।

योगोंके अवान्तरविभाग

उक्त कारणोंसे अधिकारिभेद एवं आनुपूर्वीके भेदके कारण क्रियायोग, समाधियोग, मन्त्रयोग, जपयोग लययोग प्राचीन (मार्कण्डेयी) हठयोग, नवीन (मत्स्येन्द्रनाथी)

हठयोग, कुलकुण्डलिनीयोग, अकुलकुण्डलिनीयोग, वाग्योग, शब्दयोग, अस्पर्शयोग, साहसयोग, शून्ययोग, श्रद्धायोग, भक्तियोग, प्रेमयोग, प्रपत्ति (शरणागति)-योग, निष्काम कर्मयोग, अभ्यासयोग, ध्यानयोग, मार्गयोग, ज्ञानयोग, राजयोग, राजाधिराजयोग, महायोग, पूर्णयोग आदि अनेकानेक योगोंका पतञ्जलि आदिके ग्रन्थोंमें विस्तृत वर्णन मिलता है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें योगोंकी संख्या

इनके अतिरिक्त श्रीमद्भगवद्गीताके मूल वाक्योंमें ही बहुत-से और अनेक प्रकारके योगोंका उल्लेख आता है, जिनमेंसे कुछ नाम ये हैं—१ समत्वयोग (२ । ४८, ६ । २९–३३) २ ज्ञानयोग (३ । ३, १३ । २४, १६ । १) ३ कर्मयोग (३ । ३, ५ । २, १३ । २४) ४ दैवयज्ञयोग (४ । २५) ५ आत्मसंयमयोग (४ । २७) ६ योगयज्ञ (४ । २८) ७ ब्रह्मयोग (५ । २१) ८ संन्यासयोग (६ । २, ९ । २८) ९ दुःखसंयोगवियोगयोग (६ । २३) १० अभ्यासयोग (८ । ८, १२ । ९) ११ ऐश्वरयोग (९ । ५, ११ । ८–९) १२ नित्याभियोग (९ । २२) १३ सततयोग (१० । ९, १२ । १) १४ बुद्धियोग (१० । १०, १८ । ५७) १५ आत्मयोग (१० । १८, ११ । ४७) १६ भक्तियोग (१४ । २६) १७ ध्यानयोग (१८ । ५२)।

अनासक्तियोग और असहयोग

इस खास मौकेपर कोई पूछे कि अनासक्तियोग और असहयोग (जो आजकल हिन्दुस्थानमें पुस्तकरूपसे एवं प्रचारके द्वारा प्रसिद्ध हुए हैं) क्या चीजें हैं, तो उत्तरमें इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि—

(१) श्रीमद्भगवद्गीतामें जो कर्मयोग अथवा निष्काम कर्मयोग जगत्प्रसिद्ध है उसीका अनासक्तियोग-यह नया नाम रक्खा गया है। अनासक्तियोग कोई नयी वस्तु नहीं है।

(२) असहयोग तो कोई योग ही नहीं है। पातञ्जलादि योगशास्त्रके ग्रन्थोंमें योगसाधनोंके बीचमें यह बताया गया है कि सज्जनोंके साथ मैत्री और दुष्टोंके प्रति केवल उपेक्षाका भाव (द्वेष नहीं) रखना चाहिये। और श्रीमद्भगवद्गीतामें भी 'अनपेक्ष', 'उदासीन' आदि शब्दोंके द्वारा उपेक्षाका ही वर्णन मिलता है। योगसाधनान्तर्गत साधनोंमेंसे इसी उपेक्षारूपी एक छोटे टुकड़ेका ही आजकल असहयोग नाम रक्खा गया है। यह भी कोई नयी चीज नहीं है और पूरा योग भी नहीं है। अस्तु।

परस्पर सम्बन्ध

पूर्वोक्त सब प्रकारके योगोंके जो वर्णन भिन्न-भिन्न ग्रन्थोंमें मिलते हैं उनके आधारपर इन सब योगोंके परस्पर सम्बन्ध, आनुपूर्वी आदिका विवेचन करना इसलिये बहुत कठिन है कि वे परस्परविरुद्ध प्रतीत होते हैं, किन्तु उनके समन्वयकी अत्यन्त आवश्यकता सभी जिज्ञासुओंके अनुभवसे सिद्ध है।

योगका निर्वचन

इसके अतिरिक्त जिज्ञासुओंके लिये यह भी एक कठिनाईका कारण हो जाता है कि योगके निर्वचनके बारेमें भी गड़बड़ नजर आती है। क्योंकि भगवान् पतञ्जलिने अपने योगसूत्रोंमें योगका—

'चित्तवृत्तिनिरोधः'

—यह एक सरल निर्वचन दिया है, किन्तु दूसरोंने और-और प्रकारके निर्वचन दिये हैं। श्रीमद्भगवद्गीतारूपी एक ही ग्रन्थमें इसके अनेकानेक निर्वचन दिये गये हैं। इन सब निर्वचनोंके भी (जो परस्परविरुद्ध या कम-से-कम परस्पर असम्बद्ध अवश्य मालूम देते हैं) समन्वयकी आवश्यकता है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें योगनिर्वचन

श्रीमद्भगवद्गीतामें योग और योगीके जो अनेकानेक निर्वचन मिलते हैं उनमेंसे कुछ निम्नलिखित हैं—

१ समत्वं योग उच्यते। (२ । ४८)

२ योगः कर्मसु कौशलम्। (२ । ५०)

३ श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥ (२ । ५३)

४ योगसंन्यस्तकर्माणम्। (४ । ४१)

५ योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ॥ (५ । ७)

६ नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्। (,, । ८)
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥ (,, । ९)

७ कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥ (,, । ११)

८ बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा .... ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा ... ॥ (,, । २१)

९ शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥(५।२३)

१० योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ······· ॥(,,।२४)

११ अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥(६।१)

१२ यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसंन्यस्तसङ्कल्पो योगी भवति कश्चन॥(,,।२)

१३ यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसङ्कल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते॥(,,।४)

१४ शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः॥(,,।७)
ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः॥(,,।८)

१५ सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥(,,।९)

१६ एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः॥(,,।१०)

१७ प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।(,,।१४)

१८ यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा॥(,,।१८)
यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः॥(,,।१९)

१९ यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति॥(,,।२०)
सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥(,,।२१)
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥(,,।२२)
तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा॥(,,।२३)

२० प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥(,,।२७)

२१ सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥(,,।२९)
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥(,,।३०)
आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥(,,।३२)

२२ योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥(६।४७)

२३ सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्(८।१२)

२४ अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥(,,।१४)

२५ नैते सृती पार्थ जानन् योगी मुह्यति कश्चन।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन॥(,,।२७)

२६ मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।(९।४-५)

२७ सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥(,,।१४)

२८ अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां ··· ··· ··· ॥(,,।२२)

२९ मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥(१०।९)

३० तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥(,,।१०)

३१ मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥(११।५५)
एवं सततयुक्ता ये ··· ········· ·····।(१२।१)

३२ मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥(,,।२)

३३ ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि सन्न्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥(,,।६)

३४ तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥(,,।७)

३५ मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥(१४।२६)

३६ धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी (१८।३३)

भगवान् श्रीकृष्णके श्रीमुखसे निकले हुए इन सब निर्वचनोंका आपसमें एवं भगवान् पतञ्जलिके दिये हुए—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।

—इस निर्वचनके साथ समन्वय स्पष्ट नहीं होता, बल्कि आपसमें विरोधकी शङ्का भी होती है। इसलिये भी

इन सब योगनिर्वचनों और योगोंके समन्वयकी आवश्यकता है।

तीन ही काण्ड

परन्तु इन सब निर्वचनोंका एक दूसरेके साथ समन्वय स्पष्ट न होनेपर भी, इन निर्वचनोंका साधारण तौरपर अनुशीलन करनेसे भी यह तो स्पष्ट हो जाता है कि उपर्युक्त और मनसे सम्भावना करनेयोग्य सब प्रकारके (मुख्य एव गौण) योगों और योगप्रक्रियाओंका समन्वय-की दृष्टिसे वर्गीकरण करनेपर, प्रत्येक रीतिके योगका (कितने भी नामभेद होते हुए) कर्मकाण्ड, उपासना-काण्ड और ज्ञानकाण्ड, इन तीनोंमेंसे किसी-न-किसी काण्डमें अवश्य अन्तर्भाव हो जाता है। अतः इन्हीं तीनों काण्डोंके समन्वयका विचार करनेकी आवश्यकता प्रतीत होती है।

काण्डत्रयविरोधाभास

परन्तु इस प्रकारसे सब प्रकारके योगोंको इन तीन काण्डोंके भीतर ले आनेपर भी इन तीनों काण्डोंका आपसमें भयङ्कर विरोध ही मालूम देता है। एक श्री-मद्भगवद्गीतामें ही इस परस्पर आत्यन्तिक विरोधाभासकी प्रतीतिके समर्थक कारण मिलते हैं। यह कोई बड़ी बात नहीं है कि एक स्थानमें कर्मकाण्ड, दूसरेमें उपासनाकाण्ड और तीसरेमें ज्ञानकाण्डकी महिमा जोर-शोरसे बतायी गयी है। परन्तु जब स्थान-स्थानपर एक-एक काण्डके प्राशस्त्यके वर्णनके बाद बाकी दोनों काण्डोंका आत्यन्तिक खण्डन, निन्दा और निषेध करनेवाले वचन श्रीभगवान्‌के श्रीमुखसे निकले हुए प्रतीत होते हैं, तब इनके समन्वयकी अत्यन्त आवश्यकता अति स्पष्ट है।

कर्मयोगका प्राशस्त्य

उदाहरणार्थ, कर्मकाण्डकी महिमा बताते हुए श्री-भगवान्‌ने ज्ञानकाण्डका तिरस्कार-सा करनेका कम-से-कम अर्जुनके मनमें भी भ्रम पैदा करते हुए कहा है—

१ नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः। (३।८)
२ कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः। (,,।२०)
३ कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते। (५।२)
४ तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः। ६।४६

भक्तियोगकी प्रशस्ति

इसी प्रकार भक्तियोगकी महिमा भी ज्ञानकाण्ड और खास करके कर्मकाण्डके तिरस्कारके साथ ही निम्नलिखित श्लोकोंमें की गयी मालूम होती है—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥ (६।४७)
अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग् व्यवसितो हि सः॥ (९।३०)
न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै-
र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर॥ (११।४८)
नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥ (,,।५३)
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥ (,,।५४)
मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥ (१२।२)
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥ (१८।६६)

ज्ञानयोगकी श्रेष्ठता

इसी तरह श्रीभगवान्‌ने ज्ञानयोगकी जो प्रशंसा की है उसमें तो केवल भक्ति और कर्मोंका ही नहीं, बल्कि वेदोंका भी तिरस्कार है, इत्यादि कहते हुए आर्यसमाजी लोग श्रीमद्भगवद्गीताका विरोध एवं खण्डन करते हैं। ऐसे वाक्योंमेंसे कुछ दृष्टान्त स्थालीपुलाकन्यायसे नीचे दिये जाते हैं।

१ यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥ (२।४२)
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥ (,,।४३)
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥ (,,।४४)
२ त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन॥ (,,।४५)
३ यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥ (,,।४६)
४ दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय। (,,।४९)
५ श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि॥ (,,।५३)

६ सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ (४।३३)
७ अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ (,,।३६)
८ यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥ (,,।३७)
९ न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते । (,,।३८)

विरोधाभासमें भी चमत्कार

अब उदाहरणार्थ कर्म और ज्ञानके बारेमें जब यह विचार करते हैं कि इन दोनोंमेंसे कौन-सा श्रेष्ठ है और श्रीमद्भगवद्गीतामें श्रीभगवान्‌ने इस विषयपर क्या कहा है, तो बड़े आश्चर्य और चमत्कार अथवा गड़बड़, गोलमाल और दिल्लगीकी बात यह देखनेमें आती है कि श्रीभगवान्‌ने तो इस विषयपर गीताके भिन्न-भिन्न स्थानोंमें परस्परविरुद्ध तीन मत प्रकट किये हैं—

१ दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय । (२।४९)
'ज्ञानयोगसे कर्मयोग अत्यन्त नीचा है ।'

२ ······कर्म ज्यायो ह्यकर्मण । (३।८)
कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते ॥ (५।२)
ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः । (६।४६)
'कर्मत्यागसे कर्म श्रेष्ठ है । ज्ञानियोंसे भी कर्मयोगी श्रेष्ठ है ।'

३ साङ्ख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
·········· (५।४)
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥ (,,।५)
'साङ्ख्य और योगको बालक ही पृथक् कहते हैं, पण्डित नहीं कहते । जो साङ्ख्य और योगको एक देखता है वही ठीक देखता है ।'

इसको समझानेके लिये एक काल्पनिक दृष्टान्त दिया जा सकता है कि राम और कृष्णके बारेमें वाद-विवाद होनेपर कि दोनोंमें उम्रकी दृष्टिसे कौन बड़ा है, अगर एक ही आदमी एक साथ तीन फैसले दे कि—

१ राम ही कृष्णसे बड़ा है ।
२ कृष्ण ही रामसे बड़ा है ।
और ३ दोनोंकी उम्र बराबर है ।

—तो श्रीमद्भगवद्गीतावाली कर्मज्ञानसम्बन्धी परिस्थिति-का ठीक-ठीक नमूना सामने आ जाता है ।

पाश्चात्त्य विद्वानोंकी समालोचना

परस्पर अत्यन्त विरुद्ध प्रतीत होनेवाले सिद्धान्तोका एक ही गीतामें जो यह अद्भुत समावेश हुआ है उसके कारण Western Orientalists, Indologists and Research Scholars (पाश्चात्त्य समालोचकों) ने इन बातोंका समन्वय न कर सकनेके कारण तंग आकर यहाँतक कह डाला है कि श्रीमद्भगवद्गीता एक ही श्रीकृष्णका दिया हुआ उपदेश नहीं हो सकता, तीनों काण्डोंके भिन्न-भिन्न अनुयायियोंके ग्रन्थोंको किसी मूर्खने मिला दिया होगा, इत्यादि ।

अर्जुनको भी भ्रम हो गया था

पाश्चात्त्योंकी बात तो जाने दीजिये, स्वयं अर्जुनकी भी तो यही दशा हुई । दूसरे अध्यायको सुनकर इन परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाली अनोखी बातोंका समन्वय न कर सकनेके कारण तीसरे अध्यायके आरम्भमे वह भी तो यही कहने लगा—

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मा नियोजयसि केशव ॥ (३।१)
व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥ (,,।२)

और आगे बढ़नेपर, तीसरे एवं चौथे अध्यायको सुनकर, पाँचवें अध्यायके आरम्भमें भी वह यही कहने लगा—

सन्न्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥ (५।१)

परन्तु अर्जुनकी इन प्रार्थनाओंपर श्रीभगवान्‌ने जो उत्तर दिये उनसे तृप्त होकर अर्जुन अन्तमें कहता है—

स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥ (१८।७३)

तो भी केवल पाश्चात्त्य विद्वानोंके मनमें ही नहीं, बल्कि हमारे इस पवित्र हिन्दुस्थानके निवासी षट्शास्त्रपार-गत विद्वच्छिरोमणियोंके हृदयमें भी इन तीनों काण्डोंके समन्वयके बारेमें कुछ-न-कुछ शंका उठती ही रहती है । यह बात अनुभवसे बारबार जाननेमें आयी है ।

इस लेखका लक्ष्य

अतः इन तीनों काण्डों, सब योगों और समस्त प्रक्रियाओंके परस्पर समन्वयका विचार करना ही प्रस्तुत

लेखका लक्ष्य है। इनकी आनुपूर्वी आदि सम्बन्धोकी बातें भी कहीं-कहीं आनुषगिकरूपसे आ सकती हैं, परन्तु इस लेखका यह लक्ष्य नहीं है। खास मतलब तो समन्वयका ही है। और क्योंकि सनातनधर्मके वेदादि समस्त मूल प्रमाणग्रन्थोंका सारांश श्रीमद्भगवद्गीतामे है और क्योंकि उसमे तीनों काण्डोंके सम्बन्धमें गड़बड भी बहुत है, इसलिये प्रकृत लेखके उद्दिष्ट समन्वयका विशेष करके और प्रायश. श्रीमद्भगवद्गीताके आधारपर ही विचार किया जाता है।

जटिल पारिभाषिक प्रक्रियाएँ

अतएव भक्ति और प्रपत्तिका पारिभाषिक भेद, वैधी और रागानुगा भक्तिका भेद, भक्तियोगमे रसोंका सोपान-क्रम, प्राचीन (मार्कण्डेयी) हठयोग और नवीन (मत्स्येन्द्रनाथी) हठयोगका भेद, हठयोगके षट्कर्म, योगके यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधिरूपी अष्टाङ्ग, योगमार्ग और वियोगमार्गका भेद, षट्चक्रभेदनविधि, अधोमुख सहस्रार और ऊर्ध्व-मुख सहस्रार, नाडीचक्र, दशमद्वार-रहस्य, भ्रमरगुहा, गुप्त अष्टदलकमल, बन्धप्रक्रिया, मुद्राभेद, वज्रोली, राजोली, अमरोली और सहजोलीके तत्त्व, प्रज्ञाकी सप्तभूमिका, अ-क-थका त्रिचक्र, क्रियायोग और समाधियोगके भेद एव अधिकारी, गुरुतत्त्व, गुरुपादुकातत्त्व, गुरुदीक्षातत्त्व, दीक्षा-में आणवी, शाक्ती, शाम्भवी, वैष्णवी, कलावती, मान्त्री, हौत्री, स्पार्ती, चाक्षुषी, वैधी आदि भेद, गुरुदयासे शक्ति-सञ्चार, गुरुवचनसे तत्त्वबोधका उदय, तारकज्ञानका लक्षण, योगविभूति, कायाकल्प (अर्थात् कायापलट), भूतजय, अष्टमहासिद्धि, इन्द्रियजय, मधुप्रतीकसिद्धि, परकायप्रवेश, विशोका सिद्धि, व्योमपथ (शून्यपथ), ऋतम्भरा प्रज्ञा, बिन्दु और महाबिन्दुका स्वभाव एवं परस्परसम्बन्ध, ज्योतिष्मती प्रवृत्ति, नादानुसन्धान, स्मृतिपरिशुद्धि, ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि और रुद्रग्रन्थि-भेदनरहस्य, कायशुद्धि (कायसिद्धि), युक्तत्रिवेणी और मुक्तत्रिवेणी, भूतशुद्धि और चित्तशुद्धि, सहजमार्ग, भावदेह और ज्ञानदेह, प्रणवतत्त्वरहस्य और उसके भ्रामरीनाद, शङ्खनाद, घण्टानाद आदि भेद, बीजमन्त्रोंका प्रणवके साथ सम्बन्ध, श्रुत-चिन्ता-भावनामयी प्रज्ञा और भूमिप्रविष्ट प्रज्ञा, प्राणायामरहस्य, कुम्भकके अनेक प्रकारके भेद, लोकसंस्थान, पिपीलिकामार्ग और विहङ्गममार्ग, रूपध्यान और अरूप-ध्यान, पञ्चस्वरतत्त्व, स्वरोदयतत्त्व, स्मृत्युपस्थान, शुक्ल-नील-पीतप्रभावलीरहस्य, दर्शनमार्ग और भावनामार्ग, सगुण-ध्यान और निर्गुणध्यान, कायव्यूह, निर्माणकाय एव निर्माणचित्त, क्लेशस्वरूप-क्लेशविभाग-क्लेशनिवारणोपाय, शून्यध्यान, शून्य-महाशून्य-अतिशून्यविवेचन, योगके तन्त्रोक्त आणव-शाम्भव-शाक्तमार्ग, अनुपायमार्ग, गुणस्थान, साधनसोपान, सिद्धशिला, अभिमतध्यानरहस्य, लोकाकाश और अलोकाकाश, भवप्रत्यय और उपायप्रत्यय असम्प्र-ज्ञात समाधिका भेद, सम्प्रज्ञात समाधिके प्रभेद, धर्ममेघ, सवर और निर्जर, अपरवैराग्य और परवैराग्यका विवेचन, मनःपर्यायज्ञान, अवधिज्ञान और केवलज्ञान, सात्मकयोग और निरात्मकयोगका पाशुपतशास्त्रोक्त भेद, कर्म-स्वभाव, कर्मप्रभेद, कर्मविपाक, असगोक्त योगप्रक्रिया, नागार्जुनोक्त योगप्रक्रिया, ब्रह्मचर्य, नैष्ठिक ब्रह्मचर्य और उपकुर्वाण ब्रह्मचर्य, शुक्ल, कृष्ण और रक्त ब्रह्मचर्य, ऊर्ध्व-रेतस्त्व, प्रज्ञापारमिता, मधुमती, योगान्तराय, प्रेतात्मवाद, योगासनप्रक्रिया, योगासनो तथा षट्कर्मसे व्याधि-चिकित्सा, रश्मिविज्ञान, जड समाधि, योगक्षेम इत्यादि अति जटिल पारिभाषिक विषयोंके (जिनका केवल स्वानु-भूति ही एकमात्र प्रमाण और निरूपक है) निरूपणमें हम नहीं उतरेंगे। केवल इन सब प्रकारके योगभेदोंके समन्वयके स्पष्टीकरणके लिये आवश्यक दिग्दर्शनमात्र कराया जाता है।

श्रीमद्भगवद्गीता और योगशास्त्र

चूँकि योगकी अर्थात् नरके नारायण बननेकी साक्षात् विधि बतानेके खास मतलबसे भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने अर्जुनरूपी नरको निमित्त बनाकर तीनो काण्डोंके योगका निरूपण किया है, इसीलिये श्रीमद्भगवद्गीता योगशास्त्र कहलाती है और इसीलिये उसके प्रत्येक अध्यायके अन्तमें दिया गया है—'इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे' अमुक योग नामक अमुक अध्याय समाप्त हुआ।

श्रीमद्भगवद्गीताके अठारह अध्याय

इन अठारह अध्यायोंके क्रमश. ये नाम हैं—

१ अर्जुनविषादयोग, २ साङ्ख्ययोग, ३ कर्मयोग, ४ ब्रह्मार्पणयोग (ज्ञानकर्मसन्यासयोग), ५ कर्मसन्यासयोग, ६ आत्मसयमयोग, ७ ज्ञानविज्ञानयोग, ८ अक्षरब्रह्म-योग, ९ राजविद्याराजगुह्ययोग, १० विभूतियोग, ११ विश्वरूपदर्शनयोग, १२ भक्तियोग, १३ क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभाग-योग, १४ गुणत्रयविभागयोग, १५ पुरुषोत्तमयोग, १६ दैवासुरसपद्विभागयोग, १७ श्रद्धात्रयविभागयोग, १८ मोक्षसन्यासयोग।

अठारह अध्यायोंमें अठारह योग

इन अठारह अध्यायोंके विषयोंका विचार करनेपर विदित होता है कि—

पहले अध्यायमें अर्जुनके दुःखका ही वर्णन है । २ दूसरे अध्यायमें कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड, इन तीनोंका समन्वय करते हुए भगवान्ने सारी भगवद्गीताका सक्षेपसे उपदेश दिया । परन्तु ३ इस सक्षिप्त उपदेशके पर्याप्त न होनेके कारण, अर्थात् दूसरे अध्यायके अन्तमें जब अर्जुन कर्मभक्तिज्ञानसमन्वयको नहीं समझता और पूछता है कि—

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मा नियोजयसि केशव ॥ (३ । १)

—इत्यादि, तब श्रीभगवान् दूसरे अध्यायमे सक्षेपसे बताये हुए सिद्धान्तका ही बाकी सोलह अध्यायोमे विवरण करते हुए तीसरे, चौथे, पॉचवें और छठे अध्यायोंमें कर्मकाण्डके अन्तर्गत चार योगविभागों तथा बीचके छः अध्यायोंमे उपासनाकाण्डान्तर्गत छः योगविभागों और अन्तिम छः अध्यायोंमें ज्ञानकाण्डके अन्तर्गत छः योगविभागो अर्थात् कुल मिलाकर सोलह योगोंका अर्जुनको उपदेश देते हैं । इनके परस्पर सम्बन्धों और आनुपूर्वी आदि विषयोंका इस लेखमें वर्णन नहीं हो सकता । तो भी, ऐसी कुछ खास-खास बातोंका विवेचन या कम से-कम दिग्दर्शन तो अवश्य करना है, क्योंकि उनके समझे बिना योगशास्त्रके श्रीमद्भगवद्गीतारूपी परम ग्रन्थके खास-खास सिद्धान्त भी समझमें नहीं आ सकते । इसलिये ऐसी ही कुछ खास-खास बातोंका दिग्दर्शन कराया जाता है ।

योगारम्भकी पहली सीढ़ी—सकाम कर्मयोग

उपर्युक्त सोलह योगोंके अतिरिक्त, अष्टमाध्यायमें श्रीभगवान्ने—

१ यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः । (८ । २३)

२ तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥ (८ । २५)

—इन दोनों श्लोकोंमे, मोक्षको प्राप्त करनेवाले निष्कामकर्मीकी भाँति, स्वर्गलोकमें जाकर लौटनेवाले कर्मफलेच्छु कर्मकाण्डीका भी 'योगी' शब्दसे जो निर्देश किया गया है उसके ऊपर यह शङ्का उत्पन्न हो सकती है कि—

१ आवृत्तिं चैव योगिनः ।

२ योगी प्राप्य निवर्तते ।

—क्या इसीसे स्पष्ट नहीं है कि श्रीभगवान्ने सकामकर्मीको भी योगी ही माना है ? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि वहाँ मालूम तो ऐसा ही होता है; परन्तु समस्त भगवद्गीतामें केवल इन दो श्लोकोंको छोडकर सकाम कर्मकी जो अतिशय निन्दा और खण्डन ही उपलब्ध होता है उससे स्पष्ट है कि श्रीभगवान्के बताये हुए किसी भी निर्वचनके अनुसार ये सकामकर्मी कर्मठ गीताके सिद्धान्तानुसार किसी प्रकारके भी योगी नहीं माने जा सकते । अतः इनके बारेमें उदाहृत दो श्लोकोमे जो 'योगी' शब्द (दो बार) मिलता है उसे केवल औपचारिक प्रयोग माननेको हमें बाध्य होना पड़ता है । नहीं तो समस्त गीताकी इन दो श्लोकोंसे निरर्थकता हो जानेकी आपत्ति आती है ।

औपचारिक प्रयोग

ऐसे कर्मकाण्डीको औपचारिक रीतिसे योगी मानना भी इस आधारपर ही स्वीकार हो सकता है कि ऐसे आदमी (जो फलकी कामनासे कर्म करते हैं)—

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते ॥ (९ । २१)

—इस हिसाबसे बारबार स्वर्गादिमें सुख भोगकर फिर गर्भवास आदि सङ्कटमे आकर—

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो
निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन ।

—इस मुण्डकोपनिषद्के बताये हुए प्रकारसे अनन्त पुनरावृत्तिमें पहुँचानेवाले सकाम कर्ममार्गसे बिल्कुल तग आकर—निर्विण्ण (Disgusted) होकर एक दिन निष्कामकर्मके मार्गपर आरूढ़ होनेवाले जरूर बन जायँगे । अतः मोक्षकी प्राप्ति करानेवाले निष्काम कर्मयोगके मार्गपर आरूढ़ होनेके लिये पहली सीढ़ी यह है कि आदमी नरकको प्राप्त करानेवाले पापके रास्तेसे बचकर स्वर्गादिमें ले जानेवाले सकाम कर्ममार्गमे चलने लगे । (क्रमशः)

लेखका लक्ष्य है। इनकी आनुपूर्वी आदि सम्बन्धोंकी बातें भी कहीं-कहीं आनुषंगिकरूपसे आ सकती हैं, परन्तु इस लेखका यह लक्ष्य नहीं है। खास मतलब तो समन्वयका ही है। और क्योंकि सनातनधर्मके वेदादि समस्त मूल प्रमाणग्रन्थोंका साराश श्रीमद्भगवद्गीतामें है और क्योंकि उसमें तीनों काण्डोंके सम्बन्धमें गड़बड़ भी बहुत है, इसलिये प्रकृत लेखके उद्दिष्ट समन्वयका विशेष करके और प्रायशः श्रीमद्भगवद्गीताके आधारपर ही विचार किया जाता है।

जटिल पारिभाषिक प्रक्रियाएँ

अतएव भक्ति और प्रपत्तिका पारिभाषिक भेद, वैधी और रागानुगा भक्तिका भेद, भक्तियोगमें रसोंका सोपान-क्रम, प्राचीन (मार्कण्डेयी) हठयोग और नवीन (मत्स्येन्द्रनाथी) हठयोगका भेद, हठयोगके षट्कर्म, योगके यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधिरूपी अष्टाङ्ग, योगमार्ग और वियोगमार्गका भेद, षट्चक्रभेदनविधि, अधोमुख सहस्रार और ऊर्ध्व-मुख सहस्रार, नाडीचक्र, दशमद्वार-रहस्य, भ्रमरगुहा, गुप्त अष्टदलकमल, बन्धप्रक्रिया, मुद्राभेद, वज्रोली, राजोली, अमरोली और सहजोलीके तत्त्व, प्रज्ञाकी सप्तभूमिका, अ-क-थका त्रिचक्र, क्रियायोग और समाधियोगके भेद एवं अधिकारी, गुरुतत्त्व, गुरुपादुकातत्त्व, गुरुदीक्षातत्त्व, दीक्षामें आणवी, शाक्ती, शाम्भवी, वैष्णवी, कलावती, मान्त्री, हौत्री, स्पार्शी, चाक्षुषी, वैधी आदि भेद, गुरुदयासे शक्ति-सञ्चार, गुरुवचनसे तत्त्वबोधका उदय, तारकज्ञानका लक्षण, योगविभूति, कायाकल्प (अर्थात् कायापलट), भूतजय, अष्टमहासिद्धि, इन्द्रियजय, मधुप्रतीकसिद्धि, परकायप्रवेश, विशोका सिद्धि, व्योमपथ (शून्यपथ), ऋतम्भरा प्रज्ञा, बिन्दु और महाबिन्दुका स्वभाव एवं परस्परसम्बन्ध, ज्योतिष्मती प्रवृत्ति, नादानुसन्धान, स्मृतिपरिशुद्धि, ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि और रुद्रग्रन्थि-भेदनरहस्य, कायशुद्धि (कायसिद्धि), युक्तत्रिवेणी और मुक्तत्रिवेणी, भूतशुद्धि और चित्तशुद्धि, सहजमार्ग, भावदेह और ज्ञानदेह, प्रणवतत्त्वरहस्य और उसके भ्रामरीनाद, शङ्खनाद, घण्टानाद आदि भेद, बीजमन्त्रोंका प्रणवके साथ सम्बन्ध, भूत-चिन्ता-भावनामयी प्रज्ञा और भूमिप्रविष्ट प्रज्ञा, प्राणायामरहस्य, कुम्भकके अनेक प्रकारके भेद, लोकसंस्थान, पिपीलिकामार्ग और विहङ्गममार्ग, रूपध्यान और अरूप-ध्यान, पञ्चस्वरतत्त्व, स्वरोदयतत्त्व, स्मृत्युपस्थान, शुक्ल-नील-पीतप्रभावलीरहस्य, दर्शनमार्ग और भावनामार्ग, सगुण-ध्यान और निर्गुणध्यान, कायव्यूह, निर्माणकाय एवं निर्माणचित्त, क्लेशस्वरूप-क्लेशविभाग-क्लेशनिवारणोपाय, शून्यध्यान, शून्य-महाशून्य-अतिशून्यविवेचन, योगके तन्त्रोक्त आणव-शाम्भव-शाक्तमार्ग, अनुपायमार्ग, गुणस्थान, साधनसोपान, सिद्धशिला, अभिमतध्यानरहस्य, लोकाकाश और अलोकाकाश, भवप्रत्यय और उपायप्रत्यय असम्प्रज्ञात समाधिका भेद, सम्प्रज्ञात समाधिके प्रभेद, धर्ममेघ, संवर और निर्जर, अपरवैराग्य और परवैराग्यका विवेचन, मनःपर्यायज्ञान, अवधिज्ञान और केवलज्ञान, सात्मकयोग और निरात्मकयोगका पाशुपतशास्त्रोक्त भेद, कर्म-स्वभाव, कर्मप्रभेद, कर्मविपाक, असङ्गोक्त योगप्रक्रिया, नागार्जुनोक्त योगप्रक्रिया, ब्रह्मचर्य, नैष्ठिक ब्रह्मचर्य और उपकुर्वाण ब्रह्मचर्य, शुक्ल, कृष्ण और रक्त ब्रह्मचर्य, ऊर्ध्व-रेतस्त्व, प्रज्ञापारमिता, मधुमती, योगान्तराय, प्रेतात्मवाद, योगासनप्रक्रिया, योगासनों तथा षट्कर्मसे व्याधि-चिकित्सा, रश्मिविज्ञान, जड समाधि, योगक्षेम इत्यादि अति जटिल पारिभाषिक विषयोंके (जिनका केवल स्वानुभूति ही एकमात्र प्रमाण और निरूपक है) निरूपणमें हम नहीं उतरेंगे। केवल इन सब प्रकारके योगभेदोंके समन्वयके स्पष्टीकरणके लिये आवश्यक दिग्दर्शनमात्र कराया जाता है।

श्रीमद्भगवद्गीता और योगशास्त्र

चूँकि योगकी अर्थात् नरके नारायण बननेकी साक्षात् विधि बतानेके खास मतलबसे भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने अर्जुनरूपी नरको निमित्त बनाकर तीनों काण्डोंके योगका निरूपण किया है, इसीलिये श्रीमद्भगवद्गीता योगशास्त्र कहलाती है और इसीलिये उसके प्रत्येक अध्यायके अन्तमें दिया गया है—'इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे' अमुक योग नामक अमुक अध्याय समाप्त हुआ।

श्रीमद्भगवद्गीताके अठारह अध्याय

इन अठारह अध्यायोंके क्रमशः ये नाम हैं—

१ अर्जुनविषादयोग, २ सांख्ययोग, ३ कर्मयोग, ४ ब्रह्मार्पणयोग (ज्ञानकर्मसंन्यासयोग), ५ कर्मसंन्यासयोग, ६ आत्मसंयमयोग, ७ ज्ञानविज्ञानयोग, ८ अक्षरब्रह्म-योग, ९ राजविद्याराजगुह्ययोग, १० विभूतियोग, ११ विश्वरूपदर्शनयोग, १२ भक्तियोग, १३ क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभाग-योग, १४ गुणत्रयविभागयोग, १५ पुरुषोत्तमयोग, १६ दैवासुरसम्पद्विभागयोग, १७ श्रद्धात्रयविभागयोग, १८ मोक्षसंन्यासयोग।

अठारह अध्यायोंमें अठारह योग

इन अठारह अध्यायोंके विषयोंका विचार करनेपर विदित होता है कि—

पहले अध्यायमें अर्जुनके दुःखका ही वर्णन है। २ दूसरे अध्यायमें कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड, इन तीनोंका समन्वय करते हुए भगवान्‌ने सारी भगवद्गीताका सक्षेपसे उपदेश दिया। परन्तु ३ इस सक्षिप्त उपदेशके पर्याप्त न होनेके कारण, अर्थात् दूसरे अध्यायके अन्तमे जब अर्जुन कर्मभक्तिज्ञानसमन्वयको नहीं समझता और पूछता है कि—

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव॥ (३।१)

—इत्यादि, तब श्रीभगवान् दूसरे अध्यायमे संक्षेपसे बताये हुए सिद्धान्तका ही बाकी सोलह अध्यायोंमें विवरण करते हुए तीसरे, चौथे, पॉचवें और छठे अध्यायोंमें कर्मकाण्डके अन्तर्गत चार योगविभागो तथा बीचके छः अध्यायोंमें उपासनाकाण्डान्तर्गत छः योगविभागों और अन्तिम छः अध्यायोंमें ज्ञानकाण्डके अन्तर्गत छः योगविभागो अर्थात् कुल मिलाकर सोलह योगोंका अर्जुनको उपदेश देते हैं। इनके परस्पर सम्बन्धो और आनुपूर्वी आदि विषयोंका इस लेखमें वर्णन नहीं हो सकता। तो भी, ऐसी कुछ खास-खास बातोंका विवेचन या कम-से-कम दिग्दर्शन तो अवश्य करना है, क्योंकि उनके समझे विना योगशास्त्रके श्रीमद्भगवद्गीतारूपी परम ग्रन्थके खास-खास सिद्धान्त भी समझमें नहीं आ सकते। इसलिये ऐसी ही कुछ खास-खास बातोंका दिग्दर्शन कराया जाता है।

योगारम्भकी पहली सीढ़ी—सकाम कर्मयोग

उपर्युक्त सोलह योगोंके अतिरिक्त, अष्टमाध्यायमें श्रीभगवान्‌ने—

१ यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः। (८।२३)

२ तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते॥ (८।२५)

—इन दोनों श्लोकोमे, मोक्षको प्राप्त करनेवाले निष्कामकर्मीकी भाँति, स्वर्गलोकमे जाकर लौटनेवाले कर्मफलेच्छु कर्मकाण्डीका भी 'योगी' शब्दसे जो निर्देश किया गया है उसके ऊपर यह शङ्का उत्पन्न हो सकती है कि—

१ आवृत्तिं चैव योगिनः।

२ योगी प्राप्य निवर्तते।

—क्या इसीसे स्पष्ट नहीं है कि श्रीभगवान्‌ने सकामकर्मीको भी योगी ही माना है? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि वहाँ मालूम तो ऐसा ही होता है; परन्तु समस्त भगवद्गीतामें केवल इन दो श्लोकोंको छोड़कर सकाम कर्मकी जो अतिशय निन्दा और खण्डन ही उपलब्ध होता है उससे स्पष्ट है कि श्रीभगवान्‌के बताये हुए किसी भी निर्वचनके अनुसार ये सकामकर्मी कर्मठ गीताके सिद्धान्तानुसार किसी प्रकारके भी योगी नहीं माने जा सकते। अतः इनके बारेमे उदाहृत दो श्लोकोंमें जो 'योगी' शब्द (दो बार) मिलता है उसे केवल औपचारिक प्रयोग माननेको हमें बाध्य होना पड़ता है। नहीं तो समस्त गीताकी इन दो श्लोकोसे निरर्थकता हो जानेकी आपत्ति आती है।

औपचारिक प्रयोग

ऐसे कर्मकाण्डीको औपचारिक रीतिसे योगी मानना भी इस आधारपर ही स्वीकार हो सकता है कि ऐसे आदमी (जो फलकी कामनासे कर्म करते है)—

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एव त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागत कामकामा लभन्ते॥ (९।२१)

—इस हिसाबसे बारबार स्वर्गादिमें सुख भोगकर फिर गर्भवास आदि सङ्कटमे आकर—

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो
निर्वेदमायान्नास्त्यकृत. कृतेन।

—इस मुण्डकोपनिषद्‌के बताये हुए प्रकारसे अनन्त पुनरावृत्तिमे पहुँचानेवाले सकाम कर्ममार्गसे बिल्कुल तंग आकर—निर्विण्ण (Disgusted) होकर एक दिन निष्कामकर्मके मार्गपर आरूढ होनेवाले जरूर बन जायँगे। अत. मोक्षकी प्राप्ति करानेवाले निष्काम कर्मयोगके मार्गपर आरूढ होनेके लिये पहली सीढ़ी यह है कि आदमी नरकको प्राप्त करानेवाले पापके रास्तेसे बचकर स्वर्गादिमें ले जानेवाले सकाम कर्ममार्गमें चलने लगे। (क्रमशः)

भक्तियोग और शरणागतियोगका वैलक्षण्य

(लेखक—श्रीकाञ्चीप्रतिवादिभयङ्करमठाधीश्वर जगद्गुरु श्रीभगवद्रामानुजसम्प्रदायाचार्य श्री १ १ ० ८ श्रीअनन्ताचार्य स्वामीजी महाराज)

भक्त्या परमया वापि प्रपत्त्या वा महामुने। प्राप्योऽहं नान्यथा प्राप्यो वर्षलक्षशतैरपि॥

मोक्षोपाय

वेदान्तसिद्धान्तानुसार परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिको ही अधिकांश लोग मोक्ष मानते हैं। उस परब्रह्मकी प्राप्ति किस रूपमें होती है—चाहे इस विषयमें भले ही मतभेद हो, किन्तु मोक्षका साधन 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्', 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति', 'तमेव विद्वानमृत इह भवति', 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति' इत्यादि उपनिषद्वाक्यानुसार ब्रह्मवेदन है। 'विद् ज्ञाने' इस धातुसे 'वित्', 'वेद', 'विद्वान्', 'विदित्वा' आदि शब्द बनते हैं। अतएव 'वेदन' शब्दका अर्थ होगा ज्ञान। 'अविद्यया मृत्यु तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते', 'ब्रह्मविद्यामधिष्ठाय तर्तुं मृत्युमविद्यया' इत्यादि वचनोंके देखनेसे मालूम होता है कि वेदन ही 'विद्या' शब्दसे व्यवहृत होता है। उसीको 'ब्रह्मविद्या' कहते हैं। वेदान्तदर्शनमें सूत्रकार बादरायणने 'विद्या' शब्दका प्रयोग किया है। तृतीयाध्याय, तृतीय पादमें 'पुरुषविद्यायामपि चेतरेषामनाम्नानात्', 'विद्येव तु निर्धारणाद्दर्शनाच्च'—इन सूत्रोंमें 'विद्या' शब्दका प्रयोग हुआ है। चतुर्थ पादके आरम्भमें 'पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायण.' इस सूत्रमें 'अतः' शब्दसे पूर्वप्रस्तुत ब्रह्मविद्याका परामर्श करके उसीसे मोक्षरूप पुरुषार्थकी प्राप्ति बताते हुए सूत्रकारने ब्रह्मविद्याको ही मोक्षसाधन सिद्ध किया है।

ब्रह्मविद्याएँ अनेक हैं, सद्विद्या, दहरविद्या, अन्तरादित्यविद्या इत्यादि उनके नाम हैं। इन विद्याओंमेंसे किसी भी एक विद्याका अनुष्ठान करके मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। ये विद्याएँ उपासनारूप हैं, यह बात 'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्' इस सूत्रमें ब्रह्मसूत्रकारने सिद्ध की है। उपासना ध्यानरूप है। 'ध्यै चिन्तायाम्' धातुसे 'ध्यान' शब्द बनता है। अतएव ध्यान उस ज्ञानधारा या धारावाहिक ज्ञानका नाम है जो अविच्छिन्न-एकरूपप्रत्ययवाहिनी हो। भगवान् पराशरने ध्यानका स्वरूप निम्नलिखित श्लोकमें बताया है—

तद्रूपप्रत्यया चैका सन्ततिश्चान्यनिःस्पृहा।
तद् ध्यानं प्रथमैः षड्भिरङ्गैर्निष्पाद्यते तथा॥

अर्थात् विषयान्तरसम्बन्धरहित केवल भगवद्रूपमात्रविषयक प्रत्ययसन्तति ही ध्यान है। अतएव मोक्षसाधनभूत वेदन ज्ञानमात्र न होकर उपासन, निदिध्यासन आदि शब्दवाच्य ध्यानरूप ज्ञान होगा। वही ब्रह्मविद्या और वही मोक्षसाधन है। 'विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात्' इस ब्रह्मसूत्रके अनुसार अनेक ब्रह्मविद्याएँ तुल्यफलदायी होनेके कारण वैकल्पिक हैं। अर्थात् इच्छानुसार किसी भी एक ब्रह्मविद्याका आश्रय लेकर पुरुषार्थलाभ किया जा सकता है। उपायभक्ति या भक्तियोग ब्रह्मविद्या ही है, यह बात आगे व्यक्त होगी। और शरणागतियोग भी ब्रह्मविद्याभेदोंमेंसे है। अतएव ये भी मोक्षसाधन हैं। इनको ब्रह्मविद्या मान लेनेपर 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय', 'नान्यः पन्था अयनाय विद्यते' इत्यादि वाक्योंका विरोध भी दूर हो जाता है। ये वाक्य स्पष्ट कह रहे हैं कि वेदन ही मोक्षसाधन है, दूसरा नहीं। यदि हम भक्तियोग और शरणागतियोगको वेदनप्रभेद नहीं मानते हैं तो इन वाक्योंमें विरोध आवेगा। क्योंकि वेदनभिन्न किसीका मोक्षसाधनत्व इन वाक्योंको सह्य नहीं है। 'नान्यः पन्थाः' स्पष्ट शब्द है, दूसरा मार्ग ही मोक्षके लिये नहीं है।

यहाँ यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि वेदान्तके मोक्षोपायकथनप्रकरणोंमें वेदन, ध्यान, उपासन, निदिध्यासन आदि शब्द एक ही अर्थमें प्रयुक्त हुए हैं।

क्योंकि एक प्रकरणमें एक विषयका वर्णन करते हुए 'विदि' और 'उपासि' धातुओंका प्रयोग एक दूसरेके स्थानपर किया हुआ मिलता है। कहीं 'विदि' धातुसे उपक्रम होकर 'उपासि' धातुसे उपसंहार हुआ है। और कहीं 'उपासि' से उपक्रम होकर 'विदि' से उपसंहार हुआ है। यदि इन धातुओंके अर्थ एक न होते तो ऐसा न होता। छान्दोग्य उपनिषद्के प्रपाठक ४ खण्ड १ में 'यस्तद्वेद यत्स

वेद स मयैतदुक्तः' इस स्थलमें 'विदि' से उपक्रम होकर 'अनु म एतां भगवो देवता शाधि यां देवतामुपास्से' इस प्रकार 'उपासि' धातुसे उपसंहार हुआ है। एवं 'मनो ब्रह्मेत्युपासीत' इस स्थलमें 'उपासि' धातुसे उपक्रम होकर 'भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद' इस प्रकार 'विदि' धातुसे उपसहार हुआ है। इससे यह सिद्ध होता है कि मोक्षोपायकथनप्रकरणमे जो 'विदि' और 'उपासि' धातु आये हैं वे एकार्थवाची हैं। सेवा और उपासना पर्यायवाची शब्द हैं। 'भज सेवायाम्' धातुसे 'भक्ति' शब्द बनता है। 'सेवा भक्तिरुपास्तिः' निघण्टुवचन है।

भक्तियोग और शरणागतियोगमें परस्पर अनेक प्रकारसे वैलक्षण्य है। क्रमसे हम उनका निरूपण करेंगे।

स्वरूप-वैलक्षण्य

भक्ति दो प्रकारकी मानी जाती है—उपाय-भक्ति और साध्य-भक्ति। इनमेंसे उपाय-भक्ति तैलधारावत् अविच्छिन्न विषयान्तररहित दर्शनसमानाकार परमप्रेमरूप स्मृतिसन्तान (परम्परा) को कहते है। समस्त उपनिषद्वाक्य एक स्वरसे इस सिद्धान्तका प्रतिपादन करते हैं। क्योंकि मोक्षोपायविधानप्रकरणोमे—

'ब्रह्मविदाप्नोति परम्', 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः', 'आत्मानमेव लोकमुपासीत', 'तमेवैकं ध्यायथ', 'ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्ष.'।

'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥'

'भक्त्या च धृत्या च समाहितात्मा
ज्ञानस्वरूपं परिपश्यन्ति धीराः।'

'भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥'

'भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥'

—इत्यादि मोक्षोपायविधायक वचनोंमे वेदन, दर्शन, निदिध्यासन, उपासन, ध्यान, ध्रुवा स्मृति, भक्ति इत्यादि शब्दोंसे मोक्षोपायका विधान पाया जाता है। मीमांसाके 'छागपशुन्याय' अर्थात् सामान्यविशेष-न्यायसे इन सब शब्दोंका एक अर्थमें पर्यवसान करनेसे भक्तिका ऊपर बताया हुआ स्वरूप सिद्ध होता है। ऐसा न करनेपर इन सबको अलग-अलग मोक्षोपाय मानना पड़ेगा। ऐसा होनेपर कुछ वाक्योंमें परस्परविरोध अपरिहार्यरूपसे उपस्थित होगा। यथा—

'तमेवं विद्वानमृत इह भवति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय', 'नाहं वेदैर्न तपसा···भक्त्या त्वनन्यया शक्यः।'

—इन दोनोंमे पहला कहता है, वेदनके सिवा दूसरा उपाय ही नहीं। दूसरा कहता है, भक्तिके सिवा दूसरा उपाय नहीं। यदि इन दोनों वचनोंको एक सूत्रमें नहीं बाँधते है तो परस्परविरोधसे या तो दोनोंको ही सुन्दोपसुन्दन्यायसे अप्रमाण स्वीकार करना होगा, या प्राबल्यदौर्बल्यावलम्बनसे एकको अप्रमाण स्वीकार करना होगा। यदि दोनोका ही प्रामाण्य अक्षुण्ण रखना है तो दोनोंका एकार्थत्व स्वीकार कर लेना होगा। यद्यपि उत्सर्गापवादन्यायसे निषेधका विहितव्यतिरिक्त विषयमे सङ्कोच किया जा सकता है, तथापि विरोधका परिहार प्रमाणान्तरानुसार जब अन्य प्रकारसे हो रहा है तब उसकी कोई आवश्यकता नहीं रहती। बात इतनी ही है कि एक वेदनको मोक्षोपाय बताता है, दूसरा उसीको विशिष्ट रूप देकर मोक्षोपाय बताता है। 'वेदन' सामान्य शब्द होनेके कारण उसका भक्ति-शब्दार्थमे पर्यवसान हो जाता है। तब यह सिद्ध होता है कि भक्तिरूपताको प्राप्त वेदन ही मोक्षसाधन है।

वर्तमानकालमे जो भक्तिशास्त्रके ग्रन्थ उपलब्ध होते है उनमें शाण्डिल्य-भक्तिसूत्र और नारद भक्तिसूत्र ये दो मुख्य माने जाते है। नारद-भक्तिसूत्र दो प्रकारके है—एक छोटा और दूसरा बड़ा। शाण्डिल्य-भक्तिसूत्रके 'सा परानुरक्तिरीश्वरे' इस सूत्रमे भक्तिका स्वरूप बताया गया है। अर्थात् परमेश्वरविषयक अनुराग ही भक्ति है। नारद-भक्तिसूत्रके 'सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा' इस सूत्रमे भक्तिको परमेश्वरविषयक परमप्रेमरूप बताया है। अब हमें यह विचारना है कि अनुराग अथवा प्रेम क्या चीज है। इतना तो मालूम होता है कि वह सविषयक पदार्थ है। न्याय-वैशेषिक-मतानुसार बुद्धि, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, संस्कार आदि सविषयक पदार्थ माने गये है। परन्तु कुछ बुद्धिमान्, विचारशील विद्वानोंने यह सिद्ध किया है कि जैसे स्मृति ज्ञानका ही भेद है वैसे ही इच्छा, द्वेष, अनुराग, प्रेम आदि भी ज्ञानके ही भेद हैं, स्वतन्त्र पदार्थ नहीं। ज्ञानकी भिन्न-भिन्न अवस्थाओंके भिन्न-भिन्न नाम होते है।

ये ही स्मृति, इच्छा, द्वेष, अनुराग आदि हैं। यदि इस सिद्धान्तको मान लेते हैं तो ज्ञानहीकी एक विशिष्ट अवस्थाको, जब वह दर्शनसमानाकार प्रेमरूप स्मरण-धारात्वको प्राप्त होती है, 'भक्ति' नाम दिया जाय तो कोई विरोध नहीं होगा।

कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धाश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव।

—इस प्रमाणसे तो सब कुछ मनोवृत्तिमात्र है। इस प्रकार पूर्वोक्त ज्ञानावस्थाविशेषको भक्ति न मानकर केवल अनुराग या प्रेमको भक्ति माने तो शास्त्रोंमें उसका विधान अयोग्य होगा। क्योंकि जैसे इच्छा पुरुषतन्त्र नहीं है वैसे अनुराग भी पुरुषतन्त्र न होनेसे उसका विधान नहीं हो सकता। विधान उसीका हो सकता है जो मनुष्यके प्रयत्नसे साध्य हो, जो ऐसा नहीं है उसका विधान नहीं हो सकता। किसीपर प्रेम स्वतः ही उत्पन्न होता है, प्रयत्नसाध्य नहीं है। प्रेम करो, प्रेम करो, कहनेसे कोई प्रेम नहीं कर सकता। जो दृष्टिगोचर हैं उनके देखनेसे तथा उनके गुणोंके ज्ञानसे प्रेम उत्पन्न होता है, करो, करो, कहनेसे कोई लाभ नहीं। हम जब भक्तिका विधान मोक्षोपायके रूपमें शास्त्रोंमें पाते हैं तो वह कोई ऐसा पदार्थ होना चाहिये जिसको मनुष्य शास्त्राज्ञावशीभूत होकर स्वप्रयत्नसे सिद्ध कर सके। ऊपर जो भक्तिका स्वरूप बताया गया है वह परमात्माके स्वरूप, रूप-गुण आदिको शास्त्रद्वारा जानकर, उनकी भक्तिको मोक्षोपाय समझकर अनवरत—अविच्छिन्नभावसे उनका स्मरण प्रेमपूर्वक करते रहनेसे सतत भावनाके कारण वही स्मरण दर्शनसमानाकारताको जब प्राप्त होगा तब सिद्ध होगा। उस अवस्थामें वह स्मरण प्रेमरूप भी हो जाता है। अतएव अनुरागरूपता या प्रेमरूपतामें भी कोई न्यूनता नहीं रह जाती। अतएव शाण्डिल्य आदि महर्षियोंकी उक्ति भी सार्थक हो जाती है। अथवा हम ऐसा भी मान सकते हैं कि शाण्डिल्य आदिने जो स्वरूप भक्तिका कहा है वह साधन-भक्तिका न होकर साध्य-भक्तिका है। साधन-भक्तिद्वारा परमात्मसाक्षात्कार हो जाने-पर साध्य-भक्ति उत्पन्न होती है। उसीको भक्तोंने भगवान्से माँगा है। जैसा कि भक्त प्रह्लादने कहा है—

नाथ योनिसहस्रेषु येषु येषु व्रजाम्यहम्।
तेषु तेष्वचला भक्तिरच्युतास्तु सदा त्वयि॥
या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु॥

भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—'मद्भक्तिं लभते पराम्'। किसी-किसीके अन्दर यह भक्ति केवल भगवत्कृपासे प्रकट होती है।

यह तो हुआ उपाय-भक्ति या साधन-भक्तिका स्वरूप। अब शरणागतिका स्वरूप बताते हैं। 'न्यास', 'प्रपत्ति', 'प्रपदन' आदि शरणागतिके ही वाचक हैं। 'शरणागति' शब्दमें जो 'शरण' पद आता है उसके कई अर्थ होनेपर भी यहाँ वह 'उपाय' अर्थमें ही प्रयुक्त होता है। 'गम्' धातुका अर्थ गति या गमन है। परन्तु 'गत्यर्था बुद्ध्यर्थाः' इस न्यायसे गतिवाचक धातुओंका बुद्धि अर्थ भी होनेके कारण यहाँ बुद्धिरूप अर्थ ही मुख्यतया लिया जाता है। वह बुद्धि सामान्य बुद्धि न होकर अध्यवसायात्मिका बुद्धि ही विवक्षित है। अतएव 'शरणागति' शब्द उपाय-विषयक अध्यवसायात्मिका बुद्धिका वाचक है। यही शरणागतिका स्वरूप भी है।

त्वमेवोपायभूतो मे भवेति प्रार्थनामतिः।
शरणागतिरित्युक्ता सा देवेऽस्मिन् प्रयुज्यताम्॥

—इस वचनके अनुसार 'आप ही हमारे लिये मोक्षका उपाय बन जायँ' इस प्रकारकी प्रार्थनारूप दृढ़ अध्यवसायात्मिका बुद्धि ही शरणागति है।

अनन्यसाध्ये स्वाभीष्टे महाविश्वासपूर्वकम्।
तदेकोपायता याच्ञा प्रपत्तिः शरणागतिः॥

—इस श्लोकमें प्रपत्तिस्वरूप स्पष्ट बताया गया है। अर्थात् उपायान्तरासाध्य स्वाभीष्टसिद्धिके लिये किसी एक ही समर्थ व्यक्तिसे दृढ़ विश्वासके साथ उपाय बननेकी याचना करना शरणागति है। मोक्षार्थियोंको ईश्वरसे ही ऐसी प्रार्थना करनी पड़ती है तथा फलान्तरार्थीको जो उस फलके दाता हैं उनसे ऐसी प्रार्थना करनी पड़ती है। ईश्वरसे भी फलान्तरके लिये ऐसी प्रार्थना की जा सकती है। परन्तु शरणागति करनेवालेको यह दृढ़ विश्वास होना चाहिये कि हमारा अभीष्ट दूसरेसे नहीं प्राप्त हो सकता, इन्हींसे प्राप्त हो सकता है और अवश्य प्राप्त हो सकता है। इस विश्वासके बिना शरणागति नहीं होती।

भक्तियोगका आचरण भक्तियोगमें मोक्षोपायत्वबुद्धिके साथ किया जाता है। यद्यपि भक्त और प्रपन्न दोनोंको मोक्षरूप फल देनेवाले भगवान् ही हैं, किन्तु भक्त भक्तिको मोक्षोपाय समझकर उसका आचरण करता है। शरणागति करनेवाला उसमें मोक्षोपायत्वबुद्धि नहीं कर

सकता, क्योंकि शरणागतिका स्वरूप ही इस प्रकारकी बुद्धिका विरोधी है। ऊपर जो शरणागतिका स्वरूप बताया गया है वह केवल भगवान्‌में उपायत्वबुद्धिके साथ उनसे उपायत्वकी प्रार्थनारूप है। यदि कोई शरणागतिमें उपायत्वबुद्धि करने लगे तो वह शरणागति कर ही नहीं सकता, शरणागति तो केवल भगवान्‌में उपायत्वनिश्चयरूप है। भक्ति और प्रपत्तिमें यह विशिष्ट वैलक्षण्य है।

ऊपरके वर्णनसे भक्ति और शरणागतिमें स्वरूपतः वैलक्षण्य स्पष्ट हो गया। भक्तियोग उसमें उपायत्वबुद्धिके साथ किया जानेवाला तैलधारावदविच्छिन्न दर्शनसमानाकार प्रेमरूप भगवत्स्मरणात्मक ध्यान है। शरणागतियोग अनन्योपायसाध्य स्वामीष्टसिद्धिमें एक ईश्वरको ही उपाय समझकर परमात्मासे उपाय होनेकी प्रार्थना करना है। शरणागतिका दूसरा नाम न्यास है। तदनुसार शरणागतिका स्वरूप परमात्माके प्रति स्वात्माका अर्पण करना अथवा परमात्मामें स्वात्माको निक्षेप करना है—

'ब्रह्मणे त्वा महस ओमित्यात्मानं युञ्जीत।'
'प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयेन हि॥'

—इत्यादि प्रमाणोंके पर्यालोचनसे यह बात सिद्ध होती है। आत्मा कोई ऐसी चीज नहीं है जो एक जगहसे उठाकर दूसरी जगह रख दी जाय। 'न्यास' और 'निक्षेप' शब्द पर्यायवाची हैं। न्यास वा निक्षेपकी व्याख्या इस प्रकार की गयी है—

तेन संरक्ष्यमाणस्य फले स्वाम्यवियुक्तता।
केशवार्पणपर्यन्ता ह्यात्मनिक्षेप उच्यते॥

अर्थात् न्यास या निक्षेपका अर्थ है अर्पणपर्यन्त फलस्वाम्याभावबुद्धि। जब कोई ईश्वरको ही अनन्योपाय मानकर मोक्ष या भगवत्प्राप्तिके लिये उन्हींसे उपाय बननेकी प्रार्थना करता है तब वह अपने आपको परमात्माके ही भरोसे छोड़ देता है, स्वरक्षणमें अपना कोई भी सम्बन्ध न रखते हुए सब भार परमात्मापर रख देता है। आत्मार्पणका तात्पर्य स्वात्मरक्षणभारार्पण है। शरणागतिके छः अङ्ग हैं—उनमें गोप्तृत्ववरण और आत्मनिक्षेप दोनों ही हैं। तब एक अङ्गकी प्रधानता मानकर इसको शरणागति कहते हैं और दूसरे अङ्गकी प्रधानता मानकर न्यास कहते हैं। जब शरणागति करनेवाला पूर्ण षडङ्गोंका अनुष्ठान करता है तब उपर्युक्त दोनों ही अङ्गोंका अनुष्ठान हो जाता है। वास्तवमें देखा जाय तो शरणागति चाहे जिस रूपमें की गयी हो, वह मोक्षोपाय है ही नहीं। मोक्षोपाय तो ईश्वर ही है, उस ईश्वरका उपायत्वेन स्वीकारमात्र ही शरणागति है, उसको स्वात्मसमर्पण करना आत्मनिक्षेप या न्यास है।

न्यास इति ब्रह्म, ब्रह्मा हि पर, परो हि ब्रह्मा, तानि वा एतान्यपराणि तपांसि न्यास एवात्यरेचयत्।

—इस उपनिषद्वाक्यमें ब्रह्मको ही न्यास बताया है। तात्पर्य इतना ही है कि मोक्षोपाय परमात्मा है, न्यास नामक क्रियाविशेष नहीं, अतएव शरणागति या न्यासमें उपायत्वबुद्धि नहीं की जा सकती। भक्ति उपायत्वबुद्धिके साथ की जाती है।

इयं केवललक्ष्मीशोपायत्वप्रत्ययात्मिका।
स्वहेतुत्वधियं रुन्धे किं पुन सहकारिणाम्॥

—यह प्राचीनाचार्यकी सूक्ति है। इससे स्पष्ट है कि शरणागति उपायत्वबुद्धिके बिना की जाती है। किन्तु भक्ति उसीके अन्दर उपायत्वबुद्धिके साथ की जाती है। उपायभक्तिके विषयमें भी एक प्राचीन सूक्ति है—

उपायो भक्तिरेवेति तच्चाह्मौ या तु सा मतिः।
उपायभक्तिरेतस्याः पूर्वोक्तैव गरीयसी॥

अर्थात् भक्ति ही उपाय है, ऐसी बुद्धि ही उपायभक्ति है, इससे शरणागति श्रेष्ठ है।

अङ्गवैलक्षण्य

भक्तिके अङ्ग कर्म और ज्ञान हैं।

'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन।'

'इयाज सोऽपि सुबहून् यज्ञान् ज्ञानव्यपाश्रयः।
ब्रह्मविद्यामधिष्ठाय तर्तुं मृत्युमविद्यया॥'

'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।'

—इत्यादि प्रमाणोंसे उपासनात्मक उपायभक्ति कर्मज्ञानाङ्गक सिद्ध होती है—

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत ँ समाः।'
'स खल्वेवं वर्तयन् यावदायुषम्।'

—इत्यादि प्रमाणोंसे यावज्जीवन कर्मानुष्ठानकी कर्तव्यता सिद्ध होती है। भगवान् बादरायणने ब्रह्मसूत्रमें 'सहकारित्वेन च', 'विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि' इत्यादि सूत्रोंसे भक्तिको कर्माङ्गक सिद्ध किया है। अतएव भक्तोंको

नित्य-नैमित्तिक कर्मोंका भक्त्यङ्गत्वबुद्धिसे अनुष्ठान करना पड़ता है। शरणागति—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

—इत्यादि शास्त्रानुसार धर्मत्यागाङ्गक है। शरणागतोंको भी यद्यपि कर्तव्यबुद्ध्या नित्य-नैमित्तिक कर्मोंका अनुष्ठान करना पड़ता है, तथापि अङ्गत्वबुद्धिसे नहीं, क्योंकि शरणागति धर्मत्यागाङ्गक है। अतएव भक्तोंको भक्ति-निष्पत्तिके लिये विहित समस्त कर्मोंका अनुष्ठान आवश्यक होता है, क्योंकि वे अङ्ग हैं। शरणागतोंको यथासम्भव अकरणे प्रत्यवायजनक कर्ममात्रका अनुष्ठान करना पड़ता है।

क्रियमाणं न कस्मैचिद्यदर्थाय प्रकल्पते।
अक्रियावदनर्थाय तत्तु कर्म समाचरेत्॥

—यह शरणागतकर्तव्यप्रतिपादक वचन है। इसमें यह स्पष्ट बता दिया गया है कि जिन कर्मोंके करनेसे कोई फल न मिले, किन्तु न करनेपर प्रत्यवाय हो वे ही कर्म कर्तव्य हैं।

भक्ति ध्यानरूप है—यह ऊपर बताया गया है। भगवान् महर्षि पराशरके—

तद्रूपप्रत्यया चैका सन्ततिश्चान्यनिःस्पृहा।
तद् ध्यानं प्रथमैः षड्भिरङ्गैर्निष्पाद्यते तथा॥

—इस कथनके अनुसार यम-नियमादि योगाङ्गोंका अनुष्ठान भक्तिनिष्पत्तिके लिये आवश्यक है। एवं—

तल्लब्धिर्विवेकविमोकाभ्यासक्रियाकल्याणानवसादा-नुद्धर्षेभ्यः सम्भवान्निर्वचनाच्च।

—इस वाक्यकारवचनानुसार सम्पूर्ण भक्तिलाभके लिये विवेकादि साधनसप्तकोंका अनुष्ठान भी प्राप्त होता है, इनके बिना भक्तिकी सिद्धि ही नहीं हो सकती।

विवेक कहते हैं अदुष्ट, शुद्ध, सात्त्विक आहारसेवनसे शरीरपोषणको। विमोक कहते हैं कामानभिष्वङ्गको। भगवानके दिव्य एवं शुभाश्रय रूपके सततानुशीलनको अभ्यास कहते हैं। क्रिया कहते हैं समस्तजात्याश्रमोचित कर्मानुष्ठानको। कल्याण छः प्रकारके हैं—सत्य, आर्जव, दया, दान, अहिंसा और अनभिध्या, ये सभी कल्याण-शब्दवाच्य हैं। सत्यसे अहिंसातक पाँच तो प्रसिद्ध ही हैं। अनभिध्या कहते हैं अभिध्याके अभावको। परकृतापकार-चिन्ता अथवा निष्फल चिन्ताको अभिध्या कहते हैं। उसका अभाव अनभिध्या है। अनवसाद दैन्याभावको कहते हैं। अनुद्धर्ष अतिसन्तोषाभावको कहते हैं। अति-सन्तोष भी भक्तिविरोधी है। इन सात साधनोंसे भक्तिकी निष्पत्ति होती है।

शरणागतियोगके पाँच अङ्ग हैं—

आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा॥
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः।

इस वचनमें शरणागतिको षड्विध बताया है; किन्तु इनमें पाँच अङ्ग हैं, एक गोप्तृत्ववरण या आत्मनिक्षेप अङ्गी है, जैसे 'अष्टाङ्गयोग' नाम प्रसिद्ध होनेपर भी यम आदि सात अङ्ग हैं, समाधिरूप एक अङ्गी है। यद्यपि शरणागति-के पाँच अङ्ग हैं, अतएव उन अङ्गोंकी भी आवश्यकता अङ्गीकी सिद्धिके लिये नियमानुसार है, तथापि यह कहा गया है कि यदि केवल अङ्गीरूप शरणागति ही हो जाय तो अङ्गोंको भगवान् स्वयं क्रमशः पूरा कर देते हैं। उनकी प्रतीक्षा करते हुए बैठे रहनेकी आवश्यकता नहीं है, वे आप ही सिद्ध हो जाते हैं। जैसा कि कहा है—

इमप्रपत्तावेतानि भविष्यन्त्युत्तरोत्तरम्।

ये अङ्ग सुकर भी हैं। केवल बुद्धिमात्रकार्य हैं और स्वतः प्राप्त होते हैं। मुख्यतया अनन्योपायत्व और अकिञ्चनत्व ही अपेक्षित है। इस विषयमें बहुत कुछ लिखनेकी आवश्यकता है, किन्तु यहाँ अधिक विस्तार करना योग्य न समझकर इस विषयको यहीं समाप्त करते हैं।

अधिकारिवैलक्षण्य

भक्तिके स्वरूप और अङ्गोंका वर्णन ऊपर हो चुका। उससे यह बात स्पष्ट हो गयी कि इस उपाय-भक्तिके अधिकारी त्रैवर्णिकमात्र हैं। 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्या-सितव्यः' इस शास्त्रके अनुसार निदिध्यासन करनेके पूर्व श्रवण और मननकी आवश्यकता होती है। वेदान्तमें जो परब्रह्मस्वरूप आदिके प्रतिपादक भाग हैं उनका गुरुमुखसे सुनना ही श्रवण है।

द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यत् परा चैवापरा च। तत्रापरा ऋग्वेदो ' ''अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते यत्तदद्रेश्यम्—

—इत्यादि उपनिषद्वाक्योंमें परमात्माके स्वरूपादिवर्णन-परक वेदान्तभागको पराविद्या कहा है। इस भागको गुरुमुखसे सुनना आवश्यक है।

'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्'

—इत्यादि शास्त्रोंसे यह बात सिद्ध होती है।

भृगुर्वै वारुणिर्वरुणं पितरमुपससार—अधीहि भगवो ब्रह्मेति।

—इत्यादि शास्त्रोंमें गुरुमुखसे ब्रह्मस्वरूपश्रवणका वर्णन पाया जाता है। मनन कहते हैं गुरुमुखसे श्रुत अर्थोंको युक्तियोंसे मनमें दृढ करना। श्रवण विना मनन नहीं हो सकता। इन दोनोंके विना निदिध्यासन नहीं हो सकता। वेदान्तश्रवणका अधिकारी उपनयन आदि संस्कारोंसे संस्कृत त्रैवर्णिक पुरुष है। अतएव वे ही ब्रह्मविद्याधिकारी भक्ति करनेके अधिकारी हैं, यह बात सिद्ध होती है। भगवान् बादरायणने भी ब्रह्मसूत्रके अपशूद्राधिकरणमें यही सिद्ध किया है।

'श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात्', 'संस्कारपरामर्शात्तदभावाभिलापाच्च।'

—इत्यादि सूत्रोंमे कहा गया है कि शूद्रोंको वेदोंका श्रवण, अध्ययन, वेदार्थज्ञान एवं तदनुष्ठान निषिद्ध होनेके कारण ब्रह्मविद्यामें अधिकार नहीं है, वेदाध्ययन करनेके पूर्व उपनयनसंस्कार करनेका विधान है, शूद्रोंके लिये संस्कारका अभाव बतलाया गया है। अतएव वे वेदाध्ययन नहीं कर सकते। वेदाध्ययन, श्रवण आदिके अभावमें वेदान्तमूलक ब्रह्मज्ञानके न होनेके कारण शूद्रोंको ब्रह्मविद्याधिकार नहीं है—यह वेदान्तदर्शनका सिद्धान्त है। यहाँ प्रसंगवश इतना कह देना आवश्यक होगा कि विदुर आदि कुछ महापुरुष पूर्वजन्मसंस्कारवश शूद्रयोनिमें जन्म लेनेपर भी विना ही वेदान्तश्रवणके ब्रह्मनिष्ठ हो गये थे। ऐसे कुछ व्यक्तिविशेषोंको छोड़कर साधारण नियम यही है कि वेदान्तश्रवणद्वारा प्राप्त ब्रह्मज्ञानसे ही मनन-निदिध्यासन होकर पूर्ण उपायभक्तिकी प्राप्ति हो सकती है। साध्य भक्तिकी बात दूसरी है। स्त्रियोंको भी इस उपाय-भक्तिका अधिकार नहीं है। इसके अतिरिक्त भक्तिका अधिकारी वही पुरुष होता है जो अपनेको स्वतन्त्र कर्ता एवं स्वयं भक्ति करके मोक्ष-साधन करनेमें समर्थ समझता है। इस प्रकारकी दृढ भावनाके विना चिरकाल और परिश्रमसाध्य भक्तिके अनुष्ठानमें कोई प्रवृत्त नहीं हो सकता।

शरणागतिमें सबका अधिकार है।

न जातिभेदं न कुलं न लिङ्गं न गुणक्रियाः।
न देशकालौ नावस्थां योगो ह्ययमपेक्षते॥

—इस वचनके अनुसार शरणागति उत्तम जाति, कुल, पुरुषत्व, सद्गुण, सदाचार, उत्तम देश-काल, शुचि अवस्था आदि किसीकी अपेक्षा नहीं रखती। अर्थात् किसी भी जाति-कुलमें जन्मा हुआ स्त्री या पुरुष, सद्गुणी या दुर्गुणी, सदाचारी या दुराचारी, शुद्ध या अशुद्ध, किसी भी देश या कालमें शरणागति कर सकता है।

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं
यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं
मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥

—इस उपनिषद्वाक्यमें केवल मुमुक्षुको ही शरणागतिका अधिकारी बताया गया है।

स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रा येऽपि स्युः पापयोनयः।
सर्वे एव प्रपद्येरन् सर्वधातारमच्युतम्॥

—यह वचन स्पष्ट ही स्त्री-शूद्रादिकोंका भी शरणागतिमें अधिकार बता रहा है।

शरणागतिका अधिकारी वह है जो अपनेको सर्वथा असमर्थ, अस्वतन्त्र एवं परमात्माके परतन्त्र समझता है और स्वप्रयत्नसे मोक्षलाभ असम्भव समझता है, तथा स्वयं अपनेको स्वात्मरक्षामें अनधिकृत एवं परमात्माको ही अधिकृत मानता है। शरणागति करनेवालेको परमात्मामें रक्षकत्वबुद्धि, अर्थात् स्वामी परमात्मा अपनी वस्तुकी रक्षा अवश्य करेंगे—इस प्रकारके दृढ निश्चयकी भी आवश्यकता है। अतएव भक्तिके अधिकारी और शरणागतिके अधिकारीमें महती विलक्षणता है। कोई अज्ञताके कारण शरणागत होते हैं, कोई विशिष्ट ज्ञानवान् पुरुष स्व-पर-स्वरूपज्ञानके कारण शरणागत होते हैं। अत्यन्त भक्तिमान् पुरुष भी भक्तिपारवश्यमे कर्तव्यान्तरमें प्रवृत्त न होनेके कारण शरणागत हो जाते हैं। अज्ञानी, ज्ञानी, भक्त, सब इसके अधिकारी हैं। भगवान् शौनककी उक्ति है—

अज्ञसर्वज्ञभक्तानां गतिर्गम्यो भवेद्धरिः।

अज्ञानी, सर्वज्ञ और भक्तके लिये भगवान् हरि ही गति—उपाय और गम्य—प्राप्य हैं।

सापेक्षत्व-निरपेक्षत्व-वैलक्षण्य

भक्तियोग जैसे कर्म-ज्ञानसापेक्ष है वैसे शरणागति-सापेक्ष भी है। कर्म-ज्ञानसापेक्षता तो कर्म-ज्ञानाङ्ग होनेसे ही सिद्ध हो जाती है। शरणागतिसापेक्षता—

'तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥'
'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।'
'तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी॥'

—इत्यादि प्रमाणोंसे सिद्ध होती है। चञ्चल मनके निग्रहके लिये भी भगवच्छरणागतिकी अपेक्षा होती है। शरणागति तो केवल ईश्वरका उपायत्वेन स्वीकार है। ईश्वर सिद्ध उपायरूप है, उनको कार्य करनेके लिये किसीकी अपेक्षा नहीं रहती। अतएव शरणागति निरपेक्षोपाय है। यह बात—

प्रपत्तेः क्वचिदप्येवं परापेक्षा न विद्यते।
सा हि सर्वत्र सर्वेषां सर्वकामफलप्रदा॥

—इस वचनमें बतायी गयी है।

विलम्बिताविलम्बितफलप्रदत्व

भक्तिरूप उपासन अर्थात् ब्रह्मविद्या और शरणागति दोनों ही यद्यपि सर्वाभीष्टफलप्रद माने गये हैं, तथापि उनमें फलभेद अवश्य है।

आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥

—इत्यादि वचनोंमें चार प्रकारके भक्त बताये गये हैं, वह फलभेदके कारण ही है। अवश्य ही भक्ति सर्वापेक्षित ऐहिकामुष्मिक फलोंको दे सकती है और यही बात शरणागतिके सम्बन्धमें भी है—

सा हि सर्वत्र सर्वेषां सर्वकामफलप्रदा।

—वचनमें यह बात स्पष्ट कही गयी है। इसके उदाहरण रामायण आदिमें मिलेंगे। किन्तु मोक्षरूप फलप्रदानकी दृष्टिमें इन दोनोंमें वैलक्षण्य है। भक्ति विलम्बसे फल देती है। शरणागति तत्काल फल देती है। भक्ति और शरणागति दोनों ही समस्त कर्मक्षय होनेपर ही मोक्ष देती हैं, किन्तु भक्तिरूप ब्रह्मविद्या स्वयं समस्त कर्मक्षय नहीं कर सकती, शरणागति कर सकती है। कर्म सञ्चित और प्रारब्ध-भेदसे दो प्रकारके होते हैं। प्रारब्धकर्म भी आरब्धकार्य और अनारब्धकार्य-भेदसे दो प्रकारके होते हैं। इनमें सञ्चित और अनारब्धकार्यका तो ब्रह्मविद्याके प्रभावसे नाश हो जाता है। आरब्धकार्य प्रारब्धका नाश नहीं होता, उसका फल भोगना ही पड़ता है। अतएव प्रतिबन्धक पापके अवशेष रहनेपर एक, दो या अधिक जन्म लेने पड़ते हैं। जिस जन्ममें भक्ति सिद्ध हुई उसी जन्मके अन्तमें मोक्ष नहीं मिलता।

अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः।

—इस सूत्रमें वेदान्तदर्शनकारने यह बात बतायी है। शरणागति उसी जन्मके अन्तमें मोक्ष देती है जिसमें वह की गयी हो।

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि।

—इत्यादि भगवद्वचनसे यह बात सिद्ध होती है। सर्वशक्त सर्वेश्वर कह रहे हैं कि मैं सर्व पापोंसे तुझे छुड़ा दूँगा। यहाँ 'सर्व' शब्दका सङ्कोच करनेकी कोई आवश्यकता नहीं। शरणागतिके प्रभावसे सर्व कर्मोंका क्षय होकर उसी जन्मके अन्तमें मोक्ष मिल जाता है। इतना ही नहीं, यदि शरणागतिकर्ता आर्त हुआ तो शरीरावसानतक भी विलम्ब नहीं होता, शरणागति करते ही उसी क्षणमें सर्वकर्मक्षय होकर तत्काल मोक्ष मिल जाता है—

आर्तानामाशु फलदा सकृदेव कृता ह्यसौ।
दृप्तानामपि जन्तूनां देहान्तरनिवारणी॥

आर्त उसको कहते हैं जो क्षणभर भी सांसारिक तापत्रयके सहनेमें असमर्थ होकर आतुरताके साथ शरणागति करता है, इसको भगवान् तत्काल मोक्ष देते हैं। दृप्त उसको कहते हैं जो शरीरावसानके समय मोक्षकी इच्छा करते हुए शरणागति करता है। उसको शरीरावसानतक प्रारब्ध कर्मका फल भोगना पड़ता है, शरीरावसानके समय मोक्ष प्राप्त होता है। किसी भी कारणसे जन्मान्तर लेनेकी आवश्यकता नहीं रहती।

सकृत्कर्तव्यत्वासकृत्कर्तव्यत्ववैलक्षण्य

भक्तिका स्वरूप पहले बताया जा चुका है। उपायभक्ति तैलधारावदविच्छिन्न दर्शनसमानाकार अत्यर्थप्रियस्मृतिसन्तानरूप ध्यान है। स्मृतिसन्तानको दर्शनसमानाकारत्व प्राप्त होना आवश्यक है। अन्यथा—

'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः।'

'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥'

—इत्यादि दर्शनविधायक वचनोंका समन्वय नहीं हो सकता। यद्यपि इन वचनोंमें साक्षात् परमात्मदर्शनका विधान मालूम होता है, तथापि—

'न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य
न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो
य एनं विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥'
'मनसा तु विशुद्धेन'
'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यम्'

—इत्यादि शास्त्रोंमें परमात्मस्वरूपको चक्षुरादीन्द्रियावेद्य केवल मनोमात्रग्राह्य बताया गया है। दोनों शास्त्रोंमें अविरोध स्थापन करना आवश्यक है। अतएव 'दर्शन' शब्दका दर्शनसमानाकारत्व अर्थ स्वीकार करके दोनोंमें अविरोध स्थापन किया गया है। स्मरणमें दर्शनसमानाकारता साक्षात्कारीय विषयतारूप है। अर्थात् प्रत्यक्षवत् दिखायी देना—यही दर्शनसमानाकारता है, ऐसी दर्शनसमानाकारता स्मृतिको अनवरत भावनाबलसे प्राप्त होती है। जिस वस्तुकी अनवरत भावना की जाय वह वस्तु सामने न होनेपर भी तद्रूप प्रत्यक्षवत् दीखने लगती है। यह अनुभववेद्य है।

वृक्षे वृक्षे च पश्यामि चीरकृष्णाजिनाम्बरम्।

—इस वाल्मीकीय रामायणोक्त मारीचवचनमें मारीचको रामदर्शन होना भी भावनाप्रकर्षसे ही है। अतएव—

ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः।

—इस श्रुतिमें स्पष्ट ही 'ध्यायमानः पश्यति' निर्देश हुआ है।

इस प्रकार परमात्माका सतत स्मरण करनेकी आवश्यकता होनेके कारण ही वेदान्तदर्शनमें 'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्' सूत्रमें परमात्मवेदनकी आवृत्ति करनेकी आवश्यकता बतायी गयी है। 'ध्यान' शब्द भी इसी अर्थको सूचित करता है। अतएव यह सिद्ध हुआ कि भक्ति असकृत्कर्तव्य है। एक-दो बार करनेसे भक्ति सिद्ध नहीं हो सकती। शरणागति वैसी नहीं है। वह तो सकृत्कर्तव्य है, क्षणमात्रसाध्य है।

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम ॥

—इस श्रीरामायण-श्लोकमें यह बात स्पष्ट है।

सकृत्प्रपन्नाय—सकृदेव प्रपन्नाय अभयं ददामि।

—श्रीरामचन्द्र भगवान्‌की श्रीसूक्ति है।

सकृदेव हि शास्त्रार्थः कृतोऽयं तारयेन्नरम्।

—इत्यादि प्रमाण शरणागतिको सकृत्कर्तव्य बताते हैं। शरणागतिस्वरूपके देखनेसे असकृदावृत्तिकी आवश्यकता नहीं मालूम होती।

अन्तिमस्मृतिसापेक्षत्व-तन्निरपेक्षत्व-वैलक्षण्य

यह बात भगवद्गीताशास्त्रमें स्पष्ट है कि भगवद्भक्तोंको अन्तसमयमें स्मरण हुए बिना भगवत्प्राप्ति नहीं हो सकती। क्योंकि—

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥

अर्थात् अन्तकालमें जिस-जिस भाव-स्वभावका स्मरण होगा जन्मान्तरमें स्मरणकर्ता तद्भावको ही प्राप्त होगा। अतएव अन्तकालमें भगवत्स्मरणकी आवश्यकता निम्न श्लोकमें बतायी गयी है—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥

शरणागत पुरुषको अन्तकालमें स्मृतिकी आवश्यकता नहीं रहती, उसके बिना भी उनको परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। क्योंकि परमात्मा ही स्वयं काष्ठ-पाषाणसमान पड़े हुए उसको सद्गति प्रदान करते हैं, जैसा कि वराहपुराणमें भगवान् कहते हैं—

ततस्तं म्रियमाणं तु काष्ठपाषाणसन्निभम्।
अहं स्मरामि मद्भक्तं नयामि परमां गतिम् ॥

यद्यपि इस श्लोकमें 'मद्भक्तम्' शब्द आया है, किन्तु वह प्रकरण शरणागतिका है। इस श्लोकमें 'काष्ठपाषाणसन्निभम्' शब्दसे अन्तिम स्मृतिका अभाव बताया गया है। श्रीवराहभगवान् भूमिदेवीसे कहते हैं कि शरणागत पुरुष शरणागति करनेके पश्चात् कृतकृत्य हो जाता है, उसका कोई कर्तव्य शेष नहीं रह जाता। उसके पश्चात्का कर्तव्य हमारा है। अतएव वह यद्यपि स्वाभाविक रीतिसे निश्चेष्ट, स्मरणशून्य पड़ा हुआ है, तथापि हम अपने अनन्तरकालीन कर्तव्यको पूर्ण करते हैं। उसको सद्गति देनेका भार हमारे ऊपर है। अतएव मैं उसका स्मरण करता हूँ और गन्तव्य मार्गसे ले जाकर गम्यस्थानमें पहुँचा देता हूँ।

निश्चित-अनिश्चितफलदानवैलक्षण्य

भक्ति मनुष्यप्रयत्नसाध्य है, यह बात उसके स्वरूप और अङ्गोंके विचारसे सिद्ध होती है। भक्ति करनेवालेको यह निश्चय नहीं हो सकता कि हमें मुक्ति मिलेगी ही। परिपूर्ण ब्रह्मविद्याकी सिद्धि हुए बिना मोक्ष नहीं

मिल सकता, इसमें शङ्काका अवकाश ही नहीं है। यमादि अङ्गोंसे सम्पन्न होकर अचञ्चल—एकाग्रमनसे परमात्माका समाधिपर्यवसायी ध्यान करना होगा। मनकी चञ्चलताको देखते हुए कोई नहीं कह सकता कि ऐसी योग्यता सुखसे प्राप्त हो जायगी। अतएव भगवान्‌का कहना है—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

परमात्माकी भक्तिमें प्रवृत्त होना ही जन्मान्तरके महापुण्यका फल है। प्रवृत्त होनेपर भी दीर्घकालसाध्य होनेके कारण अनेक विघ्नोपहतिके कारण सिद्धि मिलना कठिन है। सिद्धि मिलनेकी अवस्थामें भी ऐहिक सिद्धियोंमें चित्त न जाकर परमात्मप्राप्तिकी तरफ दृढ़ताके साथ चित्तको लगाये रखना महाकठिन है। तभी तो—

अनेकजन्मससिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥

—कहा गया है। इन सब बातोंपर विचार करनेपर यही कहना पड़ता है कि भक्तिनिष्ठके लिये मोक्षसिद्धि निश्चित नहीं है। यदि मध्यमें विच्छेद हो गया तो अन्तकालकी मनोवृत्तिके अनुसार जन्मान्तरीय परिस्थिति होगी। यहाँ सब कुछ मनुष्यके प्रयत्न-बलके अधीन है। मनोनिग्रह तो—

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।

—के अनुसार कष्टसाध्य है।

शरणागतियोगकर्ताकी परिस्थिति ऐसी नहीं है। शरणागतियोग क्षणमात्रसाध्य होनेके कारण विघ्न-बाधाएँ और प्रच्युतिभय नहीं है। एक बार शरणागतिका अनुष्ठान होते ही फल निश्चित है।

'तस्मादपि वध्यं प्रपन्नं न प्रतिप्रयच्छन्ति।'—तैत्तिरीय
'वधार्हमपि काकुत्स्थः कृपया पर्यपालयत्।'—रामायण
'मित्रभावेन सम्प्राप्तं न त्यजेयं कथञ्चन।'—रामायण
'आर्तो वा यदि वा दृप्तः परेषां शरणागतः।
अरिः प्राणान् परित्यज्य रक्षितव्यः कृपालुना॥'
—रामायण

ऊपर उद्धृत श्रुति तथा रामायणके वचनोंसे शरणागतको निश्चितरूपसे फल मिलनेकी बात स्पष्ट है। श्रीकृष्ण भगवानकी उक्ति 'मा शुचः' भी इसका पोषक है। सञ्चित, प्रारब्ध, समस्त कर्मोंका नाश हो जाता है।

प्रारब्धेतरपूर्वपापमखिलं प्रामादिकं चोत्तरं
न्यासेन क्षपयन्ननभ्युपगतं प्रारब्धखण्डं च नः।
धीपूर्वोत्तरपाप्मनामजननाज्जातेऽपि तन्निष्कृतेः
कौटिल्ये सति शिक्षयाप्यनघयन् क्रोडीकरोति प्रभुः॥

अर्थात् समस्त सञ्चित, अनभ्युपगत प्रारब्ध, उत्तरकालीन प्रामादिक पाप, सब शरणागतिके प्रभावसे नष्ट हो जाते हैं। शरणागतिके पश्चात् बुद्धिपूर्वक पाप हो ही नहीं सकता, कदाचित् हो भी गया तो प्रायश्चित्तसे वह नष्ट हो जायगा। यदि वह प्रायश्चित्त न करे, कुटिल बना रहे तो भगवान् उसको तत्काल दुःखानुभव कराकर पापमुक्त कर देते हैं। चाहे जैसा भी हो, भगवान् शरणागतको स्वीकार कर ही लेते हैं, मोक्ष दे ही देते हैं; जन्मान्तरके लिये बाकी नहीं रहने देते।

भक्तियोग और शरणागतियोगके कुछ वैलक्षण्य बताये हैं, ऐसे और भी बताये जा सकते हैं। और, जो कुछ भी लिखा है, सक्षेपमें लिखा है। विस्तारभयसे इस लेखको यहीं समाप्त करते हैं।

हमारा लक्ष्य

(लेखक—श्रीअरविन्द)

योगके जिन मार्गका यहाँ अवलम्बन किया जाता है उसका हेतु अन्य योगमार्गोंसे भिन्न है। इस योगमार्गका लक्ष्य केवल सामान्य सांसारिक देहात्मभावसे ऊपर उठकर परमात्मभावको प्राप्त होना ही नहीं है, प्रत्युत उस परमात्मभावके विज्ञानको इस मन, बुद्धि, प्राण और जीवनके तमस्‌में ले आना, इनको रूपान्तरित कर देना, इनमें भगवान्‌को प्रकट करना और जड पार्थिव प्रकृतिमें दिव्य जीवन निर्माण करना इसका लक्ष्य है। यह बड़ा ही दुर्गम लक्ष्य और कठिन योगसाधन है, बहुतेरोंको, या प्रायशः सभी लोगोंको यह असम्भव ही प्रतीत होगा। सामान्य, अनभिज्ञ सांसारिक देहात्मभावमें अज्ञानकी जो क्रियाशक्तियाँ जमकर डटी हुई हैं वे इसके विरुद्ध हैं और इसका होना ही नहीं मानतीं और इसके होनेमें बाधा ही डालनेका यत्न करती हैं और साधक स्वयं भी देखेगा कि अपने ही मन, प्राण और शरीर इसकी प्राप्तिमें कितनी जबर्दस्त रुकावटें डालेंगे। यदि तुम इस लक्ष्यको सर्वात्मना स्वीकार कर सको, इसके लिये सब कठिनाइयोंका सामना करनेको तैयार हो, पीछे जो कुछ हुआ उसे और उसके बन्धनोंको पीछे ही छोड़ दो और इस भगवद्भावकी सम्भावनाके लिये सब कुछ छोड़ देने और, चाहे जो हो जाय, इसके पीछे लगनेका प्रस्तुत हो, तो ही तुम यह आशा कर सकते हो कि इसके

पीछे जो महत् सत्य है उसका तुम्हें साक्षात्कार होगा।

इस योगकी साधनाका कोई बँधा हुआ मानसिक अभ्यासक्रम या ध्यानका कोई निश्चित प्रकार, कोई मन्त्र या तन्त्र नहीं है; यह साधना आरम्भ होती है साधककी आरोहणेच्छासे, उसके अपने ऊपर या अन्दर आत्मध्यानसे अपने आपको भगवत्प्रभावकी ओर, उस भगवच्छक्तिकी ओर जो हमारे ऊपर है तथा उसके कार्यकी ओर और उस भगवत्सत्ताकी ओर जो हमारे हृदयमें है—अपने आपको खोल देनेसे, और इन सब बातोंके विरुद्ध जो-जो कुछ है उसका त्याग करनेसे। श्रद्धाविश्वास, आरोहणेच्छा तथा आत्मसमर्पणके द्वारा ही इस प्रकार अपने आपको भगवत्सत्ताकी ओर खोल देना होता है।

* * * *

यहाँ सृजन करनेके लिये यदि कुछ है तो वह विज्ञानका ही सृजन है। अर्थात् इस पृथिवीपर, केवल मन-बुद्धि और प्राणमें ही नहीं, प्रत्युत शरीरमे और इस जड प्रकृतिमें भी भगवत्सत्ताका अवतरण कराना है। हमारा उद्देश्य अहभावके फैलावको रोकनेवाले प्रतिबन्धोको हटाना अथवा मानवमनकी कल्पनाओं या अहकारगत प्राणवासनाओंकी स्वार्थपूर्तिके लिये खुला मैदान छोड़ देना और बेरोक आश्रय प्रदान करना नहीं है। यहाँ कोई भी इसलिये नहीं है कि 'जो मन भावे करे' या किसी ऐसे ससारको रचे जिसमे हमलोग अपनी मनमानी कर सकें, यहाँ हमे तो वही करना है जो भगवान् चाहते है और ऐसा ही ससार रचना है जिसमे भगवदिच्छा अन्तर्निहित सत्यको प्रकट करे—वह भगवदिच्छा किसी मानव-अज्ञानसे विकृत न हो या किसी प्राणवासनासे विपर्यस्त और अन्यथाकृत न हो। विज्ञानके इस योगमें साधकको जो काम करना होता है वह कोई उसका अपना काम नहीं है जिसपर वह अपनी शर्तें भी लाद सके, प्रत्युत वह कर्म भगवान्का है और उसे वह कर्म भगवन्निर्दिष्ट नियमोंके अनुसार ही करना होगा। हमारा योग हमारे अपने लिये नहीं है, बल्कि भगवान्के लिये है। हम जो कुछ व्यक्त करना चाहते हैं वह हमारा वैयक्तिक व्यक्तीकरण नहीं है—सर्वतन्त्रस्वतन्त्र, सर्वबन्धविनिर्मुक्त वैयक्तिक अहकारका भी व्यक्तीकरण नहीं है, यह स्वय भगवान्का व्यक्त होना है। हमारी मुक्ति, हमारी पूर्णकामता और हमारी परिपूर्णता तो भगवान्के व्यक्त होनेका ही एक परिणाम और अगमात्र है और सो भी किसी अहभावसे नहीं, न किसी अहता-ममतासे निकले स्वार्थके लिये। यह मुक्ति, पूर्णकामता, परिपूर्णता भी हमारे अपने लिये नहीं, भगवान्के लिये है।

* * * *

योगका अर्थ केवल ईश्वरकी प्राप्ति नहीं बल्कि आभ्यन्तर तथा बाह्य जीवनका ऐसा परिपूर्ण उत्सर्ग और परिवर्तन है कि उसके द्वारा भगवच्चैतन्य व्यक्त हो और वह स्वय भगवत्कर्मका एक अङ्ग हो। इसके लिये एक ऐसे आभ्यन्तरिक अभ्यासके होनेकी आवश्यकता है जो केवल सदाचार और कृच्छ्रचान्द्रायणादि कायिक तपोंसे बहुत अधिक कड़ा और कठिन है। यह योगमार्ग अन्य बहुतेरे योगमार्गोंकी अपेक्षा बहुत ही अधिक विशाल और दुर्गम है। कोई ऐसा मनुष्य कदापि इस मार्गपर पैर न रक्खे जिसको यह निश्चय न हो कि हमारे अन्तरात्माकी यह पुकार है और इस मार्गपर अन्ततक चलनेकी हमारी तैयारी है।

* * * *

पहलेके योगोंमें उस आत्माके अनुभवकी ही खोज थी जो आत्मा सदा ही मुक्त है और परमात्मासे अविभक्त है। उस आत्मज्ञान और आत्मानुभवमें अपनी मानव-प्रकृति बाधक न हो, इस ध्यानसे उतने ही अशमे प्रकृति-स्वभाव बदलनेका यत्न किया जाता था। कुछ थोडे-से ही लोग, और सो भी प्राय 'सिद्धि' प्राप्त करनेके लिये, पूर्ण परिवर्तन अर्थात् शरीरतकको बदलनेका यत्न करते थे। पृथ्वीकी पार्थिव चेतनामें नवीन प्रकृतिके प्राकट्यके लिये उनका प्रयास नहीं था।

* * * *

मनुष्य प्राणी जो सचेतन प्रकृतिमे मूर्तिमान् मन ही है, उसकी सम्पूर्ण चेतना या बोधशक्तिको परम चैतन्यकी प्रकृतिसे मिलनेके लिये ऊपर उठना होगा और परम चैतन्यकी प्रकृतिको भी मन, प्राण और भौतिक आकारमें नीचे उतरना होगा। तभी बीचकी रुकावटें दूर होंगी और परा प्रकृति सम्पूर्ण अपरा प्रकृतिको ऊपर उठा लेने और उसे विज्ञानकी शक्तिसे बदलकर दिव्य बनानेमें समर्थ होगी।

पृथ्वी विकासक्रमका भौतिक क्षेत्र है और मन बुद्धि और प्राण, विज्ञान, सच्चिदानन्द तत्त्वत इस भौतिक चैतन्यमें भी छिपे हुए हैं। पर विकासक्रममें सबसे पहले भौतिक जगत्की रचना होती है, तत्पश्चात् उसमें प्राणलोकसे

प्राण आकर पृथ्वीके प्राणतत्त्वको आकृति, सहति और गति प्रदान करता है और वनस्पतिजाति और पशुजाति उत्पन्न करता है, तब मनोमयलोकसे मन उतरकर मनुष्यका सृजन करता है। अब मन-बुद्धिके परे जो विज्ञान है वह उतरनेवाला है, इसलिये कि विज्ञानमय मानवजाति उत्पन्न हो।

आत्मानुभवके कार्यक्षम होनेके लिये इतना ही पर्याप्त नहीं है कि पुरुष (जीव) प्रकृतिके वशसे मुक्त हो, बल्कि यह आवश्यक है कि पुरुषकी अपरा प्रकृति और उसकी अनभिज्ञ क्रियाशक्तियोंके प्रति जो स्नेहासक्ति है वह वहाँसे हटाकर परा भागवती शक्ति श्रीमाताको समर्पित हो।

अपरा निम्नगा प्रकृतिको और उसकी यन्त्रवत् अन्ध क्रियाशक्तियोंको माता समझ लेना भूल है। यह प्रकृति तो एक यन्त्रसामग्री है जो विकासशील अज्ञानको गति देनेके लिये प्रस्तुत की गयी है। जैसे मनोऽभिमानी, प्राणाभिमानी या देहाभिमानी आत्मा ही परमात्मा नहीं है, यद्यपि वह आता परमात्मासे ही है—वैसे ही प्रकृतिकी यह यान्त्रिकता ही भागवतशक्ति या माता नहीं है। अवश्य ही इस यान्त्रिकतामें और इसके पीछे माताका अंश है, जो विकासक्रम साधनेके लिये इसे बनाये हुए है। पर माता स्वयं जो कुछ हैं वह कोई अविद्याकी शक्ति नहीं है, बल्कि भगवान्‌की चिच्छक्ति, ज्योति, परा प्रकृति है, जिनसे हम मुक्ति और भागवती पूर्णताकी कामना करते हैं।

पुरुष-चैतन्यका अनुभव—शान्त, स्वच्छन्द, त्रिगुण-कर्मोंका अनासक्त, अलिप्त साक्षित्व मुक्तिका साधन है। शान्ति, अनासक्ति, शान्तिमय शक्ति और आत्मरतिको प्राणोंमें, देहमें और मन-बुद्धिमें ले आना होगा। यदि इस आत्मरतिकी इस प्रकार मन, बुद्धि, प्राण और देहमें प्रतिष्ठा हो गयी तो प्राणगत शक्तियोंके उपद्रवोंका शिकार होनेका प्रसङ्ग नहीं आ सकता। पर यह शान्ति, समत्व, स्थिर शक्ति और आनन्दका संस्थापन आधारमें माताकी शक्तिका केवल प्रथम अवतरण है। इसके परे एक ऐसा ज्ञान है, एक ऐसी सञ्चालन-शक्ति है, एक ऐसा गतिशील आनन्द है जिसका अनुभव सामान्य प्रकृतिकी उत्तमावस्थामें, अत्यन्त सात्त्विक अवस्थामें भी नहीं हो सकता, क्योंकि वह भागवतगुण है।

सबसे पहले शान्ति, समता, मुक्ति आवश्यक है। गतिशील आत्मानन्दको अपरिपक्व अवस्थामें नीचे ले आनेका प्रयास करना ठीक नहीं, क्योंकि ऐसी अवस्थामें उसका नीचे आना क्षुब्ध और अशुद्ध प्रकृतिमें आना होगा, जो उसे अपना न सकेगी और इससे भयङ्कर उपद्रव हो सकते हैं।

* * * *

यदि परात्पर विज्ञानमय भगवन्मानससे किसी ऐसे महत्तर और पूर्णतर सत्यका अनुभव न होता हो जो उसके नीचेके लोकोंमें नहीं है, तो वहाँ पहुँचनेका प्रयास करना भी व्यर्थ ही है। प्रत्येक लोकके अपने-अपने विशिष्ट सत्यानुभव हैं। सभी सत्य सर्वत्र वैसे ही नहीं हैं। कुछ सत्य ऐसे हैं जो ऊर्ध्वतर लोकमें हैं ही नहीं। उदाहरणार्थ, वासना और अहंकार मनोमय, प्राणमय और अन्नमय अज्ञानकी सत्ता थे, वहाँ कोई अहङ्काररहित या वासनारहित हो तो वह एक निर्जीव-सा तामसिक यन्त्रमात्र है। पर इस लोकसे जब हम ऊपर उठते हैं, तब अहङ्कार और वासनाकी कोई सत्ता ही नहीं रहती, वहाँ वे असत् प्रतीत होते हैं और सदात्मा और सत्यसङ्कल्प-को विकृत—विपर्यस्त करनेका काम करते हैं। दैवी और आसुरी शक्तियोंका सग्राम यहाँकी एक नित्य-सत्य घटना है, पर ज्यों-ज्यों हम ऊपर उठते हैं त्यों-त्यों इसकी सत्ता कम होती जाती है और परात्पर विज्ञानमय भगवन्मानसमें इसकी कोई सत्ता रह ही नहीं जाती। अन्यान्य सत्ताएँ हैं, पर पूर्ण स्थितिमें आकर उनका स्वरूप, महत्त्व और स्थान बदल जाता है। व्यक्त और अव्यक्तका भेद या तारतम्य परा प्रज्ञाकी सत्तामें सत्य भासित होता है—परात्परा प्रज्ञामें इस भेदका भेदरूप अस्तित्व नहीं है, वहाँ व्यक्त और अव्यक्त दोनों अभिन्न-रूपसे एक हैं। पर परा प्रज्ञाकी स्थिति साधकर उसमें जो पूर्ण होकर न रहा हो वह परात्पर विज्ञानकी सत्ताका अनुभव नहीं कर सकता। मनुष्यका मन तो ऐसा है कि इसे एक प्रकारसे अक्षम-सा अर्थात् व्यर्थका दर्प होता है और उस दर्पमें वह भिन्न-भिन्न स्थितियोंके सदनुभवोंको छाँटने लगता है और अन्य सब सदनुभवोंको असत्य, अलीक जानकर केवल उस एक महत्तम सत्यकी ओर उछल पड़ता है जिसे उसने स्वरूपतः तो नहीं, अनुमानसे जाना है, पर यह एक प्रकारका उच्चपदाभिलाष और गर्वयुक्त प्रमादमात्र है। बात यह है कि जो कोई ऊपर चढ़ना चाहता है उसे पोढ़ी-पोढ़ी चढ़ना होगा

और हर पौड़ीपर मजबूतीसे पैर रखकर, स्थिर होकर ऊपर उठना होगा, तभी वह शिखरतक पहुँचेगा।

* * * *

विषयासक्तिवाली निम्न प्रकृति और उससे अपने मार्गमें पड़नेवाली बाधाओंके सोचमें ही रहना भूल है। इस प्रकृति और उसकी इन बाधाओंका निस्तार साधनाका अभावपक्ष है। इन बाधाओंको देखना, समझना और हटाना अवश्य ही एक काम है, पर इसीको सब कुछ समझकर इसीमें सर्वात्मना सदा लगे रहना ठीक नहीं। साधनाका जो भावपक्ष है, अर्थात् परा शक्तिके अवतरणका अनुभव, वही मुख्य बात है। यदि कोई यही प्रतीक्षा करता रहे कि पहले निम्न प्रकृति सदाके लिये सर्वथा शुद्ध हो ले, तब परा प्रकृतिके आनेकी बाट जोही जाय, तो ऐसी प्रतीक्षा तो सदा करते ही रह जाना पड़ेगा। यह सच है कि निम्न प्रकृति जितनी ही शुद्ध होगी, उतना ही परा प्रकृतिका उतर आना आसान होगा, पर यह भी सच है, बल्कि उससे भी अधिक सच है, कि परा प्रकृतिका उतरना जितना होगा उतनी ही निम्न प्रकृति निर्मल होगी। पूर्ण शुद्धि या स्थिररूपसे पूर्ण अवतरण एकबारगी ही नहीं हो सकता, यह दीर्घकालमें निरन्तर धैर्यपूर्वक क्रमशः ही होनेका काम है। चित्तकी शुद्धि और भगवच्छक्त्यवतरण दोनोंका काम एक साथ चलता है और दिन-प्रति-दिन अधिकाधिक स्थिरता और दृढ़ताके साथ दोनों एक-दूसरेको आलिङ्गन करते हैं—साधनाका यही सामान्य क्रम है।

* * * *

किसी सद्भावका आत्यन्तिक अभिनिवेश चित्तमें होकर भी तबतक नहीं ठहरता जबतक अपनी मानवी बोधशक्ति बदलकर दिव्य नहीं हो जाती—दिव्य भावको आत्मसात् कर सकनेमें कुछ काल लगता है। जब जीव स्वयं अबोध-सा रहता है तब आत्मसात् करनेकी यह क्रिया परदेके अन्दर ऊपरी आवरणसे छिपकर भीतर हुआ करती है और ऊपरी आवरणकी बोधशक्तिको केवल मूढ़ताकी-सी स्थितिका अनुभव होता है और ऐसा भी प्रतीत होता है कि जो कुछ दिव्य भाव-सा पहले मिला था वह भी चला गया, पर जब जीव जागता है, उसकी बोधशक्ति जाग उठती है, तब वह देख सकता है कि किस प्रकार भीतर-ही-भीतर आत्मसात् करनेकी क्रिया हो रही है, और कोई भी दिव्य भाव पाया हुआ नष्ट नहीं हुआ है, बल्कि जो दिव्य भाव उतर आया था वह अब स्थिर होकर बैठा है।

विशालता और अपार शान्ति और मौनका साधकको जो अनुभव होता है वह आत्मा—शान्त ब्रह्म है। कई योगोंका तो इसी आत्मा या शान्त ब्रह्मको पाकर उसमें रहना ही एकमात्र ध्येय होता है। परन्तु हमारे योगमें तो भगवत्सत्ताकी अनुभूतिका तथा जीवके क्रमशः उस भगवच्चैतन्यको प्राप्त होनेका—जिसे हम दिव्यीकरण कहते हैं—यह केवल प्रथम सोपान है।

* * * *

सदात्माके दो रूप हैं, एक आत्मा और दूसरा अन्तरात्मा—हृत्पुरुष, जिसे हम चैत्यपुरुष भी कहते हैं। सदात्माकी अनुभूति इनमेंसे किसी एक रूपमें अथवा इन दोनों ही रूपोंमें हो सकती है। इन दोनों अनुभूतियोंमें अन्तर यही है कि आत्मा विश्वभरमें व्याप्त प्रतीत होता है, और अन्तरात्मा व्यक्तिविशेषके मन, प्राण और शरीरको धारण करनेवाला व्यष्टि पुरुष प्रतीत होता है। पहले-पहल जब किसीको आत्मानुभव होता है तब वह आत्माको सब पदार्थोंसे पृथक्, अपने आपमें ही स्थित और संसारसे सर्वथा असक्तरूपमें देखता है। इस प्रकारके आत्मानुभवको सूखे हुए नारिकेल-फलकी उपमा दी जा सकती है। पर अन्तरात्मा या चित्पुरुषका अनुभव ऐसा नहीं है, इस अनुभवमें भगवान्‌के साथ एकत्व, भगवान् ही आश्रय और भगवान् ही एकमात्र शरण्य देख पड़ते हैं और निम्न प्रकृतिको बदल डालने तथा अपने सदन्तःकरणात्मा, सत्प्राणात्मा और सच्छरीरात्माको ढूँढ़ निकालनेकी शक्ति अनुभूत होती है। इस योगमें इन दोनों प्रकारके अनुभवोंकी आवश्यकता होती है।

'मैं' यानी यह छोटा-सा अहङ्कार प्रकृतिकी रचना है और साथ ही मानसिक, प्राणगत और भौतिक रचना भी है। इसका हेतु बाह्यबोध और कर्मको केन्द्रीभूत करके व्यष्टि-विशेषमें व्यक्त करनेके काम आना है। जब सदात्मा मिल जाता है तब अहङ्कारका काम पूरा होता है, फिर उसकी कोई उपयोगिता नहीं रह जाती और उसका अन्त हो जाता है—उसके स्थानमें सदात्माकी अनुभूति होती है।

* * * *

तीनों गुण शुद्ध और विमल होकर अपनी दिव्य सत्ताको प्राप्त होते हैं—सत्त्वकी हो जाती है ज्योति अर्थात् विशुद्ध आत्मतेज, रज हो जाता है तप अर्थात् शान्तिमय प्रचण्ड दिव्य शक्ति और तम हो जाता है शम अर्थात् निर्द्वन्द्व समता—शान्ति।

* * * *

विश्वब्रह्माण्डकी तीन शक्तियाँ हैं, जिनके अधीन सब पदार्थ हैं—सृष्टि, स्थिति और संहार, जो-जो कुछ सृजा जाता है वह कुछ कालतक रहता है, बाद क्षीण होकर नष्ट होने लगता है। संहारशक्ति निकाल लेनेका यह मतलब होगा कि एक ऐसी सृष्टि होगी जिसका नाश नहीं होगा, बल्कि जो बनी रहकर सदा बदलती रहेगी। अज्ञानमें रहते हुए, उन्नतिके लिये नाश आवश्यक है; पर ज्ञानमें, सत्यकी अपनी दिव्य सृष्टिमें, प्रलयके बिना ही सतत रूपान्तरका होते जाना ही नियम है।*

महात्मा गान्धीजीका सन्देश

सब योगोंका सम्राट् निष्काम कर्मयोग है।

निष्काम कर्मयोगी

गीताका कर्मयोगी फल और आसक्तिको त्यागकर भगवान्‌की आज्ञानुसार केवल भगवदर्थ समत्व बुद्धिसे शास्त्रविहित कर्तव्यकर्म करता हुआ उन कर्मोंद्वारा भगवान्‌की भक्ति करता है। (देखिये गीता २। ४७ से ५१, ३। ७,१९, ३०; ४। १४; ५। १०; ६। १; ८। ७, ९। २७-२८, १२। ६,१०-११; १८। ६, ९, ४६, ५६, ५७ आदि।)

* श्रीअरविन्दका यह लेख उन्हींकी आज्ञासे उनकी 'Lights on Yoga' नामक अंगरेजी पुस्तकसे लिया गया है। श्रीअरविन्दने समय समयपर अपने शिष्योंके प्रश्नोंका उत्तर देते हुए जो पत्र लिखे हैं उन्हींमेंसे कुछ अंश इस पुस्तकमें संगृहीत हुए हैं, जो साधकोंके लिये बड़े कामके हैं और श्रीअरविन्दके योग-विषयक सिद्धान्तोंको समझनेमें बड़े सहायक हैं। पुस्तक आर्य पब्लिशिंग हाउस, ६३, कॉलेज स्ट्रीट (फर्स्ट फ्लोर), कलकत्तेसे मिल सकती है। मूल्य सवा रुपया है। —सम्पादक

वर्तमान कालमें किस योगका आश्रय लेना चाहिये ?

(परमपूज्यपाद श्रीउडियास्वामीजी महाराजके विचार)

पहले मैंने आसाम और भूटान आदि प्रान्तोंमे हठयोगियोंकी बहुत खोज की थी। मुझे जिस किसी प्रसिद्ध हठयोगीका पता लगता उसीके पास जाता और उसकी सेवा कर उसके अनुभवका पता लगानेका प्रयत्न करता। मैंने ऐसे कई हठयोगी देखे हैं जिन्हे तीन-तीन चार-चार घटेकी समाधि होती थी। परन्तु उनकी वास्तविक स्थिति-का पता लगानेपर यही विदित हुआ कि उनमेसे किसीको भी निर्विकल्प समाधि सिद्ध नहीं हुई। हाँ, सविकल्प समाधिमें उनको स्थिति अवश्य थी। इसके सिवा, मैंने प्रायः सभी हठयोगियोंको रोगी भी पाया। हठयोगका मुख्य लक्ष्य वीर्यकी पुष्टि है, परन्तु मैंने अधिकाश हठयोगियोको वीर्य-सम्बन्धी रोगोंसे भी ग्रस्त पाया है। किसीको मूत्रकृच्छ्र, किसी-को स्वप्नदोष और किसीको किसी अन्य रोगके चगुलमे फँसे देखा है। इससे मेरी यह दृढ धारणा हो गयी है कि वर्तमान काल हठयोगके अनुकूल नहीं है, इस समय हठयोग-द्वारा पूर्णता प्राप्त करना प्रायः सर्वथा असम्भव है।

इसका यह अभिप्राय नहीं है कि हठयोगका मार्ग ही भ्रमपूर्ण है और उससे किसी भी समय पूर्णता प्राप्त नहीं होती थी। इस समय इसका जो विपरीत परिणाम होता है उसके मुख्य कारण ये हैं—

१–हठयोगीका वीर्य शुद्ध होना चाहिये, और इसका इस समय प्रायः सर्वथा अभाव है।

२–हठयोगका अभ्यास सहन करनेयोग्य बल प्रायः नहीं देखा जाता।

३–सिद्ध हठयोगी गुरुका मिलना भी अत्यन्त दुर्घट है।

इसके सिवा ध्यान और वैराग्यकी कमी होनेके कारण आधुनिक हठयोगी प्रायः अर्थलोलुप और चञ्चल प्रकृतिके देखे जाते हैं। उनके जालमे फँसकर मैंने बहुत-से साधको-के जीवन नष्ट होते देखे है। इसलिये मेरा विचार है कि अपने कल्याणकी इच्छावालोंको इस ओर प्रवृत्त नहीं होना चाहिये।

इस प्रकार बहुत-से हठयोगियोंसे निराश होनेपर मुझे एक ऐसे महात्मा मिले जिन्हे ध्यानयोगद्वारा निर्विकल्प समाधि सिद्ध थी। उनके ससर्गसे मुझे यह अनुभव हुआ कि सिद्धासन और शाम्भवी मुद्राके* द्वारा पूर्ण स्थिति प्राप्त की जा सकती है। यह मार्ग सर्वथा सरल और निरापद है। इसके सिवा भगवद्भजन, नाम-सङ्कीर्तन और जपके द्वारा भी भावसमाधि प्राप्त होती देखी गयी है। यह मार्ग सर्वसाधारणके लिये बहुत उपयोगी है। परन्तु ऐसे भावुक साधकोमे भी विचारकी कमी होनेके कारण प्रायः आन्तरिक क्रोध और लोभादि दोष देखे गये है। इसलिये इस मार्गका अनुसरण करनेवालोंको भी विचारकी बहुत आवश्यकता है; तभी वे भगवद्भक्तिसे पूरा लाभ उठा सकेंगे। —प्रेषक–मुनिलाल

---
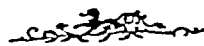
* शाम्भवी मुद्राका लक्षण इस प्रकार है—

अन्तर्लक्ष्यबहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जिता। सा भवेच्छाम्भवी मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता॥

'जिसमें चित्तका लक्ष्य अन्तर्मुख (ध्येयाकार) रहता है और दृष्टि बाहरकी ओर रहती है अर्थात् नेत्र खुले रहते हैं, किन्तु कोई बाह्य पदार्थ दिखायी नहीं देता, वह सम्पूर्ण शास्त्रोंमें छिपी हुई 'शाम्भवी मुद्रा' कहलाती है।'

इसका अभ्यास करनेके लिये श्रीमहाराजने इस श्लोकद्वारा उपदेश दिया—

तिर्यगूर्ध्वमधोदृष्टिं विहाय च महामतिः। स्थिरस्थायी च निष्कम्पो योगमेव समभ्यसेत्॥

'मतिमान् साधकको इधर-उधर और ऊपर-नीचे देखना छोड़कर निश्चलभावसे स्थिरतापूर्वक स्थित होकर योगका अभ्यास करना चाहिये।' (प्रेषक)

समाधियोग

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

कितने ही मित्र पातञ्जल योगदर्शनके अनुसार समाधिविषयक लेखके लिये मुझे प्रेरणा कर रहे हैं। उन लोगोंका आग्रह देखकर मेरी भी लिखनेकी प्रवृत्ति होती है, परन्तु मैंने इसका सम्पादन किया नहीं। समाधिका विषय बड़ा दुर्गम और गहन है। महर्षि पतञ्जलिजीका समाधिके विषयमे क्या सिद्धान्त था, यह बात भाष्य आदि टीकाओंको देखनेपर भी अच्छी प्रकारसे समझमें नहीं आती। पातञ्जलयोगके अनुसार योगका भलीभाँति सम्पादन करनेवाले योगी भी ससारमे बहुत ही कम अनुमान होते है। इस विषयके तत्त्वज्ञ योगीसे मेरी तो भेंट भी नहीं हुई। ऐसी परिस्थितिमे समाधिके विषयमे न तो मुझमे लिखनेकी योग्यता ही है और न मेरा अधिकार ही है। तथापि अपने मनके विनोदके लिये पातञ्जल योगदर्शनके आधारपर, समाधिविषयक अपने भावोंको पाठकोंकी सेवामें निवेदन करता हूँ। अतएव पाठकगण मेरी त्रुटियोंके लिये क्षमा करेंगे।

पातञ्जल योगदर्शनके अनुसार समाधिके मुख्यतया दो भेद हैं—१. सम्प्रज्ञात और २ असम्प्रज्ञात।

असम्प्रज्ञातकी अपेक्षा सम्प्रज्ञात बहिरग है।

तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य। (३।८)

वह (सयमरूप) सम्प्रज्ञात समाधि भी निर्बीज समाधिकी अपेक्षा बहिरग ही है। इस असम्प्रज्ञातयोगको ही निर्बीज समाधि, कैवल्य, चितिशक्तिरूप स्वरूप-प्रतिष्ठा * आदि नामोंसे पातञ्जल योगदर्शनमें कहा है। और उस योगीकी सदाके लिये अपने चिन्मय स्वरूपमें स्थिति हो जाती है तथा किसीके साथ सम्बन्ध नहीं रहता। इसलिये उसको चितिशक्तिरूप स्वरूपप्रतिष्ठा कहते हैं। उस अवस्थामें ससारके बीजका अत्यन्त अभाव है। इसलिये यह निर्बीज समाधिके नामसे प्रसिद्ध है।*

सम्प्रज्ञात योगके मुख्य चार भेद हैं—

वितर्कविचारानन्दास्मितानुगमात् सम्प्रज्ञातः।
(१।१७)

वितर्कके सम्बन्धसे जो समाधि होती है उसका नाम वितर्कानुगम, विचारके सम्बन्धसे होनेवालीका नाम 'विचारानुगम', आनन्दके सम्बन्धसे होनेवालीका 'आनन्दानुगम' और अस्मिताके सम्बन्धसे होनेवाली समाधिका नाम 'अस्मितानुगम' है।

(१) आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी, ये पाँच स्थूलभूत, और शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, ये पाँच स्थूलविषय, इन पदार्थोंमें होनेवाली समाधिका नाम 'वितर्कानुगम' समाधि है। इसमें केवल पाञ्चभौतिक स्थूलशरीर एवं सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र आदिसहित यह स्थूल ब्रह्माण्ड अन्तर्गत है। इस वितर्कानुगम समाधिके दो भेद हैं— १—सवितर्क और २—निर्वितर्क।

(क) सवितर्क

तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः।
(१।४२)

ग्राह्य अर्थात् ग्रहण करने योग्य उन स्थूल पदार्थोंमें शब्द, अर्थ, ज्ञानके विकल्पोंसे सयुक्त, समापत्तिका नाम 'सवितर्क' समाधि है। जैसे कोई सूर्यमें समाधि लगाता है, तो उसमें सूर्यका नाम, सूर्यका रूप, और सूर्यका ज्ञान—यह तीनों प्रकारकी कल्पना रहती है,† इसलिये इसे सवितर्क समाधि कहते है, इसीको 'सविकल्प' भी कहते हैं।

---

* पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति (४।३४)

* तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः (१।५१)

† जिस पदार्थमें योगी समाधि लगाता है, उस पदार्थके वाचक या नामको तो शब्द, तथा वाच्य यानी स्वरूपको अर्थ और जिससे शब्द-अर्थके सम्बन्धका बोध होता है, उसको ज्ञान कहते है। जैसे सूर्य यह शब्द तो सूर्यदेवका वाचक है, सारे विश्वको प्रकाशित करनेवाला आकाशमें जो सूर्यमण्डल दीख पड़ता है, वह सूर्य शब्दका वाच्य है, और उस मण्डलको देखकर यह सूर्य है—ऐसा जो बोध होता है, उसका नाम ज्ञान है।

(ख) निर्वितर्क

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का । (१ । ४३)

स्मृतिके परिशुद्ध होनेपर अर्थात् शब्द, अर्थ और ज्ञानके विकल्पोंसे चित्त-वृत्ति भलीभाँति रहित होनेपर, जिसमें साधकको अपने स्वरूपके ज्ञानका अभाव-सा होकर, केवल अर्थ यानी ध्येयमात्रकी ही प्रतीति रहती है, उसका नाम 'निर्वितर्क' समापत्ति अर्थात् समाधि है । जैसे सूर्यका ध्यान करनेवाला पुरुष मानो अपना ज्ञान भूलकर तद्रूपताको प्राप्त हो जाता है और उसे केवल सूर्यका स्वरूपमात्र ही प्रतीत होता है । उसका नाम निर्वितर्क समाधि है । इसमें विकल्पोंका अभाव होनेके कारण इसे निर्विकल्प भी कहते हैं।

(२) शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि सूक्ष्म-तन्मात्राएँ, मन, बुद्धि, अहङ्कार और मूलप्रकृति एवं दश इन्द्रियाँ, इनमे होनेवाली समाधिका नाम 'विचारानुगम' समाधि है । कोई-कोई इन्द्रियोंमें होनेवाली समाधिको आनन्दानुगम समाधि मानते हैं, परन्तु ऐसा मानना युक्तिसङ्गत प्रतीत नहीं होता, क्योकि महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—

एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता । (१ । ४४)

इस सवितर्क और निर्वितर्कके भेदके अनुसार ही सूक्ष्म विषयवाली, सविचार और निर्विचार समाधिकी व्याख्या समझनी चाहिये । सूक्ष्म विषयकी मर्यादा, स्थूल पञ्चभूतोंको और स्थूल विषयोंको बाद देकर, मूलप्रकृति-पर्यन्त बतलायी है । इससे सूक्ष्म विषयकी व्याख्याके अन्तर्गत ही इन्द्रियाँ आदि आ जाते हैं—

सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम् । (१ । ४५)

तथा सूक्ष्मविषयताकी सीमा अलिङ्ग यानी मूल प्रकृतितक है । मूल प्रकृतितक होनेसे दृश्यका सारा सूक्ष्मविषय, 'विचारानुगम' समाधिके अन्तर्गत आ जाता है।

इस विचारानुगम समाधिके भी दो भेद हैं । १—सविचार, २—निर्विचार ।

(क) सविचार—स्थूल पदार्थोंको छोड़कर शेष मूलप्रकृतिपर्यन्त सम्पूर्ण ग्रहण और ग्राह्योंमे नाम(शब्द), रूप (अर्थ), ज्ञानके विकल्पोंसे संयुक्त समापत्ति अर्थात् समाधिका नाम सविचार समाधि है । तीनों प्रकारके विकल्पोंसे युक्त होनेके कारण, इस सविचार समाधिको सविकल्प भी कहते हैं।

(ख) निर्विचार—जिसमें उपर्युक्त स्थूल पदार्थोंको छोड़कर शेष मूलप्रकृतिपर्यन्त सम्पूर्ण ग्रहण और ग्राह्योंमे स्मृतिके परिशुद्ध होनेपर अर्थात् शब्द, अर्थ और ज्ञानके विकल्पोंसे चित्त-वृत्ति भलीभाँति रहित होनेपर जिसमें योगीको अपने स्वरूपके ज्ञानका अभाव-सा होकर, केवल अर्थमात्रकी ही प्रतीति रहती है, उसका नाम निर्विचार समाधि है । इसमें विकल्पोंका अभाव होनेके कारण इसे निर्विकल्प भी कहते हैं ।

ग्रहण तेरह हैं-पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और मन, बुद्धि, अहङ्कार । ग्राह्य पदार्थोंके ग्रहण करनेमे द्वार होनेसे, इन्हे 'ग्रहण' कहा गया है ।

इनके अलावा—स्थूल, सूक्ष्म समस्त जड दृश्यवर्ग, ग्राह्य है । ये उपर्युक्त तेरह ग्रहणोंके द्वारा पकड़े जानेवाले होनेसे इन्हें 'ग्राह्य' कहते हैं ।

उपर्युक्त विवेचनका तात्पर्य यह है कि दृश्यमात्र जड है और इस जडमे होनेवाली समाधिका नाम 'वितर्कानुगम' और 'विचारानुगम' समाधि है ।

कार्यसहित प्रकृति जो दृश्यवर्ग है, इसीका नाम बीज है, इसलिये इसको लेकर होनेवाली समाधिका नाम सबीज समाधि है ।

ता एव सबीजः समाधिः । (१ । ४६)

(३) अन्तःकरणकी स्वच्छतासे उत्पन्न होनेवाले आह्लाद यानी प्रिय, मोद, प्रमोद आदि वृत्तियोमे जो समाधि होती है, उसका नाम 'आनन्दानुगम' समाधि है । उपर्युक्त वितर्क और विचार ये दोनो समाधियाँ तो केवल जडमें अर्थात् दृश्य पदार्थोंमें हैं परन्तु यह केवल जडमें नहीं है, क्योंकि आनन्दकी उत्पत्ति जड और चेतनके सम्बन्धसे होती है । इस आनन्दमे आत्माकी भावना करनेसे

---

* ध्यानमें तो ध्याता, ध्यान, ध्येयकी त्रिपुटी रहती है और इन सवितर्क और सविचार समापत्तिमें, केवल ध्येयविषयक ही शब्द, अर्थ, ज्ञानसे मिला हुआ विकल्प रहता है तथा समाधिमें केवल ध्येयका स्वरूपमात्र ही रह जाता है । इसलिये यह समापत्ति, ध्यानसे उत्तर एवं समाधिकी पूर्वावस्था है, इसे तटस्थ समापत्ति भी कहते हैं, अतएव इसको भी समाधि ही समझना चाहिये ।

विवेकख्याति* द्वारा आत्मसाक्षात्कार भी हो जाता है ।

(४) चेतन द्रष्टाकी चिन्मयशक्ति एवं बुद्धिशक्ति इन दोनोंकी जो एकता-सी है उसका नाम 'अस्मिता' है।

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता (२।६)

पुरुष और बुद्धिकी एकरूपताकी-सी प्रतीति होना अस्मिता है†। इसलिये बुद्धिवृत्ति और पुरुषकी चेतनशक्तिके एकताके-से स्वरूपमें जो समाधि होती है उसका नाम 'अस्मितानुगम' समाधि है । आनन्दानुगम तो चेतनपुरुष और बुद्धिके सम्बन्धसे उत्पन्न होनेवाले आह्लादमें होती है । किन्तु यह समाधि चेतन पुरुष और बुद्धिकी एकात्मताकी-सी स्थितिमें होती है । इस समाधिसे पुरुष और प्रकृतिका पृथक्-पृथक् रूपसे ज्ञान हो जाता है । उस सत्त्वपुरुषके पृथक्-पृथक् ज्ञानमात्रसे समस्त पदार्थोंके स्वामित्व और ज्ञातृत्वकी प्राप्ति होती है ।

सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च । (३।४९)

फिर इन सबमें वैराग्य होनेपर, क्लेश-कर्मके मूलभूत अविद्यारूप दोषकी निवृत्ति होकर, पुरुष 'कैवल्य' अवस्थाको प्राप्त हो जाता है—

तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् । (३।५०)

असम्प्रज्ञात योग अर्थात् निर्बीज समाधि तो सङ्कल्पोंका अत्यन्त अभाव होनेके कारण, निर्विकल्प है ही किन्तु सम्प्रज्ञातयोगमें निर्वितर्क और निर्विचार आदि सबीज समाधियाँ भी, विकल्पोंका अभाव होनेके कारण, निर्विकल्प हैं ।

'ग्रहण' और 'ग्राह्यों' में तथा आनन्द और बुद्धिसहित ग्रहीतामें सम्प्रज्ञात योगको बतलाकर, अब केवल ग्रहीतामें होनेवाला असम्प्रज्ञात योग बतलाया जाता है । चेतनरूप ग्रहीताके स्वस्वरूपमें होनेवाली समाधिका नाम असम्प्रज्ञात योग है । इसमें दृश्यके अभावसे, द्रष्टाकी अपने स्वरूपमें समाधि होती है ।

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः । (१।१८)

चित्तवृत्तियोंके अभावके अभ्याससे उत्पन्न हुई स्थिति, जिसमें केवल चित्तनिरोधके संस्कार ही शेष रहते हैं, वह अन्य है अर्थात् असम्प्रज्ञात समाधि है । इसमें चित्तकी वृत्तियोंका सर्वथा निरोध हो जाता है और चित्तनिरोधके संस्कार ही रह जाते हैं ।

गुण और गुणोंके कार्यमें अत्यन्त वैराग्य होनेसे, समस्त दृश्यका आलम्बन चित्तसे छूट जाता है, दृश्यसे अत्यन्त उपरामता होकर चित्तकी वृत्तियोंका निरोध होता है और क्लेश कर्मोंका नाश हो जाता है तथा क्लेश कर्मोंका नाश हो जानेसे, उस योगीका चित्तके साथ अत्यन्त सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है । सत्, रज, तम-गुणमयी प्रकृति उस योगीको मुक्ति देकर कृतकार्य हो जाती है । यही योगीकी कैवल्य अवस्था अथवा चितिशक्तिरूप स्वरूप-प्रतिष्ठा है । इसीको निर्बीज समाधि कहते हैं ।

सम्प्रज्ञात योगमें जिस पदार्थका आलम्बन किया जाता है, उस पदार्थका यथार्थ ज्ञान होकर, योगीकी भूमियोंमें वृद्धि होते-होते, शेषमें प्रकृति-पुरुषतकका यथार्थ-ज्ञान हो जाता है । और उसमें वैराग्य होनेसे कैवल्यपदकी प्राप्ति हो जाती है । किन्तु असम्प्रज्ञात योगमें तो शुरूसे ही दृश्यके आलम्बनका त्याग किया जाता है जिससे दृश्यका अत्यन्त अभाव होकर, त्याग करनेवाला केवल चेतन पुरुष ही बच रहता है, वही उसकी कैवल्य अवस्था है । अर्थात् सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञातका प्रधान भेद यह है कि सम्प्रज्ञात योग तो किसीको ध्येय बनाकर यानी किसीका आलम्बन करके, किया जाता है । यहाँ आलम्बन ही बीज है, इसलिये किसीको आलम्बन बनाकर, उसमें समाधि होती है, उसका नाम सबीज समाधि है । किन्तु असम्प्रज्ञात योगमें आलम्बनका अभाव है । आलम्बनका अभाव करते-करते, अभाव करनेवाली वृत्तियोंका भी अभाव होनेपर, जो समाधि होती है, वह

---

* सत्त्व और पुरुषकी ख्यातिमात्रसे तो सब पदार्थोंपर स्वामित्व और ज्ञातृत्वकी प्राप्ति होती है, और उसमें वैराग्य होनेसे संशय-विपर्ययसे रहित निर्मल विवेकख्याति होती है, इसीको 'सर्वथा विवेकख्याति' भी कहते हैं, इससे 'धर्ममेघ समाधि' लाभ और क्लेश-कर्मकी निवृत्ति होकर कैवल्यपदकी प्राप्ति हो जाती है ।

यह 'धर्ममेघ समाधि' सम्प्रज्ञात योग नहीं है । असम्प्रज्ञात योग यानी निर्बीज समाधिकी पूर्वावस्था है, क्योंकि इसमें समस्त क्लेश-कर्मोंकी निवृत्ति होकर कैवल्य पदकी प्राप्ति बतलायी गयी है ।

† वितर्कानुगम और विचारानुगम समाधिके जैसे सवितर्क और निर्वितर्क तथा सविचार और निर्विचार दो-दो भेद होते हैं वैसे ही आनन्द और अस्मिताके भी दो-दो भेद किये जा सकते हैं ।

असम्प्रज्ञात योग है। निरालम्ब होनेके कारण इसको निर्बीज समाधि भी कहते हैं।

ऊपर बताये हुए असम्प्रज्ञात योगकी सिद्धि दो प्रकारसे होती है। जिनमें एकका नाम 'भव-प्रत्यय' है और दूसरेका नाम 'उपाय-प्रत्यय'। जो पूर्वजन्ममें विदेह और प्रकृतिलयतक पहुँच चुके थे वे ही योगभ्रष्ट पुरुष इस जन्ममें भव-प्रत्ययके अधिकारी हैं, शेष सब मनुष्य उपाय-प्रत्ययके अधिकारी हैं। उनमें भव-प्रत्यय यह है—

भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्। (१। १९)

विदेही और प्रकृतिलयोंको भव-प्रत्यय होता है।

भव नाम है जन्मका, प्रत्यय नाम है प्रतीति—प्रकट होनेका। जन्मसे ही जिसकी प्रतीति होती है अर्थात् जो जन्मसे ही प्रकट होता है, उसे 'भव-प्रत्यय' कहते हैं। अथवा, भवात् प्रत्ययः भवप्रत्ययः। भवात् नाम जन्मसे, प्रत्यय नाम ज्ञान, जन्मसे ही है ज्ञान जिसका अर्थात् जिस असम्प्रज्ञात योगकी प्राप्तिका, उसका नाम है 'भव-प्रत्यय'। सारांश यह है कि विदेही और प्रकृतिलय योगियोंको जन्मसे ही, असम्प्रज्ञात योगकी प्राप्तिविषयक ज्ञानका अधिकार प्राप्त हो जाता है। उनको श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि, प्रज्ञाकी आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि इन सबका साधन उनके पूर्वजन्ममें हो चुका है।

इसलिये पूर्वजन्मके संस्कारबलसे* उनको परवैराग्य होकर विराम प्रत्ययके अभ्यासपूर्वक यानी चित्तवृत्तियोंके अभावके अभ्यास अर्थात् दृश्यरूप आलम्बनके अभावके अभ्यासमें असम्प्रज्ञात यानी निर्बीज समाधि हो जाती है।

(१) विदेही उन्हें कहते हैं, जिनका देहमें अभिमान नहींके तुल्य है। सम्प्रज्ञात योगकी जो चौथी समाधि अस्मिता है, उसमें समाविस्थ होनेसे पुरुष और बुद्धिका पृथक्-पृथक् ज्ञान हो जाता है, उस ज्ञानसे आत्माको ज्ञाता और बुद्धिको ज्ञेयरूपसे समझकर, शरीरसे आत्माको पृथक् देखता है। तब उसको 'विदेह' ऐसा कहा जाता है।

(२) 'प्रकृतिलय' उन्हें कहते हैं जिनमें निर्विचार समाधिद्वारा प्रकृतिपर्यन्त संयम करनेकी योग्यता हो गयी है। इस प्रकारके योगियोंको अध्यात्मप्रसाद होकर ऋतम्भरा प्रज्ञाकी प्राप्ति हो जाती है।

निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः। (१। ४७)

निर्विचार समाधिमें वैशारद्य यानी प्रवीणता होनेपर, अध्यात्मप्रसाद होता है। रज, तमरूप मल और आवरणका क्षय होकर, प्रकाशस्वरूप बुद्धिका स्वच्छ प्रवाह निरन्तर बहता रहता है, इसीका नाम 'वैशारद्य' है। इससे प्रकृति और प्रकृतिके सारे पदार्थोंका, संशय-विपर्ययरहित प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है, इसका नाम 'अध्यात्मप्रसाद' है। यह सम्प्रज्ञात योगकी निर्विचार समाधि है।

विदेह और प्रकृतिलय योगियोंका विषय बतलाकर अब साधारण मनुष्योंके लिये, असम्प्रज्ञात योग प्राप्त करनेके लिये 'उपाय-प्रत्यय' कहते हैं।

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्। (१। २०)

जो विदेह और प्रकृतिलय नहीं हैं, उन पुरुषोंका श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञापूर्वक, विराम-प्रत्ययके अभ्यासद्वारा असम्प्रज्ञात योग सिद्ध होता है।

श्रद्धा—योगकी प्राप्तिके लिये अभिरुचि या उत्कट इच्छाको उत्पन्न करनेवाले विश्वासका नाम 'श्रद्धा' है। जिनका अन्तःकरण जितना स्वच्छ यानी मलदोषसे रहित होता है, उतनी ही उसमें श्रद्धा* होती है। श्रद्धा ही कल्याणमें

---

* भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने भी योगभ्रष्ट पुरुषकी गति बतलाते हुए कहा है—

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥
पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।

(६। ४३-४४)

और वह योगभ्रष्ट पुरुष, वहाँ उस पहिले शरीरमें साधन किये हुए बुद्धिके संयोगको अर्थात् समत्वबुद्धियोगके संस्कारोंको अनायास ही प्राप्त हो जाता है और हे कुरुनन्दन! उनके प्रभावसे फिर अच्छी प्रकार भगवत्प्राप्तिके निमित्त यत्न करता है। और वह विषयोंके वशमें हुआ भी उस पहिलेके अभ्याससे निःसन्देह भगवत्की ओर आकर्षित किया जाता है।

* भगवद्गीतामें भी भगवान् कहते हैं—

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥

(१७। ३)

हे भारत! सभी मनुष्योंकी श्रद्धा, उनके अन्तःकरणके अनुरूप होती है तथा यह पुरुष श्रद्धामय है, इसलिये जो पुरुष जैसी श्रद्धावाला है, वह स्वयं भी वही है अर्थात् जैसी जिसकी श्रद्धा है, वैसा ही उसका स्वरूप है।

परम कारण है, इसलिये आत्माका कल्याण चाहनेवाले पुरुषोंको श्रद्धाकी वृद्धिके लिये विशेष कोशिश करनी चाहिये।

वीर्य—योगकी प्राप्तिके लिये साधनकी तत्परता उत्पन्न करनेवाले उत्साहका नाम 'वीर्य' है। क्योंकि श्रद्धाके अनुसार उत्साह और उत्साहके अनुसार ही साधनमें तत्परता होती है। और उस तत्परतासे मन और इन्द्रियोंके संयमकी भी सामर्थ्य हो जाती है।

स्मृति—अनुभूत विषयका न भूलना यानी उसके निरन्तर स्मरण रहनेका नाम 'स्मृति' है, इसलिये यहाँ अध्यात्मबुद्धिके द्वारा सूक्ष्म विषयमें जो चित्तकी एकाग्रता होकर, एकतानता है अर्थात् स्थिर स्थिति है, उसको 'स्मृति' नामसे कहा है।

समाधि—फिर उसीमें अपने स्वरूपका अभाव-सा होकर, जहाँ केवल अर्थमात्र ध्येय वस्तुका ही ज्ञान रह जाता है, उसका नाम 'समाधि' है।

प्रज्ञा—ऋतम्भरा प्रज्ञा ही यहाँ प्रज्ञा नामसे कथित हुई है। उपर्युक्त समाधिके फलस्वरूप यह ऋतम्भरा प्रज्ञा योगीको प्राप्त होती है।

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा। (१।४८)

वहाँ ऋतम्भरा प्रज्ञा होती है। ऋत सत्यका नाम है। उसका धारण करनेवाली बुद्धिका नाम ऋतम्भरा है।

श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात्। (१।४९)

विशेष अर्थवाली होनेसे यह प्रज्ञा, श्रुत और अनुमान-जन्य प्रज्ञासे अन्य विषयवाली है।

अर्थात् श्रुति, स्मृतिद्वारा सुने हुए, और अपनी साधारण बुद्धिके द्वारा अनुमान किये हुए, विषयोंसे भी इस बुद्धिके द्वारा विशेष अर्थका यानी यथार्थ अर्थका अनुभव होता है।

इस ऋतम्भरा प्रज्ञाके द्वारा उत्पन्न हुए ज्ञानसे संसार-के पदार्थोंमें वैराग्य और उपरति उत्पन्न होकर, उससे आत्मविषयक साधनमें आनेवाले विक्षेपोंका अभाव हो जाता है।

तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी। (१।५०)

उस ऋतम्भरा प्रज्ञासे उत्पन्न ज्ञानरूप संस्कार अन्य दृश्यजन्य संस्कारोंका बाधक है।

इसलिये उपर्युक्त प्रज्ञाके संस्कारोंद्वारा विराम-प्रत्यय-का अभ्यास करना चाहिये अर्थात् विषयसहित चित्तकी समस्त वृत्तियोंके विस्मरणका अभ्यास करना चाहिये। इस प्रकारका अभ्यास करते-करते दृश्यका अत्यन्त अभाव हो जाता है। दृश्यका अत्यन्ताभाव होनेपर, दृश्यका अभाव करनेवाली बुद्धिवृत्तिका भी स्वयमेव निरोध हो जाता है और इसके निरोध होनेपर निर्बीज समाधि हो जाती है। यही इस योगीकी स्वरूपमें स्थिति है, या यों कहिये कि कैवल्यपदकी प्राप्ति है*।

इनका सार निकालनेसे यही प्रतीत होता है कि अन्तःकरणकी स्वच्छतासे श्रद्धा होती है। श्रद्धासे साधनमें तत्परता होती है, तत्परतासे मन और इन्द्रियोंका निरोध होकर परमात्माके स्वरूपमें निरन्तर ध्यान होता है, उस ध्यानसे परमात्माके तत्त्वका यथार्थ ज्ञान होता है। और ज्ञानसे परम शान्तिकी प्राप्ति होती है। इसीको भगवत्-प्राप्ति, परमधामकी प्राप्ति आदि नामोंसे गीतामें बतलाया गया है। और यहाँ इस प्रकरणमें इसीको 'निर्बीज समाधि' या 'कैवल्यपद' की प्राप्ति कहा है।

---

* श्रीमद्भगवद्गीतामें भी इसीसे मिलता जुलता वर्णन किया गया है—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः। ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥ (४।३९)

जितेन्द्रिय तत्पर हुआ श्रद्धावान् पुरुष ज्ञानको प्राप्त होता है। ज्ञानको प्राप्त होकर तत्क्षण भगवत्प्राप्तिरूप परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है।

योगतत्त्वम्

(लेखक—श्रीमन्माध्वसम्प्रदायाचार्य-दार्शनिकसार्वभौम-साहित्यदर्शनाद्याचार्य-तर्करत्न-न्यायरत्न गोस्वामी श्रीदामोदरजी शास्त्री)

योगमाश्रयते नीपं योगभाग्मत्यगोचर. । योऽगम्यो विषयासक्तौ योगमेतु स मे हृदि ॥

अयि कल्याणप्रियजनते !

आपलोग अनेक वर्षोंसे बहुविध मधुर रसका ही आस्वाद करते आ रहे हैं, सम्भव है कि कुछ अरुचिका भी उन्मेष हुआ हो; इससे तरह-तरहके मसाले पड़ी हुई योगरूप चटनीसे आस्वाद बदलना भी लोकरीतिसे अनुचित न होगा, होता अनुचित यदि इमली वा नीमकी बेमेल चटनी होती । यह तो किसमिसकी चटनी होनेसे मेलकी ही है, क्योंकि बिना इसके पूर्वास्वादित गरिष्ठ रसका परिपाक होता ही नहीं ।

यह 'योग' शब्द एकाग्रतार्थक 'युज्' धातुसे निष्पन्न है, संयोगार्थक 'युजिर्' धातुसे नहीं, क्योंकि कर्म, ज्ञान, भक्ति, अष्टाङ्गादि योगमें नियमसे चित्तैकाग्रता ही अपेक्षित है ।

इस स्वतन्त्र योगके भी हठ, लय, मन्त्र, राजरूपसे तथा अन्य स्पर्शादि प्रभेदोंसे अनेकानेक प्रकार होते है, किन्तु हम यहाँ हिरण्यगर्भाचार्यप्रवर्तित एव महर्षि 'पतञ्जलि' द्वारा अनुशासित 'पातञ्जल' दर्शनादि नामोंसे प्रसिद्ध योग-शास्त्रोक्त 'योग' को मुख्य समझकर तदुक्त रीतिसे ही योगतत्त्वका सक्षेपसे निरूपण करते है ।

जब यह भी एक प्रधान दर्शन है, तब दर्शनोचित रीति कैसे छूटेगी ? इस दर्शनमें प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द ये तीन ही प्रमाण अनुमत हैं, इनसे ही प्रमेय-सिद्धि की जाती है । यह शास्त्र महर्षि कपिलोक्त साख्यका परिशिष्ट रूप है, इसीसे 'उत्तरसाख्य' भी कहाता है । अतएव कपिलोक्त पचीस तत्त्व यहाँ भी सम्मत है, केवल छब्बीसवॉ तत्त्व 'ईश्वर' इसमें अधिक सिद्धान्तित है ।

ये दोनो महर्षि 'परिणामवादी' है—इसीसे किसीकी उत्पत्ति या नाश इनके यहाँ नहीं माना गया है । श्री-भगवान्‌ने गीतोपनिषद्‌मे 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' ऐसा कहकर परिणामवादका ही अनुमोदन किया है । इस वादमे उपादानकारणसे कार्यका सर्वथा भेद नहीं है, सर्वथा अभेद भी नहीं है, अतएव तादात्म्य है ।

उक्त छब्बीस तत्त्वोमे महापुरुष या पुरुषोत्तम—ईश्वर और पुरुष वा जीव ये ही दोनो चिन्मात्रस्वरूप हैं, बाकीके चौबीस सब जडात्मक हैं, क्योंकि सत्त्व, रज, तम, इन तीन गुणोंकी समष्टिरूप प्रकृति वा प्रधान मूल-कारण है । इसीसे साक्षात् वा परम्परासे तेईसोका सृष्टिसमयमे आविर्भाव होता है और प्रलयकालमे तेईसो प्राकट्यके विपरीत क्रमसे तिरोभूत होते है ।

इस दर्शनमे पुरुषमें ज्ञान-इच्छा, सुख-दुःख, धर्माधर्मादि विशेष गुण कभी नहीं रहते, किन्तु प्रकृतिका प्रथम कार्य वा विकृति, जो बुद्धितत्त्व वा महत्तत्त्व कहाता है, उसीमें उक्त गुण वस्तुतः रहते है । यह अन्तःकरणका मुख्यरूप है, अनादिकालसे इसके साथ पुरुषको तादात्म्य-भ्रम चला आया है । यही बन्धका हेतु है । जब पुरुषको इसके साथ भेद प्रत्यक्ष होता है, तब उसे 'विवेकख्याति' कहते हैं । इस वृत्तिके बाद ही मुक्ति है । तब उक्त वृत्ति भी अनन्त कालतक निरुद्ध रहती है । प्रारब्ध कर्म भुक्त ही हो जाते हैं, सञ्चित कर्म ज्ञानसे दग्ध हो जाते है, आगामी कारणाभावसे होते ही नहीं । अत. वृत्तिमात्रका निरोध होनेसे पुरुष वास्तविक स्वरूपमें सर्वदा स्थित रहेगा, यही योगदर्शनमें मोक्ष है ।

एक दर्शनका सम्पूर्ण विवरण थोड़े-से लेखमे कैसे आवेगा ? तथापि योगरसिकोंके विनोदार्थ दिग्दर्शन कराया गया । विशेष जिज्ञासु यदि प्रश्न करेंगे तब उत्तर अवश्य दिया जायगा । इति शम् ।

श्रीश्रीशरणागतियोग

(लेखक—अनन्त श्रीस्वामी प० श्रीरामवल्लभाशरणजी महाराज, अयोध्या)

बीजाङ्कुरन्यायसे अनादिकालोपचित विविध कर्म-बन्धनोंसे बद्ध जीव नाना प्रकारकी योनियोंमें तत्तत्कर्मानुगुण तत्तच्छरीरग्रहणपूर्वक तत्तच्छरीरभोग्य भोगोको भोगते आये है और भोगते है तथा भविष्यमे भी भोगते रहेंगे—

'दैवाधीनं जगत् कृत्स्नम्'
'पूर्वजन्मकृतं कर्म तद्दैवमिह कथ्यते ।'

कर्मसञ्चयको ही ससार कहते है । जबतक कर्म सञ्चित रहता है तबतक सुख (मोक्ष) हो ही नहीं सकता, चाहे वह सञ्चित कर्म पुण्यजनकतावच्छेदक हो अथवा पापफलप्रद हो । श्रुति कहती है—

पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ।

अतः उभयविध कर्म बन्धप्रद होनेसे त्याज्य ही बतलाये गये है ।

अब प्रश्न यह होता है कि उभयविध कर्मोंका निर्हार कैसे हो, इसके लिये—

रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां
नृणामेको गम्यः……… (महिम्न स्तोत्र)

—के अनुसार ज्ञानयोग, कर्मयोग, ज्ञानकर्मसमुच्चय-योग, हठयोग, राजयोग आदि नाना योग प्रतिपादित किये गये है। ये सब योग अपशूद्राधिकरणानुरोधेन नियताधिकार होनेके कारण सर्वजनसुलभ नहीं हैं । शरणागतियोग ही सर्वकाल-सर्वदेश-सर्वजनसुलभ है । अन्य योगोंमें साक्षान्मोक्षप्रदत्व नहीं है, किन्तु तत्तद्योग-द्वारा अन्तःकरणनैर्मल्यापादनपूर्वक भक्तियोगोत्पादन-द्वारा परम्परया मोक्षप्रदत्व है, तथा कर्मयोगादिमें क्रमवैगुण्य होनेसे प्रत्यवाय भी बतलाया गया है । लेकिन इस शरणागतियोगमें उपर्युक्त उभयविध विप्रतिपत्तियोंका अभाव है, भगवान् श्रीगीताचार्यजी कहते है—'प्रत्यवायो न विद्यते' (गीता) । इस शरणागतियोगमें किसी प्रकारका प्रत्यवाय नहीं है । 'शरणागति' शब्दमे ही कितना कारुण्य, कितना वात्सल्य, कितना औदार्य और कितना प्रभाव भरा हुआ है, जिसने बड़े-बड़े कुलिशकठोर हृदयोंको भी क्षणमात्रमें द्रवीभूत कर दिया है । इसके अनेको दृष्टान्त मिलते है । जल्लादोंसे अधिक निर्दयी कठोर हृदयका कोई नहीं होता । पर वे भी इस अद्भुत शक्ति-सम्पन्न (शरणम्) शब्दको सुनकर द्रवीभूत हो गये हैं । तो फिर जो—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज ।

—की स्वप्रतिज्ञा उद्घोषित करते है वे द्रवीभूत हो जायँ तो आश्चर्य ही क्या है ।

अब हमें उस शरणागतियोगके स्वरूपका विचार करना है जो सर्वसाधनापेक्षया सुलभ और सर्वजन-साधारणको सहजमे प्राप्य है ।

शरणागति दो प्रकारकी होती है—एक आर्ता शरणागति, दूसरी दृप्ता । एक शरणागत वह है जो 'श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठम्' इस श्रुत्युक्त लक्षणलक्षित श्रीपरमाचार्यकी कृपासे तत्त्वज्ञान प्राप्त हो जानेसे, तथा कृपापूर्ण भगवन्निरीक्षणसे भगवान्के अनुभव करनेमे विघ्नरूप शरीरको भी भार समझता है और भगवन्नित्यकैङ्कर्यप्राप्तिके लिये भगवान्से प्रतिक्षण प्रार्थना करता है कि—'हे भगवन् ! आपके कैङ्कर्यका विरोधी, त्यागने योग्य यह मेरा शरीर शीघ्र छुड़ाइये ।' ऐसी प्रार्थनापूर्वक जो शरणागति की जाती है उसे आर्ता शरणागति कहते हैं । और देहान्तरादिकी प्राप्तिमे स्वर्ग-नरक तथा गर्भ-जरा आदि अवस्थाओंमें दुःखके अनुभवसे डरकर, ससारसे विरक्त होकर, ससारसे निवृत्तिके लिये तथा भगवत्प्राप्त्यर्थ सदाचारसम्पन्न श्रीगुरु महाराज-के उपदेशसे स्ववर्णाश्रमोचित कायिक, वाचिक, मानसिक कर्मोंको करते हुए तथा यथाशक्ति भगवत्कैङ्कर्य करते हुए शेषशेषिभाव, पितापुत्रभाव, भार्याभर्तृभाव, नियाम्यनियामकभाव, आधाराधेयभाव, स्वस्वामिभाव, शरीरशरीरिभाव, धर्मधर्मिभाव, रक्ष्यरक्षकभाव, व्याप्य-व्यापकभाव, भोग्यभोक्तृभाव, अशक्तसर्वशक्तिमद्भाव, अज्ञसर्वज्ञभाव, अपूर्णपरिपूर्णभाव, अकिञ्चन आप्तकाम-भाव आदि अनेक भावोंमें स्वोचित एक सम्बन्ध प्रभुसे मानकर, आप ही मेरे उपाय हैं, मेरे पास और कोई भी साधन नहीं है, इस तरह अपना समस्त भार भगवान्के

सुपुर्दकर सर्वप्रयत्नशून्य होकर केवल भगवान्‌के वात्सल्य, सौशील्य, औदार्यादि अनेक कल्याणगुणोंके चिन्तनपूर्वक जो शरणागति की जाती है उसको दृप्ता शरणागति कहते हैं। इस प्रकार यह द्विविध शरणागतियोग है। अन्य योगोंमें साधकको स्वावलम्बित होकर रहना पड़ता है तथा स्वकर्तव्यका अभिमान रहता है कि इस साधनसे मैं प्रभुको सन्तुष्ट कर लूँगा, यह यज्ञ करता हूँ, दान देता हूँ, जप करता हूँ, ईश्वर अथवा वेदोकी आज्ञाओंका मैं पालन करता हूँ, अतः मैं अपने कर्तव्योंसे प्रभुको प्रसन्नकर इस अगाध अपरिमित संसारसागरसे पार हो जाऊँगा। इस प्रकार अन्य योगोंमे स्वावलम्बनावृत्ति रहती है, जिसको तत्त्वज्ञोंने वानरीवृत्ति कहा है। इस वृत्तिमें अपने च्युत होनेकी बड़ी आशङ्का रहती है, थोड़ी भी भूल (असावधानी) हुई कि उस वृत्तिका पता नहीं रहता कि कहाँ गयी। परन्तु यह शरणागतियोग परम सुलभ है और अनायास ही भगवत्सान्निध्य प्राप्त करा देता है। शरणागत भक्त अपने किसी भी साधनका भरोसा नहीं करता, वह जानता है कि मुझमें ऐसी कोई भी शक्ति, कोई भी साधन नहीं है जिसके बलसे मैं प्रभुको प्रसन्न कर सकूँ।

अनादिकालसे अनेक जन्मार्जित कर्मोंका कर्मद्वारा निर्हार करना अत्यन्त कठिन ही नहीं, सुतरां दुःसाध्य है। यदि एक-एक जन्मके कर्मोंके निर्हारार्थ एक-एक वर्ष रक्खा जाय तो भी त्रैराशिकानुपातसे अनेकानेक वर्षावधि तादृश साधनोंकी अपेक्षा है जिनसे कर्मक्षय होता है। पहले कहा जा चुका है कि पुण्यात्मक अथवा पापात्मक कैसा भी कर्म हो, वह बन्धप्रद ही है। अनवरत अनेक वर्षपर्यन्त प्रत्यूहरहित तादृश साधनोंका होना बहुत ही कठिन है—

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया
दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति।

(कठोपनिषद्)

आवत देखहिं बिषय बयारी। ते पुनि देहिं कपाट उघारी।

(मानसरामायण)

यह तो सर्वसम्मत है कि कर्म-बन्धनद्वारा भगवती श्रीमायादेवी जीवोंको ससारसमुद्रमें डालती है। श्रीमुखका वचन है—

........................मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

(गीता)

अतः भगवच्छरणागतिको छोड़कर दूसरा कोई भी उपाय उस मायासे बचनेका नहीं है। शरणागति वह सरल, सुलभ साधन है जिसके करनेसे 'कर्तव्यं नावशिष्यते।' शरणागतको स्वविषयक किसी प्रकारकी चिन्ता नहीं रहती। जैसे माता अपने छोटे बच्चेकी अष्टप्रहर रक्षा करती रहती है, बालक स्वय अपनी कुछ भी चिन्ता नहीं करता, वही वात्सल्यसम्पन्ना माता अपने प्रौढ़ बालककी रक्षामें उतनी दत्तावधाना नहीं होती जितनी उस दुधमुँहे बालककी रखती है, ठीक इसी प्रकार परमभक्तवत्सल सौशील्यादि निखिलकल्याणगुणगणार्णव भगवान् भी अपने उन भक्तोंकी सतत रक्षामें रहते हैं जो 'पिता त्वमेव माता त्वमेव', 'माता रामो मत्पिता रामचन्द्रः', 'त्वमेव माता च पिता त्वमेव', 'न धर्मनिष्ठोऽस्मि न चात्मवेदी' ऐसा सततानुसन्धान करते हैं और जो अपना सर्वस्व प्रभुके चरणारविन्दोंको ही जानते है।

अतः अन्य उपायोंका सहारा त्यागकर भक्त केवल प्रभुकृपैकसाधनका ही सहारा लेते हैं और 'हे नाथ! हे दयामय! मैं अकिञ्चन हूँ, अनन्यगतिक हूँ, सर्वसाधनशून्य हूँ, अनेक दुःखदावानलसे सन्तप्त हूँ; आप जगच्छरण्य हैं, अतः आपकी शरणमें आया हूँ।' इस प्रकार अनन्यभावेन वे प्रभुकी शरणागति करते हैं। उनके लिये भगवान् तुरन्त प्रतिज्ञा कर लेते हैं—

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

परमोदार परमभक्तवत्सल भगवान् श्रीरामचन्द्रजी प्रतिज्ञा करते हैं—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥

(वाल्मीकीय रामायण)

अर्थात् केवल एक बार 'शरणागत हूँ', 'मैं आपका हूँ' ऐसी जो प्रार्थना करता है उसको मैं सर्वभूतोंसे अभय कर देता हूँ—यह मेरी प्रतिज्ञा है।

यदि कोई कहे कि शरणमें आया हुआ दूषित है, पापी है, उसको कैसे शरणमें लेंगे, तो प्रभु स्वयमेव इस शङ्काका निराकरण करते हैं—

मित्रभावेन सम्प्राप्तं न त्यजेयं कथञ्चन।
दोषो यद्यपि तस्य स्यात् सतामेतदगर्हितम्॥

आनयैनं हरिश्रेष्ठ दत्तमस्याभयं मया।
विभीषणो वा सुग्रीव यदि वा रावणः स्वयम्॥

(वा० रा० लं० का०)

जब भगवान् 'अद्यो द्विजान्' वृत्तिवाले सर्वदोषौघागार रावणके भी शरणागत होनेपर उसके ग्रहण और रक्षणकी प्रतिज्ञा करते है, तब उक्त शङ्काको अवकाश ही कहाँ है?

तात्पर्य यह है कि भगवान्‌की शरणमें आये हुए जीवको उभयतः कल्याण है। यदि प्रभुने अपना लिया तो अच्छा ही है, और यदि न स्वीकार किया तो भी अच्छा ही है। क्योंकि यदि स्वीकार कर लिया तब तो कल्याण ही है, और यदि न अपनाया तो वह शरणागत जीव अपने सर्व दुष्कृत शरण्यको देकर स्वय निष्पाप हो जाता है, तब उसे अवश होकर अपनाना ही पड़ता है। इसी बातको आप महर्षि कण्डुके वचनसे दृढ़ करते हैं—

आर्त्तो वा यदि वा दृप्तः परेषां शरणं गतः।
अरिः प्राणान् परित्यज्य रक्षितव्यः कृतात्मना॥
विनष्टः पश्यतस्तस्य रक्षिणः शरणं गतः।
आदाय सुकृतं तस्य सर्वं गच्छेदरक्षितः॥

(वा० रा० लं० का०)

इससे शरणमें आया हुआ सदोष हो अथवा निर्दोष, वह अवश्य ही शरण्यके द्वारा रक्षणीय है, अन्यथा बड़ा दोष होगा—यह भी आप अग्रिम श्लोकमें बतलाते हैं—

एवं दोषो महानत्र प्रपन्नानामरक्षणे।
अस्वर्ग्यं चायशस्यं च बलवीर्यविनाशनम्॥

(वा० रा० लं० का०)

तात्पर्य यह है कि शरणागतके दोष शरण्यके लिये सर्वदा ही उपेक्षणीय हैं। शरणागत होनेके पूर्व जीवने जो अपराध किये हैं वे तो सर्वदा उपेक्ष्य हैं ही, पर शरणागतियोगग्रहणके उपरान्तके भी अपराध सदा उपेक्षणीय ही है। क्योंकि सापराध जीव जब 'तवास्मि' कहता हुआ आपकी शरणमें आता है तब आप उसी समय उसके अनेक जन्मोंके अपराधोंको नाश कर देते हैं—

सनमुख होय जीव मोहि जबही। जनम कोटि अघ नासौं तबही॥

(मानस)

—और सर्वभूतोंसे अभय प्रदान कर देते हैं। उसी एक बारकी की हुई शरणागतिके कारण भूत, भविष्य, सर्वविध समस्त अपराध उपेक्षणीय हैं। आपकी द्वितीय प्रतिज्ञा है—

द्विः शरं नाभिसन्धत्ते द्विः स्थापयति नाश्रितान्।
द्विर्ददाति न चार्थिभ्यो रामो द्विर्नाभिभाषते॥

(वा० रा० अ० का०)

अतः अन्यान्य योगोंकी अपेक्षा शरणागतियोग ही प्रभुको अत्यन्त प्रिय है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

(गीता)

'(यहाँ सर्वधर्मत्यागसे मतलब धर्म त्यागकर अधर्मी बन जानेका नहीं, किन्तु मोक्ष अन्यान्य योगोंसे सद्यः-साध्य नहीं है, शरणागतियोगसे ही है, अतः) सर्व धर्मोंसे मोक्षकी आशाको त्यागकर एक शरणागतियोगद्वारा ही उसे प्राप्त करनेकी आशा करो।'

इस शरणागतियोगको हमारे पूर्व महर्षियोंने वैडाली-वृत्ति कहा है। जिस तरह बिल्लीका बच्चा स्वविषयक कुछ भी चिन्ता नहीं करता, उसकी माता ही उसे जहाँ चाहती है मुखमे दबाकर ले जाती है, बच्चा कुछ भी परवा नहीं करता कि मैं कहाँ जा रहा हूँ, क्या होगा, किसलिये माता लिये जाती है, इत्यादि, उसी तरह प्रपन्न (शरणागत) को स्वविषयक कुछ भी चिन्ता नहीं रहती; किन्तु अपने सर्व कर्तव्योंकी आशाको त्यागकर भगवान्‌को ही अपना उपाय समझता है और उन्हींको उपेय भी जानता है। निर्भय होकर 'विनायकानीकपमूर्धसु' (भागवत) विचरता है, उसे किसीसे भी भय नहीं रहता।

श्रीभगवत्स्तुति करती हुई श्रुतियाँ कहती हैं—

'नृषु तव मायया······भवच्छरणेषु भयम्'

(श्रीमद्भागवत)

'जो आपकी शरणमे नहीं हैं उन्हींको भय होता है।'

एवम्भूत भगवत्प्राप्तिका जो योग बतलाया गया है, वह भी भगवत्कृपासाध्य है। जब प्रभु अनादिकाल-दुर्वासनावासितान्तःकरण जीवके ऊपर निर्हैतुक स्वस्वरूपा-नुरूपा कृपा करते हैं तभी इस शरणागतियोगमें प्रीति तथा विश्वास होता है; और ज्यों ही जीवको इस शरणा-गतियोगमें प्रीति वा विश्वास हुआ, बस, त्यों ही प्रभु उस जीवके सर्वापराधोंको भुलाकर स्वसान्निध्य प्रदान कर देते

है। भगवत्प्राप्तिसाधनीभूत शरणागतियोगके लिये भगवत्कृपातिरिक्त दूसरा कोई भी उपाय नहीं है, केवल उनकी कृपा ही उपाय है—

कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥
(मानस)

भगवती श्रुति कहती है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनू स्वाम्॥
(कठोपनिषद्)

अतः एकमात्र भगवान्‌का ही भरोसा करना चाहिये। उन्हींको अपना भर्ता, त्राता, उद्धर्ता समझना चाहिये। वही एकमात्र शरण्य और सर्वभावेन वरेण्य है। उनके सिवा और कोई भी दुःखसागरसे पार करनेवाला नहीं है, और शरणागतियोगके अतिरिक्त कोई सरल, सर्वजनसुलभ साधन भी नहीं है जिसके द्वारा हम उसके पार हो सकें।

अतः 'रक्षिष्यतीति' विश्वासपूर्वक भगवच्छरणागति करनी चाहिये। तभी कल्याण प्राप्त हो सकता है, अन्यथा नहीं। इसके अनेक ज्वलन्त दृष्टान्त पुराणोंमें मिलते हैं। द्रौपदी, गजेन्द्र आदिको जबतक स्वपुरुषार्थका लेशमात्र भी अभिमान रहा तबतक भगवान्‌ने रक्षा नहीं की; और जब भगवान्‌को ही अपना रक्षक-पोषक समझा और अनन्यभावसे पुकारा, तब आपने तुरन्त रक्षा की, क्षणमात्र भी देर न लगायी। अनन्यभावसे शरणागत होनेकी ही देर है, फिर जीवको किसी प्रकारका दुःख नहीं रह जाता। वह सुखस्वरूप हो जाता है, उसका अन्तःकरण स्वच्छ दर्पणकी तरह निर्मल हो जाता है। अन्तःकरणनैर्मल्य हो जानेपर शरणागत जीव जैसी-जैसी भावनाएँ, जैसी-जैसी कामनाएँ भगवदिच्छानुकूल करता है वे शीघ्रातिशीघ्र पूर्ण हो जाती हैं—

स यदि पितृलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य पितरः समुपतिष्ठन्ति। (छान्दोग्योपनिषद्)

जो सुख अन्यान्य योगोंसे बड़े कष्टसे प्राप्त होता है वही शरणागतियोगसे अनायास ही प्राप्त हो जाता है।

योग

(लेखक—एक जीवसेवक प्रतिष्ठात्यागी महात्मा)

योग क्या है?

ग' शब्द 'युज्' धातुके बाद करण और भाववाच्यमें घञ् प्रत्यय लगानेसे बनता है। 'युज्' धातुका अर्थ है समाधि। अतएव 'योग' शब्दका वास्तविक अर्थ समझनेके लिये 'समाधि' शब्दका भी वास्तविक अर्थ समझनेकी थोड़ी चेष्टा करनी होगी। 'समाधि' शब्दका अर्थ है सम्यक् प्रकारसे भगवान्‌के साथ युक्त हो जाना, मिल जाना, जीवका कामना, वासना, आसक्ति, संस्कार आदि सब प्रकारकी आगन्तुक मलिनताको दूरकर, स्वरूपमें प्रतिष्ठित होकर, मुख्य भावसे भगवान्‌में मिल जाना। गौणभावसे भगवान्‌से युक्त होनेका सहज सुन्दर स्वाभाविक उपाय भी 'समाधि' शब्दके अन्तर्गत है। 'योग' शब्दके अन्दर भी हम इन्हीं दो तत्त्वोंको निहित देखते हैं। 'योग' शब्दका अर्थ है जीव और ब्रह्मका पूर्णरूपसे मिलन अर्थात् विजातीय, स्वजातीय एवं स्वगतभेदसे रहित होकर जीव और ब्रह्मका एकत्व प्राप्त कर लेना—भगवान्‌के साथ, भगवद्विधानके साथ सम्पूर्णरूपमें ताल-तालपर मिल जाना, एक हो जाना, जिस अवस्थामें भगवान्‌के अस्तित्वके सिवा हमारा पृथक् अस्तित्व ही नहीं रह जायगा, भगवान्‌की इच्छा पूरी करनेके अतिरिक्त हमारे जीवनमें दूसरा कोई काम ही नहीं रह जायगा। एक शब्दमें—जिस अवस्थामें भगवान्‌की सत्ता, चैतन्य और आनन्द अपने-आप हमारी वाणी, भाव और कार्यके द्वारा पूर्णरूपसे प्रस्फुटित होकर प्रकट हो जाय, उसीका नाम योग है। इसी अवस्थाको लक्ष्य करके मनुष्यको भगवान्‌का अवतार कहा जाता है।

'तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्।' 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति।'

—इत्यादि वाक्य इसी भावको प्रकट करते हैं। वास्तविक योगकी अवस्थामें क्या हो जाता है, यह समझना भी कठिन है। इसी बातको लक्ष्य करके कहा गया है—

योगवियोगै रहितो योगी
भोगविभोगै रहितो भोगी।
एवं चरति हि मन्दं मन्दं
मनसाकल्पितसहजानन्दम् ॥

इसी योगकी अवस्थाकी ओर लक्ष्य करके महर्षि अष्टावक्रने अपने प्रिय शिष्य राजर्षि जनकसे एक दिन कहा था कि वास्तविक योगी संसारमें दुर्लभ हैं—

मुमुक्षुरिह संसारे मुमुक्षुरपि दृश्यते।
भोगमोक्षनिराकाङ्क्षी विरलो हि महाशयः ॥

इस योगकी अवस्था समस्त द्वन्द्वभावोंके ऊपर गुणातीत, उदासीन अवस्थामें स्थित है। मिलन या योगके दो प्रकार देखे जाते हैं। एक मिलन है अपने अस्तित्वको पूर्णतया खो देना, जैसा कि शङ्करके विशुद्धाद्वैतवादका मत है, दूसरा मिलन है अपने पृथक् स्वरूपको, स्वगत भावको कुछ अंशमें बचा रखना—जैसा कि रामानुजके विशिष्टाद्वैतवादका मत है। यहाँपर 'योग' शब्द 'युज्' धातुसे भाववाच्यमें प्रत्यय लगानेसे सिद्ध हुआ है,जैसे'ज्ञायते यत् तत् ज्ञानम्'। यहाँ ज्ञान भगवान्के चित्स्वरूपके सिवा और कुछ भी नहीं। इसके बाद जिसके द्वारा यह मिलन साधित होता है, मिलनके उस सहज-सुन्दर-स्वाभाविक उपायको भी 'योग' शब्दके द्वारा निर्देश किया जाता है। यहाँपर चित्तकी वृत्तिका निरोध करना, चित्तको वृत्तिशून्य करना और चित्तवृत्तिनिरोधके लिये जो कुछ किया जाता है वह सब 'योग' शब्दके अन्तर्गत है। जैसे 'ज्ञायते अनेन इति ज्ञानम्', इस प्रकार करणवाच्यसे 'ज्ञान' शब्द सिद्ध करके गीताकारने 'अमानित्वमदम्भित्वम्' आदि ज्ञानके साधनभूत अङ्गोंको भी 'ज्ञान' शब्दके अन्तर्गत माना है, इसी तरह 'युज्यते अनेन इति' करणवाच्यसाधित 'योग' शब्दके द्वारा आसन, प्राणायाम आदि अष्टाङ्गयोगप्रणालीको भी योगके, भगवान्के साथ युक्त होनेके, सहायकरूपमें 'योग' शब्दके अन्तर्गत रक्खा गया है। अतएव 'योग' शब्दका मुख्य अर्थ है भाववाच्यमें साधित भगवत्-मिलन, और गौण अर्थ है करणवाच्यमें साधित भगवान्के साथ मिलनेके लिये आवश्यक समस्त साधनप्रणाली। किसी भी कार्य-साधनकी सहज, सुन्दर और स्वाभाविक प्रणाली 'योग' शब्दके अन्तर्गत मानी जा सकती है। सभी कार्य योग हैं, सभी काम मनोयोगके ऊपर निर्भर करते हैं। चित्तकी एकाग्रताके बिना कोई भी काम सुन्दरताके साथ सम्पन्न नहीं हो सकता।

योगके विभिन्न अर्थ

अब हम देखें कि वर्तमान समयमें 'योग' शब्द किन-किन अर्थोंमें व्यवहृत होता है—

(१) जीवात्मा-परमात्माका सम्पूर्णरूपमे मिलन—अद्वैतानुभूति-योग।

(२) देहात्मबुद्धि त्यागकर आत्मभावापन्न होना योग है—जैसे 'योगेनान्ते तनुत्यजाम्।'

(३) योगका अर्थ है—योगदर्शन, पतञ्जलिका योगदर्शन नामक ग्रन्थ, जिसका उद्देश्य है जीवात्मा-परमात्माका सम्पूर्ण मिलन कराकर कैवल्य-प्राप्तिमें सहायक होना।

(४) पातञ्जलमतानुसार चित्तवृत्तिका निरोध करके स्वरूपप्रतिष्ठ होना योग है। 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।' 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।'

(५) सांख्यमतानुसार पुरुष-प्रकृतिका पृथक्त्व स्थापितकर, दोनोंका वियोग करके पुरुषका स्वरूपमें स्थित होना योग है, 'पुम्प्रकृत्योर्वियोगेऽपि योग इत्यभिधीयते।'

(६) सुख-दुःख, पाप-पुण्य, शत्रु-मित्र, शीतोष्ण आदि द्वन्द्वोंसे अतीत होकर समत्व प्राप्त करना भी योग नामसे अभिहित होता है। जैसे गीतामें कहा है—'समत्व योग उच्यते।'

भक्त प्रह्लादने—

सर्वत्र दैत्याः समतामुपेत समत्वमाराधनमच्युतस्य।

—इस 'आराधना' शब्दके द्वारा भी योगकी वास्तविक अवस्थाको सूचित किया है।

(७) कर्म बन्धन न कर सकें, इस प्रकारसे कर्मके प्रति उदासीन भावको धारणकर मुक्तावस्थाको प्राप्त करनेके उपायको भी योग कहते हैं। जैसे गीतामें कहा है—'योगः कर्मसु कौशलम्।'

(८) दो विभिन्न पदार्थोंका अपने-अपने स्वरूपको खोकर एक अद्भुत पदार्थमें परिणत होनेका नाम भी योग (Chemical combination) है। जैसे हाइड्रोजन (अम्लजान) और आक्सिजन (यवक्षारजान) मिलकर जलके रूपमें परिणत हो जाते हैं।

इसी प्रकार अपने-अपने पार्थक्यको बनाये रखकर दो द्रव्योंका मिलन भी योग है। जैसे काठका काठके साथ, लोहेका लोहेके साथ मिलना भी योग है।

उपरागान्ते शशिनः समुपगता रोहिणी योगम्।

(शकुन्तला ७।१२)

तमङ्कमारोप्य शरीरयोगजैः
सुखैर्निषिञ्चन्तमिवामृतं त्वचि।

(रघुवंश ३।२६)

कथायोगेन बुध्यते। (हितोपदेश)

(९) योगफल— Consequence, result

रक्षायोगादयमपि तपः प्रत्यहं सञ्चिनोति।

(शकुन्तला २।१४)

(१०) वैयाकरणिक योग—शब्दके बाद धातु-प्रत्ययगत अर्थ, यौगिक (रूढ़ नहीं) अर्थ—Etymological meaning प्रकट करना।

(११) गणितशास्त्रोक्त योग—जोड़, Addition

(१२) कर्मका कौशलरूप योग—इस शब्दके विकृत भावसे मारण, उच्चाटन, वशीकरण, जादू, इन्द्रजाल आदि विद्याओंको भी 'योग-विद्या' नाम दे दिया गया है। अलौकिक ढगसे रोगनिवारण (Remedy, cure) आदि, यहाँतक कि बुरी नीयत, विश्वासघात आदि उद्देश्यपूर्तिके घृणित उपाय भी आजकल 'योग' शब्दके अन्तर्गत आ गये हैं।

योगके अलौकिक प्रभाव—अलौकिक आविष्कार

(१) योगियोने योगबलसे मन स्थिर करके, देहके भीतर कहाँपर क्या है, यह सब जानकर, मानसिक अवस्थाओका पूर्णरूपसे विचार कर यन्त्र, तन्त्र और मन्त्रोके रहस्यका आविष्कार किया है। उनके मतानुसार हर एक चक्रमें, हर एक स्नायविक केन्द्रमें एक-एक प्रकारकी अलौकिक शक्ति निहित है। उन निद्रिता शक्तियोको प्राणवायु और ध्यानकी सहायतासे जाग्रत करके साधक दूरदर्शन, दूरश्रवण, परचित्तविज्ञान, परकायप्रवेश, आकाशारोहण, योगबलसे देहत्याग आदि अलौकिक शक्तियाँ प्राप्त कर सकता है।

(२) योगी सर्प, मेढक आदि जन्तुओंसे आसन, मुद्रा, प्राणायाम आदि योगाङ्गोको सीखकर अपने स्वास्थ्य और आयुकी वृद्धि करनेमें समर्थ हुए थे। प्राचीन ऋषियोंकी, ईसा आदि महात्माओंकी योगबलसे रोगियोंके रोग दूर करनेकी बात प्रसिद्ध ही है। भूकैलासमे एक बार मिट्टीके नीचेसे तीन योगियोके शरीर निकले थे, जिसे बहुत लोग जानते हैं। महाराज रणजीतसिंहके समयमे हरिदास साधुकी योगविभूतिको देखकर बहुत-से लोग विस्मित हुए थे।

(३) योगी पञ्चभूतोंके ऊपर प्रभुत्व प्राप्तकर कैसे-कैसे अलौकिक कार्य करनेमें समर्थ होते हैं, इसका विशेष विवरण पातञ्जलदर्शनके विभूतिपादमे पाया जाता है। आज-कल भी देखा जाता है कि योगी पुरुष देहके विभिन्न अङ्गोंमें चित्त स्थिर करके और प्राणवायुका सञ्चार करके कैसे-कैसे अलौकिक कार्य सम्पन्न करते हैं। मन्त्र, औषध और समाधिजनित सिद्धि देखकर वर्तमान समयके वैज्ञानिक भी समय-समयपर विस्मित हो जाते हैं। मेस्मर साहबद्वारा आविष्कृत मेस्मेरिज्म (वशीकरण-विद्या) और हिप्नॉटिज्म प्रभृति विद्याएँ वर्तमान युगके अनेक शिक्षित लोगोंका चित्त आकर्षित करती हैं। इन सब विद्याओंको हम प्राचीन योगियोंकी मारण, उच्चाटन और वशीकरण-विद्याके अन्तर्गत ही समझते हैं।

(४) योगबलसे साधक ईर्ष्या-द्वेष, सुख-दुःख, शत्रु-मित्र आदि द्वन्द्वभाव दूरकर, जितेन्द्रिय, शान्तचित्त आत्मदर्शी होकर किस प्रकार पृथिवीपर शान्तिराज्य स्थापित करनेमे सहायक हुए थे, इसके ज्वलन्त दृष्टान्त हैं शङ्कर, ईसामसीह, बुद्ध इत्यादि। ये लोग आत्मतत्त्वको जानकर, सुख-दुःखसे अतीत होकर, निर्वाण प्राप्तकर अमर हो गये है और मनुष्यजातिके लिये वास्तविक शान्ति, मुक्ति और आनन्दका पथ बहुत कुछ सुलभ बना गये हैं। ससारमे जितना कुछ सारतत्त्वका आविष्कार हुआ है, उसका अधिकांश योगबलसे ही हुआ है। हम यहाँपर 'योग' शब्दको केवल भारतकी साधन-प्रणाली-विशेषसे सीमाबद्ध करनेका व्यर्थ प्रयास नहीं करेंगे। समस्त वैज्ञानिक और दार्शनिक आविष्कार योगके एकाग्रतासाधनके ही फल हैं।

जो लोग योगतत्त्वके सम्बन्धमें विशेष ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं, वे पातञ्जलदर्शन, योगियाज्ञवल्क्य, पवन-विजयस्वरोदय, शिवसहिता, घेरण्डसहिता आदि ग्रन्थ पाठ करें अथवा सच्चे योगियोंका सग प्राप्त करनेकी चेष्टा करें।

योगके प्रकारभेद

विभिन्न साधकोंकी रुचि और अधिकारिताके अनुसार योगकी साधन-प्रणालीको विभिन्न भागोंमें विभक्त किया गया है। गीताकार और वर्तमान महापुरुषोंने योगको साधारणतः कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग, इन तीन भागोंमें विभक्त किया है। योगके प्राचीन ग्रन्थोंमें हम हठयोग, लययोग और राजयोग, ये तीन प्रकारके भेद देखते हैं। इनमें हठयोगी नेति, धौति, वस्ति, कपाल-भाति, आसन, मुद्रा, त्राटक, प्राणायाम आदि शारीरिक क्रियाओंकी ओर विशेष दृष्टि रखकर देहको स्वस्थ, बलिष्ठ और कार्यशील बनानेकी विशेष चेष्टा करते हैं। लययोगी समस्त कामना, वासना, आसक्ति तथा सङ्कल्प-विकल्पके जालसे मुक्त होकर, चित्तको वृत्तिशून्य बनाकर शान्त अवस्था प्राप्त करनेकी चेष्टा करते हैं। उनका विश्वास है कि नित्यसिद्ध स्वयंप्रकाश आत्मतत्त्व शुद्ध, शान्त चित्तमें स्वयं स्फुरित होता है। राजयोगी देहतत्त्व और मनस्तत्त्व तथा आत्मतत्त्वको सम्यक् रूपसे जानकर स्वरूपप्रतिष्ठ, 'स्वे महिम्नि अवस्थितः' होकर, इस देहराज्यके, जगत्-ब्रह्माण्ड-के मालिक होकर, अन्तरिन्द्रिय, बहिरिन्द्रिय और देहके ऊपर अधिकार प्राप्त करके, इन सब यन्त्रोंको अपने-अपने कार्यमें, स्वइच्छा पूरी करनेमें नियुक्तकर मुक्त राजाके समान विराजमान होते हैं। कोई-कोई साधक इस हठयोग, लययोग और राजयोगको कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्ति-योगके ही अन्तर्गत समझते हैं। आसन, मुद्रा, प्राणायाम, ध्यान, धारणा, समाधि इत्यादि अष्टाङ्गयोग एवं मन्त्रयोग, जपयोग आदि यावत् योगप्रणाली इस त्रिविध योगके अन्तर्गत है। प्राचीन समयमें कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोगका अत्यन्त सुन्दर सामञ्जस्य करनेके कारण जनक, याज्ञवल्क्य प्रभृति राजर्षि और ऋषि-मुनि विशेष-रूपसे प्रसिद्ध हो गये हैं। शिवको योगसाधनके प्रवर्तक योगीश्वर और श्रीकृष्णको योगेश्वरके रूपमें वर्णन किया गया है।

गीतादि ग्रन्थोंमें योगको कर्मकी कुशलता कहा गया है। जिस उपायसे कर्म (इष्ट) सहज, सुन्दर, स्वाभाविक रूपमें सिद्ध हो सके, अथ च बन्धनका कारण न हो सके उसीका नाम योग है ('योगः कर्मसु कौशलम्'—गीता)। प्राचीन कालमें ऋषिकुमार यज्ञके लिये कुश उखाड़कर लानेको जाया करते थे। उनमें तीन श्रेणीके लोग होते थे। एक श्रेणीके बालक इस प्रकार सावधानीके साथ कुश उखाड़ते कि कुश उखड़ भी आता और उनका हाथ भी न कटता, दूसरी श्रेणीके बालक कुश उखाड़ते समय अपना हाथ काट लेते और तीसरी श्रेणीके बालक हाथ कटनेके भयसे अपने अन्य साथियोंसे कुश माँगकर अपना काम चला लेते। 'कुशं लाति इति कुशलः' जो कुश भी ले आते हैं और हाथ भी नहीं काटते, जो संसारके सब कार्य करते हैं, परन्तु मायामें आबद्ध नहीं होते वे ही कुशल हैं और उनके इस भावको ही कौशल या योग कहते हैं। इस कुश एकत्र करनेकी प्रणालीको संसारके कर्म-काण्डके प्रतीकके रूपमें लिया जा सकता है। जो लोग संसारमें अनासक्त, निर्लिप्त रहकर, फलाकाङ्क्षारहित हो संसारके सब कर्म सम्पादित कर सकते हैं, वे ही योगी हैं। जो लोग संसारमें कर्म करते हुए संसारकी चोटोंसे घायल हो जाते हैं, वे घोर संसारी हैं, और जो संसारको दुःख, कष्ट, बन्धनका कारण समझकर संसारसे बहुत दूर रहते हैं और दूसरोंके कर्मफलके ऊपर निर्भर करते हैं, वे साधारण भिक्षुक या संन्यासी श्रेणीके अन्तर्गत हैं। कहना नहीं होगा कि यहाँपर गीतोक्त संन्यासीकी बात न कहकर साधारण वेषधारी संन्यासियोंकी ओर ही लक्ष्य रक्खा गया है।

'योग' शब्दका दुरुपयोग

'कर्मकी निपुणता योग है', इस भावसे 'योग' शब्द कितने प्रकारसे देश और भाव-राज्यके पतनके साथ-साथ नीचे गिर गया है, और कितने विकृत अर्थमें अब इसका प्रयोग होने लगा है, यह भी यहाँपर विचारणीय है। वर्तमान समयमें ऐन्द्रजालिक कौशल (magic) आदि भी योगका अङ्ग समझा जाता है। मारण, उच्चाटन, वशीकरण आदिकी ओर ही आजकलके योगियोंका विशेष ध्यान रहता है। किसी प्रकारकी कोई अस्वाभाविक क्रिया दिखा देनेवालोंको ही आजकल सब लोग योगी समझ लेते हैं, उनकी भक्ति करने लगते हैं और ठगाते हैं। तावीज, कवच आदिके द्वारा जो लोगोंके कर्मफलका खण्डन करनेकी हिमाकत रखते हैं, जो वन्ध्याको पुत्र-प्राप्तिके लिये दवा देते हैं और रोगियोंका रोग दूर करनेकी बात करते हैं, वे भी आजकल योगी कहे जाते हैं और पूजित होते हैं। प्राचीन कालमें जिनके हाथ ऊँचे रहकर भगवत्-कार्य करनेमें ही लगे रहते वे ही ऊर्ध्वबाहु होते थे। आजकल जो लोग भगवदुद्देश्यकी अवहेलना करके,

प्राकृतिक नियमोंका उल्लंघन करके, दोनों हाथोंको ऊपर उठाकर उन्हें परवश कर रखते हैं वे ही ऊर्ध्वबाहु योगी माने जाते हैं। प्राचीन समयमें योगी ध्यान, धारणा, समाधिमें इतने तन्मय हो जाया करते कि शरीरकी ओर उनका ध्यान ही न जाता, उनके बालोंमें जटाएँ बँध जातीं, शरीरपर धूल-मिट्टी आकर जम जाती। आजकल उसकी जगह बड़के दूध इत्यादिसे ताबड़तोड़ जटा बना ली जाती है और शरीरमें मिट्टी-राख आदि मलकर योगीका स्वाँग बना लिया जाता है और भोले लोग भी यह देखकर वशीभूत हो जाते हैं। बड़े-बड़े शहरोंमें घरके मालिक जब ऑफिसमें या बाजार चले जाते हैं, तब न मालूम कितने पाखण्डी धूर्त योगीकी पोशाक, गेरुआ वस्त्र, विभूति आदि धारणकर गृहस्थोंके घरोंमें जाकर भोली स्त्रियोंपर अपना प्रभाव जमाकर छल, बल, कौशलसे कितने प्रकारसे धन ठगते हैं, इस बातका खयाल आते ही मर्माहत होना पड़ता है। आज-कल ऐसे धूर्त योगियोंकी संख्या और प्रतिष्ठा इतनी बढ़ गयी है कि इनके कारण वास्तविक योगियोंने लोकालय और प्रसिद्ध तीर्थ आदिसे बहुत दूर जाकर रहना आरम्भ कर दिया है और गृहस्थ नकली योगियों-द्वारा ठगे जा रहे हैं। आजकल अणिमा-लघिमादि अष्ट सिद्धियोंका प्रभाव कहीं नहीं दिखायी देता। सिद्धि आजकल दूकानोंमें भाँग और गाँजा आदिमें सीमाबद्ध होकर नशेबाजीको बढ़ा रही है। भीतरसे भगवत्प्राप्ति-जनित ब्रह्मानन्दके नशेमें विभोर न होकर आजके बने हुए योगी मदिरा, गाँजा, भाँग आदि नशैली चीजोंको साधनका अङ्ग कहकर उनका प्रचार करते हैं। यहाँतक कि देवादिदेव महादेवके हाथोंमें भी उन्होंने सङ्कोच छोड़कर अणिमादि अष्ट सिद्धियोंके बदले भंगका प्याला और गाँजे-की चिलम दे दी है।

यथार्थ योगके प्रचारकी आवश्यकता

देश और भावके पतनके साथ-ही-साथ सभी बातोंमें स्वाभाविक ही कुछ-न-कुछ विकृति आ गयी है। वर्तमान समयमें आवश्यकता है उसके उचित संशोधनकी। योगादि साधन-प्रणालीके अन्दर जब बहुत-से सुन्दर-सुन्दर तत्त्व निहित हैं, उसकी सहायतासे जब स्वास्थ्य-प्राप्ति, एकाग्रता-शान्ति-आनन्द-प्राप्ति, उन्नति-प्राप्ति, भगवद्दर्शन, भगवत्-प्राप्ति, जीवका कल्याण-साधन सहज, सुन्दर और स्वाभाविकरूपमें सुसाधित होनेकी सम्भावना है, तब इस योगसाधनप्रणालीका संशोधन करने, इसकी उन्नतिका उपाय करने, इसकी शिक्षा देने तथा सर्वसाधारणके सामने योगके उदार मत, भाव और कालका एक उच्च आदर्श रखनेकी विशेष आवश्यकता है। यह सर्वसाधारण-को समझा देना होगा कि वास्तविक योग क्या है, वह कितने रूपोंमें विभक्त है, उसकी साधन-प्रणाली क्या है, किस तरह संसारके जीवोंके हितसाधनमें, उन्हें आनन्द प्रदान करनेमें इसका प्रयोग किया जा सकता है। कर्मयोगी किस प्रकार कर्मके रहस्यको समझकर, अनासक्त, निष्काम, फलाकांक्षासे रहित होकर केवल भगवत्-प्रीतिके लिये जीवोंका कल्याण करनेमें भगवद्बुद्धि रखकर कर्म किया करते हैं, यह सुन्दररूपमें समझा देना होगा। ज्ञानयोगी इन्द्रियोंको संयत करके, चित्तको शुद्ध और शान्त करके, स्वरूपप्रतिष्ठ, आत्मभावमें स्थित होकर किस प्रकार समाधियोगके द्वारा परमात्मामें तन्मय हुए रहते हैं, यह भी समझ लेना होगा।

सच्चे योगियोंकी स्थिति

योगीगण देह, मन, प्राणको शुद्ध और शान्त करके मूलाधारसे कुलकुण्डलिनीको जाग्रत करके, सब चक्रोंमें, सब केन्द्रोंमें छिपी हुई शक्तिको प्रबुद्ध करके, समस्त शक्ति, ज्ञान, ऐश्वर्यसे विभूषित होकर, सहस्रारमें स्थित सदाशिवसे, परमात्मासे युक्त होकर, तन्मयत्व प्राप्त करके, ज्योतिर्मय देहसे भगवान्के साथ किस प्रकार आनन्दसमाधिमें विभोर रहते हैं, जगत्का कल्याण करनेमें भगवान्की इच्छा पूरी करनेमें नियुक्त रहते हैं, यह तत्त्व अच्छी तरह समझ लेना होगा। भक्तियोगी प्रेमके साधक होते हैं, उनके भगवान् सब भूतोंमें विराजमान रहते हैं। समस्त जगत्, समस्त जीव-देह उनके प्रियतम श्रीभगवान्की मूर्ति या मन्दिर हैं। श्रीभगवान् प्रकृतिके सब तत्त्वोंमें, सब देहोंमें विराजित रहकर जीवके कर्म, ज्ञान और भक्तिके अन्दरसे अपना सच्चिदानन्दभाव प्रकट कर रहे हैं। वास्तविक साधक आँख, कान, नाक आदि बाहरी इन्द्रियों तथा मन, बुद्धि, अहङ्कार और चित्त आदि भीतरी इन्द्रियोंके द्वारा अपने प्राणाराम श्रीभगवान्के शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, अनन्त सौन्दर्य, माधुर्य आदिका अनुभव कर दर्शकेश-सेवारूप उत्तमा बुद्धिके साधनकी सहायतासे भगवत्-मिलनके आनन्दमें विभोर रहते हैं।

साधनराज्यके योगसाधनका सार-तत्त्व यही है कि हमारे अन्दर भगवानकी अनन्त शक्ति, अनन्त ज्ञान, अनन्त प्रेम और आनन्द निहित है। हमारी कामना, वासना, आसक्ति, हमारी अज्ञानता, हमारे कुसंस्कार, हमारा स्वार्थ, आत्मसुखकी स्पृहा, अहंकार और प्रतिष्ठाका मोह आदि उस भगवत्-शक्तिके विकासमें बाधा पहुँचाते हैं। अतएव हम जितना ही इन सब बाधाओंसे मुक्त, शुद्ध, शान्त, पवित्र होंगे उतने ही भगवत्-भाव हमारे अन्दर प्रकाशित होंगे, हम साधनराज्यमें सिद्धि प्राप्त करेंगे। भगवान्‌के और हमारे बीचका यह काल्पनिक व्यवधान जितना ही दूर होगा उतना ही हम भगवान्‌के साथ युक्त होने और मिलनेकी योग्यता प्राप्त करेंगे। जहाँ इन सब उपाधियोंके प्रति आसक्ति, स्पृहा दृष्टिगोचर हो वहीं यह समझ लेना चाहिये कि साधक गलत रास्तेपर चल रहा है, उसका पतन और उसके द्वारा देशका अमङ्गल अवश्यम्भावी है। योगी थे भारतके प्राचीन ऋषि-मुनि, जो संयत, शुद्ध, शान्त और पवित्र होकर, भगवान्‌में तन्मयता प्राप्त करके जीवोंका कल्याण करनेमें तल्लीन रहा करते थे। वे लोग ममतारहित, अहंकाररहित थे, वे लोग प्रतिष्ठाको शूकर-की विष्ठाकी तरह त्याग देते थे। वे जगत्‌को ब्रह्ममय देखते थे, सर्वत्र ब्रह्मदर्शन, ब्रह्मानुभूति, ब्रह्मसेवा, जीवसेवा उनके जीवनकी प्रधान साधना थी। योगिनियाँ थीं वृन्दावनकी गोपियाँ—जिनकी आँखोंकी साधना थी सर्वत्र भगवद्दर्शन, कानोंकी साधना थी सब शब्दोंके भीतर श्रीभगवान्‌की वंशीध्वनि सुनना, उनका मन, प्राण सर्वदा भगवान्‌की सेवा और ध्यानमें डूबे रहते। इन्द्रियोंद्वारा इन्द्रिया-धीशकी अनुभूति और सेवा क्या चीज है, कर्म किस तरह भगवदाराधनामें पर्यवसित होता है, बातचीत किस प्रकार भगवद्गुण गानेमें, चलना किस प्रकार भगवत्प्रेममें नाचने और भगवान्‌के मन्दिरकी प्रदक्षिणामें, चिन्तन किस प्रकार ध्यानमें और समस्त जीवन किस प्रकार ब्रह्मानन्दकी अनुभूतिमें पर्यवसित होता है, गोपी-प्रेमके भीतर इसका आस्वाद करने-का सुयोग हम पाते हैं। उनकी देह, मन, प्राण, आत्मा सर्वदा श्रीभगवान्‌में, भगवान्‌के कार्य करनेमें युक्त रहा करते, अतएव हम प्रधान योगियोंके रूपमें उनकी भक्ति करनेके लिये बाध्य हैं। श्रीकृष्णको देखना, श्रीकृष्णका ध्यान करना और श्रीकृष्णकी सेवा करना ही उनकी प्रधान साधना थी। वे इस साधनामें तन्मयता प्राप्त करके सम्पूर्ण-रूपमें अपनेको भूलकर, 'इतर-राग-विस्मारक' कृष्ण-प्रेमार्णवमें निमग्न होकर, श्रीकृष्णमें तन्मयता प्राप्त कर श्रीकृष्णके साथ युक्त हो जातीं, मिल जातीं।

तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनमेतदेकपरत्वम्।

—इस भावकी साधना ही थी गोपियोंकी परम योगसाधना। वे थीं तन्मनस्का, तदात्मिका। वे अपनी देहके प्रत्येक तत्त्वमें अपने प्राणाराम श्रीकृष्णचन्द्रके साथ युक्त रहकर श्रीकृष्णमय हो जातीं। वे जगत्‌को कृष्णमय देखतीं।

'जित देखौं तित स्याममयी है।'

यत्र यत्र मनो याति ब्रह्मणस्तत्र दर्शनम्।

—रूपी योगकी सिद्धावस्था वे प्राप्त कर चुकी थीं। इसी योगके फलस्वरूप अष्ट सिद्धियाँ उनके चरणोंमें आकर लोटतीं तो भी वे सिद्धिको, भुक्ति-मुक्तिकी वासनाको बन्धनका कारण समझकर उनसे घृणा करतीं।

सांख्ययोगी

गीताका सांख्ययोगी, मायासे उत्पन्न हुए सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बर्तते हैं, ऐसे समझकर मन, इन्द्रिय और शरीरके द्वारा होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाओंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित होकर केवल सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें अनन्यभावसे निरन्तर स्थित रहना है (देखिये गीता ३।२८, ५।८-९-१३, ६।३१ १३।२९-३०; १४।१९-२०, १८।१७-४९ से ५५ आदि)।

अष्टाङ्गयोग

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

अनेकों व्यक्ति ध्यान करने और समाधि लगानेकी चेष्टा करते हैं, परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिलती। इसका कारण यह है कि समाधिकी सिद्धिके लिये यम नियमोंके पालनकी विशेष आवश्यकता है। यम-नियमोंके पालन किये बिना ध्यान और समाधिका सिद्ध होना अत्यन्त कठिन है। झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार आदि दुराचारकी वृत्तियोंके नष्ट हुए बिना चित्तका एकाग्र होना कठिन है और चित्त एकाग्र हुए बिना ध्यान और समाधि नहीं हो सकती। यों तो समाधिकी इच्छावाले पुरुषोंको योगके आठों ही अङ्गोंका साधन करना चाहिये, किन्तु यम और नियमोंका पालन तो अवश्यमेव करना चाहिये। जैसे नींवके बिना मकान नहीं ठहर सकता, ऐसे ही यम-नियमोंके पालन किये बिना ध्यान और समाधिका सिद्ध होना असम्भव-सा है। यम-नियमोंमें भी जो पुरुष यमोंका पालन न करके केवल नियमोंका पालन करना चाहता है, उससे नियमोंका पालन भी अच्छी प्रकार नहीं हो सकता।

यमान् सेवेत सततं न नित्यं नियमान् बुधः।
यमान् पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन्॥

(मनुस्मृति ४। २०४)

'बुद्धिमान् पुरुष नित्य निरन्तर यमोंका पालन करता हुआ ही नियमोंका पालन करे, केवल नियमोंका नहीं, जो यमोंका पालन न करके, केवल नियमोंको करता है वह साधनपथसे गिर जाता है।' इनका साधन किये बिना ध्यान और समाधिकी सिद्धि होनी कठिन है। अतः योगकी सिद्धि चाहनेवाले पुरुषको यम-नियमोंका साधन अवश्यमेव करना चाहिये। इनके पालनसे चोरी, जारी, झूठ, कपट आदि दुराचारोंका और काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि दुर्गुणोंका नाश होकर, अन्तःकरणकी पवित्रता होती है और उसमें उत्तम गुणोंका समावेश होकर इष्टदेवताके दर्शन एवं आत्माका साक्षात्कार भी, साधक जो चाहता है वही, हो सकता है। परन्तु यम-नियमोंके पालन किये बिना, ध्यान और समाधिकी बात तो दूर रही, अच्छी प्रकारसे प्राणायामका होना भी कठिन है।

बहुत-से लोग प्राणायामके लिये यत्न करते हैं, किन्तु सफलता नहीं पाते। काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि दुर्गुण एवं झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार आदि दुराचार, एवं प्राणायामविषयक क्रियाके ज्ञानका अभाव ही इस सफलतामें प्रधान बाधक है। यम-नियमोंका पालन करनेसे उपर्युक्त दुराचार और दुर्गुणोंका नाश हो जाता है। अतएव प्राणायामका साधन करनेवालेको भी प्रथम यम-नियमोंका पालन करना चाहिये। उपर्युक्त दुर्गुण और दुराचार सभी साधनोंमें बाधक हैं। इसलिये ध्यान और समाधिकी इच्छा करनेवाले साधकोंको, दोषोंका नाश करनेके लिये प्रथम यम-नियमोंका पालन करके ही, योगके अन्य अङ्गोंका अनुष्ठान करना चाहिये। जो पुरुष योगके आठों अङ्गोंका अच्छी प्रकारसे साधन कर लेता है, उसका अन्तःकरण पवित्र होनेपर ज्ञानकी अपार दीप्ति हो जाती है, जिससे उसको इच्छानुसार सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं और सिद्धियाँ न चाहनेवाला पुरुष तो क्लेश और कर्मोंसे छूटकर आत्मसाक्षात्कार प्राप्त कर सकता है।

योगके आठ अङ्ग ये हैं—

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि। (योगदर्शन २। २९)

'यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि, ये योगके आठ अङ्ग हैं।'

इन आठ अङ्गोंकी दो भूमिकाएँ हैं—१-बहिरङ्ग, २-अन्तरङ्ग। ऊपर बतलाये हुए आठ अङ्गोंमेंसे पहले पाँचको बहिरङ्ग कहते हैं, क्योंकि उनका विशेषतया बाहरकी क्रियाओंसे ही सम्बन्ध है। शेष तीन अर्थात् धारणा, ध्यान और समाधि अन्तरङ्ग हैं। इनका सम्बन्ध केवल अन्तःकरणसे होनेके कारण इनको अन्तरङ्ग कहते हैं। महर्षि पतञ्जलिने एक साथ इन तीनोंको 'संयम' भी कहा है—

त्रयमेकत्र संयमः। (३। ४)

अब इन आठों अङ्गोंका संक्षिप्त विवेचन किया जाता है।

१—यम

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।

(योगदर्शन २। ३०)

'अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, इन पाँचोंका नाम यम है।'

(क) किसी भूतप्राणीको या अपनेको* भी मन, वाणी, शरीरद्वारा, कभी, किसी प्रकार, किञ्चित्मात्र भी, कष्ट न पहुँचानेका नाम अहिंसा है।

(ख) अन्तःकरण और इन्द्रियोंद्वारा जैसा निश्चय किया हो, हितकी भावनासे, कपटरहित प्रिय शब्दोंमें वैसा-का-वैसा ही प्रकट करनेका नाम सत्य है।

(ग) मन, वाणी, शरीरद्वारा किसी प्रकारके भी किसीके स्वत्व (हक) को न चुराना, न लेना और न छीनना अस्तेय है।

(घ) मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा होनेवाले काम-विकारके सर्वथा अभावका नाम ब्रह्मचर्य है।

(ङ) शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि किसी भी भोगसामग्रीका संग्रह न करना अपरिग्रह है।

इन पाँचों यमोंका सब जाति, सब देश और सब कालमें पालन होनेसे एवं किसी भी निमित्तसे इनके विपरीत हिंसादि दोषोंके न घटनेसे इनकी संज्ञा 'महाव्रत' हो जाती है।

जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्। (योगदर्शन २।३१)

'जाति, देश, काल और निमित्तसे अनवच्छिन्न यमका सार्वभौम पालन महाव्रत होता है।' सार्वभौमके निम्नलिखित प्रकार है—

मनुष्य और मनुष्येतर स्थावर-जङ्गम प्राणी, हिन्दू-मुसल्मान, सनातनी-असनातनी आदि भेदोंसे किसीके साथ भी यमोंके पालनमें भेद न करना 'जातिगत सार्वभौम' महाव्रत है।

भिन्न-भिन्न खण्डों, देशों, प्रान्तों, ग्रामों, स्थानों एवं तीर्थ-अतीर्थ आदिके भेदसे यमके पालनमें किसी प्रकारका भेद न रखनेसे वह 'देशगत सार्वभौम' महाव्रत होता है।

वर्ष, मास, पक्ष, सप्ताह, दिवस, मुहूर्त्त, नक्षत्र एवं पर्व-अपर्व आदिके भेदोंसे यमके पालनमें किसी प्रकार भी भेद न रखना 'कालगत सार्वभौम' महाव्रत कहलाता है।

यज्ञ, देव-पूजन, श्राद्ध, दान, विवाह, न्यायालय, क्रय-विक्रय, आजीविका आदिके भेदोंसे यमके पालनमें किसी प्रकारका भेद न रखना 'समय (निमित्त) गत सार्वभौम' महाव्रत है। तात्पर्य यह है कि किसी देश अथवा कालमें, किसी जीवके साथ, किसी भी निमित्तसे, हिंसा, असत्य, चोरी, व्यभिचार आदिका आचरण न करना तथा परिग्रह आदि न रखना 'सार्वभौम महाव्रत' है।

* स्वधर्मरक्षा, परोपकार, ईश्वरभक्ति आदि सत्कार्योंमें कष्ट सहन करना तो योगकी सिद्धिमें सहायक है, यहाँ केवल अकारण, अनुचित कष्ट पहुँचानेका निषेध है।

२—नियम

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।

(योगदर्शन २।३२)

'पवित्रता, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान, ये पाँच नियम हैं।'

(क) पवित्रता दो प्रकारकी होती है—१ बाहरी और २ भीतरी। जल-मिट्टीसे शरीरकी, स्वार्थ-त्यागसे व्यवहार और आचरणकी तथा न्यायोपार्जित द्रव्यसे प्राप्त सात्त्विक पदार्थोंके पवित्रतापूर्वक सेवनसे आहारकी, यह बाहरी पवित्रता है। अहंता, ममता, राग द्वेष, ईर्ष्या, भय और काम-क्रोधादि भीतरी दुर्गुणोंके त्यागसे भीतरी पवित्रता होती है।

(ख) सुख-दुःख, लाभ-हानि, यश-अपयश, सिद्धि-असिद्धि, अनुकूलता-प्रतिकूलता आदिके प्राप्त होनेपर सदा-सर्वदा सन्तुष्ट—प्रसन्नचित्त रहनेका नाम सन्तोष है।

(ग) मन और इन्द्रियोंके संयमरूप धर्म-पालन करनेके लिये कष्ट सहनेका और तितिक्षा एवं व्रतादिका नाम तप है।

(घ) कल्याणप्रद शास्त्रोंका अध्ययन, और इष्टदेवके नामका जप तथा स्तोत्रादि पठन-पाठन एवं गुणानुवाद करनेका नाम स्वाध्याय है।

(ङ) ईश्वरकी भक्ति अर्थात् मन-वाणी और शरीर-द्वारा ईश्वरके लिये, ईश्वरके अनुकूल ही चेष्टा करनेका नाम ईश्वरप्रणिधान है।

उपर्युक्त यम और नियमोंके पालनमें बाधक हिंसा आदि विपरीत वृत्तियोंके नाशके लिये महर्षि पतञ्जलि उपाय बतलाते हैं

वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्।

(योगदर्शन २।३३)

'हिंसादि वितर्कोंसे बाधा होनेपर प्रतिपक्षका चिन्तन करना चाहिये।'

वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम्। (योगदर्शन २।३४)

कृत, कारित और अनुमोदितभेदसे, लोभ, क्रोध और मोहके हेतुसे, मृदु, मध्य और अधिमात्रस्वरूपसे, ये हिंसादि वितर्क अनन्त दुःख और अज्ञानरूपी फलके देनेवाले हैं—ऐसी भावनाका नाम 'प्रतिपक्षभावना' है।

अर्थात् हिंसादि दोष, अनन्त दु:ख और अनन्त अज्ञानरूप फलके देनेवाले हैं, इस प्रकारकी बारबार भावना करनेका नाम 'प्रतिपक्षभावना' है।

हिंसा, असत्य, चोरी, व्यभिचार, भोगपदार्थोंका संग्रह, अपवित्रता और असन्तोषकी वृत्ति, एवं तप, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधानके विरोधकी वृत्ति, इनका नाम वितर्क है।

उपर्युक्त हिंसादिको मन, वाणी, शरीरद्वारा स्वयं करनेका नाम 'कृत', दूसरोंके द्वारा करवानेका नाम 'कारित' और अन्योंद्वारा किये जानेवाले हिंसादि दोषोंके समर्थन, अनुमोदन या उनमें सम्मतिका नाम 'अनुमोदित' है। उपर्युक्त तीनों प्रकारके हिंसादि समस्त दोषोंके होनेमें लोभ, क्रोध और मोह, ये तीन हेतु हैं। तीनों प्रकारके दोष, तीन हेतुओंसे बननेवाले होनेके कारण, नौ तरहके हो जाते हैं। आसक्ति या कामनासे उत्पन्न होनेवाले हिंसा, असत्यादि दोषोंमें लोभ, ईर्ष्या, द्वेष, वैरादिसे उत्पन्न होनेवाले दोषोंमें क्रोध और मूढता, विपरीत-बुद्धि आदिसे उत्पन्न होनेवाले दोषोंमें मोह हेतु होता है। ये नौ प्रकारके दोष, मृदु, मध्य और अधिमात्रके भेदसे, सत्ताईस प्रकारके हो जाते हैं। अत्यन्त अल्पका नाम मृदु, बीचकी मात्राका नाम मध्य और अधिक मात्रामें यानी पूर्णरूपसे होनेवाले हिंसादि दोषका स्वरूप अधिमात्र कहा जाता है। लेखका विस्तार बढ़ जानेके सङ्कोचसे इनका स्वरूप बहुत ही संक्षेपमें कहा गया है।

यम-नियमोंके पालनका महान् फल

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः।
(योगदर्शन २। ३५)

'अहिंसारूपी महाव्रतके पूर्ण पालन होनेपर उस योगीके समीप दूसरे (स्वाभाविक वैर रखनेवाले) प्राणी भी वैरका अर्थात् हिंसावृत्तिका त्याग कर देते हैं।'

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्। (योगदर्शन २। ३६)

सत्यके अच्छी प्रकार पालनसे उस सत्यवादीकी वाणी सफल हो जाती है, अर्थात् वह जो कुछ कहता है वही सत्य हो जाता है।

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्। (योगदर्शन २।३७)

चोरीकी वृत्तिका सर्वथा त्याग हो जानेपर उसके सब रत्नोंकी उपस्थिति हो जाती है, अर्थात् समस्त रत्न उसके दृष्टिगोचर हो जाते हैं और समस्त जनता उसका पूर्णरूपसे विश्वास करने लग जाती है।

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः। (योगदर्शन २। ३८)

ब्रह्मचर्यका अच्छी प्रकारसे पालन होनेपर शरीर, मन और इन्द्रियोंमें अत्यन्त सामर्थ्यकी प्राप्ति हो जाती है।

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः। (योगदर्शन २। ३९)

अपरिग्रहके स्थिर होनेपर यानी विषय-भोग-पदार्थोंके संग्रहका भलीभाँति त्याग होनेपर, वैराग्य और उपरति होकर मनका संयम होता है और मनःसंयमसे भूत, भविष्यत्, वर्तमान जन्मोंका और उनके कारणोंका ज्ञान हो जाता है।

शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः। (योगदर्शन २। ४०)

पूर्णतया बाहरकी पवित्रतासे अपने अङ्गोंमें घृणा और अन्य मनुष्योंके संसर्गका अभाव हो जाता है। क्योंकि दूसरे शरीरोंमें अरुचि हो जानेसे उनका संसर्ग नहीं किया जाता।

सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च।
(योगदर्शन २। ४१)

अन्तःकरणकी पवित्रतासे मनकी प्रसन्नता और एकाग्रता, इन्द्रियोंपर विजय, और आत्माके साक्षात् दर्शन करनेकी योग्यता प्राप्त हो जाती है।

सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः। (योगदर्शन २। ४२)

सन्तोषसे सर्वोत्तम सुखकी प्राप्ति होती है।

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः। (योगदर्शन २। ४३)

तपसे मलदोष अर्थात् पापोंका नाश हो जानेपर, अणिमादि अष्ट कायाकी सिद्धियाँ और दूरसे देखना-सुनना आदि इन्द्रियोंकी सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं।

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः। (यो० २। ४४)

अपने इष्टदेवके नामका जप एवं स्वरूप, गुण, प्रभाव और महिमा आदिके पठन, पाठन, श्रवण, मननरूप स्वाध्यायसे इष्टदेवका साक्षात् दर्शन हो जाता है।

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्। (यो० २। ४५)

ईश्वरप्रणिधानसे समाधिकी सिद्धि होती है।

३-आसन और आसनसिद्धिका फल

आसन अनेकों प्रकारके हैं। उनमेंसे आत्मसंयम चाहनेवाले पुरुषके लिये सिद्धासन, पद्मासन और स्वस्तिकासन—ये तीन बहुत उपयोगी माने गये हैं। इनमेंसे कोई-सा भी आसन हो, परन्तु मेरुदण्ड, मस्तक और ग्रीवाको सीधा अवश्य रखना चाहिये और दृष्टि नासिकाग्रपर अथवा भृकुटीमें रखनी चाहिये। आलस्य

न सतावे तो आँखें मूँदकर भी बैठ सकते हैं। जिस आसनमें जो पुरुष सुखपूर्वक दीर्घकालतक बैठ सके, वही उसके लिये उत्तम आसन है।

स्थिरसुखमासनम्। (यो० २। ४६)

सुखपूर्वक स्थिरतासे बहुत कालतक बैठनेका नाम आसन है।

प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम्। (यो० २। ४७)

शरीरकी स्वाभाविक चेष्टाके शिथिल करनेपर अर्थात् उनसे उपराम होनेपर अथवा अनन्त परमात्मामें मनके तन्मय होनेपर आसनकी सिद्धि होती है। कम-से-कम एक पहर यानी तीन घंटेतक एक आसनसे सुखपूर्वक स्थिर और अचल भावसे बैठनेको आसनसिद्धि कहते हैं।

ततो द्वन्द्वानभिघातः। (यो० २। ४८)

उस आसनकी सिद्धिसे (शरीर पूर्णरूपसे संयत हो जानेके कारण) शीतोष्णादि द्वन्द्व बाधा नहीं करते।

४–प्राणायाम

अब संक्षेपमें प्राणायामकी क्रियाका उल्लेख किया जाता है। असलमें प्राणायामका विषय अनुभवी योगियोंके पास रहकर ही उनसे सीखना चाहिये, नहीं तो इससे शारीरिक हानि भी हो सकती है।

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः। (यो० २। ४९)

आसनके सिद्ध हो जानेपर श्वास और प्रश्वासकी गतिके अवरोध हो जानेका नाम प्राणायाम है। बाहरी वायुका भीतर प्रवेश करना श्वास है और भीतरकी वायुका बाहर निकलना प्रश्वास है, इन दोनोंके रुकनेका नाम प्राणायाम है।

बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः। (यो० २। ५०)

देश, काल और संख्या (मात्रा) के सम्बन्धसे बाह्य, आभ्यन्तर और स्तम्भवृत्तिवाले, ये तीनों प्राणायाम दीर्घ और सूक्ष्म होते हैं।

भीतरके श्वासको बाहर निकालकर बाहर ही रोक रखना 'बाह्य कुम्भक' कहलाता है। इसकी विधि यह है—आठ प्रणव (ॐ) से रेचक करके, सोलहसे बाह्य कुम्भक करना और फिर चारसे पूरक करना—इस प्रकारसे रेचक-पूरकके सहित बाहर कुम्भक करनेका नाम बाह्यवृत्ति-प्राणायाम है।

बाहरके श्वासको भीतर खींचकर भीतर रोकनेको 'आभ्यन्तर कुम्भक' कहते हैं। इसकी विधि यह है कि चार प्रणवसे पूरक करके सोलहसे आभ्यन्तर कुम्भक करे, फिर आठसे रेचक करे। इस प्रकार पूरक-रेचकके सहित भीतर कुम्भक करनेका नाम आभ्यन्तरवृत्तिप्राणायाम है।

बाहर या भीतर, जहाँ कहीं भी सुखपूर्वक प्राणोंके रोकनेका नाम स्तम्भवृत्तिप्राणायाम है। अथवा चार प्रणवसे पूरक करके आठसे रेचक करे; इस प्रकार पूरक-रेचक करते-करते सुखपूर्वक जहाँ कहीं प्राणोंको रोकनेका नाम स्तम्भवृत्तिप्राणायाम है।

इनके और भी बहुतसे भेद हैं, जितनी संख्या और जितना काल पूरकमें लगाया जाय, उतनी संख्या और काल रेचक तथा कुम्भकमें भी लगा सकते हैं।

प्राणवायुका नाभि, हृदय, कण्ठ या नासिकाके भीतरके भागतकका नाम 'आभ्यन्तर' देश है। और नासिकापुटसे वायुका बाहर सोलह अंगुलतक 'बाहरी देश' है। जो साधक पूरक प्राणायाम करते समय नाभितक श्वासको खींचता है, वह सोलह अंगुलतक बाहर फेंके, जो हृदयतक अन्दर खींचता है, वह बारह अंगुलतक बाहर फेंके, जो कण्ठतक श्वासको खींचता है, वह आठ अंगुल बाहर निकाले और जो नासिकाके अन्दर ऊपरी अन्तिम भागतक ही श्वास खींचता है, वह चार अंगुल बाहरतक श्वास फेंके। इसमें पूर्व-पूर्वसे उत्तर-उत्तरवालेको 'सूक्ष्म' और पूर्व-पूर्ववालेको 'दीर्घ' समझना चाहिये।

प्राणायाममें संख्या और कालका परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध होनेके कारण, इनके नियममें व्यतिक्रम नहीं होना चाहिये।

जैसे चार प्रणवसे पूरक करते समय एक सेकंड समय लगा तो सोलह प्रणवसे कुम्भक करते समय चार सेकंड और आठ प्रणवसे रेचक करते समय दो सेकंड समय लगना चाहिये। मन्त्रकी गणनाका नाम 'संख्या या मात्रा' है, उसमें लगनेवाले समयका नाम 'काल' है। यदि सुखपूर्वक हो सके तो साधक ऊपर बताये काल और मात्राको दूनी, तिगुनी, चौगुनी, या जितनी चाहे यथासाध्य बढ़ा सकता है। काल और मात्राकी अधिकता एवं न्यूनतासे भी प्राणायाम दीर्घ और सूक्ष्म होता है।

बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः। (योगदर्शन २। ५१)

बाह्य और भीतरके विषयोंके त्यागसे होनेवाला जो 'केवल' कुम्भक होता है, उसका नाम चतुर्थ प्राणायाम है।

शब्द-स्पर्शादि जो इन्द्रियोंके बाहरी विषय हैं और संकल्प-विकल्पादि जो अन्तःकरणके विषय हैं, उनके त्यागसे—उनकी उपेक्षा करनेपर अर्थात् विषयोंका चिन्तन न करनेपर प्राणोंकी गतिका जो स्वतः ही अवरोध होता है, उसका नाम 'चतुर्थ प्राणायाम' है। पूर्वसूत्रमें बतलाये हुए प्राणायामोंमें, प्राणोंके निरोधसे मन-का संयम है और यहाँ मन और इन्द्रियोंके संयमसे प्राणोंका संयम है। यहाँ प्राणोंके रुकनेका कोई निर्दिष्ट स्थान नहीं है—जहाँ कहीं भी रुक सकते हैं, तथा काल और संख्याका भी विधान नहीं है।

प्राणायामका फल

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्। (योगदर्शन २। ५२)

उस प्राणायामके सिद्ध होनेपर विवेकज्ञानको आवृत करनेवाले पाप और अज्ञानका क्षय हो जाता है।

धारणासु च योग्यता मनसः। (योगदर्शन २। ५३)

तथा प्राणायामकी सिद्धिसे मन स्थिर होकर, उसकी धारणाओंके योग्य सामर्थ्य हो जाती है।

५-प्रत्याहार और उसका फल

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः। (योगदर्शन २।५४)

अपने-अपने विषयोंके सङ्गसे रहित होनेपर, इन्द्रियोंका चित्तके-से रूपमें अवस्थित हो जाना 'प्रत्याहार' है।

प्रत्याहारके सिद्ध होनेपर प्रत्याहारके समय साधकको बाह्यज्ञान नहीं रहता। व्यवहारके समय बाह्यज्ञान होता है। क्योंकि व्यवहारके समय साधक शरीरयात्राके हेतुसे प्रत्याहारको काममें नहीं लाता।

अन्य किसी साधनसे यदि मनका निरोध हो जाता है, तो इन्द्रियोंका निरोधरूप प्रत्याहार अपने आप ही उसके अन्तर्गत आ जाता है।

ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम्। (योगदर्शन २। ५५)

उस प्रत्याहारसे इन्द्रियाँ अत्यन्त वशमें हो जाती हैं, अर्थात् इन्द्रियोंपर पूर्ण अधिकार प्राप्त हो जाता है।

६-धारणा

योगके आठ अङ्गोंमें पाँच बहिरंग साधनोंका वर्णन हुआ। अब शेष तीन अन्तरङ्ग साधनोंका वर्णन किया जाता है। इनमें प्रथम धारणाका लक्षण बतलाया जाता है, क्योंकि धारणासे ध्यान और समाधि होती है। यह योगका छठा अंग है।

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा। (योगदर्शन ३। १)

चित्तको किसी एक देशविशेषमें स्थिर करनेका नाम धारणा है। अर्थात् स्थूल-सूक्ष्म या बाह्य-आभ्यन्तर, किसी एक ध्येय स्थानमें चित्तको बाँध देना, स्थिर कर देना अर्थात् लगा देना 'धारणा' कहलाता है।

७-ध्यान

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्। (योगदर्शन ३। २)

उस पूर्वोक्त ध्येय वस्तुमें चित्तवृत्तिकी एकतानताका नाम ध्यान है। अर्थात् चित्तवृत्तिका गङ्गाके प्रवाहकी भाँति या तैलधारावत् अविच्छिन्नरूपसे निरन्तर ध्येय वस्तुमें ही अनवरत लगा रहना 'ध्यान' कहलाता है।

८-समाधि

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः। (यो० ३। ३)

वह ध्यान ही 'समाधि' हो जाता है जिस समय केवल ध्येय स्वरूपका (ही) भान होता है और अपने स्वरूपके भानका अभाव-सा रहता है। ध्यान करते-करते जब योगीका चित्त ध्येयाकारको प्राप्त हो जाता है और वह स्वयं भी ध्येयमें तन्मय-सा बन जाता है, ध्येयसे भिन्न अपने आपका ज्ञान उसे नहीं-सा रह जाता है, उस स्थितिका नाम समाधि है। ध्यानमें ध्याता, ध्यान, ध्येय, यह त्रिपुटी रहती है। समाधिमें केवल अर्थमात्र वस्तु यानी ध्येयवस्तु ही रहती है, अर्थात् ध्याता, ध्यान, ध्येय, तीनोंकी एकता-सी हो जाती है।

ऐसी समाधि स्थूल पदार्थमें होती है, तब उसे 'निर्वितर्क' कहते हैं और सूक्ष्म पदार्थमें होती है तब उसे 'निर्विचार' कहते हैं। यह समाधि सांसारिक पदार्थोंमें होनेसे तो सिद्धिप्रद होती है, जो कि अध्यात्मविषयमें हानिकर है। और यही समाधि ईश्वरविषयक होनेसे मुक्ति प्रदान करती है। इसलिये कल्याण चाहनेवाले पुरुषोंको अपने इष्टदेव परमात्माके स्वरूपमें ही समाधि लगानी चाहिये। इसमें परिपक्वता होनेपर, अर्थात् उपर्युक्त योगके आठों अङ्गोंके भलीभाँति अनुष्ठानसे मल और आवरणादि दोषोंके क्षय होनेपर, विवेकख्यातिपर्यन्त ज्ञानकी दीप्ति होती है * और उस विवेकख्यातिसे, अविद्याका नाश होकर, कैवल्यपदकी प्राप्ति यानी आत्मसाक्षात्कार हो जाता है।

---

* योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिरा विवेकख्यातेः। (योग० २। २८)

समाधिपर्यन्त अष्टाङ्गयोगका यह अर्थ प्रायः ग्रन्थोंके आधारपर लिखा गया है। महर्षि पतञ्जलिके सूत्रोंपर अपने भावका यह विवेचन है। इनका असली तात्पर्य या तो महर्षि पतञ्जलि जानते हैं अथवा इनके अनुसार साधन करके जिन्होंने समाधि-अवस्था प्राप्त की है, वे कुछ जानते हैं। मैंने अपनी साधारण बुद्धिके अनुसार जो कुछ लिखा है, पाठकगण उसे पढ़कर मेरी त्रुटियोंके लिये क्षमा करेंगे।

योगः कर्मसु कौशलम्

(लेखक—महामहोपाध्याय डा० श्रीगङ्गानाथजी झा, एम० ए०, डी० लिट्, एल-एल० डी०)

'योग' के विषयको लोगोंने ऐसा जटिल बना और समझ रक्खा है कि इसका नाम ही भयङ्कर हो गया है। इसका कारण यह है कि इधर कुछ समयसे 'योग' पदसे लोग 'हठयोग'—केवल आसन-मुद्रादिको समझने लगे हैं। और आसन-मुद्रादि एक तो स्वयं जटिल विषय है, दूसरे इन शारीरिक क्रियाओंसे आध्यात्मिक लाभ क्या और कहाँतक हो सकता है सो भी समझना कठिन है। बात तो यों है कि अभ्यासात्मक योगके सर्वांग तत्त्वोंका समझना गुरुके बिना कठिन है। परन्तु थोड़ा-सा विचार करनेसे इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि 'हठयोग' यद्यपि योगका अङ्ग अवश्य है पर तो भी है 'योग' का अङ्ग ही, स्वयं 'योग' नहीं, अर्थात् योगका साधनमात्र है, और सो भी प्रधान नहीं।

ऐसे 'अङ्ग' योगके आठ कहे गये हैं—(१) यम, (२) नियम, (३) आसन, (४) प्राणायाम, (५) प्रत्याहार, (६) धारणा, (७) ध्यान, (८) समाधि। इनमें पहले पाँच योगके 'बाह्य अङ्ग' हैं, बाकी तीन 'अन्तरङ्ग' हैं (योगभाष्य ३। १)। ये तीन हैं धारणा, ध्यान, समाधि। ये ही तीन प्रधान हैं। कारण यह है कि ये ही तीन प्रक्रियाएँ हैं जिनका उपयोग सब कार्योंमें होता है। जिस किसी ज्ञानकी प्राप्तिकी इच्छा हो उस ज्ञानके विषयमें जब ये तीनों लगायी जाती हैं तभी उचित ज्ञान प्राप्त होता है। जबतक ज्ञेय पदार्थपर मन एकाग्र-रूपेण नहीं लगाया जाता तबतक उसका ज्ञान असम्भव है। इसलिये प्रथम सीढ़ी हुई यही एकाग्रता जिसे 'धारणा' कहा है (सू० ३। १)। इसके बाद मन जब लगातार बहुत कालतक इसी तरह एकाग्र रहे तो यह हुआ 'ध्यान' (सू० ३। २)। और जब मन इस ध्यानमें इस तरह मग्न हो गया कि उसका ध्येय पदार्थमें लय हो गया तो यही हुई 'समाधि' (सू० ३। ३)। किसी कार्यके सम्पन्न होनेमें इन तीनोंकी आवश्यकता होती है। यह केवल आध्यात्मिक अभ्यास या ज्ञानके ही लिये आवश्यक नहीं है, कार्यमात्रके लिये आवश्यक है। कोई भी कार्य हो, जबतक उसमें मन नहीं लगाया जाता, कार्य सिद्ध नहीं होता। इसी 'मन लगाने' को 'धारणा-ध्यानसमाधि' कहते हैं।

ये तीनों एक ही प्रक्रियाके अङ्ग हैं। इसीसे इन तीनोंका साधारण एक नाम 'संयम' कहा गया है (सू० ३। ४)। इसी 'संयम' (अर्थात् धारणा-ध्यान-समाधि) से ज्ञानकी शुद्धि होती है।

इन योगसूत्रोक्त उपदेशोंको जब हम मामूली कामोंमें लगाते हैं और इनके द्वारा सफलता प्राप्त करते हैं तब हमको मानना पड़ता है कि 'योग' का सबसे उत्कृष्ट और उपयोगी लक्षण जो श्रीभगवान्‌ने कहा है वही है—

'योगः कर्मसु कौशलम्'।

इस 'योग' के अभ्यासके लिये प्रत्येक मनुष्य सदा तैयार रहता है। 'गुरु' मिलें तब तो योगाभ्यास करें'—ऐसे आलस्यके साधन सभी निर्मूल हैं। यों कोई कर्तव्य सामने आ जाय उसमें संयम (अर्थात् धारणा-ध्यान-समाधि) पूर्वक लग जाना ही 'योग' है। इसमें यदि कोईकी स्वार्थ-कामना हुई तो यह योग अधम श्रेणीका हुआ, और यदि निष्काम है—'कर्तव्य'-बुद्धिसे किया गया है और फल जो कुछ हो सो ईश्वरको अर्पित है तो यही 'योग' उच्च कोटिका हुआ। जब अपने सभी काम इसी रीतिसे किये जाते हैं तो वही आदमी जीवन्मुक्त कहलाता है।

कैसा सुगम मार्ग है, लोगोंने दुर्गम बना रक्खा है। पर मनका 'लाग' चाहिये—तत्परता, तन्मयता। कठिन नहीं है—दूसरे किसीकी आवश्यकता नहीं है—अपने हाथका खेल है। पर श्रद्धा और साहस चाहिये।

इसमें शास्त्रार्थ या तर्क-वितर्ककी जरूरत नहीं है। इसको कोई भी आदमी किसी सामान्य कार्यके प्रति इस प्रक्रियाकी परीक्षा करके स्वयं देख सकता है। पर आदिमें श्रद्धा और आगे चलकर साहसकी अपेक्षा होगी, जिससे प्रक्रिया अपनी चरम कोटितक पहुँच जाय।

राजयोग

(लेखक—डा० श्रीबालकृष्णजी कौल)

'कल्याण' के सर्वस्व श्रीपोद्दारजीका बडा आग्रह है कि 'कल्याण' के 'योगाङ्क' के लिये, योगसम्बन्धी किसी विषयपर मैं भी कुछ अवश्य लिखूँ। पर मैं क्या लिखूँ, इसका निर्णय करना कुछ कठिन-सा प्रतीत हो रहा है—केवल विषयकी गम्भीरता और व्यापकताके ही कारण नहीं, इसलिये भी कि 'योग' पर हमारे ऋषि-महर्षियोंने इतना अधिक कह दिया है कि अब, मेरे-जैसे साधारण जनके लिये, उसपर कुछ कहनेको रह ही नहीं गया है। हमारा योगशास्त्र बहुत ही विस्तृत है। गीताके छठे अध्यायमे मुख्यतः 'योग' की ही व्याख्या की गयी है। गौडपादाचार्यने 'माण्डूक्योपनिषद्' मे इस विषयका विश्लेषणात्मक विवेचन बड़े विस्तारके साथ किया है। और सबसे बड़ी बात तो यह है कि महर्षि पतञ्जलिके गम्भीर सूत्रों तथा उनके ऊपर दिये गये 'व्यासभाष्य' के अनन्तर कोई ऐसी बात ही नहीं जिसे हम नवीनताकी संज्ञा देकर जनताके समक्ष उपस्थित कर सकें। अतएव, 'कल्याण'के प्रेमवश, तथा श्रीपोद्दारजीके आग्रहका पालन करते हुए, मैं यहाँ जो कुछ कहूँगा वह अपने इन्हीं पूर्वपुरुषोंसे उधार माँगकर—अपनी ओरसे कुछ नहीं। मेरा यह छोटा-सा निबन्ध 'योगाङ्क' के पाठक तथा पाठिकाओंको आर्य-जातिके एक अत्यन्त प्राचीन और महत्त्वपूर्ण विषयका स्मरणमात्र करा सकेगा—इतना भी यद कर सका तो मैं अपनेको कृतार्थ समझूँगा।

'योग' के सम्बन्धमे किसी भी प्रकारकी चर्चा चलानेके पूर्व यह जान लेना नितान्त आवश्यक समझा जाना चाहिये कि इसके वास्तविक अधिकारी कौन हो सकते हैं। जीवनकी किसी भी अवस्थामे, किसी भी स्थितिमे, वे लोग तो इसके ('योग' के) अधिकारी हो ही नहीं सकते जिनमे 'निर्वेद'-भावनाकी अनुपस्थिति है—जो निर्वेदरहित है। जिनमे निर्वेद-भावना नहीं, वे मुमुक्षु नहीं हो सकते, और जो मुमुक्षु नहीं उनके लिये 'योगशास्त्र' किसी प्रकारके जीवन-साधनका कार्य नहीं कर सकता, क्योंकि 'योग' एकमात्र 'मोक्ष'का ही साधन है।

योगारूढ होनेपर पहला काम होता है 'साधन-चतुष्टय' से सम्पन्न होना—इसके बिना कार्यसिद्धि नहीं हो सकती।

'साधनचतुष्टय'-सम्पन्न होनेमें विलम्ब लगता है—

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥

ऐसा भी होता है कि पूर्वजन्ममे जो जितनी ही अधिक मात्रामे 'साधनचतुष्टय'-सम्पन्न हो चुके होते है, इस जन्ममे उन्हे उतना ही कम समय लगता है। ये 'साधन-चतुष्टय' चित्तशुद्धिके विधायक हैं। जैसे-जैसे इनका परिपाक होता जाता है वैसे-ही-वैसे, चित्तशुद्धिद्वारा, योगाभ्यासमे सिद्धि बढती जाती है। अतः जो सम्पूर्ण-रूपसे 'साधनचतुष्टय'-सम्पन्न हो जाते हैं, वे ही 'ज्ञान'के अधिकारी होते हैं और फिर 'ज्ञान'से 'कैवल्य'को प्राप्त होते हैं।

योग, चाहे वह किसी भी प्रकारका हो, चित्तवृत्तिके निरोधसे ही सम्बन्ध रखता है—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।

साधारण अवस्थामे चित्तवृत्ति प्रतिपल परिवर्तित होती रहती है। किन्तु समाधि-अवस्थामें चित्तवृत्ति एकाकार हो जाती है। चित्तवृत्ति बदलते रहनेके दो मुख्य कारण है। पहला तो यह कि यह मन, इन्द्रियोंद्वारा बहिर्मुख होकर, बाह्य विषयोंमे आसक्त रहता है। दूसरे, यदि इन्द्रियोंको बन्द करके, मनको बाह्य विषयोंसे खींच भी लिया जाय तो भी अन्तःकरणकी क्रियाएँ बन्द नहीं हो जातीं—वे बराबर चलती ही रहती हैं। जैसे जाग्रदवस्थामे तो मन बहिर्मुख-सा व्यवहार किया ही करता है; पर शब्दादिसे दूर, किसी बन्द कमरेमे, आँखें बन्द करके बैठ जानेपर भी साधारण जनका—और स्वप्नावस्थामे सभी प्राणियोंका—अन्तःकरण जाग्रदवस्थाके समान ही सब क्रियाएँ करता रहता है। योगाभ्यासियोंको अन्तःकरणकी पूरी अनुशासना करनी पड़ती है—चित्तकी वृत्तियोंका संयम करना पड़ता है। इन दोनों ही

अवस्थाओं (जाग्रत् और स्वप्न) में चित्तकी वृत्तियोंपर सम्यक् नियन्त्रण रखनेमें सफलता प्राप्त होनेपर ही 'मन'का निरोध सम्भव है।

पर चित्तकी वृत्तियोंका निरोध किया कैसे जाय? इसके दो प्रकार हैं। यह बतलानेकी आवश्यकता नहीं कि 'मन' का और 'प्राण' का पारस्परिक सम्बन्ध अटूट है, अविच्छेद्य है। 'मन' के निरोधसे 'प्राण-स्पन्द' रुक जाता है और 'प्राण-स्पन्द'की शिथिलता 'मन' को एकाग्र बना देती है। इसलिये, मनके निरोधके लिये 'प्राण-स्पन्द' की गति-विधिपर सम्यक् अनुशासन रखना नितान्त आवश्यक है। 'प्राण-स्पन्द' का सम्बन्ध श्वास-निःश्वाससे है, अर्थात् जितनी ही तीव्रतासे साँस चलेगी, 'प्राण-स्पन्द' में भी उतनी ही अधिक गतिशीलता आवेगी और साँस जितनी ही धीरे-धीरे चलेगी, 'प्राण-स्पन्द'में भी उतनी ही अधिक शिथिलता आवेगी। अतएव मनोनिरोधके लिये 'प्राण-स्पन्द'को वशीभूत करना पड़ता है और इसके लिये 'अष्टाङ्गयोग-साधना' से—और उनमें भी विशेषकर प्राणायामसे—काम लेना पड़ता है। 'अष्टाङ्गयोग-साधना'से 'प्राण-स्पन्द' रुक जाता है और उसी अवस्थामें मनका निरोध होता है। यह मनोनिरोधकी एक विधि है।

मनोनिरोधका दूसरा उपाय यह है कि 'मन' को विवेक और वैराग्यद्वारा बाह्य विषयोंसे हटानेका अभ्यास किया जाय। प्रवृत्ति-भावनासे अलग होकर निवृत्ति-भावनाको सुदृढ बनानेका यह अभ्यास जब पक्का हो जाता है, तब मनका निरोध होता है। इसके लिये शास्त्रोंके श्रवण और मननकी आवश्यकता अपरिहार्य है। जितना ही शास्त्रका श्रवण और मनन अधिक होगा उतना ही शीघ्र 'वस्तु' के वास्तविक स्वरूपका ज्ञान होगा और फलतः, उतनी ही सत्वरता तथा दृढ़तासे, उक्त प्रक्रिया-द्वारा, 'मन' का निरोध होगा। इसीको 'राजयोग' कहते हैं।

मनोनिरोधकी जो दो प्रक्रियाएँ ऊपर बतायी गयी हैं, उन दोनोंका ही श्रद्धासहित और लगातार चिर अभ्यास करनेकी आवश्यकता है। इन दोनोंमेंसे चाहे जिस किसीसे काम लेना हो, उसका कठोर और सनियम अभ्यास करना चाहिये। कहा भी है—

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः।

अभ्यास नियमितरूपसे, नियत समयपर, यथासम्भव नियत स्थानमें नित्य किया जाना चाहिये। प्रारम्भमें अभ्यासका समय थोड़ा होना चाहिये और उसमें धीरे-धीरे वृद्धि की जानी चाहिये—

शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया।

अभ्यासके समयकी अवधि बढ़ाकर फिर घटायी नहीं जानी चाहिये। और सबसे बड़ी बात यह है कि अभ्यासीकी दिनचर्या नियमित होनी चाहिये—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥

संसारकी नश्वरता

जैसो मोती ओसको, तैसो यह संसार।
विनसि जाय छिन एकमें, 'दया' प्रभू उर धार॥

बहे जात हैं जीव सब, काल-नदीके माहिं।
'दया' भजन नौका बिना, उपजि उपजि मरि जाहिं॥

छिन छिन विनस्यो जात है, ऐसो जग निरमूल।
नाम रूप जो घूस है, ताहि देखि मत भूल॥

—दयाबाई

योगका विषय-परिचय

(लेखक—महामहोपाध्याय आचार्य श्रीगोपीनाथजी कविराज, एम० ए०)

ल्याण' पत्रके योगाङ्ककी विषय-सूची प्रकाशित हुई है। माननीय कल्याण-सम्पादक महाशयने मुझसे इस सूचीके परिचयके विषयमे 'कल्याण' के लिये कुछ लिख भेजनेका अनुरोध किया है। विषय-सूचीने इतना बड़ा आकार धारण कर लिया है कि उसके अन्दरके प्रत्येक विषयकी आलोचना करना मासिक पत्रके तुच्छ कलेवरके लिये सम्भव नहीं। अतएव व्यापक एवं सूक्ष्मरूपमें मै सूचीकी आलोचना नहीं कर सकूँगा—यथासम्भव सक्षेपमे इस सम्बन्धमें कुछ दिग्दर्शन करनेकी चेष्टा करूँगा।

प्राचीन भारतीय साहित्यमें 'योग' शब्द नाना प्रकारके व्यापक अर्थोंमें व्यवहृत हुआ है। फिर भी इसका जो आध्यात्मिक अर्थ है, उसमें प्रकार-भेद होनेपर भी, मूलतः कुछ अंशमें सामञ्जस्य पाया जाता है। जीवात्मा और परमात्माके सयोगको योग कहा जाय, अथवा प्राण और अपानके सयोग, चन्द्र और सूर्यके मिलन, शिव और शक्तिके सामरस्य, चित्तवृत्तिके निरोध अथवा अन्य किसी भी प्रकारसे योगका लक्षण निश्चित किया जाय, मूलमे विशेष पार्थक्य नहीं है।

महायोग और पूर्णयोग

योगशिखा-उपनिषद्में वर्णन आया है कि स्वाभाविक योग एक ही है, अनेक नहीं हैं। यही महायोगके नामसे साधकोंमें प्रसिद्ध है। अवस्था-भेदके अनुसार महायोग ही मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग अथवा राजयोगके रूपमें प्रकाशित होता है।

मन्त्रयोग और जपयोग

योगशास्त्रमें 'मन्त्रयोग' शब्द यद्यपि विभिन्न स्थानोंमें विभिन्न अर्थोंमें प्रयुक्त हुआ है, फिर भी यदि हम मन्त्र-योगका मुख्य अर्थ मन्त्रके आश्रयसे जीवात्मा और परमात्माका सम्मिलन मान लें तो इसमें कोई आपत्ति न होगी। शब्दात्मक मन्त्र चेतन होनेपर उसीकी सहायतासे जीव क्रमशः ऊपर गमन करते-करते शब्दसे अतीत परमानन्दधामतक पहुँच सकता है। वैखरी शब्दसे क्रमशः मध्यमा अवस्थाको भेदकर पश्यन्तीमें प्रवेश करना ही मन्त्रयोगका प्रधान उद्देश्य है। पश्यन्ती शब्द स्वप्रकाशमान चिदानन्दमय है—चिदात्मक पुरुषकी यही अक्षय और अमर षोडशी कला है। यही आत्मज्ञान, इष्ट-देवताके साक्षात्कार अथवा शब्दचैतन्यका प्रकृष्ट फल है। इस अवस्थामें पहुँचनेपर जीव कृतकृत्य हो सकता है। इसके बाद अव्यक्त भाव अपने आप उदित होता है। वही शब्दकी तुरीय अवस्था है। मूलाधारसे निरन्तर शब्द-स्रोत ऊपरकी ओर उठ रहा है, यही शब्द समस्त जगत्के केन्द्रमें नित्य विद्यमान है। बहिर्मुख जीव इन्द्रियोंके अधीन होकर विषयोंकी ओर दौड़ रहा है, इसीसे उसे इसका पता नहीं लगता। जब किसी क्रिया-कौशलसे अथवा अन्य किसी उपायसे इन्द्रियोंकी बहिर्गति रुद्ध हो जाती है और प्राण तथा मन स्तम्भित-से हो जाते हैं, तब साधक इस चेतन शब्दको सुननेके अधिकारी होते हैं। षण्मुखी मुद्राद्वारा कृत्रिम उपायसे इस नादके अनुसन्धानकी चेष्टा की जाती है। नोदन अथवा अभिघातजनित शब्दको अनाहत नादमें लीन न कर सकनेपर मन्त्र अक्षरसमष्टि ही रह जाता है। उसका सामर्थ्य और प्रकाश अनुभवगोचर नहीं होता। इडा-पिङ्गलाकी गति रुककर प्राण और मनके सुषुम्नाके अन्दर प्रविष्ट होनेपर यह नित्य सारस्वत स्रोत अनुभूत होता है। यही क्रमशः साधकको आज्ञाचक्रमें ले जाता है और वहाँसे बिन्दुस्थान भेदकर क्रमशः सहस्रार-के केन्द्रमें महाबिन्दुपर्यन्त पहुँचा देता है। हंस-मन्त्र, जिसका जीव निरन्तर श्वास प्रश्वासके साथ जप करता है, गुरुकृपासे प्राणकी विपरीतभावापन्न अवस्थामें सोऽहं-मन्त्रके रूपमे परिणत हो जाता है।

अस्पर्शयोग

माण्डूक्यकारिकामें आचार्य गौडपादने अस्पर्शयोग-का उल्लेख किया है। यद्यपि उस ग्रन्थमें इसका विशेष विवरण नहीं दिया गया है तथापि प्रसङ्गवश तथा विशेषणके रूपमे कुछ वर्णन उसमें मिल जाता है। उससे ऐसा मालूम होता है कि यह योग अत्यन्त दुर्लभ है। क्योंकि साधारण योगी अस्पर्शयोगमें प्रवेश नहीं कर

सकता । सब भूतोंके मङ्गल और आनन्दका निदानस्वरूप यह योग सब प्रकारके विरोधोंके ऊपर प्रतिष्ठित है और वास्तविक अभयपद कहे जाने योग्य है । प्रसङ्गवश किसी-किसी वेदान्त-ग्रन्थमें भी इसका उल्लेख देखा जाता है । जिन कुयोगियोंने निरालम्बपदपर पहुँचनेका अधिकार नहीं प्राप्त किया है, वे आत्मलोप होनेकी आशङ्कासे इस निर्विकल्प परमभूमिमें प्रवेश करनेकी न तो सामर्थ्य ही रखते हैं और न इच्छा ही करते हैं । वस्तुतः अस्पर्शयोग असम्प्रज्ञात अथवा निर्विकल्प समाधिकी ही अवस्थाविशेष है, इसमें कोई सन्देह नहीं । इन्द्रियार्थ सन्निकर्षरूप स्पर्शसे वृत्तिज्ञानका उदय होता है । किन्तु बहिरिन्द्रिय और अन्तःकरणके सम्यक् प्रकारसे निरुद्ध हो जानेपर जिस अस्पर्श-अवस्थाकी अभिव्यक्ति होती है, वह वृत्तिरहित शुद्ध चैतन्यकी भूमिको ही सूचित करती है । न्यायशास्त्रके मतसे भी स्पर्शेन्द्रिय त्वक्के साथ मनका संयोग हुए बिना अन्य किसी प्रकारका ज्ञान नहीं प्रकट हो सकता । इसका कारण यही है कि मनोवहा तथा ज्ञानवहा नाडियाँ त्वक्का आश्रय लेकर ही प्रकट होती हैं और वे सभी वायवीय हैं । स्पर्श वायुका धर्म है, अतएव अस्पर्शयोगकी अवस्थामें वायुका स्पन्दन निरुद्ध हो जानेके कारण पूर्वोक्त नाडियाँ जब अव्यक्त हो जाती हैं तब एक ओर जैसे मनकी वृत्ति शून्य हो जाती है, दूसरी ओर वैसे ही इन्द्रियाँ निरुद्ध हो जाती हैं । उस समय आत्मा निज स्वरूपमें प्रकाशित रहता है ।

शब्दयोग और वाग्योग

प्राचीन आगमशास्त्रोंमें वाग्योग अथवा शब्दयोगके नामसे जिस योगप्रणालीका उल्लेख पाया जाता है, उसका तात्पर्य और रहस्य आजकल बहुत-से लोग प्रायः भूल गये हैं । शैवागमके अन्तर्गत व्याकरण-आगममें भी इस योगसाधनका परिचय मिलता है । जिन्होंने भर्तृहरिके वाक्यपदीय और उसकी साम्प्रदायिक प्राचीन व्याख्याका अनुशीलन किया होगा, उन्हें वाग्योगकी बात अवश्य मालूम होगी । व्याकृत शब्दका वैखरी अवस्थासे मध्यमामें उत्तीर्ण होकर पश्यन्ती-स्वरूपमें प्रवेश कर जाना ही इस योगसाधनका प्रधान उद्देश्य है । पश्यन्ती-अवस्थासे परा-अवस्थामें—अव्याकृत पदमें—गति और स्थिति प्रायः स्वाभाविक नियमसे आप ही हो जाती है । वह किसी भी साधनाका आन्तरिक लक्ष्य नहीं है । वैखरी या स्थूल इन्द्रियग्राह्य शब्दविशेष मिश्र अवस्थामें होनेके कारण उसमें असंख्य आगन्तुक मल विद्यमान रहते हैं । गुरूपदिष्ट प्रणालीसे साधन कर चुकनेपर चाहे जिस शब्दको उसकी स्थूल अवस्थासे मुक्त करके विशुद्ध बनाया जा सकता है । इस शोधन-क्रियाका नाम ही शब्दसंस्कार है । जब शब्द सम्यक् प्रकारसे शुद्ध या संस्कृत हो जाता है तब वह दिव्यवाणी या संस्कृतभाषा, अथवा सृष्टिकारिणी ब्राह्मी शक्तिके रूपमें परिणत हो जाता है । केवल एक शब्दको भी इस प्रणालीसे शुद्ध कर लेनेपर जीव सदाके लिये कृतकृत्य हो सकता है—

एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति ।

जो एक शब्दका भी संस्कार करनेमें समर्थ हुए हैं, उन्हें किसी तरहका अभाव नहीं रह सकता । वह एक ही शोधित शब्द शक्तिके स्वरूपमें प्रकाशित होकर उनके समीप कामधेनुके आकारमें आविर्भूत हो जाता है । शब्दके मर्मको जाननेवाले वसिष्ठ आदि ऋषि इसी उपायसे अलौकिक शक्तिके अधिकारी बन गये थे । आवर्तन अथवा जपयज्ञ इत्यादिके अभ्याससे जब वैखरी शब्दसे आगन्तुक समस्त मल दूर हो जाते हैं तब इडा-पिङ्गलाका अपेक्षाकृत स्तम्भन हो जाता है और सुषुम्ना पथ कुछ परिमाणमें उन्मुक्त हो जाता है । फिर प्राणशक्तिकी सहायतासे वह शोधित शब्द-शक्ति सुषुम्ना-रूप ब्रह्मपथका आश्रय लेकर क्रमशः ऊर्ध्वगामिनी होती है । यही शब्दकी सूक्ष्म या मध्यमा नामक अवस्था है । इसी अवस्थामें अनाहत नाद प्रकट होता है और स्थूल शब्द इस विराट् प्रवाहमें निमग्न होकर उससे भर जाता है तथा चेतनाभाव धारण कर लेता है । यही मन्त्र-चैतन्यका उन्मेष-भाव है । साधक इस अवस्थामें पहुँच जानेपर जीवमात्रकी चित्तवृत्तिको अपरोक्षभावसे शब्दरूपमें जान लेता है । देश अथवा कालका व्यवधान शब्दकी इस स्फूर्तिको नहीं रोक सकता । इसके बाद प्रातःकालीन बालसूर्यके समान शब्दब्रह्मरूपी आदित्य साधकके आत्मा अथवा इष्टदेवताके रूपमें प्रकाशित होकर अन्तराकाशका अन्धकार दूर कर देते हैं । आगमशास्त्रमें इसीको 'पश्यन्ती वाक्' कहा जाता है । प्राचीन वैदिक साहित्यमें ऋषित्व-प्राप्ति अथवा मन्त्रसाक्षात्कारके नामसे जिसका

उल्लेख किया गया है, यह वही अवस्था है। आत्मदर्शन, इष्टदेवदर्शन, ज्ञान-चक्षुका उन्मीलन, शिवनेत्रका विकास, षोडशी कलाका उन्मेष अथवा सांख्यवर्णित द्रष्टा पुरुष-का स्वरूपावस्थितिरूप कैवल्य—ये सब इसी पश्यन्ती भूमिकी विभिन्न अवस्थाएँ हैं। पश्यन्तीकी अपेक्षा परा-भूमिका पथ अत्यन्त गुप्त है। अतएव यहाँपर उसकी आलोचना करना अप्रासंगिक और अनधिकार चर्चा होगी।

योगमार्ग और वियोगमार्ग

योग और वियोग (अथवा विवेक)-मार्गमें परस्पर क्या भेद है, इस सम्बन्धमें साधारण पाठकोंकी कोई विशेष धारणा है ऐसा मालूम नहीं होता। अवश्य ही आत्यन्तिक परमार्थदृष्टिसे किसी प्रकारका भेद नहीं है, यह सत्य है, परन्तु व्यावहारिक भूमिमें दोनोंमें परस्पर भेद दिखायी पड़ता है और उस भेदके अनुसार सिद्धिमें भी भेद होता है। जीव साधारणतः जिस अवस्थामें संसारमें परिभ्रमण करता रहता है, उसमें स्थूल और सूक्ष्मभाव परस्पर मिले हुए रहते हैं। केवल यही नहीं, सूक्ष्मभावमें स्थूलका अंग और स्थूलभावमें सूक्ष्मका अंग अनिवार्यरूपसे ओतप्रोत है। सुतरां विशुद्ध दृष्टिसे यदि देखा जाय तो दोनोंमेंसे कोई-सा एक दूसरेको छोड़कर नहीं रह सकता। काठके अन्दर अग्निकी तरह, तिलमें तैलकी तरह, दूधमें घीकी तरह, स्थूलके भीतर सूक्ष्म तत्त्व प्रच्छन्नरूपमें निहित है। क्रिया-विशेषके द्वारा इसे स्थूलसे अलग कर लेनेकी आवश्यकता होती है। सांख्यादि शास्त्रानुमोदित साधन-प्रणाली इसी वियोग अथवा विवेकमार्गका पक्षपाती है। वेदान्तका पञ्चकोष-विवेक भी एक प्रकारसे विवेक-पन्थके ही अन्तर्गत है। योगियोंका कहना है कि यह वियोग पूर्णरूपेण सिद्ध हो जानेके बाद दोनोंमें योग स्थापित करना आवश्यक होता है। वियोग-साधनाके द्वारा परस्पर पृथक् रूपमें जो दो पदार्थ उपलब्ध होते हे, वे वस्तुतः पृथक् पदार्थ नहीं हे—वे दोनों मूलीभूत एक परम पदार्थके ही पृथक् अवभासमात्र हैं, इस तत्त्वकी उपलब्धि करनेके लिये योगप्रक्रियाका अवलम्बन किये बिना काम नहीं चल सकता। स्थूल और लिङ्ग एक दूसरेके साथ आश्लिष्ट होकर जब चरम अवस्थामें एक परम पदार्थके रूपमें परिणत हो जाते हैं तब यह मालूम होता है कि इस मूल अद्वय-भावसे ही स्थूल और सूक्ष्म दोनों भावोंका विकास सम्पन्न होता है।

दृष्टान्तके रूपमें यहाँ सर्वसाधारणके समझने योग्य भाषामें एक तत्त्वका उल्लेख किया जाता है। जिन्हें शास्त्र-ज्ञान है और जो आध्यात्मिक विषयकी कुछ भी जानकारी रखते हैं, वे जानते हैं कि जीवके स्थूल शरीरकी तरह एक सूक्ष्म शरीर भी है। यह सूक्ष्म शरीर साधारणतया स्थूल शरीरके साथ इतनी घनिष्ठतासे आश्लिष्ट है कि दीर्घ कालतक अभ्यास किये बिना मनुष्य केवल इच्छा करके इसको स्थूल शरीरसे पृथक् नहीं कर सकता। परन्तु अलग न कर सकनेपर भी वह अनेक कारणोंसे सहज ही उसके पृथक् होनेका अनुभव कर सकता है। स्वप्नादिमें अथवा जीवित दशाकी किसी-किसी अनुभूतिमें, और सूक्ष्मदर्शियोंद्वारा देखे गये मृत्युकालीन अनुभवमें सूक्ष्म शरीरकी पृथक् सत्ता स्पष्ट ही मालूम हो सकती है। जिस तरह मन्थनकी प्रक्रिया-के द्वारा यानी कोल्हूमें पेलकर तिलसे तेल निकाला जाता है, उसी तरह प्रक्रियाविशेषद्वारा स्थूल शरीरसे भी सूक्ष्म शरीरको अलग किया जा सकता है। सम्पूर्णरूपमें न सही, आंशिकरूपमें प्रायः सभी अभ्यास करनेवाले इसे कर सकते हैं। इस अवस्थामें स्थूल शरीर अकर्मण्यवत् कङ्कड़-पत्थरकी तरह पड़ा रहता है। और सूक्ष्म शरीर उससे बाहर निकलकर नाना स्थानोंमें घूम-फिरकर पुनः जब स्थूल शरीरमें घुस जाता है तब वह चैतन्य प्राप्त कर लेता है और उसमें पहलेकी तरह ही ज्ञान और क्रियाका सञ्चार हो जाता है। यह सूक्ष्म शरीर भौतिक आवरणके द्वारा प्रतिरुद्ध नहीं होता, और न स्थूल जगत्का कोई भी नियम विशेषरूपसे इसपर प्रभाव डाल सकता है। कोई-कोई योगी घरके अन्दर बन्द रहकर और स्थूल शरीरको जहाँ-का-तहाँ रखकर भी, सूक्ष्म शरीरके द्वारा दीवाल आदि तथाकथित आवरणात्मक घेरेको भेदकर बहिर्जगत्में भ्रमण कर सकते हैं। इस अवस्थामें उनका स्थूल शरीर घरके अन्दर निष्क्रिय अवस्थामें आबद्ध रहता है। कोई भी मनुष्य अपनी इन्द्रियोंद्वारा इस स्थूल शरीरका प्रत्यक्ष अनुभव कर सकता है। इस दृष्टान्तसे यह स्पष्ट हो जाता है कि जो शरीर घरमें आबद्ध रहता है वह स्थूल शरीर है और जो निकलकर इधर-उधर विचरण करता है वह सूक्ष्म शरीर है। दोनों शरीर परस्पर सम्बद्ध होनेपर भी पृथक् हे। यह पार्थक्य वियोगमार्गके द्वारा उपलब्ध होता है। परन्तु एक ऐसी अवस्था भी होती है जिसमें यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि यह पूर्वनिर्दिष्ट [illegible]

स्थूल है या सूक्ष्म। क्योंकि ऐसा भी देखा जाता है कि एक योगी घरके अन्दर बन्द रहकर जब घरसे बाहर निकले तब घरमें पहलेके समान स्थूल शरीर आसनपर नहीं रहा, अर्थात् वह समस्त शरीर लेकर ही बाहर निकल गये और इच्छानुसार घूमते रहे तथा किसी-किसीको दिखायी भी पड़े। जिस शरीरसे वह घरसे निकलकर दीवाल आदि आवरण भेदकर बाहर चले गये, वह लौकिक स्थूल शरीर नहीं था—यह कहना न होगा। क्योंकि वैसा शरीर प्रतिघात-धर्मविशिष्ट दीवालको भेदकर जानेमें समर्थ नहीं होता। और साथ ही वह सूक्ष्म शरीर नहीं है, यह भी निश्चित है। क्योंकि वह यदि सूक्ष्म शरीर होता तो स्थूल शरीर निष्क्रियरूपमें आसनपर पड़ा रहना चाहिये था। योगी लोग ऐसे देहको सिद्ध देह कहते हैं। यह सिद्धि स्थूल और सूक्ष्मके परस्पर अत्यन्त घन सश्लेषणसे उत्पन्न होती है। इसमें स्थूल और सूक्ष्म दोनोंके धर्म दृष्टिगोचर होते हैं, इस कारण इसे एक हिसाबसे स्थूल भी कह सकते हैं और साथ ही सूक्ष्म भी कह सकते हैं। परन्तु वास्तवमें वह न तो स्थूल है, न सूक्ष्म। इस अवस्थाको प्राप्त करनेके लिये योगमार्गका अवलम्बन आवश्यक है। कहना नहीं होगा कि सर्वारम्भमें इस प्रकारका योग सम्भव नहीं। पहले वियोगमार्गकी साधनाके द्वारा मिश्रसत्ताके अन्दर वर्तमान दोनों सत्ताओं-को पृथक् कर लेना होता है और उसके बाद योगमार्गकी साधनाके द्वारा उन दोनोंको मिलाकर एक कर लेना होता है।

योग और वियोगमार्गका यही सक्षिप्त परिचय है। इससे अधिक यहाँ इसकी आलोचना करना अप्रासङ्गिक होगा।

नादानुसन्धान

पहले शब्दयोगकी आलोचना करते हुए जो कुछ कहा गया है, उससे नादानुसन्धानका तत्त्व भी कुछ अशमें समझमें आ जायगा। बद्ध जीव श्वास-प्रश्वासके अधीन होकर निरन्तर इडा-पिङ्गला-मार्गमें चल रहा है। उसका सुषुम्ना-पथ प्रायः बन्द है। इसीलिये उसकी इन्द्रियाँ और चित्त सब बहिर्मुख हैं। जो अखण्ड नाद जगत्के अन्तस्तलमें, आकाशमण्डलमें निरन्तर ध्वनित हो रहा है, उसे वह चित्त और प्राणोंकी विक्षिप्तताके कारण सुन नहीं पाता। परन्तु जिस समय गुरुकृपासे तथा क्रिया-विशेषके द्वारा सुषुम्ना-मार्ग उन्मुक्त होता है उस समय प्राण स्थिर और सूक्ष्म अवस्थाको प्राप्त होकर उसमें प्रविष्ट होते हैं और उस शून्य-पथसे मन अनाहत ध्वनिको श्रवण करता है। निरन्तर इस ध्वनिका अनुसरण करते-करते मन क्रमशः निर्मल और शान्त अवस्थाको प्राप्त करता है। जब मन पूर्णरूपेण स्थिर हो जाता है तब फिर नादध्वनि नहीं सुनायी पड़ती। उस समय चिदात्मक आत्मा अपने स्वरूपमें स्थित होकर बाह्य प्रकृतिके स्पर्शसे मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

नाद मूलतः एक होनेपर भी औपाधिक सम्बन्धके कारण विभिन्न स्तरोंमें विभक्त है। योगियोंने साधारणतः इस प्रकारके सात स्तरोंका उल्लेख किया है। शास्त्र जिसको ओंकार अथवा प्रणवका स्वरुप कहते हैं, वही उपाधिरहित शब्द-तत्त्व है। वैयाकरणोंने तथा किसी-किसी प्राचीन साधक-सम्प्रदायने 'स्फोट' नामसे इसकी व्याख्या की है। यह स्फोट ही अखण्ड सत्तारूप ब्रह्म-तत्त्वका वाचक है। अर्थात् इसीसे ब्रह्मभावकी स्फूर्ति होती है। प्रणव ईश्वरका वाचक है, इस बातका भी तात्पर्य यही है। वाचक स्फोट शब्दब्रह्मके रूपमें और वाच्य सत्ता परब्रह्मके रूपमें वर्णित है। अतएव, एक तरहसे, ब्रह्म ही ब्रह्मका प्रकाशक है, यह कहा जा सकता है। स्वप्रकाश ब्रह्म अपने स्वरूपके अतिरिक्त और किसी पदार्थके द्वारा प्रकाशित नहीं हो सकता—यह कहनेकी जरूरत नहीं। परन्तु स्फोट या शब्दतत्त्व जबतक जीवके लिये अव्यक्त रहता है तबतक उसके द्वारा कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। इसीलिये योगी यथाविधि ध्वनि और नादका अवलम्बन करके इसको अभिव्यक्त करते हैं। कुण्डलिनीका उद्बोधन भी कुछ अंशोंमें इसी कार्यके समान है। मूलाधार-से नाद उठना आरम्भ होता है और सहस्रारमें जाकर लयको प्राप्त हो जाता है। साधकका मन इस नादके साथ युक्त होनेपर अनायास परब्रह्मपदतक उठकर चिन्मय आकार धारण करता है और चैतन्यके अन्दर अपने-आप-को मिला देता है।

हठयोगप्रदीपिका, योगतारावलि तथा अन्यान्य अनेक ग्रन्थोंमें इस नादानुसन्धानका विस्तृत वर्णन मिलता है।

असम्प्रज्ञात समाधि

पातञ्जल योगशास्त्रमें असम्प्रज्ञात समाधि दो प्रकारकी बतलायी गयी है—भवप्रत्यय और उपायप्रत्यय। चित्त-

वृत्तिका सम्यक् निरोध ही असम्प्रज्ञात समाधिका लक्षण है। चित्त आत्माका अत्यन्त निकटवर्ती है,—यहाँतक कि दोनोंमें स्व-स्वामि सम्बन्ध वर्तमान है। व्युत्थान अवस्थामें द्रष्टा पुरुष अपना स्वरूप भूलकर वृत्तिसकुल चित्तके साथ अपनेको अभिन्न समझता है और वृत्तियोंका आकार धारण कर लेता है। परन्तु जब वृत्तियोंका निरोध हो जाता है तब उसके लिये इस प्रकार वृत्तियोका आकार धारण करना सम्भव नहीं होता। इस वृत्तिहीन अवस्थामें पुरुष चैतन्य प्राप्त करके द्रष्टा या साक्षीके रूपमें अवस्थित होता है। अथवा गभीर अज्ञानसे आच्छन्न होकर एक ओर जिस प्रकार विषयज्ञानशून्य हो जाता है, दूसरी ओर उसी प्रकार अपने चित्स्वरूपकी उपलब्धिसे भी वञ्चित रहता है। शास्त्रानुसार यही प्रकृति-लय अथवा जड समाधिकी अवस्था है। यह योगियोंके लिये कदापि काम्य नहीं। वृत्तिहीन होनेसे यद्यपि यह असम्प्रज्ञात समाधिके अन्तर्गत ही है तथापि ज्ञानका उन्मेष न होनेके कारण यह योगावस्था नहीं है। पतञ्जलि इसीको भवप्रत्यय असम्प्रज्ञात कहते हैं। प्रकृतिलीनकी तरह विदेह देवता भी इसी अवस्थामें रहते हैं। योगियोकी वास्तविक योगावस्था उपायप्रत्यय असम्प्रज्ञात समाधिके रूपमें ही साधकसमाजमें परिचित है। 'उपाय' का अर्थ यहाँपर प्रज्ञा अर्थात् शुद्ध ज्ञान समझना चाहिये। सम्यक् ज्ञान उत्पन्न होकर निरुद्ध होनेपर जिस असम्प्रज्ञात समाधिका आविर्भाव होता है, उसकी तुलना ज्ञानके अनुदयकालीन असम्प्रज्ञात समाधिके साथ कभी नहीं हो सकती। भवप्रत्यय-अवस्थामें कुछ समयतक चित्त निरुद्ध रहनेपर भी कालान्तरमें उसका व्युत्थान अवश्यम्भावी है, क्योंकि तबतक चित्तके संस्कार सम्पूर्णरूपमें वर्तमान रहते हैं। परन्तु प्रज्ञा उत्पन्न होनेपर क्रमशः संस्कारोंका दाह करनेसे जो असम्प्रज्ञात समाधि आविर्भूत होती है, उसमें व्युत्थानकी कोई आशङ्का नहीं रहती। वास्तवमें उसीको एक प्रकारसे कैवल्यका पूर्वास्वाद कह सकते हैं।

बौद्ध योगी प्रतिसङ्ख्यानिरोध और अप्रतिसङ्ख्यानिरोध नामसे जो दो प्रकारके निरोधका वर्णन करते हैं, वे अधिकांशमें उपायप्रत्यय और भवप्रत्यय असम्प्रज्ञात समाधिके ही समान हैं। सम्प्रज्ञात समाधिमें प्रवेश किये विना असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त करना कभी योगियोंके लिये प्रार्थनीय नहीं है। अविद्यादि क्लेशोंका दाह न कर केवल-मात्र वृत्तियोका निरोध कर लेनेसे ही पुरुष आत्मस्वरूपमें अवस्थित होनेमें समर्थ नहीं होता। ज्ञानके अतिरिक्त अविद्याका बीज नष्ट करनेका और कोई उपाय नहीं है। क्रियायोगके द्वारा अर्थात् तपस्या, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधानका अनुष्ठान यथाविधि करनेपर भी अविद्या-संस्कारको दग्ध नहीं किया जा सकता। परन्तु इसी कारण यह नहीं कहा जा सकता कि क्रियायोग निष्फल है, क्योंकि क्रियायोगके प्रभावसे संस्कारोका स्थूलरूप कट जाता है और वह सूक्ष्म आकार धारण कर लेता है। तदनन्तर प्रसंख्यान या ज्ञानाग्नि प्रज्वलित होते ही वह दग्ध हो जाता है, और पुनः जाग्रत होनेकी शक्तिसे रहित हो जाता है। सम्प्रज्ञात समाधिकी प्रत्येक भूमिमे ही उसके आश्रयसे ज्ञानका विकास होता है। फिर सास्मित भूमिमे सालम्ब ज्ञानकी चरम शुद्धि सम्पन्न होती है। इसका पारिभाषिक नाम ग्रहीतसमापत्ति है। श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा—ज्ञानप्राप्तिका यही स्वाभाविक क्रम है। 'श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्' गीताके इस वचनमे भी ज्ञानप्राप्तिके मूलमे श्रद्धाको ही स्थापित किया गया है। श्रद्धाहीन व्यक्ति लाख प्रयत्न करनेपर भी ज्ञान प्राप्त करनेमे समर्थ नहीं होता। भवप्रत्यय असम्प्रज्ञात समाधिमें चित्तका निरोध होनेपर भी अविद्याकी निवृत्ति नहीं होती। अविद्या तथा तज्जनित संज्ञा वर्तमान रहनेपर आत्मा मुक्ति नहीं प्राप्त कर सकता, यही योगशास्त्रका सिद्धान्त है।

निर्माणकाय और निर्माणचित्त

निर्माणकाय और निर्माणचित्तका विषय योगशास्त्रमें विशेषरूपसे आलोचित हुआ है। उच्च श्रेणीके योगी अनेक समय इसकी रचना करके आवश्यकतानुसार कार्य पूरा कर लेते हैं। लौकिक साहित्यमें इस प्रकारकी देह अथवा चित्तका वर्णन कहीं न होनेके कारण साधारणतः बहुत-से लोग इससे अपरिचित हैं। संसारमें हम साधारणतः जिस देहसे परिचित हैं वह भौतिक देह है। पञ्चभूत—उपादानरूप हों अथवा एक उपादान और अन्य सब उपष्टम्भकरूपमें हों—परस्पर संश्लिष्ट होकर स्थूल देहकी रचना करते हैं। इस रचनाके मूलमें अथवा भौतिक संयोगके मूलमें देहधारी जीवके पूर्वजन्मार्जित प्रारब्धकर्म वर्तमान रहते हैं। प्रारब्धकर्मसे देह उत्पन्न होती है। देहकी आयु अथवा स्थितिकाल, और उस देहमे जितने सुख-दु:खका भोग होता है वह उस प्रारब्धकर्मके द्वारा ही नियन्त्रित

होता है। परन्तु योगी केवल अपने सङ्कल्पबलसे अर्थात् प्रारब्धकर्मकी सहायताके बिना भी देहका निर्माण कर सकते हैं और करते भी हैं। अवश्य ही इस प्रकार देह-निर्माणकी नाना प्रकारकी प्रणालियाँ हैं। मन्त्रबलसे, द्रव्यविशेषके प्रभावसे, तपस्याके फलसे और समाधिसिद्ध योगीके योगके प्रभावसे इस प्रकार देह बनायी जा सकती है। विशिष्ट और प्राक्तन कर्म रहनेपर, केवल योनिविशेषमें जन्म ग्रहण करनेसे भी ऐसी देह प्राप्त हो जाती है। दृष्टिभेदसे इस निर्माणदेहको कोई-कोई निर्माणचित्त भी कहते हैं। न्यायकुसुमाञ्जलिमें उदयनाचार्यने प्रथम स्तबकके आरम्भमें पातञ्जल-सम्प्रदायका निर्देश करते हुए 'निर्माणकाय' शब्दका प्रयोग किया है। बौद्ध धर्मशास्त्रमें सर्वत्र धर्मकाय, सम्भोगकाय इत्यादिके साथ निर्माणकाय-का भी उल्लेख देखा जाता है। प्राचीन और मध्यकालीन बहुत-से बौद्ध दार्शनिक ग्रन्थोंमें इन सब भिन्न-भिन्न देहोंका विशेष वर्णन है। खोज करनेकी इच्छा रखनेवाले पाठकों-को वसुबन्धु, असङ्ग, हरिभद्र आदि आचार्योंके ग्रन्थोंको देखनेसे इस विषयमें बहुत सी बातें मालूम हो सकती हैं। पञ्चशिखाचार्यने एक स्थानमें लिखा है कि परमर्षि कपिलने करुणावश निर्माणचित्तका अवलम्बन कर अपने शिष्य जिज्ञासु आसुरिका षष्टितन्त्रका उपदेश दिया था। निर्माणकाय और निर्माणचित्तमें वास्तविक कोई भेद नहीं। लौकिक देह और लौकिक चित्तमें जो भेद है उस प्रकारका कोई भेद योगिसङ्कल्पनिर्मित देह और चित्तमें नहीं रहता, क्योंकि सिद्ध योगीके सङ्कल्पसे जिस आकारकी उत्पत्ति होती है वह देखनेमें देहके समान होनेपर भी वास्तवमें वह चित्तके सिवा और कुछ भी नहीं है। वह इच्छाशक्तिके प्रभावसे निर्मित होता है, ऐसा प्रसिद्ध है।

यह निर्माणचित्त या निर्माणदेह एक होनेपर भी व्याव-हारिक दृष्टिसे भिन्न रूपोंमें प्रतिपादित होता है। प्रयोजक चित्त और प्रयोज्य चित्त नामक जो निर्माणचित्तके दो पृथक्-पृथक् भेद बतलाये जाते हैं, वे व्यवहारमूलक हैं। योगीके योगबलसे जो निर्माणचित्त बनता है उसकी प्रधान विशेषता यह है कि उसमें शुक्ल, कृष्ण या अन्य किसी प्रकारका कर्माशय नहीं रहता। अन्यान्य उपायसे रचित होनेपर निर्माणचित्तमें किसी-न-किसी आकारका कर्म-संस्कार लगा ही रहता है। इसी कारण ज्ञानलिप्सु अधिकारी शिष्यको ज्ञानका उपदेश देते समय योगी इस प्रकार चित्तनिर्माण करके उपदेश देते हैं। निर्माणदेहका अवलम्बन करके जो ज्ञानोपदेश आदि दिया जाता है उसमें भ्रम, प्रमाद आदि-की सम्भावना नहीं रहती। वास्तवमें यही गुरुदेह है। भौतिक देहसे तत्त्वज्ञानका उपदेश संशय अथवा विपर्यय-शून्य रूपमें नहीं दिया जा सकता। शुद्ध अस्मिता-तत्त्वसे यह देह निर्मित होती है। जैनाचार्योंने आचार्यदेह-के रूपमें जिस देहका वर्णन किया है, वह बहुत कुछ इसी जातिका है।

ब्रह्मचर्य और ऊर्ध्वरेता

आध्यात्मिक साधनामें उन्नति करनेके लिये ब्रह्मचर्यका विशेषरूपसे पालन करनेकी आवश्यकता है। वैदिक, तान्त्रिक, बौद्ध, जैन एवं अन्यान्य देशोंके अन्यान्य प्रकार-के धर्मसम्प्रदायोंमें भी इसकी आवश्यकता बतलायी गयी है। जिन ऋषियोंने आश्रमचतुष्टयकी व्यवस्था की थी उन्होंने भी इसीलिये सर्वप्रथम ब्रह्मचर्यको स्थान दिया था। ब्रह्मचर्यका पालन किये बिना शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक, किसी प्रकारका बल सञ्चित नहीं होता और बलका सञ्चय हुए बिना कार्यमें सिद्धि प्राप्त करनेकी आशा आकाशकुसुममात्र है। शास्त्रमें कहा है—'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः', अतएव इसमें कोई सन्देह नहीं कि ब्रह्मचर्यके बिना आत्माकी उपलब्धि नहीं हो सकती। ब्रह्मचर्यका वास्तविक स्वरूप क्या है, यह बतलानेके लिये अनेकों प्रकारकी बातें कहनी चाहिये। परन्तु यह सोचकर कि वर्तमान प्रबन्धमें इस सम्बन्धमें विस्तारसहित आलोचना करना उचित नहीं, यहाँ केवल अत्यन्त आवश्यक दो-एक बातोंका उल्लेख किया जायगा।

साधारणतः लोग वीर्यधारणको ही ब्रह्मचर्य समझते हैं। वीर्यधारण ब्रह्मचर्यका एक प्रधान अङ्ग है, इसमें सन्देह नहीं और इस अङ्गका सम्यक् रूपसे पालन करनेसे इसके अन्यान्य अङ्ग सहज ही सिद्ध हो जाते हैं। जो लोग अष्टाङ्गमैथुनके त्यागको ब्रह्मचर्य बताते हैं, वे भी इस वीर्यरक्षाकी ओर ही अपना लक्ष्य रखकर इस प्रकारके लक्षण निर्धारित करते हैं। यह परिच्छिन्न ब्रह्मचर्य योगशास्त्रमें यमके अन्तर्गत माना गया है। बौद्धोंने भी शीलसम्पत्तिके अन्दर इसको प्रधान स्थान प्रदान किया है। जैन और अन्यान्य शास्त्रोंमें भी प्रायः उसी रूपमें देखा जाता है। ऋषिप्रणीत धर्मशास्त्र तथा गृह्य और

धर्मसूत्रादिमें ब्रह्मचारीकी आदर्श दिनचर्याके विषयमें बहुत-सी बातें कही गयी हैं।

जो लोग ब्रह्मचर्यके तत्त्वकी खोज करना चाहते हैं, वे थोड़ा-सा अनुसन्धान करनेपर सहज ही समझ सकते हैं कि बिन्दुका संरक्षण, संशोधन और उद्‌बोधन—ये तीन ही ब्रह्मचर्यके यथार्थ उद्देश्य हैं। ब्रह्ममें अथवा ब्रह्मपथमें जिसके द्वारा सञ्चार नहीं होता वह वास्तविक ब्रह्मचर्य नहीं। जो शास्त्रसिद्ध ब्रह्मचर्यसम्पन्न हैं वह वस्तुतः एकमात्र ब्रह्मपथमें ही सञ्चरण करते हैं। क्योंकि वासना, मिथ्या सङ्कल्प, इन्द्रिय-चाञ्चल्य और चित्तकी विक्षेपवृत्ति निवृत्त होनेपर बिन्दुकी जो आपेक्षिक साम्यावस्था होती है, वही ब्रह्मचर्य-प्रतिष्ठाकी प्रथम भूमि है; बिन्दुके क्षरणसे संसार, और बिन्दुकी स्थिरतासे अमृतत्व अथवा मोक्ष सिद्ध होता है। गणितशास्त्रमें जिस तरह वृत्त और त्रिकोण आदिका केन्द्र ही बिन्दु कहलाता है, उसी तरह देहतत्त्वविद्‌गण भी देहके अथवा कोषके केन्द्रको ही बिन्दु नामसे ग्रहण करते हैं। अन्नमय कोष या स्थूल शरीर जिसके आधारपर प्रतिष्ठित है, उसीको अन्नमय कोषका केन्द्र या स्थूल बिन्दु कहा जा सकता है। इसी तरह जिन प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय कोषके आधारपर सूक्ष्म शरीर गठित हुआ है, उनके भी कोषगत केन्द्ररूपमें एक-एक बिन्दु है। वेदान्तकी परिभाषाके अनुसार साधारणतः आनन्दमय कोषको ही कारण-शरीर कहा जाता है। कहना नहीं होगा कि इसका भी केन्द्र है और यही अमृतबिन्दुके नामसे परिचित है। ये सब बिन्दु वस्तुतः एक ही महाबिन्दुके देशगत और संस्कारगत भेदमात्र हैं। जबतक औपाधिक भेद वर्तमान रहता है तबतक यह भेद अनिवार्य है। इस भेदको मानकर ही क्रमशः इसके अतिक्रम करनेकी चेष्टा करनी होगी। जिस कारणसे बिन्दु क्षरित होता है, उसको रोके बिना बिन्दुकी ऊर्ध्वगति तो दूर रही, उसकी स्थिरता भी सम्भव नहीं। पहले स्थिररेता हुए बिना कोई भी ऊर्ध्वरेता-भूमिपर आरोहण नहीं कर सकता। जो लोग अप्राकृत कामबीजका रहस्य जानते हैं और जिन्होंने गुरूपदिष्ट प्रणालीसे रस-तत्त्वका सम्यक् रूपसे परिशीलन किया है, वे इसे सहज ही समझ सकते हैं। साधारणत हठयोगी कहा करते हैं कि बिन्दुके स्थिर होनेपर प्राण भी स्थिर हो जाता है और प्राणके स्थिर होनेपर बिन्दु भी स्थिर हुए बिना नहीं रह सकता। इसी प्रकार बिन्दुके साथ मनका और मनके साथ प्राणका परस्पर सम्बन्ध समझना चाहिये। कौशलसे इनमेंसे किसी एकको भी बद्ध कर लेनेपर शेष दोको अधीन करना सहज हो जाता है। हठयोगशास्त्रमें तथा योगवासिष्ठरामायणमें इस सम्बन्धमें प्रासङ्गिक अन्यान्य बातें भी लिखी हैं। शास्त्रका यह सिद्धान्त अत्यन्त सारगर्भित है; क्योंकि हमने पहले ही कहा है कि एक ही बिन्दु आधारभेदसे भिन्न-भिन्न स्थानोंमें भिन्न-भिन्न रूपोंमें प्रकाशित हुआ है। अतएव साधकके पूर्वसंस्कार तथा योग्यताके अनुसार चाहे जिस स्थानमें संयम सम्भव हो, उसीसे अन्यान्य स्थानगत विक्षेप भी निवृत्त हो जाता है एवं वहाँ-वहाँके बिन्दु भी स्थिरभावको प्राप्त हो जाते हैं।

चक्षु जिस समय रूप देखता है, श्रोत्र जिस समय शब्द ग्रहण करता है और अन्यान्य इन्द्रियाँ जिस समय अपना-अपना विषय ग्रहण करती हैं, उस समय वास्तवमें देहके मध्यमें स्थित बिन्दु ही क्षरित होकर उस-उस स्थानमें विषय-प्रतिभासके रूपमें जन्म ग्रहण करता है। बिन्दुका क्षरण हुए बिना विषय ग्रहण करना असम्भव है। अतएव जबतक हम इन्द्रियोंके मार्गसे विषय ग्रहण करते हैं तबतक तथाकथित रूपमें वीर्यरक्षा करनेपर भी व्यभिचार होता ही है। विषयका भेद हट जानेपर जब सर्वत्र ही ब्रह्म-साक्षात्कार होता है तब समझना चाहिये कि व्यभिचार निवृत्त हो गया है और साधक ब्रह्मचर्यमें स्थित हो गया है। बिन्दु क्षरित हुए बिना अखण्ड एवं कूटस्थ ब्रह्मतत्त्व अपने सामने स्वयं प्रकाशित नहीं हो सकता। अतएव ब्रह्मकी जो स्वयं-प्रकाश अवस्था है, जिस अवस्थामें एकमात्र विशुद्ध चैतन्य ही अपने सामने आप प्रकाशित है, वह भी ब्रह्मचर्यकी अवस्था है। उस अवस्थामें बिन्दुके क्षरित होनेपर भी वह सरल मार्गसे सम्पन्न होता है, इस कारण अद्वैत-भावमें व्याघात नहीं पहुँचता, भेदप्रतीति उत्पन्न नहीं होती और विषयसत्ता भी भासमान नहीं होती। यह अवस्था रहस्यदृष्टिसे 'उपकुर्वाण ब्रह्मचर्य' की अवस्था है। इसीका अनुकरण करके समाजके अन्दर भी उपकुर्वाण ब्रह्मचर्यकी व्यवस्था की गयी है। गुणभेदसे उपकुर्वाण ब्रह्मचर्य के तीन भेद हैं—शुक्ल, रक्त और कृष्ण। यहाँपर इनकी आलोचना नहीं करनी है। परन्तु जिसे नैष्ठिक ब्रह्मचर्य कहते हैं, उसमें बिन्दुक्षरण बिल्कुल ही सम्भव नहीं है। बिन्दुका

अरण नहीं हो सकता, इसी कारण उस निर्गुण ब्रह्मचर्यावस्थाकी गणना अव्यक्तभावके अन्दर होती है। सामाजिक दृष्टिसे विवाह न करना और विवाह करके स्वपत्नीके साथ संयत रहना दोनों ब्रह्मचर्यके स्वरूप हैं। पर-स्त्रीके प्रति तनिक भी चित्तमें आसक्ति उत्पन्न हो जानेपर ब्रह्मचर्यावस्थासे पतन हो जाता है। क्योंकि चित्तकी वह अवस्था व्यभिचारके ही अन्तर्गत मानी गयी है। स्वदाराके प्रति निरत रहनेपर भी चित्तसंयमके तारतम्यके अनुसार गुणभेदसे गृहस्थका ब्रह्मचर्य सात्त्विक, राजसिक और तामसिक तीन प्रकारका होता है।

विन्दुका शोधन सम्यक् प्रकारसे हुए विना अन्य क्रिया-कौशलद्वारा उसे स्थिर करनेपर भी उसमें स्थायित्व नहीं आता। क्योंकि संस्कारात्मक मलके आकर्षणसे निर्दिष्ट स्थितिकाल अतीत होनेके बाद विन्दु पूर्वकी तरह नीचेकी ओर गतिशील हो जाता है। वैदिक तथा तान्त्रिक साधनामें विन्दु-साधनके अनेक प्रकारके उपाय निर्दिष्ट किये गये हैं। महायानसम्प्रदायके बौद्धोंके अन्दर भी वज्रयान, मन्त्रयान एवं सहजयानके साधनमार्गोंमें इस प्रकारके सूक्ष्म तथा अकृत्रिम उपायका वर्णन पाया जाता है। हठयोगमें अपना विशेष अधिकार प्राप्त करनेके लिये भी इस प्रकार विन्दुस्थिरताके उपायका अवलम्बन किये विना काम नहीं चल सकता। विन्दु शुद्ध होनेपर ही वह स्वभावतः स्थिर होता है। इस स्थिर विन्दुको किसी अलौकिक प्रक्रियाके द्वारा विक्षुब्ध कर लिया जाय तो वह स्वभावतः ही ऊर्ध्व दिशामें सञ्चरणशील हो जाता है। विन्दुकी यह ऊर्ध्वगति प्रबुद्ध कुण्डलिनीके सहस्रारके आकर्षणसे ऊर्ध्वप्रवाहका नामान्तर है। विन्दु क्रमशः स्थूलभाव छोड़कर सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम अवस्थाको प्राप्त होता है और अन्तमें सहस्रदलकमलकी कर्णिकामें स्थित महाविन्दुके साथ मिल जाता है। यही चितचन्द्रमाका षोडशी कलारूप अमृत विन्दु है। नाभिग्रन्थिका भेद करके विन्दुको ऊर्ध्व-स्रोतमें संश्लिष्ट कर देना ही उपनयन या दीक्षाका यथार्थ रहस्य है। नाभिचक्रसे ऊपर उठे विना विन्दु माध्याकर्षणके चक्रसे मुक्ति नहीं प्राप्त कर सकता। माध्याकर्षणके चक्रके अन्दर रहना संसारका ही दूसरा नाम है। ब्रह्मचर्यकी साधनाके द्वारा विन्दुको विषय-जगत्से पृथक् करके, उसे पवित्र बनाकर, ब्रह्ममार्गमें लगाना ही संसारसे मुक्ति प्राप्त करनेका एकमात्र उपाय है। विन्दुके विक्षुब्ध होकर ऊर्ध्वकी ओर सञ्चरण करनेपर ही नादका विकास होता है। अतएव नाभिचक्रसे ऊपर स्वाभाविक खेल नाद एवं ज्योतिके रूपमें अनुभूत होता है। यही शब्दब्रह्मके सञ्चारकी अवस्था है। इसके बाद नाद, ज्योति इत्यादिकी पूर्णतासे जो परम भावका उदय होता है, वही निजबोधरूप आत्मज्ञानका विकास है। इसका विशेष विवरण 'दीक्षातत्त्व' तथा तत्सम्बन्धी षडध्वशुद्धिकी आलोचनाके अङ्गीभूत है।

भगवान् पतञ्जलिने यह निर्देश किया है कि ब्रह्मचर्य धारण करनेसे वीर्यकी प्राप्ति होती है। वास्तवमें ब्रह्मचारीकी अवस्थाका ही वर्णन योगसूत्रमें प्रकारान्तरसे श्रद्धारूपमें किया गया है। ब्रह्मचर्यसम्भूत वीर्यकी प्राप्ति होनेपर देहके अन्दर दिव्य तेज अथवा विद्युत्-शक्तिका विकास होता है—इस तेजकी अधिकताके कारण चित्तकी चञ्चलता नष्ट हो जाती है, प्राणोंकी गति स्थिर हो जाती है और ध्येयकी ओर चित्तका एकतान प्रवाह उत्पन्न होता है। इसीका दूसरा नाम ध्यान अथवा स्मृति है। उपासनाका यही स्वरूप है। क्रमशः इन सबके घनीभूत होते-होते चित्तकी समाधि-अवस्था उत्पन्न होती है। चित्तके समाहित होनेपर ध्येय वस्तु आवरणविमुक्त होकर उज्ज्वलरूपमें स्वीयभावकी ज्योतिसे उद्भासित और प्रकाशित हो उठता है। उस समय चित्त तिरोहित हो जाता है और एकमात्र ध्येय ही उसके अनुभव-क्षेत्रमें जागरूक रहता है। कहना नहीं होगा कि यह ध्येय चित्तका ही एक आकारविशेष है, यह चित्तसे भिन्न कोई पदार्थ नहीं है। इस प्रकारको प्रज्ञाका उन्मेष अथवा ज्ञानचक्षुका खुल जाना कहते हैं। इस प्रज्ञाके निरुद्ध होनेके बाद जिस असम्प्रज्ञात समाधिका उदय होता है, वही वास्तवमें योग कहलाने योग्य है। ब्रह्मचर्य योगकी पूर्णावस्था प्राप्त करनेके लिये नितान्त आवश्यक है, इस संक्षिप्त विवरणसे सम्भवतः यह बात पाठकोंको अवश्य मालूम हो जायगी।

सिद्धिसे पारमार्थिक हानि

आध्यात्मिकमार्गमें सिद्धिका स्थान क्या है, इस विषयमें विभिन्न देशों तथा विभिन्न कालोंमें नाना प्रकारकी बातें कही गयी हैं। यहाँपर उन सबकी चर्चा करना अप्रासङ्गिक मालूम होता है। फिर भी सिद्धिकी सार्थकता

क्या है एवं कौन सिद्धि किस समयमें आध्यात्मिक साधनामें बाधक समझी जाने योग्य है, इसका यहाँ विचार करना आवश्यक है। बहुत लोगोंका ऐसा विश्वास है कि सिद्धि वाञ्छनीय नहीं और उसकी प्राप्ति होनेपर मुमुक्षु योगीके योगमार्गमें विघ्न उत्पन्न होता है। इस विश्वासके मूलमें कुछ सत्य है, इसमें कोई सन्देह नहीं। परन्तु असलमें यह विश्वास भ्रान्त मालूम होता है, क्योंकि प्रत्येक वस्तुका सत् और असत् दो प्रकारका व्यवहार हो सकता है। व्यवहारके दोषसे वस्तु-सत्ता आक्रान्त नहीं होती। अग्निका स्पर्श करनेसे अबोध शिशुकी सुकुमार देह जल जाती है, इस कारणसे अग्निकी निन्दा करना अथवा उसका त्याग करना बुद्धिमानीका काम नहीं। अग्नि अपने स्वभावके अनुसार अवश्य कार्य करेगी। जो उसके स्वभावको जानकर और उसे नियन्त्रित करके अपना अभीष्ट कार्य पूरा कर सकता है, उसीको चतुर कहना उचित है। अग्निसे व्यवहारानुसार अच्छा या बुरा दोनों प्रकारका कार्य सम्पन्न होता है। परन्तु इसी कारण अग्निको उन सब कार्योंका दायी मान लेनेसे काम नहीं चलता। शक्तिमात्रको इसी प्रकार समझना चाहिये।

मधुमती भूमि और योगके विघ्न

भगवान् पतञ्जलिका नाम जिस योगसम्प्रदायके साथ संश्लिष्ट है, उसमें चार प्रकारके योगियोंका निर्देश मिलता है। उनमें प्रथम अवस्थापन्न योगियोंको 'प्रथमकल्पिक' कहा गया है। ये लोग अष्टाङ्गयोगसम्पन्न होनेपर ही योगभूमिमें सद्य प्रवेश करते हैं, इसलिये इनकी गणना सबसे निम्न श्रेणीमें होती है। ये स्थूल समाधि-सिद्ध हैं अर्थात् वितर्कानुगत समाधिमें अधिकार प्राप्त करनेके कारण इनमें अन्तर्ज्योतिका स्फुरण होना आरम्भ हुआ है। चित्त समाहित हुए बिना ज्योतिका उन्मेष नहीं हो सकता। परन्तु ज्योतिका आविर्भाव होनेपर भी उसकी क्रमशः शुद्धि होनेकी आवश्यकता है। जबतक उसकी विशुद्धि नहीं होती तबतक तत्त्वोंको जीतकर (अर्थात् अपने वशमें करके) स्वय योगकी उच्च भूमिपर नहीं पहुँचा जा सकता।

प्रथमकल्पिक अवस्थाके बाद योगी 'मधुमती' नामक योगकी दूसरी भूमिमें पदार्पण करते हैं। इस समय उनका चित्त अत्यन्त विशुद्ध होता है, इस कारण पदस्थ देवता, ऋषि, अप्सरा इत्यादि अनेकों उनके पास उपस्थित होकर नाना प्रकारके अलौकिक प्रलोभनोंके द्वारा उन्हें भुलानेकी चेष्टा करते हैं। ऐसी अवस्थामें साधारणतः मनुष्यके हृदयमें आसक्ति और अहङ्कारका भाव जग उठना स्वाभाविक है। परन्तु जो योगी गुणातीत आत्मस्वरूपमें प्रतिष्ठित होनेके लिये उद्यत हैं, उनके लिये ये सब क्षुद्र प्रलोभन सर्वथा उपेक्षाके योग्य हैं। जब वे संयत होकर चित्तमें बलका सञ्चय करके साधनपथपर अग्रसर होते हैं तब क्रमशः इन सब भयोंसे छुटकारा पा जाते हैं। यह मधुमती अवस्था ही योगियोंकी परीक्षाकी अवस्था है। प्रथम भूमिमें चित्त सम्यक् रूपसे विशुद्ध न रहनेके कारण देवता आदिके इस तरहके प्रलोभन देनेकी सम्भावना नहीं रहती। तथा तृतीय अवस्थामें समस्त प्रलोभनकी वस्तुएँ योगियोंके अपने सङ्कल्पके द्वारा निर्मित हो सकती हैं और योगी साधक स्वयं दिव्यभावापन्न होते हैं, इस कारण उनके लिये भी विशेष आशङ्काकी सम्भावना नहीं रहती।

तृतीय अवस्थामें योगी विशोधित प्रज्ञाज्योतिके द्वारा पञ्चभूतोंकी पाँच प्रकारकी अवस्थाओं तथा पञ्चेन्द्रियकी भी उसी प्रकारकी पञ्चविध अवस्थाओंके ऊपर अधिकार प्राप्त करके भूतजयी और इन्द्रियजयी हो जाते हैं। भूतजय होनेपर योगी वज्रके समान सिद्धदेह प्राप्त करते हैं और अणिमा, लघिमा, महिमा, गरिमा आदि अष्ट महासिद्धियाँ प्राप्त करते हैं। ऐसे योगीकी देहपर पञ्चभूतोंके प्रभावसे आघात नहीं होता अर्थात् भौतिक पदार्थोंके गुण योगी-देहमें अपनी क्रिया नहीं करते। इन्द्रियजयद्वारा मनोजयित्व, विकरणभाव तथा प्रधान या मूलप्रकृतिपर विजय प्राप्त हो जाती है। योगशास्त्रमें इन सब सिद्धियोंका वर्णन 'मधुप्रतीक' के नामसे किया गया है। जिन योगियोंने भूतजयी तथा इन्द्रियजयी होकर इस प्रकार अलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त कर ली हैं, वे अधिकांशमें देवताओंके स्तरसे, शक्ति और शुद्धिमें ऊपर उठ गये हैं, यह निश्चित है। अतएव साधारण देवताके द्वारा उन्हे लोभमें डाले जानेकी कोई सम्भावना नहीं रहती। विशेषकर पञ्चभूत तथा पञ्चेन्द्रियपर योगियोंका अधिकार होनेके कारण उन्हें सृष्टि, स्थिति और संहार करनेकी शक्ति प्राप्त हो जाती है और उनके चित्तमें विमल वैराग्यकी छटा छिटकी होनेके कारण वे ऐसा कोई भी अभाव अनुभव नहीं करते जिसकी निवृत्तिके लिये किसी भी प्रलोभनमें पड़नेकी सम्भावना हो।

इस प्रकार साधनाक्रमसे जब योगी भूतेन्द्रियराज्यको

अतिक्रमण करके 'अस्मिता' तत्त्वमें प्रतिष्ठित होते हैं तब वे सर्वज्ञ हो जाते हैं तथा सर्वदा सब भावोंमें अवस्थान करनेकी शक्ति प्राप्त कर लेते हैं। योगशास्त्रकी भाषामें इसीका दूसरा नाम 'विशोका सिद्धि' है। यही वास्तविक जीवन्मुक्त योगियोंकी अवस्था है। इसके बाद पर-वैराग्यके साथ ही साथ त्रिगुणका राज्य क्रमशः समाप्त हो जाता है और योगी समग्र हृदय तथा चिन्तनीय पदार्थोंकी सीमा पार करके, ऊपर उठकर अव्यक्त परमपदमें स्थित हो जाते हैं। यही चौथे प्रकारके योगियोंका स्वरूप है। भाष्यकार व्यासजीने इस सर्वश्रेष्ठ योगभूमिको 'अतिक्रान्तभावनीय' नाम दिया है।

हठयोग

हठयोगके आदि आचार्य कौन थे, यह बतलाना तो बहुत कठिन है। हमारे भारतवर्षीय आचार्योंका यह सिद्धान्त है कि सभी शास्त्रोंकी प्रथम प्रवृत्ति परमेश्वरसे ही होती है। इस कारण हठयोग भी ईश्वरप्रोक्त कहा जाता है। हठयोगी कहा करते हैं कि आदिनाथ श्रीशिवजी ही हठयोगके प्रवर्तक हैं। जिस विचित्र उपायसे मत्स्येन्द्रनाथने इस विद्याको प्राप्त किया था उसका ऐतिहासिक मूल्य कितना है, यह नहीं कहा जा सकता। हाँ, इस सम्बन्धमें एक दन्तकथा हठयोगके बहुत-से ग्रन्थोंमें मिलती है। मत्स्येन्द्रनाथकी तरह गोरखनाथ, चर्पटि, जलन्धर, कनेड़ी, चतुरगी, विचारनाथ आदि नाथ-सम्प्रदायके आचार्योंने हठयोगमें निष्णात होकर ससारमें इसका प्रचार किया था। इस सम्प्रदायके इतिहास तथा शास्त्रकी आलोचना करनेपर हठविज्ञानकी बहुत-सी अवश्य जानने योग्य बातें मालूम हो सकती हैं। गोरक्षशतक, गोरक्षसहिता, सिद्ध-सिद्धान्तपद्धति, सिद्ध-सिद्धान्तसग्रह, गोरक्षसिद्धान्त-सग्रह, अमनस्क, योगबीज, हठयोगप्रदीपिका, हठतत्त्व-कौमुदी, घेरण्डसहिता, निरञ्जनपुराण इत्यादि बहुत-से साम्प्रदायिक ग्रन्थ आज भी मिलते हैं।

मत्स्येन्द्रनाथ और गोरखनाथके पूर्व भी हठयोगका प्रचलन था, इसमें सन्देह नहीं। कहा जाता है कि प्राचीन कालमें मार्कण्डेय मुनि इस योगके साधक थे।

> द्विधा हठः स्यादेकस्तु गोरक्षादिसुसाधकैः।
> अन्यो मृकण्डपुत्राद्यैः साधितो हठसञ्ज्ञकः॥

गोरक्षोक्त हठयोगके छः अंग हैं—उसमें यम और नियम ग्रहण नहीं किये जाते। परन्तु मार्कण्डेय अष्टाङ्ग हठयोगके पक्षपाती थे। योगतत्त्व-उपनिषद्में भी हठयोगके आठ प्रकारके अङ्ग बतलाये गये हैं।

हठयोगकी पूर्ण परिणति राजयोग है। पातञ्जलदर्शनमें असम्प्रज्ञात समाधिके नामसे इसीका वर्णन किया गया है। हठयोगकी नियमित साधनाके द्वारा राजयोगकी सिद्धि होती है, इसी कारण आचार्यगण हठयोगका राजयोगके सोपानके रूपमें वर्णन किया करते हैं। इस राजयोगके प्रभावसे ही साधनशील जीव कालके पराक्रमसे छुटकारा पानेमें समर्थ होता है। हठयोगप्रदीपिकाके मतानुसार समाधि, उन्मनी, मनोन्मनी, अमरत्व, लय, तत्त्व, परमपद, अमनस्क, अद्वैत, निरालम्ब, निरञ्जन, जीवन्मुक्ति, सहज, तुरीय—ये सब राजयोगके नामान्तर हैं। स्वात्मारामने स्पष्ट ही कहा है कि कुम्भकद्वारा प्राणकी गति रुद्ध हो जानेपर चित्त निरालम्ब हो जाता है। ब्रह्मानन्दने भी अपनी टीकामें स्पष्ट लिखा है कि जिस समय सम्प्रज्ञात समाधिके बाद ब्रह्माकार स्थितिका उदय होता है उस समय पर-वैराग्य धारण करके चित्तको सम्यक् प्रकारसे निरुद्ध करना जरूरी है। इससे यह स्पष्ट ही समझमें आ सकता है कि हठयोगसे स्वभावतः राजयोगका विकास होता है।

देहशुद्धि हठयोगका अव्यवहित उद्देश्य है। योगियोंकी पारिभाषिक भाषामें यह घटशुद्धिके नामसे विख्यात है। घेरण्डसहिताका मत है कि हठशास्त्रोक्त धौति, वस्ति, नेति, त्राटक, नौलि एव कपालभाति—इस षट्कर्मद्वारा देहकी शुद्धि होती है। देहकी दृढता और स्थिरता आसन और मुद्राका अभ्यास करनेसे सिद्ध होती है। तथा प्रत्याहार, प्राणायाम, ध्यान और समाधिके द्वारा क्रमशः दैहिक धीरता, लघुता, आत्मप्रत्यक्ष तथा निर्लेपता सुसम्पन्न होती है। अनेक आचार्य आसन, प्राणायाम अथवा कुम्भक, मुद्रा या करण तथा नादानुसन्धान—इन चारको हठयोगका प्रधान प्रतिपाद्य विषय कहते हैं। इनमें आसनका अभ्यास विधिवत् करनेसे देहकी स्थिरता, निरोगता तथा लघुता सम्पन्न होती है। 'आसनेन रजो हन्ति'—यह सिद्धान्त योगिसम्प्रदायमें अत्यन्त प्रसिद्ध है। दीर्घ कालतक विधिके साथ आसनका अभ्यास करनेसे रजोगुणजनित देहकी चञ्चलता और मनकी अस्थिरता दूर हो जाती है। रोग विक्षेपका एक प्रधान कारण है—आसनके अभ्याससे

उसकी भी निवृत्ति हो जाती है। इस अभ्याससे तमोगुणकी क्रियासे उत्पन्न देहका भारीपन भी दूर होता है। देहमें सात्त्विक तेजकी वृद्धि होनेसे तमोगुणका ह्रास होता है और स्वभावतः ही देह हलकी हो जाती है। बार-बार अभ्यास करके आसनको स्थिर कर लेनेपर प्राणायामकी क्रिया सहजसाध्य हो जाती है। परन्तु नाडी-चक्र नाना प्रकारसे आच्छन्न रहनेके कारण वायु सुषुम्ना-मार्गमें प्रवेश नहीं कर सकती। इसीलिये प्राण-संग्रहके पहले नाडी-शोधनकी आवश्यकता होती है। नाडी विशुद्ध हुए बिना उन्मनी-भाव अथवा मनोनिवृत्तिकी कोई आशा नहीं रहती। विधिपूर्वक प्राणायाम करनेसे सुषुम्नानाडीके अन्दरका समस्त मल नष्ट हो जाता है। शाण्डिल्य उपनिषद्के मतानुसार नाडीशोधन-प्राणायाम कई महीनेतक नित्य दो बार करना चाहिये*। देहकी कृशता, कान्ति, इच्छानुसार वायु-धारण करनेका सामर्थ्य, अग्निवृद्धि, नादकी अभिव्यक्ति और आरोग्यता—ये सब लक्षण जब क्रमशः आविर्भूत हो जायँ तब समझना चाहिये कि सब नाडियाँ शुद्ध हो गयी हैं†। त्रिशिखिब्राह्मण-उपनिषद्में लिखा है कि यम, नियम और आसन सिद्ध हुए बिना प्राणायाम यथार्थ-रूपमें नहीं किया जा सकता। अतएव उस अवस्थामें नाडी-शुद्धिकी चेष्टा करना अनुचित है। हठाचार्योंका कहना है कि सब साधकोंके लिये षट्कर्मकी आवश्यकता नहीं होती। वायु, पित्त या कफ, इन तीनों दोषोंमेंसे किसी एक या दोकी अधिकता होनेपर षट्कर्मकी सहायता लेना आवश्यक है। घटशुद्धिकी तरह स्थूलताका नाश इत्यादि भी हठयोगका एक अव्यवहित फल है। याज्ञवल्क्य प्रभृति आचार्य कहते है कि जब एकमात्र प्राणायामके द्वारा ही समस्त मलकी निवृत्ति हो जाती है तब षट्कर्मकी कोई विशेष आवश्यकता नहीं प्रतीत होती।

मुद्रासाधनका उद्देश्य यह है कि इससे ब्रह्मद्वार या सुषुम्ना-मुखसे निद्रिता कुलकुण्डलिनी जाग्रत् होकर ऊपरकी ओर उठती है। कुण्डलिनीके जागनेपर चक्र, और ग्रन्थि सबका भेदन होता है, प्राण अनायास सुषुम्नामें प्रवेश करता है, चित्त निरालम्ब होता है और मृत्युभय छूट जाता है। आधारशक्तिरूपा कुण्डलिनी समस्त योगाभ्यासका मूल अवलम्ब है। मुद्रा आठ प्रकारकी है और मुद्राके अभ्यासका फल है अष्टैश्वर्य-प्राप्ति।

योगकी कुछ आवश्यक बातें

त्रियोग—कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग।

योगचतुष्टय—हठयोग, लययोग, मन्त्रयोग और राजयोग।

द्विविध निष्ठा—सांख्ययोग और कर्मयोग।

द्विविध प्रकृति—परा और अपरा।

त्रिविध पुरुष—क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम (जगत्, जीव और भगवान्)।

वेदान्तके चार महावाक्य—अहं ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि, प्रज्ञानं ब्रह्म, अयमात्मा ब्रह्म।

सप्तज्ञानभूमिका—शुभेच्छा, विचारणा, तनुमानसा, सत्त्वापत्ति, असंसक्ति, पदार्थाभाविनी, तुर्यगा।

साधनचतुष्टय—नित्यानित्यवस्तुविवेक, वैराग्य, षट्-सम्पत्ति (शम, दम, तितिक्षा, उपरति, श्रद्धा, समाधान), मुमुक्षुत्व।

त्रिविध नरकद्वार—काम, क्रोध, लोभ।

त्रिविध ज्ञानद्वार—श्रद्धा, तत्परता, इन्द्रियसंयम।

भक्तिके चार महावाक्य—कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्, मत्तः परतरं नान्यत्, ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्, मामेकं शरणं व्रज।

द्विविधा भक्ति—अपरा या गौणी, परा या रागानुगा।

नवधा भक्ति—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य, आत्मनिवेदन।

पञ्चभाव—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य, मधुर।

---

* टीकाकार कहते हैं कि ४२ दिन अथवा ३ मास, अथवा ४ मास, ७ मास या एक सालतक इस प्राणायामका विधान है।

† हठयोगप्रदीपिकामें तथा दशम उपनिषद्में कृशताकी बात आती है। शाण्डिल्य उपनिषद्में कृशताकी जगह लघुता शब्दका प्रयोग हुआ है। योगतत्त्व-उपनिषद्में एक ही साथ कृशता और लघुता दोनों पाठ मिलते हैं। शिवसंहिताके मतमे नाडी शुद्ध हो जानेपर दोष नष्ट हो जाते हैं, देहमें साम्य, सुगन्धि और कान्तिकी आभा प्रस्फुटित हो उठती है तथा स्वरमें माधुर्य सिद्ध हो जाता है।

अष्ट सात्त्विक भाव—स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभङ्ग, कम्प, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय ।

प्रेमकी तीन अवस्थाएँ—पूर्वराग, मिलन और वियोग ।

त्रिविध विरह—भूत, वर्तमान और भावी ।

विरहकी दश दशाएँ—चिन्ता, जागरण, उद्वेग, कृशता, मलिनता, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, मोह और मृत्यु ।

चतुर्विध भाव—भावोदय, भावसन्धि, भावशाबल्य और भावशान्ति ।

द्विविध महाभाव—रूढ और अधिरूढ ।

द्विविध अधिरूढ महाभाव—मोदन और मादन (या मोहन)।

आसन—चौरासी या एक सौ आठ । प्रधान दो—पद्मासन और स्वस्तिकासन ।

मुद्रा और बन्ध—अनेक हे । परन्तु पचीस मुख्य हैं। उनके नाम हैं—महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डीयानबन्ध, जालन्धरबन्ध, मूलबन्ध, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, विपरीतकरणी, योनि, वज्रोली, शक्तिचालनी, तडागी, माण्डवी, शाम्भवी, अश्विनी, पाशिनी, काकी, मातङ्गी, भुजङ्गिनी और पाँच धारणाएँ (पार्थिव, आम्भसी, वैश्वानरी, वायवी और आकाशी)।

षट्कर्म—धोति, गजकरणी, वस्ति, नौलि, नेति और कपालभाति । कोई-कोई त्राटकसमेत सात मानते हैं ।

प्राणायाम—पूरक, कुम्भक और रेचक ।

चतुर्विध पातञ्जलोक्त प्राणायाम—आभ्यन्तर, बाह्य और दो प्रकारके केवल प्राणायाम ।

अष्टविध प्राणायाम—सूर्यभेदन, उज्जायी, सीत्कारी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा और प्लाविनी । कुछ लोग अनुलोम-विलोमको जोड़कर नौ प्रकार मानते हैं ।

दैनिक श्वास—२१६००।

योगसाधनमें तीन प्रधान नाडियाँ—इडा, पिङ्गला, सुषुम्ना ।

दश वायु—प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय ।

योगके षट्चक्र—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा ।

योगके सप्त चक्र—उपर्युक्त छः और सातवाँ सहस्रार ।

योगके नौ चक्र—उपर्युक्त सात और आठवाँ तालुमें लल्नाचक्र और नवाँ ब्रह्मरन्ध्रमें गुरुचक्र ।

षोडश आधार—१ दहिने पैरका अँगूठा, २ गुल्फ, ३ गुदा, ४ लिङ्ग, ५ नाभि, ६ हृदय, ७ कण्ठकूप, ८ तालुमूल, ९ जिह्वामूल, १० दन्तमूल, ११ नासिकाग्र, १२ भ्रूमध्य, १३ नेत्रमण्डल, १४ ललाट, १५ मस्तक और १६ सहस्रार ।

तीन ग्रन्थि—ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि और रुद्रग्रन्थि ।

त्रिमार्ग—पिपीलिका-मार्ग, दार्दुर-मार्ग और विहङ्गम-मार्ग ।

त्रिशक्ति—ऊर्ध्वशक्ति (कण्ठमें), अधःशक्ति (गुदामें) और मध्यशक्ति (नाभिमें) ।

पञ्चभूत—पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश ।

पञ्चाकाश—आकाश, महाकाश, पराकाश, तत्त्वाकाश और सूर्याकाश ।

वर्ण—पचास ('अ' से 'ह' तक) ।

त्रिविध मन्त्र—पु, स्त्री, क्लीब ।

चतुर्विध वाणी—परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी ।

योगके आठ अंग—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ।

यम—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ।

नियम—शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान ।

संयम—धारणा, ध्यान और समाधि ।

क्रियायोग—तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान ।

द्विविध ध्यान—भेदभावसे और अभेदभावसे ।

द्विविध समाधि—सम्प्रज्ञात या सबीज और असम्प्रज्ञात या निर्बीज ।

असम्प्रज्ञात समाधिके चार भेद—वितर्कानुगम, विचारानुगम, आनन्दानुगम और अस्मितानुगम ।

असम्प्रज्ञातके दो भेद—भवप्रत्यय, उपायप्रत्यय ।

पञ्चवृत्ति—मूढ, क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध ।

पञ्चक्लेश—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ।

सप्तसाधन—शोधन, दृढ़ता, स्थैर्य, धैर्य, लाघव, प्रत्यक्ष और निर्लिप्तता ।

योगके विघ्न—व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, विषयतृष्णा, भ्रान्ति, फलमें सन्देह, चित्तकी अस्थिरता, दुःख, मनकी खराबी, देहकी चञ्चलता, अनियमित श्वास-प्रश्वास, अनियमित और उत्तेजक आहार, अनियमित निद्रा, ब्रह्मचर्यका नाश, नकली गुरुका शिष्यत्व,

सच्चे गुरुका अपमान, भगवान्में अविश्वास, सिद्धियोंकी चाह, अल्प सिद्धिमें ही पूर्ण सफलता मानना, विषयानन्द, पूजा करवाना, गुरु बनना, दम्भ करना ।

अष्ट महासिद्धि—अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व और यत्रकामावसायित्व । कुछ लोग इनमें 'गरिमा' जोड़कर इनकी संख्या ९ कर देते हैं ।

चतुर्विध साधक—मृदु, मध्य, अधिमात्र और अधिमात्रतम ।

चार अवस्थाएँ—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीया ।

पिपीलिकामार्ग और विहङ्गममार्ग

(लेखक—गङ्गोत्तरीनिवासी परमहंस परिव्राजकाचार्य दण्डिस्वामी श्रीशिवानन्दजी सरस्वती)

हिन्दुओंके वेद, वेदान्त, उपनिषद्, पुराण, उपपुराण, संहिता, धर्मशास्त्र और तन्त्रशास्त्र, सभी एक स्वरसे कहते हैं कि साधनजगत्में साधकको मुक्ति प्रदान करनेवाले दो प्रशस्त मार्ग विद्यमान हैं । उनमें एकका नाम है पिपीलिकामार्ग और दूसरेका नाम है विहङ्गममार्ग । अतएव यह जिज्ञासा होती है कि ये दोनों मार्ग क्या हैं ? तथा इन दोनों मार्गोंके प्रवर्तक कौन हैं ?

> शुकश्च वामदेवश्च द्वे सृती देवनिर्मिते ।
> शुको विहङ्गमः प्रोक्तो वामदेवः पिपीलिका ॥
> अतद्व्यावृत्तिरूपेण साक्षाद्विधिमुखेन वा ।
> महावाक्यविचारेण सांख्ययोगसमाधिना ॥
> विदित्वा स्वात्मनो रूपं सम्प्रज्ञातसमाधितः ।
> शुकमार्गेण विरजाः प्रयान्ति परमं पदम् ॥
> यमाद्यासनजायासहठाभ्यासात्पुनः पुनः ।
> विघ्नबाहुल्यसञ्जात अणिमादिवशादिह ॥
> अलब्ध्वापि फलं सम्यक् पुनर्भूत्वा महाकुले ।
> पूर्ववासनयैवायं योगाभ्यास पुनश्चरन् ॥
> अनेकजन्माभ्यासेन वामदेवेन वै पथा ।
> सोऽपि मुक्तिं समाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥
> द्वाविमावपि पन्थानौ ब्रह्मप्राप्तिकरौ शिवौ ।
> सद्योमुक्तिप्रदश्चैकः क्रममुक्तिप्रदः परः ॥
>
> (वराहोपनिषद्)

काम-क्रोधादि रिपुओंसे सङ्कुलित इस संसाररूपी महारण्यके सुदीर्घ मार्गमें संसार-पथ-श्रान्त-क्लान्त जीवके नित्य-सुख, परमशान्ति, स्थायी आनन्दके लीला-निकेतन निज भवनमें उपनीत होनेके लिये देवनिर्मित सुप्रशस्त दो मार्ग विद्यमान हैं—शुकमार्ग और वामदेवमार्ग । उनमें बालविरागी परम आत्मज्ञानी शुकदेवके द्वारा उपदिष्ट मार्गको विहङ्गममार्ग तथा वामदेवके द्वारा उपदिष्ट मार्गको पिपीलिकामार्ग कहा गया है । शुकदेवमार्ग और वामदेवमार्ग इन दोनों मार्गोंका अनुसरण करनेसे संसार-पथ-श्रान्त-क्लान्त जीवको मुक्तिकी प्राप्ति हो सकती है । परन्तु शुकदेवोपदिष्ट मार्गका अनुसरण करनेवाला महावाक्यविचारद्वारा अथवा सांख्ययोगसमाधिद्वारा अपने हृदयकमलके रक्त दलमें सजल जलद-जालमध्य चकितोज्ज्वला विद्युन्मालाके समान कोटिसूर्यप्रदीप्त, कोटिचन्द्रोत्फुल्ल, चिर-उज्ज्वल, चिर-ज्योतिष्मान् स्वस्वरूपको जानकर अनायास चिर-सुखशान्तिमय ब्रह्मानन्दसुखाह्वय परमपद मोक्षसाम्राज्यको प्राप्त करता है । और वामदेवमार्गका अनुसरण करनेवाला संसार-पथ-श्रान्त-क्लान्त जीव यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधिरूप अष्टाङ्ग हठयोगका अभ्यास कर विघ्नबाहुल्यसञ्जात अणिमादि अष्ट सिद्धियोंको प्राप्त करता हुआ, कभी ऊर्ध्वगामी और कभी अधःपतित होता हुआ असीम सुषमाकर अनन्त वैचित्र्यपूर्ण नाना जीव-सङ्कुल, शोभनसौन्दर्यमय सुविशाल मर्त्यधामको पुनः लौटकर अतुल ऐश्वर्यका अधीश्वर होकर, राजराजेश्वरकी सुधाधवलित आकाशभेदी सुरम्य हर्म्यावलीमें निवास करता हुआ, पार्थिव सुखैश्वर्यको प्राप्त होता है, अथवा अणिमादि अष्टसिद्धिरूप फलको बिना प्राप्त किये सत्कुलमें जन्म लेकर, पूर्वाभ्यासद्वारा पुनः योगाभ्यास करते-करते, सौभाग्यसे ज्ञानोदय होनेपर परमशान्ति—मुक्ति प्राप्त करनेमें समर्थ होता है । अतएव यह ज्ञात हुआ कि वामदेवोपदिष्ट मार्गका अनुसरण करनेवाला जीव उत्थान-पतनके विवर्त्तनमें पड़कर अनेक जन्मोंके बारबार प्राप्त किये हुए ज्ञानके क्रमविकाससे अनेकों जन्मोंके अन्तमें परमपदलाभ करनेमें समर्थ होता है । परन्तु बालविरागी, ज्ञानरसिक शुकदेवके द्वारा उपदिष्ट

मार्गका अनुसरण करनेवाला जीव केवल भक्तिरसमें अपने हृदयको आप्लुतकर महावाक्यविचारद्वारा, सांख्ययोग-स्थितिद्वारा अथवा असम्प्रज्ञात समाधिमें स्थित होकर क्षिप्त मनको शान्तकर षड्रिपुओंका दमन कर, इन्द्रियोंके मार्ग-का अवरोध कर मिथ्या आडम्बरको त्यागकर, निर्लिप्तचित्त होकर, अपने हृदयकमलके रक्त स्तवकमें—

गतिर्भर्ता प्रभु साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।

—त्रितापहारी सनातनसखा जगज्ज्योतिकी दिव्य-द्युतिका निरीक्षण कर, ब्रह्मसायुज्यकारिणी, मोक्षद्वारके कपाटको अनावृत करनेवाली भक्तिदेवीके प्रसादसे देव-दुर्लभ मुक्तिलाभ करता है। अतएव शुकदेवमार्ग और वामदेवमार्ग, ये दोनों ही मार्ग ब्रह्मप्राप्तिकर और मङ्गलजनक हैं। इनमें विशेषता यही है कि शुकदेवमार्गका अनुसरण करनेवाला जीव आत्मकल्याणमें निरत होकर शीघ्र ही अभीष्टलाभ करनेमें समर्थ होता है, और वामदेवमार्गका अनुसरण करनेवाला जीव एक जन्ममें समर्थ नहीं होता, कितने ही युग-युगान्तर घूमते-घूमते अनेकों जन्म योगाभ्यासमें व्यतीतकर अनेक जन्मजन्मान्तरके वारवार प्राप्त ज्ञानके विकाससे अभीष्ट-लाभ करनेमें समर्थ होता है। अतएव बालविरागी शुकदेवके द्वारा उपदिष्ट मार्ग ही सद्योमुक्तिप्रद है। तथा योगिराज वामदेवके द्वारा उपदिष्ट मार्ग क्रममुक्तिप्रद है। तथापि दोनों ही मार्ग जीवके लिये कल्याणप्रद हैं। क्योंकि—

> शुको मुक्तो वामदेवोऽपि मुक्त-
> स्ताभ्यां विना मुक्तिभाजो न सन्ति।
> शुकमार्गं येऽनुसरन्ति धीराः
> सद्यो मुक्तास्ते भवन्तीह लोके॥
> वामदेवं येऽनुसरन्ति नित्यं
> मृत्वा जनित्वा च पुनः पुनस्तत्।
> ते वै लोके क्रममुक्ता भवन्ति
> योगैः साङ्ख्यैः कर्मभिः सत्त्वयुक्तैः॥
>
> (वराहोपनिषद्)

ज्ञान-वैराग्य-रसिक बालविरागी शुकदेव गोस्वामी अथवा योगिराज वामदेव दोनो ही मुक्त पुरुष हैं। परन्तु इनमेंसे एकने तो शीघ्र ही मुक्तिलाभ किया है। और दूसरेने अनेकों जन्मोंके अन्तमें मुक्तिलाभ किया है। यही इन दोनोंमें अन्तर है। अतएव इन दोनों मार्गोंमें जो बालविरागी, वैराग्यरसिक शुकदेवके मार्गका अनुसरण करेंगे, वे अनायास ही सद्योमुक्तिलाभ करेंगे और जो उसे छोड़कर आयाससाध्य योगिराज वामदेवके मार्गका अनुसरण करेंगे वे पुनः-पुनः जन्म-मृत्युके विवर्त्तनमें पड़कर युगयुगान्तरके आवागमनके पश्चात् अनेक जन्मोंके पुण्यप्रभावसे अनेक जन्म धारणकर अष्टाङ्गयोगसाधन, सांख्ययोगसाधन तथा कर्मानुष्ठान कर साधनसम्पत्तिसे युक्त होकर सत्त्वगुणसे भूषित हो शुद्ध सत्त्वबुद्धिद्वारा अनेकों ज्ञानान्वेषण, प्रमाण-पर्यवेक्षण, ध्यान-धारणादिके द्वारा आत्मज्ञान होनेपर जन्म-जन्मान्तरके सञ्चित ज्ञानके क्रमिक विकाससे क्रममुक्ति प्राप्त करेंगे।

गीताका योग

(लेखक—श्रीगीतानन्दजी शर्मा)

श्रीगीतामाहात्म्यमें कहा है—

> सर्वोपनिषदो गावो ··· ···
> ··· ··· दुग्धं गीतामृतं महत्॥

अर्थात् 'गीतामाहात्म्य'कारकी सम्मतिमें गीता केवल उपनिषद् ही नहीं, किन्तु उपनिषदोंकी भी उपनिषद् है। गीताके उपनिषद् होनेमें यह प्रमाण अवश्य ही अन्तर्भूत है। अन्तर्भूत प्रमाण गीताके प्रत्येक अध्यायके अन्तमें कहा जानेवाला वाक्य है—अर्थात् 'इति श्रीमद्-भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ··· ···' इत्यादि। इसपर यदि यह शङ्का हो कि यह वाक्य गीताकारका ही है—इस बातका कोई प्रमाण नहीं, हो सकता है कि किसी औरका हो, तो इसका अति सरल और सोपपत्तिक निराकरण यह है कि गीताके उपसंहारमें सञ्जयने 'इत्यहं वासुदेवस्य' (१८।७४) इत्यादिसे 'तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य।' (१८।७७) तक जो चार श्लोक कहे हैं उन्हींके आधारपर 'इति श्रीमद्-भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ··· ···' इत्यादि वाक्यकी रचना हुई है, यह बात उन श्लोकोंके साथ इस वाक्यको मिलाकर देखनेसे स्पष्ट ही प्रतीत हो जायगी। वे चार श्लोक ये हैं—

> इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।
> संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम्॥७४॥

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद् गुह्यमहं परम्।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥७५॥
राजन् संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम्।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥७६॥
तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः ॥७७॥

१ इति	··· ···	इत्यहमश्रौषम्
२ श्रीमत्	·· ···	रूपमत्यद्भुतम्
३ भगवत्	··· ···	साक्षात् योगेश्वरात्
४ गीतासु	· · · ·	कथयतः
५ उपनिषत्सु	··· ···	परम्
६ ब्रह्मविद्यायां	··· ··	गुह्यम्
७ योगशास्त्रे	··· ···	योगम्
८ श्री	··· ···	महात्मन.
९ कृष्णार्जुन	··· ···	केशवार्जुनयोः
१० सवादे	··· ···	सवादम्
११ (अमुक) योगो नाम	···	हृष्यामि मुहुर्मुहुः
१२ (अमुक) अध्यायः	···	सस्मृत्य सस्मृत्य।

इस अन्त.स्थ प्रमाणसे गीताका उपनिषद् होना निर्विवाद सिद्ध है। इसपर यह आपत्ति हो सकती है कि उपनिषद् होनेपर भी ऋषिगीत न होनेसे आर्ष उपनिषद् नहीं है—भागवत उपनिषद् है। यह तो इष्टापत्ति ही है। इससे इसका उपनिषदोंकी भी उपनिषद् होना सिद्ध हुआ।

इससे यह भी फलित हुआ कि गीताके पदोका (विशेषतः पारिभाषिक पदोका) वही अर्थ ग्राह्य है जो उपनिषद्के अनुसार सिद्ध हो।

गीताका प्रतिपाद्य विषय योग है। भगवान्का ही वचन है—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।

'यह योग हमने विवस्वान्से कहा था।'

सजय भी साक्षी हैं—'व्यासप्रसादाच्छ्रुतवान् ··· योगम्'—'व्यासदेवकी कृपासे मैंने यह योग सुना।' इसलिये इस लेखमें उपनिषद्की दृष्टिसे 'योग' शब्दका ही विचार करें।

परमात्माने 'अग्रे' सृष्टिविषयक जो 'ईक्षण' किया उसका स्वरूप यह था—'एकोऽहं बहु स्यां प्रजायेय।' अर्थात् मैं एक हूँ, बहुत होऊँ, शरीर धारण करूँ।

इस सङ्कल्पके 'बहु स्याम्' अशकी पूर्ति हुई, तब 'बहुत्व' की—'संख्या'की सृष्टि हुई—अनेक जीव उत्पन्न हुए, अथवा यों कहिये कि भगवान् एक थे, अब अनेक हुए। यह भगवान्का 'संख्या' के साथ योग हुआ। भगवान् अनेक हैं, अनेक होते हुए भी एक हैं। यह भगवान्का 'सांख्ययोग' है। भगवान्ने अर्जुनको पहले यही 'सांख्ये बुद्धि.' दी। इसीका नामान्तर सात्त्विक 'कर्मचोदना' है। इस सात्त्विक ज्ञानकी दृष्टिसे नानात्व मिथ्या है। राजस ज्ञानकी दृष्टिसे वह सत्यवत् प्रतीत होता है। वस्तुत., 'नाय हन्ति न हन्यते'—यही सिद्धान्त है।

परमात्माके सङ्कल्पके शेष अश 'प्रजायेय' की जब पूर्ति हुई तब आत्माका शरीरसे योग हुआ। और फिर—

तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्। सच्च त्यच्चाभवत्। निरुक्तं चानिरुक्तं च। निलयनं चानिलयनं च। विज्ञानं चाविज्ञानं च। सत्यं चानृतं च।

'उसका सृजन कर उसमें परमात्माने प्रवेश किया। वह सत् भी हुआ और असत् भी हुआ, निरुक्त भी और अनिरुक्त भी, निलयन भी और अनिलयन भी, सत्य भी और असत्य भी।'

अर्थात् क्रमसे अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय शरीरपञ्चकमें प्रवेश करके भी—उपनिषद्की भाषामें 'शारीर आत्मा' होकर भी—वह अन्नमयातीत, प्राणमयातीत, मनोमयातीत, विज्ञानमयातीत और आनन्दमयातीत बने रहे। ब्रह्मसूत्रके शारीरक-भाष्यमें इसकी विशेष मीमांसा है।

यह परमात्माका शरीरके साथ योग है। गीतामें इसे केवल 'योग' कहा है। यथा—

बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥४॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥५॥
महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥६॥

दशमाध्यायके इन श्लोकोंमें प्रजाकी प्रवृत्ति और सृष्टि कथन करके इसे ही इसके बादके श्लोकमें 'योग' कहा है—

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥७॥

नवमाध्यायके—

मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ।
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ॥५॥

—इस श्लोकमें, तथा दशमाध्यायके—

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥१८॥

—इस श्लोकमें 'योग' शब्द उसी औपनिषदार्थमें प्रयुक्त हुआ है ।

तात्पर्य कि उपनिषद् और गीतामें, एक समयावच्छेदेन एक और अनेक, सशरीर और अशरीर होना ही 'योग' शब्दका मुख्यार्थ है ।

विवक्षाके अनुसार तथा प्रसङ्गानुरोधसे गीताके विशेष स्थलोंमें 'योग' शब्दका यही अर्थ अभिप्रेत है । भिन्न-भिन्न स्थानोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारसे कथित होनेपर भी गीतोक्त योगका लक्षण मूलतः एक ही है ।

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥
(२ । ४८)

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥
(२ । ५०)

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥
(६ । २३)

—इत्यादि श्लोकोंमें भी 'योग' शब्दका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष भावसे वही एक ही अर्थ है ।

भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥
(८ । ३)

यह सृष्टि, स्थिति, संहार करना भगवान्‌का 'कर्म' है । यह उनका कर्मयोग है । इसको गीतामें 'आत्मयोग' भी कहा है—

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।
(११ । ४७)

'मैंने प्रसन्न होकर आत्मयोगसे अपना परमरूप तुम्हें दिखाया ।'

आत्मरूपसे अविकृत रहते हुए भी अनात्मजगत्‌से अभिन्न रहना ही भगवान्‌का योग है । गीतोपनिषद्‌के 'योगेश्वर' और 'योगमाया' शब्द भी वेदान्तसूत्रके ईश्वर और मायाकी अपेक्षा बहुत अधिक अन्वर्थक हैं । इनके गूढार्थकी सूक्ष्म मीमांसा करनेसे 'योग' शब्दका अर्थ और भी खुल जाता है ।

तब योग क्या है ? ब्रह्मका मायाके साथ युगपत् संयोगवियोग ही योग है ।

कल्याण

योगका यथार्थ अर्थ समझना चाहिये । वह है 'श्रीभगवान्‌के साथ युक्त हो जाना', 'भगवान्‌को यथार्थमें पा लेना', या 'भगवत्प्रेमरूप अथवा भगवद्रूप हो जाना ।' यही जीवका परम ध्येय है । जबतक जीव इस स्थितिमें नहीं पहुँच जायगा, तबतक न उसको तृप्ति होगी, न शान्ति मिलेगी, न भटकना बन्द होगा और न किसी पूर्ण, नित्य, सनातन, आनन्दरूप तत्त्वके संयोगकी अतृप्त और प्रच्छन्न आकाङ्क्षाकी ही पूर्ति होगी । इस पूर्णके संयोगका नाम ही योग है । अथवा इसको पानेके लिये जो जीवका विविधरूप सावधान प्रयत्न है उसका नाम भी योग है । यह पूर्णकी प्राप्तिका प्रयत्न जिस क्रियाके साथ जुड़ता है, वही योग बन जाता है । कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, ध्यानयोग, सांख्ययोग, राजयोग, मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग आदि इसीके नाम हैं, परन्तु यह याद रखो कि जो कर्म, ज्ञान, भक्ति, ध्यान, सांख्य, मन्त्र, लय या हठकी क्रिया भगवन्मुखी नहीं है, वह योग नहीं है, कुयोग है, और उससे प्रायः पतन ही होता है ।

अतएव इन सब योगोंमेंसे, जिसमें तुम्हारी रुचि हो, उसीको भगवत्प्राप्तिका मार्ग मानकर ग्रहण करना चाहिये । ये सब योग भिन्न-भिन्न भी हैं और इनका परस्पर मेल भी है । यों तो किसी भी योगमें ऐसी बात नहीं है कि वह दूसरेकी बिल्कुल अपेक्षा न रखता हो, परन्तु प्रधानता-गौणताका अन्तर तो है ही । कुछ योगोंका सुन्दर समन्वय भी है । गीतामें ऐसा ही समन्वय प्राप्त होता है । केवल शरीर, केवल वाणी, केवल मन, केवल बुद्धि आदिसे जैसे कोई काम ठीक नहीं होता, इसी प्रकार योगोंमें भी समझना चाहिये ।

हाँ, इतना जरूर ध्यान रहे कि जिन योगोंमें मनका सयोग होनेपर भी (जैसे नेति, धौति आदि षट्कर्म, बन्ध, मुद्रा, प्राणायाम, कुण्डलिनी-जागरण आदि) शारीरिक क्रियाओंकी प्रधानता है, अथवा मन्त्र-तन्त्रादिसे सम्बन्धित देवविशेषकी पूजा-पद्धति मुख्य है, उनमें अज्ञान, अविधि, अव्यवस्था, अनियमितता होनेसे लाभ तो होता ही नहीं, उलटी हानि होती है। भाँति-भाँतिके कष्टसाध्य या असाध्य शारीरिक और मानसिक रोग हो जाते हैं। अतएव ऐसे योगोंकी अपेक्षा भक्तियोग, निष्काम कर्मयोग, ज्ञानयोग आदि उत्तम है, ये अपेक्षाकृत बहुत ही निरापद हैं। इनमे भी अनुभवशून्य लोगोंकी देखा-देखी अविधि करनेसे हानि हो सकती है, अतएव शान्त, शीलवान्, शास्त्रज्ञ एव अनुभवी गुरुकी—पथप्रदर्शककी सभी योगोंमें अत्यन्त आवश्यकता है।

परन्तु अध्यात्ममार्गका पथप्रदर्शक या गुरु सहज ही नहीं मिलता। भगवत्कृपासे ही अनेक जन्मार्जित पुण्य-पुञ्जके कारण अनुभवी और दयालु सद्गुरु मिलते हैं। हर किसीको गुरु बना लेनेमे तो बहुत ही खतरा है। आजकल देशमें गुरु बननेवालोंकी भरमार है। यथार्थ वस्तुस्थिति यह है कि आज अनेको लुच्चे-लफगे, काम और लोभके गुलाम साधु, योगी, ज्ञानी और महात्मा बने फिरते है। इन्हींके कारण सच्चे साधुओंकी भी अनजान लोगोंमें कद्र नहीं रही। दूधका जला छाछको भी फूँक-फूँककर पीता है, यह प्रसिद्ध कहावत चरितार्थ हो रही है। ऐसा होना अस्वाभाविक भी नहीं है, क्योंकि आज साधुवेशमें फिरनेवाले लोगोंमें व्यसनी, कामी, क्रोधी, लम्पट, दुराचारी मनुष्य या पेशेवर, धन कमानेवाले लोग बहुत हो गये है। लोगोंको ठगनेके लिये बडी-बडी बातें बनानेवाले और चालाकीसे भोले-भाले लोगोंको झूठी सिद्धिका चमत्कार दिखानेवाले, अथवा कहीं एकाध मामूली सिद्धिके द्वारा लोगोंमें अपनेको परमसिद्ध साबित करनेवाले लोगोंकी आज कमी नहीं है। आज हठयोगमे अपनेको सिद्ध माननेवाले लोग रोगी, ज्ञानयोगमें सिद्ध माननेवाले कामी, क्रोधी या मानी, लययोगमे सिद्ध माननेवाले शरीरकी नाडियोंसे और आभ्यन्तरिक अवयवोंसे अनभिज्ञ, भक्तियोगमें अपनेको परमभक्त बतानेवाले विषयी और मन्त्रयोगमे अपनेको सिद्ध प्रसिद्ध करनेवाले सर्वथा असफल पाये जाते है और इनपर भी अपनी मान-प्रतिष्ठा जमाने या कायम रखनेके लिये सिद्धाईका दावा करते देखे जाते हैं। ऐसे लोगोंसे साधकको सदा सावधान ही रहना चाहिये।

इसका यह तात्पर्य नहीं कि आज सच्चे सिद्धिप्राप्त पुरुष है ही नहीं। हैं, अवश्य हैं, परन्तु लोगोंके सामने अपनेको सिद्ध प्रसिद्ध करके जान-बूझकर आसक्ति और स्वार्थवश कामिनी-काञ्चन या मान-सम्मान चाहनेवाले लोगोंमें तो कदाचित् ही कोई सच्चे सिद्ध होंगे। सिद्धिप्राप्त पुरुषोंसे मेरा मतलब पातञ्जलोक्त अष्टसिद्धियों या अन्यान्य प्रकारकी सिद्धियोंको प्राप्त पुरुषोंसे नहीं है। किसी भी मार्गसे शेष सीमातक पहुँचकर जो भगवान्को प्राप्त कर चुके है, उन्हीं महापुरुषोंसे मेरा अभिप्राय है। ऐसे महापुरुष यौगिक सिद्धियोंकी और चमत्कारोंकी कोई परवा नहीं करते। वास्तवमे सिद्धियाँ परमार्थके मार्गमें बाधक ही होती हैं। जिसकी चित्तवृत्ति भगवान्की ओर नहीं लगी है और जिसमें थोडी भी विषयासक्ति बची है, ऐसा पुरुष यदि किसी साधनसे सिद्धियाँ पा जायगा तो इससे उसका अभिमान बढ जायगा, विषयोंकी प्राप्ति और उनके भोगसे सिद्धियोंका प्रयोग होगा, जिनसे भोगोंमे बाधा पहुँचनेकी आशङ्का या सम्भावना होगी, चाहे वह भ्रमवश ही हो, उनको वैरी समझा जायगा, और उनके विनाशमे सिद्धियोंका उपयोग किया जायगा। परिणाममें वह साधक रावण और हिरण्यकशिपु आदिकी भाँति असुर, और धीरे-धीरे राक्षस बन जायगा। अवश्य ही सिद्धियोंको पानेपर भी उनमें न रमकर, उन्हे तुच्छ मानकर लाँघ जानेवाला पुरुष भगवान्को पा सकता है। परन्तु ऐसा होना है बड़ा ही कठिन। अतएव परमार्थके साधकगण ब्रह्मलोकतकका भोग और ब्रह्मातककी सामर्थ्य प्रदान करनेवाली सिद्धियोंसे भी अलग ही रहना चाहते है।

सच्ची सिद्धि तो अन्त करणकी वह शुद्ध स्थिति है जिसमे भगवान्के सिवा दूसरेको स्थान ही नहीं रह जाता। ऐसी शुद्धान्त करणरूप सिद्धिको प्राप्त करके और फिर इसके द्वारा साधन करके जो भगवान्को प्राप्त कर लेते है, वे ही परमसिद्ध हैं। यह परमसिद्धि प्राप्त होती है अन्त करणकी सम्यक् प्रकारसे शुद्धि होनेपर ही, फिर चाहे वह शुद्धि किसी भी योगरूप उपायसे हुई हो। ऐसे परमसिद्ध महात्मा भी मिल सकते हैं, परन्तु उन्हे प्राप्त करनेके लिये हृदयमें लगन होनी चाहिये। सच्चे सत्सङ्गके लिये जब हृदयमे छटपटाहट पैदा हो जायगी, जब सतमिलनके लिये प्राण व्याकुल हो उठेंगे, जब योगजिज्ञासारूपी

अग्नि प्रबल और प्रचण्ड होकर हृदयमें छिपे हुए चोरोंको भस्मीभूत कर देगी और अपने प्रखर प्रकाशसे विषयाभिलाषरूपी तमको नाश कर देगी, और सारे प्रपञ्चको जलाती हुई दौड़ेगी भगवान्‌की ओर, तब भगवान् स्वयं व्याकुल होकर उसे बुझानेके लिये सतरूपी मेघ बनकर अमृतवर्षा करेंगे।

एक महानुभाव ढोंगी नहीं हैं, उनके मनमें कामिनी-काञ्चन या मानका लोभ भी नहीं है, अच्छे शास्त्रज्ञ भी हैं, परन्तु साधन करके परमतत्त्वको पहचाने और पाये हुए नहीं हैं। योगग्रन्थोंके पण्डित हैं, परन्तु साधक या सिद्ध योगी नहीं हैं। ऐसे पुरुषका संग करनेसे शास्त्रज्ञान तो हो सकता है। ग्रन्थीय विद्याप्राप्तिके लिये ऐसे सज्जनको अवश्य गुरु बनाना चाहिये, और इसकी आवश्यकता भी है। क्योंकि ग्रन्थीय विद्या क्रियात्मिका विद्यामें बहुत सहायक होती है। परन्तु ऐसे गुरुसे पढ़कर साधना करना—क्रियात्मक योग साधना विपद्‌से शून्य नहीं है। इससे हानिकी बड़ी सम्भावना है। जब वैद्यक और इंजिनियरी आदिमें भी केवल पुस्तकज्ञानसे काम नहीं चलता, अनुभवी गुरुकी आवश्यकता होती है, तब योग-सरीखा साधन केवल पुस्तकज्ञानके आधारपर करना तो बहुत ही भयकी बात है।

अनुभवी गुरुसे जानकर भी यदि साधक उनकी बतायी हुई प्रत्येक बातको नहीं मानता, तो उसे भी सफलता नहीं हो सकती। बल्कि किसी-किसी प्रसंगमें तो उलटा नुकसान हो जाता है। अतएव यदि योगसाधना करनी हो तो पहले चित्तमें दृढ़ निश्चय करो, फिर गुरुको खोजो, और भगवत्कृपासे गुरु मिल जायँ तब उनकी एक-एक छोटी-से-छोटी बातको भी महत्त्वपूर्ण और परमावश्यक समझकर श्रद्धापूर्वक उनका अनुसरण करो।

एक बात और है, सभी साधनोंका लक्ष्य मोक्ष या भगवत्प्राप्ति है। सारे ही योगोंकी गति उस एक ही परम योगकी ओर है। फिर ऐसा योग क्यों न साधना चाहिये, जिसमें रुकने या गिरनेका डर न हो, मार्गमें कष्ट भी न हो, सरल, सहज हो और इसी जीवनमें लक्ष्यतक पहुँच जानेका निश्चय हो। ऐसा योग है शरणागति-योग! भगवान्‌का अनन्य आश्रय लेकर श्रद्धा-विश्वासपूर्वक भगवान्‌का सतत स्मरण करते हुए अपने जीवनके सभी कर्मोंके द्वारा उन्हींकी पूजा करना और जीवनको सम्पूर्णतया उन्हींपर छोड़कर निश्चिन्त हो जाना। यही शरणागति-योग है। और सभी योगोंमें विघ्न हैं, परन्तु यह सर्वथा निर्विघ्न है। अतएव इसीको परम साधन समझकर इसीमें लग जाओ।

योगका अर्थ

(लेखक—डा० श्रीभगवानदासजी, एम० ए०, डी० लिट्)

'कल्याण' के सम्पादकजीकी इच्छा है कि 'योग' के विषयपर 'योगाङ्क' के लिये लेख लिखा जाय। लेखसूची भी मिली। उसे देखकर लिखनेकी इच्छाके स्थानपर पढनेकी ही इच्छा प्रबल हुई। इन विषयोंपर प्रामाणिक लेख पढ़नेको मिलें तो अहोभाग्य। जिसको किसी विषयका साक्षात् अनुभव हो उसीको तो उस विषयपर लिखनेका अधिकार हो सकता है। अपने पास 'योग' का अनुभव नहीं। क्या लिखूँ? कई पत्र आये। इसलिये विवश होकर 'परोक्ष' और 'अपरोक्ष' अनुभवको आड़में शरण लेकर, पढ़े और सुनेके भरोसे, कुछ लिखता हूँ, यद्यपि 'परोक्ष' भी और 'अनुभव' भी यह व्याहत-सी ही बात है।

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥
(गीता ६। ४६)

योगकी महिमा ऐसी है। मेरे-ऐसा नितान्त अनजान उसपर क्या लिखे?

अमरकोषमें 'योगः सन्नहनोपायध्यानसङ्गतियुक्तिषु' कहा है। पुराणकालमें, जब देशकी बोली संस्कृत थी, तब युद्धके लिये योधाओंको 'सन्नहन', सन्नद्ध हो जाने, कवच पहनने और हथियार उठानेके लिये, 'योगो योगः' ऐसी पुकार होती थी। 'उपाय' को भी 'योग' कहते हैं। वैद्यकमें नुसखेको भी 'योग' कहते हैं—'इत्येको योग.', 'इति द्वितीयो योगः', अर्थात् रोगको दूर करनेका उपाय। 'ध्यान' के विशेष प्रकारका नाम 'योग' प्रसिद्ध ही है। 'सङ्गति', सङ्गम, दो वस्तुओंका मिलना भी 'योग' है। तथा 'युक्ति' भी। 'युक्ति' का अर्थ उपाय भी है, और विशेष तर्क भी, जो खण्डन-मण्डनका उपाय ही है। दूसरे कोषकारोंने 'योग' शब्दके पैंतीस-चालीसतक अर्थ

गिनाये हैं। इन सब रूढ अर्थोंका मूल यौगिक अर्थ ही है, अर्थात् दो पदार्थोंका मिलना, संयोग। यथा, योधाका कवच और हथियारसे सयोग, किसी इष्ट फलके साधनेके लिये विविध कारणों और करणोंका सयोग, औषधों-का सयोग, चित्तका ध्येय विषयसे सयोग, अन्ततः जीवात्मा-परमात्माका अभेदानुभवात्मक संयोग।

इस देशमें आपामरप्रसिद्ध रूढ अर्थ 'योग' का 'विशेष सिद्धि साधनेवाली चर्या' हो रहा है। शरीरकी और चित्तकी वह क्रिया, वह अभ्यास, जिससे कोई विशेष सिद्धि मिल जाय, 'योग' है। तथा योगी-योगिनी वह पुरुष या स्त्री जो कोई अलौकिक कर्म कर सके, जो साधारण मनुष्यकी शक्तिके बाहर है।

देशके इस भोले विश्वासके भरोसे, कितने ही ठग, केवल जटा बढ़ाकर, 'भभूत' (विभूति) रमाकर, आसन जमाकर, नशेकी चीजोंसे (गाँजा, भाँग, चण्डू, शराब आदिसे) आँख चढ़ाकर, तामस तपस्याके कुछ प्रकार साधकर, भीड़को दिखाकर, सीधी-सादी पर स्वार्थी— 'कृपणा फलहेतव.', दुनियाकी छोटा-मोटा सुख उन जटाधारियों या दिगम्बरोंसे चाहनेवाली, जनताको धोखा देते फिरते हैं। ऐसोंसे आप खबरदार रहना और दूसरोंको करना, यह इस समयमें आवश्यक पहला कर्तव्य है। दूसरा कर्तव्य है योगके सच्चे अर्थका पता लगाना।

गुरवो (योगिनो) बहवस्तात शिष्यवित्तापहारकाः।
विरला गुरवस्ते ये शिष्यसन्तापहारकाः॥

सूफियोंने भी कहा है—

ऐ बसा इब्लीस् आदम-रूय अस्त।
पस् बहर् दस्ते न बायद् दाद दस्त॥

'आदमीकी शकल बनाये बहुतेरे शैतान दुनियामें फिरते रहते हैं, इसलिये जल्दीसे किसी आदमीको योगी और गुरु मानकर उसके हाथमें अपना हाथ रख देना नहीं चाहिये।' योगकी चर्चा भारतवर्षकी हवामें भरी है—हिन्दुओंमें 'योग' के नामसे, मुसलमानोंमें 'सुलूक' के नामसे। पुराण-इतिहास-में, योगवासिष्ठमें, साम्प्रदायिक ग्रन्थोंमें, स्मृतियोंमें, दार्शनिक ग्रन्थोंमें, हठयोगप्रदीपिका, घेरण्डसंहिता, गोरक्ष-संहिता आदि सैकड़ों निबन्धोंमें, हठयोग, राजयोग, लय-योग आदि तरह-तरहके योगोंकी बातें लिखी हैं। पर 'श्रुतिप्रत्यक्षहेतव ', कही-सुनी बातको प्रत्यक्ष कर दिखाने-वाले प्रायः मिलते नहीं। मिलें भी कैसे ? जैसे खोजनेवाले वैसे पाये जानेवाले।

साँचे मनके मीता प्रभुजी, साँचे मनके मीता।

सच्चे मनमें कोई खोजता नहीं, सासारिक लालचोंसे ही खोजता है। इसलिये ढोंगी, दाम्भिकों, ठगोंको ही पाता है। योगसूत्रभाष्यमें कहा है—'स्वाध्यायादिष्टदेवता-सम्प्रयोग.।' जिसका मन सचमुच स्वाध्यायमें, मोक्षशास्त्रों-के अध्ययनमें, प्रणव आदि पवित्र मन्त्रोंके जपमें, सच्ची मुमुक्षासे, लगा हो, उसके पास देवता, ऋषि, सिद्ध पुरुष, आप ही आकर उसकी सहायता जाग्रदवस्था अथवा स्वप्ना-वस्थामें करते हैं। बिना सात्त्विक तपस्याके, बिना यम-नियमादिका अशतः भी सेवन किये, 'योग' कैसे मिले ? कठोपनिषद्में कहा है कि कठिन परीक्षाके बाद यमराजने नचिकेता बालकको 'योगविधिं च कृत्स्नम्' बताया। तथा मुण्डकमें कहा है—

तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम्। नैतदचीर्णव्रतोऽधीते।

जिन्होंने 'शिरोव्रत' नामक योग और तपस्याके प्रकार-का चरण नहीं किया वे ब्रह्मज्ञानके अधिकारी नहीं। देवी-भागवतके एकादश स्कन्धमें 'शिरोव्रत' के प्रकारका संकेत किया है। सुप्त 'कुण्डलिनी' शक्तिके जागरण, उत्थापन, सञ्चालन, शिरःस्थित ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त उन्नयन आदिकी बात 'शिरोव्रत' के सम्बन्धमें कही है। पर इस सबका ठीक अर्थ क्या है, 'कुण्डलिनी' क्या है, उसका उत्थापन, संनयन कैसा होता है, यह सब केवल पोथीमें पढ़ लेने, या जबानी कह-सुन लेनेमें ही नहीं समझमें आता। यह प्रक्रियाके, अभ्यासके, और सद्गुरुकी देख-रेखमें ही प्रयोगके, अधीन है। वायुयानका वर्णन अच्छी वैज्ञानिक पुस्तकमें भी पढ लेनेसे, वायुयानको बनाने और उड़ाने-चलानेकी शक्ति नहीं हो जाती। विशेषज्ञ प्रयोक्ताके पास बहुत परिश्रम और अभ्याससे ही हो सकती है।

भगवद्गीताके सात सौ श्लोकोंमें, योग', योगी, युक्त, योगारूढ., युञ्जन्, युञ्जीत, योगयज्ञा', योगमेवया, सांख्य-योगौ इत्यादि 'युज्' धातुसे बने शब्द और उनके साथ समस्त पद एक सौ अठारह बार आये हैं। गीताकी शब्दा-नुक्रमणी देखनेसे यह जान पड़ता है। इनके सिवा, प्रति अध्यायके समाप्तिपर जो उनका नाम दिया है उसको भी गिनें तो अठारह और होते हैं। 'आत्मा', 'अहं', 'बुद्धि',

'योग'—ये ही चार शब्द और इनके प्रकार-विकार सबसे अधिक बार गीतामें कहे गये हैं। स्वयं श्रीकृष्ण भगवान्ने 'योग' की परिभाषा क्या की है?

समत्वं योग उच्यते (२।४८)
योगः कर्मसु कौशलम् (२।५०)
निःस्पृहः युक्त उच्यते
अर्थात्—
योगो निःस्पृहता स्मृता (६।१२)
दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् (६।२३)
आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥ (६।३२)

अर्थात्—
(आत्मौपम्येन सर्वत्र योगस्तु समदर्शनम्।)
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः। (६।४७)
मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥ (१२।२)
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥ (९।३४)
सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥ (१८।६४-६५)

अर्थात्—
(आत्मश्रद्धात्मभक्तिश्चाप्यात्मयजनमस्क्रिये।
आत्मन्येवापि मनसः सर्वथा विनिवेशनम्॥
अयं गुह्यतमः श्रेष्ठ परो योगतमः स्मृतः।)

सारांश, श्रीकृष्णजीका मत यही है कि जीवका परमात्माके साथ अपना अभेद सर्वदा सर्वथा अनुभव करते रहना, और इसके कारण सब जीवोंके साथ 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' व्यवहार करना—यही परमयोग, जीवात्मा-परमात्माका अभेदात्मक संयोग, और भेदभावजनित दुःखोंका वियोग है। यहाँ 'योग' शब्द योगसे साधनीय अवस्थाके अर्थमें कहा गया है। योग तो साधन है। जीवात्मा-परमात्माका अभेद, कैवल्य, यह साध्य है।

योगसूत्र, योगभाष्यके सिद्धान्त सब इस निष्कर्षके अनुकूल ही जान पड़ते हैं।

'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।' 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।'

चित्तकी वृत्तियोंका, भेदानुभवात्मक स्वच्छन्द प्रवृत्तियोंका, निरोध करना—यह योग है। यदि सब वृत्तियोंका निरोध हो जाय तो द्रष्टा, पुरुष, जीवात्मा, अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है, 'अहमेव केवलः' 'अहमेव न मत्तोऽन्यत्' (भागवत ११।१३।२४), इस 'कैवल्य' का अनुभव करता है। योग-सूत्र-भाष्यमें जीवात्मा-परमात्माके अभेदकी चर्चा नहीं की है, सांख्यानुकूल 'पुरुषबहुत्व' माना है, और 'पुरुषविशेष ईश्वरः', 'पूर्वेषामपि गुरुः, कालेनानवच्छेदात्', 'क्लेशादिसे अपरामृष्ट', 'निरतिशयसर्वज्ञबीज' आदि कहा और माना है। वेदान्तकी दृष्टिसे यह ठीक नहीं पड़ता। इसीलिये ब्रह्मसूत्रमें 'योगः प्रत्युक्तः' कहा है। पर योगशास्त्रकी प्रारम्भिक दृष्टिसे ही पुरुषविशेष देख पड़ता है। अन्तिम दृष्टिका वेदान्तदृष्टिमें ही पर्यवसान होता है। क्योंकि पुरुषविशेष भी, और कालाद्यतीत, क्लेशाद्यपरामृष्ट भी, यह बात बनती नहीं। 'विशेष' तो देश-कालादिसे अवच्छिन्न होता है। योगाभ्यास, मनन, विचारणका, भेद-दृष्टि, विशेष-दृष्टिसे, जीव आरम्भ करता है। अन्तमें अभेदका, कैवल्यका, दर्शन करता है। तब अपने असली स्वरूपको, परमात्मासे अपनी एकताको, पहचानता है, और उसमें स्थित हो जाता है—'तदा द्रष्टुः स्वरूपे, स्वे महिम्नि, भूम्नि, अन्य-निरपेक्षे, भेदभावप्रतिषेधके, स्वभावे, स्वविभवे, विभुत्वे, व्यापकत्वे, स्थितिः,' 'अहमेव सर्वः'।

एकका निरोध, दूसरेका अनुरोध। वृत्तियोंका, दृश्योंका निरोध, द्रष्टाका अनुरोध। एक ओर वैराग्य, दूसरी ओर अभ्यास। एक ओरसे हटना, दूसरी ओर सटना। प्रकृतिकी विकृतियोंको, विकारोंको छोड़ना, आत्माको पकड़ना। 'एतत् न इति' के साथ 'अहम् इति' कहना। यदि ऐसा न होता तो केवल निषेधात्मक निरोध अकिञ्चित्कर होता, सुषुप्ति—निद्रामात्र होता।

योगसूत्रभाष्यके प्रक्रियांशको छोड़कर दर्शनागममें जो अन्य शङ्काएँ उठती हैं उनका यों ही समाधान करना उचित जान पड़ता है। यथा 'वृत्तयः पञ्चतय्यः', पाँच प्रकारकी वृत्तियोंमें 'विपर्यय' को गिनाया है और फिर 'पञ्चक्लेशाः' में अविद्याको प्रथम कहा है, और उसका लक्षण 'विद्याविपरीत ज्ञानमविद्या' कहा है। अर्थात् जो 'विपर्यय' वही 'अविद्या'। और अविद्या ही मुख्य क्लेश है, अन्य चार क्लेशोंकी जड़मूल है। पर 'वृत्तयः पञ्चतय्य-

क्लिष्टाक्लिष्टाः' यह भी सूत्रहीमे कहा है। तो 'विपर्यय'-रूपिणी, 'अविद्या'-रूपिणी, 'मिथ्याज्ञान'-रूपिणी, 'मुख्य क्लेश'-रूपिणी वृत्ति 'अक्लिष्टा' भी हो सकती है—यह बात जल्दी समझमे नहीं आती। एव चित्तवृत्ति-का निरोध करनेवाला कौन है, स्वय चित्त ही या पुरुष? परन्तु पुरुष तो अपरिणामिनी चितिशक्ति है, निष्क्रिय है। और चित्त अपना निरोध क्यो करे, किस उद्देश्यसे करे? यदि इष्टसाधनबुद्धिपूर्वक उसमें अपना आत्मघात करनेकी शक्ति है (जो कि व्याहत बात है) तो फिर वही चैतन्यमय सर्वशक्तिमान् ठहरा, उससे भिन्न, 'पुरुष' क्यो माना जाय? ऐसी ही सूक्ष्मेक्षिकाओंके कारण आरम्भिक दृष्टिको छोड़कर अन्तिम दृष्टिपर स्थिति करना पडता है। वही 'सम्प्रज्ञात-योग' का मुख्य लक्ष्य वा साध्य जीवन्मुक्ति-दृष्टि जान पड़ती है। तथा 'असम्प्रज्ञातयोग' की पराकाष्ठा यह जान पडती है कि जब भेदभाव सर्वथा अस्त हो जाय और उसका सूचक स्थूल सूक्ष्म आदि शरीर कुछ भी न रहे, तब विदेह कैवल्य प्राप्त हो।

> यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे-
> ऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
> तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः
> परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥

जीवात्मा-परमात्माका योग, अभेदात्मक सयोग ही मुख्य योग। इस एकत्वके 'प्रत्यभिज्ञान', पहिचानको जगानेवाले उपाय—गौण योग। यो तो, 'योग समाधि, स च सार्वभौमश्चित्तस्य धर्म.' (योगभाष्य)। चित्तकी सभी पॉचो क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र, समाहित भूमियों, अवस्थाओंमें, कमवेश 'योग' होता है। तितलीके पीछे ऑख दौड़ाता हुआ क्षिप्तचित्त बच्चा, गुरुजीके आदर वा भयसे, वर्णमालाकी पोथीमे 'क', 'ख' पर जो एक-एक क्षणके लिये मनोयोग कर देता है, वह भी उस क्षणमे और उस क्षणभरके लिये योग ही है। एव लेलाके लिये मजनूँकी, एव 'पाती लेके आये दौरे, ऊधो तुम भये बौरे, योग कहॉ राखै, यहॉ रोम-रोम स्याम है' यह व्रजगोपिकाओं-की, सात्त्विक विक्षिप्त अवस्था तो (जो द्वैतभावात्मक भक्तिकी दृष्टिसे 'एकाग्रता' और 'समाधि' की भूमियोसे भी ऊँची है) योगसे अधिकांश भरी है। इसीसे तो 'इश्के मजाजी' को, मानवस्नेह—प्रेम—अनुरागको, 'इश्के हक़ीकी' का, 'वासुदेव सर्वमिति', 'सर्वमात्मैवाभूत्', विश्वभक्तिका, दर्वाजा कहा है। एव पश्चिम देशके यशस्वी विज्ञानाचार्योंने बड़ी-बडी गवेषणासे बडे-बड़े आविष्कार किये है, बड़ी-बडी वैज्ञानिक सिद्धियॉ साधी हैं, यह सब चित्तकी चौथी भूमि, बड़ी एकाग्रताका फल हैं। बल्कि यह कहना भी अनुचित न होगा कि कुछ अगतक पॉचवीं भूमि 'समाधि' में पहुँचनेसे, 'स्वरूपशून्य इव' 'तन्मय इव', 'अर्थमात्रनिर्भास इव' होनेसे, मिली है।

योग-सूत्र-भाष्य प्रभृति ग्रन्थोमे कही हुई सिद्धियॉ इन वैज्ञानिक सिद्धियोसे बहुत आगे बढकर है। इनकी भी चर्चा एक सूत्रमें की है। 'जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः'। वैज्ञानिक सिद्धियोंको यदि ओषधिजा और मन्त्रजा और तपोजा कहें तो अनुचित न होगा। हॉ, 'ओषधि' 'मन्त्र' और 'तप.' शब्दोका अर्थ थोडा सकोच छोडकर विस्तारसे करना होगा। योगोक्त सम्प्रज्ञात समाधिजा सिद्धियॉ कठिन तपस्या और अभ्याससे मिलती है—ऐसी पौराणिक प्रथा है, और स्पष्ट ही है कि सहजमे नहीं मिल सकती।

> समाधावुपसर्गा', व्युत्थाने सिद्धयः।

—कहकर ऐसी सिद्धियोका अपवाद-सा भी योगसूत्रमे किया है। तथा भागवतके एकादश स्कन्धके १४, १५, २८ आदि अध्यायोमे भी, स्वय श्रीकृष्णजीके मुखसे, यथा—

> न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं
> न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
> न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
> मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत्॥
> अन्तरायान् वदन्त्येता युञ्जतो योगमुत्तमम्॥
> नहि तत्कुशलादृत्यं तदायासो ह्यपार्थकः।
> अन्तवत्त्वाच्छरीरस्य फलस्येव वनस्पतेः॥
> इत्यादि।

साथ ही इसके यह भी कहा है—

> जितेन्द्रियस्यायुक्तस्य जितश्वासस्य योगिन.।
> मयि धारयतश्चेत उपतिष्ठन्ति सिद्धयः॥
> उपासकस्य मामेव योगधारणया मुनेः।
> मद्धारणा धारयतः का सा सिद्धिः सुदुर्लभा॥
> मया सम्पद्यमानस्य कालक्षपणहेतवः।
> जन्मौषधितपोमन्त्रैर्यावतीरिह सिद्धयः।
> योगेनाप्नोति ता· सर्वा· नान्यैर्योगगति व्रजेत्॥
> सर्वासामपि सिद्धीना हेतु· पतिरहं प्रभु।
> अहमात्मान्तरो बाह्योऽनावृत सर्वदेहिनाम्॥

अर्थात् जो परमात्माकी उपासनामें लीन हैं,

सर्वभूतहिते रत है, सर्वमय हो रहा है, उसको विशेष स्वार्थइच्छा किसी प्रकारको सिद्धियोंकी नहीं हो सकती। हाँ, जीवन्मुक्तावस्थामें, शरीरधारणावस्थामें, कालक्षेपके लिये, स्थूलेन्द्रियोंके प्रयोग और मात्रास्पर्श और तत्तद्विषय-सम्पर्क और तज्जनित सुख-दुःख कम हो जानेपर, दिव्य अनुभवार्थ, तथा अधिक लोकोपकारशक्त्यर्थ, अन्तरात्माकी प्रेरणासे आपसे आप सिद्धियाँ उपस्थित हो जाती हैं।

निष्कर्ष यह कि योगसाधनद्वारा, स्वार्थबुद्धिसे, सिद्धियोंकी आकाङ्क्षा-अभिलाषा न करे, नहीं तो दुर्गति होगी, जैसी दानवों, दैत्यों, राक्षसोंकी, कठिन-कठिन तपस्यासे, भारी-भारी सिद्धियाँ और शक्तियाँ प्राप्त करके हुई, और जैसी प्रत्यक्ष, हमलोगोंकी आँखोंके सामने, पाश्चात्त्य विज्ञानकी यन्त्रात्मक सिद्धियोंसे पाश्चात्त्य तथा पौरस्त्य समस्त मानवजगतकी हो रही है।

एकमात्र सात्त्विक भावसे 'आत्मौपम्येन सर्वत्र' सर्वदर्शी हो, 'मन्मना' हो, तपस्या, सद्व्यवहार, त्याग, धर्मका आचरण करे, जबतक शरीर रहे तबतक। यदि इस बीचमें, उसकी चित्तशुद्धिके कारण, अन्तरात्मा-परमात्माको ही मञ्जूर हो कि उसके शरीरसे कुछ विशेष लोकसेवा ली जाय, तो वही इस शरीरमें सिद्धियाँ स्वयं उत्पन्न करेगा; जैसे विश्वासपात्र सज्जनको लोग अपनी निधि न्यास-रक्षाके लिये आप सौंपते हैं, वह माँगने नहीं जाता, और उन सिद्धियों-शक्तियोंसे लोकसेवा अधिक कर सकेगा।

इस प्रकारसे यही समझमें आता है कि—

'समत्वं योग उच्यते', 'योगः कर्मसु कौशलम्'।
अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥

वेदान्त और योग

(लेखक—डॉ० श्रीमहेन्द्रनाथ सरकार)

हिन्दुस्तानका जीवन और तत्त्वज्ञान सदा एक साथ रहा है। तत्त्वज्ञानका अर्थ हिन्दुस्तानमें केवल 'पदार्थोंको विचारदृष्टिसे देखना' ही नहीं है। तत्त्वज्ञानका वास्तविक अर्थ तो आत्मप्रकाश है। इसलिये हिन्दुस्तानके तत्त्ववेत्ता केवल सिद्धान्तका प्रतिपादन कर चुप नहीं रहते, किन्तु साथ ही ऐसी साधना भी बतलाते हैं जिससे आत्मबोधके जो अनेक स्तर हैं वे खुल जायँ और अन्तमें सत्यका साक्षात्कार हो। वेदान्तमें इस विषयकी समीक्षा विचारदृष्टि तथा अन्तर्दृष्टि दोनोंसे होती है। इसलिये यह एक 'दर्शन' भी है और साथ ही आत्मस्फूर्ति भी।

इसकी विचारदृष्टिमें सविशेष ब्रह्म और निर्विशेष ब्रह्म दोनों एक चीज नहीं हैं, ब्रह्म एक ही है और वह निर्विशेष है, उसपर मायाका जो विश्वप्रपञ्च दीखता है वह केवल भ्रम है। अद्वैत वेदान्तका यही परम सिद्धान्त है और इस सिद्धान्तको माननेवाला कोई भी साधक तबतक सन्तुष्ट नहीं हो सकता जबतक उसे 'तत्त्वमसि' महावाक्यका साक्षात् अनुभव न हो। इस सत्यके अनुभव करनेका सर्वोत्तम मार्ग यही है कि बुद्धि इतनी निर्मल और ज्ञान-प्रवण हो जाय कि वह सदसत् या नित्यानित्यके भेदको अनुभव कर सके। वेदान्तकी साधना मुख्यतया ज्ञान-साधना है, जिसके अभ्याससे धीरे-धीरे वह बोध होता है जिससे सब पदार्थ एक ही सनातन सत्तामें देख पड़ते हैं। वेदान्तकी मुख्य साधना 'दृश्यमार्जन' है अर्थात् पदार्थों और उनके रूपोंको नित्यानित्यवस्तुविवेकसे देखकर सत्को असत्से अलग करना। इस व्यतिरेक-क्रमसे साधकको सबके आधारभूत एक ही सत्की सत्ताका साक्षात्कार हो सकता है।

वेदान्तके मननादिरूप अभ्याससे ऐसी विचारप्रणाली बँधती है और मनको ऐसा अभ्यास पड़ जाता है कि पीछे सदसत्का ज्ञान (विचारकी अपेक्षा न रख) अपने-आप ही होने लगता है और सत्की जो सर्वत्र व्याप्त समसत्ता है वह अनुभूत होती है। वेदान्त दार्शनिक सिद्धान्तके नाते सत्के साथ नामरूपात्मक जगत्का समन्वय नहीं साध सका है; क्योंकि इसका सिद्धान्त ही यह है कि नामरूपात्मक जगत् ब्रह्म पर आरोपित एक मानसिक व्यापार मात्र है, यथार्थमें ब्रह्ममें उसकी कोई सत्ता नहीं है। कारणमें कार्यके होनेकी बातको वेदान्त परमार्थतः नहीं स्वीकार करता, यद्यपि यह मानी हुई बात है कि कारण ही कार्यके रूपमें भासता है।

सामान्य सांसारिक बुद्धिमें यह नामरूपात्मक जगत् सत्य है। इसलिये वेदान्त सृष्टिरचनाका क्रम बतलाते हुए, माया और ईश्वर इन दो तत्त्वोंको मानकर चलता है। मायाको ब्रह्मका व्यष्टितत्त्व माना है। इस व्यष्टितत्त्वकी सत्ता अवश्य ही वैसी नहीं है जैसी कि ब्रह्मकी सत्ता।

वेदान्तका विचार इस प्रकार है कि मनुष्यकी बुद्धिको जब यह तत्त्वजिज्ञासा होती है कि इस दृश्य जगत्का कारण क्या है, तब उसे कारणके लिये मूल सत्ताकी ही भावना करनी पड़ती है। यह मूल सत्ता अवश्य ही ऐसी सत्ता है जिसमें इस नामरूपात्मक विश्वकी विविध रचनाके लिये किञ्चित् भी कोई विकार नहीं उत्पन्न होता। व्यष्टितत्त्व केवल मायामें कल्पित है।

परब्रह्मके अन्दर अपने आपको परिच्छिन्न और परिवृत करनेवाला जो तत्त्व है उसे माया कहते हैं। मानो ब्रह्म अपने सङ्कल्प और सृष्टिक्रममें अपने आपको बाँधता है। पर यह केवल प्रतीत होता है, ऐसा है नहीं।

इस ज्ञानके आधारपर वेदान्तकी साधना प्रतिष्ठित है, इस कारण इसमें दृश्य जगत्से विरक्तका भाव धारण करना स्वाभाविक ही हो गया है। वेदान्तमें जीवनको प्रापञ्चिक और पारमार्थिक दोनों ही रूपोंमें साधा जाता है और यद्यपि प्रापञ्चिककी सत्ता वेदान्तने अस्वीकार की है तथापि उसके व्यावहारिक उपयोगको उसने ग्रहण किया है। इसी दृष्टिसे वेदान्तने जीवनमें तथा आत्मानुभूतिके क्षेत्रमें भी एक नया रास्ता निकाला है—गन्तव्य स्थानपर पहुँचनेके पश्चात् अवश्य ही इस रास्तेका कुछ महत्त्व नहीं रह जाता। बात यह है कि वेदान्तका वास्तविक कार्य चैतन्यको अज्ञानसे मुक्त कर देना है; पर मुक्ति भी क्रमशः होती है, पहले साधकके जीवनमें ऐसी शुद्धता और सूक्ष्मता आती है जो सामान्य सांसारिक जीवनमें नहीं होती। वेदान्तमें आध्यात्मिक जीवनके दो भाग किये जा सकते हैं—एक अध्यात्ममूलक व्यावहारिक साधन और दूसरा आध्यात्मिक परा गति। पूर्वोक्त साधन करते हुए चित्त शुद्ध और बुद्धि-बोधशक्ति सूक्ष्म होती जाती है। यह साधनावस्था देहाभिमानी अबोध प्राकृत जीवनकी अपेक्षा उन्नत जीवन है। यह दिव्य जीवन है, क्योंकि इसमें क्रमशः उन शुभ वृत्तियों-का उदय होता है जो अज्ञानमें दबी रहती हैं और जीवनमें स्वच्छता और पवित्रताका आनन्द आता है, यहाँ साधनामें तो क्रमविकास हो रहा है, पर इस हालतमें भी लक्ष्य वही निर्गुण ब्रह्म है जिसमें कोई विकार नहीं होता। यह विकास अवश्य ही अधिक सूक्ष्म है, क्योंकि इसमें दैवी वृत्तियाँ उदय होती हैं और विकासक्रममें यह ऊँची चढ़ाई है, तथापि जीवनका सूत्र जीवनके विभिन्न क्षेत्रोंमें वही एक ही चला आता है और इस कारण द्विधाविभक्त बोधके बोझसे जीवन दब जाता है।

वेदान्तमें आत्मानुभवके दो मार्ग हैं—(१) प्रत्यक्ष, और (२) अप्रत्यक्ष। प्रत्यक्ष मार्ग है नित्यानित्यवस्तु-विवेक। इसका ऐसा अभ्यास हो कि छोटी-छोटी बातोंमें भी मन विवेकसे च्युत न हो और प्रत्येक पदार्थमें उसी अविकार्य सत्को ढूँढे।

परन्तु प्रत्येक पदार्थमें सत्को ढूँढनेकी इस वृत्तिसे बाह्य पदार्थोंकी सत्ताका लोप हो सकता है और पदार्थ-मात्रके मूलमें अव्यय चैतन्य प्रकट हो सकता है।

इस प्रकार दृश्यमार्जनकी पद्धतिसे जैसे पृथक् सत्ता-सी प्रतीत होनेवाली अनात्म प्रकृतिके रूपमें भासनेवाला बाह्य अन्तराय नष्ट हो जाता है, वैसे ही आभ्यन्तर प्रकृति (मन-बुद्धि आदि) के अवहित निरीक्षण-क्रमसे उसकी भी अनित्यता और क्षण-क्षणमें पलटनेकी वृत्ति प्रकट हो जाती है। यह भ्रम भी दूर हो जाता है कि हमारी चेतनप्रकृति स्वभावसे गतिशील है।

वेदान्तने हमारी आन्तर प्रकृति और हमारे चित्स्वरूपमें भेद बताया है। मनुष्यका अन्तःकरण चित्स्वरूपको प्रतिबिम्बित करता और प्रकाशयुक्त देख पड़ता है; पर यह आत्माकी अन्तःकरणपर पड़ी हुई केवल छाया है।

यहाँ भी, वेदान्तमें, विचारणाके द्वारा आन्तर प्रकृतिके चक्करोंमेंसे बाहर निकलकर अन्तर्हित आत्माको पुनः प्राप्त करना होता है। इसके लिये चेतन प्रकृतिके केन्द्रस्थानमें अर्थात् उस कालातीत सत्तामें जो आन्तर प्रकृतिकी अप्रतिहत सतत गतिमें सदा स्थिर और अ-व्यवहित रहती है, दृष्टिको एकाग्र करना पड़ता है। आन्तर प्रकृतिकी विकृतियोंको इस प्रकार देखनेका जो अभ्यास है उससे दृष्टि विशाल होती है और क्रमशः अन्तःसाक्षीका साक्षात्कार होता है। यह अन्तःसाक्षी शान्तिस्वरूप है और मन, बुद्धि, अहङ्कारकी वृत्तियोंके खेलका द्रष्टा है। यह द्रष्टा है, नैयायिकोंका कर्ता नहीं, यह मोक्षस्वरूप है, काल और कालावच्छिन्न आन्तर प्रकृतिसे सर्वथा मुक्त।

द्रष्टा गुणी या कर्मी नहीं है, उसमें गुण और कर्म होनेका मतलब तो यह होगा कि उसका द्रष्टृत्व और कर्तृत्व अन्तःकरणमें आबद्ध है। यह मोक्षस्वरूप है, वैसा कर्ता नहीं जो अन्तःकरणमें अपना प्रतिबिम्ब डाले, उसे प्रकाशित करे, अभिप्राय व्यक्त करे अथवा किसी प्रकारका भी कोई काम करे। द्रष्टाके इस मुक्तस्वरूपको श्रीमच्छङ्कराचार्यने पहचाना, कैंट आदि नहीं पहचान सके।

मोक्षस्वरूप ब्रह्मत्व ही आध्यात्मिक और पारमार्थिक अनुभूतिकी पराकाष्ठा है। इस अनुभूतिमें जीव और ईश्वर, ह्रत्पुरुष और विराट्पुरुष इस प्रकारका कोई भेद नहीं रह जाता। कारण, यथार्थमें वेदान्तका 'तत्त्वमसि' महावाक्य किसी प्रकारका समन्वय नहीं है, बल्कि वह परा स्थिति है जिसमें भेद या समन्वयका कोई प्रश्न ही नहीं उठ सकता। अतः वास्तविक वेदान्तिक साधना इसी परम बोधको प्राप्त होनेका प्रयास है जहाँ ये सामान्य सङ्कुचित भेदज्ञान नहीं रह पाते।

वेदान्तकी साधना इसी ज्ञान-धारणापर निर्भर करती है कि अनेकत्व जो कुछ देखनेमें आता है वह सब मिथ्या है और चिन्मय ब्रह्मका जीव या ईश्वररूपमें घनीभूत होकर कर्म करना भी मिथ्या है और अद्वितीय सत्य केवल वही परब्रह्म है जो इन सबके परे है। सविशेष और निर्विशेष ब्रह्मके इस भेदको जानना और सविशेषको अनित्य और मिथ्या मानना वास्तविक ज्ञानका आरम्भ है। पर सविशेषका केवल अनित्य माननेसे पूरा काम नहीं होता, उसके साथ इसके परे जो अद्वितीय सत्य है उसकी खोज होनी चाहिये। इससे उस चैतन्यके कपाट खुलते हैं जो न अक्रिय है न सक्रिय, मन और वाणीसे जिसका वर्णन ही नहीं हो पाता।

ऐसी साधना और ऐसी अनुभूति उन उदार आत्माओंसे ही बन पड़ती है जिन्होंने प्रखर वैराग्यसाधन किया है और बोधशक्तिका तुरीय मान खोल दिया है।

इस बोधको प्राप्त होनेकी अवस्था पहले तर्कसे जानी जा सकती है, पर है यह यथार्थमें मनकी साधना। वस्तु जब प्रत्यक्ष या समीप होती है तभी विश्वासकी पूर्णता होती है। इसका यह मतलब है कि इस वेदान्त-सिद्धान्तका सतत मनन और निदिध्यासन हो। इससे वृत्ति ब्रह्माकार होती है और मन और अहङ्कारकी दुस्तर मायाको तर जानेमें बड़ी मदद मिलती है और मन अन्तर्मुख होकर जीवनके उस क्षेत्रमें प्रवेश करता है जो देशकालके परे है। वेदान्तमें योगका माहात्म्य यही है।

'योग' शब्दके अनेक अर्थ और रूप हैं, पर इसका जो सर्वसम्मत अर्थ है वह चैतन्यके विविध स्तरोंका खुलना ही है। और योगका लक्ष्य प्रायः आत्माकी विज्ञानमय स्थितिपर पड़े हुए आवरणको हटाना, चित्तको अविकाधिक चिन्मय बनाना और विश्वजीवनके जगमग प्राणस्वरूपको अपने अन्दर अनुभव करना होता है। विज्ञानमय जीवनका जो विस्तृत क्षेत्र है, जो विविध ब्रह्माण्डोंमें तरतमभावसे प्रकट हुआ है, जीव उसी क्षेत्रमें पहुँचनेकी इच्छा करता है। योगसे विश्वजीवनका सूत्र हाथमें आता है और जीव भगवत्सत्ताके साथ सगुणरूपमें मिलना चाहता है।

यह मार्ग अप्रत्यक्ष है, क्योंकि यह सान्त साकार चैतन्यको आधारभूमिके तौरपर ग्रहण करनेका एकबारगी निषेध नहीं करता। पर इसका लक्ष्य क्रमशः सान्त जीवनमें अनन्त जीवनको भरना और सान्त चिन्मय सत्ताको अनन्तकी वृत्ति, शक्ति और ज्ञप्तिमें मिला देना ही है। जो लोग उपासनामार्गी हैं और अपर ब्रह्मका ध्यान करते हैं उन्हें सगुण ब्रह्मका साक्षात्कार होता ही है।

इस योगका वास्तविक स्वरूप एकमेवाद्वितीय ब्रह्मके सगुण रूपका एकाग्रध्यान और उसीमें मिलना है। यह मिलन अन्तःकरणमें होता है और तब शान्ति और शक्तिका उदय होता है। पर इसमें साधनकी मुख्य और गुप्त बात यह है कि हमारे स्थूल शरीर और स्थूल प्राण हमारे वशमें हों और सूक्ष्म प्राण और सूक्ष्म अन्तःकरणके साथ अपने जीवनका अभेद-सम्बन्ध हो।

जब हमारी प्रकृतिकी जड़ता दूर होगी तब सगुण ब्रह्मकी सूक्ष्म जीवनधाराओंकी अनुभूति होगी। पर इस मार्गकी परिसमाप्ति तब होती है जब अन्तःकरणमें सगुण ब्रह्मका, केवल जब कभी नहीं बल्कि, सतत अनुभव हो। जिनको ऐसा सतत अनुभव होता है उनमें प्रचण्ड शक्ति और अगाध ज्ञान होता है, क्योंकि सगुण ब्रह्मके साथ उनका जीवनसूत्र इस तरह मिला हुआ होता है कि ईश्वरीय कार्योंकी उन्हें स्पष्ट सूचना मिलती रहती है और विश्वजीवनकी गतिके साथ-साथ उनके पैर पड़ा करते हैं।

यह जो सगुण-साधक योग है उससे ईश्वरप्रीत्यर्थ कर्म करनेकी वृत्ति अत्यन्त प्रबल होती है और वह सायुज्य-मुक्तिके साधनके लिये साधकको तैयार करती है।

वेदान्तके इस योगमें जीव और शिवकी जो एकरूपता होती है वह एकरूपता केवल परात्पर ब्रह्मकी स्थितिमें ही नहीं होती—परात्पर ब्रह्मके साथ एकरूप होना तो इस योगकी परिसमाप्ति ही है—बल्कि त्रिगुणात्मक जगत्कर्ममें भी ईश्वरके साथ जीव एकरूप होता है और यह यों होता है कि वेदान्तमें व्यवहारतः जीव और ईश्वरमें भेद है, परमार्थतः नहीं है। इस तरह मनुष्यकी इच्छा और ईश्वरकी इच्छामें भेद है, और इसलिये वेदान्तमें मनुष्यकी इच्छा और ईश्वरकी इच्छाके योगका विधान है। वेदान्तकी साधनामें योगके इस अङ्गपर जो

अधिक ध्यान दिया-दिलाया जाता है, इसका कारण यह है कि मोक्षका ध्यान मुख्य होनेसे इसका ध्यान दब-सा गया है।

ईश्वर और जीवकी इच्छाके एक होनेका अर्थ तो वास्तवमें यही है कि मनुष्यकी इच्छा ईश्वरेच्छाके पूर्ण शरणागत हो, पर यह शरणागति 'जो कुछ होता है, होने दो' ऐसा मानकर चुप पड़े रहनेकी स्थिति नहीं है, बल्कि अपनी इच्छाको नये साँचेमें ढालना है और अपनी वृत्तिको विश्वकी गतिके साथ मिलाना है । इस प्रकार मनुष्यका चित्त अहङ्कार और ममकारकी सीमा तोड़कर अन्तमें अपने परमात्मस्वरूपको अनुभव करता है । तब वह विधि-निषेधरूप कर्मके बन्धनसे मुक्त हो जाता है और उस लोकमें प्रवेश करता है जहाँ सब चित्त पृथक् होते हुए भी एक होते हैं और यहाँ उसका व्यष्टि-अहङ्कार और ममकार पीछे छूट जाता है। वेदान्तके सिद्धान्तके अनुसार मनुष्यकी चित्तवृत्ति इतनी विशाल हो सकती है कि उसमें अहंता-ममता कुछ रह ही न जाय । चित्तका वास्तविक मोक्ष यही है, क्योंकि इसीसे उसको अपने स्वच्छन्द, विश्वव्याप्त और विधिनिषेधातीत तथा निरहङ्कार स्वरूपका बोध होता है ।

यही चित्तका मोक्ष है, क्योंकि यही चित्तको सब प्रकारकी सीमाओंसे मुक्त कर देता है । पर यह मोक्ष वह मोक्ष नहीं है जो परात्पर ब्रह्मके साक्षात्कारसे प्राप्त होता है। यह केवल चित्तवृत्तिका स्वातन्त्र्य है, और वह आत्माका स्वातन्त्र्य है। वेदान्त आत्मस्वातन्त्र्यको ही उच्चतर स्थिति मानता है, जिसमें ध्याता-ध्यान-ध्येयकी त्रिपुटी समाप्त हो जाती है ।

इस सगुण ब्रह्मके साथ एकात्मता होनेसे अहता-ममतारूप सत्ता बदलकर सत्ताका कुछ दूसरा ही स्वरूप हो जाता है और अपनी ससीमताका ध्यान भी नहीं रहता । यद्यपि पूर्वके संस्कार इस अवस्थामें भी उठकर अहङ्कारके समवस्थित करनेमें सचेष्ट होते हैं तथापि सगुण ब्रह्मके साथ एकात्मताका जो भाव है वह अहभावसे क्रमशः मुक्ति दिलानेवाला है । और उमसे अन्तःकरणमें अनन्तकी सत्ता स्थापित होती है। अन्तःकरणका इस प्रकार पूर्ण परिवर्तन होनेसे बाह्य जगत्के अनुभव करनेका प्रकार भी बदल जाता है। फिर व्यक्तिगत या व्यष्टिगत स्वरूपमें रमना नहीं होता, अव्यक्त अनन्तकी अनुभूति होने लगती है ।

यह मानना कि पृथक् मन और अहङ्कारके बिना कोई प्रतीति नहीं हो सकती, गलत है । प्रतीति—अनुभूति—बोधको अहङ्कारकी विमूढतासे मुक्त करना ही वेदान्त सिखाता है ।

इस मुक्तिके बिना चित्तवृत्ति या इच्छाका मोक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि बोधशक्ति और चित्तवृत्तिका बडा घनिष्ट सम्बन्ध है । दोनों एक साथ ही रहती हैं। इस प्रकार वैयक्तिक मनोगत इच्छा या सङ्कल्पसे मुक्त होकर ही साधक विश्वात्मा और विश्वसङ्कल्पको साक्षात् करके विश्वबोधके आनन्दको प्राप्त होता है ।

बोधशक्ति और चित्तवृत्तिको इस प्रकार नियत करनेसे इतना ही होता है कि मुक्तिका आस्वाद मिलनेसे आगे बढ़नेको जी चाहता है—इससे यह नहीं होता कि त्रिगुणकी वृत्तियोंसे पूर्ण मोक्ष मिल जाय। कारण, यह भी साधनकी अवस्था है—चेष्टा है और चेष्टा चाहे कितनी भी स्वयं स्फूर्त हो वह बद्धताका ही लक्षण है—मुक्त आत्मस्वरूप नहीं । इसलिये वेदान्तका अन्तिम लक्ष्य इस सगुणकी अवस्थाके परे पहुँचना है । यह तब हो सकता है जब हम विश्वात्मबोधसे क्रमशः ऊपर उठकर उस परम भावको प्राप्त हो जहाँ कोई इच्छा नहीं है, केवल एक अद्वितीय परमात्मसत्ता है—वहाँ कोई चेष्टा नहीं है, न फल पानेका कोई सुख है, प्रत्युत एक ऐसा आनन्द है जो चिन्मय है ।

पूर्वसाधनासे चित्तवृत्ति उन्नत, उदार और विशाल होती है, और उत्तर साधनासे परा सत्ता—परम भावका बोध होता है । चित्तवृत्ति देशकालसे सर्वथा स्वाधीन नहीं है, उसे कार्यरूपमें व्यक्त होनेके लिये किसी-न-किसी माध्यमकी आवश्यकता होती है और माध्यमकी इस आड़के कारण अद्वितीय ब्रह्मका साक्षात्कार नहीं हो सकता । इसलिये वेदान्तमें योगका वास्तविक परम अर्थ वह साधन है जिससे देशकालाद्यनवच्छिन्न नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव परमात्मचैतन्यमें चित्त लग जाय—पूर्व-साधनामें चैतन्यका जो देशकालावच्छिन्न परिचित-अभ्यस्त व्यक्त रूप है उससे चित्त मुक्त हो, क्योंकि देशकालावच्छिन्नता ही यहाँ बद्धता है । कैंटके 'विशुद्ध तर्क' वाद (Pure reason) में बुद्धिकी विषयातीत सत्ता होनेसे उसमें देशकालसे स्वतन्त्र स्वतःसिद्ध बुद्धिके साथ बाह्य जगत्के तदनुरूप होनेवाले बोधकी समन्वित एकता साधित हो सकती है, पर यह जो बाह्य जगत्का बोध है वह तो देशकालसे परिच्छिन्न ही है, उसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं ।

वेदान्तने उस चिन्मय ब्रह्मका पता पाया है जो देशकालके परे है। वह गुणवृत्तियोंसे सर्वथा स्वतन्त्र और देशकालसे अनवच्छिन्न होनेके कारण कैवल्यस्वरूप है। वेदान्तका यह विशिष्ट अनुभव है। योग अन्तःकरणकी ग्रन्थियोंको भेदने और ज्ञानके भिन्न-भिन्न स्तरोंको खोलनेकी कला है और वेदान्तकी विशिष्ट योगसाधना देशकालानवच्छिन्न चिन्मय ब्रह्मको पाना है। यह मोक्ष आत्माको सगुणरूपसे नहीं प्राप्त होता, निर्गुण परमभावके साक्षात्कारसे होता है। कारण, सगुण देशकालपरिच्छिन्न है और परम भावमें ऐसी कोई परिच्छिन्नता नहीं। कालकी परिच्छिन्नताको हटाकर चिन्मय ब्रह्मको पाना ही मोक्षका परम साधन है। यही वैदान्तिक योग या ज्ञानयोगकी मूल भित्ति है।

योग क्या है?

(लेखक—स्वामी श्रीअभेदानन्दजी पी-एच० डी०)

'योग' शब्द संस्कृतके 'युज्' धातुसे बना है, जिसका अर्थ है 'जोड़ना'। अंग्रेजीका 'योक' (yoke) शब्द भी उसी धातुसे बना है। आरम्भमें अंग्रेजीके 'yoke' और संस्कृतके 'योग' का शाब्दिक भाव एक ही था। 'युज्' धातुका अर्थ है किसी वस्तुसे अपनेको जोड़ना अथवा किसी कार्यमें अपनेको लगाना। इस प्रकार मूल अर्थमें इसका अभिप्राय है किसी कठिन-कठोर कार्यके लिये अपनेको तैयार करना। अंग्रेजीमें इस भावकी व्याख्या 'to go into harness' अथवा 'to buckle to' अर्थात् कार्यके लिये आरूढ़ हो जाना, कमर कस लेना, आदि प्रयोगोंके द्वारा करते हैं। जिस प्रकारके उद्देश्यकी सिद्धि करनी होती है उसी प्रकारका उद्योग भी होता है, इसलिये उद्योग मानसिक भी हो सकता है, शारीरिक भी। पूर्ण स्वस्थता अथवा दीर्घजीवन प्राप्त करनेके उद्देश्यको लेकर मनसे और शरीरसे जो क्रिया होगी उसे 'योग' (हठयोग) कहेंगे।

यही बात मनःशक्तिकी वृद्धि तथा विकासके सम्बन्धमें कही जा सकती है। आत्मसंयमके लिये जिस प्रकारके मानसिक अभ्यासकी आवश्यकता है, आत्माको परमात्मासे मिलानेमें जिस साधनका आश्रय लिया जाता है, परमात्ममिलन अथवा आध्यात्मिक पूर्णताके लिये जो प्रक्रिया काममें ली जाती है उसे भी 'योग' ही कहते है। उसका नाम है 'राजयोग'।

'योग' शब्दका व्यवहार बहुत ही व्यापक अर्थमें किया जाता है और इसका क्षेत्र भी बहुत विस्तृत है। हठयोग, राजयोग, कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग, मन्त्रयोग, लययोग इत्यादि-इत्यादि इसके अन्तर्गत हैं। इनमेंसे प्रत्येक योगका भिन्न आदर्श है जिसकी प्राप्ति उसके अनुकूल विशिष्ट साधना और अभ्यासद्वारा ही हो सकती है।

राजयोग

योगके क्रियात्मक भागकी सभी शाखाओंमें 'राजयोग'-का सम्बन्ध केवल मन और मनःशक्तिसे है। इसे हम क्रियात्मक मनोविज्ञान कह सकते हैं। इसका उद्देश्य है सभी प्रकारकी मानसिक बाधाओंको हटाकर मनको पूर्णतया स्वस्थ और संयमी बनाना। इसके अभ्यासका मुख्य अभिप्राय है इच्छा-शक्तिको जगाना तथा उसे बलवती बनाना। इसके साथ ही धारणा-शक्तिको जाग्रत करके राजयोग साधकको ध्यान और धारणाके द्वारा सभी धर्मोंके चरम उद्देश्यकी प्राप्ति करा देता है।

योगकी इस साधनप्रणालीको राजयोग अथवा सर्वश्रेष्ठ मार्ग कहते हैं। क्योंकि धारणा-शक्ति और इच्छा-शक्ति सभी प्रकारकी भौतिक शक्तियोंसे श्रेष्ठ हैं—इतना ही नहीं, अपितु सभी दूसरी शक्तियोंकी प्राप्तिके लिये अनिवार्य हैं। जिस मनुष्यने पूर्ण विकसित इच्छा-शक्तिद्वारा संयत, सुदृढ़ मन पाया है और जिसकी धारणा-शक्ति अत्यन्त बलवती है वह सहज ही भौतिक शक्तियोंपर प्रभुत्व स्थापित कर सकता है। और अल्पकालमें ही सत्यका साक्षात्कार कर सकता है। राजयोग ही यह सिखला सकता है कि इसे कैसे प्राप्त किया जाय। वे सभी लोग जो प्राचीन अथवा अर्वाचीन हिन्दू राजयोगियोंसे परिचित हैं, राजयोगके अनुशीलन तथा अभ्यासको प्रोत्साहन देते हैं।

पीथैगरस (Pythagoras) तथा प्लेटो (Plato) जैसे ग्रीसदेशके प्राचीन तत्त्ववेत्ताओंने हमारे राजयोगकी भूरि-भूरि

प्रशंसा की है। प्लॉटिनस (Plotinus) तथा प्रोक्यूलियस Proculeius)-जैसे Neo-Blatonism नामक सम्प्रदायके अनुयायियोंने, मिश्रदेशवासियोंने, यहूदियोंमें 'इसेन' सम्प्रदाय (Essene) के अनुयायियोंने, ईसाइयोंमें Gnostic सम्प्रदायके लोगोंने, फारसके Manichean सम्प्रदायवालोंने तथा योरपके मध्यकालीन ईसाई रहस्यवादियोंने भी राजयोगकी बड़ी प्रशंसा की है तथा इसका अभ्यास रोमन कैथलिक सम्प्रदायकी ऊँची श्रेणीके साधु और साध्वियाँ भी करती थीं। स्पिनोज़ा, कांट, शोपेनहॉर, एमर्सन आदि दार्शनिकोंने भी इसकी प्रशंसा की है तथा यह बताया है कि राजयोगकी साधनाका उद्देश्य प्रकृति तथा आत्माके रहस्यका उद्घाटन करना तथा प्रत्येक व्यक्तिके अन्दर छिपी हुई शक्तियोंको जाग्रत करना है। योगियोंने अपने जीवनके द्वारा यह प्रत्यक्ष दिखला दिया है कि राजयोगके अभ्याससे वह शक्ति प्राप्त होती है जो संसारकी अन्य सभी शक्तियोंका नियन्त्रण करनेवाली है। राजयोगका यह कहना है कि जिसने अपने मनपर विजय प्राप्त कर ली वह प्रकृतिके समस्त व्यापारोंपर शासन कर सकता है।

राजयोगकी शिक्षा यह है कि संसारकी सर्वोपरि शक्ति मनःशक्ति है। यदि मनकी शक्तियोंको पूरी तरह समाहित करके किसी वस्तुविशेषपर केन्द्रीभूत कर दिया जाय तो उस वस्तुकी वास्तविक सत्ता प्रकट हो जायगी। यदि हम एक बिन्दुपर अपनी समग्र मनःशक्तिको पुञ्जीभूत कर एकाग्र कर सकें तो हम सहज ही उस वस्तुविशेषकी, जिसपर हमने अपनी वृत्तियोंको एकाग्र किया है, सारी विशेषताएँ जान जायँगे—चाहे वह वस्तु भौतिक हो, चाहे मानसिक, चाहे आध्यात्मिक।

राजयोगीके समाहित चित्तकी तुलना बिजलीकी सर्च-लाइटसे की जा सकती है। अपने मनकी केन्द्रीभूत तथा एकोन्मुखी किरणोंको जब वह किसी पदार्थविशेषपर फेंकता है, चाहे वह स्थूल हो अथवा सूक्ष्म, तब उस वस्तु-का रेशा-रेशा जगमगा उठता है और उसके सामने अपने सत्यरूपमें प्रकट हो जाता है। साधारण मनुष्योंकी दृष्टि वस्तुओंकी तहतक इसलिये नहीं पहुँच सकती कि उनकी मानसिक शक्तियाँ साधारण प्रकाशकी बिखरी हुई किरणों-की भाँति अस्त-व्यस्त, छिन्न-भिन्न हैं। इसी प्रकार यदि मनकी वृत्तिको आभ्यन्तरिक वस्तुओंपर स्थिर किया जाय, अथवा आध्यात्मिक जगत्के सत्योंपर ठहराया जाय तो विश्वात्माका पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो सकता है।

इस प्रकार यह बात स्पष्ट हो गयी कि इन्द्रिय-शक्ति अथवा वैज्ञानिक यन्त्रोंद्वारा प्राप्त सभी प्रकारकी शक्तियोंसे ध्यान-शक्ति बढ़कर है। यदि हम अपनी मनःशक्तियोंका नियमन करके, मनको अन्तर्मुखी करके और मनको क्षुब्ध तथा विक्षिप्त करनेवाले सभी विघ्नोंका उपशमन करके अपनी केन्द्रीभूत मानसिक शक्तिको आत्माकी ओर मोड़ सकें तो अपनी व्यष्टि आत्माका सत्यस्वरूप हमारे सामने आ जायगा और हम इस बातको समझ जायँगे कि हमारा शुद्ध, नित्य, अपरिच्छिन्न अहं ही सर्वात्मा अथवा परमात्मा है और वह ब्रह्मसे भिन्न नहीं है। तब हमें इस बातका भी बोध हो जायगा कि ब्रह्मकी दिव्य सनातन सत्ता, जिसे हम अज्ञानवश अपनेसे भिन्न मानकर पूजते थे, हमसे अलग नहीं है—वह हमारे भीतर ही है और उसे पानेके लिये हमें बाहर जानेकी आवश्यकता नहीं। वह तो हमारी ही सर्वशक्तिमान् आत्मा है जिसका निवास हमारे भीतर है। हम यह भी देखेंगे कि वही एक अव्यय सनातन आत्मा सर्वत्र व्याप्त है और उससे परे कुछ है ही नहीं। भगवान्ने गीतामें कहा है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥

सच्चा योगी सभी वस्तुओंमें सर्वत्र आत्माको और आत्मामें ही सब वस्तुओंको देखता है। इस प्रकार वह समस्त जगत्के नाम और रूपके मूलमें 'एक सत्' परम तत्त्वको जान लेता है और इसी कारण वह 'समदर्शी' हो जाता है। इस ज्ञानके द्वारा ही आत्मा अज्ञानसे मुक्त हो सकता है।

राजयोगकी साधनाके आठ अङ्ग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। पहले चार, अर्थात् यम, नियम, आसन और प्राणायाम, हठयोगमें भी समानरूपसे मिलते हैं। यम-नियमोंमें सदाचारसम्बन्धी सारे नियमोंका समावेश हो गया है। आगेके साधनोंका अभ्यास करनेके लिये यह आवश्यक है कि यम-नियमका पूरी तरहसे पालन किया जाय। बुद्ध, ईसा तथा संसारके अन्यान्य सभी धर्माचार्योंके प्रधान उपदेश तथा मूल सिद्धान्त यम और नियमके अन्तर्गत आ

जाते हैं। यमके अन्दर निम्नलिखित बातें आ जाती हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।

इसके अनन्तर दूसरी सीढ़ी नियमकी है, जिसके अन्तर्गत हैं—तप, शौच, सन्तोष, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान अर्थात् ईश्वरकी इच्छामें आत्मसमर्पण कर देना। तीसरी सीढ़ी है आसन—अर्थात् शरीर तथा इसके अवयवोंको भिन्न-भिन्न प्रकारसे स्थिर करना। हठयोग-शास्त्रमें सब मिलाकर कुल चौरासी आसनोंका वर्णन मिलता है। इनमेंसे प्रत्येकको यदि उसके अनुकूल विशेष प्रकारके प्राणायामके साथ किया जाय तो नाडी-चक्रों तथा शरीरके भीतरके भिन्न-भिन्न अङ्गोंकी प्रसुप्त शक्तियाँ जाग जाती हैं। योगके सर्वोच्च आदर्शकी प्राप्तिके लिये यह आवश्यक है कि शरीर स्वस्थ और सुदृढ हो। जो शरीरसे रुग्ण हैं वे अपने चित्तको एकाग्र नहीं कर सकते और न वे ऊँचे तत्त्वोंपर अपना ध्यान ही टिका सकते हैं। इस हेतु योगसाधनाकी प्रारम्भिक अवस्थामें साधकोंको कुछ आसनोंका अभ्यास करना चाहिये, जिससे वे अपने शरीरको स्वस्थ और चित्तको सुस्थिर कर सकें। चौथी सीढ़ी है प्राणायाम। यह श्वासोंका व्यायाम है। मूढता, आलस्य, शारीरिक दुर्बलता आदि विघ्न कुछ खास प्रकारके प्राणायाम करनेसे दूर हो जाते हैं। और उनसे इन्द्रियों तथा नाडी-चक्रोंको वशमें और मनको सुस्थिर करनेमें बहुत अधिक सहायता मिलती है।*

इसके अनन्तर पाँचवीं सीढ़ी प्रत्याहारकी है। यदि हम बाह्य विषयोंसे मनको हटाकर किसी आन्तरिक वस्तु-पर इसे स्थिर कर सकें और अपनी इच्छाके अधीन कर लें, अर्थात् इसे अपने वशमें करके जहाँ चाहें वहाँ ले जा सकें, तो समझ लीजिये कि हमारा प्रत्याहार सध गया। पतञ्जलि ऋषिका कथन है—

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः। (२। ५४)

मनकी शक्तियोंको एकत्र कर उन्हें बाह्य विषयोंकी ओर जानेसे रोकनेकी प्रक्रियाका नाम ही प्रत्याहार है। धारणा इसके अनन्तर आती है और यह धारणाकी प्रारम्भिक सीढ़ी है। इन पाँच प्रारम्भिक सीढ़ियोंको पारकर यदि साधक 'धारणा' का अभ्यास करे तो उसे अपूर्व लाभ होगा।

धारणासे आगे योगसाधनकी सातवीं सीढ़ी—'ध्यान' है। ध्यानके द्वारा ही मनुष्य समाधि अथवा तुरीयावस्थामें प्रविष्ट होता है, जो योगकी आठवीं और अन्तिम सीढ़ी है।* समाधि-अवस्थामें सूक्ष्म बोध करानेवाली छठी इन्द्रियका विकास होता है, आध्यात्मिक अथवा दिव्य चक्षु खुल जाती है और हमारी आत्माके आत्मा—परमात्माका साक्षात्कार हो जाता है। समाधि अथवा तुरीया अवस्थाको प्राप्त करनेके लिये अनवरत चेष्टा, धैर्य और अध्यवसायकी आवश्यकता है। समाधिके अनेक विघ्न हैं—जैसे शोक, व्याधि, मनःशैथिल्य, संशय, चेष्टाका परित्याग, मन और शरीरका भारीपन, सांसारिक पदार्थोंकी कामना, विपर्यय-ज्ञान, चित्तका एकाग्र न होना, एक स्थितिपर पहुँचकर उससे च्युत हो जाना, श्वास-प्रश्वासकी विषम क्रिया, इत्यादि-इत्यादि। एकनिष्ठ योगीको चाहिये कि वह इस मार्गके सारे विघ्नों और बाधाओंको हटाकर आगे बढ़ता चले। जबतक वह लक्ष्यपर न पहुँच जाय, पथमें उसे नाना प्रकारकी सिद्धियाँ लुभाने आवेंगी। उन-उन विभूतियोंमें—बहुत दूरका दृश्य देख लेना, बहुत दूरका शब्द सुन लेना, (Clairvoyance and Clairaudience), दूसरोंके मनकी बात जान लेना (Thought-reading), तथा अणिमा, महिमा आदि अष्ट सिद्धियाँ मुख्य हैं। कैवल्य मुक्ति अर्थात् सब प्रकारके बन्धनोंसे छुटकारा चाहनेवाला योगी इन सारी विभूतियोंको विघ्नरूप समझकर इनसे सदा बचता रहे और कभी उनका उपयोग स्वार्थसाधनमें न करे। निर्विकल्प समाधिरूप योगकी चरमावस्थामें स्थित हुआ राजयोगी फिर कभी संसारके जालमें नहीं फँसेगा। समस्त संसार उसे परमात्माकी रंगस्थली प्रतीत होने लगेगा और वह निरन्तर इस बातका अनुभव करेगा कि उसका शरीर और मन उस सर्वसमर्थ शक्तिके हाथका एक यन्त्र है, जिसका स्फुरण समस्त नामरूपमें हो रहा है। इस प्रकार आध्यात्मिक ज्ञानकी दिव्य ज्योति तथा आध्यात्मिक पूर्णताको प्राप्त कर चुकनेपर सच्चा राजयोगी जीवन्मुक्त हो जाता है, आत्मजित् हो जाता है और इसी जीवनमें वह समस्त प्रकृतिका स्वामी बन जाता है। ॐ तत्सत्

* इस विषयको विस्तारसे जाननेके लिये पाठक मेरी 'How to be a Yogi' पुस्तकके 'प्राणायाम' (The Science of Breathing) [illegible] हैं।

* इन पिछली तीन अवस्थाओंका विशदरूपसे ज्ञान प्राप्त करनेके लिये पाठक मेरी लिखी हुई 'Spiritual Unfoldment' अथवा 'आत्मविकास' नामक पुस्तक देखें।

सुरत-शब्द-योग

[लेखक—श्रीआनन्दस्वरूपजी (साहेबजीमहाराज)]

राधास्वामीसम्प्रदायमें जो योगसाधन प्रचलित है वह सुरत-शब्द-योगके नामसे प्रसिद्ध है। बतलाया जाता है कि शब्द दो प्रकारके है, आहत और अनाहत। आहत शब्द वे हैं जो आघात अर्थात् दो वस्तुओंके टकरानेसे उत्पन्न होते हैं और अनाहत वे हैं जो स्वतः अर्थात् आघातके बिना उत्पन्न होते हैं। अनाहत शब्दोंमें सुरत अर्थात् ध्यानके जोड़नेहीको सुरत-शब्द-योग कहते हैं।

हर कोई जानता है कि प्रत्येक शक्तिके दो रूप होते हैं, गुप्त और प्रकट। जब कोई शक्ति गुप्तरूप होती है तो मनुष्यको उसका कोई ज्ञान नहीं हो सकता। वह अरूप और अनाम रहती है। जब वह क्रियावती होती है तभी मनुष्यको उसका ज्ञान होता है। और जब कोई शक्ति क्रियावती होती है तो उसका विकास धारारूपसे हुआ करता है। अर्थात् उसकी धाराएँ चतुर्दिक् फैलकर अपना मण्डल बाँधती है। और ऐसी प्रत्येक धाराके सग-सग एक शब्दकी धारा प्रवाहित होती है। इसीलिये कहा जाता है कि जहाँ कोई शक्ति क्रियावती होती है वहाँ शब्द-की ध्वनि भी विद्यमान रहती है। देखिये, सूर्यकी किरणों-के द्वारा जो सौरशक्ति वायुमण्डलमें विकीर्ण होकर पृथ्वी-मण्डलपर उतरती है उससे भी ध्वनि उत्पन्न होती है, परन्तु हमारी श्रवणेन्द्रिय इस सूक्ष्म शब्दके ग्रहण करनेमें अशक्त है। इस कारण हम उसे सुन नहीं पाते, पर वह शब्द होता है अवश्य। एक श्रवणेन्द्रिय ही क्या, हमारी सभी ज्ञानेन्द्रियोंकी गति सीमाबद्ध है। हम अपने चर्म-चक्षुओंसे जलकी बूँदको स्वच्छ और शुद्ध प्रतीत करते हैं, परन्तु सूक्ष्मदर्शक यन्त्र (Microscope) से देखनेपर उस बूँदमें शतश: कीटाणु (Germs) विचरते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। इसी प्रकार हमारे शरीरमें विद्यमान आत्मशक्तिकी धाराओंसे भी अनेक ध्वनियाँ होती है, जिन्हें सुननेमें हमारी स्थूल श्रवणेन्द्रिय अशक्त है। परन्तु यदि कोई मनुष्य साधन करके अपनी सूक्ष्म और चेतन श्रवणेन्द्रियोंको जाग्रत कर ले तो उनके द्वारा उसको अवश्य ही सूक्ष्म और चेतन शब्दोंका अनुभव प्राप्त होगा। इसी सिद्धान्तके अनुसार प्रत्येक सुरत-शब्द-मार्गानुयायी इन दिव्य शक्तियोंके जगाने-का साधन करता है। जब किसी अभ्यासीको ये शब्द सुनायी देने लगते हैं तो उसके अन्तरमें महान् परिवर्तन होने लगता है। कारण, यह एक सृष्टि-नियम है कि प्रत्येक शब्द अपने उत्थान-स्थान या भाण्डारका प्रभाव लिये रहता है। किसी दुःखिनीके रुदन और क्रन्दनके स्वरको सुनकर हमें तत्क्षण ज्ञात हो जाता है कि उसके हृदयमें कोई घोर दुःख व्याप रहा है। पुत्रकी मृत्यु होने-पर किसी माताके विलापको सुनकर बिना किसीके बतलाये ही हम समझ जाते है कि उसके हृदयको क्या आघात पहुँचा है। इसी प्रकार वे सूक्ष्म और चेतन शब्द भी, जो सुरत-शब्द-अभ्यासीको अन्तरमें सुनायी देते है, अपने उत्थान-स्थानोंके गुणोंका प्रभाव लिये होते हैं। अतः उन शब्दोंसे सम्बन्ध होते ही अभ्यासीके अन्तरमें उन शब्दोंके उत्थान-स्थानोंके गुणोंका प्रभाव व्याप्त हो जाता है। प्रथम उसे नूतन प्रकारकी शीतलता और निर्मलताका अनुभव होता है और कुछ कालके बीतनेपर उच्च कोटिके शब्दोंके प्रभावसे उसकी चेतन ज्ञानेन्द्रिय जाग्रत होकर उसे चेतन-सृष्टि प्रत्यक्ष होने लगती है, जिसके कारण उसका हृदय अत्यन्त गद्गद हो जाता है।

हमारा मनुष्यशरीर देखनेमें तो केवल हाड़-मांस-चामका पुलिंदा ही है, परन्तु 'सत्-कर्त्तार' ने इसके भीतर नाना प्रकारकी दिव्य शक्तियाँ स्थापित कर दी है। शरीरके उन स्थलोंको जहाँ इन गुप्त शक्तियोंके केन्द्र नियत किये गये है, चक्र, कमल और पद्म कहते है। जो पाठकवृन्द योगविद्याकी परिभाषासे परिचित है वे इन शब्दोंके अर्थ भली प्रकार समझते है। हर कोई जानता है कि जाग्रत् अवस्थामें मनुष्यकी समझने-बूझने और देखने-सुनने आदि-की सभी क्रियाएँ उसके मस्तिष्कमें स्थित विभिन्न केन्द्रोंके क्रियावान् (Active) होनेहीपर बन पड़ती है। इन केन्द्रोंमें तो केवल इन्हीं प्रकारकी क्रियाओंके प्रकट करनेकी योग्यता है, परन्तु उन कमलों और पद्मोंकी योग्यता अत्यन्त उच्च कोटिकी है, यहाँतक कि एक ऐसा कमल है जिसके क्रियावान् होनेपर मनुष्यको ब्रह्म-पुरुषका ऐसे ही

प्रत्यक्ष दर्शन प्राप्त हो जाता है जैसे कि इन चर्मचक्षुओं या साधारण दर्शनेन्द्रियके क्रियावान् होनेपर भौतिक जगत्-के सूर्यका होता है, और एक कमल ऐसा है कि उसके चैतन्य होनेपर अभ्यासीको निर्मल चेतन अर्थात् प्रकृतिकी हदसे परेके शुद्ध चेतनका अनुभव हो जाता है, और विश्वास किया जाता है कि इन कमलोंमें उच्चतम कमल या पद्मके क्रियावान् होनेपर मनुष्यको सच्चे कुलमालिकका प्रत्यक्ष दर्शन प्राप्त हो सकता है। सुतरां, राधास्वामीमतमें जो साधन बतलाये जाते हैं उनका प्रयोजन यही है कि अभ्यासीकी सुरत अर्थात् आत्मा क्रमशः अन्तरमें चढ़कर इन गुप्त चक्रों, कमलों और पद्मोंको चैतन्य करे और सूक्ष्म और चेतनमण्डलोंकी रचनाका अनुभव करती हुई अन्तमें सच्चे कुलमालिकका दर्शन प्राप्त करके कृतकृत्य हो।

यह लिखनेकी आवश्यकता नहीं कि सुरत-शब्द-योग-का साधन ऐसा सुगम नहीं है जैसा कि ऊपरके लेखसे प्रतीत होनेकी सम्भावना है। मनकी चञ्चलता और मलिनता इस साधनकी कमाईमें भी वैसी ही बाधक होती हैं जैसी कि ये दूसरे योग-साधनोंकी कमाईमें हुआ करती हैं। परन्तु अभ्यासीकी सहायताके लिये इस विषयमें एक विशेष प्रबन्ध है, अर्थात् सुरत-शब्द-मार्गानुयायीको दो ऐसी युक्तियाँ सिखलायी जाती है जिनके द्वारा वह इन विघ्नोंसे बहुत कुछ छुटकारा पा सकता है। ये सुमिरन और ध्यानकी युक्तियाँ हैं। सुमिरनसे अभिप्राय एक खास बीजमन्त्रका अन्तरमें जप या उच्चारण, और ध्यानसे अभिप्राय अन्तरमें चेतनस्वरूपका चिन्तन है। ये युक्तियाँ कोई नयी बात नहीं है। 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' और 'वीतरागविषय वा चित्तम्' इन दो योग-सूत्रोंमें इन्हींके लिये संकेत किया गया है।

अभ्यासीको यह भी निर्देश है कि अपने आहार-व्यवहारमें सावधान रहे और संयमसे बरते। उसे मद्य, मांस आदि तामसी पदार्थोंसे सर्वथा परहेज़ करना होगा और साधारण खान-पानमें भी विचार रखना होगा कि भोजन धर्म्य, स्वच्छ तथा पथ्य हो और वह न तो अति मात्राको पहुँचने पावे और न इतनी अल्प मात्रामें ही रहे कि दिनभर खाद्य पदार्थोंके स्वप्न आते रहें और शरीर निर्बल हो जाय। इसके अतिरिक्त उसे संसारके अनावश्यक व्यवहार और व्यापारसे भी पृथक् रहना होगा। दुष्ट और अनिष्ट सम्पर्क तो उसके लिये सर्वथा ही त्याज्य हैं। उसे उचित है कि जीवनसम्बन्धी धंधोंसे निबटनेपर जो समय बचे उसे या तो अन्तरी साधनकी कमाईमें लगावे या महात्माओं और प्रेमी जनोंके संगमें या महापुरुषोंकी पवित्र बानीके स्वाध्यायमें व्यतीत करे, ताकि मनको मलिन और चञ्चल होनेके लिये न्यून-से न्यून अवसर प्राप्त हो।

इन निर्देशोंपर आचरण करनेसे प्रेमी परमार्थीका काम चल निकलता है और शनैः-शनैः नवीन आत्मबल उत्पन्न होनेसे उसकी सब कठिनाइयाँ दूर हो जाती हैं और एक दिन उसकी सुरत-शब्दकी डोरके सहारे पिण्ड और ब्रह्माण्ड-के पार सच्चे कुलमालिक राधास्वामीदयालके चरणोंमें विश्राम पा लेती है।

प्रार्थना

(१)

बनि दीन गरीब अनाथ महा यह दासी परी शरणागत तेरे,
सब स्वारथ मित्रसे विश्व भरा, अब तेरे सिवाय नहीं कोउ मेरे।
किये दोष अनेक अजानपने, करि माफ प्रभो करो रावरे चेरे,
तकसीरोंको याद करो मत हा, अब राखो दया निधि चर्णसे नेरे॥

(२)

मोह भरी मद मत्त भई, कितनेहूँ किये जग काम निकामी,
रावरेसों कछु भेद नहीं, तुम हो हरि केशव अन्तरयामी।
दूर कै दोष हरो भ्रम बन्धन, हूँ तव चर्ण सरोज नमामी,
आय परी शरणागत मैं अपनाओ मुझे अब विश्वके स्वामी॥

—सुदर्शनदासी

वेदोंमें योग

(लेखक—उदासीन परिव्राजकाचार्य, वेददर्शनाचार्य, मण्डलेश्वर श्रीस्वामी गङ्गेश्वरानन्दजी महाराज)

उदासीनं सुखासीनमुपासीनं रमारमम् । औदास्यप्रथमाचार्यं कुमारं वैधसं भजे ॥

योग भारतवर्षकी अमूल्य सम्पत्ति है। दर्शनशास्त्र महर्षियोंकी योगविद्याका ही चमत्कार है। स्मृति, पुराण, अन्यान्य चिकित्सा-ज्योतिषादि शास्त्र, अधिक क्या, समस्त विद्याएँ योगाभ्यासजन्य ऋतम्भरा प्रज्ञाके ही मधुर एव मनोहर फल हैं। अतएव आर्यजातिके समस्त साहित्यमें ही योगका मुक्तकण्ठसे गुणगान हुआ है। एकाग्रता, समाधि तथा- योग ये तीनों शब्द एक ही अर्थके प्रतिपादक हैं। विचार करनेसे सिद्धान्त होगा कि ससारका कोई भी ऐसा कार्य व्यावहारिक या पारमार्थिक नहीं है, जो विना चित्तकी एकाग्रताके निष्पन्न हो सकता हो।

आजकल नये-नये वैज्ञानिक आविष्कार भी अमर-कीर्ति न्यूटन प्रभृति वैज्ञानिक महानुभावोंकी एकाग्रताके ही दिव्य चमत्कार हैं। अतः प्रत्येक प्राणीको एकाग्रता या योगकी शरणमें अवश्य आना ही होगा। अन्यथा वह अपने लौकिक और पारलौकिक किसी भी अभीष्टको सिद्ध न कर सकेगा।

सब धर्मोंका साधन योग ही है

इसके अतिरिक्त पुरुषके प्रत्येक अभीष्टकी सिद्धिके लिये, पुत्र-वत्सला श्रुतिजननी धर्मानुष्ठानकी आज्ञा कर रही है, 'धर्मं चर'—धर्मका अनुष्ठान करो। यह अनुष्ठेय धर्म तीन अङ्गोंमें विभक्त है—यज्ञ, तप और दान। इनमें भी मुख्य स्थान यज्ञका है। अतएव श्रीकृष्ण परमात्माने—

'यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥'

(गीता १८। ५)

'यज्ञ, दान और तप ही बुद्धिमान् मनुष्योंके पावन करनेवाले हैं।' इस उक्तिमें यज्ञको ही प्रथम स्थान दिया है।

वह यज्ञ तीन प्रकारका है—कर्मयज्ञ, उपासनायज्ञ तथा ज्ञानयज्ञ। उक्त त्रिविध यज्ञकी निष्पत्ति योगपर अवलम्बित है। कर्मयज्ञमें अनन्त क्रियाओंका पूर्वापरभावसे अनुष्ठान, तत्तद् वेदमन्त्रोंद्वारा अनुष्ठेय कर्तव्यका स्मरण, सम्पूर्ण अङ्गोंका सङ्कलन आवश्यक है। यदि पश्चात् अनुष्ठेय क्रियाका प्रथम और प्रथमानुष्ठेय क्रियाका पश्चात् अनुष्ठान हो, अनुष्ठेय कर्तव्यस्मारक वेदमन्त्रके उच्चारणमें शब्द, वर्ण और स्वरकी भूल हो जाय या कोई अङ्ग छूट जाय, तो वह यज्ञ अपूर्ण ही नहीं वर प्रत्यवायका कारण होगा। अतः कर्मयज्ञकी निष्पत्तिके लिये ऋत्विजोंको सर्वथा सावधान रहना पडता है। चतुर्वेदपारग ब्रह्मा-नामक ऋत्विक् तो इसीलिये नियुक्त किया जाता है कि वह एकाग्रमना रहकर कर्मानुष्ठानमें व्यग्र ऋत्विजोंकी मानवस्वभावसुलभ भूलोंको समय-समयपर सुधारता रहे।

उपासनायज्ञकी तो बात ही क्या कहनी है, क्योंकि प्रेम या भक्तिको उपासनाका जीवन, और योगको शरीर माना है। जिस प्रकार शरीरके विना शरीरी आत्माका कोई भी भोग सिद्ध नहीं हो सकता, ठीक उसी तरह उपासना-का कोई भी अङ्ग योगकी सहायता विना निष्पन्न नहीं हो सकता।

सर्वव्यापक जीवहृदयविहारी परमात्मा, विविध वृत्ति-तरङ्गोंसे अन्तःकरण-जलाशयके चञ्चल होनेके कारण, मनुष्यके हृदयसे छिप जाते हैं, यही उनका मनुष्यसे दूर होना है। जिन क्रियाओंसे उस तरह दूर हटे हुए परमात्मा जीवके हृदयमें वृत्तितरङ्गोंके एक बार ही शान्त होनेपर प्रकट हो जायँ, अर्थात् जलाशयमें सूर्यके समान परमात्माके वास्तविक स्वरूपके दर्शन होने लगें, यही परमात्माका जीवके समीप होना है। अन्य प्रकारकी समीपता और विप्रकृष्टता सर्वव्यापी परमात्मामें बन ही कैसे सकती है? शान्तचित्तमें परमात्माके प्रादुर्भावरूप समीप-स्थितिके सम्पादक क्रिया-कलापका नाम ही उपासना है। चित्त-शान्ति-साधनयोगके विना उसका होना कठिन ही नहीं, असम्भव है।

रहा ज्ञानयज्ञ, वह भी विना योगके आत्मलाभ करने-में असमर्थ है। बृहदारण्यकोपनिषद्के मैत्रेयी ब्राह्मणमें—

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्या-सितव्यः। (२।४।५)

'अरे आत्माका ही दर्शन, श्रवण, मनन और निदि-ध्यासन करना चाहिये।'

इस वचनद्वारा श्रवण-मननके सदृश निदिध्यासनको आत्मसाक्षात्कारका साधन माना है।

निदिध्यासन ध्यानका नामान्तर है। ध्यान विशाल योगभवनका सप्तम सोपान है। अतः यह निश्चित हुआ कि बिना योगके कोई भी यज्ञ विशेषतः ज्ञानयज्ञ निष्पन्न नहीं हो सकता, अतएव योगी याज्ञवल्क्य लिखते हैं—

इज्याचारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्मणाम्।
अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्॥

'यज्ञाचार, दम, अहिंसा, दान, स्वाध्याय प्रभृति धर्मोंसे योगके द्वारा आत्मदर्शन करना परम धर्म है।' इस परम धर्मका साधन है योग।

दर्शनशास्त्र और पुराणादि स्मृतियोंमें भी योगकी महिमा और यज्ञोंकी सिद्धिके लिये उसकी परमावश्यकता बतलायी गयी है। इसी सिद्धान्तका ऋक्संहितामें स्पष्ट उल्लेख पाया जाता है—

यस्मादृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन।
स धीनां योगमिन्वति॥

(ऋक्संहिता, मण्डल १, सूक्त १८, मन्त्र ७)

अर्थात् 'योगके बिना विद्वान्का भी कोई यज्ञकर्म नहीं सिद्ध होता, वह योग क्या है सो चित्तवृत्तियोंका निरोध है, वह कर्तव्य कर्ममात्रमें व्याप्त है।'

कर्म, उपासना तथा ज्ञानभेदसे यज्ञ तीन प्रकारका है। वह योगके बिना निष्पन्न नहीं हो सकता। अज्ञानीकी तो बात ही क्या, ज्ञानी भी योगकी सहायताके बिना उसे सिद्ध करनेमें असमर्थ है, क्योंकि चित्तवृत्तिनिरोधरूपी योग या एकाग्रतामें समस्त कर्तव्य व्याप्त हैं, अर्थात् सब कर्मोंकी निष्पत्तिका एकमात्र उपाय चित्तसमाधि या योग ही है।

योग क्या है ?

योग शब्द 'युज् समाधौ' धातुसे घञ् प्रत्यय होकर बना है, अतएव इसका अर्थ संयोग न होकर समाधि ही हुआ है। समाधि नाम चित्तवृत्तिनिरोधकी क्रियाशैलीका है, उस क्रियाशैलीको पूज्यपाद महर्षियोंने चार भागोंमें विभक्त किया है—मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग।

परिदृश्यमान प्रपञ्चका कोई भी भाग नामरूपसे बचा हुआ नहीं है। जीव नामरूपमें ही फँसकर बद्ध होता है, जिस भूमिपर गिरता है, उसी भूमिको पकड़कर मनुष्य उठ सकता है, आकाशको नहीं। इस नियमके अनुसार जीवको नामरूपके अवलम्बनसे ही मुक्तिपथकी ओर अग्रसर होना होगा। अतः दिव्य नामरूपके अवलम्बनसे चित्तवृत्तिनिरोधकी जितनी क्रियाएँ हैं, शास्त्रमें उन्हें मन्त्रयोग नामसे कहा गया है।

स्थूल शरीरसे सम्बन्ध रखनेवाली षट्कर्मादि योगक्रियाओंके अभ्यासद्वारा स्थूल शरीरपर आधिपत्य स्थापित करते हुए सूक्ष्म शरीरपर प्रभाव डालकर चित्तवृत्तिनिरोधकी जितनी क्रियाशैलियाँ हैं, उनका नाम हठयोग है।

समष्टि-व्यष्टिके सिद्धान्तानुसार जीवशरीररूपी पिण्ड, समष्टिसृष्टिरूपी ब्रह्माण्ड दोनों एक हैं। अतः ब्रह्माण्डकी समस्त वस्तुओंका अस्तित्व उसीके समान पिण्डमें अवश्य है। पिण्डमें ब्रह्माण्डव्यापिनी प्रकृतिशक्तिका केन्द्र मूलाधारपद्ममें स्थित सार्धत्रिवलयाकारा—साढ़े तीन चक्र लगाये हुए सर्पवत् कुण्डलाकृति कुण्डलिनी है। ब्रह्माण्डव्यापी पुरुषका केन्द्र सहस्रदलकमल है, निद्रित कुलकुण्डलिनीको गुरूपदिष्ट योगक्रियाओंसे प्रबुद्ध करते हुए कुलकुण्डलिनीरूप प्रकृतिशक्तिको सुषुम्नानाड़ीगुम्फित षट्चक्रोंके भेदनद्वारा ले जाकर सहस्रदलकमलविहारी परमात्मामें लय करनेकी जो क्रियाशैली है और तदनुयायी जितने साधन हैं, उनको लययोग कहते हैं।

मनकी क्रिया मनुष्यके बन्धनका कारण है। बुद्धिकी क्रिया मनुष्यके मुक्त करानेमें सहायक होती है। बुद्धिकी क्रिया विचार है, अतः उसके द्वारा चित्तवृत्तिनिरोधकी जो क्रियाशैली है, उसका नाम राजयोग है। इसका अधिकार सबसे बढ़कर है।

योगके विघ्न और उपविघ्न

उक्त चतुर्विध योगके नौ अन्तराय (विघ्न) और पाँच उपान्तराय (उपविघ्न) हैं।

महर्षि पतञ्जलि उनकी नामावली इस प्रकार लिखते हैं—

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः।

(योग० १।३०)

'दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः'
(योग० १।३१)

१ व्याधि (रोग), २ स्त्यान (शिथिलता), ३ संशय, ४ प्रमाद (जान-बूझकर योगाङ्गोंका अनुष्ठान न करना), ५ आलस्य, ६ अविरति (विषयोंमें ग्लानिका न होना अर्थात् विषयभोगाभिरुचि), ७ भ्रान्तिदर्शन (विपरीत निश्चय), ८ अलब्धभूमिकत्व (योगाङ्गोंका अनुष्ठान करनेपर भी मधुमती, मधुप्रतीका आदि समाधिभूमिविशेषका लाभ न होना), ९ अनवस्थितत्व (भूमिविशेषका लाभ होनेपर भी चित्तका स्थिर न रहना) । यह नौ चित्तविक्षेपकारी अतएव योग या समाधिके अन्तराय (विघातक) हैं । योगमल, योगप्रतिपक्ष, योगविघ्न इन्हींका नामान्तर है ।

इनके साथी पाँच उपविघ्न ये हैं—१ दुःख, २ दौर्मनस्य (इच्छाके पूर्ण न होनेसे मनका क्षुब्ध होना), ३ अङ्गमेजयत्व (अङ्गकम्पन), ४ श्वास (बाह्य वायुको भीतर ले जाना), ५ प्रश्वास (भीतरकी वायुको बाहर निकालना) ।

योगसिद्धिके लिये प्रार्थनाकी आवश्यकता

इन विघ्नोपविघ्नोंका निराकरण और चतुर्विध योगानुष्ठानका फल समाधिलाभ तभी होगा, जब साधक ईश्वरका अनुकम्पापात्र हो । सच्चे हृदयसे विनीत प्रार्थी भक्तके ऊपर ही ईश्वर अनुकम्पा करते हैं, अतः निर्विघ्न चतुर्विध योगसिद्धिके निमित्त जगदीश्वरकी प्रार्थनाका वह मन्त्र जिसके द्वारा साधक भगवान्‌को अपनी ओर आकृष्ट कर सके, निम्न निर्दिष्ट है—

**योगे योगे तवस्तरं वाजे वाजे हवामहे ।
सखाय इन्द्रमूतये ॥**

अर्थात् प्रत्येक योगमें, प्रत्येक सङ्कट-संग्राममें हम सखा (साधक लोग) बलवान् इन्द्रको बुलाते हैं । ऋग्वेद—१।३०।७ शुक्लयजुः—११।१४ सामवेद उ० १।२।११।१ पू० २।२।७।९ अथर्ववेद १९।२४।७ एवं २०।२६।१ ॥

योग—मन्त्रयोगादि भेदसे चार प्रकारका है । उक्त सर्व प्रकारके योगमें प्रवृत्त हुए मित्रके समान अति प्रिय हम साधक सर्वशक्तिसम्पन्न परमात्माको व्याध्यादि विघ्न, दुःख, दौर्मनस्यादि उपविघ्न तथा लोभ, क्रोध, मोहादि राजस-तामस चित्तविकार जो समाधिके प्रबल शत्रु हैं, उनके द्वारा जब-जब समाधिविघातकी चेष्टारूपी संग्राम उपस्थित हो, उस समय रक्षाके लिये कहीं प्रबल शत्रुओंद्वारा समाधिका विघात न हो जाय, इस अभिप्रायसे उन प्रबल शत्रुओंके दमनपूर्वक समाधिको सुरक्षित बना रखनेके लिये आह्वान करते हैं—अर्थात् प्रार्थना करते हैं ।

तात्पर्य—प्रार्थनासे आकृष्ट ईश्वरकी दयासे चतुर्विध योग जिसका हम अनुष्ठान कर रहे हैं, वह निर्विघ्न निष्पन्न हो ।

समाधि, विवेकख्याति तथा ऋतम्भरा प्रज्ञाके जनक योगानुष्ठानको ही महर्षिवृन्दने एक स्वरसे स्वीकार किया है । केवल योगानुष्ठानके ही नहीं, किन्तु उसके विवेकख्यात्यादि फलकी निष्पत्तिमें भी ईश्वरानुकम्पाका विशेष हाथ है ।

वेदका निम्न निर्दिष्ट मन्त्र इसी भावको प्रकट करता है—

**स घा नो योग आभुवत् स राये स पुरं ध्याम् ।
गमद् वाजेभिरा स नः ॥** (ऋ० १।५।३ ॥ साम० उ० १।२।१०।३ ॥ अथर्व० २०।६९।१ ॥)

अर्थात् वही परमात्मा हमारी समाधिके निमित्त अभिमुख हो, वही विवेकख्यातिरूपी धन तथा अतीतानागतादि अनन्त वस्तुविषयक होनेसे बहुविध बुद्धि ऋतम्भरा प्रज्ञा नामक प्रज्ञाके उत्पादनिमित्त अनुकूल हो, अर्थात् उसकी दयासे समाधि, विवेकख्याति तथा ऋतम्भरा प्रज्ञाका हमें लाभ हो, अपि च वही परमात्मा अणिमादि सिद्धियोंके सहित हमारी ओर आगमन करे ।

तात्पर्य—अणिमादि सिद्धियाँ भी भगवत्कृपासे चरणसेविकाओंके समान हमारी सेवाके लिये प्रतिक्षण प्रस्तुत रहें ।

अष्टाङ्गयोग

पूर्वोक्त चतुर्विध योगकी क्रियाशैली पूज्यपाद महर्षियोंने यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि इन आठ अङ्गोंकी सहायतासे निर्णीत की है ।

भेद इतना ही है कि किसीमें किसी अङ्गके सङ्कोच और किसीमें किसी अङ्गके विस्तारसे अङ्गसंख्याकी न्यूनाधिकता दृष्टिगोचर होती है । जैसे हठयोगके सात

अङ्ग, राजयोगके सोलह अङ्ग और लययोगके ९ अङ्ग हैं। उन सबका विवरण निम्नलिखित है—

हठयोगके सप्ताङ्ग

षट्कर्मासनमुद्राः प्रत्याहारश्च प्राणसंयामः।
ध्यानसमाधी सप्तैवाङ्गानि स्युर्हठस्य योगस्य ॥

षट्कर्म, आसन, मुद्रा, प्रत्याहार, प्राणायाम, ध्यान और समाधि—ये हठयोगके सात अङ्ग हैं।

इनके शरीरसशोधन, दृढता, स्थिरता, धीरता, लघुता, आत्मप्रत्यक्ष, निर्लिप्तता और मुक्तिलाभ क्रमशः फल है। प्रथमाङ्ग षट्कर्मसाधनके विषयमें योगशास्त्रमे इस प्रकार लिखा है—

धौतिर्बस्तिस्तथा नेतिर्लौलिकी त्राटकं तथा।
कपालभातिश्चैतानि षट् कर्माणि समाचरेत् ॥

धौति, वस्ति, नेति, लौलिकी, त्राटक तथा कपालभाति ये षट्कर्म हैं। इनका पृथक्-पृथक् वर्णन स्थानसङ्कोचसे अशक्य है। ये सब क्रियाएँ योगिराज गुरुदेवकी कृपासे सुविज्ञेय हैं, केवल शास्त्रावलोकनसे नहीं।

हठयोगका द्वितीयाङ्ग आसन है। जिसके अभ्याससे शरीर दृढ एव मन स्थिर हो, उसका नाम आसन है। जगत्में जितनी जीवयोनियाँ हैं, उतने ही प्रकारके आसन हैं।

भगवान् महादेवने चौरासी लक्ष आसनोंका वर्णन किया है, उनमें चौरासी आसन मुख्य हैं, उनमें भी तैंतीस मर्त्यलोकमें मङ्गलजनक हैं। तैंतीस आसनोंके नाम ये हैं—सिद्धासन, स्वस्तिकासन, पद्मासन, बद्धपद्मासन, भद्रासन, मुक्तासन, वज्रासन, सिंहासन, गोमुखासन, वीरासन, धनुरासन, मृतासन, गुप्तासन, मत्स्यासन, मत्स्येन्द्रासन, गोरक्षासन, पश्चिमोत्तानासन, उत्कटासन, सकटासन, मयूरासन, कुक्कुटासन, कूर्मासन, उत्तानकूर्मासन, उत्तानमण्डूकासन, वृक्षासन, मण्डूकासन, गरुडासन, वृषासन, शलभासन, मकरासन, उष्ट्रासन, भुजङ्गासन और योगासन।

उनमे भी हठयोगप्रदीपिकामे प्रधानासन चार एवं सर्वश्रेष्ठ सिद्धासन माना है—

सिद्धं पद्मं तथा सिंहं भद्रं चेति चतुष्टयम्।
श्रेष्ठं तत्रापि च सुखे तिष्ठेत्सिद्धासने सदा ॥
(प्रथमोपदेश श्लोक ३४)

'सिद्ध, पद्म, सिंह तथा भद्र ये चार मुख्य आसन हैं, इनमे भी श्रेष्ठ यह है कि सदा सुखस्वरूप सिद्धासनपर बैठे।'

जिन क्रियाओंसे प्राणायाम प्रत्याहारादि अङ्गोंकी सिद्धिमें सहायता प्राप्त होती है, उन सुकौशलपूर्ण क्रियाओंका नाम मुद्रा है।

उनमेसे मुख्य मुद्राओंके नाम ये हैं—महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डीयान, जालन्धरबन्ध, मूलबन्ध, महाबन्ध, महावेधा, खेचरी, विपरीतकरणी, योनिमुद्रा, वज्रोली, शक्तिचालनी, तड़ागी, माण्डूकी, शाम्भवी, पञ्चधारणा, अश्विनी, पाशिनी, काकी, मतगी और भुजङ्गिनी।

आसनो एव मुद्राओंका विशेष निरूपण स्थानाभावसे नहीं किया गया। पाठक उनके विशेष ज्ञानार्थ योगग्रन्थोका ही अवलोकन करे।

प्राणायाम तीन प्रकारका है—रेचक, पूरक तथा कुम्भक। कुम्भक दो तरहका है—सहित और केवल। इस लघु निबन्धमे शिष्टाङ्गसम्बन्धी विशेष वक्तव्य नहीं।

राजयोगके षोडश अङ्ग

भक्ति तथा छः दर्शनोंके अनुसार राजयोगके सात अङ्ग हैं। वे सब विचारप्रधान है। धारणाके दो अङ्ग है—प्रकृतिधारणा और ब्रह्मधारणा। ध्यानके अङ्ग तीन है—विराड्ध्यान, ईशध्यान तथा ब्रह्मध्यान। समाधिके चार अङ्ग—वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत। उनके स्थूलभूत, सूक्ष्मभूत, इन्द्रिय, अहकार तादात्म्यापन्न पुरुष, क्रमशः ध्यातव्य विषय हैं।

लययोगके अङ्ग

यम, नियम, स्थूल क्रिया, सूक्ष्म क्रिया, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, लयक्रिया और समाधि।

सूक्ष्म क्रियाके साथ स्वरोदयसाधनका, प्रत्याहारके साथ नादानुसन्धानक्रियाका, और धारणाके साथ षट्चक्रभेदनक्रियाका सम्बन्ध है।

पायुसे दो अङ्गुल ऊपर और उपस्थसे दो अङ्गुल नीचे चतुरङ्गुलविस्तृत समस्त नाड़ियोंका मूलस्वरूप पक्षीके

अण्डकी तरह एक कन्द विद्यमान है, जिसमेंसे बहत्तर हजार नाड़ियाँ निकलकर सारे शरीरमें व्याप्त हुई हैं। उनमें-से योगशास्त्रमें तीन नाड़ियाँ मुख्य कही गयी हैं, इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्ना।

चन्द्ररूपिणी इडा मेरुदण्डके वाम भागमें, सूर्यरूपिणी पिङ्गला मेरुदण्डके दक्षिण भागमें, और चन्द्र-सूर्याग्निरूपिणी त्रिगुणमयी सुषुम्ना मध्य भागमें विराजमान रहती है। मूलमें उत्थित इडा और पिङ्गला मेरुदण्डके वाम और दक्षिण भागमें समस्त पद्मोंको वेष्टन करके आज्ञाचक्रपर्यन्त धनुषाकारसे जाकर भ्रूमध्यके ऊपर ब्रह्मरन्ध्रमुखमें सङ्गता हो नासारन्ध्रमें प्रवेश करती हैं।

भ्रूमध्यके ऊपर जहाँपर इडा और पिङ्गला मिलती हैं, वहाँपर मेरुमध्यस्थित सुषुम्ना भी जा मिलती है।

इसलिये यह स्थान त्रिवेणी कहलाता है। क्योंकि शास्त्रमें इन तीनों नाडियोंको गङ्गा, यमुना और सरस्वती कहा गया है। यथा—

इडा भोगवती गङ्गा पिङ्गला यमुना नदी।
इडापिङ्गलयोर्मध्ये सुषुम्ना च सरस्वती॥

इस त्रिवेणीमें योगबलसे जो योगी अपने आत्माको स्नान करा सकते हैं—

त्रिवेणीयोगः सा प्रोक्ता तत्र स्नानं महाफलम्।

—इस शास्त्रीय वचनके अनुसार उनको मोक्षकी प्राप्ति होती है।

प्रणवाकृति सुषुम्ना, धनुषाकार इडा और पिङ्गलाके बीचमेंसे मेरुदण्डके अन्ततक जाकर उससे पृथक् हो वक्राकारको धारण करके भ्रूयुगलके ऊपर इड़ा और पिङ्गलाके साथ ब्रह्मरन्ध्रमुखमें सङ्गता हो ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त जाती है। बस, इड़ा, पिङ्गलाके समान सुषुम्ना भी मूलकन्द-से निर्गत हो ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त गयी है।

इस प्रकार मूलकन्दसे लेकर ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त विस्तृत सुषुम्ना नाड़ीकी छः ग्रन्थियाँ हैं, जो षट्चक्र कहलाती हैं। योगक्रियाके द्वारा मूलाधारस्थिता निद्रिता कुलकुण्डलिनी-को जाग्रत्कर इन छः चक्रोंके द्वारा सुषुम्नापथमें प्रवाहित करके ब्रह्मरन्ध्रके ऊपर सहस्रदलकमलस्थित परमशिवमें लय कर देना ही लययोगका उद्देश्य है।

प्रथम चक्रका नाम मूलाधार पद्म है, वह गुदाके ऊपर और लिङ्गमूलके नीचे सुषुम्नाके मुखमें सलग्न है। अर्थात् कन्द और सुषुम्नाके सन्धिस्थलमें इसकी स्थिति है। इसके व-श-ष-स, ये वर्ण चार दल हैं, इसका रक्त वर्ण है, इस चक्रकी अधिष्ठात्री देवी डाकिनी है। आधारपद्मकी कर्णिकाओंके गह्वरमें वज्रा नाड़ीके मुखमें त्रिपुरसुन्दरीका निवासस्थान एक त्रिकोण शक्तिपीठ है। वह कामरूप कोमल और विद्युत्के समान तेजपुज है। उसमें कन्दर्प नामक वायुका निवास है, वह वायु जीवधारक बन्धुजीव पुष्पके समान विशेष रक्तवर्ण तथा कोटि सूर्य-समान प्रकाश-शाली है, उक्त त्रिकोण शक्तिपीठमें स्वयम्भूलिङ्ग विराजमान है, जो पश्चिम मुख, तप्त काञ्चनतुल्य कोमल, ज्ञान और ध्यानका प्रकाशक है। इस स्वयम्भूलिङ्गके ऊपर मृणाल अर्थात् कमलकी डण्डीके तन्तुके सदृश सूक्ष्मा शङ्खवेष्टनयुक्ता और साढ़े तीन वलयोंके आकारकी सर्पतुल्य कुण्डलाकृति नवीन विद्युन्मालाके समान प्रकाशशालिनी कुलकुण्डलिनी निज मुखसे उस स्वयम्भूलिङ्गके मुखको आवृत करके निद्रिता रहती है। उसके प्रबोधकी क्रियाएँ अति कठिन, गोप्य तथा गुरुप्रसादैकलभ्य हैं।

द्वितीय चक्रका नाम स्वाधिष्ठान पद्म है, इसकी स्थिति लिङ्गमूलमें है। ब, भ, म, य, र, ल ये छः वर्ण उसके दल हैं। इसका रक्त वर्ण है। उसमें बालाख्य सिद्धकी स्थिति है और अधिष्ठात्री देवी राकिणी है।

तृतीय मणिपूर नामक चक्र है, जो नाभिमूलमें है और ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ ये दश सुवर्णमय वर्ण जिसके दश दलरूपसे शोभायमान हैं, जहाँ रुद्राक्ष सिद्ध लिङ्ग सब प्रकारके मङ्गलोंको दान कर रहे हैं, और जहाँ परम धार्मिका लाकिनी देवी विराजमान हैं।

चतुर्थ हृदयस्थित चक्रका नाम अनाहतचक्र है,—क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ इन द्वादश वर्णयुक्त, अति रक्तवर्ण इसके द्वादश दल हैं। हृदय अति प्रसन्न स्थान है। इस अनाहत पद्ममें परम तेजस्वी रक्तवर्ण बाणलिङ्गका अधिष्ठान है, जिसका ध्यान करनेसे इहलोक और परलोकमें शुभ फलकी प्राप्ति हुआ करती है। दूसरे पिनाकी नामक सिद्ध लिङ्ग और काकिनी नामक अधिष्ठात्री देवी वहाँ स्थित हैं।

सिद्धान्त नवीन-सा प्रतीत होगा, परन्तु यह बात है बिल्कुल ठीक। इस महत्वपूर्ण प्राणविद्याके प्रथम निर्देश तथा संकेत उपनिषदोंसे पूर्व वैदिक संहिताओं तथा आरण्यकोंमें भी मिलते हैं, इसका निश्चय इन कतिपय पृष्ठोंके पढ़नेवालेको अवश्य हो जायगा।

आरण्यकोंका विषय

वेदके दो विभाग हैं—मन्त्र तथा ब्राह्मण। 'मन्त्रब्राह्मणात्मको वेदः।' मन्त्रोंके संग्रहोंको 'संहिता' कहते हैं। ऐसी संहिताएँ हमारे यहाँ बहुत हैं, ऋक्संहिता, सामसंहिता आदि। ब्राह्मणोंके तीन भेद हैं—ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद्। उपनिषद्में ब्रह्मविद्याका वर्णन है, यह ज्ञानकाण्ड हुआ। ब्राह्मणोंमें यज्ञ-यागादिका सर्वत्र वर्णन है। इसका प्रधान विषय कर्मकाण्ड हुआ। यह गृहस्थोंके लिये है जो घर-द्वार बनाकर वेदविहित यज्ञोंका अनुष्ठान अपने कल्याणके लिये किया करते हैं। आरण्यकोंका स्थान ब्राह्मणों तथा उपनिषदोंके बीचमें आता है। 'आरण्यक' नाम पड़नेके दो कारण बतलाये जाते हैं। एक तो यह हुआ कि ये ग्रन्थ अरण्यमें ही पढ़ने योग्य हैं, इनका अध्ययन तथा मनन अरण्य (जंगल) में ही करना चाहिये। अतः अरण्यमें पाठ होनेके कारण इन ग्रन्थोंका नाम आरण्यक पड़ा[1]। दूसरा कारण यह है कि ये उन लोगोंके लिये हैं जो गृहस्थाश्रमको छोड़कर वानप्रस्थ-आश्रममें हैं। अतः जो लोग घर-द्वार छोड़कर जंगलमें कुटिया बनाकर अधिकतर निवास किया करते हैं उन्हीं तृतीय आश्रममें रहनेवालोंके लिये 'आरण्यक' ग्रन्थ दृष्ट हुए। इन ग्रन्थोंके विषय-विवेचनसे भी पूर्वोक्त नामकरणके हेतुकी सत्यताका अनुमान किया जा सकता है। इन आरण्यक ग्रन्थोंमें कर्मकाण्डकी दार्शनिक भित्तिका ही विवेचन नहीं है, प्रत्युत अन्य भी अनेक दार्शनिक सिद्धान्तोंके उद्गम यहाँ दिखायी पड़ते हैं जिनका प्रचुर विकाश उपनिषदोंमें हमारे सामने आता है। इस प्रकार आरण्यकमें वर्णित दार्शनिक सिद्धान्तोंका अध्ययन करना भारतीय दर्शनके इतिहासकी दृष्टिसे अत्यन्त महत्व रखता है। इनके मनन करनेसे हमें पता चलेगा कि वैदिक संहिताओंसे आरम्भ होकर उपनिषदोंमें विकसितरूप प्राप्त होनेके पहले भारतीय दार्शनिक वादों तथा सिद्धान्तोंके कौन-कौन-से रूप थे। संक्षेपमें औपनिषद सिद्धान्तोंके पूर्वरूपसे अवगत हो जानेके लिये आरण्यकोंका अध्ययन विशेष महत्व रखता है।

१. अरण्य एव पाठ्यत्वादारण्यकमितीर्यताम्।

—सायणभाष्य ऐतरेय आरण्यक पृ० २

ऐतरेय आरण्यक

अथर्ववेदको छोड़कर प्रत्येक वेदके एक या अनेक आरण्यक हैं। ऋग्वेदके दो आरण्यक हैं—ऐतरेय तथा शांखायन। यह ऐतरेय आरण्यक अपने विषयमें विशेष महत्वका है। इसके पाँच खण्ड हैं। उन्हें भी आरण्यक ही कहते हैं। प्रत्येक आरण्यकमें कई अध्याय हैं। पहले आरण्यकमें पाँच अध्याय, दूसरेमें सात, तीसरेमें दो, चौथेमें एक और पाँचवेंमें तीन। इस प्रकार पूरे ग्रन्थमें अठारह अध्याय हैं। प्रत्येक अध्यायमें कई खण्ड हैं। इनमें दूसरे आरण्यकको छोड़कर अन्य भागोंमें ऐसे विषय हैं जिनसे इस समय हमारा मतलब नहीं। द्वितीय आरण्यकके भी सात अध्यायोंमेंसे अन्तिम चार अध्याय मिलकर ऐतरेय उपनिषद् हैं। आदिके तीन अध्यायोंमें प्राणविद्याका विवेचन किया गया है। इस लेखमें इन्हीं अध्यायोंमें वर्णित प्राणविद्याका सार जिज्ञासु पाठकोंके उपकारार्थ प्रस्तुत किया जायगा। इन अध्यायोंमें प्रमाणके लिये—वर्णित विषयकी पुष्टि करनेके लिये ऋग्वेदके अनेक मन्त्रोंका निर्देश किया गया है। अतः मुख्य विषयपर आनेसे पहले एक-दो मन्त्र ऋग्वेदसे दिये जायँगे जिससे प्राणविद्याके ऋग्वेदीय स्वरूपका स्वल्प परिचय प्राप्त हो जाय।

ऋग्वेदमें प्राण-स्वरूप-वर्णन

ऐतरेय आरण्यकके प्राणविद्याविषयक अध्यायोंमें ऋग्वेदके लगभग आठ या दस मन्त्रोंको प्रमाणके लिये उद्धृत किया गया है। यहाँपर केवल दो मन्त्रोंको उद्धृत करनेका विचार है। इन मन्त्रोंका अर्थ भी श्रीसायणाचार्यके भाष्यके अनुसार कर दिया गया है। प्राण समस्त विश्वको व्याप्त किये हुए है, इस विषयमें यह मन्त्र 'तदुक्तमृषिणा' कहकर दिया गया है[1]—

अपश्यं गोपामनिपद्यमान-
मा च परा च पथिभिश्चरन्तम्।

१ ऐतरेय आरण्यक आनन्दाश्रम संस्करण पृ० १०६।

स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान
आवरीवर्ति भुवनेष्वन्तः ॥

इस मन्त्रके द्रष्टा दीर्घतमा ऋषि कह रहे हैं कि मैंने प्राणको देखा है—साक्षात्कार किया है। यह प्राण सब इन्द्रियोंका गोपा (रक्षक) है। यह कभी नष्ट नहीं होनेवाला है। यह भिन्न-भिन्न मार्गों अर्थात् नाड़ियोंके द्वारा आता और जाता है। मुख तथा नासिकाके द्वारा क्षण-क्षणमें इस शरीरमें आता है तथा फिर बाहर चला जाता है। यह प्राण शरीरमें—अध्यात्मरूपमें—वायुके रूपमें है, परन्तु अधिदैवरूपमें सूर्य है। अन्य श्रुति कहती है—

आदित्यो वै बाह्यप्राण उदयत्येष ह्येनं चाक्षुषं प्राणमनुगृह्णाते।

(प्रश्नोपनिषद् १ । ७)

यह प्राण आदित्यरूपसे मुख्य तथा अवान्तर दिशाओंको व्याप्त कर वर्तमान है और सब भुवनोंके मध्यमें बारंबार आकर निवास करता है। इस मन्त्रसे यही सारांश निकलता है—सर्वं हीदं प्राणेनावृतम्[2]। इस समस्त विश्वके देव, मनुष्य तथा पशु आदि समग्र प्राणी प्राणवायुके द्वारा व्याप्त हैं।

प्राण अमृतरूप है। जबतक उसका इस देहमें वास है, यह शरीर मृत्युको प्राप्त नहीं होता। इस सिद्धान्तकी पुष्टि करनेके लिये ऋग्वेदका यह मन्त्र दिया गया है—

अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतो-
ऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः।
ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता
न्यन्यं चिक्युर्न निचिक्युरन्यम् ॥

(१ । १६४ । ३८)

यह प्राण इस शरीरमें स्वधा—अन्नके द्वारा ही स्थित है। यह मलमूत्रादिके निकालनेके लिये अधोभागमें जाया करता है तथा श्वासके लिये मुख आदि ऊर्ध्वभागमें सञ्चरण किया करता है अर्थात् यह अपान तथा प्राणके रूपमें शरीरमें सर्वदा सञ्चार किया करता है। प्राण अमर्त्य है—अर्थात् मृत्युरहित है, परन्तु यह मरणधर्मवाले शरीरके साथ सदा एक स्थानपर निवास करता है। ये शरीर और प्राण विविधव्यापारसम्पन्न हैं तथा आपसमें विरुद्ध हैं, क्योंकि मृत हो जानेपर शरीर पृथ्वीपर गिर जाता है, परन्तु प्राण ऊपर किसी लोकान्तरमें चला जाता है। इन दोनोंमेंसे देहको मनुष्य अन्नपानके द्वारा बढ़ा सकता है, परन्तु प्राणको अन्न और पानसे कोई भी नहीं बढ़ा सकता।

इसी प्रकार अन्य अनेक मन्त्रोंमें प्राणके स्वरूपका यथार्थ वर्णन हमें उपलब्ध होता है। इन सब मन्त्रोंका निर्देश करनेके लिये यहाँ न तो उचित अवसर है, न स्थान ही। इन दो मन्त्रोंको यहाँ उद्धृत करनेसे हमारा यही अभिप्राय है कि प्राणकी महत्ताको ऋग्वेदकी संहितामें भी स्वीकार किया गया है। यहीं हमें प्राणविद्याका वह मूल दृष्टिगोचर होता है जिसका विकास आरण्यकोंसे होता हुआ उपनिषदोंमें उपलब्ध होता है।

प्राणकी श्रेष्ठता

सब इन्द्रियोंमें कौन श्रेष्ठ है ? इसका उत्तर उपनिषदोंमें एक अतीव हृदयग्राहिणी आख्यायिकाके द्वारा दिया गया है। इस विषयका वर्णन छान्दोग्य (५ । १), कौषीतकि (२ । १४) तथा प्रश्नोपनिषद् (२ । १–१३) में आया हुआ है। छान्दोग्य (५ । १ । ६–१५) का वर्णन पूर्ण ही नहीं, प्रत्युत सबसे प्राचीन भी माना जाता है। परन्तु बात ऐसी नहीं है। आरण्यकमें भी यह कथानक ज्यों-का-त्यों मिलता है। ऐतरेय आरण्यकके दूसरे आरण्यकके पहले अध्यायके चतुर्थ खण्डमें यह इन्द्रिय-प्राण-संवाद बड़ी ही सुन्दर रीतिसे दिया गया मिलता है।

चक्षु, श्रवण आदि इन्द्रियोंमें आपसमें यह स्पर्धा चली कि उक्थ कौन है ? सब झगड़ने लगे कि मैं ही उक्थ हूँ, मैं ही उक्थ हूँ। अन्तमें उन्होंने कहा कि हमलोग इस शरीरसे निकल चलें, जिसके निकल जानेपर यह शरीर नष्ट हो जाय तथा गिर पड़े, वही सबसे श्रेष्ठ माना जाय। पहले वागिन्द्रिय निकल गयी। परन्तु यह शरीर बिना बोले खाते-पीते टिका रहा। अनन्तर चक्षु निकल गया, यह देह बिना देखे खाते-पीते टिकी रही। श्रवण निकल गया, यह शरीर बिना सुने खाते-पीते टिका रहा। मनके निकल जानेपर भी यह शरीर मूँदे हुएकी तरह खाते-पीते बना रहा; परन्तु प्राणके बाहर निकलते ही यह शरीर गिर पड़ा। इसपर भी प्राणकी श्रेष्ठताके विषयमें इन्द्रियोंको निश्चय नहीं हुआ। अब भी वे आपसमें झगड़ा करती ही रहीं।

---

१. ऋ० वे० १ । १६४ । ३१; १० । १७७ । ३

२. ऐत० आर० पृ० १०८

पञ्चम पद्मका स्थान कण्ठ है और नाम विशुद्धचक्र है, उसका रङ्ग सुन्दर स्वर्णकी तरह है, (मतान्तरसे धूम्रवर्ण है)—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः इन षोडश वर्णसुशोभित उसके षोडश दल हैं। इस पद्ममें छगलाण्ड नामक सिद्ध लिङ्ग और शाकिनी नामक देवीकी स्थिति है।

भ्रूद्वयके मध्यमे आज्ञापद्म छठा चक्र है। यह शुभ्र वर्ण है और ह, क्ष युक्त इसके दो दल है, शुक्ल नामके महाकाल इस पद्मके सिद्ध लिङ्ग और हाकिनी नाम्नी महाशक्ति इस चक्रकी अधिष्ठात्री देवी हैं।

द्विदल पद्मके ऊपर ब्रह्मरन्ध्रमे ही इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्नाका सङ्गमस्थान तीर्थराज प्रयाग है, इसमे स्नान करनेसे तत्क्षण साधक मुक्तिपदको प्राप्त होता है। ब्रह्मरन्ध्रके ऊपर सहस्रदलकमल स्थित है। उस स्थानका नाम कैलास है, और वहाँ देवादिदेव महादेव सदा विराजमान हैं और वही महेश्वर नामक परम शिव हैं। उनको नकुल भी कहते हैं। वह नित्यविलासी हैं, उनको क्षय और वृद्धि कदापि नहीं होती, अर्थात् वह सदा एकरूप ही हैं। इस सहस्रदलकमलमे जो साधक अपनी चित्तवृत्तिको निश्चलरूपसे लीन करता है, वह अखण्डज्ञानरूपी निरञ्जन परमात्माकी स्वरूपताको लाभ कर लेता है अर्थात् मुक्त हो जाता है। इस सहस्रदलपद्मसे निर्गत पीयूषधाराको जो योगी निरन्तर पान करता है वह अपनी मृत्युको मारकर कुलजयद्वारा चिरञ्जीवी हो जाता है। इसी सहस्रदलकमलमें कुलरूपा कुण्डलिनी महाशक्तिका लय होनेपर चतुर्विध सृष्टिका भी परमात्मामे लय हो जाता है। मूलाधारमें जो चार दलोका पद्म है, इस अवस्थामें वहाँकी कुण्डलिनी शक्ति निश्चय करके अपने स्थानको त्याग कर देती है। क्रमशः कुण्डलिनी षट्चक्रभेदनद्वारा सहस्रदलपद्ममें जाकर लयको प्राप्त हो जाती है। यहाँ शिवशक्तिसंयोगरूप मुक्तिक्रिया कहलाती है, और इस अवस्थामें वह योगी अखण्डज्ञानरूपी निरञ्जन परमात्माके रूपको प्राप्तकर मुक्त हो जाता है।*

लययोगके उल्लिखित अलौकिक रहस्यविज्ञानके लिये हम ही नहीं, मन्त्रद्रष्टा ऋषि भी कितने लालायित एवं उत्कण्ठित रहा करते थे, इसका पता अधोनिर्दिष्ट मन्त्रके अवलोकनसे चलता है—

क्व त्रीचक्रा त्रिवृतो रथस्य क्व त्रयो बन्धुरो ये सनीळाः।
कदा योगो वाजिनो रासभस्य येन यज्ञं नासत्योपयाथः॥

(ऋक्संहितामण्डल १ सूक्त ३४ मन्त्र ९)

[त्रिवृतः] त्रिवृद्भूतकार्यस्य तेजोऽबन्नविकारस्य, [रथस्य] शरीरस्य 'शरीरं रथमेव तु' इति श्रुतेः [त्रीचक्रा] त्रीणि चक्राणि अधस्तनानि मूलाधारस्वाधिष्ठानमणिपूराभिधानि [क्व] कुत्र वर्तन्ते, तेषां स्थानविशेषः क इति न अस्माभिर्ज्ञायते, [बन्धुरः] बन्धुजीवपुष्पसन्निभो रक्तवर्णो जीवधारकः कन्दर्पाभिधो वायुः, त्रिकोणशक्तिपीठमध्यवर्ती क्वेति सम्बन्धः [सनीळाः] नीडं ब्रह्मरन्ध्रस्योपरि वर्तमानं सहस्रार पद्मं शिववासस्थानं तेन सहिताः [त्रयः] उपरितनचक्रविशेषाः अनाहतविशुद्धाज्ञानामकाः क्व कुत्रेत्यपि च न ज्ञायते [वाजिनः] बलशालिनः सर्वशक्तिसम्पन्नस्य [रासभस्य] रासेन रसप्रचुरेण—आनन्दघनेन स्वात्मना भासमानस्य, आनन्दघनस्वप्रकाशस्य रासो रासलीला शिवशक्तिसंगमलक्षणा सर्वरसाधारभूता, ततः शोभमानस्य वा शिवस्य [योगः] कुलकुण्डलिनीरूपया शक्त्या समं सम्बन्धः, योगशास्त्रोपदिष्टषट्चक्रभेदनादिक्रियाकौशलेन प्रबोधितायाः कुलकुण्डलिनीरूपाया महाशक्तेः सहस्रारपद्ममध्यवर्तिनि भगवति शिवे लय इति यावत्, [येन] लययोगेन [यज्ञम्] यजनं मिथः सङ्गमनम् 'यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु' इति धातुपाठः [नासत्या] सर्वदा वर्तमानौ शक्तिशिवौ युवां [उपयाथः] उपगच्छथ.—संयोगः, [कदा] कस्मिन् काले इत्यपि न ज्ञायते, अपि मातापितरौ शक्तिशिवौ, युष्मत्प्रसादात् अस्मिन् पिण्डे कस्य चक्रस्य किं स्थानं का अधिष्ठात्री देवी कियन्ति दलानि को वर्णो मूलाधारपद्मस्थकुलकुण्डलिनीशक्तेः सहस्रदलपद्मस्थशिवे लयगमनसमयश्च क इत्येतत् सर्वमवगतं भवतु, अवगत्य च तथानुतिष्ठेयं भवत्करुणयेति भावः।

अर्थात् (छान्दोग्यप्रतिपादित सृष्टिके अनुसार) अग्नि, जल, पृथिवी इन तीन भूतोंका कार्य शरीर है, रथ नाम—'शरीर रथमेव तु' शरीरको ही रथ समझो, इस कठश्रुतिके प्रमाणसे—शरीरका ही है। उस शरीररथके मध्यमे नीचेके तीन चक्र, जिनके मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर ये नाम हैं, वे कहाँ हैं, उनका स्थानविशेष

* सातों चक्रोंके चित्र पूर्ण विवरणसहित 'शक्तिअङ्क' में प्रकाशित हो चुके हैं। पृष्ठ ४५४ देखना चाहिये।

कौन-सा है, यह हमें ज्ञात नहीं। जीवधारक बन्धुजीव पुष्पके समान नितान्त रक्तवर्ण कन्दर्प नामक वायु कहाँ है, अर्थात् उसके निवासस्थानके ज्ञानसे भी हम वञ्चित हैं। शिववामस्थान सहस्रदलकमलसहित ऊपरके तीन चक्र, जिनके अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा ये नाम हैं, कहाँ हैं, यह भी हमें ज्ञात नहीं, सर्वशक्तिसम्पन्न आनन्दघन स्वप्रकाश शिव परमात्मा, जो शिवशक्तिसंगमरूप रासलीलासे शोभित होते हैं, उनका आधारपद्मस्थित कुलकुण्डलिनी महाशक्तिसे योग अर्थात् कुलकुण्डलिनीका उनमें लय जिसके द्वारा शिवशक्ति दोनों परस्पर सङ्गत होते हैं, वह लय किस समय होता है, इसका भी हमें पता नहीं है। हे अविनाशी शिवशक्ति माता-पिता! आपकी कृपासे लययोगसम्बन्धी ये सब बातें मुझे ज्ञात हों और मैं जानकर उस लययोगका अभ्यास करूँ।

वेद पूर्णपुरुष जगदीश्वरकी कृति हैं, उनमें आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक तीनों भाव रहते हैं, क्योंकि कार्य कारणके अनुरूप ही होता है। जब वेदके रचयिता प्रभुमें क्रमशः ब्रह्म, ईश तथा विराट् ये पूर्वोक्त तीन भाव हैं तब प्रभुकी कृति वेदमें भी क्यों न होंगे?

भाष्यकार यथारुचि केवल एक भावके दृष्टिकोणसे वेदमन्त्रोंकी व्याख्या किया करते हैं, इससे यह समझना भारी भूल है कि अन्य भावका अर्थ है ही नहीं या भाष्यकार उसको जानते ही न थे। आचार्य सायणने आधिदैविक भाव जिसका सम्बन्ध कर्मकाण्डसे है, उसी भावके दृष्टिकोणसे रचना की है। अतः सायणभाष्यमें आध्यात्मिक योगपक्षका अर्थ न मिलना युक्तिसङ्गत ही है। परन्तु अनन्त स्थलोंमें आध्यात्मिक पक्षके अनुकूल भी व्याख्या की है जिसके द्वारा कृपालु सायणाचार्यने जिज्ञासुओंकी दर्शित भ्रान्तिका सर्वथा मूलोच्छेद कर दिया है।

इस निबन्धमें उद्धृत वेदमन्त्रोंके योगसम्बन्धी अर्थ श्रीसनत्कुमारप्रवर्तित मुनि (उदासीन) सम्प्रदायके पुनरुत्थापक आचार्य योगिराज शिवस्वरूप विश्वगुरु, सोलहवीं शताब्दीके महापुरुष श्रीश्रीचन्द्र महाराजनिर्मित योगप्रदीपसे लिये गये हैं।

आचार्यश्रीकृपासे बाबा श्रीहजारा, महाराज श्री-बनखण्डीजी, पञ्जाबकेसरी महाराज रणजीतसिंहके परम श्रद्धेय तत्समकालीन योगिराज महाराज श्रीहरिदास प्रभृति अनन्त महापुरुष भारतवर्षके रत्न मुनिसम्प्रदायमें हुए हैं। अब भी ऋषिकेशवासी योगिराज श्रीस्वरूपानन्दजी महाराज हैं जो इस समय योगविद्याके अद्वितीय वेत्ता हैं।

> दुःसहा राम संसारविषवेगविषूचिका।
> योगगारुडमन्त्रेण पावनेनोपशाम्यति॥

'हे राम! इस संसाररूपी विषके वेगकी वेदना बड़ी दुःसह है। यह पावन योग-गारुड मन्त्रसे ही शान्त होती है।'

ऐतरेय आरण्यकमें प्राणविद्या

(लेखक—प० श्रीबलदेवजी उपाध्याय एम० ए०, साहित्याचार्य)

उपक्रम

भारतीय दर्शनमें प्राणविद्याका विशेष महत्त्व है। इस विद्याका जितना चिन्तन तथा अध्ययन हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियोंने किया था, उतना शायद ही किसी अन्य देशके विद्वानोंने किया होगा। सच तो यह है कि प्राणो-पासनाकी विद्या हमारी अपनी सम्पत्ति है। प्राणके वास्तविक महत्त्वको समझना, इस शरीर तथा बाह्य जगत्में उसके सच्चे कार्य तथा व्यापक प्रभावको परखना, तथा किसी देवताका आरोप कर उसकी उपासना करना—ये सब सिद्धान्त इस भारत-भूमिपर ही हमारे पूर्वजोंकी सात्त्विक बुद्धि तथा उर्वर मस्तिष्कके कारण ही प्राचीन कालमें उत्पन्न हुए तथा अब भी हममें किसी-न-किसी रूपमें दृष्टिगोचर होते हैं। यह विद्या कबसे चली? यह कहना बिल्कुल असम्भव है, परन्तु जब हमारे साहित्य तथा धर्मका प्रथम प्रभात हुआ, तभीसे इस विद्याका उदय हुआ होगा, यह हम बिना रोक-टोक कह सकते हैं, क्योंकि हमारी वैदिक संहिताओंमें, विशेषतः ऋक् तथा अथर्व-वेदकी संहिताओंमें, इस विद्याका समुल्लेख मन्त्रसे पहले किया गया मिलता है। विद्वानोंसे यह अपरिचित नहीं कि उपनिषदोंमें प्राणविद्या भरी पड़ी है, परन्तु उपनिषदोंमें नहीं, प्रत्युत आरण्यक तथा संहितामें इस विद्याका यथेष्ट वर्णन उपलब्ध होता है। बहुत-से विद्वानोंको यह

सिद्धान्त नवीन-सा प्रतीत होगा, परन्तु यह बात है बिल्कुल ठीक। इस महत्वपूर्ण प्राणविद्याके प्रथम निर्देश तथा संकेत उपनिषदोंसे पूर्व वैदिक संहिताओं तथा आरण्यकोंमें भी मिलते हैं, इसका निश्चय इन कतिपय पृष्ठोंके पढ़नेवालेको अवश्य हो जायगा।

आरण्यकोंका विषय

वेदके दो विभाग हैं—मन्त्र तथा ब्राह्मण। 'मन्त्र-ब्राह्मणात्मको वेदः।' मन्त्रोंके संग्रहोंको 'संहिता' कहते हैं। ऐसी संहिताएँ हमारे यहाँ बहुत हैं, ऋक्संहिता, सामसंहिता आदि। ब्राह्मणोंके तीन भेद हैं—ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद्। उपनिषद्में ब्रह्मविद्याका वर्णन है, यह ज्ञानकाण्ड हुआ। ब्राह्मणोंमें यज्ञ-यागादिका सर्वत्र वर्णन है। इसका प्रधान विषय कर्मकाण्ड हुआ। यह गृहस्थोंके लिये है जो घर-द्वार बनाकर वेदविहित यज्ञोंका अनुष्ठान अपने कल्याणके लिये किया करते हैं। आरण्यकोंका स्थान ब्राह्मणों तथा उपनिषदोंके बीचमें आता है। 'आरण्यक' नाम पड़नेके दो कारण बतलाये जाते हैं। एक तो यह हुआ कि ये ग्रन्थ अरण्यमें ही पढ़ने योग्य है, इनका अध्ययन तथा मनन अरण्य (जंगल) में ही करना चाहिये। अतः अरण्यमें पाठ होनेके कारण इन ग्रन्थोंका नाम आरण्यक पड़ा[१]। दूसरा कारण यह है कि ये उन लोगोंके लिये हैं जो गृहस्थाश्रमको छोड़कर वानप्रस्थ-आश्रममें हैं। अतः जो लोग घर-द्वार छोड़कर जंगलमें कुटिया बनाकर अधिकतर निवास किया करते हैं उन्हीं तृतीय आश्रममें रहनेवालोंके लिये 'आरण्यक' ग्रन्थ दृष्ट हुए। इन ग्रन्थोंके विषय-विवेचनसे भी पूर्वोक्त नामकरणके हेतुकी सत्यताका अनुमान किया जा सकता है। इन आरण्यक ग्रन्थोंमें कर्म-काण्डकी दार्शनिक भित्तिका ही विवेचन नहीं है, प्रत्युत अन्य भी अनेक दार्शनिक सिद्धान्तोंके उद्गम यहाँ दिखायी पड़ते हैं जिनका प्रचुर विकाश उपनिषदोंमें हमारे सामने आता है। इस प्रकार आरण्यकमें वर्णित दार्शनिक सिद्धान्तोंका अध्ययन करना भारतीय दर्शनके इतिहासकी दृष्टिसे अत्यन्त महत्व रखता है। इनके मनन करनेसे हमें पता चलेगा कि वैदिक संहिताओंसे आरम्भ होकर उपनिषदोंमें विकसितरूप प्राप्त होनेके पहले भारतीय दार्शनिक वादों तथा सिद्धान्तोंके कौन-कौन-से रूप थे। संक्षेपमें औपनिषद सिद्धान्तोंके पूर्वरूपसे अवगत हो जानेके लिये आरण्यकोंका अध्ययन विशेष महत्व रखता है।

१ अरण्य एव पाठ्यत्वादारण्यकमितीर्यताम्।

—सायणभाष्य ऐतरेय आरण्यक पृ० २

ऐतरेय आरण्यक

अथर्ववेदको छोड़कर प्रत्येक वेदके एक या अनेक आरण्यक है। ऋग्वेदके दो आरण्यक हैं—ऐतरेय तथा शांखायन। यह ऐतरेय आरण्यक अपने विषयमें विशेष महत्वका है। इसके पाँच खण्ड हैं। उन्हें भी आरण्यक ही कहते हैं। प्रत्येक आरण्यकमें कई अध्याय है। पहले आरण्यकमें पाँच अध्याय, दूसरेमें सात, तीसरेमें दो, चौथेमें एक और पाँचवेंमें तीन। इस प्रकार पूरे ग्रन्थमें अठारह अध्याय हैं। प्रत्येक अध्यायमें कई खण्ड हैं। इनमें दूसरे आरण्यकको छोड़कर अन्य भागोंमें ऐसे विषय हैं जिनसे इस समय हमारा मतलब नहीं। द्वितीय आरण्यकके भी सात अध्यायोंमेंसे अन्तिम चार अध्याय मिलकर ऐतरेय उपनिषद् हैं। आदिके तीन अध्यायोंमें प्राणविद्याका विवेचन किया गया है। इस लेखमें इन्हीं अध्यायोंमें वर्णित प्राणविद्याका सार जिज्ञासु पाठकोंके उपकारार्थ प्रस्तुत किया जायगा। इन अध्यायोंमें प्रमाणके लिये—वर्णित विषयकी पुष्टि करनेके लिये ऋग्वेदके अनेक मन्त्रोंका निर्देश किया गया है। अतः मुख्य विषयपर आनेसे पहले एक-दो मन्त्र ऋग्वेदसे दिये जायँगे जिससे प्राणविद्याके ऋग्वेदीय स्वरूपका स्वल्प परिचय प्राप्त हो जाय।

ऋग्वेदमें प्राण-स्वरूप-वर्णन

ऐतरेय आरण्यकके प्राणविद्याविषयक अध्यायोंमें ऋग्वेदके लगभग आठ या दस मन्त्रोंको प्रमाणके लिये उद्धृत किया गया है। यहाँपर केवल दो मन्त्रोंको उद्धृत करनेका विचार है। इन मन्त्रोंका अर्थ भी श्रीसायणाचार्यके भाष्यके अनुसार कर दिया गया है। प्राण समस्त विश्वको व्याप्त किये हुए है, इस विषयमें यह मन्त्र 'तदुक्तमृषिणा' कहकर दिया गया है[१]—

अपश्यं गोपामनिपद्यमान-
मा च परा च पथिभिश्चरन्तम्।

१ ऐतरेय आरण्यक आनन्दाश्रम संस्करण पृ० १०६।

स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान
आवरीवर्ति भुवनेष्वन्तः ॥

इस मन्त्रके द्रष्टा दीर्घतमा ऋषि कह रहे हैं कि मैंने प्राणको देखा है—साक्षात्कार किया है। यह प्राण सब इन्द्रियोंका गोपा (रक्षक) है। यह कभी नष्ट नहीं होनेवाला है। यह भिन्न-भिन्न मार्गों अर्थात् नाड़ियोंके द्वारा आता और जाता है। मुख तथा नासिकाके द्वारा क्षण-क्षणमें इस शरीरमें आता है तथा फिर बाहर चला जाता है। यह प्राण शरीरमें—अध्यात्मरूपमें—वायुके रूपमें है, परन्तु अधिदैवरूपमें सूर्य है। अन्य श्रुति कहती है—

आदित्यो वै बाह्यप्राण उदयत्येष ह्येनं चाक्षुषं प्राणमनुगृह्णाते।

(प्रश्नोपनिषद् १।७)

यह प्राण आदित्यरूपसे मुख्य तथा अवान्तर दिशाओंको व्याप्त कर वर्तमान है और सब भुवनोंके मध्यमें बारबार आकर निवास करता है। इस मन्त्रसे यही सारांश निकलता है—सर्वं हीदं प्राणेनावृतम्। इस समस्त विश्वके देव, मनुष्य तथा पशु आदि समग्र प्राणी प्राणवायुके द्वारा व्याप्त हैं।

प्राण अमृतरूप है। जबतक उसका इस देहमें वास है, यह शरीर मृत्युको प्राप्त नहीं होता। इस सिद्धान्तकी पुष्टि करनेके लिये ऋग्वेदका[1] यह मन्त्र दिया गया है—

अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतो-
ऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः।
ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता
न्यन्यं चिक्युर्न निचिक्युरन्यम् ॥

(१।१६४।३८)

यह प्राण इस शरीरमें स्वधा—अन्नके द्वारा ही स्थित है। यह मलमूत्रादिके निकालनेके लिये अधोभागमें जाया करता है तथा श्वासके लिये मुख आदि ऊर्ध्वभागमें सञ्चरण किया करता है अर्थात् यह अपान तथा प्राणके रूपमें शरीरमें सर्वदा सञ्चार किया करता है। प्राण अमर्त्य है—अर्थात् मृत्युरहित है, परन्तु यह मरणधर्मवाले शरीरके साथ सदा एक स्थानपर निवास करता है। ये शरीर और प्राण विविधव्यापारसम्पन्न हैं तथा आपसमें विरुद्ध हैं, क्योंकि मृत हो जानेपर शरीर पृथ्वीपर गिर जाता है, परन्तु प्राण ऊपर किसी लोकान्तरमें चला जाता है। इन दोनोंमेंसे देहको मनुष्य अन्नपानके द्वारा बढ़ा सकता है, परन्तु प्राणको अन्न और पानसे कोई भी नहीं बढ़ा सकता।

इसी प्रकार अन्य अनेक मन्त्रोंमें प्राणके स्वरूपका यथार्थ वर्णन हमें उपलब्ध होता है। इन सब मन्त्रोंका निर्देश करनेके लिये यहाँ न तो उचित अवसर है, न स्थान ही। इन दो मन्त्रोंको यहाँ उद्धृत करनेसे हमारा यही अभिप्राय है कि प्राणकी महत्ताको ऋग्वेदकी संहितामें भी स्वीकार किया गया है। यहीं हमें प्राणविद्याका वह मूल दृष्टिगोचर होता है जिसका विकास आरण्यकोंसे होता हुआ उपनिषदोंमें उपलब्ध होता है।

प्राणकी श्रेष्ठता

सब इन्द्रियोंमें कौन श्रेष्ठ है? इसका उत्तर उपनिषदोंमें एक अतीव हृदयग्राहिणी आख्यायिकाके द्वारा दिया गया है। इस विषयका वर्णन छान्दोग्य (५।१), कौषीतकि (२।१४) तथा प्रश्नोपनिषद् (२।१-१३) में आया हुआ है। छान्दोग्य (५।१।६-१५) का वर्णन पूर्ण ही नहीं, प्रत्युत सबसे प्राचीन भी माना जाता है। परन्तु बात ऐसी नहीं है। आरण्यकमें भी यह कथानक ज्यों-का-त्यों मिलता है। ऐतरेय आरण्यकके दूसरे आरण्यकके पहले अध्यायके चतुर्थ खण्डमें यह इन्द्रिय-प्राण-संवाद बड़ी ही सुन्दर रीतिसे दिया गया मिलता है।[2]

चक्षु, श्रवण आदि इन्द्रियोंमें आपसमें यह स्पर्धा चली कि उक्थ कौन है? सब झगड़ने लगे कि मैं ही उक्थ हूँ, मैं ही उक्थ हूँ। अन्तमें उन्होंने कहा कि हमलोग इस शरीरसे निकल चलें, जिसके निकल जानेपर यह शरीर नष्ट हो जाय तथा गिर पड़े, वही सबसे श्रेष्ठ माना जाय। पहले वागिन्द्रिय निकल गयी। परन्तु यह शरीर बिना बोले खाते-पीते टिका रहा। अनन्तर चक्षु निकल गया, यह देह बिना देखे खाते-पीते टिकी रही। श्रवण निकल गया, यह शरीर बिना सुने खाते-पीते टिका रहा। मनके निकल जानेपर भी यह शरीर मूँदे हुएकी तरह खाते-पीते बना रहा; परन्तु प्राणके बाहर निकलते ही यह शरीर गिर पड़ा। इसपर भी प्राणकी श्रेष्ठताके विषयमें इन्द्रियोंको निश्चय नहीं हुआ। अब भी वे आपसमें झगड़ा करती ही रहीं।

---

१. ऋ० वे० १।१६४।३१; १०।१७७।३

२. ऐत० आर० पृ० १०८

इस आरण्यकमें यहाँतक प्राणके विषयमें कहा गया है कि—

सर्वा ऋचः, सर्वे वेदाः, सर्वे घोषा एकैव व्याहृतिः प्राण एव प्राण ऋच इत्येव विद्यात्।

(ऐत० २। २। १०, पृ० १२१)

जितनी ऋचाएँ हैं, जितने वेद हैं, जितने घोष हैं, वे सब प्राणरूप हैं। प्राणको ही इन रूपोंमें समझना चाहिये तथा उसकी उपासना करनी चाहिये।

प्राणके इन भिन्न-भिन्न रूपों तथा गुणोंको जानकर तत्तद्रूपसे उसकी उपासना करनी चाहिये।

ऊपर प्राणविद्याका जो एक स्वल्प परिचय दिया गया है, उससे स्पष्ट प्रतीत हो गया होगा कि प्राणकी उपासना हमारे यहाँ अत्यन्त प्राचीन कालसे चली आती है। उपनिषदोंमें तो उसके विपुल वर्णन उपलब्ध होते ही हैं। आरण्यकोंमें भी प्राणविद्याका प्रचुर वर्णन है, परन्तु सच तो यह है कि संहिताके मन्त्रोंमें भी इनके बहुतसे निर्देश मिलते हैं। अतः इस विद्याके मूलरूपके ज्ञानके लिये ऋग्वेदस्थ मन्त्रोंका इस दृष्टिसे अध्ययन करना चाहिये तथा इस विद्याके उद्गम तथा विकासको ठीक-ठीक समझनेका प्रयत्न करना चाहिये। इति शम्।

उपनिषदोंमें योग-चर्चा

(लेखक—पं० श्रीवटुकनाथजी शर्मा एम० ए०, साहित्याचार्य)

योग हिन्दू-जातिकी सबसे प्राचीन तथा सबसे समीचीन सम्पत्ति है। यही एक ऐसी विद्या है जिसमें वाद-विवादको कहीं स्थान नहीं, यही वह एक कला है जिसकी साधनासे अनेक लोग अजर-अमर होकर देह रहते ही सिद्ध-पदवीको पा गये। यह सर्वसम्मत अविसंवादि सिद्धान्त है कि योग ही सर्वोत्तम मोक्षोपाय है। भवतापतापित जीवोंको सर्वसन्तापहर भगवान्से मिलानेमें योग अपनी बहिन भक्तिका प्रधान सहायक है। जिसको अन्तर्दृष्टि नहीं, उसके लिये शास्त्र भारभूत है। यह अन्तर्दृष्टि बिना योगके सम्भव नहीं। अतः इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय तत्त्वज्ञानके कोशको पानेके लिये योगकी कुञ्जी पाना परमावश्यक है।

इस कालमे सर्वसाधारणजनको योगका ज्ञान बहुत ही कम है। पण्डितसमाजको जो कुछ ज्ञान है वह पातञ्जल-योगका और वह भी दुरधीत तथा दुरध्यापित शास्त्ररूपेण। योगचर्या तथा योगाभ्याससे हमारा सम्य-सङ्घ उतना ही सम्पर्क रखता है जितना माया-परिष्वक्त जीव सर्वदुःखहर महेश्वरसे रखता है। यही एक प्रधान कारण है कि इस समय योगके सम्बन्धमें विचित्र-विचित्र बातें विद्वज्जनके मुखसे भी सुननेमें आती हैं। अस्तु। इस समय इसकी कैसी भी दुर्दशा अनात्मज्ञ लोगोंमें क्यों न हो, भारतवर्षके आध्यात्मिक इतिहासमें योगका सर्वदा विशिष्ट स्थान रहा है। दार्शनिक मत-मतान्तरोंके परस्पर-भिन्न रहनेपर भी, योगाभ्यासमें किसीकी विप्रतिपत्ति सुननेमें नहीं आती। वेदबाह्य बौद्ध, जैन आदि भी योगपर उतनी ही आस्था रखते थे जितनी श्रद्धा वेदसम्मत-मतानुयायी आर्यजनता रखती थी। अनेक विलक्षण आचारसम्पन्न साधकगण भी योगको ही परमालम्बन मानते थे। कहाँतक कहें, हिन्दुओंके नित्य-नैमित्तिक कर्मोंमें भी योगके कितने अङ्ग—आसन, प्राणायाम आदि—व्याप्त देखे जाते हैं। यह एक बड़ी विशिष्ट बात है कि योगका यह प्राधान्य प्राचीनतम कालसे चला आया है। डायसन इसीको 'भारतके धर्मजीवनकी एक सबसे विलक्षण बात' कहते हैं।[1] अन्यत्र हम यह दिखानेका प्रयत्न कर रहे हैं कि वैदिक संहिताओंके कालमें भी योगचर्या अच्छी तरह ज्ञात थी। वेद ही हमारे—हमारे क्या संसारभरके—सबसे प्राचीन ग्रन्थ हैं। यदि यह दिखाया जा सकता है कि वेदके प्रत्येक विभागमें योगके विषयमें बहुत कुछ मिलता है, तब यह बात कभी अत्युक्ति नहीं कही जा सकती कि योग हमारी सबसे पुरानी सम्पत्ति है। इस उद्देश्यको सामने रखकर यहाँ हम उपनिषदोंमें आये हुए योग-वर्णनकी कुछ चर्चा करते हैं।

वेदके दो विभाग हैं—मन्त्र और ब्राह्मण। 'मन्त्रब्राह्मणात्मको वेदः'। मन्त्रोंके संग्रहका नाम संहिता है। मन्त्रोंके विनियोग आदि विषयोंको बतलानेवाला ग्रन्थ ब्राह्मण कहा जाता है। ब्राह्मणोंका अन्तिम भाग

1. Paul Deussen The Philosophy of the Upanishads, p 117.

बहुधा आरण्यक होता है। आरण्यकोंका अन्तिम अंग बहुत करके उपनिषद् होता है। यही कारण है कि उपनिषद् वेदान्त कहे जाते हैं। उपनिषद्का अर्थ है 'रहस्य, गुप्त उपदेश'। वेदका सारभूत विषय जो परम अधिकारप्राप्त शिष्योंको ही बताया जाता था, वही उपनिषदोंमें भरा हुआ है। ऐसा माना जाता है कि वेदकी जितनी शाखाएँ थीं उतनी ही संहिताएँ, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् थे। ऋग्वेदकी २१, यजुर्वेदकी १०९, सामवेदकी १०००, तथा अथर्ववेदकी ५० शाखाएँ थीं। सब मिलाकर ११८० शाखाएँ थीं। अतः इतने ही उपनिषद् भी होने चाहिये। किन्तु संहिता, ब्राह्मणोंके साथ-साथ उपनिषद् भी लुप्त हो गये। मुक्तिकोपनिषद्में भगवान् श्रीरामचन्द्र सारतर १०८ उपनिषदोंके नाम यों कहते हैं—

ईशकेनकठप्रश्नमुण्डमाण्डूक्यतित्तिरिः।
ऐतरेयं च छान्दोग्यं बृहदारण्यकं तथा॥
ब्रह्मकैवल्यजाबालश्वेताश्वो हंस आरुणिः।
गर्भो नारायणो ब्रह्मबिन्दुनादशिरः शिखा॥
मैत्रायणी कौषीतकी बृहज्जाबालतापनी।
कालाग्निरुद्रमैत्रेयी सुबालक्षुरिमन्त्रिका॥
सर्वसारं निरालम्बं रहस्यं वज्रसूचिकम्।
तेजोनादध्यानविद्यायोगतत्त्वात्मबोधकम्॥
परिव्राट् त्रिशिखी सीता चूडा निर्वाणमण्डलम्।
दक्षिणा शरभं स्कन्दं महानारायणाद्वयम्॥
रहस्यं रामतपनं वासुदेवं च मुद्गलम्।
शाण्डिल्यं पैङ्गलं भिक्षुमहच्छारीरकं शिखा॥
तुरीयातीतसंन्यासपरिव्राजाक्षमालिका।
अव्यक्तैकाक्षरं पूर्णा सूर्याक्ष्यध्यात्मकुण्डिका॥
सावित्र्यात्मा पाशुपतं परं ब्रह्मावधूतकम्।
त्रिपुरा तपनं देवी त्रिपुरा कठभावना॥
हृदयं कुण्डली भस्म रुद्राक्षगणदर्शनम्॥
तारसारमहावाक्यपञ्चब्रह्माग्निहोत्रकम्।
गोपालतपनं कृष्णं याज्ञवल्क्यं वराहकम्॥
शाट्यायनी हयग्रीवं दत्तात्रेयं च गारुडम्।
कलिजाबालिसौभाग्यरहस्यऋचमुक्तिका॥

इन १०८ उपनिषदोंके अतिरिक्त और भी अनेक उपनिषद् उपलब्ध हैं। ऐसे उपनिषदोंका एक संग्रह दो वर्ष हुए अड्यार लाइब्रेरी (मद्रास) से निकला है। इस संग्रहमें ७१ उपनिषद् सङ्गृहीत हैं। उनके नाम ये हैं—

१—योगराजोपनिषत्
२—अद्वैतोपनिषत्
३—आचमनोपनिषत्
४—आत्मपूजोपनिषत्
५—आर्षेयोपनिषत्
६—चतुर्वेदोपनिषत्
७—इतिहासोपनिषत्
८—चाक्षुषोपनिषत्
९—छागलेयोपनिषत्
१०—तुरीयोपनिषत्
११—द्वयोपनिषत्
१२—निरुक्तोपनिषत्
१३—पिण्डोपनिषत्
१४—प्रणवोपनिषत्
१५—प्रणवोपनिषत्
१६—याष्कलमन्त्रोपनिषत्
१७—याष्कलमन्त्रोपनिषत् (सवृत्तिका)
१८—मठाम्नायोपनिषत्
१९—विश्रामोपनिषत्
२०—शौनकोपनिषत्
२१—सूर्यतापिन्युपनिषत्
२२—स्वसंवेद्योपनिषत्
२३—ऊर्ध्वपुण्ड्रोपनिषत्
२४—कात्यायनोपनिषत्
२५—गोपीचन्दनोपनिषत्
२६—तुलस्युपनिषत्
२७—नारदोपनिषत्
२८—नारायणपूर्वतापिनी
२९—नारायणोत्तरतापिनी
३०—नृसिंहषट्चक्रोपनिषत्
३१—पारमात्मिकोपनिषत्
३२—यज्ञोपवीतोपनिषत्
३३—राधोपनिषत्
३४—लाङ्गूलोपनिषत्
३५—श्रीकृष्णपुरुषोत्तमसिद्धान्तोपनिषत्
३६—सङ्कर्षणोपनिषत्
३७—सामरहस्योपनिषत्
३८—सुदर्शनोपनिषत्
३९—नीलरुद्रोपनिषत्
४०—पारायणोपनिषत्
४१—बिल्वोपनिषत्
४२—मृत्युलाङ्गूलोपनिषत्
४३—रुद्रोपनिषत्
४४—लिङ्गोपनिषत्
४५—वज्रपञ्जरोपनिषत्
४६—वटुकोपनिषत्
४७—शिवसङ्कल्पोपनिषत्
४८—शिवसङ्कल्पोपनिषत्
४९—शिवोपनिषत्
५०—सदानन्दोपनिषत्
५१—सिद्धान्तशिखोपनिषत्
५२—सिद्धान्तसारोपनिषत्
५३—हेरम्बोपनिषत्
५४—अल्लोपनिषत्
५५—आथर्वणद्वितीयोपनिषत्
५६—कामराजकीलितोद्धारोपनिषत्
५७—कालिकोपनिषत्
५८—कालीमेधादीक्षितोपनिषत्
५९—गायत्रीरहस्योपनिषत्
६०—गायत्र्युपनिषत्
६१—गुह्यकाल्युपनिषत्
६२—गुह्यषोढान्यासोपनिषत्
६३—पीताम्बरोपनिषत्
६४—राजश्यामलारहस्योपनिषत्
६५—वनदुर्गोपनिषत्
६६—श्यामोपनिषत्
६७—श्रीचक्रोपनिषत्
६८—श्रीविद्यातारकोपनिषत्
६९—षोढोपनिषत्
७०—सुमुख्युपनिषत्
७१—हंसषोढोपनिषत्

अब यह स्थिर हुआ कि जिसके प्रवेश करनेपर यह शरीर उठ खड़ा हो, वही उक्थ है—वही इसमें श्रेष्ठ है। वागिन्द्रिय पहले घुसी, परन्तु यह शरीर सोया ही रहा। चक्षु, श्रवण, मन बारी-बारी प्रवेश करते गये, परन्तु कोई परिणाम नहीं हुआ। यह शरीर पहलेकी भाँति ही सोया-सा रहा—पृथ्वीपरसे उठ नहीं सका। अन्तमें प्राणने प्रवेश किया, उसके प्रवेश करते ही यह शरीर उठ खड़ा हुआ। अतः प्रतिज्ञाके अनुसार प्राण ही उक्थ माना गया। वही सब इन्द्रियोंमें श्रेष्ठ माना गया।[1]

आरण्यकका यह वर्णन उपनिषद्के वर्णनसे कई अंशोंमें भिन्न-सा है। उपनिषद्में तो प्राणके निकलते समय शरीरकी अन्य इन्द्रियोंके खिन्न तथा निर्जीव होनेकी घटनाका वर्णन है, परन्तु इस आरण्यकमें प्रवेशसे पतित शरीरको खड़ा करा देनेकी योग्यताका एक नवीन उल्लेख प्राणके विषयमें किया गया है। प्राणकी श्रेष्ठता इस प्रकार उत्क्रमणसे ही नहीं, बल्कि प्रवेशसे भी सिद्ध की गयी है। इस आरण्यकके अध्ययनसे यह भी पता चलता है कि यह विषय ऋग्वेदकी संहितामें भी निर्दिष्ट किया गया है। इन्द्रियोंने 'त्वमस्माक तव स्मसि' (तुम हमारे स्वामी हो और हम तुम्हारे भृत्य हैं) कहकर प्राणकी श्रेष्ठता स्वयं मानी है। यह इस मन्त्रसे स्पष्ट प्रतीत होता है।[2]

प्राणकी उपासना

प्राणकी सब इन्द्रियोंमें श्रेष्ठता प्रतिपादित करनेके अनन्तर उसकी उपासनाके प्रकारका विस्तृत वर्णन इस आरण्यकमें किया गया है। इस प्राणके अनेक गुणोंका विशद विवेचन किया गया है। अनन्तर उसमें भिन्न-भिन्न देवता तथा ऋषियोंकी दृष्टि कर प्राणोपासनाके ढंग तथा उसके फलका उल्लेख किया गया है। इस लेखमें इस वर्णनका थोड़ा-सा सारांश प्रस्तुत करनेका प्रयत्न किया गया है।

हमारे शास्त्रोंमें इस पिण्डाण्ड तथा ब्रह्माण्डकी एकतापर सर्वत्र जोर दिया गया मिलता है। बाहर जो यह विशाल ब्रह्माण्ड नानाकारोंसे हमारे सामने उपस्थित है, उसका एक छोटा प्रतिनिधि है यह हमारा लघु शरीर। अतः भीतर तथा बाहर सब जगह भिन्न-भिन्न आकारसे एक ही तत्त्व इस मानव-शरीर तथा विश्वरूपमें समभावसे व्याप्त दृष्टिगोचर हो रहा है। बाह्य जगत्में जो विश्वका पोषक आदित्य है, इस शरीरमें सब इन्द्रियोंकी स्थितिका कारण वही प्राण है। श्रुतिमें प्राण तथा आदित्यकी एकता सर्वत्र प्रतिपादित की गयी है। प्रश्नोपनिषद्में कहा गया है—'आदित्यो वै बाह्यप्राण उदयत्येष ह्येनं चाक्षुषं प्राणमनुगृह्णाति' (प्रश्न० १।७)। आरण्यकोंमें भी इसी एकताका प्रतिपादन स्पष्ट शब्दोंमें किया गया है। अतः जिस प्रकार आदित्य हमारी उपासनाका विषय है, उसी प्रकार इस शरीरमें प्राण भी हमारी उपासनाका विषय है। हमारा यह सतत ध्येय होना चाहिये कि हम इस प्राणकी उपासना सदा किया करें।

प्राणकी महिमा

सोऽयमाकाशः प्राणेन बृहत्या विष्टब्धः, तद्यथायमाकाशः प्राणेन बृहत्या विष्टब्ध एवं सर्वाणि भूतानि आपिपीलिकाभ्यः प्राणेन बृहत्या विष्टब्धानीत्येवं विद्यात्।

(ऐत० आर० २।१।६)

अर्थात् प्राण इस विश्वका धारक है। 'प्राणकी ही शक्तिसे जैसे यह आकाश अपने स्थानपर स्थित है, उसी तरह सबसे बड़े प्राणीसे लेकर चींटीतक समस्त जीव इस प्राणके द्वारा ही विधृत हैं।' यदि प्राण न होता, तो इस विश्वका जो यह महान् संस्थान हमारे नेत्रोंके सामने सतत आश्चर्य पैदा किया करता है, वह कहीं भी नहीं रहता।

प्राण सर्वत्र व्याप्त है। 'सर्वं हीदं प्राणेनावृतम्' (प्राणसे यह सारा जगत् आवृत है।) वह विश्वका धारक है, अतः वह उसका रक्षक है। मन्त्रमें इसीलिये प्राणको 'गोपा' कहा गया है। प्राण ही आयुका कारण है। कौषीतकि उपनिषद्में प्राणके यह आयुष्कारक होनेकी बात स्पष्ट ही कही गयी है—

यावद्ध्यस्मिन् शरीरे प्राणो वसति तावदायुः।

(१।२)

जबतक इस शरीरमें प्राण रहता है तभीतक आयु है। अतः श्रुतिमन्त्रोंमें प्राणके लिये 'गोपा' शब्दका व्यवहार उचित ही है।

---

१. ऐत० आर० पृ० १००-१०१

२. ऐत० आर० पृ० १०२

प्राणके द्वारा अन्तरिक्ष तथा वायुकी सृष्टि हुई है। प्राण पिता है तथा अन्तरिक्ष और वायु उसकी सन्तान हैं। जिस प्रकार कृतज्ञ पुत्र अपने सत्कर्मोंसे पिताकी सेवा किया करता है, उसी प्रकार अन्तरिक्ष और वायुरूप पुत्र भी प्राणकी सेवामें लगे रहते हैं। अन्तरिक्षका अनुसरण करके ही प्राणिमात्रका सञ्चरण होता है और अन्तरिक्षकी सहायतासे ही आदमी दूर स्थानपर कहे गये शब्दोंको सुन लिया करता है। इस प्रकार अन्तरिक्ष प्राणकी परिचर्या करता है। वायु भी शोभनगन्ध ले आकर प्राणको तृप्त कर देता है तथा इस प्रकार अपने पिता प्राणकी सेवा किया करता है। ऐतरेय आरण्यकमें प्राणके स्रष्टा तथा पिता होनेकी बात इस प्रकार कही गयी है—

प्राणेन सृष्टावन्तरिक्षं च वायुश्च। अन्तरिक्षं वा अनुचरन्ति, अन्तरिक्षमनुश्रृण्वन्ति। वायुरस्मै पुण्यं गन्धमावहति। एवमेतौ प्राणं पितरं परिचरतोऽन्तरिक्षं च वायुश्च।

अर्थात् 'प्राणसे अन्तरिक्ष और वायुकी सृष्टि हुई। अन्तरिक्षका अनुसरण करके प्राणी चलते हैं और अन्तरिक्षका अनुसरण करके सुनते हैं। वायु इसके पास पुण्यगन्ध ले आता है। इस प्रकार ये अन्तरिक्ष और वायु अपने पिता प्राणकी परिचर्या करते हैं।'

प्राणकी ध्यानविधि

ध्यान करनेके लिये प्राणके भिन्न-भिन्न गुणोंका उल्लेख विस्तृतरूपसे किया गया है। तत्तद्रूपसे प्राणका ध्यान करना चाहिये। उन-उन रूपोंसे उपासना करनेसे फल भी तदनुरूप ही उपासकको प्राप्त होंगे। उस ध्यानके कतिपय प्रकारोका यहाँ उल्लेख किया जाता है।

प्राण ही अहोरात्रके रूपमे कालात्मक है। दिन प्राणरूप है तथा रात्रि अपानरूप। सवेरे प्राण सब इन्द्रियोंको इस शरीरमें अच्छी तरहसे फैला देता है। इस 'प्रतनन' को देखकर मनुष्य लोग कहते हैं 'प्रातायि' अर्थात् प्रकर्षरूपसे प्राण विस्तृत हुआ। इसी कारण दिनके आरम्भकालको जिसमें प्राणका प्रसरण दृष्टिगोचर होता है 'प्रातः' (सवेरा) कहलाता है। दिनके अन्त होनेपर इन्द्रियोंमे संकोच दीख पड़ता है। उस समय कहते हैं 'समागात्'। इसी कारण उस कालको 'साय' कहते हैं। विकासके कारण दिन प्राणरूप है और संकोचके हेतु रात्रि अपान है। प्राणका ध्यान इस प्रकार अहोरात्रके रूपमे करना चाहिये।

प्राण ही देवतात्मक है। वाग्में अग्नि देवताका निवास है, चक्षु सूर्य है, मन चन्द्रमा है, श्रोत्र दिशाएँ हैं। प्राणमें इन सब देवताओंकी भावना करनी चाहिये। 'हिरण्यदन् वैद' नामक एक ऋषिने प्राणके इस रूपको जाना था तथा प्राणकी देवतारूपसे उपासना की थी। इस उपासनाका जो, विपुल फल उन्हें प्राप्त हुआ, उसका वर्णन ऐतरेय आरण्यकमें स्पष्ट शब्दोंमे किया गया है (ऐत० आर० पृ० १०३। १०४)।

प्राण ही ऋषिरूप है। ऋग्वेदके मन्त्रोंके द्रष्टा अनेक ऋषि कहे गये हैं। इन सब ऋषियोंकी भावना प्राणमें करनी चाहिये, क्योंकि प्राण ही इन मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंके आकारमें विद्यमान है। प्राण ही शयनके समयमें वाग्, चक्षु आदि इन्द्रियोंके निगरण करनेके कारण 'गृत्स' कहलाता है और रतिके समयमें वीर्यके विसर्गजन्य मद उत्पन्न करनेके कारण अपान ही 'मद' हुआ। अतः प्राण और अपानके संयोगको ही गृत्समद कहते हैं, प्राण ही विश्वामित्र है क्योंकि इस प्राण देवताका यह समस्त विश्व भोग्य होनेके कारणसे मित्र है (विश्व मित्र यस्य असौ विश्वामित्रः)। प्राणको देखकर वागाद्यभिमानी देवताओंने कहा, 'यही हममे वाम'—वननीय, भजनीय, सेवनीय है, क्योंकि यह हममें श्रेष्ठ है। इसी हेतु देवोंमें 'वाम' होनेसे प्राण ही वामदेव है। प्राण ही अत्रि है, क्योंकि इस प्राणने ही समस्त विश्वको पापसे बचाया है (सर्वं पाप्मनोऽत्रायत इति अत्रिः)। प्राण ही भरद्वाज है। गतिसम्पन्न होनेसे मनुष्यके देहको 'वाज' कहते हैं। प्राण इस शरीरमें प्रवेश कर उसकी रक्षा सतत किया करता है। अतः यह प्राण 'बिभ्रद्वाज' है। इसी कारण यह भरद्वाज है। देवताओंने प्राणको देखकर कहा था कि तुम 'वसिष्ठ' हो, क्योंकि इस शरीरमे इन्द्रियोंके निवास करनेका कारण प्राण ही है। प्राण ही सबसे बढ़कर वास या निवासका हेतु है। अतः यह वसिष्ठ हुआ। इन निर्वचनोंसे यही सिद्ध होता है कि प्राण ही ऋषिरूप है। अतः प्राणमे इन ऋषियोंकी भावना करनी चाहिये तथा तद्रूप उपासना करनी चाहिये। अन्य ऋषियोंकी भी भावना इसी प्रकार बतलायी गयी है।

इस आरण्यकमें यहाँतक प्राणके विषयमें कहा गया है कि—

सर्वा ऋच:, सर्वे वेदाः, सर्वे घोषा एकैव व्याहृतिः प्राण एव प्राण ऋच इत्येव विद्यात्।

(ऐत० २। २। १०, पृ० १२१)

जितनी ऋचाएँ हैं, जितने वेद हैं, जितने घोष हैं, वे सब प्राणरूप हैं। प्राणको ही इन रूपोंमें समझना चाहिये तथा उसकी उपासना करनी चाहिये।

प्राणके इन भिन्न-भिन्न रूपों तथा गुणोंको जानकर तत्तद्रूपसे उसकी उपासना करनी चाहिये।

ऊपर प्राणविद्याका जो एक स्वल्प परिचय दिया गया है, उससे स्पष्ट प्रतीत हो गया होगा कि प्राणकी उपासना हमारे यहाँ अत्यन्त प्राचीन कालसे चली आती है। उपनिषदोंमें तो उसके विपुल वर्णन उपलब्ध होते ही हैं। आरण्यकोंमें भी प्राणविद्याका प्रचुर वर्णन है, परन्तु सच तो यह है कि संहिताके मन्त्रोंमें भी इनके बहुतसे निर्देश मिलते हैं। अतः इस विद्याके मूलरूपके ज्ञानके लिये ऋग्वेदस्थ मन्त्रोंका इस दृष्टिसे अध्ययन करना चाहिये तथा इस विद्याके उद्गम तथा विकासको ठीक-ठीक समझनेका प्रयत्न करना चाहिये। इति शम्।

उपनिषदोंमें योग-चर्चा

(लेखक—पं० श्रीवटुकनाथजी शर्मा एम० ए०, साहित्याचार्य)

योग हिन्दू-जातिकी सबसे प्राचीन तथा सबसे समीचीन सम्पत्ति है। यही एक ऐसी विद्या है जिसमें वाद-विवादको कहीं स्थान नहीं; यही वह एक कला है जिसकी साधनासे अनेक लोग अजर-अमर होकर देह रहते ही सिद्ध-पदवीको पा गये। यह सर्वसम्मत अविसंवादि सिद्धान्त है कि योग ही सर्वोत्तम मोक्षोपाय है। भवतापतापित जीवोंको सर्वसन्तापहर भगवान्‌से मिलानेमें योग अपनी बहिन भक्तिका प्रधान सहायक है। जिसको अन्तर्दृष्टि नहीं, उसके लिये शास्त्र भारभूत है। यह अन्तर्दृष्टि बिना योगके सम्भव नहीं। अतः इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय तत्त्वज्ञानके कोशको पानेके लिये योगकी कुञ्जी पाना परमावश्यक है।

इस कालमें सर्वसाधारणजनको योगका ज्ञान बहुत ही कम है। पण्डितसमाजको जो कुछ ज्ञान है वह पातञ्जल-योगका और वह भी दुरधीत तथा दुरध्यापित शास्त्ररूपेण। योगचर्या तथा योगाभ्याससे हमारा सम्य-सङ्घ उतना ही सम्पर्क रखता है जितना माया-परिष्वक्त जीव सर्वदुःखहर महेश्वरसे रखता है। यही एक प्रधान कारण है कि इस समय योगके सम्बन्धमे विचित्र-विचित्र बातें विद्वज्जनके मुखसे भी सुननेमें आती है। अस्तु। इस समय इसकी कैसी भी दुर्दशा अनात्मज्ञ लोगोंमें क्यों न हो, भारतवर्षके आध्यात्मिक इतिहासमें योगका सर्वदा विशिष्ट स्थान रहा है। दार्शनिक मत-मतान्तरोंके परस्पर इतने भिन्न रहनेपर भी, योगाभ्यासमें किसीकी विप्रतिपत्ति सुननेमें नहीं आती। वेदबाह्य बौद्ध, जैन आदि भी योगपर उतनी ही आस्था रखते थे जितनी श्रद्धा वेदसम्मत-मतानुयायी आर्यजनता रखती थी। अनेक विलक्षण आचारसम्पन्न साधकगण भी योगको ही परमालम्बन मानते थे। कहाँतक कहें, हिन्दुओंके नित्य-नैमित्तिक कर्मोंमें भी योगके कितने अङ्ग—आसन, प्राणायाम आदि—व्याप्त देखे जाते हैं। यह एक बड़ी विशिष्ट बात है कि योगका यह प्राधान्य प्राचीनतम कालसे चला आया है। डायसन इसीको 'भारतके धर्मजीवनकी एक सबसे विलक्षण बात' कहते हैं।[1] अन्यत्र हम यह दिखानेका प्रयत्न कर रहे हैं कि वैदिक संहिताओंके कालमें भी योगचर्या अच्छी तरह ज्ञात थी। वेद ही हमारे—हमारे क्या संसारभरके—सबसे प्राचीन ग्रन्थ हैं। यदि यह दिखाया जा सकता है कि वेदके प्रत्येक विभागमे योगके विषयमें बहुत कुछ मिलता है, तब यह बात कभी अत्युक्ति नहीं कही जा सकती कि योग हमारी सबसे पुरानी सम्पत्ति है। इस उद्देश्यको सामने रखकर यहाँ हम उपनिषदोंमें आये हुए योग-वर्णनकी कुछ चर्चा करते है।

वेदके दो विभाग हैं—मन्त्र और ब्राह्मण। 'मन्त्र-ब्राह्मणात्मको वेदः'। मन्त्रोंके संग्रहका नाम संहिता है। मन्त्रोंके विनियोग आदि विषयोंको बतलानेवाला ग्रन्थ ब्राह्मण कहा जाता है। ब्राह्मणोंका अन्तिम भाग

1 Paul Deussen The Philosophy of the Upanishads, p 117.

बहुधा आरण्यक होता है। आरण्यकोंका अन्तिम अंश बहुत करके उपनिषद् होता है। यही कारण है कि उपनिषद् वेदान्त कहे जाते हैं। उपनिषद्का अर्थ है 'रहस्य, गुप्त उपदेश'। वेदका सारभूत विषय जो परम अधिकारप्राप्त शिष्योंको ही बताया जाता था, वही उपनिषदोंमें भरा हुआ है। ऐसा माना जाता है कि वेदकी जितनी शाखाएँ थीं उतनी ही संहिताएँ, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् थे। ऋग्वेदकी २१, यजुर्वेदकी १०९, सामवेदकी १०००, तथा अथर्ववेदकी ५० शाखाएँ थीं। सब मिलाकर ११८० शाखाएँ थीं। अतः इतने ही उपनिषद् भी होने चाहिये। किन्तु संहिता, ब्राह्मणोंके साथ-साथ उपनिषद् भी लुप्त हो गये। मुक्तिकोपनिषद्में भगवान् श्रीरामचन्द्र सारतर १०८ उपनिषदोंके नाम यों कहते हैं—

ईशकेनकठप्रश्नमुण्डमाण्डूक्यतित्तिरिः।
ऐतरेयं च छान्दोग्यं बृहदारण्यकं तथा॥
ब्रह्मकैवल्यजाबालश्वेताश्वो हंस आरुणिः।
गर्भो नारायणो ब्रह्मबिन्दुनादशिरः शिखा॥
मैत्रायणी कौषीतकी बृहज्जाबालतापनी।
कालाग्निरुद्रमैत्रेयी सुबालक्षुरिमन्त्रिका॥
सर्वसारं निरालम्बं रहस्यं वज्रसूचिकम्।
तेजोनादध्यानविद्यायोगतत्त्वात्मबोधकम्॥
परिव्राट् त्रिशिखी सीता चूडा निर्वाणमण्डलम्।
दक्षिणा शरभं स्कन्दं महानारायणाद्वयम्॥
रहस्यं रामतपनं वासुदेवं च मुद्गलम्।
शाण्डिल्यं पैङ्गलं भिक्षुमहच्छारीरकं शिखा॥
तुरीयातीतसंन्यासपरिव्राजाक्षमालिका।
अव्यक्तैकाक्षरं पूर्णा सूर्याक्ष्यध्यात्मकुण्डिका॥
सावित्र्यात्मा पाशुपतं परं ब्रह्मावधूतकम्।
त्रिपुरा तपनं देवी त्रिपुरा कठभावना॥
हृदयं कुण्डली भस्म रुद्राक्षगणदर्शनम्॥
तारसारमहावाक्यपञ्चब्रह्माग्निहोत्रकम्।
गोपालतपनं कृष्णं याज्ञवल्क्यं वराहकम्॥
शाट्यायनी हयग्रीवं दत्तात्रेयं च गारुडम्।
कलिजाबालिसौभाग्यरहस्यऋचमुक्तिका॥

इन १०८ उपनिषदोंके अतिरिक्त और भी अनेक उपनिषद् उपलब्ध हैं। ऐसे उपनिषदोंका एक संग्रह दो वर्ष हुए अड्यार लाइब्रेरी (मद्रास) से निकला है। इस संग्रहमें ७१ उपनिषद् सङ्गृहीत हैं। उनके नाम ये हैं—

१–योगराजोपनिषत्
२–अद्वैतोपनिषत्
३–आचमनोपनिषत्
४–आत्मपूजोपनिषत्
५–आर्षेयोपनिषत्
६–चतुर्वेदोपनिषत्
७–इतिहासोपनिषत्
८–चाक्षुषोपनिषत्
९–छागलेयोपनिषत्
१०–तुरीयोपनिषत्
११–द्वयोपनिषत्
१२–निरुक्तोपनिषत्
१३–पिण्डोपनिषत्
१४–प्रणवोपनिषत्
१५–प्रणवोपनिषत्
१६–याष्कलमन्त्रोपनिषत्
१७–याष्कलमन्त्रोपनिषत् (सवृत्तिका)
१८–मठाम्नायोपनिषत्
१९–विश्रामोपनिषत्
२०–शौनकोपनिषत्
२१–सूर्यतापिन्युपनिषत्
२२–स्वसंवेद्योपनिषत्
२३–ऊर्ध्वपुण्ड्रोपनिषत्
२४–कात्यायनोपनिषत्
२५–गोपीचन्दनोपनिषत्
२६–तुलस्युपनिषत्
२७–नारदोपनिषत्
२८–नारायणपूर्वतापिनी
२९–नारायणोत्तरतापिनी
३०–नृसिंहषट्चक्रोपनिषत्
३१–पारमात्मिकोपनिषत्
३२–यज्ञोपवीतोपनिषत्
३३–राधोपनिषत्
३४–लाङ्गूलोपनिषत्
३५–श्रीकृष्णपुरुषोत्तमसिद्धान्तोपनिषत्
३६–सङ्कर्षणोपनिषत्
३७–सामरहस्योपनिषत्
३८–सुदर्शनोपनिषत्
३९–नीलरुद्रोपनिषत्
४०–पारायणोपनिषत्
४१–बिल्वोपनिषत्
४२–मृत्युलाङ्गूलोपनिषत्
४३–रुद्रोपनिषत्
४४–लिङ्गोपनिषत्
४५–वज्रपञ्जरोपनिषत्
४६–वटुकोपनिषत्
४७–शिवसङ्कल्पोपनिषत्
४८–शिवसङ्कल्पोपनिषत्
४९–शिवोपनिषत्
५०–सदानन्दोपनिषत्
५१–सिद्धान्तशिखोपनिषत्
५२–सिद्धान्तसारोपनिषत्
५३–हेरम्बोपनिषत्
५४–अल्लोपनिषत्
५५–आथर्वणद्वितीयोपनिषत्
५६–कामराजकीलितोद्धारोपनिषत्
५७–कालिकोपनिषत्
५८–कालीमेधादीक्षितोपनिषत्
५९–गायत्रीरहस्योपनिषत्
६०–गायत्र्युपनिषत्
६१–गुह्यकाल्युपनिषत्
६२–गुह्यषोढान्यासोपनिषत्
६३–पीताम्बरोपनिषत्
६४–राजश्यामलारहस्योपनिषत्
६५–वनदुर्गोपनिषत्
६६–श्यामोपनिषत्
६७–श्रीचक्रोपनिषत्
६८–श्रीविद्यातारकोपनिषत्
६९–षोढोपनिषत्
७०–सुमुख्युपनिषत्
७१–हंसषोढोपनिषत्

पूर्वोल्लिखित १७९ उपनिषदोंके अतिरिक्त और भी अनेक उपनिषद् उपलब्ध हैं, किन्तु अभीतक अप्रकाशित हैं। उपलब्ध उपनिषदोंकी संख्या दो शत-तीन शतके मध्यमे है[1]। डॉ० डायसनने स्वकल्पित विनिगमकद्वारा परीक्षाकर इन उपनिषदोंका समयक्रमसे चार विभाग किया है[2]—

१–प्राचीन गद्य उपनिषद्–
- बृहदारण्यक
- छान्दोग्य
- ऐतरेय
- कौषीतकि
- तैत्तिरीय
- केन

२–प्राचीन छन्दोबद्ध उपनिषद्–
- काठक अथवा कठ
- ईश या ईशावास्य
- श्वेताश्वतर
- महानारायण

३–पीछेके गद्य उपनिषद्–
- प्रश्न
- मैत्रायणी (य) या मैत्री
- माण्डूक्य

४–आथर्वण उपनिषद्[3]–
- सन्यास उपनिषद्
- योग उपनिषद्
- सामान्य वेदान्त उपनिषद्
- वैष्णव उपनिषद्
- शैव, शाक्त तथा अन्य छोटे उपनिषद्

इस विभागमें प्रकृतोपयोगी बात यह है कि योगोपनिषद् डॉ० डायसनके मतानुसार बिल्कुल अर्वाचीन हैं। ये उपनिषद् ऐसे है कि इनको देखते ही विद्वान् समझ सकते हैं कि ये योगके सभी अङ्गोंसे भरे हुए हैं। पीछेके योग-विषयक ग्रन्थ–हठयोगप्रदीपिका, गोरक्षपद्धति, शिवसहिता आदि–इन्हीं उपनिषदोंके आधारपर बने हुए हैं। इन योगोपनिषदोंका सग्रह भी ए० महादेव शास्त्रीद्वारा सम्पादित मद्रासकी अड्यार लाइब्रेरीसे निकला है। इसमें निम्नलिखित २० उपनिषद्, उपनिषद् ब्रह्मयोगिकृत टीका-सहित दिये हुए हैं[4]—

१ अद्वयतारकोपनिषत्	(शु० य०)
२ अमृतनादोपनिषत्	(कृ० य०)
३ अमृतबिन्दूपनिषत्	(कृ० य०)
४ क्षुरिकोपनिषत्	(कृ० य०)
५ तेजोबिन्दूपनिषत्	(कृ० य०)
६ त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषत्	(शु० य०)
७ दर्शनोपनिषत्	(सा० वे०)
८ ध्यानबिन्दूपनिषत्	(कृ० य०)
९ नादबिन्दूपनिषत्	(ऋ० वे०)
१० पाशुपतब्रह्मोपनिषत्	(अ० वे०)
११ ब्रह्मविद्योपनिषत्	(कृ० य०)
१२ मण्डलब्राह्मणोपनिषत्	(शु० य०)
१३ महावाक्योपनिषत्	(अ० वे०)
१४ योगकुण्डल्युपनिषत्	(कृ० य०)
१५ योगचूडामण्युपनिषत्	(सा० वे०)
१६ योगतत्त्वोपनिषत्	(कृ० य०)
१७ योगशिखोपनिषत्	(कृ० य०)
१८ वराहोपनिषत्	(कृ० य०)

१. बिलवलकर और रानडेकृत History of Indian Philosophy (भारतीय तत्त्वज्ञानका इतिहास, खण्ड २, पृ० ८७)

२. Paul Deussen The Philosophy of Upanishads (Eng Transl), pp 22–26 अन्य (भारतीय) विद्वजन इस विभागको माननेमें समर्थ नहीं हैं। गद्यात्मक या पद्यात्मक होनेसे ही प्राचीन अथवा अर्वाचीन कहना वास्तवमें इतना युक्तियुक्त नहीं जँचता। देखिये–– Belvelkar and Ranade History of Indian Philosophy, vol, II pp. 89–90

३. समझमें नहीं आता डॉ० डायसनने इन सबको आथर्वण उपनिषद् कैसे कह दिया। वह कहते हैं, "All of these Upanishads were received into the Atharvaveda" किन्तु इस सिद्धान्तपर वह कैसे पहुचे, इसका पता नहीं लगता। उपनिषद् ब्रह्मयोगिकी टीकासे स्पष्ट विदित होता है कि वे भिन्न-भिन्न वेदोंकी शाखाओंसे सम्बन्ध रखते हैं।

४ हम आगे योग-उपनिषदोंके नामके साथ सङ्केताक्षरद्वारा उनके वेदकी भी सूचना देते हैं।
शु० य०=शुक्लयजुर्वेद, कृ० य०=कृष्णयजुर्वेद, सा० वे०=सामवेद, ऋ० वे०=ऋग्वेद, अ० वे०=अथर्ववेद।

१९ शाण्डिल्योपनिषत् (अ० वे०)
२० हंसोपनिषत् (शु० य०)

अप्रकाशित उपनिषदोंके संग्रहमें योगराजोपनिषद् भी एक है। इस तरह ये २१ उपनिषद् योगोपनिषद् कहे जाते हैं। नीचे हम प्रत्येकके प्रतिपादित विषयका उल्लेख संक्षेपसे करते हैं—

१—अद्वयतारकोपनिषद्—इसमें लक्ष्यत्रयके अनुसन्धानद्वारा तारकयोगका साधन कहा गया है।

२—अमृतनादोपनिषद्—इसमें षडङ्गयोगका वर्णन है। ये षडङ्ग प्रसिद्ध षडङ्गसे जरा भिन्न हैं। यहाँके षडङ्ग ये हैं—

प्रत्याहारस्तथा ध्यानं प्राणायामोऽथ धारणा।
तर्कश्चैव समाधिश्च षडङ्गो योग उच्यते॥

'प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, तर्क और समाधि—यह षडङ्गयोग कहाता है।'

तर्कका लक्षण यह है—

आगमस्याविरोधेन ऊहनं तर्क उच्यते।

'आगमसे अविरुद्ध अनुमान तर्क कहाता है।'

आसनोंका उल्लेख समाधिसिद्ध्युपायमें यों किया है—

पद्मकं स्वस्तिकं वापि भद्रासनमथापि वा।
बद्ध्वा योगासनं सम्यगुत्तराभिमुखः स्थितः॥

'उत्तराभिमुख होकर पद्मक या स्वस्तिक या भद्र या बद्ध योगासन।'

३—अमृतबिन्दूपनिषद्—मन ही बन्धनका कारण है।

बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम्॥

'विषयासक्त मन बन्धका और निर्विषय मन मुक्तिका कारण है।'

निरस्तविषयासङ्गं संनिरुद्धं मनो हृदि।
यदा यात्यात्मनोऽभावं तदा तत्परमं पदम्॥

'विषयासक्तिसे मुक्त और हृदयमें निरुद्ध मन जब अपने अभावको प्राप्त होता है तब परमपद प्राप्त होता है।'

तावदेव निरोद्धव्यं यावद् हृदिगतं क्षयम्।
एतज्ज्ञानं च ध्यानं च शेषो न्यायस्य विस्तरः॥

'तभीतक हृदयमें मनका निरोध करना चाहिये जबतक उसका क्षय न हो जाय। इसीको ज्ञान कहते हैं और ध्यान कहते हैं, बाकी सब न्यायका विस्तार है।'

इसके अनन्तर ज्ञानका स्वरूप तथा ध्यानका प्रकार कहा गया है।

४—क्षुरिकोपनिषद्—इसमें प्रसिद्ध षडङ्ग—आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि—संक्षेपसे कहे गये हैं। 'आसनमवस्थितः' कहकर छोड़ दिया है, किसी आसन-विशेषका नाम नहीं लिया है।

५—तेजोबिन्दूपनिषद्—यह जरा बड़ा उपनिषद् है। इसमें छः अध्याय हैं। प्रथम अध्यायमें परब्रह्म-स्वरूप, तथा परब्रह्मावगतिसाधन पञ्चदशाङ्गयोग कहा गया है। पञ्चदश अङ्ग ये हैं—

यमो हि नियमस्त्यागो मौनं देशश्च कालतः।
आसनं मूलबन्धश्च देहसाम्यं च दृक्स्थितिः॥
प्राणसंयमनं चैव प्रत्याहारश्च धारणा।
आत्मध्यानं समाधिश्च प्रोक्तान्यङ्गानि वै क्रमात्॥

'यम, नियम, त्याग, मौन, देश, काल, आसन, मूलबन्ध, देहसाम्य, दृक्स्थिति, प्राणसंयमन, प्रत्याहार, धारणा, आत्मध्यान और समाधि—ये अङ्ग क्रमसे बताये हैं।'

यम आदिका स्वरूप भी भिन्न ही प्रकारसे कहा गया है। उदाहरणार्थ यमका लक्षण देते हैं—

सर्वं ब्रह्मेति वै ज्ञानादिन्द्रियग्रामसंयमः।
यमोऽयमिति संप्रोक्तोऽभ्यसनीयो मुहुर्मुहुः॥

'यह सब ब्रह्म है, इस ज्ञानसे इन्द्रियोंका संयम करना ही यम कहाता है। इसीका बारबार अभ्यास करना चाहिये।'

द्वितीय अध्यायमें अखण्डैकरसत्व तथा चिन्मात्रत्व भावनाद्वारा सबका एकरूप प्रतिपादित किया गया है। तृतीयाध्यायमें ब्रह्मानुभवका वर्णन है। चतुर्थ अध्यायमें जीवन्मुक्ति तथा विदेहमुक्ति आदिका वर्णन है। बाकीके तीन अध्यायोंमें वेदान्तप्रतिपाद्य तत् पदार्थ और त्वं पदार्थके अभेदका निरूपण है।

६—त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्—पहले सृष्टिक्रम दिखाया गया है। योग दो प्रकारका है—कर्मयोग तथा ज्ञानयोग।

कर्म कर्तव्यमित्येव विहितेष्वेव कर्मसु ।
बन्धनं मनसो नित्यं कर्मयोगः स उच्यते ॥

'विहित कर्मोंमें इस बुद्धिका होना कि यह कर्तव्य कर्म है, मनका ऐसा नित्य बन्धन कर्मयोग है ।'

यत्तु चित्तस्य सततमर्थे श्रेयसि बन्धनम् ।
ज्ञानयोगः स विज्ञेयः सर्वसिद्धिकरः शिवः ॥

'और श्रेयोऽर्थमें चित्तका सदा बद्ध रहना ज्ञानयोग है, ऐसा समझना चाहिये । यह ज्ञानयोग सब सिद्धियोंका देनेवाला और मङ्गलकारक है ।'

इसके अनन्तर निर्विशेष ब्रह्मज्ञानोपाय अष्टाङ्गयोग कहा है । अष्टाङ्ग वे ही प्रसिद्ध अष्टाङ्ग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ।

यम—१ अहिंसा, २ सत्य, ३ अस्तेय, ४ ब्रह्मचर्य, ५ दया, ६ आर्जव, ७ क्षमा, ८ धृति, ९ मिताहार, १० शौच ।

नियम—१ तप, २ सन्तोष, ३ आस्तिक्य, ४ दान, ५ हरिका आराधन, ६ वेदान्तश्रवण, ७ ह्री, ८ मति, ९ जप, १० व्रत ।

आसन—१ स्वस्तिक, २ गोमुख, ३ वीर, ४ योग, ५ पद्म, ६ बद्धपद्म, ७ कुक्कुट ८ उत्तान कूर्मक, ९ धनु, १० सिंह, ११ भद्र, १२ मुक्त, १३ मयूर, १४ सिद्ध, १५ मत्स्य, १६ पश्चिमतान, १७ सुख ।

प्राणायाम—प्राणायाम बतलानेके पहले अग्निस्थान, नाभिस्थान, नाडीचक्र, कुण्डलिनी, नाडीकन्द, नाडीचर वायु आदिका विशद वर्णन दिया गया है । केवल कुम्भक, सहित तथा नाडीशोधक प्राणायाम, प्राणायामफल, प्राणधारणसे रोगनाश आदि इसके अनन्तर कहा गया है ।

प्रत्याहार—

यद्यष्टादशभेदेषु मर्मस्थानेषु धारणम् ।
स्थानात् स्थानं समाकृष्य प्रत्याहारः स उच्यते ॥

'यदि अठारहों मर्मस्थानोंमेंसे प्रत्येक स्थानमें (मनसे परमात्माको) धारण कर सके तो उसको प्रत्याहार कहते हैं ।'

इसके अनन्तर १८ मर्मस्थानोंके नाम इस प्रकार दिये हुए हैं—पादाङ्गुष्ठ, गुल्फ, जङ्घामध्य, ऊरुमध्य और मूल, पायु, हृदय, शिश्न, देहमध्य, नाभि, गलकूर्पर, तालुमूल, घ्राणमूल, नेत्रमण्डल, भ्रूमध्य, ललाट, ऊर्ध्वमूल, जानुद्वय और करमूल ।

धारणा—

पञ्चभूतमये देहे भूतेष्वेतेषु पञ्चसु ।
मनसो धारणं यत्तद् युक्तस्य च यमादिभिः ।
धारणा सा च संसारसागरोत्तारकारणम् ॥

'इस पाञ्चभौतिक देहके पाँचों भूतोंमें, यमादिसे युक्त मनका धारण करना ही धारणा है, वह संसारसागरसे तारनेवाली है ।'

ध्यान—

चिन्तनं वासुदेवस्य परस्य परमात्मनः ।
स्वरूपव्याप्तरूपस्य ध्यानं कैवल्यसिद्धिदम् ॥

स्वरूपव्याप्तरूप परम परमात्मा वासुदेवका चिन्तन ही ध्यान है । वह कैवल्यसिद्धिका देनेवाला है ।'

ध्यान दो प्रकारका है—सगुण तथा निर्गुण ।

समाधि—

अहमेव परब्रह्म ब्रह्माहमिति संस्थितिः ।
समाधिः स तु विज्ञेयः सर्ववृत्तिविवर्जितः ॥

'मैं ही परब्रह्म हूँ, ब्रह्म मैं हूँ, ऐसी सम्यक् स्थितिको समाधि जानो, उसमें और कोई भी वृत्ति नहीं रहती ।'

सुषुप्तिवद् यश्चरति स्वभावपरिनिश्चलः ।
निर्वाणपदमाश्रित्य योगी कैवल्यमश्नुते ॥

'सोया हुआ-सा जो चलता है, स्वभावसे ही जो सदा सर्वत्र निश्चल है, ऐसा योगी निर्वाणपदका आश्रय करके कैवल्य प्राप्त करता है ।'

७-दर्शनोपनिषद्—सांकृति नामक शिष्य अपने गुरु दत्तात्रेयसे पूछते हैं और वह अष्टाङ्गयोग कहते हैं । अष्टाङ्गयोग पूर्वोक्त ही है । यम और नियम ऊपर कहे हुए दस-दस हैं । यहाँ उनके प्रत्येकके लक्षण दिये हुए हैं । आसन ९ दिये गये हैं—१ स्वस्तिक, २ गोमुख, ३ पद्म, ४ वीर, ५ सिंह, ६ भद्र, ७ मुक्त, ८ मयूर, ९ सुख

या सम। इसके अनन्तर देहका वर्णन है। नाडी, वायु, नाडीके देवता, नाडियोंमें संवत्सरात्मप्राणसूर्यसञ्चार अन्तस्तीर्थ आदिका बहुत उत्तम वर्णन है। प्राणायामादि सब अङ्गोंका भी बहुत अच्छा प्रतिपादन है। यह योगोपनिषदोंमें एक उत्तम उपनिषद् है।

८–ध्यानबिन्दूपनिषद्–ब्रह्मध्यानयोग (प्रणवध्यान, सविशेष ब्रह्मध्यान त्रिमूर्तिध्यानद्वारा) पहले प्रतिपादित है। षडङ्गयोग इसके अनन्तर कहा गया है। आसन चार ही कहे गये हैं—सिंह, पद्म, भद्र तथा सिद्ध। अन्तमे नादानुसन्धानद्वारा आत्मदर्शन बतलाया गया है।

९–नादबिन्दूपनिषद्–इसमे प्रणवोपासना तथा नादानुसन्धान कहा गया है।

१०–पाशुपतब्रह्मोपनिषद्–इसमें ज्ञानयोग प्रतिपादित है। परमात्माकी हंसत्वेन भावना, अन्तर्याग, ज्ञानयज्ञरूप अश्वमेध इत्यादि अनेक विषय हैं।

११–ब्रह्मविद्योपनिषद्–प्रणवकी चारो मात्राओंका वर्णन देकर सुषुम्नाके विषयमे यों कहा है—

पद्मसूत्रनिभा सूक्ष्मा शिखाभा दृश्यते परा।
सा नाडी सूर्यसंकाशा सूर्यं भित्त्वा तथा परम्॥
द्विसप्ततिसहस्राणि नाडीर्भित्त्वा च मूर्धनि।
वरदा सर्वभूतानां सर्वं व्याप्यैव तिष्ठति॥

'मृणाल-तन्तुके समान सूक्ष्म और ज्वाला-सी उज्ज्वल और सूर्यसदृश प्रकाशमान वह परा नाडी सूर्यको भेदकर परमको प्राप्त होती है और मूर्धामें बहत्तर हजार नाडियोंको भेदकर सबको व्यापकर रहती है।'

नादके द्वारा मोक्षप्राप्ति, जीवस्वरूपनिरूपण, हंसविद्या, हंसयोगीके द्वारा अनुसन्धेय आत्मस्वरूप इत्यादि अनेक विषय हैं।

१२–मण्डलब्राह्मणोपनिषद्–पहले-पहल अष्टाङ्गयोग कहा है। चार यम कहे गये हैं—शीतोष्णाहारनिद्राविजयः, सर्वदा शान्तिः, निश्चलत्वम्, विषयेन्द्रियनिग्रहश्चैते यमाः। तदनन्तर नव नियम हैं—गुरुभक्तिः, सत्यमार्गानुरक्तिः, सुखागतवस्त्वनुभवश्च तद्वस्त्वनुभवेन तुष्टिः, निःसङ्गता, एकान्तवासः, मनोनिवृत्तिः, फलानभिलापः, वैराग्यभावश्च नियमाः। और सब अङ्ग प्रसिद्ध रीतिसे ही कहे गये हैं। यह उपनिषद् अधिकांश तारकयोग तथा अमनस्कयोगमे ही लगाया गया है।

तद्योगं द्विविधं विद्धि पूर्वोत्तरविधानतः।
पूर्वं तु तारकं विद्यादमनस्कं तदुत्तरम्॥

'वह योग पूर्वोत्तर विधानसे दो प्रकारका है, पूर्वमे करनेका तारकयोग और बादका अमनस्कयोग है।' तारक भी द्विविध है, मूर्ति तारक और अमूर्ति तारक। जो इन्द्रियान्त है वह मूर्ति तारक है, जो भ्रूयुगातीत है वह अमूर्ति तारक है। दोनोंका ही मनोयोगसे अभ्यास करना चाहिये।··· उत्तरयोग अमनस्कयोग है।

तालुमूलोर्ध्वभागे महज्ज्योतिर्विद्यते, तद्दर्शनादणिमादिसिद्धिः।

'तालुमूलके ऊर्ध्व भागमें महज्ज्योति है। उसके दर्शनसे अणिमादि सिद्धि प्राप्त होती है।'

१३–महावाक्योपनिषद्–इस छोटेसे उपनिषद्में हंसविद्या कही गयी है। पर यहाँ कुछ विशेष है।

विद्या हि काण्डान्तरादित्यो ज्योतिर्मण्डलं ग्राह्यं नापरम्। असावादित्यो ब्रह्मेत्यजपयोपहितं हंसः सोऽहम्। प्राणापानाभ्यां प्रतिलोमानुलोमाभ्यां समुपलभ्यैवं सा चिरं लब्ध्वा त्रिवृदात्मनि ब्रह्मण्यभिध्यायमाने सच्चिदानन्दः परमात्माविर्भवति।

'काण्डान्तरमें जो ज्योतिर्मण्डलस्वरूप आदित्य हैं वही विद्या हैं, अन्य कोई नहीं। 'असौ आदित्यो ब्रह्म' यही आदित्य ब्रह्म है जिसका 'हंसः सोऽहम्' इस अजपा मन्त्रसे निर्देश किया जाता है। प्राणापानकी अनुलोम और प्रतिलोम गतिसे वह विद्या जानी जाती है, दीर्घकालके अभ्याससे वह विद्या लाभकर जब त्रिवृत् आत्मा ब्रह्मका ध्यान किया जाता है तब सच्चिदानन्द परमात्मा आविर्भूत होते हैं।'

१४–योगकुण्डल्युपनिषद्—

हेतुद्वयं हि चित्तस्य वासना च समीरणः।
तयोर्विनष्ट एकस्मिंस्तद्द्वावपि विनश्यतः॥

तयोरादौ समीरस्य जयं कुर्यान्नरः सदा ।
मिताहारश्चासनं च शक्तिचालस्तृतीयकः ॥

'चित्तके दो हेतु हैं, वासना और प्राण । इनमेंसे किसी एकके नष्ट होनेसे दोनोंका नाश होता है । इनमेंसे पहले सदा प्राणकी ही जय करना चाहिये, तब मिताहार होकर आसन साधे और फिर शक्तिचालन करे ।'

इस सिद्धान्तको कहकर आसन प्राणायामादिद्वारा कुण्डलिनीयोग प्रथम अध्यायमें कहा गया है । द्वितीय अध्यायमें खेचरी, मन्त्रद्वारा तथा प्रसिद्ध अभ्यासद्वारा, कही गयी है । तृतीय अध्यायमें ब्रह्मस्वरूप, जीवस्वरूप, मुक्तिस्वरूप आदि कथित हैं ।

१५–योगचूडामण्युपनिषद्–चक्र, नाडी, वायु आदिका तत्त्व बतलाते हुए षडङ्गयोग इसमें कहा गया है । तदनन्तर प्रणवाभ्यास प्रतिपादित है । प्रणवाभ्यास करनेवालेको भी प्राणजय करना आवश्यक है, अतः नाडीशोधनादिद्वारा प्राणायाम पुनः कहा गया है ।

१६–योगतत्त्वोपनिषद्–मोक्ष-प्राप्तिके लिये ज्ञान तथा योग दोनों आवश्यक हैं ।

योगहीनं कथं ज्ञानं मोक्षदं भवति ध्रुवम् ।
योगोऽपि ज्ञानहीनस्तु न क्षमो मोक्षकर्मणि ॥

'योगके बिना ज्ञान ध्रुव मोक्षका देनेवाला भला कैसे हो सकता है ? उसी प्रकार ज्ञानहीन योग भी मोक्षकर्ममें असमर्थ है ।'

योग चार हैं—मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग और राजयोग ।

मन्त्रयोगो लयश्चैव हठोऽसौ राजयोगक ।

इस उपनिषद्में प्रसिद्ध अष्टाङ्गयोगका सविस्तर वर्णन है ।

१७–योगशिखोपनिषद्–यह उपनिषद् बड़े महत्त्वका है । विषय तो वही है जो योगतत्त्वोपनिषद्में कहा गया है किन्तु यहाँ बड़े विस्तारसे तथा प्रकारान्तरसे कहा गया है । कुछ बातें उससे भिन्न भी हैं । यहाँ चारों योग स्वतन्त्ररूपेण कहे गये हैं । यहाँ वे क्रमिक भूमिका माने गये हैं—

मन्त्रो लयो हठो राजयोगान्ता भूमिकाः क्रमात् ।
एक एव चतुर्धाऽयं महायोगोऽभिधीयते ॥

'मन्त्र, लय, हठ और राज—ये चार योग यथाक्रम चार भूमिकाएँ हैं । चारों मिलकर यह एक ही चतुर्विध योग है जिसे महायोग कहते हैं ।'

इतना ही नहीं, उनके स्वरूप भी कुछ भिन्न प्रकारसे कहे गये हैं । उदाहरणार्थ राजयोग लीजिये—

रजसो रेतसो योगाद् राजयोग इति स्मृतिः ।

'रज और रेतके योगसे राजयोग होता है ।'

योगका सामान्य स्वरूप—

प्राणापानसमायोगो ज्ञेयं योगचतुष्टयम् ।

'प्राणापानको समान करना योगचतुष्टय कहा गया है ।' यह उपनिषद् योगदृष्ट्या सचमुच बड़े कामका है ।

१८–वराहोपनिषद्–इसमें पाँच अध्याय हैं । चार अध्यायोंमें ज्ञान प्रतिपादित है । पञ्चम अध्यायमें योग कहा गया है । तीन योग हैं—लय, मन्त्र तथा हठ । हठयोगके आठ अङ्ग हैं । यम १०, नियम १० और आसन ११ कहे गये हैं । अन्तमें योगके कुछ विशेष प्रकार दिये गये है, जैसे कालवञ्चनोपायभूतयोग, कायदार्ढ्यबलादिसाधनके योग, सम्पुटयोग आदि ।

१९–शाण्डिल्योपनिषद्–इसमें अष्टाङ्गयोग शाण्डिल्यसे अथर्वा कहते हैं । यम १०, नियम १०, आसन ८, प्राणायामके ३ प्रकार, प्रत्याहार ५, धारणा ५, ध्यान २ कहे गये हैं । द्वितीय-तृतीय अध्याय बहुत छोटे-छोटे हैं । इनमें ब्रह्मस्वरूप कहा गया है । अन्तमें दत्तात्रेयका माहात्म्य प्रतिपादित है ।

२०–हंसोपनिषद्–हंसविद्या संक्षेपसे प्रतिपादित है । अजपाजप, नादानुसन्धान आदि तदुपायत्वेन कहे गये हैं ।

२१–योगराजोपनिषद्–चार योग हैं—मन्त्रयोग, लययोग, राजयोग तथा हठयोग । इन चारों योगोंमें आसन, प्राणायाम, ध्यान तथा समाधि सम्मत हैं । लययोगके प्रसङ्गमें नव चक्रोंका वर्णन

दिया गया है। हठ तथा राजयोगके विषयमें और कुछ नहीं कहा गया है।

यह २१ योगोपनिषदोंका सारांश है। इसके देखनेसे कुछ-न-कुछ तद्गत विषयोंका अनुमान हो सकता है। इनमें योगके सभी विषय आ गये हैं। पीछेके ग्रन्थोंमें इन्हीं उपनिषदोंका लिया हुआ माल मिलता है। केवल विषय ही नहीं प्रत्युत वे-के-वे ही शब्द अनेक स्थलोंमें मिलते हैं। गोरक्ष आदि सिद्धोंके ग्रन्थोंमें यहाँके श्लोक वैसे-के-वैसे मिलते हैं। जो लोग कहते हैं कि योगके अङ्ग आठसे छः इन सिद्धोंने किये हैं, उन्हें इन उपनिषदोंको देखना चाहिये। सिद्धोंने बौद्धोंसे योग सीखा यह कहनेका जिनका साहस है, उनके पास प्रमाण क्या है वे ही जानें। तिब्बत आदि उत्तरीय प्रदेशोंमें सिद्धोंकी अनेक कथाएँ प्रचलित हैं, यह कोई प्रमाण नहीं है। इससे तो कुछ दूसरी ही बात निकलती है। जो लोग इन उपनिषदोंको पीछेके कालका मानते हैं, उनकी युक्तियाँ भी अल्पप्राण ही हैं। तथापि हम आगे यह दिखानेका प्रयत्न करते हैं कि जिन्हें विद्वज्जन प्राचीनतम मानते हैं, उनमें भी योगका विषय अच्छी तरह आया हुआ है।

योग शब्दके इस पारिभाषिक अर्थमें प्रयुक्त होनेके बहुत पूर्वसे योगाभ्यास भारतके लोगोंको अच्छी तरहसे ज्ञात था। यद्यपि युज् धातुका प्रयोग मनस् शब्दके साथ तथा ऐसे ही अर्थमें ऋग्वेदमें भी मिलता है, तथापि बिल्कुल स्पष्टरूपसे कठोपनिषद्में योग शब्दका प्रयोग हुआ है—

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्॥
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ॥

(कठोपनिषद् अ० २ वल्ली ३। १०-११)

'जब पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ मनसहित आत्मामें स्थिर होकर बैठती हैं, बुद्धि भी कोई चेष्टा नहीं करती, तब उस अवस्थाको परमा गति कहते हैं। उसी स्थिर इन्द्रिय-धारणाको योग कहते हैं। उस अवस्थामें साधक प्रमाद-रहित होता है। उत्पत्ति और नाश योग ही है।'

उपनिषदोंमें योग 'अध्यात्मयोग' कहा गया है। संहिता ब्राह्मणोंमें योग अनेक क्रियाकलापोंके साथ मिला हुआ मिलता है तथा सिद्धियाँ ही उसकी बहुशः लक्ष्य थीं। बहुत सम्भव है मोक्षप्राप्तिके लिये जब इसका प्रयोग होने लगा तब इसको अध्यात्मयोग कहने लगे।

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं
गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं
मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति॥

(कठोपनिषद् १। २। १२)

'वह देव अर्थात् आत्मा जो इतना तेजस्वी है कि देख नहीं सकते, जो गूढ—गहन स्थानमें प्रवेश किये हुए है, गुहामें बैठा हुआ और गह्वरमें रहनेवाला है उसको अध्यात्मयोगाधिगमके द्वारा जानकर धीर पुरुष हर्ष और शोकको त्याग देता है।'

योग शब्दका प्रयोग दर्शनविशेषके लिये होता है या क्रियात्मकयोगके लिये होता है। उपनिषदोंमें दोनों अर्थोंमें योग शब्द प्रयुक्त मिलता है। ऊपरके दोनों कठोपनिषद्के मन्त्र ही इसके उदाहरण हैं। योगदर्शनके-से मत प्राचीन उपनिषदोंमें भी अनेक स्थलोंपर मिलते हैं। यहाँ उन सब वाक्योंके उद्धृत करनेसे लेखका कलेवर बहुत बढ़ जायगा। विज्ञलोग कठ, मुण्डक, छान्दोग्य आदि उपनिषदोंमें इसे स्वयं देख सकते हैं। क्रियात्मकयोगके भी रूप, प्रकार, भेद आदि प्राचीन उपनिषदोंमें भी मिलते हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद्के द्वितीय अध्यायमें षडङ्गयोगका वर्णन स्पष्ट ही देख पड़ता है। जो लोग योगका षडङ्गत्व नाथसम्प्रदायसे आया हुआ मानते हैं, उन्हें यह उपनिषद् अपने मतके पलटनेमें बहुत कुछ सहायता देगा।

श्वेताश्वतरके कुछ वाक्य हम नीचे देते हैं—

त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं
हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिरुध्य।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान्
स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि॥
प्राणान् प्रपीड्येह स युक्तचेष्टः
क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत।
दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं
विद्वान् मनो धारयेताप्रमत्तः॥

(२। ८-९)

ध्याननिर्मथनाभ्यासाद् देवं पश्येन्निगूढवत् ॥

(१।१४)

'शरीरको त्रिरुन्नत अर्थात् छाती, गर्दन और सिर उन्नत, और सम करके, मनसहित इन्द्रियोंको हृदयमें नियत कर ब्रह्मरूप नौकासे विद्वान् सब भयानक प्रवाहोंको तर जाय। इस शरीरमें प्राणोंका अच्छी तरह निरोध करके युक्तचेष्ट हो और प्राणके क्षीण होनेपर नासिकाद्वारसे श्वास छोड़े और इन दुष्ट घोड़ोंकी लगाम मनको विद्वान् अप्रमत्त होकर धारण करे। ध्यानरूप मन्थनसे अत्यन्त गूढ़-सा जो आत्मा है उसे देखे।'

विज्ञ पाठक देखेंगे इसमें योगके पडङ्ग किस प्रकार कहे गये हैं। श्वेताश्वतरमें योग विस्तारसे कहा गया है। यजुर्वेदसंहिता आदिमें आये कुछ योगविषयक मन्त्रोंका पूरा भाष्य-सा दिखायी पड़ता है।

आसनोंका विस्तृत वर्णन इन उपनिषदोंमें नहीं मिलता है। जैसे श्रीमद्भगवद्गीतामें 'समं कायशिरोग्रीवम्' मिलता है वैसा ही यहाँ दिखायी पड़ता है[1]। ध्यानादिके लिये सिद्धासन तथा पद्मासनको छोड़ अन्य आसन अनुपयुक्त और अनावश्यक है। गोरक्षनाथने गोरक्षपद्धतिमें इसी हेतु से ही दो आसन बतलाये हैं।

वैदिक ग्रन्थोंमें प्राणविद्याका बड़ा ऊँचा स्थान है। उपनिषदोंमें भी प्राणोपासना अनेक भावनाओंके द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकारसे कही गयी है[2]। प्रत्यक्ष सम्बन्ध योगसे प्राणोंका प्राणायामके सम्बन्धमें है। प्राचीन तथा अर्वाचीन सभी उपनिषद् मोक्षके दो उपाय बताते हैं— मनोजय तथा प्राणजय। मनोजय वासनाओंके क्षीण होनेसे होता है, किन्तु प्राणजय हो जानेसे मनोजय अनायास सिद्ध हो जाता है। यही कारण है कि योगमें प्राणजयपर इतना जोर दिया जाता है। प्राणजय प्राणायामद्वारा होता है। अतएव प्राणायामका इतना प्राधान्य है। कठोपनिषद्में यों कहा है—

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति।
मध्ये वामनमासीनं विश्वेदेवा उपासते ॥

(२।२।३)

'जो प्राणको ऊपर भेजता है और अपानको नीचे फेंकता है उस मध्यमें रहनेवाले वामनको विश्वेदेव भजते हैं।'

मुण्डकोपनिषद्में एक वाक्य यों मिलता है—

प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां
यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मा ॥

(३।१।९)

'प्रजाओंके प्राणसह सम्पूर्ण चित्तमें वह आत्मा व्याप्त है और विशुद्धचित्तमें ही विशेषरूपसे प्रकट होता है।'

योगके सभी अंगोंका वर्णन उपनिषद्वचनोंमें यहाँतक हुआ है। समाधिका वर्णन भी अनेक स्थलोंमें मिलता है। श्वेताश्वतरमें इस प्रकार वर्णन है—

यथैव बिम्बं मृदयोपलिप्तं
तेजोमयं भ्राजते तत् सुधान्तम्।
तद्वात्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही
एकः कृतार्थो भवति वीतशोकः ॥
यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं
दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्।
अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥

(२।१४-१५)

'जिस प्रकार कोई तेजोमय बिम्ब धूलसे धूसरित हुआ हो और पीछे स्वच्छ करनेपर वही चमकने लगता है उसी प्रकार उस आत्मतत्त्वको देखकर देही एकावस्थाको प्राप्त होकर कृतार्थ और वीतशोक होता है। परन्तु जब देही आत्मतत्त्वसे ब्रह्मतत्त्वको परप्रकाशक दीपकी रीतिसे देखता है तब वह आत्मदेवको अज, ध्रुव, सर्वतत्त्वविशुद्ध जानकर सब पाशोंसे मुक्त हो जाता है।'

ऊपर संक्षेपमें दिखानेका प्रयत्न किया गया है कि प्राचीन उपनिषदोंमें भी योगके प्रत्येक अङ्गका विवरण मिलता है। वास्तविक बात तो यह है कि लगभग सभी उपनिषदोंमें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्षरूपसे थोड़ा अथवा

---

१. ऊपर दिये हुए श्वेताश्वतरके वाक्यको देखिये—'त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरम्।'

२ छान्दोग्य० ३।११।५, ४।३।३-४, ५।१।६—१५।७। १५।१, ७।१०—२४, कौषीतकि० २।१, ५, श्वेताश्वतर० २।४—६, इत्यादि।

अधिक योग अवश्य ही आया है। उपनिषद् हमारे मोक्षशास्त्रके परमाधार हैं। मोक्ष अतीन्द्रिय ज्ञानके विना उपहासास्पद है। अतीन्द्रिय ज्ञान विना योगके साध्य नहीं। अतः उपनिषदोंसे योगका एक प्रकारसे अविनाभूत सम्बन्ध है। औपनिषदिक योग वड़े ही महत्त्वका विषय है। एक ओर तो संहिताओंमें आया हुआ निगूढरूप योग है। दूसरी ओर भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय, धर्म तथा मतानुरूप विकसित योग है। औपनिषदिक योग ही आगे-पीछेकी कुञ्जी है। योगका इतना भारी किला इसी औपनिषदिक योगके नींवपर खड़ा है। उपनिषद् वेदान्त हैं—वेदका सर्वस्वसारभूत निचोड़ हैं। इनको श्रद्धासे समझनेका उद्योग करना चाहिये। काट-कतरकी धिषणाको यहाँ जरा संयत रखना चाहिये। इस धैर्य और श्रद्धाका फल अवश्य परम हितकारक होगा।

उपनिषदोंमें योग

(लेखक—जगद्गुरु भगवत्पाद श्रीरामानन्दसम्प्रदायाचार्य श्री १०८ स्वामी श्रीरघुवराचार्यजी महाराज)

'योग' शब्दका सामान्य अर्थ है 'सम्बन्ध'। परन्तु महर्षि पतञ्जलिके सिद्धान्तानुसार चित्तकी वृत्तियोंका वास्तविक निरोध करना ही योग है और यह योग ही कैवल्यमुक्तिका सर्वोत्तम साधन है। यह योग सांख्यशास्त्रीय योगसे विलक्षण नहीं है—दोनोंकी एकता ही मानी जाती है। परन्तु गीतामें जो 'सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः' इत्यादि श्लोक आये हैं उनमें सांख्य और योग शब्दोंका आशय भिन्न है। गीतामें 'सांख्य' से 'संख्यया बुद्ध्यावधारणीयमात्मतत्त्वम्'—संख्यासे अर्थात् बुद्धिसे धारण करने योग्य आत्मतत्त्व अर्थात् ज्ञानका अभिप्राय है, और 'योग' से कर्मयोगका। यहाँ कापिल सांख्य और पातञ्जल योगका कोई प्रकरण नहीं है।

यहाँ सांख्य और योग शब्दोंसे ज्ञान और कर्मयोगका ग्रहण किया गया है। सांख्य और योग दोनोंमें स्वरूपभेद तो अवर्जनीय है, पर उभयसाध्य फलांशमें अभेद होनेके कारण यह कहा गया है कि, 'सांख्य और योगको बालक ही पृथक् कहते हैं, पण्डित नहीं, क्योंकि दोनोंमेंसे एकका भी जो अच्छे प्रकारसे अनुष्ठान किया जाय तो दोनोंका ही फल प्राप्त हो जाता है। जो स्थान (मोक्षाख्य फल) ज्ञानसे प्राप्त किया जा सकता है वही योग (निष्कामकर्मयोग) से भी प्राप्त होता है।' यद्यपि याग-दानादि कर्म फलासक्ति और अहङ्कारबुद्धिसे अनुष्ठित होनेपर ज्ञानलभ्य फलको नहीं दे सकते, तथापि निष्कामबुद्धिसे अर्थात् भगवदर्पणबुद्धिसे उनका अनुष्ठान करनेसे वही फल सुलभ होता है। इसके अतिरिक्त भगवत्परिचर्या आदि सत्कर्मोंका भी यहाँ ग्रहण है। यही श्रीगीताचार्य भगवान्‌का तात्पर्य है।

योग शब्द मनोनिरोधका वाचक है, और मनोनिरोधके विना ज्ञान, भक्ति और नित्यादि सत्कर्म सभी व्यर्थ होते हैं। अतएव परम पुरुषार्थके प्रतिपादक उपनिषदादिमें योग शब्दका प्रयोग दोनो अर्थोंमें समञ्जस होता है और इसी आशयकी पूर्तिके लिये प्रायः सभी उपनिषदोंमें योग-का प्रधानरूपसे वर्णन है। कुछ उपनिषदोंमें तो योगका महत्त्व अन्य साधनोंकी अपेक्षा बहुत ही चढ़ा-बढ़ा देखा जाता है। सायुज्यमुक्तिको ही उपनिषदोंमें वास्तविक मुक्ति कहा गया है। इस मुक्तिकी प्राप्ति जैसे ज्ञान और परा-भक्तिसे होती है, ठीक वैसे ही योगसे भी होती है। इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है। तात्पर्य यह है कि ज्ञान, पराभक्ति और योग ये शब्द भगवत्प्राप्तिके चरम साधनके बोधक हैं। अतः इनका उल्लेख मोक्षसाधनतया ही उपनिषदोंमें आता है। इसका स्पष्टीकरण भिन्न-भिन्न उपनिषदोंके दृष्टान्तोंसे किया जाता है। श्वेताश्वतरोपनिषद्‌के द्वितीयाध्यायमें योगका बहुत अच्छा विवेचन है। वहाँ योगका सर्वोत्तम फल बताया है और यौगिक क्रियाओंका भी वर्णन है। यथा—

> प्राणान् प्रपीड्येह स युक्तचेष्टः
> क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत।
> दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं
> विद्वान् मनो धारयेताप्रमत्तः॥
> (श्वे० २। ९)

> समे शुचौ शर्करावह्निवालुका-
> विवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः।
> मनोऽनुकूले न तु चक्षुपीडने
> गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत्॥

यदि शैलसमं पापं विस्तीर्णं बहुयोजनम् ।
भिद्यते ध्यानयोगेन नान्यो भेदः कदाचन ॥

'पर्वतके समान भी बहुयोजनविस्तीर्ण पापराशि हो तो वह सब ध्यानयोगसे नष्ट हो जाती है, और कोई उपाय नहीं है।' इस उपनिषद्में योगके छः अङ्ग बताये हैं। यथा—

आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारश्च धारणा ।
ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि भवन्ति षट् ॥

इन छः अङ्गोंमें ही पातञ्जलदर्शनके अष्टाङ्गोंका अन्तर्भाव समझना चाहिये। योगतत्त्वोपनिषद्में मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग और राजयोग इस प्रकार चार प्रकारके योगोंका स्वरूप, लक्षण और विवेचन बहुत अच्छे प्रकारसे किया गया है। पातञ्जलयोगका और इस औपनिषद योगका ऐक्य ही यहाँ प्रस्फुट होता है। योगशिखोपनिषद्में तो योगमार्गका बहुत ही सुन्दर स्पष्टीकरण किया गया है। आरम्भमें हिरण्यगर्भका श्रीमहेश्वरसे यही प्रश्न है कि, हे शङ्कर ! इस दुःखमय संसारमें सब जीव पड़े हैं और अपने कर्मोंका सुख-दुःखात्म फल भोग रहे हैं। इनकी मुक्ति किस सुगम उपायसे हो, यह कृपया बताइये ? इसका श्रीशङ्करजीने यही उत्तर दिया है कि, कर्मबन्धसे मुक्त होनेका उपाय कोई ज्ञान और कोई योग कहते हैं, परन्तु मेरा मत तो यह है कि—

योगहीनं कथं ज्ञानं मोक्षदं भवतीह भो ।
योगोऽपि ज्ञानहीनस्तु न क्षमो मोक्षकर्मणि ॥
तस्माज्ज्ञानं च योगं च मुमुक्षुर्दृढमभ्यसेत् ।

'योगहीन ज्ञान और ज्ञानहीन योग कभी भी मोक्षप्रद नहीं होता। इसलिये ज्ञान और योग इन दोनोंका ही मुमुक्षुको दृढ़ताके साथ अभ्यास करना चाहिये।' इससे यही सिद्ध हुआ कि बन्धनिवृत्तिके लिये साध्य-साधनभावसे योग और ज्ञान इन दोनोंको स्वीकार करना चाहिये। इस उपनिषद्में यह भी कहा है कि—

योगशिखां महागुह्यं यो जानाति महामतिः ।
न तस्य किञ्चिदज्ञातं त्रिषु लोकेषु विद्यते ॥

'इस 'योगशिखा' को जो महामति साधक जानता है उसको तीनों लोकमें कुछ भी अज्ञात नहीं रहता।' इस प्रकार योगके रहस्योंको जाननेवाला सर्वज्ञ हो सकता है, यही इस वाक्यका सार है।

उपनिषदोंका पूर्णतया मनन करनेपर हम इसी निष्कर्षपर आते हैं कि बिना यौगिक साधनोंके हमारी पारमार्थिक प्रवृत्ति अधूरी ही रहती है। समस्त उपनिषदोंमें किसी-न-किसी रूपसे योगका समर्थन करते हुए उसको उपादेय बताया है। योग शब्द एक सामान्य शब्द है। वह विशेष पदके समीप होनेसे अनेक अर्थोंका बोधक है। उपनिषदोंमें साधनरूपसे ग्राह्य जो अनेक सिद्धान्त हैं उनको किसी-न-किसी रूपसे योग कहा जा सकता है। जैसे ज्ञानयोग, भक्तियोग, मन्त्रयोग, लययोग, क्रियायोग, ध्यानयोग, जपयोग, समाधियोग आदि। योगमार्ग ही भगवत्प्राप्तिका एक मार्ग है, क्योंकि यौगिक प्रक्रियाके अनुसार ही मनोनिरोध हो सकता है और सब प्रकारके साधनोंमें मनका स्थैर्य पूर्णतया अपेक्षित है। अतः उपनिषदोंका तात्पर्य योगानुष्ठानपूर्वक ही मुक्तिकी प्राप्तिसे है। ऐसा कोई मार्ग मोक्षसाधनका नहीं है जिस मार्गमें योगाङ्गोंकी आवश्यकता न पड़ती हो। इसलिये जिस प्रकार दूधमें घृत समाया हुआ है और माताके उपदेशोंमें बालकका हित भरा हुआ है, उसी प्रकार उपनिषदोंमें योग समाया हुआ है। योग शब्द अनेक प्रकारसे उपनिषदोंमें व्यवहृत किया गया है। परन्तु सबका तात्पर्य मुक्तिसाधनस्वरूपसे एक ही है। इससे यह निर्विवाद सिद्ध है कि योग और उपनिषदोंका प्रतिपाद्य-प्रतिपादकत्वादिरूपसे घनिष्ठ सम्बन्ध है।
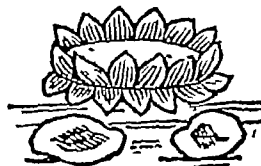
तन्त्रमें योग

(लेखक—श्रीअटलविहारी घोष)

भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय अपने-अपने मार्गके अनुसार 'योग' शब्दका अर्थ करते हैं। वेदान्त-पक्षका कहना है—जीव और आत्माके मिलनका नाम योग है। प्रत्यभिज्ञा-पक्षके मतानुसार शिव और आत्माके अभेद-ज्ञानका नाम योग है। भेद-वादियोंके मतमें पुराण-पुरुषका ज्ञान ही योग है। आगमवादी कहते हैं कि शिव और शक्तिका अभेद-ज्ञान ही योग है। योगाभ्यास करनेके लिये दीक्षा अवश्य ग्रहण करनी चाहिये। दीक्षानिर्दिष्ट अपनी ब्रह्ममूर्तिकी उपासनासे सिद्धि प्राप्त करनेपर योगमार्गमें प्रवेश करनेका अधिकार प्राप्त होता है। कौल कहते हैं कि शैव, वैष्णव, शाक्त, सौर एवं गाणपत्यादि मन्त्रोंके द्वारा चित्त विशुद्ध होनेपर कौल-ज्ञान अर्थात् ब्रह्मज्ञान प्रकाशित होता है। कुलार्णवतन्त्रके द्वितीय उल्लासमें लिखा है—

> शैववैष्णवदौर्गार्कगाणपत्यादिकैः क्रमात्।
> मन्त्रैर्विशुद्धचित्तस्य कौलज्ञानं प्रकाशते॥

उक्त तन्त्रमें और भी कहा गया है कि मनुष्य चार श्रेणियोंमें विभक्त हैं और प्रत्येक श्रेणीके मनुष्य अपने अधिकार-भेदसे परमपदार्थको भिन्न-भिन्न रूपमें देखा करते हैं।

> अग्नौ तिष्ठति विप्राणां हृदि देवो मनीषिणाम्।
> प्रतिमास्वप्रबुद्धानां सर्वत्र विदितात्मनाम्॥

अर्थात् क्रिया-काण्डमें अनुरक्त ब्राह्मण उनको अग्निमें देखा करते हैं। मनीषी अपने हृदयमें उनका अनुभव करते हैं। जो अप्रबुद्ध हैं, वे प्रतिमामें उन्हें देख पाते हैं और जो आत्मज्ञानी हैं, वे सर्वत्र और सर्वदा उस परम पदार्थको देखा करते हैं।

योगसाधनका उद्देश्य यही शेषोक्त अवस्था प्राप्त करना है। इसके लिये सबसे प्रथम कर्तव्य है—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर, इन षट्-रिपुओंका नाश करना। यहाँपर कामादि षट्-रिपुओंके स्वरूपका परिचय देना आवश्यक है। स्त्री-भोगादिकी जो अभिलाषा है, वही काम है। प्राणियोंको पीडा पहुँचानेका नाम है क्रोध। धनादिकी अतिशय आकांक्षाका नाम है लोभ। तत्त्वज्ञानका अभाव ही मोह है। मैं सुखी हूँ, मैं पण्डित हूँ, मैं धनवान् हूँ, इस प्रकारके गर्वको मद कहते हैं। और दूसरेका सौभाग्य देखकर जो दुःख होता है, उसका नाम मत्सर है। ये ही शत्रु हैं, क्योंकि ये ही सब दुःखोंके कारण हैं और ये ही आत्मस्वरूपका विचार करनेमें बाधा पहुँचाते हैं। इनका दमन करनेके लिये योगके अष्टाङ्गका अभ्यास करना होगा। योगके ये आठ अंग निम्नलिखित हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।

यम शब्दका अर्थ है—उपरति, अर्थात् काम इत्यादि-से निवृत्ति। यह दस प्रकारका है—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, कृपा, आर्जव, क्षमा, धृति, मिताहार और शौच।

अहिंसाका अर्थ है—किसी कर्मके द्वारा, और मनके द्वारा किसी प्रकारसे किसी प्राणीको क्लेश न पहुँचाना। सत्य शब्दका अर्थ है—जैसा सुना हो और जैसा देखा हो, वैसा ही कहना। अस्तेय शब्दका अर्थ है—दूसरेका तुच्छसे भी तुच्छ तृण आदि भी ग्रहण न करना। ब्रह्मचर्य शब्दका अर्थ है—आठों प्रकारके मैथुनका परित्याग करना। इस अष्टविध मैथुनका वर्णन शास्त्रमें इस प्रकार आया है—

> स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
> सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च॥

बुरी भावनासे स्त्रीका स्मरण, कथन, स्त्रीके साथ खेलना, स्त्रीको देखना, छिपकर बातें करना, पानेका सङ्कल्प करना, पानेकी चेष्टा करना और सहवास करना। कृपा शब्दका अर्थ है—प्राणिमात्रकी दुःखनिवृत्तिकी चेष्टा। आर्जव शब्दका अर्थ इस प्रकार वर्णित है—

> व्यवहारेषु सर्वेषु मनोवाक्कायकर्मभिः।
> सर्वेषामपि कौटिल्यराहित्यमार्जवं भवेत्॥

अर्थात् समस्त प्राणियोंके साथ मन, वाणी और शरीरके द्वारा जो व्यवहार किया जाता है, उसमें कुटिलताके अभावका नाम आर्जव है। क्षमा शब्दसे अपकार करनेवालेके प्रति मित्रवत् व्यवहार समझना चाहिये। इष्टवस्तुकी अप्राप्तिमें जो दुश्चिन्ता उत्पन्न होती है, उस दुश्चिन्ताका अभाव ही धृति है। शरीर धारण करनेमात्रके लिये जो भोजन है उसका नाम मिताहार है। जिसके द्वारा चित्त निर्मल होता है, उस पवित्रताका नाम शौच है। यहाँपर यह समझना चाहिये कि यति इन दस प्रकारके सभी साधनोंसे रहेगा। अहिंसा और ब्रह्मचर्य-के द्वारा कामपर, कृपा और क्षमाके द्वारा क्रोधपर, अस्तेय, सत्य और आर्जवके द्वारा लोभपर, मिताहार और शौचके द्वारा मोहपर, क्षमा और आर्जवके द्वारा मदपर और अहिंसा, कृपा, आर्जव और क्षमाके द्वारा मत्सरपर विजय प्राप्त होती है।

योगका द्वितीय अङ्ग नियम भी दस प्रकारका है जैसे—तपः, सन्तोष, आस्तिक्य, दान, देवपूजा, सिद्धान्तश्रवण, ह्री, मति, जप और होम।

कृच्छ्रादि व्रतोंके आचरणका नाम तप है। इतर वस्तुकी भी अभिलाषा न होनेका नाम सन्तोष है। श्रुतिप्रतिपाद्य अर्थमें परलोकके अस्तित्वमें जो विश्वास है वही आस्तिक्य है। यथाविहित अनिन्द्य उपायसे कमाये हुए धनको शक्तिके अनुसार देव, पितर और मनुष्योंके उद्देश्यसे बाँटना दान कहलाता है। अपनी ब्रह्ममूर्तिकी उपासना देवपूजा है। उपनिषद् आदि मोक्ष-शास्त्रोंके सुननेका नाम सिद्धान्तश्रवण है। कुत्सित आचरण-के कारण मनमें जो कष्ट होता है उसका नाम ह्री है। मति शब्दका अर्थ है मनन अर्थात् विविध युक्ति-प्रमाणोंकी सहायतासे सुने हुए अर्थका अनुशीलन। यहाँपर जप शब्दसे इष्ट मन्त्रका जप समझना चाहिये। इसके द्वारा चित्तशुद्धि होती है। अग्निहोत्रादि होमका नाम होम है।

आसन अनेक प्रकारके हैं। इनकी कोई संख्या नहीं। परन्तु साधारणतः चौरासी प्रकारके आसनोंकी बात कही गयी है। उनमें पाँच आसन शास्त्रोंमें प्रधान बताये गये हैं। इन पाँचोंके नाम हैं—पद्मासन, स्वस्तिकासन, भद्रासन, वज्रासन और वीरासन।

(१) पद्मासन—बायीं जाँघपर दाहिना पैर और दाहिनी जाँघपर बायाँ पैर रखकर, पीठकी ओरसे दोनों हाथ ले जाकर दाहिने हाथसे दाहिना अँगूठा और बायें हाथसे बायाँ अँगूठा पकड़ना होता है। इसको बद्ध पद्मासन कहते हैं। मुक्त पद्मासनमें इस प्रकार अँगूठा पकड़नेका नियम नहीं।

(२) स्वस्तिकासन—दाहिने घुटने और जाँघके बीचमें बायाँ पैर रखना, और बायें घुटने और जाँघके बीचमें दाहिने पैरके तलवेको रखकर, शरीर सीधा करके बैठना होता है अर्थात् मेरुदण्ड और शिरोभागको एक सीधमें करना होता है। इसको स्वस्तिकासन कहते हैं।

(३) भद्रासन—सीवनके दोनों ओर दोनों एड़ियों-को लगाकर, अण्डकोषके नीचे दोनों हाथोंसे एड़ियों और पैरोंको पकड़कर स्थिर, निश्चल भावसे बैठा जाता है, इसी-को भद्रासन कहते हैं।

(४) वज्रासन—दोनों जाँघोंके ऊपर दोनों पैरोंको रखकर, घुटनोंके ऊपर दोनों हाथोंकी हथेली रखकर निश्चलरूपसे बैठनेको वज्रासन कहते हैं।

(५) वीरासन—एक पैरसे दोनों अण्डकोषोंको दबा-कर दूसरे पैरको दूसरी जाँघके ऊपर रखकर सरलभावसे बैठनेको वीरासन कहते हैं।

आसन लगानेपर जब श्रम दूर हो जाय तब प्राणायाम-का अभ्यास करना चाहिये। जिस आसनसे साधकको कोई क्लेश न हो और सुखपूर्वक बैठ सके, वही आसन लगाकर प्राणायामका अभ्यास करना चाहिये। प्राणायाम दो प्रकारका है—निगर्भ और सगर्भ। ध्यान और मानस-जप करते हुए प्राणायाम-साधनका नाम सगर्भ प्राणायाम है। बीज उच्चारण न करके जो प्राणायाम किया जाता है उसका नाम निगर्भ प्राणायाम है। इडा नाड़ीसे अर्थात् बायें नथुनेसे सोलह-मात्रा वायु आकर्षण करनेका नाम पूरक, चौंसठ मात्रा वायु धारण करनेका नाम कुम्भक एवं बत्तीस मात्रामें पिङ्गलासे अर्थात् दाहिने नथुनेसे वायु त्याग करनेका नाम रेचक है। प्राणायाममें तीन प्रकारकी अवस्थाएँ होती हैं। प्रथम अवस्थामें पसीना निकलता है, उसे अधम अवस्था कहते हैं। मध्यम अवस्थामें साधककी देह काँपती है। और प्राणायामकी उत्तम अवस्थामें साधक भूमि छोड़ सकता है। इस प्राणायाममें सिद्ध होने-

पर साधक प्रत्याहारका अधिकारी होता है। प्रत्याहार शब्दका अर्थ है इधर-उधर दौड़नेवाली सब इन्द्रियोंको इन्द्रियग्राह्य विषयोंसे निवृत्त करना। और अँगुली, एड़ीसे आरम्भ करके सहस्रारपद्मके नीचे रहे हुए द्वादशदल कमलतक सोलह स्थानोंमें प्राणवायुको धारण करनेका नाम धारणा है। प्रत्याहार और धारणाका अभ्यास गुरुके उपदेशके अनुसार ही करना चाहिये। इनकी कोई साधारण व्यवस्था नहीं है। गुरु शिष्यको योग्यताके अनुसार इनकी विधि निर्दिष्ट करते हैं।

एकाग्रचित्त होकर अपने अभीष्ट देवता या स्वकीया ब्रह्म-मूर्तिके चिन्तन करनेका नाम ध्यान है। निरन्तर जीवात्मा और परमात्माके ऐक्यचिन्तनको समाधि कहते हैं।

जीवदेहमात्र ही शिवशक्त्यात्मक या अग्नीषोमात्मक अथवा शुक्रशोणितात्मक है और वह ९६ अँगुली लम्बी है अर्थात् साधककी अपनी अँगुलियोंसे ९६ अंगुल है। पायु और जननेन्द्रियके मध्यके स्थानको कन्द या मूलाधार कहते हैं। इस मूलाधारसे असंख्य नाड़ियोंकी उत्पत्ति हुई है। उनमें तीन प्रधान हैं; उन तीनोंका नाम है—इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्ना।

इडा बायीं ओर है, पिंगला दाहिनी ओर है और सुषुम्ना मेरुदण्डके मध्यभागमें है। सुषुम्नाके भीतर एक और नाड़ी है, उसे चित्रा कहते हैं। चित्राके अन्तर्भागको ब्रह्मनाड़ी कहते हैं। मूलाधारमें जो एक अत्यन्त सुन्दर ज्योतिर्मय त्रिकोण है, वहींपर कुण्डलिनी अर्थात् जीवशक्ति साढ़े तीन चक्करके रूपमें सोयी हुई सर्पिणीकी तरह रहती है। मूलाधारके ऊपर लिङ्गमूलमें जो चक्र है उसका नाम स्वाधिष्ठानचक्र है। उसके ऊपर नाभिके मूलदेशमें सुषुम्नानाडीसे सम्बद्ध जो चक्र है, उसे मणिपूरचक्र कहते हैं। हृदयस्थानमें जो एक चक्र है, उसको अनाहतचक्र कहते हैं। कण्ठदेशमें जो चक्र है, उसका नाम विशुद्ध चक्र है। और भ्रूमध्यमें जो चक्र है उसको आज्ञाचक्र कहते हैं। इसी स्थानपर गुरुकी आज्ञाका सञ्चार होता है, इसीसे इसका नाम आज्ञाचक्र है। साधक कुण्डलिनी-शक्तिको इन समस्त चक्रोंका भेद करता हुआ मूलाधारसे द्वादशदलचक्रके ऊपरमें शिवस्थानमें ले जाता है और शिवशक्ति सामरस्यरूप अतुल आनन्दका भोग करता है। षट्चक्रनिरूपण, त्रिपुरासारसमुच्चय, गान्धर्वतन्त्र प्रभृति ग्रन्थोंमें इसका विस्तृत वर्णन मिलता है। महाकालोक्त 'पादुकापञ्चकम्' स्तोत्रमें पूर्वोक्त द्वादशदलपद्मका विशेष विवरण है। योगसाधनाका उद्देश्य यही है कि गुरु, मन्त्र, यन्त्र, देवता और साधककी एकताकी उपलब्धि हो और क्रमशः अद्वैतभावकी प्राप्ति हो। उस अवस्थाकी प्राप्ति होनेपर सिद्धयोगी परमानन्द नित्यचैतन्यैकगुणात्मक आत्माभेदस्थित प्रणवके या ह्रींकारके चिन्तनमें मग्न होते हैं। उस समय वे मन, वाणी तथा वेदवाक्यसे अतीत स्वसंवेद्य आनन्द-रससागर तारात्मक वस्तुकी उपलब्धि करते हैं।

अद्वैतलाभके पूर्वकी अवस्थामें जो ध्यान बतलाया गया है, वह इस प्रकार है—

सत्यं मानविवर्जितं श्रुतिगिरामाद्यं जगत्कारणं
व्याप्तस्थावरजङ्गमं मुनिवरैर्ध्यातं निरुद्धेन्द्रियैः।
अर्काग्नीन्दुमयं शताक्षरवपुस्तारात्मकं सन्ततं
नित्यानन्दगुणालयं गुणपरं वन्दामहे तन्महः॥

विचार करके देखनेपर मालूम होगा कि तन्त्रकथित मार्गका और श्रुतिकथित मार्गका गन्तव्य स्थान एक ही है। इसीलिये श्रुति और आगमका भेद वाक्यगत है, वस्तुगत नहीं। उद्धृत श्लोकका अर्थ कोई-कोई इस प्रकार करते हैं—

अरूपस्य ब्रह्मणो भावनरूप ध्यानमेतत्। सत्यम्, असत्यव्यावृत्तिरूपम्; 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इति श्रुतेः। मानविवर्जितम्, प्रमाणागोचरीकृतम्; 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इति श्रुतेः। श्रुतिगिरामाद्यम्, वेदप्रवक्तृ; 'शास्त्रयोनित्वात्' इति बादरायणसूत्रणात्। जगत्कारणम्; 'जन्माद्यस्य' इति सूत्रणात्। व्याप्तस्थावरजङ्गमम्; 'सहस्रशीर्षा' इति श्रुतेः। मुनिवरैर्नारदादिभिः। अर्काग्न्यन्दुमयमिति गायत्र्यादिदेवताक्रमेण। यद्वा अर्को विष्णुः अग्नी रुद्र इन्दुर्ब्रह्मा तन्मयम्। तत उत्पन्नत्वात्। यद्वा ओङ्काररूपत्वं वक्ष्यति। एतेनाकारोकारमकारात्मकत्वेनाग्न्यर्केन्दुरूपत्वं शताक्षरवपुरिति। शताक्षरैः परं महः प्रतिपाद्यते। प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोरभेदात् शास्त्रयोनित्वेन कार्यकारणभेदाद्वा शब्दब्रह्मरूपत्वाद्वा तयोक्तिः, यद्वा यतः अर्काग्नीन्दुरूपत्वम् अत एव शताक्षरवपुरिति हेतुहेतुमद्भावेन योजना। नित्यानन्दश्चिच्च तत्स्वरूपमेव। तदालयत्वञ्च भगवत उपचारात्। गुणेभ्यः सत्त्वरजस्तमोभ्यः परं तद्रहितम्। तद्वेदशिरसि प्रसिद्धम्। महः नित्यं

प्रकाशकत्वात् महः इव। एते च सर्वे शब्दास्तस्य वस्तुनो लक्षका एव न वाचकाः। एतेषां शब्दानामेकत्वार्थत्वम् अपर्यायत्वेऽपि अतद्व्यावृत्त्यर्थतया न पौनरुक्त्यम्।'

फिर, उपर्युक्त श्लोकका अर्थ इस प्रकार भी किया जाता है—

'महस्तेजोरूपा कुण्डलिनी उच्यते। सत्यं नित्यत्वात्तस्या, 'नित्या शक्तिः परा देवी' इत्युक्तेः। मानमियत्ता तद्वर्जिता, 'सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरा विभुः' इत्युक्तेः। व्याप्तस्थावरजङ्गमा, 'सर्वगा विश्वरूपिणी दिक्कालाद्यनवच्छिन्ना' इत्युक्तेः। निरुद्धेन्द्रियैर्मुनिवरैर्ध्याता; 'योगिध्येया च सर्वदा' इत्युक्तेः। 'योगिनां हृदयाम्भोजे नृत्यन्ती नित्यमञ्जसा' इत्यपि। अर्कोग्नीन्दुरूपा; 'त्रिधामजननी देवी' इत्युक्तेः। 'सोमसूर्याग्निरूपा च' इत्युक्तेश्च। शताक्षरवपुः, 'विश्वात्मना प्रबुद्धा सा सूते मन्त्रमयं जगत्' इत्युक्तेः। तारात्मकम्;

तन्मध्ये चिन्तयेद्देवीमृज्वाकारां तडित्प्रभाम्।
ओङ्काररूपिणीं ज्योत्स्नामात्मरूपां शुभोदयाम्॥

(इत्युक्तेः)

नित्यानन्दगुणालया, 'नित्यानन्दगुणोदया' इत्युक्तेः। गुणपरा, गुणरूपा परा च, 'शक्तिः कुण्डलिनी गुणत्रयवपुर्विद्युल्लतासन्निभा' इत्युक्तेः। 'परापरविभागेन परशक्तिरियं मता' इत्युक्तेश्च।

उक्त श्लोकमें 'शताक्षरवपुः' शब्दका अर्थ शताक्षरमन्त्र है। यह (१) त्रिष्टुप्, (२) गायत्री और (३) अनुष्टुप्—इन तीन मन्त्रोंके संयोगसे बनता है।

उद्धृत श्लोककी जो व्याख्या दी गयी है यह महामति सर्वशास्त्रविशारद राघवभट्टकृत है। उससे यह मालूम होता है कि कोई मन्त्र किसी निर्दिष्ट देवताका नहीं है। जिस समय साधकसे मन्त्र, देवता और गुरुके साथ ऐक्य भावना करनेके लिये कहा जाता है, उस समय साधक जिस इष्ट देवताका साधन करता है, वही एकमात्र परम देवता है, यह समझना भूल है। भगवत्पाद शङ्कराचार्यने स्वरचित प्रपञ्चसारतन्त्रमें ह्रल्लेखा बीजके सम्बन्धमें कहा है—

यां ज्ञात्वा सकलमपास्य कर्मबन्धं
तद्विष्णोः परमं पदं प्रयाति लोकः।
तामेतां त्रिजगति जन्तुजीवभूतां
ह्रल्लेखां जपत च नित्यमर्चयीत॥

इससे स्पष्ट मालूम होता है कि शक्तिबीजसाधनके द्वारा भी विष्णुपद प्राप्त किया जाता है। पहले ही कहा गया है कि साधकके उपास्य या इष्ट देवता उसकी गुरुनिर्दिष्ट ब्रह्ममूर्तिमात्र है। अपने इष्टकी मूर्तिका अवलम्बन करके ही परम पदार्थमें लीन हुआ जा सकता है। शाक्ततन्त्रमें शक्तिको प्रधानता दी जाती है, इसीसे 'ह्रीं' कार बीज और कुण्डलिनी शक्तिकी आराधनाको प्रधानता दी जाती है। शैवतन्त्रमें 'ओंकार' और शिवको प्रधानता दी जाती है। इन दोनोंमें कोई अन्तर नहीं। शिव और शक्तिके परस्पर-सम्बन्धको 'अविनाभाव' बतलाया जाता है। जिन्होंने इस 'अविनाभाव' की उपलब्धि की है, वे ही जीवन्मुक्त हैं।

उपसंहारमें यह कहना आवश्यक है कि इसके अतिरिक्त और जो कुछ करनेकी आवश्यकता है, वह गुरुसे ही जाना जा सकता है। शास्त्रोंमें कहा है—

गुरूपदेशतो ज्ञेयं न ज्ञेयं शास्त्रकोटिभिः।

यह कहनेका मतलब यही है कि केवल शास्त्रवचनके आधारपर यदि योगसाधना की जाय तो साधकको समय-समयपर विशेषरूपसे विपद्ग्रस्त होना पड़ता है। गुरु शिष्यका अधिकार समझकर पग-पगपर उसे उपदेश देते हैं। यहाँतक देखा गया है कि प्राणायामसाधन करते समय भी कोई पथप्रदर्शक न होनेपर साधकको विपद्ग्रस्त होना पड़ा है। इन सब कारणोंसे जो विषय गुरुसे ही सीखनेयोग्य है, वह यहाँ नहीं लिखा गया है।
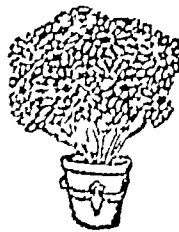
श्रीमद्भागवतमें योगचर्या

(लेखक—प० श्रीबलदेवप्रसादजी उपाध्याय एम० ए०, साहित्याचार्य)

श्रीमद्भागवत संस्कृतके धार्मिक साहित्यका एक अनूठा रत्न है। यह अष्टादश पुराणोंमें सबसे श्रेष्ठ माना जाता है। महर्षि वेदव्यासने नदियोंमें गंगा, देवताओंमें विष्णु, वैष्णवोंमें शिवके समान, पुराणोंमें इसे बतलाकर इसकी प्रधानता तथा श्रेष्ठताको स्पष्टरूपसे अभिव्यक्त किया है[1]। सब क्षेत्रोंमें जिस प्रकार काशी सर्वोत्तम है, उसी प्रकार पुराणसमूहोंमें भागवत है। वेद तथा वेदान्तका महत्त्वपूर्ण सार भाग निचोड़कर श्रीमद्भागवतमें भर दिया गया है[2]। वास्तवमें यह 'निगमकल्पतरुका गलित फल' है। यह फल देवी-देवताओंके लिये भी दुर्लभ है (श्रीमद्भागवती वार्ता सुराणामपि दुर्लभा)। परन्तु सौभाग्यवश यह सुरस तथा स्वादिष्ठ फल महर्षि वेदव्यासके परम अनुग्रहसे हम मानवजनोंके लिये नितान्त सुलभ है। भगवान् वेदोंके परम रहस्योंसे सवलित होनेके कारण भागवतका यथार्थमें समझना विद्वज्जनोंका ही काम है। इसीलिये कहा जाता है कि विद्वानोंकी विद्वत्ताकी परीक्षा भागवतमें होती है—'विद्यावतां भागवते परीक्षा।' किसी धार्मिक ग्रन्थमें 'भागवत' के प्रत्येक अक्षरसे एक अतीव सुन्दर अर्थकी उद्भावना की गयी है। 'भा' अक्षरसे भारूप—प्रकाशस्वरूप सच्चिदानन्दका संकेत किया गया है। 'भा प्रकाशे चिदानन्दे'। 'ग' अक्षरसे उस भगवान्के विषयमें लौकिक 'गति' का अर्थ निकलता है—'गतिर्यस्यात्र लौकिकी।' 'व' अक्षर भागवतको सब शास्त्रोंमें 'वरिष्ठ'—श्रेष्ठ बतला रहा है—'वरिष्ठं सर्वशास्त्राणाम्।' अन्तिम अक्षर तकार है जो इस बातको संकेत कर रहा है कि यह ग्रन्थ इस भवार्णवसे पार जानेके लिये एकमात्र 'तरणि'—नाव—है—'तरणिर्भूतभवार्णवे'। इस प्रकार भागवतके अक्षरोंकी इस भावमयी सांकेतिक व्याख्याका यही अर्थ है कि यह ग्रन्थ प्रकाशरूप सच्चिदानन्दके विषयमें लौकिक उपायको बतलानेवाला है, सब शास्त्रोंसे बढ़कर है तथा इस संसाररूपी समुद्रसे पार जानेके लिये—निरपायभूत भगवान्के पास पहुँचनेके लिये—एक सुदृढ नौकाका काम करता है। भागवतसे परिचित पाठक इस व्याख्याकी यथार्थता तथा रमणीयताको भलीभाँति समझ सकते हैं।

श्रीमद्भागवतका प्रतिपाद्य विषय क्या है? यह तो प्रथम स्कन्धके आरम्भमें ही व्यास-नारद-संवादसे स्पष्ट प्रतीत होने लगता है। स्त्री, शूद्र तथा द्विजबन्धुओंके हितार्थ व्यासजीने श्रुत्यर्थसवलित लक्षश्लोकात्मक महाभारतकी रचना करके जिस चित्तसन्तुष्टिको नहीं प्राप्त किया, उसे ही उन्होंने श्रीमद्भागवतकी रचना कर पाया। इसका कारण यही था कि सब विषयोंसे पूर्ण होनेपर भी महाभारतमें भगवान्की आनन्दमयी लीलाओंका विशद वर्णन न था—धर्म, अर्थका विशद कीर्तन होनेपर भी वासुदेवकी महिमाका वर्णन न था। इसी कमीकी पूर्ति करनेके लिये ही व्यासजीने नारदजीके उपदेशसे श्रीमद्भागवत नामक नये पुराणकी रचना की। 'नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्' (नैष्कर्म्यस्वरूप निरञ्जन अलं ज्ञान भी अच्युत-भावके बिना शोभा नहीं देता।) (श्रीमद्भा० १।५।१२) कहकर व्यासजीने भगवद्भक्तिकी ही प्रधानताको दिखलाया है। अतः लीलाधाम भगवान्की मनोरम लीलाओंके सुन्दर वर्णनके साथ-साथ भक्तियोगका मनोरम तथा विशद विवेचन ही भागवतका प्रधान विषय है, तथापि स्थल-स्थलपर ज्ञान तथा कर्मका भी उचित वर्णन है तथा अष्टाङ्गयोगका भी वर्णन कम नहीं है।

योगका विषय उपनिषदोंमें भरपूर है, यह तो बहुत-से विज्ञ पुरुषोंको अवगत है, तथापि संहिताओंमें, विशेषतः ऋग्वेद तथा अथर्ववेदकी संहिताओंमें भी योगके अल्प या अधिक, गौणतः तथा मुख्यतः, अनेक संकेत उपलब्ध होते हैं, इसे बहुत-से जानकार लोग भी नहीं जानते। अतः वैदिक संहिताओंमें ही योगकी आदिम रूप-रेखा हमें मिलती है, उपनिषदोंमें आकर योगकी यह रूप-रेखा अत्यन्त सुव्यक्त रूप धारणकर धीरे-धीरे परिपूर्णावस्थाको प्राप्त करती हुई लक्षित होती है। महाभारत, पुराण, तन्त्र

---

१ श्रीमद्भागवत १२।१३।१६

२ श्रीमद्भागवत १२।१३।१५

अपने शरीरको ही उतने ही गोपों तथा गौओंमें परिवर्तित कर जो चमत्कार किया था वह योगकी कायव्यूहसिद्धिका उज्ज्वल दृष्टान्त है। श्रीकृष्णने प्रबल दावाग्निसे गोपोंकी जो रक्षा की थी, उसमें उनका 'योगवीर्य' ही प्रधान कारण था। रासलीलाके समयमें वृन्दावनचन्द्र श्रीकृष्णने जो अलौकिक लीलाएँ दिखायीं उनमें उनका योगमायाका आश्रय लेना भी एक कारण था। कहाँतक हम गिनावें श्रीकृष्णके योगशक्तिजन्य अद्भुत कार्योंको। जब यादवोंके भारसे भी व्यथित इस भूमण्डलको श्रीकृष्णने भार-विहीन कर तथा जीवनदान देकर अपने लोकमें जानेका विचार किया, उस समय भी श्रीकृष्ण ध्यान लगाकर अपने परम रमणीय शरीरको आग्नेयी योगधारणासे बिना जलाये ज्यों-के-त्यों अपने शरीरके साथ अपने लोकमें चले गये[4]। 'साधारण योगी अग्निधारणामें अपने शरीरको भस्म कर देता है।' श्रीकृष्णने भी वह धारणा की अवश्य, परन्तु अपने शरीरको बिना भस्म किये सशरीर ही अपने धाममें चले गये[5]। इस प्रकार श्रीकृष्णके जीवनचरितको आदिसे अन्ततक व्यासजीने योगसिद्धियोंसे परिपूर्ण प्रदर्शित किया है।

प्रत्यक्ष वर्णन

अबतक जो कुछ कहा गया उससे पता चल गया होगा कि भागवतमें योगसम्बन्धी अनेक अप्रत्यक्ष सङ्केत विद्यमान हैं। अब भागवतमें अष्टाङ्गयोगका जो प्रत्यक्ष निदर्शन है उसको देखें। ऐसा निदर्शन एक ही स्थलपर नहीं, अनेक स्थलोंपर है। छोटे-छोटे तो अनेक वर्णन हैं, परन्तु इनका उल्लेख यहाँ न कर केवल विस्तृत विवरणोंका ही निर्देश किया जाता है। भागवतके तीन स्कन्धोंमें योगका विशेष विवरण दिया गया है—दूसरे स्कन्धके अध्याय १ तथा २ में, तीसरे स्कन्धके २५ वें तथा २८ वें अध्यायोंमें कपिलजीका अपनी माता देवहूतिके प्रति योगका उपदेश, और फिर एकादश स्कन्धके अध्याय १३ में सनकादिकोंको हंसरूपधारी भगवान्के द्वारा योगका वर्णन, अ० १४ में ध्यानयोगका विशद वर्णन, अ० १५ में अणिमा आदि अठारह सिद्धियोंका वर्णन, अ० १९ में यमनियमादिका वर्णन, अ० २८-२९ में यथाक्रम ज्ञानयोग और भक्तियोगके साथ अष्टाङ्गयोग। इन सब स्थानोंमें योगका इतना विशद प्रचुर वर्णन है कि उसके लिये एक अलग पुस्तिकाकी आवश्यकता होगी। यहाँ केवल उसका सारांश उपस्थित करनेका यत्न किया जायगा।

भागवतमें अष्टाङ्गयोगकी यह एक बड़ी विशेषता है कि वह स्वतन्त्र साधनरूपमें उपस्थित किया गया है। साथ-ही-साथ अन्य साधनमार्गोंको भी वह सहायता पहुँचाता है। योग भक्तिका सबसे अधिक सहायक है अवश्य, फिर भी वह ज्ञान, कर्म तथा भक्तिके समान एक पृथक् स्वतन्त्र साधनपथ है जिसपर चलकर साधकगण परमात्माका साक्षात्कार कर सकते हैं। इसकी विशेषता ठीक-ठीक समझनेके पहले उससे परिचय प्राप्त कर लेना नितान्त आवश्यक है।

योगके आठ अङ्ग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि। इनमें यम तथा नियमका सङ्क्षिप्त वर्णन ग्यारहवें स्कन्धके अध्याय १९ में यत्किञ्चित् मिलता है। पातञ्जल सूत्रोंमें तो यम तथा नियम केवल पाँच प्रकारके ही बतलाये गये हैं, परन्तु भागवतमें उनमेंसे प्रत्येकके बारह भेद माने गये हैं—

यमके द्वादश भेद[1]—(१) अहिंसा, (२) सत्य, (३) अस्तेय, (४) असङ्ग, (५) ह्री, (६) असञ्चय, (७) आस्तिक्य, (८) ब्रह्मचर्य, (९) मौन, (१०) स्थैर्य, (११) क्षमा, (१२) अभय।

नियमके द्वादश भेद[2]—(१) शौच—बाह्य, (२) आभ्यन्तर, (३) जप, (४) तप, (५) होम,

---

१ श्रीमद्भागवत १०।१३।१९
२ ,, १०।१९।१४
३ ,, १०।२९।१
४ सयोज्यात्मनि चात्मानं पद्मनेत्रे न्यमीलयत्॥
लोकाभिरामां स्वतनुं धारणाध्यानमङ्गलम्।
योगधारणयाग्नेय्या दग्ध्वा धामाविशत् स्वकम्॥
(श्रीमद्भागवत ११।३१।५-६)
५ उक्त श्लोककी व्याख्यामें मान्य टीकाकारोंमें भी मतभेद दिखायी पड़ता है। श्रीधरस्वामीके 'अदग्ध्वा' पदच्छेदको मानकर वीरराघव, विजयध्वज, जीवगोस्वामी आदि सब टीकाकारोंने एक समान ही अर्थ किया है, परन्तु निम्बार्कमतानुयायी श्रीशुकदेवने अपने सिद्धान्त-प्रदीपमें 'दग्ध्वा' पदच्छेद कर 'स्ववियोगाधिना सन्तापयित्वा' अर्थ कर विद्युत्के अदृश्य होनेकी तरह भगवत्तनुके अन्तर्धान होनेकी बात लिखी है।

१ श्रीमद्भागवत ११।१९।३३
२ ,, ११।१९।३४

(६) श्रद्धा, (७) आतिथ्य, (८) भगवदर्चन, (९) तीर्थाटन, (१०) परार्थचेष्टा, (११) सन्तोष, (१२) आचार्यसेवन ।

इन यमोंमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह (भागवतका छठा 'असङ्चय') पातञ्जलदर्शनमें भी हैं, शेष सात नये हैं । नियमोंमें उसी भाँति शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान (भागवतका आठवाँ 'भगवदर्चन') पातञ्जलदर्शनमे भी हैं, शेष नये हैं ।

आसन—यह योगका तीसरा अङ्ग है । शुद्ध, पवित्र तथा एकान्त स्थानमें आसन लगाना चाहिये । जहाँ कहीं हल्ला न हो, निर्जनताके कारण शान्ति विराजती हो, वैसा ही स्थान आसन लगानेके लिये चुनना चाहिये । आसन 'चैलाजिनकुशोत्तर' होना चाहिये, इसका 'कल्पितासन' शब्दके द्वारा भागवतमे स्थान-स्थानपर सकेत है । योगमें अनेक आसन बतलाये गये हैं । स्वस्तिकासनसे बैठे तथा उस समय अपने शरीरको बिल्कुल सीधा बना रक्खे—

गृहात् प्रव्रजितो धीरः पुण्यतीर्थजलाप्लुतः ।
शुचौ विविक्त आसीनो विधिवत् कल्पितासने ॥

(श्रीमद्भा० २ । १ । १६)

'घरसे निकला हुआ वह धीर पुरुष पुण्यतीर्थोंके जलमें स्नान करे और शुद्ध एकान्त स्थानमें विधिपूर्वक बिछाये हुए आसनपर आसीन हो ।'

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य विजितासन आसनम् ।
तस्मिन् स्वस्ति समासीन ऋजुकायः समभ्यसेत् ॥

(३ । २८ । ८)

'शुचि देशमें आसन लगाकर आसनको जीते, पीछे स्वस्तिकासन लगाकर सीधा शरीर करके अभ्यास करे ।'

इस श्लोकमे श्रीधरस्वामीके अनुसार 'स्वस्तिक' पाठ माना जाता है । अन्य टीकाकारोंने 'स्वस्ति समासीनः' पाठ माना है तथा पद्मासन अथवा सिद्धासनसे सुखपूर्वक बैठे, ऐसा अर्थ किया है । अतः भागवतमे किसी एक आसनके प्रति आदर दिखाया गया नहीं मालूम पड़ता । स्थान-स्थानपर टीकाकारोंके संकेतसे पद्म अथवा सिद्ध आसनोंकी ओर निर्देश जान पड़ता है ।

प्राणायाम—प्राणोंका आयाम योगका चौथा अङ्ग है । पूरक, कुम्भक तथा रेचकके द्वारा प्राणके मार्गको शुद्ध करनेका उपदेश दिया गया है—

प्राणस्य शोधयेन्मार्गं पूरकुम्भकरेचकैः ।

(३ । २८ । ९)

प्राणायाम पुराणोंमें दो प्रकारका बतलाया गया है—(१) अगर्भ तथा (२) सगर्भ । अगर्भ प्राणायाम वह है जिसमें जप तथा ध्यानके बिना ही मात्राके अनुसार प्राणायाम किया जाय । सगर्भ प्राणायाममें जप तथा ध्यान अवश्य होना चाहिये । इन दोनोंमें सगर्भ प्राणायाम श्रेष्ठ है । अतः पुराणोंने उसीके करनेका उपदेश दिया है । शिवपुराणकी वायवीय संहिताके उत्तरखण्ड अध्याय सैंतीसमें इन दोनोंके भेद तथा उपयोगका अच्छा वर्णन है—

अगर्भश्च सगर्भश्च प्राणायामो द्विधा स्मृतः ।
जपं ध्यानं विनागर्भः सगर्भस्तत्समन्वयात् ॥३३॥

'प्राणायाम अगर्भ और सगर्भ, दो प्रकारका कहा गया है, जप और ध्यानके बिना जो प्राणायाम होता है वह अगर्भ है और जप-ध्यानके सहित जो है वह सगर्भ है ।'

अगर्भाद् गर्भसंयुक्तः प्राणायामः शताधिकः ।
तस्मात्सगर्भं कुर्वन्ति योगिनः प्राणसंयमम् ॥३४॥

'अगर्भसे सगर्भ प्राणायामका गुण सौगुना है । इसलिये योगी सगर्भ प्राणायाम करते हैं ।'

विष्णुपुराणमें अगर्भको अबीज तथा सगर्भको सबीज प्राणायाम कहा गया है[1] । श्रीमद्भागवतमे भी इसी सगर्भ प्राणायामका विधान बतलाया गया है । प्राणायाम करता जाय, साथ-ही-साथ अ-उ-म्‌से ग्रथित ब्रह्माक्षर ॐकारकी मनमे आवृत्ति करता जाय । ॐकारको बिना भुलाये अपने श्वासको जीते[2]—

अभ्यसेन्मनसा शुद्धं त्रिवृद्ब्रह्माक्षरं परम् ।
मनो यच्छेज्जितश्वासो ब्रह्मबीजमविस्मरन् ॥

(श्रीमद्भा० २ । १ । १७)

'इस तीन अक्षरवाले शुद्ध परम ब्रह्माक्षर मन्त्रका मनसे जप करे, इस ब्रह्मबीजको बिना भुलाये श्वासको जीतकर मनको एकाग्र करे ।'

---

१. विष्णुपुराण षष्ठ अंश ७ । ४०

२. श्रीमद्भागवत ११ । १४ । ३४

तथा धर्मशास्त्रमें योगकी यह धारा अविच्छिन्नरूपसे बहती हुई कालान्तरमें महर्षि पतञ्जलिके 'योगदर्शन' के रूपमें हमारे सामने आती है। यह धारा यहीं नहीं रुकती, बल्कि पतञ्जलिके भाष्यकार, वृत्तिकार तथा वार्तिककार— व्यास, वाचस्पति, भोज, विज्ञानभिक्षु तथा नागेश आदि माननीय ग्रन्थकारोंकी रचनाओंसे परिपुष्ट होती हुई आज भी हमारी श्रद्धा तथा भक्तिका भाजन उसी प्रकार बनी हुई है जिस प्रकार पुण्यसलिला भगवती भागीरथीकी विमल धारा। योगशास्त्रके उद्गम तथा विकासके इस साङ्केतिक वर्णनसे श्रीमद्भागवतवर्णित योगका स्थान पाठकोंको स्पष्ट प्रतीत होने लगेगा। भागवतका योग पौराणिक योगका एक अगमात्र है तथा योगशास्त्रके इतिहासकी दृष्टिसे उसका स्थान औपनिषद योग तथा पातञ्जल योगके मध्यके कालमें आता है।

ऊपर कहा जा चुका है कि भागवतमें भक्तिके साथ-साथ अष्टाङ्गयोगका भी प्रचुर वर्णन है। यह वर्णन दो प्रकारसे किया गया मिलता है। कई स्थलोंपर योग-साधनकी क्रियाओंका अप्रत्यक्षरूपसे सङ्केतमात्र किया गया है। परन्तु अन्य स्थलोंपर योगका प्रत्यक्षरूपसे विशद विवेचन किया गया है। योगके अप्रत्यक्ष सङ्केत प्रायः दो प्रसङ्गोंमें किये गये मिलते हैं। किसी विशेष व्यक्तिकी तपश्चर्याके वर्णनके अवसरपर योगका आश्रय लिये जानेका सङ्केत मिलता है तथा किसी महान् व्यक्तिके इस भौतिक शरीरके छोड़नेका जहाँ वर्णन है वहाँ भी योगमार्गका आलम्बन कर प्राणत्यागकी घटनाका संक्षिप्त परन्तु मार्मिक उल्लेख उपलब्ध होता है। इस प्रकार महापुरुषोंके तपश्चरण तथा शरीरत्यागके दोनों अवसरोंपर विशेषरूपसे योगकी ओर सङ्केत किया गया मिलता है। ऐसे प्रसङ्ग श्रीमद्भागवतमें अनेक आये हैं। इन सब महत्त्वपूर्ण प्रसङ्गोंका उल्लेख यहाँ किया जायगा। इन परोक्ष सङ्केतोंके अतिरिक्त भागवतमें योगका विशद विवेचन भी स्थान-स्थानपर किया गया है, परन्तु ऐसे स्थल पहलेकी अपेक्षा न्यून ही हैं। जो कुछ भी हो, इस लेखमें भागवतमें वर्णित योगका, परोक्षरूप तथा प्रत्यक्षरूपसे किये गये उल्लेखका, यथासाध्य पूरा विवेचन करनेका प्रयत्न किया गया है। अप्रत्यक्ष सङ्केतोंमें नितान्त महत्त्वपूर्ण सङ्केतोंका ही स्थानाभावके कारण यहाँ विवरण दिया गया है और प्रत्यक्ष वर्णनोंके सार अंगको ही यहाँ उपस्थित करनेका यत्न किया गया है। वर्णन स्कन्धोंके क्रमसे किया गया है तथा उसे पूर्ण करनेका यथासाध्य उद्योग किया गया है।

पहले योगविषयक अप्रत्यक्ष निर्देशोंकी बात कही जायगी। ऐसे प्रसग भागवतके प्रथम स्कन्धमें कई बार आये हैं[1]। नारदजीने अपने जीवनचरितसे एक ऐसे प्रसङ्गका उल्लेख किया है—

(१) जब वह बालक थे तब उन्हें अध्यात्मवेत्ता मुनियोंके ससर्गमें रहनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था। लड़कपनमें ही उनकी माताका देहपात हो गया, तब नारदजीने उत्तर दिशामें जाकर मुनियोंके मुखसे सुने गये भगवान्‌का साक्षात्कार करनेका निश्चय किया। तब निर्जन स्थानमें उन्होंने भगवान्‌के चरणकमलोंमें अपना मन लगा ध्यान धरा जिससे भगवान्‌ने प्रसन्न होकर अपना दर्शन दिया। इस प्रसङ्गमें 'मनःप्रणिधान' जैसे पारिभाषिक शब्दका उल्लेख मिलता है[2]।

(२) नारदजीके उपदेशसे व्यासजीने भगवान्‌की विविध लीलाओंके वर्णन करनेका विचार किया। तदनुसार उन्होंने सरस्वती नदीके पश्चिम तटपर स्थित शम्याप्रास नामक आश्रममें आसन मारकर भगवान्‌में अपना मन लगा भक्तिपूर्वक ध्यान धरा। उनका निर्मल मन इतने अच्छे ढगसे समाहित हुआ कि उन्होंने भगवान्‌का साक्षात्कार कर लिया[3]। आसन तथा मनःप्रणिधानका उल्लेख स्पष्ट ही है।

(३) भीष्म पितामहके देहत्यागके अवसरपर व्यासजीने ऋषि, मुनियोंके अतिरिक्त पाण्डवोंके साथ भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रको भी उस स्थानपर ला एकत्र किया है। अन्तिम अवसरपर सब लोग भीष्मको देखनेको आये, श्रीकृष्ण भी पधारे। भीष्म सच्चे पारखी थे, भावुक भक्त थे। उन्होंने श्रीकृष्णकी ललित स्तुति की तथा अन्त समयमें भगवान्‌में मन, वचन, दृष्टिकी वृत्तियोंसे अपनी आत्माको लगाकर अन्तःश्वास लिया तथा शान्त हो गये[4]। इस प्रसङ्गमें भीष्मने अपने शरीरको योगक्रियासे

---

१. श्रीमद्भागवत १।६।१६, १७
२ ,, १।६।२०
३. ,, १।७।३, ४
४ ,, १।९।४३

छोड़ा यह बात स्पष्ट ही है। अन्तिम बार श्वासको भीतर खींचकर ब्रह्मरन्ध्रसे प्राणत्याग करना योगकी महत्त्वपूर्ण क्रिया समझी जाती है।

(४) देवहूति सांख्यशास्त्रप्रवर्तक कपिल मुनिकी पूजनीया माता थीं। बहुत आग्रह करनेपर कपिलने उन्हें योगकी शिक्षा दी। परिणाम यह हुआ कि उन्होंने अपना देहत्याग समाधिके द्वारा किया[१]।

(५) चतुर्थ स्कन्धमे सतीके शरीरदाहकी कथा वर्णित है। अपने पिता दक्ष प्रजापतिके द्वारा किये गये शिवजीके निरादरके कारण सतीने अपने शरीरको जला दिया था। गोसाईंजी 'जोग अगिन तनु जारा' लिखकर योगाग्निमे सतीके भस्म होनेकी बात लिखकर चुप हैं, परन्तु व्यासजीने एक श्लोकमें उसकी समग्र योगक्रियाका यथार्थ वर्णन किया है[२]। इस पद्यकी शुकदेवकृत सिद्धान्त-प्रदीप तथा विजयराघवकृत भागवतचन्द्रिका-व्याख्यामे बड़ी मार्मिक व्याख्या की गयी है। सतीने पहले आसन-जय किया—आसन मारकर इस प्रकार बैठ गयीं कि प्राण-सञ्चारजनित अङ्गसञ्चालन बिल्कुल बन्द हो गया। तब प्राण और अपानका निरोधकर एकवृत्ति बना नाभिचक्र (मणिपूर) में रक्खा। अनन्तर नाभिचक्रसे उदानवायुको उठाकर हृदय (अनाहत) में ले आयीं, निश्चयबुद्धिके साथ वहाँसे भी वायुको कण्ठमार्ग (विशुद्धिचक्र) से भ्रूमध्य (आज्ञाचक्र) मे ले आयीं। उदानको वहीं टिकाकर सतीने अपने अङ्गोमे वायु तथा अग्निकी धारणा धारण की। परिणाम स्पष्ट ही हुआ। शरीर एकदम जल उठा। इस वर्णनमे शरीरके विभिन्न चक्रो तथा तद्द्वारा वायुको ऊपर ले जानेकी क्रियाका उल्लेख नितान्त स्पष्ट है।

(६) नारदजीने ध्रुवको आसन मार प्राणायामके द्वारा प्राण, इन्द्रिय तथा मनके मलको दूरकर समाहित मनसे भगवान्के ध्यान करनेका उपदेश दिया था[३]। ध्रुवने उसी मार्गका अवलम्बन किया तथा अल्प समयमें ही वह भगवान्का साक्षात्कार करनेमें समर्थ हुआ[४]। ध्रुवको नारदने अष्टाङ्गयोगका ही उपदेश दिया था, इसका पूरा पता 'कृत्वोचितानि' पद्यकी भागवतचन्द्रिकाके देखनेसे लग सकता है। 'उचितानि कृत्वा' मे यम-नियमका, 'कल्पितासन॰' में आसनका, 'मल व्युदस्य' मे प्राणायाम तथा प्रत्याहारका, 'ध्यायेत्' मे ध्यानके धारणापूर्वक होनेके कारण धारणा तथा ध्यानका विधान किया गया है अर्थात् पूरे अष्टाङ्गयोगका उपदेश है।

1 श्रीमद्भागवत ३ । ३३ । २७
2 ,, ४ । ४ । २५, २६
3. ,, ४ । ८ । ४४
4. ,, ४ । ८ । ७७

(७) दधीचि ऋषिसे देवताओंने वज्र बनानेके लिये उनकी हड्डियाँ माँगी, तब लोकोपकारकी उन्नत भावनासे प्रेरित होकर ऋषिने उनकी प्रार्थनाको अङ्गीकार किया तथा इन्द्रिय, प्राण, मन और बुद्धिका नियमन कर परम योगका आश्रय लिया। उस समय उन्हे खबर ही न लगी कि उनका शरीरपात कब हो गया[१]।

(८) वृत्रने भी अपनी मृत्युके समय भगवान्के चरणकमलोमे मन लगाकर समाधिके द्वारा अपने प्राण छोड़े[२]।

(९) अदितिने 'पयोव्रत' नामक महत्त्वपूर्ण व्रत भगवान्की प्रसन्नताके लिये किया। भगवान् प्रसन्न हो गये और उन्होंने अदितिके उदरसे जन्म धारण करना स्वीकार कर लिया। महर्षि कश्यपको इस अद्भुत घटनाका ज्ञान समाधियोगसे बिना किसीके जनाये ही हो गया[३]।

(१०) श्रीकृष्णके जीवनचरितमें अनेक प्रसङ्ग भागवतके दशम स्कन्धमे वर्णित हैं जिनमें योगका आश्रय लेकर उन्होने अत्यन्त आश्चर्यजनक अलौकिक घटनाओं-को घटित किया है। श्रीकृष्ण तो भगवान्के पूर्णावतार ठहरे—'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' अतः अलौकिक घटनाओंको उत्पन्न करना उनकी शक्तिके एक कणका कार्य है, परन्तु इन सब अद्भुत कार्योंकी उत्पत्ति श्रीकृष्णने अपने योगबलसे की थी, इसका उल्लेख बारबार मिलता है। वह अनेक बार 'योगी' तथा योगियोंमे श्रेष्ठ 'योगेश्वरेश्वरः' बतलाये गये हैं। उनके योगजन्य कतिपय घटनाओंके निर्देशमात्रसे हम सन्तोष करेंगे, वर्णनके लिये न तो यहाँ समय है और न स्थान। ब्रह्माने ग्वालों तथा गौओंको जब पर्वतकी कन्दरामें चुराकर रख छोड़ा था तब श्रीकृष्णने

1 श्रीमद्भागवत ६ । १० । १२
2 ,, ६ । ११ । २१
3. ,, ८ । १७ । २२

अपने शरीरको ही उतने ही गोपों तथा गौओंमें परिवर्तित कर जो चमत्कार किया था वह योगकी कायव्यूहसिद्धिका उज्ज्वल दृष्टान्त है। श्रीकृष्णने प्रबल दावाग्निसे गोपोंकी जो रक्षा की थी, उसमें उनका 'योगवीर्य' ही प्रधान कारण था। रासलीलाके समयमें वृन्दावनचन्द्र श्रीकृष्णने जो अलौकिक लीलाएँ दिखायीं उनमें उनका योगमायाका आश्रय लेना भी एक कारण था। कहाँतक हम गिनावें श्रीकृष्णके योगशक्तिजन्य अद्भुत कार्योंको। जब यादवोंके भारसे भी व्यथित इस भूमण्डलको श्रीकृष्णने भारविहीन कर तथा जीवनदान देकर अपने लोकमें जानेका विचार किया, उस समय भी श्रीकृष्ण ध्यान लगाकर अपने परम रमणीय शरीरको आग्नेयी योगधारणासे बिना जलाये ज्यों-के-त्यों अपने शरीरके साथ अपने लोकमें चले गये[4]। 'साधारण योगी अग्निधारणासे अपने शरीरको भस्म कर देता है।' श्रीकृष्णने भी वह धारणा की अवश्य, परन्तु अपने शरीरको बिना भस्म किये सशरीर ही अपने धाममें चले गये[5]। इस प्रकार श्रीकृष्णके जीवनचरितको आदिसे अन्ततक व्यासजीने योगसिद्धियोंसे परिपूर्ण प्रदर्शित किया है।

प्रत्यक्ष वर्णन

अबतक जो कुछ कहा गया उससे पता चल गया होगा कि भागवतमें योगसम्बन्धी अनेक अप्रत्यक्ष सङ्केत विद्यमान हैं। अब भागवतमें अष्टाङ्गयोगका जो प्रत्यक्ष निदर्शन है उसको देखें। ऐसा निदर्शन एक ही स्थलपर नहीं, अनेक स्थलोंपर है। छोटे-छोटे तो अनेक वर्णन हैं, परन्तु इनका उल्लेख यहाँ न कर केवल विस्तृत विवरणोंका ही निर्देश किया जाता है। भागवतके तीन स्कन्धोंमें योगका विशेष विवरण दिया गया है—दूसरे स्कन्धके अध्याय १ तथा २ में, तीसरे स्कन्धके २५ वें तथा २८ वें अध्यायोंमें कपिलजीका अपनी माता देवहूतिके प्रति योगका उपदेश, और फिर एकादश स्कन्धके अध्याय १३ में सनकादिकोंको हंसरूपधारी भगवान्के द्वारा योगका वर्णन, अ० १४ मे ध्यानयोगका विशद वर्णन, अ० १५ में अणिमा आदि अठारह सिद्धियोंका वर्णन, अ० १९ मे यमनियमादिका वर्णन, अ० २८-२९ मे यथाक्रम ज्ञानयोग और भक्तियोगके साथ अष्टाङ्गयोग। इन सब स्थानोंमें योगका इतना विशद प्रचुर वर्णन है कि उसके लिये एक अलग पुस्तिकाकी आवश्यकता होगी। यहाँ केवल उसका सारांश उपस्थित करनेका यत्न किया जायगा।

भागवतमें अष्टाङ्गयोगकी यह एक बड़ी विशेषता है कि वह स्वतन्त्र साधनरूपसे उपस्थित किया गया है। साथ-ही-साथ अन्य साधनमार्गोंको भी वह सहायता पहुँचाता है। योग भक्तिका सबसे अधिक सहायक है अवश्य, फिर भी वह ज्ञान, कर्म तथा भक्तिके समान एक पृथक् स्वतन्त्र साधनपथ है जिसपर चलकर साधकगण परमात्माका साक्षात्कार कर सकते हैं। इसकी विशेषता ठीक-ठीक समझनेके पहले उससे परिचय प्राप्त कर लेना नितान्त आवश्यक है।

योगके आठ अङ्ग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि। इनमें यम तथा नियमका सक्षिप्त वर्णन ग्यारहवें स्कन्धके अध्याय १९ मे यत्किञ्चित् मिलता है। पातञ्जल सूत्रोंमें तो यम तथा नियम केवल पॉच प्रकारके ही बतलाये गये हैं, परन्तु भागवतमें उनमेंसे प्रत्येकके बारह भेद माने गये हैं—

यमके द्वादश भेद[1]—(१) अहिंसा, (२) सत्य, (३) अस्तेय, (४) असङ्ग, (५) ह्री, (६) असञ्चय, (७) आस्तिक्य, (८) ब्रह्मचर्य, (९) मौन, (१०) स्थैर्य, (११) क्षमा, (१२) अभय।

नियमके द्वादश भेद[2]—(१) शौच—बाह्य, (२) आभ्यन्तर, (३) जप, (४) तप, (५) होम,

---

१ श्रीमद्भागवत १० । १३ । १९
२ ,, १० । १९ । १४
३ ,, १० । २९ । १
४ सयोज्यात्मनि चात्मान पद्मनेत्रे न्यमीलयत् ॥
लोकाभिरामा स्वतनु धारणाध्यानमङ्गलम् ।
योगधारणयाग्नेय्या दग्ध्वा धामाविशत् स्वकम् ॥
(श्रीमद्भागवत ११ । ३१ । ५-६)
५ उक्त श्लोककी व्याख्यामें मान्य टीकाकारोंमें भी मतभेद दिखाया पड़ता है। श्रीधरस्वामीके 'अदग्ध्वा' पदच्छेदको मानकर वीरराघव, विजयध्वज, जावगोस्वामी आदि सब टीकाकारोंने एक समान ही अर्थ किया है, परन्तु निम्बार्कमतानुयायी श्रीशुकदेवने अपने सिद्धान्त-प्रदीपमें 'दग्ध्वा' पदच्छेद कर 'स्वीययोगाग्निना सन्तापयित्वा' अर्थ कर विद्युत्के अदृश्य होनेकी तरह भगवत्तनुके अन्तर्धान होनेकी बात लिखी है।

१ श्रीमद्भागवत ११ । १९ । ३३
२ ,, ११ । १९ । ३४

(६) श्रद्धा, (७) आतिथ्य, (८) भगवदर्चन, (९) तीर्थाटन, (१०) परार्थचेष्टा, (११) सन्तोष, (१२) आचार्यसेवन।

इन यमोंमे अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह (भागवतका छठा 'असङ्ग्रय') पातञ्जलदर्शनमें भी हैं, शेष सात नये हैं। नियमोंमे उसी भाँति शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान (भागवतका आठवाँ 'भगवदर्चन') पातञ्जलदर्शनमें भी हैं, शेष नये हैं।

आसन—यह योगका तीसरा अङ्ग है। शुद्ध, पवित्र तथा एकान्त स्थानमें आसन लगाना चाहिये। जहाँ कहीं हल्ला न हो, निर्जनताके कारण शान्ति विराजती हो, वैसा ही स्थान आसन लगानेके लिये चुनना चाहिये। आसन 'चैलाजिनकुशोत्तर' होना चाहिये, इसका 'कल्पितासन' शब्दके द्वारा भागवतमें स्थान-स्थानपर सकेत है। योगमें अनेक आसन बतलाये गये हैं। स्वस्तिकासनसे बैठे तथा उस समय अपने शरीरको बिल्कुल सीधा बना रक्खे—

गृहात् प्रव्रजितो धीरः पुण्यतीर्थजलाप्लुतः।
शुचौ विविक्त आसीनो विधिवत् कल्पितासने॥

(श्रीमद्भा० २।१।१६)

'घरसे निकला हुआ वह धीर पुरुष पुण्यतीर्थोंके जलमें स्नान करे और शुद्ध एकान्त स्थानमे विधिपूर्वक बिछाये हुए आसनपर आसीन हो।'

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य विजितासन आसनम्।
तस्मिन् स्वस्ति समासीन ऋजुकायः समभ्यसेत्॥

(३।२८।८)

'शुचि देशमें आसन लगाकर आसनको जीते, पीछे स्वस्तिकासन लगाकर सीधा शरीर करके अभ्यास करे।'

इस श्लोकमें श्रीधरस्वामीके अनुसार 'स्वस्तिक' पाठ माना जाता है। अन्य टीकाकारोंने 'स्वस्ति समासीनः' पाठ माना है तथा पद्मासन अथवा सिद्धासनसे सुखपूर्वक बैठे, ऐसा अर्थ किया है। अतः भागवतमे किसी एक आसनके प्रति आदर दिखाया गया नहीं मालूम पड़ता। स्थान-स्थानपर टीकाकारोंके सकेतसे पद्म अथवा सिद्ध आसनोंकी ओर निर्देश जान पड़ता है।

प्राणायाम—प्राणोंका आयाम योगका चौथा अङ्ग है। पूरक, कुम्भक तथा रेचकके द्वारा प्राणके मार्गको शुद्ध करनेका उपदेश दिया गया है—

प्राणस्य शोधयेन्मार्गं पूरकुम्भकरेचकैः।

(३।२८।९)

प्राणायाम पुराणोंमें दो प्रकारका बतलाया गया है—(१) अगर्भ तथा (२) सगर्भ। अगर्भ प्राणायाम वह है जिसमें जप तथा ध्यानके बिना ही मात्राके अनुसार प्राणायाम किया जाय। सगर्भ प्राणायाममे जप तथा ध्यान अवश्य होना चाहिये। इन दोनोंमें सगर्भ प्राणायाम श्रेष्ठ है। अतः पुराणोंने उसीके करनेका उपदेश दिया है। शिवपुराणकी वायवीय संहिताके उत्तरखण्ड अध्याय सैंतीसमें इन दोनोंके भेद तथा उपयोगका अच्छा वर्णन है—

अगर्भश्च सगर्भश्च प्राणायामो द्विधा स्मृतः।
जपं ध्यानं विनागर्भः सगर्भस्तत्समन्वयात्॥३३॥

'प्राणायाम अगर्भ और सगर्भ, दो प्रकारका कहा गया है, जप और ध्यानके बिना जो प्राणायाम होता है वह अगर्भ है और जप-ध्यानके सहित जो है वह सगर्भ है।'

अगर्भाद् गर्भसंयुक्तः प्राणायामः शताधिकः।
तस्मात्सगर्भं कुर्वन्ति योगिनः प्राणसंयमम्॥३४॥

'अगर्भसे सगर्भ प्राणायामका गुण सौगुना है। इसलिये योगी सगर्भ प्राणायाम करते हैं।'

विष्णुपुराणमें अगर्भको अबीज तथा सगर्भको सबीज प्राणायाम कहा गया है[1]। श्रीमद्भागवतमें भी इसी सगर्भ प्राणायामका विधान बतलाया गया है। प्राणायाम करता जाय, साथ-ही-साथ अ-उ-म्‌से ग्रथित ब्रह्माक्षर ॐकारकी मनमे आवृत्ति करता जाय। ॐकारको बिना भुलाये अपने श्वासको जीते[2]—

अभ्यसेन्मनसा शुद्धं त्रिवृद्ब्रह्माक्षरं परम्।
मनो यच्छेज्जितश्वासो ब्रह्मबीजमविस्मरन्॥

(श्रीमद्भा० २।१।१७)

'इस तीन अक्षरवाले शुद्ध परम ब्रह्माक्षर मन्त्रका मनसे जप करे, इस ब्रह्मबीजको बिना भुलाये श्वासको जीतकर मनको एकाग्र करे।'

---

१ विष्णुपुराण षष्ठ अंश ७। ४०

२ श्रीमद्भागवत ११। १४। ३४

जो योगी इस प्रकार सगर्भ प्राणायामके अभ्याससे श्वासजय प्राप्त कर लेता है, उसके मनसे आवरक मल—रज तथा तम—का नाश उसी प्रकार हो जाता है, जिस प्रकार आगमें तपाये लोहेसे मलिनता दूर हो जाती है—

मनोऽचिरात्स्याद्विरजं जितश्वासस्य योगिनः ।
वाय्वग्निभ्यां यथा लोहं ध्मातं त्यजति वै मलम् ॥
(३ । २८ । १०)

ऊपर पूरक, कुम्भक तथा रेचकके क्रमसे प्राणायाम करनेका विधान बतलाया गया है, परन्तु भागवतके एकादश स्कन्धमें 'विपर्ययेणापि शनैरभ्यसेन्निर्जितेन्द्रियः' (१४ । ३३) 'प्रतिकूलेन वा चित्तम्' (३ । २८ । ९) कहकर इससे उलटे क्रमसे प्राणायाम करनेकी भी विधि शास्त्रीय मानी गयी है । यहाँ 'विपर्ययेणापि' तथा 'प्रतिकूलेन' का अर्थ श्रीधरस्वामीने दो प्रकारसे किया है । एक अर्थ तो यह हुआ—साधारण नियमका उलटा क्रम अर्थात् रेचक, पूरक, कुम्भक । इसका आशय यह है कि पहले ही रेचक करे, बादको कुम्भक और अन्तमें पूरक । कुम्भक दो प्रकारका होता है—अन्तःकुम्भक तथा बहिःकुम्भक । भागवतमें इन दोनोंका इस प्रकार वर्णन है तथा दोनोंमें किसी एकके द्वारा चित्तको स्थिर करनेका उपदेश दिया गया है । दूसरा अर्थ यह बतलाया गया है कि वाम नाडीसे पूरक करे तथा दाहिनीसे रेचक करे अथवा इसका उलटा दक्षिण नाडीसे वायु भरकर वामसे रेचक करे । दोनों ही अर्थ योगाभ्यासियोंको सम्मत हैं । प्राणायामको तीनों कालमें—प्रातः, मध्याह्न तथा सायं करना चाहिये और हर बार दस प्राणायाम करना चाहिये । यदि इस नियमसे प्राणायाम किया जाय, तो एक मासके पूर्व ही साधक पवनको वशमें कर लेता है—

दशकृत्वस्त्रिषवणं मासादर्वाग् जितानिलः ॥
(श्रीमद्भा० ११ । १४ । ३५)

प्रत्याहार—इस प्रकार आसन, सङ्ग तथा श्वासको जीतकर साधक अपनी इन्द्रियोंको उनके तत्तद्विषयोंसे खींचे । इस कार्यमें सहायता देगा निश्चयबुद्धिवाला मन । मनके द्वारा निश्चयबुद्धिकी सहायतासे मनुष्य अपनी इन्द्रियोंको विषयोंसे खींचकर उन्हें एक स्थानपर रखनेका यत्न करे । यह हुआ प्रत्याहार ।

नियच्छेद्विषयेभ्योऽक्षान् मनसा बुद्धिसारथिः ।
(श्रीमद्भा० २ । १ । १८)

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यो मनसाकृष्य तन्मनः ।
बुद्ध्या सारथिना धीरः प्रणयेन्मयि सर्वतः ॥
(श्रीमद्भा० ११ । १४ । ४२)

धारणा—मनको एक वस्तुमें टिकानेका नाम हुआ धारणा । भागवतमें दो प्रकारकी धारणा बतलायी गयी है । वे ही धारणाएँ अन्य पुराणोंमें भी नामभेदसे बतलायी गयी हैं । भगवान्‌के दो रूप हैं—स्थूल तथा सूक्ष्म । इन्हींको विष्णुपुराणमें (१) मूर्त अथवा 'विश्व' तथा (२) अमूर्त अथवा 'सत्' रूप बतलाया गया है[१] । भगवान्‌के इन्हीं दोनो रूपोंके धारणा तथा ध्यान करने चाहिये । अतः भागवतविहित धारणाके दो भेद हुए—(१) वैराजधारणा तथा (२) अन्तर्यामिधारणा ।

सबसे पहले भगवान्‌के स्थूल रूपमें ही धारणा तथा ध्यान लगावे अर्थात् पहले भगवान्‌के विराट् रूपकी धारणा करे । भागवतके दूसरे स्कन्धके पहले ही अध्यायमें भगवान्‌के विराट् रूपका इतना सुन्दर तथा सांग वर्णन किया गया है कि पद्योंको पढ़ते-पढ़ते रूप आँखके सामने आकर झूलने लगता है । स्थूल होनेके कारण मूर्त रूपमें मन आसानीसे लगाया जा सकता है । इस धारणाका नाम हुआ वैराज धारणा । जब यह धारणा साधकके हाथमें आ जाय, तब अमूर्त रूपकी धारणा करनी चाहिये । इस दूसरी धारणा—अन्तर्यामिधारणाका अतीव सुन्दर वर्णन भागवतके अनेक स्थलोंपर किया गया है, यथा दूसरे स्कन्धका दूसरा अध्याय, तीसरे स्कन्धका अट्ठाईसवाँ अध्याय तथा ग्यारहवें स्कन्धका चौदहवाँ अध्याय । इन वर्णनोंका आशय[२] है कि अपने शरीरके भीतर ऊर्ध्वनालवाले अधोमुख हृत्पुण्डरीकको ऊर्ध्वमुख, विकसित, अष्टदलवाला तथा कर्णिकायुक्त ध्यान धरे । कर्णिकामें क्रमशः सूर्य, चन्द्रमा तथा अग्निके मण्डलको रक्खे । इस अग्निके भीतर आनन्दकन्द श्रीवृन्दावनचन्द्र वनमालधारीकी मनमोहिनी मूरतिका ध्यान धरे । भगवान्‌के इस सुहावने रूपका जैसा वर्णन भागवतमें मिलता है वैसा अन्यत्र मिलना दुर्लभ है । व्यासजीने अपनी समग्र कविताशक्तिको मानो यहीं समाप्त कर दिया है । संस्कृतज्ञ पाठक

१. विष्णुपुराण अ० ६ अ० ७ ।
२. श्रीमद्भागवत ११ । १४ । ३६, ३७

भागवतको पढकर इसका अलौकिक आनन्द उठावें। इस रूपकी धारणा तबतक करें जबतक मन निश्चल तथा स्थिर न हो जाय। इसका नाम हुआ अन्तर्यामिधारणा।

ध्यान—किसी वस्तुविशेषमें अनुस्यूतरूपसे मन धारणा धारण करे। प्रत्ययकी एकतानता हो, तो उसे ध्यान कहते हैं—'तत्रैकतानता ध्यानम्'। भागवतमें ध्यानके विषयमें बहुत कुछ कहा गया है। सारांश यही है कि जब हृत्कर्णिकामें भगवान्‌के समग्र शरीरकी धारणा निश्चल तथा ठीक हो जाय, तब प्रत्येक अङ्गका ध्यान करना चाहिये। अङ्गोंका क्रम 'पादादि यावत् हसितं गदाभृतः' (चरणोंसे लेकर हँसते हुए मुखतक) है। इनका वर्णन तीसरे स्कन्धके अट्ठाईसवें अध्यायमें देखने ही योग्य है। भगवान्‌के पैरके ध्यानसे आरम्भ कर ऊपर बढता जाय और अन्तमें मुखकी मन्द मुसुकानके ऊपर अपना ध्यान जमा दे—

> सञ्चिन्तयेद् भगवतश्चरणारविन्दं
> वज्राङ्कुशध्वजसरोरुहलाञ्छनाढ्यम्।
> उत्तुङ्गरक्तविलसन्नखचक्रवाल-
> ज्योत्स्नाभिराहतमहद्धृदयान्धकारम्॥
> (३।२८।२१)

'उत्तम प्रकारसे भगवान्‌के उस चरण-कमलका ध्यान करे जो चरणकमल वज्र, अङ्कुश, ध्वजा और कमलके चिह्नोंसे युक्त है तथा जिसने अपने ऊँचे उठे हुए लाल-लाल नखोंकी ज्योत्स्नासे सत्पुरुषोंके हृदयके अन्धकारको दूर किया है।'

× × × ×

> ध्यानायनं प्रहसितं बहुलाधरोष्ठ-
> भासारुणायिततनुद्विजकुन्दपङ्क्ति।
> ध्यायेत् स्वदेहकुहरेऽवसितस्य विष्णो-
> र्भक्त्यार्द्रयार्पितमना न पृथग् दिदृक्षेत्॥
> (३।२८।३३)

'हृदयमें रहनेवाले भगवान्‌के उस ध्यानायनस्वरूप हास्यका—जिस हास्यसे नीचेके होंठकी लालिमा भीतर-की कुन्दकली-सी दन्तपङ्क्तिको अरुण आभा प्रदान कर रही है—अर्पित मन होकर सरस भक्तिसे ध्यान करे, पृथक् न देखे।'

समाधि—ध्यानके बाद ही समाधिका स्थान है। उस समय भक्तिसे द्रवीभूत हृदय, आनन्दसे रोमाञ्चित होकर, उत्कण्ठासे आँसुओंकी धारामें नहानेवाला भगवान्‌का भक्त अपने चित्तको भी ध्येय पदार्थसे उसी भाँति अलग कर देता है जिस प्रकार मछलीके मारे जानेपर मछुआ बडिश (काँटे) को अलग कर देता है—'चित्तबडिशं शनकैर्वियुङ्क्ते'। इस समय निर्विषय मन अर्चिकी तरह गुणप्रवाहसे रहित होकर भगवान्‌में लय प्राप्त कर लेता है—ब्रह्माकारमें परिणत हो जाता है[1]।

> एवं हरौ भगवति प्रतिलब्धभावो
> भक्त्या द्रवद्धृदय उत्पुलकः प्रमोदात्।
> औत्कण्ठ्यबाष्पकलया मुहुरर्द्यमान-
> स्तच्चापि चित्तबडिशं शनकैर्वियुङ्क्ते॥
> मुक्ताश्रयं यर्हि निर्विषयं विरक्तं
> निर्वाणमृच्छति मनः सहसा यथार्चिः।
> आत्मानमत्र पुरुषोऽव्यवधानमेक-
> मन्वीक्षते प्रतिनिवृत्तगुणप्रवाहः॥
> सोऽप्येतया चरमया मनसो निवृत्त्या
> तस्मिन्महिम्न्यवसितः सुखदुःखबाह्ये।
> हेतुत्वमप्यसति कर्तरि दुःखयोर्यत्
> स्वात्मन् विधत्त उपलब्धपरात्मकाष्ठः॥
> (श्रीमद्भा० ३।२८।३४–३६)

'इस प्रकार भगवान् श्रीहरिमें जिसका पूर्ण प्रेमभाव हो गया है, जिसका हृदय भक्तिसे द्रवीभूत हो गया है, प्रेमानन्दसे जो पुलकित हो उठा है, जो बार बार उत्कण्ठासे उत्पन्न हुई अश्रुधारामें नहाता रहता है, वह उस चित्तरूप बडिश (मछली पकड़नेके काँटेको) भी पीछे धीरे-धीरे छोड़ देता है। संसारका आश्रय जिसने छोड़ दिया, जो निर्विषय और पूर्ण विरक्त हो गया, वह मन बत्ती जल जानेपर दीप-शिखाके महज्ज्योतिमें मिलनेके समान निर्वाणपदको प्राप्त होता है। त्रिगुणका प्रवाह जिससे हट गया ऐसा वह पुरुष अपने सिवा और कोई व्यवधान नहीं देखता हुआ अखण्ड आत्मस्वरूपको प्राप्त होता है। वह पुरुष मनकी इस चरमनिवृत्तिसे सुखदुःखके बाहर उस महिमामें लीन हुआ रहता है और ऐसा आत्मस्थितिकी पराकाष्ठाको प्राप्त हुआ पुरुष यद्यपि अपने आपको कर्ता नहीं मानता तथापि सुखदुःखका जो मूल कारण है वह अपने अन्दर देखता है।'

1. श्रीमद्भा० ३।२८।३४–३८

विशेषता

श्रीमद्भागवतवर्णित योगचर्याका एक सामान्य परिचय यथामति ऊपर संक्षेपमें दिया गया है। सद्योमुक्ति, क्रममुक्ति आदि अन्य तत्सम्बन्ध विषय स्थानाभावके कारण छोड़ ही दिये गये हैं। प्रेमी पाठक वहींसे इन विषयोंका मनन करें। ऊपरके वर्णनसे भागवतकी योगचर्याकी विशेषता जिज्ञासुजनोंके ध्यानमें आ गयी होगी, अतः दो ही चार शब्द लिखकर हम इस लेखको यहीं समाप्त करेंगे।

इस योगकी यह बड़ी विशेषता मालूम पड़ती है कि यह अष्टाङ्गयोग भक्तिके साथ नितान्त सम्बद्ध है। वास्तविक योगी केवल शुष्क साधक नहीं है, प्रत्युत भगवान्‌की उत्तम भक्तिसे आप्लाव्यमान हृदयवाला परम भागवत है। बिना भक्तिके योगविहित समाधिकी निष्पत्ति कथमपि नहीं हो सकती। व्यासजीने अत्यन्त स्पष्ट शब्दोंमें कहा कि योगका उद्देश्य 'कायाकल्प' नहीं है—शरीरको केवल दृढ़ बनाना नहीं है, प्रत्युत उसका प्रधान ध्येय श्रीभगवान्‌में चित्त लगाना है, भगवत्परायण होना है—

केचिद्देहमिमं धीराः सुकल्पं वयसि स्थिरम्।
विधाय विविधोपायैरथ युञ्जन्ति सिद्धये ॥४१॥
नहि तत् कुशलादृत्यं तदायासो ह्यपार्थकः।
अन्तवत्त्वाच्छरीरस्य फलस्येव वनस्पतेः ॥४२॥
योगं निषेवतो नित्यं कायश्चेत् कल्पतामियात्।
तच्छ्रद्दध्यान्न मतिमान् योगमुत्सृज्य मत्परः ॥४३॥
(श्रीमद्भागवत ११। २८)

'कोई-कोई धीर इस देहका कल्प करने अथवा चिरायु होनेके लिये योगके विविध उपाय किया करते हैं। परन्तु कुशल (विवेकी) पुरुष इसका आदर नहीं करते। यह सारा प्रयास व्यर्थ ही जानेवाला होता है, क्योंकि वृक्षके फलकी तरह शरीर नाशवान् है। योगसाधन करनेसे काया यदि कल्पान्ततक भी जीती रहे तो भी मत्परायण बुद्धिमान् पुरुषको भगवद्योग छोड़कर उसमें कभी श्रद्धा न करनी चाहिये।'

श्रीमद्भागवतका योगके विषयमें यही परिनिष्ठित सिद्धान्त प्रतीत होता है कि योगियोंके लिये जगदाधार भगवान्‌में भक्तिके द्वारा चित्त लगानेके अतिरिक्त ब्रह्म-प्राप्तिका अन्य कोई उपाय नहीं है—

न युज्यमानया भक्त्या भगवत्यखिलात्मनि।
सदृशोऽस्ति शिवः पन्था योगिनां ब्रह्मसिद्धये ॥
(श्रीमद्भा० ३। २५। १९)

'अखिल आत्मस्वरूप भगवान्‌में लगी हुई भक्तिके समान 'शिवः पन्थाः', कल्याणकारी मार्ग योगियोंके लिये ब्रह्मप्राप्तिमें, और कोई नहीं है।'

योग-मठ

होवे लघुद्वार एक, छिद्र ना गवाक्ष जामें,
जाको अति छोटो नाहिं बड़ो विस्तार हो।
गोमय पवित्र से लिपा हो, स्वच्छ सुन्दर हो,
प्राणी दूसरा न होवे, शान्ति रस-धार हो ॥
बाहरमें वेदी कूप मण्डप सुशोभित हों,
चारों ओर पुष्पलता सीमा निरधार हो।
ताको हठयोगी जन 'योगमठ' मानत हैं,
'पथिक' पवित्र जामें नित्य सदाचार हो ॥

—नरसिंह पाण्डेय 'पथिक'

श्रीयोगवासिष्ठमें योग

(लेखक— प्रो० डा० श्रीभीखनलालजी आत्रेय, एम० ए०, डी०लिट्)

योगवासिष्ठ महारामायण भारतवर्षके आध्यात्मिक ग्रन्थोंमे बहुत उच्च कोटिका ग्रन्थ है। इसमें वसिष्ठ ऋषिद्वारा श्रीरामचन्द्रको किये हुए आध्यात्मिक उपदेशका बहुत सरस भाषामें वर्णन है, इसके दार्शनिक सिद्धान्त बहुत सूक्ष्म और गहन हैं। अद्वैत वेदान्तके अनेक लेखकोंने इन सिद्धान्तोंका प्रतिपादन किया है, और कुछ विद्वानोंने इसके बहुत-से स्थलोंसे चुनकर कुछ श्लोकोंका संग्रह करके उन संग्रहोंको उपनिषदोंके नामसे प्रकाशित किया है। महाउपनिषद्, अन्नपूर्णाउपनिषद् और अक्षिउपनिषद्के तो सभी श्लोक योगवासिष्ठसे चुने हुए हैं (देखिये हमारा योगवासिष्ठ और उसके सिद्धान्त। योगवासिष्ठ और कुछ उत्तरकालीन उपनिषद्, पृष्ठ ४५)। कल्याणके सम्पादक महोदयके अनुरोधसे यहाँपर हम पाठकोंके लिये योगवासिष्ठके योग-सम्बन्धी विचारोंका दिग्दर्शन कराना चाहते हैं। जिन सज्जनोंको इन सिद्धान्तोंको और भलीभाँति समझनेकी उत्कण्ठा हो उनको योगवासिष्ठ-सम्बन्धी हमारी पुस्तकोंका* अवलोकन करना अथवा योगवासिष्ठको आद्योपान्त पढ़ना चाहिये।

'योग' शब्दका अर्थ

योगवासिष्ठमें योग शब्दका अर्थ है—संसारसागरसे पार होनेकी युक्ति (६ । १३ । ३)।

*१—श्रीयोगवासिष्ठ और उसके सिद्धान्त (प्रेसमें)
२—श्रीवासिष्ठदर्शनम्
३—श्रीवासिष्ठदर्शनसार
४—Yogavasistha and Its Philosophy
५—Yogavasistha and Modern Thought
६—The Philosophy of Yogavasistha (प्रेसमें)
७—Yogavasistha and some of the minor Upanishads

योगका आदर्श

योगद्वारा मनुष्य अपने असली स्वरूप सच्चिदानन्दका अनुभव कर लेता है। योगका ध्येय वह तुरीय नामक परम आत्मामें स्थिति है जिसमे जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति, किसीका भी अनुभव न हो, और न इनके आगामी अनुभवका बीज भी रहे, और जिसमें परम आनन्दका निरन्तर अनुभव होता रहे (६ । १३ । ३; ६ । १२८ । ५०–५१)।

योगकी तीन रीतियाँ

(१) एक तत्त्वकी दृढ भावना, (२) मनकी शान्ति और (३) प्राणोंके स्पन्दनका निरोध—ये तीन योगकी रीतियाँ हैं। इन तीनोंमेंसे किसी एकपर चलनेसे तीनोंकी ही सिद्धि हो जाती है (६ । ६९ । २७, ४०) इन तीनोंमें मनको शान्त कर लेना सबसे सरल है (६ । ६९ । २९)। किसीको ज्ञानका अभ्यास, किसीको प्राण-निरोध और किसीको मनका शान्त करना सरल होता है। तो भी योगवासिष्ठकार कहते हैं कि प्राणोंके निरोधकी अपेक्षा मनको शान्त करना अथवा एक तत्त्वका दृढ अभ्यास करना अधिक सरल है (६ । १३ । ८) इसलिये इस ग्रन्थमें इन दो रीतियोंका ही अधिक वर्णन है।

(१) एक तत्त्वका दृढ़ अभ्यास

एक तत्त्वकी दृढ़ भावनासे मन शान्त होकर विलीन हो जाता है और प्राणोंका स्पन्दन स्वयं ही रुक जाता है। (६ । ६८ । ४८) एक तत्त्वका दृढ अभ्यास तीन प्रकारसे किया जाता है—

(१) ब्रह्मभावना

पहले विचारद्वारा यह निश्चय हो जाना चाहिये कि संसारभरमें केवल एक ही अनन्त आत्मतत्त्व है और सब पदार्थ उसी तत्त्वके नाना नाम-रूप हैं। तब मनको तन्मय करनेका प्रयत्न करना चाहिये। इस प्रकारका ब्रह्माभ्यास करनेसे मन ब्रह्माकार होकर विलीन हो जाता है और प्राणोंकी गति भी स्वयं ही रुक जाती है, क्योंकि

यह नियम है कि जो जिस विषयकी दृढ भावना करता है वह तद्रूप हो जाता है (६ । ६९ । ४९, ५२; ४ । ११ । ५८)।

(२) अभाव-भावना

अभाव भावनाका अर्थ है, पदार्थोंको अत्यन्त असत् समझकर उनके पारमार्थिक अभावकी दृढ भावना करना। जब कि ब्रह्म (आत्मा) के अतिरिक्त इस जगत्में और कोई दूसरा पदार्थ है ही नहीं और सब दृश्य पदार्थ वस्तुतः ब्रह्म ही है, तब हमारा उनको नाना नामरूपवाले और भिन्न सत्तावाले समझना केवल भ्रम है। इस बातको भलीभाँति समझकर यह दृढ निश्चय कर लेना चाहिये कि पदार्थ हैं ही नहीं, केवल ब्रह्म-ही-ब्रह्म सर्वत्र है। इस निश्चयके अभ्यासका नाम ब्रह्मभावना है। ऐसा करनेसे मन शान्त हो जाता है और अहभाव और जगत्का अनुभव—दोनोंका लोप होकर आत्मभावमें स्थिति हो जाती है। (३ । २२ । २७, ३ । ७ । २७, २८; ३ । २१ । १२)।

(३) केवलीभाव

केवलीभाव उस निश्चयके अभ्यासका नाम है जिसमें केवल एक आत्मतत्त्वकी स्थिति मानी जाय और समस्त दृश्य पदार्थोंके असत्य होनेकी दृढ भावना होनेके कारण अपने द्रष्टा होनेको भी असत् समझा जाय और अपने उस आत्मस्वरूपमे स्थिति हो जाय जिसमे द्वैतका कोई भान नहीं है (३ । ४ । ५३)।

२–मनोलय

योगवासिष्ठके अनुसार मन ही ससारका उत्पन्न करनेवाला और चलानेवाला है। मनके शान्त हो जानेपर जीवनमें परमशान्ति आ जाती है और ससारका अनुभव क्षीण हो जाता है। मनके शान्त हो जानेपर जीव ब्रह्मत्वको प्राप्त हो जाता है और प्राणोंका स्पन्दन भी रुक जाता है। मन ससाररूपी मायाचक्रकी नाभि है। इस नाभिको बल और बुद्धिद्वारा घूमनेसे रोक लेनेपर ससारचक्रकी गति भी रुक जाती है। मनको जीत लेनेपर सब कुछ जीत लिया जाता है। मनके नाश होनेपर ससारका इस प्रकार लय हो जाता है जैसे कि घटके नाश होनेपर घटाकाश नष्ट हो जाता है। चित्तके लीन हो जानेपर द्वैत और अद्वैत दोनोंकी भावनाओंका लय होकर परम शान्त आत्मतत्त्वका ही अनुभव रह जाता है। संसाररूपी दुःखसे मुक्त होनेका उपाय केवल मनको निग्रह करना है। इसी युक्तिद्वारा मनुष्यको परम शान्तिका अनुभव होता है। बिना इस युक्तिके शुभ गति प्राप्त नहीं होती (५ । ४९ । ४०; ५ । ५० । ७, ६ । २९ । ५, ६, ७, ८; ५ । २४ । १४, १५; ५ । १७ । १९, ५ । ५० । १४, ६ । ६९ । ४४; ६ । ९३ । ४४–४७; ४ । ३५ । २; ३ । ११२ । ९; ३ । १११ । १५; ३ । १११ । २)।

मन ही स्थूल होकर परिमित जीव हो जाता है और मन सूक्ष्म और विस्तृत होकर ब्रह्म हो जाता है। जिन कारणोंद्वारा मन स्थूलताको प्राप्त होकर दुःख भोगता है वे ये हैं—अनात्म वस्तुमें आत्मभाव, स्थूल देहमें आस्था, स्त्री, पुत्र और कुटुम्बसे ममता, मेरा-तेरापन, बुढ़ापे और मौतसे भय, संसारसे सुखकी आशा, किसी वस्तुकी प्राप्ति और किसीके त्यागका यत्न, भोगोंकी तृष्णा और विषयोंके भोगोंमें फँसना आदि (५ । ५० । ५७–६३)।

मन सूक्ष्म होकर जिन कारणोंसे ब्रह्मभावको प्राप्त होता है वे ये है—भोगोंमें सुखकी कल्पनाको छोड़कर सांसारिक वासनाओंको त्यागकर परम शुद्ध आत्मतत्त्वकी ओर लगना, मनकी असत्ता और आत्माकी सत्तापर बार-बार विचार करना, ससारके पदार्थोंकी असत्ताका दृढ निश्चय हो जाना, परम तत्त्वके चित् सामान्य रूपमे स्थिर होना आदि (३ । ९८ । २, ३ । ९७ । १०, ११, ३ । १०० । २, ५ । ५५ । २)

मनको शान्त करनेके उपाय

बिना उचित युक्तिके मनका जीतना कठिन है (५ । ९१ । ३४)। जो लोग ठीक युक्तियोंको छोड़कर हठपूर्वक मनको जीतना चाहते है उनको अनेक क्लेश और भय प्राप्त होते है (५ । ९१ । ४०)। मनको शान्त करनेकी अनेक रीतियाँ हैं, उनमेसे कुछका उल्लेख यहाँ किया जाता है—

(१) ज्ञानयुक्ति

ज्ञानद्वारा मनका निरोध करना आँख मींचने या फूलको मसल देनेसे भी सरल है। इसमें जरा भी कष्ट नहीं होता (६ । १११ । ३१)। मनकी सत्ता ही अज्ञानके कारणसे है और वह ज्ञानद्वारा इस प्रकार सरलतासे नष्ट की जा सकती है जैसे कि रस्सीमें साँपकी सत्ता और

मरुभूमिमें मृगतृष्णाके जलकी सत्ता। जो वस्तु अज्ञान-जन्य है वह ज्ञानद्वारा तुरन्त नष्ट हो जाती है। सत्यका ज्ञान होनेपर यह भलीभाँति निश्चित हो जाता है कि वस्तुतः आत्माके अतिरिक्त और कोई पदार्थ नहीं है और मन भी असत् है (४।११।२७)।

(२) संकल्पत्याग

सङ्कल्प मनका बन्धन है और सङ्कल्पका अभाव मनकी मुक्ति है (६/२।१।२७)। सङ्कल्प न रहनेपर मनका नाश हो जाता है और मुक्तिका उदय होता है (५।१३।८०)। सङ्कल्पके शान्त होनेपर संसारका सब दुःख मूलसहित नष्ट हो जाता है (५।५४।१९)।

(३) भोगोंसे विरक्ति

जबतक संसारका नाश करनेवाली भोगोंसे विरक्ति उदय नहीं होती तबतक दुःखोंपर विजय पानेवाली परम निवृत्तिका अनुभव नहीं होता (५।२४।३७-३८)। संसाररूपी गड्ढेमें पड़े हुए लोग तभीतक दुःखोंमें भ्रमण करते हैं जबतक उनको विषयोंसे वैराग्य नहीं होता (५।२४।४३)। विषयोंसे विरक्ति होनेसे मन सूक्ष्म होकर आत्मभावको प्राप्त होता है।

(४) वासनात्याग

चित्त (मन) का असली रूप वासना है। वासना (इच्छा) और मन पर्यायवाची शब्द हैं (६/२।९४।५)। वह मनुष्य जिसकी सब वासनाएँ क्षीण हो गयी हों, जीवन्मुक्त हो जाता है, बन्धनमें पड़े हुए लोगोंको उस अवस्थाका अनुभव नहीं होता (३।२२।८) वासना-त्यागकी सरल युक्ति यह है कि पहले तामसी वासनाओं-का परित्याग करके मनमें मैत्री आदिकी शुद्ध वासनाओं-को रक्खे (४।५७।२०), उनके अनुसार व्यवहार करता हुआ, फिर उनको भी मनसे निकालकर सब वास-नाओंसे रहित होकर केवल एक चिन्मात्रावस्थाको प्राप्त होनेकी वासनाको मनमे रहने दे (४।५७।२१)। तब मन और बुद्धिसहित उस वासनाका भी त्याग करके जो अवस्था शेष रहे उसके ध्यानमें स्थिर रहे। इस प्रकार जिस वासनाद्वारा दूसरी वासनाओका त्याग किया जाय उसको भी त्याग देना चाहिये (४।५७।२२)। उस ज्ञानवान् पुरुषके मनमें, जिसने कि इस भावनासे कि 'सब कुछ ब्रह्म ही है' अपना अज्ञान नष्ट कर लिया है, कभी वासनाका उदय नहीं होता (६/१।८७।२५)। जिस प्रकार दीपकसे अँधेरा दूर होकर प्रकाशका उदय हो जाता है, उसी प्रकार परमार्थके ज्ञानसे वासना समूल नष्ट होकर शान्तिका अनुभव होता है (५।७४।२१)।

(५) अहंभावका नाश

अहंभावके दृढ होनेपर ही संसारका भ्रम उदय होता है और अहंभावके क्षीण होनेपर उस स्वभावमें स्थिति हो जाती है जिसमें कि निरन्तर शान्ति ही है (६/२।२६।२९)। अहंभावरूपी मेघके क्षीण होनेसे चिदा-काशके निर्मल हो जानेपर ही आत्मानुभवरूपी सूर्यका प्रचण्ड प्रकाश होता है (५।१३।११)। यह सब संसार इन्द्रजालकी नाईं मिथ्या है, इसलिये इसमें राग रखनेसे क्या और द्वेष करनेसे क्या? इस प्रकार विचार करते रहनेसे अहंभाव नहीं रहता (४।३३।४४)। जब यह ज्ञान होकर कि मैं ही सारा जगत् हूँ और यहाँपर कोई वस्तु भी त्यागने अथवा प्राप्त करने योग्य नहीं है, चित्तमें समताका प्रकाश हो जाय तब अहंभावकी वृद्धि नहीं होती (४।३३।४६)।

(६) असङ्गका अभाव

जिसके हृदयमें संसारकी वस्तुओंके साथ सङ्ग है वही मनुष्य संसारसागरमें डूबा हुआ है और जिसका मन सङ्ग-से रहित है वही संसारसे मुक्त है (५।६७।३०)। सङ्गरहित पुरुष वह है जो न कर्मोंके त्यागसे प्रसन्न होता है और न कर्मोंमें अनुरक्त होता है, जो किसी भी कर्मका फल नहीं चाहता, और जो सब अवस्थाओंमें समान रहता है (५।६८।६)। यहाँ सब कुछ आत्मा ही है—किस वस्तुका त्याग करूँ और किसका ग्रहण—इस भाव-का नाम असङ्ग है। जीवन्मुक्तिमे यही दशा होती है (५।६८।४)।

(७) कर्तृत्वभावका त्याग

जब स्पन्दनात्मक कर्म क्षीण हो जाता है तो मन भी क्षीण हो जाता है (३।९५।३५)। जैसे अग्नि और उष्णताकी सदा एकता है वैसे ही मन और कर्मकी सदा एकता है। दोनोंमेंसे एकका नाश होनेसे दोनोंका ही नाश हो जाता है (३।९५।३७) कर्मका बीज (कारण) आत्माके अज्ञानसे उत्पन्न हुआ सकल्प है। (६/२।१२४।५) सकल्प करना ही बन्धनका कारण है,

इसलिये उसको त्यागना चाहिये (६ । १२४ । ६) संवेदन और संवेद्य दोनोको छोड़कर वासनारहित शान्त होकर रहनेका नाम कर्मत्याग है (६ । ३ । २५)।

(८) सर्वत्याग

जबतक सब कुछ नहीं त्यागा जाता तबतक आत्मलाभ नहीं होता। सब अवस्थाओंका परित्याग करनेपर जो शेष रहता है वही आत्मा है (५ । ५८ । ४४)। शुद्ध सर्वत्यागको सर्वदुःखोंका अन्त करनेवाली चिन्तामणि समझना चाहिये, शुद्ध बुद्धिसे उसीकी साधना करनी चाहिये (६ । ९० । ५)। जो सब कुछ है, जिससे सब कुछ है, और जो सबका कारण है, उसीमें सबका त्याग कर देनेसे सर्वत्यागकी सिद्धि होती है (६ । ८३ । ३०) तीनों कालमें रहनेवाला जगज्जाल जिसने अपने भीतर इस प्रकार देख लिया है जैसे कि मोतीके भीतर तागा, उसने सब कुछ त्याग दिया (६ । ९३ । ४९)। जिसने बुद्धिद्वारा सब शंकाओं, सब इच्छाओं और सब निश्चयोंका त्याग कर दिया है वह महात्यागी कहलाता है (६ । ११५ । ३४)।

(९) समाधिका अभ्यास

यदि निर्विकल्प समाधिमें स्थिति हो जाय तो अक्षय और निर्मल सुषुप्तिके समान आत्मपदकी प्राप्ति हो जाती है (३ । १ । ३६)। समाधि चुपचाप रहनेका नाम नहीं है। सब आशाओंरूपी तृणोंको भस्म करनेवाली तत्त्वज्ञानरूपी अग्निका नाम समाधि है (५ । ६२ । ८)। समाधि उस प्रज्ञाका नाम है जिसमें चित्त स्थिर हो, नित्य तृप्ति हो और पदार्थोंके असली रूपका ज्ञान हो (५ । ६२ । ९)। विषयोंके प्रति किसी प्रकारकी भी तृष्णा न रहनेका नाम समाधि है (६ । ४५ । ४६)।

(१०) लयक्रिया

देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और क्षेत्रज्ञ जिन-जिन तत्त्वोंसे उत्पन्न होते हैं उनको जानकर उनमें इनको लय करनेका यत्न करना चाहिये (६ । १२८ । ४)। इस रीतिसे पहले अपने आपको विराट्में स्थित करो, फिर अव्याकृतमें और फिर परम कारणमें (६ । १२८ । ५)। शरीरके पार्थिव भाग मांसादिका पृथ्वीतत्त्वमें विचारद्वारा लय करो, रक्तादिका जलमें, तैजस भागका अग्निमें, वायव्य भागका वायुमें और नाभस भागका आकाशमें। इसी प्रकार एक-एक इन्द्रियको उसके कारण तत्त्वमें लय करो—श्रोत्रको दिक्में, त्वक्को वायुमें, चक्षुको सूर्यमें, जिह्वाको जलमें, घ्राणको पृथ्वीमें (६ । १२८ । ६-८), पैरोंको विष्णुमें, पायुको मित्रमें, उपस्थको कश्यपमें, मनको चन्द्रमामें, बुद्धिको ब्रह्मामें—इस प्रकार समस्त देहको उसके कारण तत्त्वोंमें लय करके अपने आपको विराट् समझो (६ । १२८ । ९-११)। अब पृथ्वी-तत्त्वको जलमें, जलको अग्निमें, अग्निको वायुमें और वायुको आकाशमें और आकाशको महाकाशमें जो कि सबका उत्पत्ति-कारण है, लय करो (६ । १२८ । १६-१७) वहाँपर योगी लिङ्गशरीरद्वारा क्षणभर स्थित होकर और ब्रह्माण्डके बाहर दृष्टि फैलाकर यह अनुभव करे कि मैं आत्मा हूँ (६ । १२८ । १९)। लिङ्ग शरीरको सूक्ष्म अव्याकृतमें जो कि ब्रह्मासे पूर्वकी अवस्थाका नाम है, लीन करना चाहिये (६ । १२८ । २०)। यह वह तत्त्व है जिसमें नामरूपका त्याग करके जगत् स्थित रहता है। कोई इसको प्रकृति कहते हैं, कोई माया और कोई परमाणुसमूह, कोई तर्कसे भ्रान्त चित्तवाले इसको अविद्या कहते हैं। उसमें सब पदार्थ लय होकर अव्यक्तरूपसे वर्तमान रहते हैं। इन तीनों अवस्थाओं-(स्थूल, सूक्ष्म और कारण)-के परे भी एक अव्यय चतुर्थ पद है। उसकी प्राप्तिके लिये, उसका ध्यान करके कारण-शरीरका उसमें लय करना चाहिये (६ । १२८ । २१-२५)।

३—प्राण-निरोध

जैसे पंखेका हिलना बन्द होते ही हवाका चलना बन्द हो जाता है उसी प्रकार प्राणोंकी गति रुक जानेपर मन भी शान्त हो जाता है (६ । ६९ । ४१)।

प्राणका स्पन्दन रुकनेसे मन शान्त हो जाता है और मनके शान्त हो जानेपर संसारका लय हो जाता है (५ । ७८ । १५-१६)।

प्राण-निरोधके उपाय

प्राण क्या है ? प्राणोंकी प्रगति किस प्रकार होती है ? और प्राणायाम कैसे किया जाता है—इन विषयोंकी चर्चा योगवासिष्ठमें खूब विस्तारसे की गयी है (६ । २४ । ८-३८, ६ । २५ । ३-६०)। यहाँपर स्थूलभावसे केवल उन उपायोंकी गणनामात्र कराते हैं जिनसे कि योगवासिष्ठानुसार प्राणका स्पन्दन रुक जाता है। वे ये हैं—वैराग्य,

परम कारणका ध्यान, व्यसनक्षय, निरोधकी विशेष युक्ति, परमार्थज्ञान (५ । १२ । ८५), शास्त्र और सज्जनोंका सङ्ग, वैराग्य और अभ्यास, सांसारिक प्रवृत्तियोंसे मनको हटाना (५ । ७८ । १८), इच्छित वस्तुका ध्यान, एक तत्त्वका अभ्यास (५ । ७८ । १९), दुःख हरनेवाले पूरकादि (पूरक, कुम्भक और रेचक) प्राणायामोंका गहरा अभ्यास, एकान्तमें ध्यान (५ । ७८ । २०), ॐकारका उच्चारण करते-करते शब्द-तत्त्वकी भावना, संविद्‌को सुषुप्तिमें लाना (५ । ७८ । २१), रेचकके अभ्याससे प्राणको आकाशपर्यन्त विस्तृत करना (५ । ७८ । २२), पूरकके अभ्याससे मेरुके समान स्थिर हो जाना (५ । ७८ । २३), कुम्भकके अभ्याससे प्राणका स्तम्भित करना (५।७८। २४), तालूमूलपर स्थित घण्टीको जिह्वासे यत्नपूर्वक दबाकर ऊर्ध्वरन्ध्रमे प्राण ले जाना (५ । ७८ । २५), संवित्‌को शून्य आकाशमे, जहाँपर कोई कलना नहीं है, ले जाकर शान्त करना (५ । ७८ । २६), नासाग्रसे द्वादशाङ्गुलपर बाहर शुद्ध आकाशमें संवित्‌को लीन करना (५ । ७८ । २७), भ्रुवोंके मध्यमें दृष्टि लीन करके शुद्ध चेतनमें स्थित होना (५।७८।२९), ऊर्ध्वरन्ध्रमें प्राण ले जाकर तालूसे बारह अङ्गुल ऊपर प्राणको शान्त करना (५ । ७८ । २८), जिसमें ज्ञानका उदय हो जाय, ठीक उसी समय उसमें दृढ भावसे निश्चित होना और किसी भी विकल्पसे विचलित न होना (५ । ७८ । ३०), चिरकालतक जिस पदार्थकी वासना रही हो उसकी शून्य भावनासे मनको वासनारहित करके क्षीण करना और और शुद्ध संवित्‌में ध्यान लगाना (५ । ७८ । ३१)। इनके सिवा प्राणनिरोधकी और भी अनेक युक्तियाँ हैं जो नाना देशोंमें प्रचलित हैं और अनेक गुरुओंद्वारा बतायी गयी हैं (५ । ७८ । ३९)। इस प्रकार प्राण-निरोधके अभ्याससे प्राणका लय होनेपर मनकी क्रिया शान्त हो जाती है और निर्वाणपद ही शेष रह जाता है (५ । ७८ । ४६)।

प्राणविद्याके अतिरिक्त योगवासिष्ठमे कुण्डलिनी-विद्याका भी विस्तारपूर्वक वर्णन है (६ । ८० । ३६–४८, ६/१ । ८१ । १–९, ६/१ । ८१ । ६२–७३, ६/१ । ८२ । २–१३, ६/१ । ८० । ३१–३५, ६/१ । ८१ । ४५–५६, ६/१ । ८२ । २९–३३)। कुण्डलिनी-विद्याका ज्ञान होनेपर कुण्डलिनी शक्तिको जाग्रत् करके उसके द्वारा योगी अनेक प्रकारकी सिद्धियाँ प्राप्त कर सकता है।

योगकी सात भूमिकाएँ

संसारके अनुभवसे मुक्ति पाने और परमानन्दका अनुभव प्राप्त करनेके योग नामक मार्गकी योगवासिष्ठके अनुसार सात भूमिकाएँ हैं। जो जीव प्रयत्नशील होते हैं वे उन सबको थोड़े ही समयमें पार कर लेते हैं और जो अधिक प्रयत्नशील नहीं होते उनको जन्म-जन्मान्तर लग जाते हैं। इन भूमिकाओंका वर्णन योगवासिष्ठमें कई स्थानोंपर (३ । ११८, ६/१ । १२०, ६/१ । १२६) आया है। एक स्थानपर उनका संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है। ज्ञानकी सात भूमिकाएँ हैं—१–शुभेच्छा, २–विचारणा, ३–तनुमानसा, ४–सत्त्वापत्ति, ५–असंसक्ति, ६–पदार्थाभावनी और ७–तुर्यगा। इन सातोंके अन्तमें मुक्ति है जिसको प्राप्त कर लेनेपर कोई दुःख नहीं रहता (३ । ११८ । ७)।

१—शुभेच्छा–संसारसे वैराग्य हो जानेपर जब मनुष्य अपनेको अज्ञानी समझकर शास्त्र और सज्जनोंकी सङ्गति करके सत्यका ज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छा करता है, उस अवस्थाका नाम शुभेच्छा है (३ । ११८ । ८)।

२—विचारणा–शास्त्र और सज्जनोंके सम्पर्कसे और वैराग्य और अभ्याससे सदाचारमें जब प्रवृत्ति होती है, उस अवस्थाका नाम विचारणा है (३ । ११८ । ९)।

३—तनुमानसा–शुभेच्छा और विचारणाके अभ्याससे इन्द्रियोंके विषयोंमें असक्तता होनेसे मनके सूक्ष्म हो जानेका नाम तनुमानसा है (३ । ११८ । १०)।

४—सत्त्वापत्ति–पूर्व तीनों भूमिकाओंके अभ्याससे और चित्तके विषयोंसे पूर्णतया विरक्त हो जानेपर सत्य आत्मामें स्थित हो जानेका नाम सत्त्वापत्ति है(३।११८।११)।

५—असंसक्ति–चारों भूमिकाओंके परिपक्व हो जानेपर जब पूर्णतया मनमें असक्ति उत्पन्न हो जाती है और आत्मतत्त्वमें दृढ स्थिति प्राप्त हो जाती है तो उस अवस्थाका नाम असंसक्ति है (३ । ११८ । १२)।

६—पदार्थाभावनी–पूर्व पाँचों भूमिकाओंके अभ्याससे और आत्मामें निश्चल स्थिति हो जानेसे जब आन्तर और बाह्य वस्तुओंके अभावकी दृढ भावना हो जाती है उस स्थितिका नाम पदार्थाभावनी है। इसकी सिद्धि तब होती

है जब कि परमात्माकी सत्ता और पदार्थोंकी असत्ताका बहुत समयतक यत्नपूर्वक अभ्यास किया जाय (३ । ११८ । १३-१४) ।

७—तुर्यगा—पूर्व छः भूमिकाओंके अभ्याससे और पदार्थोंका अनुभव न होनेसे अपने असली स्वरूपमें निरन्तर स्थित रहनेका नाम तुर्यगा है । जीवन्मुक्त लोगोंको इस अवस्थाका अनुभव होता है । विदेहमुक्ति इस अवस्थासे परे है (३ । ११८ । १६) ।

गीतामें योगका स्वरूप

(लेखक—श्रीकृष्णप्रेमभिखारी)

जकल योगकी चर्चा सर्वत्र चल रही है परन्तु लोग बहुधा यह भूल जाते हैं कि योगका सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ गीता है । अवश्य ही पातञ्जल योगसूत्र, घेरण्डसंहिता, शिवसंहिता तथा अन्य ऐसे धर्मग्रन्थोंमें योगका वर्णन आया है, परन्तु उनमें गीता-जैसा न विस्तार ही है न प्रामाणिकता ही । वे सम्प्रदाय-विशेषके ग्रन्थ हैं । गीताजीके सामने तो सभी सम्प्रदायके आचार्योंने सिर झुकाया है और इसे प्रामाणिक माना है । गीता वेदान्तकी प्रस्थान-त्रयीमें एक है । कोई भी आचार्य, चाहे जिस सम्प्रदायका वह क्यों न हो, अपने विचारोंद्वारा तबतक कुछ भी प्रभाव नहीं डाल सकता जबतक उसके कथनका समर्थन गीता नहीं करती । केवल भारतवर्षके ही नहीं, अपितु संसारके समग्र उत्कृष्ट धर्मग्रन्थोंमें,—(ऐसे ग्रन्थोंकी संख्या बहुत अधिक नहीं है) जहाँतक मेरी बुद्धि जाती है, उच्च योगके सम्बन्धमें कुछ ही ऐसे ग्रन्थ मिलेंगे जो गीताके समकक्ष माने जायँ । यह तो निस्सन्देह कहा जा सकता है कि गीतासे बढ़कर योगविषयक कोई ग्रन्थ है ही नहीं । इसी परम उच्च योगके सम्बन्धमें बहुत पहले याज्ञवल्क्य मुनिने कहा था—'यह वह प्राचीन दुर्गम सँकरीला मार्ग है जो बहुत दूरतक फैला हुआ है ।'

इसमें सन्देह नहीं कि गीताका अभिप्राय योगकी शिक्षा देना है । आरम्भसे अन्ततक सभी अध्यायोंका नाम 'योग' दिया है और भगवान् श्रीकृष्णको 'योगेश्वर' कहा गया है । 'योग', 'योगी' और 'युक्त' शब्दका व्यवहार गीतामें शायद सबसे अधिक हुआ है और छठे अध्यायके ४६वें श्लोकमें तो 'योगी' को साधकोंमें सर्वोत्तम बतलाते हुए भगवान्ने अर्जुनको योगी बननेकी लिये आज्ञा दी है ।

परन्तु यहाँ एक कठिनाई उपस्थित होती है । योग-परम्परामें कई प्रकारके योगका उल्लेख मिलता है—जैसे ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग, राजयोग, हठयोग इत्यादि इत्यादि । इनमेंसे गीता किस योगका समर्थन करती है और किसे सर्वश्रेष्ठ मानकर इतनी प्रशंसा करती है ? इसके साथ ही एक और प्रश्न उपस्थित होता है । क्या गीता विभिन्न योगोंको समान मानती हुई किसीका भी अनुगमन श्रेयस्कर मानती है अथवा वह किसी एक 'योग' की शिक्षा देती है ? यदि गीतामें किसी योगविशेषकी शिक्षा है तो वह ऊपर लिखे हुए योगोंमें किससे मेल खाता है ?

गीताके भाष्यकारोंने इस प्रश्नको और भी उलझन और अन्धकारमें डाल दिया है । ज्ञान, भक्ति और कर्म—जिस मार्गमें उनकी अभिरुचि थी, अपने सम्प्रदायविशेष-के सिद्धान्तोंका प्रतिपादन करनेके लिये उन्होंने गीताका उसी प्रकार अर्थ करके स्वानुमोदित 'योग' की व्याख्या गीताद्वारा करायी है । परिणाम यह हुआ कि साधारण व्यक्ति भाष्यकारोंकी इस खींच-तानको अनुभव करते हुए इसी निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि गीता सभी प्रकारके योगोंका समानरूपसे आदर करती है और इस दशामें उत्तम यही है कि अपनी व्यक्तिगत रुचि और प्रवृत्तिके अनुसार किसी एक योगका अनुसरण किया जाय ! इसमें तो भाष्यकारों-की अपेक्षा वह साधारण व्यक्ति ही अधिक बुद्धिमान् निकला । परन्तु उससे भी अच्छी बात तो यह है कि राग-द्वेषसे रहित होकर, तथा अपने जन्मगत तथा संस्कार-गत अथवा स्वेच्छासे ग्रहण किये हुए सम्प्रदायका आग्रह छोड़कर अपनी अन्तर्दृष्टि (Intuition) से मूलग्रन्थका अनुशीलन किया जाय । इस अन्तर्दृष्टिकी शक्तिके सम्बन्धमें प्लॉटिनस (Plotinus) का कथन है कि 'यह एक ऐसी शक्ति है जो प्राप्त तो सभीको है, परन्तु जिसका उपयोग

कम ही लोग करते हैं।' (a faculty which all possess but few use) यह एक ऐसी शक्ति है जो व्यवहारमें लानेसे अधिकाधिक बढती है और चुपचाप छोड़ देनेसे घट जाती है।

नीचेकी पङ्क्तियोंमें जो कुछ निवेदन किया जा रहा है उसमें युक्तियुक्तताके अतिरिक्त और कोई प्रमाण नहीं है। मैंने व्यक्तिगत अनुभवोकी पुस्तकें देखी हैं और शास्त्रीय दलीलोंकी अपेक्षा उनसे मुझे बहुत लाभ हुआ है। मैंने इस लेखमे उस रीतिसे काम नहीं लिया है जिसके द्वारा किसी पुस्तक या कई पुस्तकोंमे समन्वय स्थापित करनेकी दृष्टिसे ही शब्दोके अर्थमें तोड़-मरोड़ और खींचातानी की जाती है। यह तो स्पष्ट ही है कि गीताका घनिष्ठ सम्बन्ध उपनिषदों, महाभारत और सम्भवतः ब्रह्मसूत्रों*से है। अस्तु, कोई कारण नहीं कि इन ग्रन्थोंके अतिरिक्त अन्यान्य ग्रन्थोंसे भी गीताका बलात् समन्वय स्थापित किया जाय।

गीताके अठारह अध्याय तीन भागोंमे विभक्त हैं— और प्रत्येक विभागमे छः अध्याय हैं। यदि ध्यानसे देखा जाय तो यह स्पष्ट दिखायी देगा कि प्रत्येक छः अध्यायोंमें एक नवीन उपदेश है। पहले छः अध्यायोंमें भगवान् श्रीकृष्णने प्रायः पाँच प्रकारकी साधनाप्रणालीका वर्णन किया है जो उपर्युक्त योग-साधनाके एक-न-एक अङ्गसे मेल खाता है। अगले छः अध्यायोंमें भगवान्ने अपने उपदेशका मूल अथवा गीताका हृदय खोलकर रख दिया है और अपने शिष्यको दिव्य दृष्टि प्रदान की है। अन्तके छः अध्यायोंमें भगवान् श्रीकृष्णने कुछ विशिष्ट और दुरूह सिद्धान्तोंकी मीमांसा की है जिन्हे समझना योगको पूर्णतः व्यवहारमे लानेके लिये अत्यन्त आवश्यक है। कुछ और विस्तारसे देखे तो दूसरे अध्यायमे साख्ययोगकी प्रणालीका विशद वर्णन है। इसका सम्बन्ध सीधे ज्ञानयोगसे है, परन्तु इसे पीछे लिखी हुई ईश्वरकृष्णकी सांख्यकारिकासे मिलाना ठीक न होगा। बहुतोने ऐसा ही किया है, परन्तु वैसा करना ठीक नहीं है। गीतोक्त साख्ययोग आजकलका वेदान्तीय ज्ञानयोग भी नहीं है। उसकी व्याख्या तो महाभारतमें ही मिलेगी जिसमे कई प्रकारके सांख्यकी समीक्षा की गयी है और जिसके द्वारा ही गीतामे प्रयुक्त 'सांख्य' शब्दका अर्थ खुलेगा। यहाँ हमारा अभिप्राय इतना ही प्रकट करनेसे है कि गीतोक्त सांख्ययोग ऐसा योग है जो तत्त्वज्ञानके द्वारा प्राप्त होता है और जिसमें पूर्ण नैष्कर्म्य होता है।

तीसरे अध्यायमें कर्मयोगका विषय है। यहाँ फलेच्छाको त्यागकर विहित कर्मको कर्त्तव्यके रूपमे करनेका आदेश है। चौथे अध्यायका नाम है ज्ञानयोग। पाँचवें अध्यायमे सन्यासद्वारा योगसाधनकी बात कही गयी है। छठा अध्याय, जिसका नाम 'अभ्यासयोग' है (कहीं-कहीं इस अध्यायका नाम 'ध्यानयोग' अथवा 'अध्यात्मयोग' भी मिलता है), प्रायः उन्हीं बातोंका विवेचन करता है जो 'राजयोग' में आती हैं।

यहाँ एक बात विशेषरूपसे ध्यान देनेकी है कि चौथे अध्यायके आरम्भमे भगवान् श्रीकृष्ण उस योगको जिसकी वह शिक्षा दे रहे हैं, 'अव्यययोग' कहते हैं, (इमं योगं अव्ययम्) और यह भी बतलाते हैं कि हम ही इस योगके आदि विधायक हैं। इसके अनन्तर उन्होंने इस योगके आचार्योंकी अत्यन्त पुरातन परम्परा भी बतला दी है। यहाँ यह स्मरण रखनेकी बात है कि भगवान्ने इस स्थलपर एक ही अव्यययोगकी बात कही है, न कि विविध योगोंकी। यह योग केवल इसी अध्यायमें नहीं है, क्योंकि इसी अध्यायके तीसरे श्लोकमे भगवान्ने कहा है कि पहले जो कुछ भी हम कह आये हैं वह सब इसमें है।

सबसे अर्थपूर्ण श्लोक, इस सम्बन्धमें, इस अध्यायका दूसरा श्लोक है जिसमें यह बात कही गयी है कि वही अव्यय पुरातन योग दीर्घ कालके पश्चात् इस ससारमे क्षयको प्राप्त हुआ और गुरु-शिष्य-परम्परासे क्षय होते-होते नष्ट हो गया। यह उक्ति मेरे विचारमें बडे ही महत्त्वकी है, क्योंकि इससे यह मालूम होता है कि जिस योगकी शिक्षा सनातन श्रीकृष्णने विवस्वान्को दी थी वह योग सबका समावेश करनेवाला एक ही योग था। वह केवल 'योग' था, उसमे और कोई ऐसा विशेषण नहीं था जैसे विशेषण आजकल 'योग' शब्दमे आकर जुटे हैं। गुरु-शिष्य-परम्परासे यह योग ज्यों-ज्यो आगे चला त्यों-त्यों उसमें शाखा-प्रशाखाएँ फूटने लगीं, क्योंकि भिन्न-भिन्न शिष्योंके भिन्न भिन्न स्वभाव और अधिकार होनेसे एक ही योगकी अङ्गभूत अनेक बातोंमेसे किसीको कोई बात रुचने अच्छी लगी तो किसी दूसरेको कोई दूसरी बात। अपनी-

* गीता अ० १२, श्लोक ४ पर शाङ्करभाष्य देखिये।

अपनी समझ और स्वभावके अनुरूप किसीने ज्ञानको प्रधान माना तो किसीने भक्तिको और किसीने कर्मको, क्योंकि किसीमें सिरकी प्रधानता हुई तो किसीमें हृदयकी और किसीमे हाथोकी। इस प्रकार एक ही सर्वव्यापी योगके अनेक टुकडे हो गये और ये टुकड़े एक-एक योग बन बैठे। ऐसे आंशिक योग अच्छे होनेपर भी हैं एक-देशीय ही और उनसे आत्माकी समृद्धि और विविधतामे कुछ-न-कुछ ठेस लगती है।

यह जो योगका टुकड़े-टुकड़े हो जाना है इसीको भगवान् श्रीकृष्ण इस रूपमें कहते है कि वह योग नष्ट हो गया, (क्योंकि बात भी यही है कि उनके समयमें इन एकदेशीय योगोंके आचार्योंकी भरमार थी, जैसा कि गीतासे ही प्रकट होता है) और इन सब एकदेशीय योगोंको एक योगशिक्षा-में समन्वित करके वही पुरातन अव्यय योग अर्जुनको शिक्षा देते हुए पुनः स्थापित कर रहे हैं और वही योग गीताकी मुख्य शिक्षा है और वह विशेष करके द्वितीय षट्कमें है।

सबसे पहले अब यह देखें कि पहले छः अध्यायोंमें जिन एकदेशीय योगोंका वर्णन हुआ है उनको भगवान् कैसे निपटाते हैं। पहले अध्यायको तो छोड़ दीजिये, इसलिये नहीं कि 'इसमें कुछ नहीं है'—इसमें बहुत कुछ है, पर यहाँ जिस विषयकी चर्चा चल रही है उसके साथ पहले अध्यायका कोई सम्बन्ध नहीं है। दूसरे और तीसरे अध्यायमें, और फिर अन्यत्र भी श्रीकृष्ण बड़े यत्नके साथ (कर्म-)योगियोंके निष्काम कर्मके साथ सांख्योंके निष्कर्म तत्त्वज्ञानको मिला रहे हैं और यह बतला रहे हैं कि 'सांख्य और योग पृथक्-पृथक् हैं, ऐसा बालक कहा करते हैं, पण्डित नहीं।' इससे भी बढ़कर बात यह है कि प्रत्येक अध्यायके अन्तमे भगवान् इन दोनों योगपद्धतियोंको पूर्ण करनेके लिये अपने-आपको परमेश्वर बतलाकर अपनी ओर ध्यान दिलाते हैं, क्योंकि इसके बिना योग अपूर्ण ही रह जाते हैं। यथा, द्वितीय अध्यायके ५०वें और ६१वें श्लोक-मे भगवान्के दर्शन करने और भगवत्परायण (मत्परः) होनेकी बात विशेषरूपसे कही गयी है और इसे सांख्योंके तत्त्वज्ञानमे जोड़कर उसे पुष्ट किया गया है, अन्यथा इसकी उस तत्त्वज्ञानमें उपेक्षा-सी ही थी। कर्मयोगियोंको भी यह बात याद दिलायी गयी है कि केवल कर्तव्य कर्म करना ही पर्याप्त नहीं है—कर्तव्य भी किसको कहेंगे?—यह बड़ा ही सन्दिग्ध शब्द है जिसकी व्याप्तिका कोई ठिकाना नहीं अथवा शास्त्रोक्त नित्य-नैमित्तिक कर्म ही केवल इसका अर्थ हो जाता है। इसलिये केवल कर्तव्यका भाव होनेसे ही काम नहीं चलता, उसमे ईश्वरार्पणबुद्धि होनी चाहिये, यह बात गीताने जोड़ दी है (मयि सर्वाणि कर्माणि सन्यस्य)।

चौथे अध्यायके ज्ञानियोंको यह बात याद दिलायी गयी है कि भगवान्के दिव्य जन्म-कर्मका ज्ञान होना आवश्यक है और ज्ञानियोंको फलासक्तिरहित होनेपर भी और इस रूपसे सूक्ष्मतया कर्मरहित होनेपर भी कर्ममें प्रवृत्त होना चाहिये (कर्मण्यभिप्रवृत्तः)। ज्ञानियों-के ज्ञानकी परिसमाप्ति भी यही बतलायी गयी है कि सब जीव भगवान्के अन्दर दीखने लगें। पाँचवें अध्यायके सन्यासयोग-मार्गियोंको भी यह सीखना है कि सन्यास कर्मका नहीं बल्कि कर्मफलका होना चाहिये, और फिर अन्तिम श्लोकमे उन्हीं 'सुहृद सर्वभूतानाम्' भगवान्की बात आती है।

अन्तमें, छठे अध्यायमें राजयोगीको यह बात बतायी जाती है कि जिस आनन्दकी खोजमें राजयोगी है वह आनन्द श्रीकृष्णमें मिलता है (श्लोक १५) और फिर एक बार योगका अन्त दिखाया जाता है श्रीकृष्णके दर्शनमे (श्लोक ३० और ३१) जो प्राणिमात्रके हृदयमें विराज रहे हैं, जिनके बिना योग अपने ही सुखकी खोजका स्वार्थभरा धन्धा हो जाता है जिसमें दीन-दुखी प्राणियों-का आर्त्तनाद भी नहीं सुनायी देता। इस प्रकारका भीतरी स्वार्थ जो कैवल्यप्राप्तिसे केवल अपने ही दुःखका अन्त चाहता है, सामान्य प्रकारके राजयोगके मार्गमें बड़ा भारी भय है, राजयोगी इस गड़हेमें न गिरे, इसलिये श्रीकृष्ण अपने-आपको इस योगका केन्द्र और हृदय माननेकी आवश्यकता बतलाते हैं। कारण, जब यह बात समझमें आवेगी कि श्रीकृष्ण सब प्राणियोंके भीतर हैं तब योगीसे दूसरोंके दुःखकी उपेक्षा और केवल अपने ही मोक्षकी चिन्ता न बन पडेगी।

इस प्रकार अपने पुराने सनातन योगके विच्छिन्न अङ्गोंको फिरसे जोड़कर भगवान् आगेके छः अध्यायोंमें यह बतलाते हैं कि किस प्रकारसे भगवान्का यह मूल-सूत्रात्मक और समन्वय-साधक ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है तथा उस ज्ञानका क्या लक्षण है, क्योंकि उस ज्ञानका

लक्षण केवल यह जानना ही नहीं है कि द्वापरके अन्तमें भगवान् मनुष्यरूपमें पृथ्वीतलपर अवतीर्ण हुए और वह पीताम्बर पहने और पीतपट ओढ़े थे। इसलिये अब वह इस ज्ञानको बतलाना इन अर्थपूर्ण शब्दोंके साथ आरम्भ करते हैं—

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु॥

'हे पार्थ! मुझमें मन लगाकर और मेरा ही आश्रय करके योगमे लगकर तुम जिस प्रकार मुझे निःसशय समग्ररूपसे जानोगे वह (अब) सुनो।'

यह मुख्य और अखिल महत्त्वपूर्ण ज्ञान ऐसा है 'जिसे जाननेके बाद कोई बात ससारमे जाननेकी नहीं रह जाती,' यही बात ७ वें और ८ वें अध्यायमें समझायी गयी है। यह ज्ञान कितना दुर्लभ है इसका कथन (अ०७, श्लोक ३ और १९), भगवान्के भक्तोंके प्रकार, अपनी प्रकृतियोंके साथ उनका सम्बन्ध, उनका मन्त्र, उनका परमधाम और उसका रास्ता, ये सब बातें सुस्पष्टरूपसे कही गयी हैं। बड़े सीधे-सादे शब्द हैं, पर उनके भीतर अथाह-सी गहराई है जो ऊपरी दृष्टिमे नहीं आती।

यह परम ज्ञान, जिसे भगवान् राजगुह्य कहते हैं, इसके बादके अध्यायमे भी आगे चला है। इसे स्पष्ट ही 'गुह्यतम' कहा गया है और इसका वर्णन करनेमे भगवान्को श्लोक ४ और ५ मे परस्पर विरुद्ध-सी बात विवश होकर कहनी पड़ी है। इससे यह मालूम होता है कि यह ज्ञान केवल बौद्धिक ज्ञान नहीं है बल्कि कोई ऐसा ज्ञान है जो आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टिसे ही धारण किया जा सकता है। दूसरे श्लोकमें भी एक ऐसा ही अर्थपूर्ण शब्दप्रयोग है। वह है 'प्रत्यक्षावगमम्' अर्थात् 'प्रत्यक्ष जाननेयोग्य'। इस शब्द-प्रयोगका महत्त्व असाधारण है। यह इस बातको घोषित करता है कि यह अमूल्य ज्ञान, यह राजविद्या, कोई अन्धश्रद्धाकी बात नहीं है जो आँख मूँदकर मान ली जाय, बल्कि जो कोई इस रास्तेपर चलेगा वह इसे प्रत्यक्ष देख और अनुभव कर सकेगा। यह कथन केवल सत्यका ही कथनमात्र है और यह मनुष्यकी स्वतन्त्रताका दिव्य अधिकारपत्र है जिसके सामने केवल विश्वासका धन्धा करनेवाले सम्प्रदायोंकी कूपमण्डूकता कहीं टिकने नहीं पाती और जो 'मरे हुओं' को भी [illegible] पुकारता और कहता है, 'जागो, उठो और इस रास्तेपर चलो, क्या कब्रमें गड़े पड़े हो!'

फिर देखिये, अध्यायके अन्तमे वह महान् श्लोक (अ० ९। ३४) जो गीताका एक ही श्लोक है जो गीतामे (कुछ नहींसे अन्तरके साथ) दो बार आता है। पर इसके बारेमें पीछे कहेंगे।

दसवें अध्यायका महत्त्व अर्जुनके १७ वें श्लोकवाले प्रश्नसे प्रकट होता है। अर्जुन पूछता है कि सर्वव्यापक भगवान्का ज्ञान मैं कैसे जानूँ और किन-किन उपायोसे मैं उनका ध्यान करूँ और श्रीकृष्ण उत्तर देते हुए अन्तरात्माकी अन्तर्दृष्टिको जगानेका उपाय बतलाते हैं और इस प्रकार अपने शिष्यको वह महान्, उत्तुङ्ग, व्यापक और आश्चर्यजनक दृश्य देखनेके लिये तैयार करते हैं जो इसके बादके अध्यायमे उसकी आश्चर्यभरी दृष्टिपर आ गिरता है जैसा कि आज भी इस पथके पथिकोकी चकित दृष्टिपर, ठीक समयसे, ऐसा दृश्य आया करता है।

इस भीषण अनुभवके बाद अर्जुनकी घबराहट जब दूर हुई तब बारहवें अध्यायमें भगवान्ने उसे भक्तितत्त्वामृत पान कराया। यह भक्तितत्त्व इस अध्यायके पूर्व भी सब अध्यायोंमें, दूधमें मक्खनरूपसे, रहा है और यहाँ वह मक्खन ही निकालकर आगे रक्खा गया है। भक्ति कैसी होती है और उसके क्या-क्या लक्षण हैं, इसका सुस्पष्ट वर्णन तेरहवें श्लोकसे अन्ततक किया गया है। जो कोई भक्ति करना चाहते हों वे इस वर्णनको मननपूर्वक पढ़ें और उस सच्ची भक्तिको सीख ले जो भक्ति नामसे कभी-कभी पुकारी जानेवाली फेनिल भावुकतासे सर्वथा भिन्न वस्तु है। एक और महापुरुषने ठीक ही कहा है कि 'प्रभु! प्रभु! चिल्लानेवाला हर कोई इस राज्यमें प्रवेश न कर सकेगा, वही प्रवेश करेगा जो वैकुण्ठधामवासी मेरे पिताकी इच्छाके पीछे चलेगा।'

योग बता दिया, अन्तश्चक्षु खोल दिया, विराट्-दर्शन भी करा दिया। सब कुछ हुआ, अब कुछ संकेत बताना रह गया जिनसे शिष्य बताये मार्गसे चल सके और दिये ज्ञानका अभ्यास कर सके। अन्तके छ अध्याय इसी कामके लिये हैं। और केवल अठारहवें अध्यायके अन्तमें मुख्य प्रतिपाद्य विषय उपसंहाररूपसे आता है। संक्षेपसे, पर कभी न [illegible] मुख्य

बातें सारांशरूपसे कही है और तब अपनी सम्पूर्ण शक्तिके साथ एक छोटे-से श्लोकमे अपने सम्पूर्ण मार्गका सारतत्त्व, अपने उपदेशका महावाक्य बता दिया है—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥

'मेरे मनमें अपना मन मिला दो, मेरे भक्त हो जाओ, मेरा यजन करो, मुझे प्रणाम करो। मैं तुम्हें वचन देता हूँ कि मुझको ही प्राप्त होगे, क्योकि तुम मेरे प्रिय हो।'

हम सब प्रायः गीताके श्लोकोंको अपनी कल्पनाओंके अनुरूप घुमा-फिरा लिया करते हैं। कुछ लोगोका यह दावा है कि गीताका सारतत्त्व दूसरे अध्यायके पचासवें श्लोकके 'योगः कर्मसु कौशलम्' (योग नाम है कर्ममें जो कुशलता है उसका), इन्हीं शब्दोमे आ गया है। कुछ दूसरे लोग यह बतलाते हैं कि गीताका महावाक्य तीसरे अध्यायका सतरहवाँ श्लोक है। पर सच पूछिये तो भगवान्‌के शब्द इतने स्पष्ट हैं कि कहीं कोई युक्तियुक्त सन्देह रह जानेकी कोई गुजाइश ही नहीं है। ऊपर जो श्लोक दिया हुआ है उसकी यह बात है कि यही श्लोक राजगुह्यवाले अध्यायके अन्तमें प्रायः इसी रूपमें आया है और फिर सम्पूर्ण उपदेशके पश्चात् यही श्लोक इस भूमिकाके साथ आता है कि अब हम तुमसे 'परम वचः' कहते हैं। इससे तो बात इतनी स्पष्ट हो जाती है कि शकाके लिये कोई स्थान ही नहीं रहता। इस श्लोकमे सम्पूर्ण योगका सारतत्त्व—भगवान्‌की शिक्षाका सारा मर्म आ गया है। इसे हम अच्छी तरहसे समझ लें, क्योकि इसमें सबका सारांश है।

मनुष्यका स्वभाव त्रिविध है—बौद्धिक, भावुक और कर्मशील—मस्तिष्क, हृदय और हाथ। ये तीन अग सभी मनुष्योंमे होते हैं, किसीमें किसी अगका विकास कम और किसीका अधिक होता है और किसी-किसीमें तो इनका परस्पर कोई सामञ्जस्य ही नहीं रहता—इतना बेहिसाब गठन इनका होता है। ये तीनों प्रायः सांसारिक पदार्थोंमें लगे रहते हैं। इन्हें बाह्य पदार्थोंसे निकालकर परमभावमें, परमप्रकाशमें, निष्कलक एकमेवाद्वितीयमें, स्वय सनातन श्रीकृष्णकी सेवामें लगाकर दिव्य बनाना होगा।

सबसे पहले भगवान्‌को जानना होगा, क्योकि मन-बुद्धि उनकी कर देना है (मन्मना भव)। यह पहली बात है, क्योकि उन्हें जाने बिना न तो उनसे प्रेम किया जा सकता है, न उनकी सेवा की जा सकती है और जैसा कि श्रुति कहती है, 'उनके ज्ञानके बिना सुखका कोई रास्ता नहीं है' (नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।)

दूसरी बात है उनसे प्रेम करना (मद्भक्तः), क्योंकि प्रेमरहित ज्ञान कोई ज्ञान नहीं। इसलिये हृदयको दिव्य बनाना होगा और सिरको भी।

तीसरी बात है, कर्मरूपसे उनकी सेवा करनी होगी, क्योकि जिस प्रेमसे कर्मका स्रोत नहीं निकलता वह सच्चा प्रेम नहीं है। सब कर्मोंको उन भगवान्‌की सेवामें लगाकर यज्ञरूप बनाना होगा जो सब प्राणियोंमें निवास करते हैं और जो हजारों, लाखों शरीरोंके हृदयोंमे बैठकर उनके आकाश-पाताल एक करनेवाले हृदयद्रावक आर्तनाद सुना करते हैं और अपनी पक्षपातरहित दृष्टिसे यह देखा करते हैं कि कौन है वह मेरा भक्त बननेकी इच्छा करनेवाला जो इस सेवाके लिये तैयार खडा है। इसमें कोई सन्देहकी बात नहीं है कि जङ्गलका कोई दीन वन्य पशु अपने बच्चोका मारा जाना देखकर जो रोता है वह यथार्थमे वह नहीं रोता, भगवान् हृदयमे बैठे उस कृत्यको अकित करते हैं और समयके पूरा होनेपर मारनेवालेको उसका बदला चुकाते हैं।

अन्तमें यह आज्ञा है कि भगवान्‌के चरणोंमें प्रणाम करो, अपना आपा—अपना हर तरहका अहकार निकालकर फेंक दो और उनके चरणोकी धूलमे लोट जाओ, क्योकि प्रणामका वास्तवमे यही अर्थ है, मन्दिरोंमें जाकर केवल बाह्य प्रणाम करना नहीं। आपा छायामात्र भी न रह जाय, यदि हम उनके पास पहुँचना चाहते हैं।

यही गीताका हृदय है, योगोंका योग है और जैसा कि हमलोग देख चुके, यह वह योग है जो मानव प्रकृतिके सब अगोंको एक सूत्रमे ले आता है। इसके बिना योग क्या? ऐसा विकास किस कामका जिसमें सब अगोंका सामञ्जस्य न हो? सभी अग शुद्ध, पवित्र और दिव्य बनें। इसपर यदि कोई कहे कि यह बड़ा कठिन और दुर्गम रास्ता है तो इसका उत्तर यह है कि इसके सिवा और कोई रास्ता नहीं है, क्योकि भगवान् श्रीकृष्ण स्वय ही बतलाते हैं कि 'अनेक जन्मोंके पश्चात् ज्ञानी पुरुष मेरे पास आता है।' अभी या पीछे सबको इसी 'दुर्गं पथम्' पर—इसी 'क्षुरस्य धारा निशिता' पर चलना होगा। हाँ, इतनी निश्चिन्तता तो है कि चलते हुए पाँवोंसे चाहे कितना ही रक्त निकले

और हृदयका साहस टूटे, इसमे सन्देह नहीं कि भगवान् सदा हमारे पार्श्वमे हैं—'हमारे श्वासोच्छ्वाससे भी अधिक पास, हाथ-पैरोंसे भी अधिक समीप' है और अज्ञात आरम्भसे लेकर अनन्त अन्तवाले इस लम्बे रास्तेपर एक क्षणके लिये भी हमें कभी अकेला नहीं छोड़ते।

६६ वें श्लोकपर मैंने कुछ नहीं लिखा। इसका कारण यह है कि इसका अर्थ और कोई नहीं समझता, सिवा उन लोगोंके जो उच्च स्थितिको प्राप्त हो चुके हैं और इसलिये मैं उस अत्युज्ज्वल प्रतिज्ञाको अपने दुर्बल वचनोंसे मलिन नहीं करना चाहता।

गुरुजनोंको प्रणाम, प्रणाम उन मुनिजनोंको जो उस पार हैं, प्रणाम उन लोगोंको जिनका ज्ञान संसारको आलोक दिखाता है, और जिनके चरणोंमें जो कुछ सत्य इन शब्दोंमे हो वह सादर समर्पित है।

गीतामें योगके अनेक अर्थ

(लेखक—दीवानबहादुर के० एस० रामस्वामी शास्त्री बी० ए०)

हिन्दूतत्त्वज्ञान और हिन्दूजीवनमें 'योग' शब्द सर्वत्र व्यावृत है। श्रीमद्भगवद्गीताके अन्तिम श्लोकमें भगवान् 'योगेश्वर' कहे गये हैं। जिन मंगलमय शब्दोंमे भगवान्‌का वर्णन किया जा सकता है, ऐसे सब शब्द गीताके दसवें अध्यायमे अर्जुनके 'पर ब्रह्म पर धाम' आदि भगवदावाहनमें बड़े ही आश्चर्यजनक ढंगसे एकत्र हो आये हैं। इस आवाहन-स्तुतिसे अधिक उदात्त या आकर्षक स्तुति सम्पूर्ण साहित्यभरमें और कहीं भी नहीं है। इस स्तुतिका जो-जो कुछ अर्थ है, इससे जो-जो कुछ सूचित और ध्वनित होता है, वह सब एक 'योगेश्वर' शब्दमें आ जाता है। गीताके इस 'योगेश्वर' शब्दकी व्याख्या करना जितना कठिन है उतना ही गीताका योग क्या है, यह बतलाना कठिन है। दोनों ही काम कठिन ही नहीं, असम्भव हैं। तथापि दोनोंको जाननेका यत्न करना होगा, इसलिये नहीं कि यह प्रयास सफल होगा, बल्कि इसलिये कि इस प्रयासमे भी आनन्द है।

योगका आंतरतम महत्त्व इस बातमें है कि अनात्मकी प्रकृति और गति आत्माकी प्रकृति और गतिसे मूलतः ही सर्वथा भिन्न है। अनात्मा और आत्मा, भगवान् श्रीशङ्कराचार्य कहते हैं कि 'तमःप्रकाशवद्विरुद्धस्वभाव' वाले हैं। आंग्ल महाकवि वर्ड्सवर्थने इस विभिन्नताको, एक दूसरे ही ढंगसे, अपने ही मजेदार तरीकेसे प्रकट किया है। उनकी उस कविताका भावार्थ यह है कि 'पृथ्वी अपनी गोद अपने ही आनन्दोंसे भरती है, वत्सके प्रति उसकी उत्कण्ठा उसके अपने स्वभावके अनुरूप होती है और उसमे एक प्रकारका मातृभाव ही होता है, कोई अनुचित हेतु नहीं। यह धात्री अपने इस मानवरूप पोष्य पुत्रको, जैसे भी बनता है, पालती-पोसती है और इस तरह उस राजप्रासादको जहाँसे कि वह आया और उसके सुखोंको भुला देती है।' कवि फिर आगे कहते हैं, 'हमारा जन्म, एक प्रकारकी निद्रा और विस्मृति है। हमारा आत्मा हमारा जीवन-नक्षत्र जो हमारे साथ ऊपर उठता है, किसी अन्य स्थानसे चला है और बड़ी दूरसे आ रहा है।' अस्तु।

इस वैषयिक जीवनका वास्तविक रूप क्या है? क्षणभङ्गुरता ही उसका स्वरूप है, और अतृप्ति सदा उसके पीछे लगी रहती है।। सुखके ठीक मध्यतकमे दुःखका विष-बिन्दु होता ही है अथवा जैसा कि कीट्स कविने कहा है कि 'हर्षके मन्दिरतकमें विषादका गर्भमन्दिर होता है।' श्रीमद्भगवद्गीतामें श्रीभगवान् कहते हैं—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥
(५। २२)

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥
(९। ३३)

जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्॥
(१३। ८)

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
(२। २७)

परन्तु आत्मा तो अनन्त और सनातन, मुक्तत्वभाव और आनन्दस्वरूप है। इसी दिव्य प्रतिज्ञाके साथ गीता आरम्भ होती है और तब देहधारी जीवोंकी जो दो

प्रकारकी जीवनधाराएँ हैं—एक संसृतिसे संसृतिकी ओर ही ले जानेवाली निम्नधारा और दूसरी संसारके पार पहुँचानेवाली ऊर्ध्वगामिनी धारा—उनका और उनके कारण गुणोंका और फिर गुणोंके कारणस्वरूप अविद्याका विचार होता है।

मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि गीताके—

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा॥
(६।२३)

इस श्लोकमें परम योगेश्वर श्रीकृष्णने योगका सूक्ष्मातिसूक्ष्म सार भर दिया है। हमारे देहयुक्त जीवनमें दुःखका संयोग होता है। इसका जो वियोग है वही योग है। दुःखके संयोगके वियोगका ही नाम योग है। उसी योगमें आत्मा अपनी दिव्यताके साथ स्थित होता है। भगवान् उस स्थितिका इस प्रकार वर्णन करते हैं—

सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥
(६।२१-२२)

वह अनुभूति अवर्णनीय आनन्दकी स्थिति है। इन्द्रियोंकी वहाँतक पहुँच नहीं है, केवल बुद्धिके द्वारा ही उसका ग्रहण हो सकता है। वह परा गति है, सुख-दुःखके सर्वथा परे है।

योग शब्द युज् (समाधौ) से प्रायः साधा जाता है। इसका अर्थ है मिलन या योग अर्थात् दुःखसे वियोग और आनन्दके साथ योग। दार्शनिक भाष्यकार प्रायः अपनी पसन्द या प्रकृतिके अनुसार गीतामें किसी-न-किसी विशिष्ट एकदेशीय योगकी ही प्रधानता बताते हैं। परन्तु श्रीकृष्णने इस प्रकारका कोई एकदेशीय योग नहीं बताया है, और जो योग उन्होंने बताया है वह आरम्भमें दुर्गम और क्लेशकर प्रतीत हो तो भी शीघ्र ही सुगम और सुखकर हो जाता है और फिर अन्ततक ऐसा ही रहता है। यही कारण है कि 'इस लोकमें द्विविधा निष्ठा' (३।३) बतलाते हुए यह भी कह देते हैं कि दोनों मार्ग पहुँचते हैं एक ही स्थानको। (५।५)

साथ ही भगवान् यह भी कहते हैं कि कर्मकी समाप्ति आत्मस्थितिमें होती है—

सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥
(४।३३)

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा॥
(४।३७)

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥
(४।३८)

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति॥
(५।६)

कर्तव्यकर्मसे कोई कच्चे मनके साथ न भागे। मन जब परिपक्व होगा तब कर्म आप ही उससे छूट जायगा। परिपक्वता ही मुख्य है। (न कर्माणि त्यजेद्योगी कर्मभिस्त्यज्यते ह्यसौ।) भगवान् बारंबार गीताकी इस मुख्य शिक्षापर जोर देते हैं कि भगवत्प्राप्तिके साधनका सार मर्म वह अनासक्ति और भक्ति है जिससे कर्म नैष्कर्म्यको प्राप्त होता है। यज्ञ, दान और तपरूप कर्म चित्तशुद्धिके साधन हैं और सच्चा त्याग सङ्गत्याग और फलत्याग है।

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
(३।४)

न ह्यसंन्यस्तसङ्कल्पो योगी भवति कश्चन॥
(६।२)

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥
(१८।५)

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः॥
(१८।९)

इससे यह मालूम होता है कि गीताका योगमार्ग आत्म-मिलन, आत्मानुभव और आत्मरतिका मार्ग है और यह सम्पूर्ण मार्ग एक ही है और वह आनन्दका मार्ग है। उन लोगोंसे मेरा मतैक्य नहीं है जो कर्मयोगको कनिष्ठ और संन्यासयोगको श्रेष्ठ बताते हैं, अथवा जो यह कहते हैं कि कर्मयोगमें जो आनन्द है उससे संन्यासयोगका आनन्द श्रेष्ठ कोटिका है। हाँ, इस बातको मैं

अवश्य मानता हूँ कि 'स्वरूपेऽवस्थानम्' (आत्मस्वरूपमे स्थित) होना अनुभव और आनन्दकी पराकाष्ठा है। गीताका यह वचन है कि कर्मयोगमार्गमे भी शान्ति और आनन्दकी प्राप्ति है।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
(२।६४-६५)

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥
(२।७१)

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
(५।१२)

त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्॥ (१२।१२)

कर्मयोगका विवेचन करते हुए श्रीकृष्णने इस शब्दके दो और अर्थ प्रकट किये हैं। एक है, 'समत्व योग उच्यते' सिद्धि-असिद्धिमें सम रहना योग है, दूसरा और 'योगः कर्मसु कौशलम्' कर्ममें जो कौशल है वह योग है। यह कौशल क्या है? कौशल है वही अनासक्ति और भक्ति जिनसे बन्धनकारक कर्म मोक्षदायक कर्म हो जाता है और कर्म ज्ञान बन जाता है।

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥
(२।५१)

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥
(३।९)

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः॥
(४।२०)

आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय॥
(४।४१)

सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥
(५।७)

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥
(५।१०)

यहाँतक गीताके 'योग' शब्दके अर्थपर सामान्य विचार और कर्मयोगान्तर्गत 'योग' का विशेष विचार हुआ। कर्मयोग चित्तशुद्धिका साधन है'। भगवान् श्रीकृष्णके कर्मयोगमे पातञ्जलयोगदर्शनके वे यम और नियम सांगोपांग आ जाते हैं जिनसे 'चित्तप्रसादन' होता है, यमनियमसे यह कर्मयोग अधिक व्यापक है और फिर इसमे यह विशेषता है कि इसमें ईश्वरार्पणबुद्धि है जो योगसूत्रोंमे नहीं है। चित्तशुद्धिसे चित्तैकाग्र्य होता है जैसा कि गीताके छठे अध्यायमें कहा है। चित्तैकाग्र्यको प्राप्त योगी अन्तःसुख और अन्तर्ज्योतिको प्राप्त करते हैं। 'अन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः' (५।२४)। ऐसे पुरुषको श्रीकृष्ण योगी कहते हैं जो 'तपस्वियों, ज्ञानियों और कर्मियोंसे' श्रेष्ठ है और इसीलिये अर्जुनको उपदेश है कि, 'तस्माद्योगी भवार्जुन' (६।४६)।

वह कठिन राजयोगमार्ग जिससे सगुण ब्रह्मकी प्राप्ति होती है, गीताके ८ वें अध्यायमें वर्णित है। उससे अर्जुन चकित—स्तम्भित हो जाता है। इसलिये भगवान् सुगम सुखपूर्वक साध्य भक्तिमार्ग बतलाते हैं और इसीको राजविद्या कहते हैं। इस विद्याका सबको अधिकार है और इसमें स्वयं भगवान् ही हमारे ध्येय और ध्येयके पास पहुँचानेवाले मार्गदर्शक हैं। भगवान् भक्तियोगीको 'युक्ततम' बतलाते हैं—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥
(६।४७)

इसी योगमें १० वें अध्यायका विभूतियोग और ११वें का विश्वरूपदर्शनयोग सम्मिलित है। भगवान् कहते हैं कि अकेला भक्तियोगी ही परमात्माके इस विश्वरूपको देख सकता है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप॥
(११।५४)

यह भक्तियोग एक तरफ कर्मयोग और राजयोगसे और दूसरी तरफ अक्षर उपासना तथा ज्ञानयोगसे सम्बद्ध होता है। १२ वे अध्यायमें भगवान् कहते हैं कि अक्षर-उपासनासे भक्तियोग सुगम है और भक्त सदा सन्तुष्ट (सन्तुष्टः सततम्) रहता है (१२।१४) और भक्तियोगका मार्ग भी धर्म्य

और अमृत है (धर्म्यामृतमिदम्) (१२ । २०)। १३ वें अध्यायमें भक्तिको ज्ञानका एक अंग कहा है।

ज्ञानयोगमें जाकर भक्तिकी पूर्ण सार्थकता होती है। भगवान् कहते हैं कि कर्मकी परिसमाप्ति ज्ञानमें होती है (४ । ३३) और ज्ञानी ही आत्मा है (ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ७ । १८)।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥
उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥
बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥
(७ । १६-१९)

अद्वैतदर्शनका यह सिद्धान्त है कि जीवात्मैक्यबोध ही परम बोध है।

इस प्रकार गीतामें योगके अनेक अर्थ श्रीयोगेश्वरके द्वारा निरूपित हुए हैं। इस बातको यदि हमलोग समझें और तदनुसार चलें तो इससे अपना और राष्ट्रका भी उद्धार होगा। भगवान्‌की दया और हमारी ऊपर उठने और मोक्ष साधनेकी उत्कण्ठा, ये दो इस उद्धार-साधनमें मुख्य बातें हैं।

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥
(१८ । ७८)

गीतोक्त भक्तियोग वा प्रेमलक्षणा भक्ति

(लेखक—महामहोपाध्याय प० श्रीप्रमथनाथ तर्कभूषण)

श्रीमद्भगवद्गीताके १८ वें अध्यायके अन्तमें उपदेश समाप्त करते समय श्रीभगवान्‌ने कहा है—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥५४॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥५५॥

अर्थात् (ज्ञानलाभ होनेपर) ब्रह्मस्वरूप होकर जीव प्रसन्नात्मा हो जाता है, उसे शोक नहीं होता, किसी वस्तुकी अभिलाषा भी नहीं रहती, वह सब प्राणियोंके प्रति समत्व-बुद्धि-सम्पन्न हो जाता है; इस प्रकारका होकर वह, मुझमें पराभक्तिको प्राप्त करता है।

उस पराभक्तिके द्वारा ही वह, मेरा वास्तविक क्या स्वरूप है, और मेरी क्या महिमा है, इसे जाननेमें समर्थ होता है, तथा इस प्रकार मेरा वास्तविक तत्त्व समझकर,—उसके बाद—मुझमें प्रविष्ट हो जाता है।

इन दोनों श्लोकोंमें जिस 'भक्ति' शब्दका प्रयोग देखा जाता है, उसके अर्थका निर्णय करते हुए भगवत्पाद आचार्य श्रीशङ्करने कहा है—

एवम्भूतो ज्ञाननिष्ठो 'मद्भक्तिं' मयि परमेश्वरे भक्तिं भजनम्, पराम् उत्तमाम् ज्ञानलक्षणां चतुर्थीं लभते 'चतुर्विधा भजन्ते माम्' इत्युक्तम्।

"इस प्रकार ज्ञाननिष्ठ व्यक्ति 'मद्भक्ति' अर्थात् मुझ परमेश्वरकी परमा अर्थात् उत्तमा भक्तिको प्राप्त करता है, इस परमा भक्तिसे चतुर्थी भक्ति सूचित होती है, क्योंकि इसके पहले ही भगवान्‌ने कहा है—'चतुर्विधा भजन्ते माम्' अर्थात् आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी मेरा भजन करते हैं, उसके अनुसार ज्ञानीकी जो भक्ति है, वही चतुर्थी भक्ति है और वही उत्तमा है।" दूसरे श्लोककी व्याख्याके प्रसङ्गमें उन्होंने कहा है—

'ततो ज्ञानलक्षणया भक्त्या मामभिजानाति, यावानहमुपाधिकृतविस्तरभेदः, यश्चाहं विध्वस्तसर्वोपाधिभेदोऽभिमत उत्तमपुरुष आकाशकल्पस्तं मामद्वैतं चैतन्यमात्रैकरसमजरममरमभयनिधनं तत्त्वतोऽभिजानाति। ततो माम् एवं तत्त्वतो ज्ञात्वा, विशते तदनन्तरं मामेव। नात्र ज्ञानानन्तरप्रवेशक्रिये भिन्ने विवक्षिते, ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् इति। किं तर्हि? फलान्तराभावाज् ज्ञानमात्रमेव।'

"उसके बाद ज्ञान-रूप भक्तिके द्वारा मुझको प्रत्यक्ष-रूपसे जान सकता है, (अर्थात्) जितने प्रकारके उपाधिकृत भेदोंसे युक्त (होकर मैं जितने प्रकारका होकर रहता हूँ) एवं सब प्रकारकी उपाधिसे शून्य मैं अभिमत होकर रहता हूँ अर्थात् आकाशकल्प पुरुष, (अर्थात्) चैतन्यमात्र, एकरस, अभय, अजर, अमर और अद्वैत-स्वरूप—इस प्रकार मुझको ही जानकर वह तदनन्तर मुझमें ही प्रवेश कर जाता है। यहाँपर 'जानकर तदनन्तर प्रवेश कर जाता है'—इस प्रकार कहनेमें ज्ञान और अनन्तर प्रवेश—ये दो क्रियाएँ विवक्षित नहीं हैं। तो क्या है ? ब्रह्मज्ञानका दूसरा कोई फल न होनेके कारण यहाँपर केवल ब्रह्मका साक्षात् ज्ञान ही प्रतिपादित हुआ है।"

गीताके इन दो श्लोकोंमे प्रयुक्त भक्ति शब्दकी व्याख्या करते हुए मधुसूदन सरस्वती आदि प्रधान सुप्रसिद्ध टीकाकारोंने भी आचार्य शङ्करके मतका अनुसरण करते हुए कहा है कि अद्वैत ब्रह्मज्ञाननिष्ठा या चरम ब्रह्म-साक्षात्कार ही यहाँपर परमाभक्ति है। विस्तारभयसे हम यहाँ उनकी उक्तियोंको उद्धृत नहीं कर रहे हैं।

अद्वैतवादियोंके मतानुसार ब्रह्मसाक्षात्कार या ज्ञान-निष्ठा ही गीताका भक्तियोग है। यह भक्तियोग ज्ञानसे विलक्षण नहीं है, इस बातको आचार्य शङ्कर आदि अद्वैतवादी पूज्यपाद आचार्योंने एक स्वरसे स्वीकार किया है। किन्तु बंगालके 'प्रेमके ठाकुर' श्रीगौराङ्गदेवके मतानुयायी श्रीरूप गोस्वामिपाद आदि प्रधान गौड़ीय वैष्णव आचार्य गीताके इन दो श्लोकोंमें प्रयुक्त भक्ति शब्दका अर्थ 'निर्गुण ब्रह्मसाक्षात्कार-रूप भक्ति है' इसे स्वीकार नहीं करते, उनके मतमें यह पराभक्ति केवल ज्ञानरूपा भक्ति नहीं, बल्कि यही भगवद्गीतोक्त प्रेमाभक्ति है, यह प्रेमाभक्ति निर्गुण ब्रह्म ज्ञानकी चरम अवस्था नहीं है, बल्कि यह चिन्मात्रैकरस आनन्दघन सच्चिदानन्दविग्रह श्रीभगवान्के प्रति निष्काम प्रेमलक्षणा भक्ति है, इसीका दूसरा नाम है रागात्मिका भक्ति। गीताके ही एकादश अध्यायमें श्रीभगवान्ने और भी स्पष्ट रूपसे निर्देश किया है कि—

> भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
> ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप॥
> (११। ५४)

'हे परन्तप अर्जुन! अनन्य भक्तिके द्वारा ही मैं (अर्थात् परमेश्वर) इस प्रकार तत्त्वतः—परोक्ष और अपरोक्ष ज्ञानसे गोचर होता हूँ और फिर इस भक्तिके द्वारा ही भक्त मुझमें प्रविष्ट हो जाता है।'

यहाँपर भी भक्तिद्वारा श्रीभगवान्का परोक्ष और अपरोक्ष ज्ञान तथा भक्तका उसमें प्रवेश, ये तीनों क्रियाएँ स्पष्टरूपसे पृथक्-पृथक् हैं, अतएव अद्वैतमतके अनुसार इन कई श्लोकोंके 'भक्ति' शब्दकी व्याख्या करनेपर गीता-के मुख्य अर्थको छोड़कर लाक्षणिक अर्थ ही ग्रहण करना पड़ता है। भक्तावतार श्रीगौराङ्गदेवके मतानुयायी श्री-रूप गोस्वामिपाद प्रभृति प्रेमीभक्त आचार्यगण इसी कारण गीतोक्त इस भक्तिको 'अद्वैतवादसम्मत निर्गुण ब्रह्मका साक्षात्काररूप' भक्ति नहीं मानते।' वे कहते हैं कि इस भक्ति शब्दका अर्थ रागात्मिका या प्रेमलक्षणा भक्ति ही है।

इस परा या उत्तमा भक्तिका स्वरूप क्या है, इसे समझाते हुए श्रीरूप गोस्वामिपादने स्वप्रणीत 'भक्तिरसा-मृतसिन्धु' नामक सुप्रसिद्ध ग्रन्थमें जो कुछ कहा है, वह भी यहाँपर विशेषरूपसे ध्यान देने योग्य है। वह कहते हैं—

> अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
> आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥

'श्रीकृष्णसम्बन्धी अथवा श्रीकृष्णके निमित्त जो अनुकूल अनुशीलन (अर्थात् कायिक, वाचिक और मानसिक क्रिया) है, वही भक्ति शब्दका सामान्य अर्थ है। वह अनुकूल अनुशीलन ज्ञान और कर्मके द्वारा यदि अनावृत हो एवं श्रीकृष्णके अतिरिक्त अन्य सब वस्तुओंके प्रति स्पृहाशून्य हो तब उसे उत्तमा भक्ति कहते हैं।'

जो अनुशीलन अन्य सब वस्तुओंके प्रति स्पृहाहीन होनेके साथ ही आनुकूल्यसमन्वित अर्थात् केवल श्रीकृष्ण-विषयक स्पृहासे युक्त है, वही अनुशीलन उत्तमा भक्ति है, यह उत्तमा भक्ति प्रेमाभक्तिके सिवा और कुछ भी नहीं हो सकती, इसी सिद्धान्तका प्रतिपादन करते हुए श्रीरूप गोस्वामिपादने श्रीमद्भागवतके निम्नलिखित दो श्लोकोंका भी उल्लेख किया है—

> अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे॥
> सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत।
> दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥

स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृत ।

(श्रीमद्भागवत ३ स्कन्ध, २९ अ०, १० श्लोक)

भगवान् श्रीकपिलदेव माता श्रीदेवहूतिको सम्बोधन करके कहते हैं—

हे माता ! इस अहैतुकी (अर्थात् अन्याभिलाषिता-शून्य) और अव्यवहिता (अर्थात् ज्ञान और कर्मादिरूप आच्छादनरहित) मानसिक गतिरूपा भक्तिको जिन्होंने प्राप्त किया है वे भक्त मुझसे अन्य किसी फलकी इच्छा तो दूर रही; उनको यदि सालोक्य (मेरे साथ समान लोकमें वास); सार्ष्टि (मेरे समान ऐश्वर्य); सामीप्य (सर्वदा मेरे पास रहना); सारूप्य (मेरे समान रूप) अथवा एकत्व (मेरे साथ अभेद)—इन कई प्रकारकी मुक्तियोंमेंसे कोई-सी भी दी जाय तो उसे भी वे ग्रहण नहीं करते, प्रेमवश मेरी सेवाको ही वे परम पुरुषार्थ जानकर उसीके लिये प्रार्थना करते हैं । तथा मेरी सेवाके अतिरिक्त अन्य किसी वस्तुकी इच्छा नहीं करते ।

वह सेवा प्रीतिपूर्वक होनेपर ही 'आनुकूल्येन कृष्णानुशीलन' रूपा भक्ति होती है; यही है भक्ति शब्दका मुख्य अर्थ—यही श्रीरूप गोस्वामिपादने उक्त श्लोकके द्वारा सिद्ध किया है ।

इस प्रीतिके स्वरूपका प्रतिपादन करते हुए वैष्णवाचार्य श्रीजीव गोस्वामिपादने स्वप्रणीत 'षट्सन्दर्भ' ग्रन्थके प्रीति-सन्दर्भ प्रकरणमें जो कुछ कहा है, वह भी यहाँपर विशेष ध्यान देने योग्य है । उन्होंने कहा है—

'प्रीतिशब्देन खलु मुत्प्रमदहर्षानन्दादिपर्यायं सुखमुच्यते, भावहार्दसौहृदादिपर्यायप्रियताचोच्यते । तत्र उल्लासात्मको ज्ञानविशेषः सुखम् । तथा विषयानुकूल्यात्मकस्तदानुकूल्यानुगततत्स्पृहातदनुभवहेतुकोल्लासमयज्ञानविशेषः प्रियता । अतएवास्यां सुखत्वेऽपि पूर्वतो वैशिष्ट्यम् । तयोः प्रतियोगिनौ च क्रमेण दुःखद्वेषौ । अतः सुखस्योल्लासमात्रात्मकत्वादाश्रय एव विद्यते न तु विषयः । एवं तत्प्रतियोगिनो दुःखस्य च । प्रियतायास्तु आनुकूल्यस्पृहात्मकत्वात् विषयश्च विद्यते । एवं प्रातिकूल्यात्मकस्य तत्प्रतियोगिनो द्वेषस्य च । तत्र सुखदुःखयोराश्रयौ सुखदुःखभोगिनौ जीवौ । प्रियताद्वेषयोराश्रयौ प्रीयमाणद्विषन्तौ विषयौ च तत्प्रियद्वेष्यौ ।'

इसका संक्षिप्त तात्पर्य यह है कि—

'प्रीति' शब्दका अर्थ है 'सुख' और 'प्रियता', इनमें 'सुख' शब्दके और भी कई पर्यायवाची शब्द हैं । जैसे मुद्, प्रमद, हर्ष और आनन्द आदि । 'प्रियता' शब्दके भी कई पर्यायवाची शब्द हैं । जैसे भाव, हार्द और सौहृद प्रभृति । 'सुख' शब्द उल्लासरूप जो ज्ञानविशेष है, उसीको जनाता है । 'प्रियता' शब्द भी उल्लासरूप ज्ञानविशेषका ही यद्यपि बोध कराता है, तथापि यह उल्लासात्मक ज्ञानविशेष, विषयात्मक वस्तुके प्रति जो आनुकूल्य है, तत्स्वरूप भी हो जाता है, और उस आनुकूल्यके साथ सदा सम्बद्ध जो प्रिय वस्तुकी प्राप्तिके लिये अभिलाषा और प्रिय वस्तुका अनुभव है, उन दोनोंके साथ मिश्रित या तन्मय भी हो जाता है । उल्लासमय सुखरूप ज्ञानविशेष यदि प्रियजनके लिये होनेवाली अभिलाषा और प्रियविषयक अनुभूतिके साथ मिलता है तब वह प्रीति शब्दका मुख्य अर्थ होता है; यही उसका संक्षिप्त वर्णन है । प्रियता सुखस्वरूप होनेपर भी प्रिय वस्तुके प्रति अभिलाष और प्रिय वस्तुकी अनुभूति इसमें विद्यमान रहती है; इस कारण यह, केवल सुखरूप जो ज्ञान या मनोवृत्तिविशेष है, वह होनेपर भी इसमें विशेषता रहती है । यहाँपर एक और भी ध्यान देनेकी बात है कि सुखके विपरीत दुःख होता है और प्रियताके विपरीत द्वेष होता है । चूँकि सुख केवल उल्लासस्वरूप होता है, उसी कारणसे उसका आश्रय ही प्रसिद्ध है; उसका विषय अन्य कोई वस्तु नहीं होती । इसी तरह सुखके विरुद्ध जो दुःख है, उसका भी आश्रय विद्यमान है, अन्य कोई वस्तु उसका विषय नहीं है । परन्तु प्रियता आनुकूल्यात्मक अभिलाषास्वरूप होती है; इस कारण इसके आश्रय और विषय दोनों ही विद्यमान रहते हैं । इसी तरह इस प्रियताके विरुद्ध जो प्रतिकूलता या द्वेष है; उसके भी आश्रय और विषय दोनों ही विद्यमान हैं । पुण्यात्मा जीव सुखका आश्रय होता है और पापात्मा जीव दुःखका आश्रय होता है । इसी तरह आनन्दका अनुभव करनेवाला प्रियताका आश्रय होता है और विद्वेष्टा द्वेषका आश्रय होता है; जो वस्तु प्रिय है वह प्रियताका विषय होती है एवं जिसके प्रति द्वेष उत्पन्न होता है वह द्वेषका विषय माना जाता है ।

श्रीजीव गोस्वामिपादकी इस प्रकारकी उक्तिके द्वारा यही सिद्ध होता है कि प्रीतिरूपा भक्ति अभिलाष और

उल्लासमय ज्ञानविशेष होनेके कारण वह श्रवणादिजन्य निर्विशेष ब्रह्मज्ञानकी चरमावस्था अथवा निर्गुण ब्रह्मकी अपरोक्षानुभूतिमात्र नहीं मानी जा सकती।

परम भक्त श्रीप्रह्लादने भी श्रीभगवान्‌का साक्षात्कार लाभ करके मुक्ति अथवा निर्वाणके लिये प्रार्थना नहीं की, बल्कि उन्होंने यही कहा कि—

या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु॥
(विष्णुपुराण)

'विवेकशून्य सांसारिक जीवोंकी स्त्री, पुत्र, धन और ऐश्वर्य आदि विषयोंमें जैसी निरन्तर प्रीति रहती है, हे भगवन्! आपके स्मरणके फलस्वरूप (आपके प्रति) वैसी ही प्रीति मेरे हृदयसे कभी दूर न हो।'

यह प्रीतिलक्षणा भक्ति किसी प्रकारके पुरुषार्थका साधन नहीं, वर यही चरम पुरुषार्थ है। और यह मुक्तिकी अपेक्षा श्रेष्ठ है, यह बात भी साक्षात् श्रीमद्भागवतमें ही कही गयी है। यथा—

अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी।
(श्रीमद्भा० ३। २४। ३१)

अहैतुकी अर्थात् प्रीतिरूपा भगवद्भक्ति सिद्धि (अर्थात् ज्ञान और मुक्ति) से भी श्रेष्ठ है। इस श्लोककी व्याख्या करते समय टीकाकार श्रीधर स्वामीने कहा है—'सिद्धेर्मुक्तेरपि' (सिद्धि अर्थात् मुक्तिसे भी)। श्रीभगवन्नाम-कौमुदीमें भी लिखा है—'सिद्धेर्ज्ञानात् मुक्तेर्वा' (अर्थात् सिद्धि शब्दके अर्थ ज्ञान अथवा मुक्ति दोनोंसे ही भक्ति श्रेष्ठ है।)

निर्गुण ब्रह्मवादियोंके मतसे मुक्तिमें अहंभावका लय हो जाता है, किन्तु भक्तिवादी आचार्योंका कहना है कि अहंभावका विनाश यदि मुक्ति है तब तो आत्मविनाश और मुक्ति एक ही चीज हो जाती है। इस कारण वह किसी भी विवेकी पुरुषके लिये स्पृहणीय नहीं हो सकती। दूसरी ओर यह भगवत्प्रीतिरूपा भक्ति उसी अपूर्ण अहमर्थको; निरन्तर श्रीभगवत्स्वरूपकी आनन्दमय स्फूर्तिका सम्पादन करके पूर्ण बना देती है, इसी कारण अध्यात्म-शास्त्र निःसङ्कोचभावसे कहते हैं—

निरहं यत्र चित्सत्ता तुर्या मुक्तिरिति स्मृता।
पूर्णाहन्तामयी सैव भक्तिरित्यभिधीयते॥
(उद्धृत षट्सन्दर्भमें जीव गोस्वामिद्वारा)

'अहंभावसे रहित होनेपर चैतन्य सत्ताको तुरीय मुक्ति कहते हैं, वही चैतन्य सत्ता यदि परिपूर्ण अहंभावसे युक्त हो जाती है तभी वह (भगवत्प्रेमरूपा) भक्तिरूपा हो जाती है।'

यह प्रेमा भक्ति या अहैतुकी भगवद्भक्ति ही मानव-जन्मको सब प्रकारसे सफल बनाती है। 'पूर्णाहन्तामयी' विशेषण इस बातको विशेषरूपसे सूचित करता है। ऐसा कहनेका कारण यह है कि सब प्रकारके प्राणियोंकी सब प्रकारकी देहोंकी अपेक्षा मानवदेहका समुत्कर्ष अथवा मुख्य प्रयोजन क्या है, यह श्रीमद्भागवतके निम्नोद्धृत श्लोकमें अत्यन्त सुन्दर रूपमें वर्णित है—

सृष्ट्वा पुराणि विविधान्यजयात्मशक्त्या
वृक्षान् सरीसृपपशून् खगदंशमत्स्यान्।
तैस्तैरतुष्टहृदयः पुरुषं विधाय
ब्रह्मावबोधधिषणं मुदमाप देवः॥

'देव—श्रीभगवान्‌ने अपनी अनादि शक्तिके द्वारा वृक्ष, सरीसृप, पशुसमूह, पक्षी, दंश और मत्स्य इत्यादि नाना प्रकारके पुर अर्थात् देहोका निर्माण किया, किन्तु उन सब देहोंके द्वारा उन्हे सन्तोष या तृप्ति नहीं प्राप्त हुई, तब उन्होंने पुरुष अर्थात् मनुष्यदेहका निर्माण किया और उससे उन्हे तृप्ति मिली। क्योंकि मनुष्यदेहमें बुद्धि या अन्तःकरण है, उसीमें ब्रह्मसाक्षात्काररूप वृत्ति उत्पन्न होती है।'

इस श्लोकको विस्तृत व्याख्या किये बिना इसका वास्तविक तात्पर्य अच्छी तरह समझमें नहीं आवेगा; अतएव यहाँ कुछ विस्तारसे लिखा जाता है—

श्रुतिमें सृष्टि-वर्णनके प्रसङ्गमें कहा गया है—

'स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी नैव रमते, स द्वितीय-मैच्छत्।'
(बृहदारण्यक उप०)

'उस परमात्माको तृप्ति नहीं मिलती थी, (कारण, वह उस समय अकेले थे) इसीलिये (देखा जाता है कि) जब कोई अकेला रहता है तब उसे तृप्ति नहीं प्राप्त होती, उन्होंने दूसरा कोई हो; ऐसी इच्छा की।' और कोई

न रहनेके कारण उन्हें अर्थात् परमात्माको आत्माराम और पूर्णकाम होनेपर भी तृप्ति नहीं होती थी, यह बात बिल्कुल असगत-सी प्रतीत हो सकती है, किन्तु वास्तवमे इसमें किसी प्रकारकी असङ्गति नहीं है, क्योंकि श्रुतिमें ही देखा जाता है कि 'रसो वै सः', वह रसस्वरूप हैं, केवल रसस्वरूप ही नहीं, वह—सब प्रकारके कल्याणमय गुणोंके एकमात्र आधार, समस्त सौन्दर्यके वही सार और समस्त माधुर्यके वही पार, वही सत्, वही चित्, वही आनन्द हैं, उन्हींके सौन्दर्यका एक कणमात्र सकल ब्रह्माण्डमे प्रविष्ट होकर चन्द्र, सूर्य, नक्षत्र और ग्रहोको प्रकाशित करता है तथा सुन्दर बनाता है; उन्हींकी महिमासे सब प्राणी महत्त्वाके आवेशसे आभासित होते हैं। उनके स्वरूपका वर्णन करती हुई श्रुति सङ्कोच छोड़कर कहती है—

स वा अयमात्मा सर्वेषां भूतानामधिपतिः सर्वेषां भूतानां राजा तद्यथा रथनाभौ रथनेमौ च अराः सर्वे समर्पिता एवमेव अस्मिन्नात्मनि सर्वाणि भूतानि सर्वे देवाः सर्वे लोकाः सर्वे प्राणाः सर्व एत आत्मानः समर्पिताः।

(बृहदारण्यक०)

'यही वह—रसस्वरूप आत्मा सब भूतोंके अधिपति, सब प्राणियोंके राजा हैं, जैसे रथकी नाभिमें और रथकी नेमिमे सब अरे अर्थात् टेढे-टेढ़े काठके टुकड़े समर्पित होते हैं, वैसे ही उस परमेश्वरमें—आत्मामें—सब भूत, सब देवता, सब प्राण और सब जीव समर्पित हैं।' यह परमात्मा सर्वेश्वर हैं, फिर भी इनका ईशितव्य नहीं है। यह सर्व-सुन्दर हैं फिर भी इनका भोक्ता तथा भोगमे चरितार्थ होने योग्य द्रष्टा नहीं है। इससे इनका अतृप्त होना स्वाभाविक है, चन्द्रमाका सौन्दर्य क्या व्यर्थ नहीं हो जाता यदि उसे देखकर किसीकी आँखें शीतल न हों? सुगन्धित पुष्प-समूहकी सुगन्धि और सौन्दर्य क्या व्यर्थ नहीं हो जाता यदि उसका कोई भोक्ता न रहता? अतएव रसमय सर्वसुन्दरका अकेले रहकर अतृप्त होना अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। इस अतृप्तिकी परिणति ही उनकी बहु होनेकी इच्छा है, इसीसे श्रुति कहती है—

तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय।

'उन्होंने सङ्कल्प या इच्छा की कि मैं बहुत होऊँ, मैं प्रकृष्टरूपसे जन्म ग्रहण करूँ।)'

अनादि अचिन्त्य अनन्त और विचित्र जिनकी शक्ति है, उनकी इच्छा होनेके साथ ही एक अचिन्त्य घटना घटी, क्या घटी? श्रुति कहती है—

यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति। एवमेव अस्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति।

(बृहदारण्यक० २।१।२०)

'जिस तरह राशीकृत प्रचण्ड दीप्यमान अग्निसे चारों ओर स्फुलिङ्ग निकलते हैं, उसी तरह (अपने सौन्दर्य, अपने माधुर्य, अपनी महिमा और अपनी विभूतिको अपनेसे अलग करके अच्छी तरह देखनेकी इच्छा होते ही) उस परमात्मासे सब प्राण (अर्थात् मुख्य प्राण और इन्द्रिय-समूह), भूरादि भोग्य वस्तुसमूह, सब देवता और ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त सब प्राणी उत्पन्न हुए।'

श्रुति-वर्णित इस सृष्टिप्रक्रियाके अनुसार श्रीमद्भागवतमें उक्त श्लोककी रचना हुई है। उक्त श्लोकका निगूढ़ तात्पर्य यही है कि रसरूप, आनन्दमय, चैतन्यस्वरूप, लीलानिरत, सर्वशक्तिमान् एक अद्वितीय परमात्माकी अपरोक्ष अनुभूति ही मानव-जीवनकी परम सफलता है। इस परमात्मानुभूतिके अनुकूल मनुष्यका ही अन्तःकरण है, दूसरे किसी प्राणीका नहीं है। इसी कारण अनुकूल देहके आश्रयमें आत्म-दर्शन करके तृप्त होनेकी इच्छासे श्रीभगवान् मानवदेह निर्माण करके ही सन्तुष्ट हुए थे। पृथ्वीपर विशेषकर पुण्यक्षेत्र इस भारतमें मानव-जन्म पाकर मनुष्य यदि इस जन्म-प्राप्तिके साफल्यकी बातको भूल जाय, और अन्य प्राणियोंकी तरह वैषयिक आनन्द प्राप्त करनेके लिये ससारमें भटकता रहे,—धनके लिये, रमणीके लिये, ऐश्वर्यके लिये, यशके लिये उन्मत्त होकर, काम, क्रोध और मोहके वशीभूत होकर, व्यष्टिभावसे या समष्टिभावसे जगत्में युद्ध, कलह और अशान्तिका निरन्तर प्रवाह उत्पन्न करता रहे, तो यह समझना चाहिये कि उसका मनुष्यजन्म सर्वथा विफल हो गया। यही है भारतीय सभ्यता या सनातन हिन्दूधर्मका सारात्सार उपदेश, यही है सनातन हिन्दू-सभ्यताकी शाश्वत सुदृढ भित्ति, इसी भित्तिके ऊपर कर्म, ज्ञान और भक्ति यह त्रिविध साधनरूप चतुर्वर्गफलप्रद महाप्रासाद निर्मित हुआ है। इसे प्रत्येक सनातनधर्मी हिन्दूको सर्वदा ध्यानमें रखना चाहिये। यही है 'सृष्ट्वा पुराणि' इत्यादि भागवतोक्त श्लोकका निगूढ़ तात्पर्य।

इस प्रेमरूपा भक्तिके फल और स्वरूप-निर्णयके प्रसङ्गमें श्रीरूप गोस्वामिपादने जो कहा है वह भी यहाँ सर्वथा ध्यान देने योग्य है। उन्होंने कहा है—

क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत् सुदुर्लभा।
सान्द्रानन्दविशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षिणी च सा॥

(भक्तिरसामृतसिन्धु)

'वह पराभक्ति क्लेशघ्नी, शुभदा, मोक्षलघुताकृत्, सुदुर्लभा, सान्द्रानन्दविशेषरूपा और श्रीकृष्णाकर्षिणी होती है।'

(१) क्लेशघ्नी—अर्थात् इस भक्तिके उत्पन्न होनेपर सब प्रकारके क्लेश नष्ट हो जाते हैं।

क्लेश शब्दका अर्थ है—

क्लेशास्तु पापं तद्बीजमविद्या चेति ते त्रिधा।

'पाप, पापका बीज और अविद्या—ये तीन प्रकारके क्लेश होते हैं।'

अप्रारब्धं भवेत् पापं प्रारब्धं चेति तद् द्विधा।

'पाप दो प्रकारका है—अप्रारब्ध और प्रारब्ध।' भक्ति इन दोनों प्रकारके पापोंका नाश करती है। श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

यथाग्निः सुसमिद्धार्चिः करोत्येधांसि भस्मसात्।
तथा मद्विषया भक्तिरुद्धवैनांसि कृत्स्नशः॥

श्रीभगवान् भक्तश्रेष्ठ उद्धवसे कहते हैं—'हे उद्धव! जिस तरह सुप्रदीप्त अग्नि काष्ठसमूहको भस्मसात् कर देती है, उसी तरह मद्विषया प्रेमरूपा भक्ति सब प्रकारके पापोंका विनाश कर देती है।' अर्थात् यह केवल सञ्चित और क्रियमाणरूप अप्रारब्ध पापको ही विनष्ट करती है, सो बात नहीं, यह प्रारब्ध कर्मको भी नष्ट करती है। श्रीमद्भागवतके तृतीय स्कन्धमें कहा गया है—

यन्नामधेयश्रवणानुकीर्त्तनाद्
यत्प्रह्वणाद् यत्स्मरणादपि क्वचित्।
श्वादोऽपि सद्यः सवनाय कल्पते
कुतः पुनस्ते भगवन्नु दर्शनात्॥

देवहूति श्रीभगवदवतार कपिलदेवसे कहती हैं, (भक्तियुक्त होकर) जिनका नाम सुनने और निरन्तर कीर्तन करनेसे, जिनको प्रणाम करने तथा कभी भी स्मरण करनेसे चाण्डाल प्रभृति अन्त्यज जातिके लोग भी सद्यः यज्ञानुष्ठान करनेके योग्य हो जाते हैं, हे भगवन्! उन आपके साक्षात् दर्शनसे जो लाभ होता है, उसके विषयमें और अधिक क्या कहा जा सकता है?

इस श्लोकमें, हरिभक्ति प्रारब्ध कर्मको भी विनष्ट कर देती है, यह बात 'चाण्डाल भी भक्तिके प्रभावसे सद्यः अर्थात् वर्तमान जन्ममें ही यज्ञादि कर्म करनेके योग्य हो जाता है'—इस वाक्यके द्वारा स्पष्ट ही कही गयी है। कारण—

दुर्जातिरेव सवनायोग्यत्वे कारणं मतम्।
दुर्जात्यारम्भकं पापं यत् स्यात् प्रारब्धमेव तत्॥

'चाण्डालादिका यज्ञादि कर्ममें जो अनधिकार है, उसका कारण है उनकी दुर्जाति, उस दुर्जातिका आरम्भक जो पाप है, वह प्रारब्ध कर्म ही होता है।' पद्मपुराणमें भी यही बात कही गयी है—

अप्रारब्धफलं पापं कूटं बीजं फलोन्मुखम्।
क्रमेणैव प्रलीयेत हरिभक्तिरतात्मनाम्॥

'जो लोग हरिभक्तिमें अनन्यभावसे अनुरक्त हो जाते हैं, उनके अप्रारब्धफल, कूट, बीज और फलोन्मुख—ये चारों प्रकारके पाप क्रमशः विनाशको प्राप्त हो जाते हैं।'

यह भक्ति ही अविद्याको भी नष्ट करती है। इसमें भी प्रमाण इस प्रकार है—

कृतानुयात्रा विद्याभिर्हरिभक्तिरनुत्तमा।
अविद्यां निर्दहत्याशु दावज्वालेव पन्नगीम्॥

(पद्मपुराण)

'दावानलकी शिखा जिस प्रकार सर्पिणीको दग्ध कर डालती है, उसी प्रकार समस्त विद्याके साथ अनुगम्यमान होकर यह अत्युत्तमा हरिभक्ति तुरन्त अविद्याको भी दग्ध कर डालती है।'

(२) शुभदा—

शुभ शब्दका अर्थ है—

शुभानि प्रीणनं सर्वजगतामनुरक्तता।
सद्गुणाः सुखमित्यादीन्याख्यातानि मनीषिभिः॥

'सब प्राणियोंके प्रति प्रीति, सबका अनुराग, सद्गुण एवं सुख इत्यादि इस शुभ शब्दका अर्थ है।' पद्मपुराणमें लिखा है—

येनार्चितो हरिस्तेन तर्पितानि जगन्त्यपि।
रज्यन्ति जन्तवस्तत्र जङ्गमाः स्थावरा अपि॥

जो व्यक्ति श्रीहरिकी अर्चना करते हैं, वे समूचे जगत्‌को परितृप्त करते हैं, अधिक तो क्या, स्थावर और जङ्गम समस्त प्राणी उनके प्रति अनुरक्त हो जाते हैं।

भक्ति सब प्रकारके सद्‌गुण प्रदान करती है, यह श्रीमद्भागवतमें भी कहा गया है—

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना
सर्वं गुणास्तत्र समासते सुराः।
हरावभक्तस्य कुतो महद्‌गुणा
मनोरथेनासति धावतो बहिः॥

श्रीशुकदेवजीने कहा—'हे महाराज! भगवान् श्रीकृष्णके प्रति जिनकी अकिञ्चना अर्थात् निष्काम प्रीतिलक्षणा भक्ति होती है, उनमें वशीभूत होकर सब गुणोंके साथ देवता वास करते हैं, और श्रीहरिमें जिसकी भक्ति नहीं है, वह बहिर्जगत्‌में मिथ्या वस्तुओंके प्रति आसक्त होकर दौड़ा फिरता है, इस कारण उसमें सद्‌गुण कैसे रहेंगे ?'

सुख तीन प्रकारका है—

सुखं वैषयिकं ब्राह्ममैश्वरञ्चेति तत्त्रिधा॥

'वैषयिक, ब्राह्म और ऐश्वर भेदसे सुख तीन प्रकारका कहा गया है।'

तन्त्रशास्त्रमें कहा है—

सिद्धयः परमाश्चर्या भुक्तिर्मुक्तिश्च शाश्वती।
नित्यञ्च परमानन्दो भवेद् गोविन्दभक्तितः॥

'जिस व्यक्तिकी भक्ति श्रीगोविन्दचरणमें हो गयी है, उसे अणिमादि आश्चर्यजनक सिद्धियाँ, वैषयिक सुखभोग, नित्य परमानन्दस्वरूप ऐश्वरिक सुख तथा सर्वदुःखनिवृत्तिरूप मुक्ति भी प्राप्त हो जाती है।'

(३) हरिभक्ति मोक्षको तुच्छ कर देती है—

मनागेव प्ररूढायां हृदये भगवद्रतौ।
पुरुषार्थास्तु चत्वारस्तृणायन्ते समन्ततः॥

'हृदयमें श्रीभगवान्‌के प्रति अनुराग अङ्कुरित होते ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चारों पुरुषार्थ चारों ओरसे तृणके समान तुच्छ हो जाते हैं।'

यही नारदपाञ्चरात्रमें भी कहा गया है—

हरिभक्तिमहादेव्याः सर्वा मुक्त्यादिसिद्धयः।
भुक्तयश्चाद्भुतास्तस्याश्चेटिकावदनुव्रताः॥

'जिस तरह दासियाँ सम्मानपूर्वक सर्वदा महारानीके पीछे-पीछे चलती हैं, उसी तरह भुक्ति-मुक्ति आदि अद्भुत सिद्धियाँ भी हरिभक्ति महादेवीका अनुसरण करती हैं।'

(४) भक्ति सुदुर्लभा है। यथा—

साधनौघैरनासङ्गैरलभ्या सुचिरादपि।
हरिणा चाश्वदेयेति द्विधा सा स्यात् सुदुर्लभा॥

'भक्तिके साधनोंका अनुष्ठान यदि प्रीतिपूर्वक न किया जाय तो बहुत समयतक अनुष्ठान करनेपर भी भक्ति उदय नहीं होती। और श्रीहरि भी इस भक्तिको देना नहीं चाहते; इस कारण इसका दुर्लभत्व दो प्रकारका होता है।'

पहले प्रकारका सुदुर्लभत्व—

ज्ञानतः सुलभा मुक्तिर्भुक्तिर्यज्ञादिपुण्यतः।
सेयं साधनसाहस्रैर्हरिभक्तिः सुदुर्लभा॥

(भक्तिरसामृतसिन्धूद्धृततन्त्रवचनम्)

'ज्ञान होनेपर मुक्ति अनायास प्राप्त होती है और यज्ञादि कर्मजनित पुण्योंके द्वारा नाना प्रकारकी भुक्ति (भोग) भी सुलभ हो जाती है। किन्तु यह प्रेमरूपा हरिभक्ति हजारों साधनोंका अनुष्ठान करनेपर भी सुलभ नहीं होती।'

दूसरे प्रकारका सुदुर्लभत्व श्रीमद्भागवतमें कहा है।

राजन् पतिर्गुरुरलं भवतां यदूनां
दैवं प्रियः कुलपतिः क्व च किङ्करो वः।
अस्त्वेवमङ्ग भजतां भगवान् मुकुन्दो
मुक्तिं ददाति कर्हिचित्स्म न भक्तियोगम्॥

श्रीशुकदेवजीने कहा—'हे राजन्! भगवान् मुकुन्द तुम लोगोंके और यादवोंके पति (अर्थात् पालक), गुरु (उपदेशक), प्रिय एवं कुलपति हैं, अधिक क्या, तुम लोगोंके आज्ञाकारी होकर उन्होंने तुम लोगोंके दौत्यादि किङ्करके कार्य भी किये। यह सब सत्य है, किन्तु उनका यह स्वभाव ही है कि वह प्रायः भजन करनेवालोंको मुक्ति ही देते हैं, शीघ्र अपना भक्तियोग नहीं प्रदान करते।'

(६) भक्ति सान्द्रानन्दविशेषात्मा है। यथा—

ब्रह्मानन्दो भवेदेष चेत् परार्द्धगुणीकृतः।
नैति भक्तिसुधाम्भोधिपरमाणुतुलामपि॥

'यदि ब्रह्मानन्दको परार्द्ध संख्याद्वारा गुणा किया जाय तो वह ब्रह्मानन्दरूप सुख भी भक्तिसुखसागरके एक परमाणुके बराबर भी नहीं होता।'

(७) भक्ति श्रीकृष्णाकर्षिणी है । यथा—

कृत्वा हरिं प्रेमभाजं प्रियवर्गसमन्वितम् ।
भक्तिर्वशीकरोतीति श्रीकृष्णाकर्षिणी मता ॥

(भक्तिरसामृतसिन्धु)

'वह प्रेमलक्षणा भक्ति प्रियवर्ग (अर्थात् भक्तवृन्द) के साथ श्रीकृष्णको प्रेमपात्र बनाकर वशीभूत कर लेती है ।'

साक्षात् श्रीभगवान्‌ने उद्धवको भी यही सुनाया है—

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव ।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता ॥

'हे उद्धव ! जिस तरह मद्विषयक प्रबला भक्ति मुझे वशीभूत करती है, उस तरह योग, ज्ञान, धर्म, स्वाध्याय, तप और त्याग—कुछ भी मुझे वशीभूत नहीं कर सकते ।'

यही है गौडीय वैष्णवाचार्योंद्वारा मानी हुई प्रेमलक्षणा भक्तिका या भक्तियोगका संक्षिप्त परिचय । इस प्रेमलक्षणा भक्तिके विभाग-विस्तारका परिचय अत्यन्त विस्तृत है, इसी कारण इस परिमित प्रबन्धमें उसका उल्लेख नहीं किया गया । श्रीमद्भगवद्गीतामें इसी भक्तिका प्राधान्य है, यह 'भक्त्या मामभिजानाति' इत्यादि पूर्वोक्त श्लोकोंद्वारा प्रतिपादित होता है । यही है श्रीचैतन्यदेवके मतानुयायी गौडीय वैष्णवाचार्योंका सिद्धान्त ।

गीताका योग

(लेखक—श्रीमतिलाल राय)

जो बात लाखों प्रमाणों तथा अनुभूतिकी सहायतासे निश्चित हो चुकी है उसे अस्वीकार कर नये सिरेसे नया अनुसन्धान करना साहसका काम तो कहा जा सकता है; पर हम लोगोंकी आयु बहुत थोड़ी है, चारों ओर घूम-फिरकर यदि उसी सनातन प्राप्त वस्तुको अन्तमें सबको स्वीकार कर लेना पड़ेगा तब तो जीवकी इतनी सब चेष्टाएँ एक प्रकारसे व्यर्थ ही हुईं । वस्तु प्राप्त करनेकी चेष्टा और प्राप्त वस्तुका आश्रय लेकर जीवनकी अभिव्यक्ति—इन दोनोंमें समयका सद्व्यवहार कहाँ अधिक होता है, इसे कहनेकी आवश्यकता नहीं । किन्तु दुर्भाग्य है हम लोगोंका—यदि सरल मार्गसे ही हम अभीष्ट वस्तु पा जायँ तो फिर आज तेलीके बैलकी तरह घानीमें क्यों चक्कर काटें ? यह अन्धत्व और गर्दनपर जो पराधीनताका जुआ है—ये दोनों हमारे समष्टि जीवनकी अवस्थाका दिग्दर्शन कराते हैं । सात समुद्र, तेरह नदी पार करके जिस तरह हमारे ऊपर एक अन्य जाति शासन करती है, उसी तरह इन सात समुद्र, तेरह नदियोंका जल पीकर हम लोगोंको अपनी वस्तु प्राप्त करनी होगी—आज हम लोग अपने गड्ढेके जलमें ही डूब रहे हैं ।

गीता, उपनिषद्, वेद, वेदान्त, तन्त्र, पुराण इन सबको हम लोगोंने रद्द कर दिया था । उस दिन एक विद्वान् सज्जनने मुझसे कहा—'क्या आप उडरफसाहबके महानिर्वाणतन्त्रका अनुवाद कर सकते हैं ?' मैंने विस्मित होकर उत्तर दिया—'वह तो महानिर्वाणतन्त्रका हूबहू अनुवाद है ।' उन्होंने बड़े आश्चर्यके साथ कहा—'सचमुच !' इसीसे मालूम होता है कि आजकल हम लोग दुनियाकी खाक छानकर तब अपना घर पहचानते हैं । सौभाग्यशाली पुरुष वही है जिसने उसे पहचान लिया है । हाथ घुमाकर नाक पकड़नेका अभ्यास करते-करते हमारी अवस्था ऐसी हो गयी है कि 'नाक दिखाओ' कहनेपर हम यन्त्रकी तरह हाथ चारों ओर घुमाकर नाकपर रखते हैं; परन्तु नाक वस्तु क्या है, यह मानो भूल गये हैं । लोग यह सुनकर हँसेंगे, पर वास्तवमें अवस्था ऐसी ही हो गयी है । 'डागमैटिक' हो गया है गाली । पर सनातन सिद्धान्तको आत्मज्ञानी कैसे छोड़े ? और इस छोड़नेके सम्मोहन-मन्त्रसे विमूढ होनेके कारण ही तो हमारी जाति नष्ट हो गयी है । पुराणमें वर्णन है—एक दैत्य निष्ठाके साथ वैदिक आचरण करता था, जिससे उसके ऐश्वर्य और प्रभावकी सीमा नहीं थी, किन्तु देवताओंकी मायासे उसने दिव्याचारके बदले भिन्नाचार ग्रहण कर लिया और इससे वह हतवीर्य हो गया । भारतका मेरुदण्ड टूट गया है आत्मधर्मके प्रति आस्थाहीन होनेके कारण । ऐसा क्यों हुआ, इसका विचार करना आजका विषय नहीं; अतएव इसे ईश्वरका विधानमात्र मानकर मैं अब मूल प्रसङ्गपर आता हूँ ।

श्रुतिमें एक कथा है—'देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।' देवकी अर्थात् स्वयप्रकाश आत्माकी शक्ति निजगुणमें गुप्त है। गुणसे मतलब है—सत्त्व, रज, तम—प्रकृति इसी कारण गुणमयी है। सृष्टिके आदिमे इस प्रकृतिके अतिरिक्त अन्य किसी वस्तुके अस्तित्वका निश्चय करना सम्भव नहीं, तथा भारतके ज्ञान-विज्ञानकी साधना इस प्रकृति-तत्त्वका आश्रय करके ही सिद्ध हुई है,—तन्त्रादि प्रकृतिको मूलमें रखकर बने ही हैं। वेदान्तकी साधनामें प्रकृतिके ऊपर पुरुषके अस्तित्वका अनुभव करनेकी युक्ति है, वह युक्ति कहाँतक अनुभवगम्य हुई है, यह विचारणीय है। परन्तु साधन नामसे शक्तिकी साधना ही इस देशमे प्रसिद्ध हुई है।

तीनों गुणोंकी साम्यावस्थामें सृष्टि स्तब्ध, विमूढ रहती है, यह कोई नयी बात नहीं। विषमता ही चाञ्चल्य एव गतिका लक्षण है—इसीसे जगत्की सृष्टि हुई है। प्रकृति ही शक्ति है। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि किसकी शक्ति है, किसलिये है? इसी कारण प्रकृतिके पीछे भी किसी तत्त्वके अस्तित्वका अनुमान करना पड़ता है; यह अनुमान-लब्ध वस्तु प्रत्यक्ष नहीं है, प्रमाण-सिद्ध नहीं है। जो कुछ प्रत्यक्ष प्रमाणसिद्ध है, वह नश्वर, अस्थिर है—इसी कारण जो आँखोंसे अगोचर है, उसकी व्याख्या हमने सर्वगत, स्थाणु, अचल आदि अनेक नामोंके द्वारा की है, उसे इस समय आलोचनासे अलग रखकर जहाँतक सम्भव होगा, मैं अपने विषयपर अग्रसर होनेकी चेष्टा करूँगा। हम लोग गुणभेदसे प्रकाशभेद देख सकते हैं। सत्त्वगुण ज्ञान प्रकट करता है, अहवस्तुकी स्वच्छता उससे प्रस्फुटित होती है, 'अहमज्ञो मामह न जानामि' इस प्रकारकी चेतना उत्पन्न होती है। इस चेतनासे ही देह है। देहसे प्राण भिन्न है। प्राणसे मन, मनसे बुद्धि इत्यादि भिन्न हैं। 'अहम्' और 'इदम्' भेद-ज्ञान पैदा करते हैं। प्रश्न उत्पन्न होनेपर मीमांसाकी वाणी भी उच्चारित होती है। अह-वृत्ति ही विज्ञान है, इदं-वृत्ति ही मन है। हमारा अन्तःकरण दो भागोंमें विभक्त है—मनको घेरकर जो चेतना-जगत् है उसे 'इदम्' कहते है, और चिद्घन चेतनाका जो दूसरा अंश है, उसे 'अहम्' कहते हैं। जो नित्य शाश्वत है, वह आत्मा नामसे प्रसिद्ध है, विशुद्ध सत्त्वगुणके प्रभावसे इस प्रकार आत्मप्रकाश विश्लेषित होता है। इस सत्त्वगुणके आधिक्यके कारण ही प्रकृतिसे महत्-तत्त्वकी सृष्टि होती है।

सृष्टिकी बात स्थूलरूपसे समझे बिना योगकी बात स्पष्ट समझमें नहीं आती, अतएव सूचनाके लिये सक्षेपमें सृष्टिरहस्यका सूत्र बतलाया जा रहा है। प्रकृतिसे महत् उत्पन्न हुआ। महत् देशकालसे अनवच्छिन्न होनेके कारण सर्वव्यापी है। गीताके शब्दोंमें—

मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥

महत्-रूप ब्रह्मयोनिमें जगद्विस्तारके लिये गर्भाधान-स्थान निरूपित होनेपर वह अनिर्देश्य पुरुष स्वय चिदाभास-रूपमें अपनेको उसमे नियोग करते हैं और उससे सर्व-भूतोंकी उत्पत्ति होती है। प्रकृतिसे महत् और फिर एकके बाद एक सब तत्त्वोंकी सृष्टि होती है। प्रकृति ही सृष्टि करती है, इसलिये इसको ईश्वर नामक वस्तुका कारण-शरीर कहा गया है। सत्त्वका प्रकाश-गुण, रजका शक्ति-गुण और तमका आवरण-गुण, ये त्रिगुण मिलकर सृष्टिके पर्याय बन गये हैं। पर्यायभेदसे माया और अविद्यारूपमें यह द्विविध हैं। समष्टिशरीराभिमानी जो चैतन्यवृत्ति है, वह माया है; इसीको हिन्दूशास्त्रोंने ईश्वर या हिरण्यगर्भ नाम प्रदान किया है। और मिश्रित गुणके सहयोगसे जो विचित्र, जड़वत् सृष्टि है, उसका व्यष्टिसिद्ध शरीराभिमानी जीव या तैजस नामसे वर्णन किया गया है। मूल माया गुणोंके आश्रयसे आठ प्रकारकी है—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥

—भूमि प्रभृतिसे पञ्चगन्धादि तन्मात्राओंका समन्वय समझना चाहिये, मन, उसका कारण अहकार, बुद्धि, उसका कारण महत्-तत्त्व, अहंकार, उसका कारण अविद्या। इनके साथ सोलह प्रकारके विकार मिलकर चौबीस तत्त्व-सयुक्त इस विश्वकी सृष्टि हुई है। सीधे तौरपर यदि यह बात कही जाय, एक-एक करके प्रकृतिसे तत्त्व और उनकी विकृति बतलायी जाय तो इस प्रकार होगा—प्रकृतिसे महत्, महत्से बुद्धि, बुद्धिसे अहंकार, क्षिति, जल, तेज, वायु, आकाश, गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द, चक्षु, नासिका, जिह्वा, कर्ण, त्वचा, हाथ, पैर, मुँह, पायु और उपस्थ।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

यह अलौकिक गुणमयी भगवान्की माया बड़ी दुस्तर है, किन्तु फिर भी यदि भगवान्के प्रति अव्यभिचारिणी भक्ति

उत्पन्न हो तो इस दुस्तर माया-सागरको पार करके जीव आत्मस्वरूपको प्राप्त कर सकता है, और वही पथ भारतका सनातन योग-धर्म है। जीवकी तीन अवस्थाएँ हैं—जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति। किन्तु ज्ञान अद्वैत है। अविद्या तत्त्वाश्रित है। तत्त्वातीत चैतन्य ही ज्ञान है—यह ज्ञान विश्लेषण करनेकी वस्तु नहीं, अविद्या दूर होनेपर ही मिलता है, और ज्ञानका प्रकाश होनेपर ही जीवकी मुक्ति होती है। ज्ञान प्राप्त करनेके लिये सबसे पहले वस्तु-विश्लेषणकी आवश्यकता है। वस्तुसे मतलब है तत्त्व-वस्तुसे, तत्त्वकी विकृति जो पञ्चभूत हैं, उनकी गुणसमष्टि अन्तःकरण है। अन्तःकरणको हम दो भागोंमें विभक्त कर सकते हैं, एक भाग मन और दूसरा बुद्धि। मनकी वृत्ति संशयात्मिका है, बुद्धि निश्चयात्मिका वृत्ति है। इस बुद्धि-योगसे ही योगका सूत्र आरम्भ हुआ है।

साधनाके आरम्भमें देहशुद्धिकी आवश्यकता है। देहकी शुद्धि वैदिक आचारका त्याग करनेसे नहीं होती। भाषा और ढंग चाहे जो हो, कार्यतः उस शम-दम आदि सब प्रकारकी साधनाओंकी जरूरत होती है। बाहरके शौचाचारके साथ अन्तःशुद्धिका अङ्गाङ्गी सम्बन्ध है। अन्तःकरण स्तब्ध होनेपर सर्वांग स्थिर होता है, और सिद्धासनपर शरीरको बलात् अचल करके रखनेपर अन्तःकरण भी स्थिर होने लगता है। सब एक सूत्रमें बँधी हुई चीजें हैं, कोई किसीसे पृथक् नहीं, किन्तु बाहरकी साधनासे आत्मस्वरूपका पता नहीं मिलता, उससे स्वरूपका बोध मात्र होता है, किन्तु बोध होना ही प्राप्ति नहीं है—इसलिये बुद्धियोग साधनाकी आरम्भिक चीज होनेपर भी साधकको इसके ऊपर उठकर खड़ा होना पड़ता है। सब छोड़कर ही साधनाका आरम्भ किया जाता है, किन्तु छोड़नेवाली वस्तुका निर्णय हुए बिना छोड़ा क्या जायगा? इसीलिये तत्त्व-विश्लेषणकी आवश्यकता होती है। इसीसे गीतामें भगवान्‌ने अर्जुनसे योगकी बात कहनेकी उपक्रमणिकामें सांख्ययोगकी बात सबसे पहले कही है, किन्तु उससे साधकके मनको सन्तोष नहीं होता। असल चीज तो गड़बड़झालेमें ही रह जाती है। अविद्यासे मुक्ति प्राप्त करनेको ही हिन्दू-शास्त्रोंमें मोक्ष कहा गया है। साधना करनेसे आत्मा देहसे पृथक् है, यह ज्ञान पैदा होता है। यह केवल बुद्धिग्राह्य है। मोक्षका अभिप्राय है कि उस स्थितिमें देहज्ञानके लोपके साथ-साथ सब प्रकारके ज्ञानका लोप सिद्ध हो जाता है। इसीसे गीताके दूसरे अध्यायमें मोक्ष-साधनकी बात कहते-कहते जब श्रीकृष्णने यह कहा—

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि॥

तब अर्जुनने विस्मित होकर सोचा—मोक्षसाधन धर्मका उपदेश देते-देते भगवान् किस कारणसे हिंसात्मक कर्मको विहित बतलाने लगे! उन्हें कर्मकी प्रशंसा करके उपसंहारमें ब्रह्मज्ञाननिष्ठाके प्रशंसावादमें वक्तव्य समाप्त करते हुए देखकर अर्जुनके संशयात्मक मनने स्वभावतः प्रश्न किया—

ज्यायसी चेत् कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव॥
व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्॥

अर्जुनने भगवान्‌को 'जनार्दन' शब्दसे सम्बोधित किया। अर्द् धातुका अर्थ है वध करना; समुद्रके अन्दर रहनेवाले जन नामक असुरका उन्होंने वध किया था; इसका असल अर्थ है—जनं जन्म अर्दयति हन्ति, जो भक्तको मुक्ति देनेवाले हैं वह हैं जनार्दन। हमारा जन्म और जन्ममूलक कारण अशुद्ध है, इसी कारण जन्म होते ही संस्कार और वासना विक्षुब्ध होकर इस बातकी विस्मृति पैदा कर देते हैं कि हम अमृतके पुत्र हैं, हम भागवत-ज्ञानविहीन कीड़ेकी भाँति जीवन धारण करते हैं। इसीलिये जो अयाचित करुणावश जन्म और जन्ममूलक कारणगत अशुद्धि दूर करके हमें दिव्य जन्म प्रदान करते हैं, उन्हें हम जनार्दन नहीं कहेंगे तो और क्या कहेंगे? अर्जुनने श्रीकृष्णके कथनका मर्म नहीं समझा, इसीसे सोचा कि कर्मसे ज्ञान श्रेष्ठ है—और भगवान् अपना यह मत प्रकट कर चुके, किन्तु पुनः हिंसात्मक कर्ममें प्रवृत्त करते हैं—तो क्या घटनाक्रमसे यह अनिवार्य हो उठा है जो इस प्रकार मिश्रित उपदेश-वाक्योंका प्रयोग कर रहे हैं? मनुष्यकी क्षुद्र बुद्धि जबतक बृहत्‌के साथ संयोग नहीं प्राप्त कर लेती तबतक वह ऊपरके निर्देशको अपने संस्कारसे मिलाकर स्थिर करता है। और उसके अनुसार ही जीवन नियन्त्रित करनेके लिये अग्रसर होता है—यही धर्म हमारा सनातनधर्म है। इसके अतिरिक्त, भारतकी मनोवृत्तिने बहुत दिनोंसे शास्त्रादिका अर्थ जिस रूपमें ग्रहण करना आरम्भ किया है, अर्जुन उसके प्रभावसे भी मुक्त नहीं थे। 'कर्म जीवनका बन्धन है,' 'कर्म वासनाका जाल बुनकर

जीवके मोक्षका मार्ग रोक देता है'—यह परम्परासे प्रचारित होता आ रहा है, इसी कारण श्रीकृष्णचन्द्रने जब मोक्ष-साधनके अनुकूल शास्त्र-निर्देशित चिरप्रचलित उपदेश सुनाया तब उसे समझना अर्जुनके लिये कठिन नहीं हुआ—क्योंकि यही प्रचलित धर्मोपदेश है, किन्तु उसके बाद ज्यों ही उन्होंने कहा—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥
(गीता २ । ३८)

—त्यों ही अर्जुनके सिरपर मानो वज्रपात-सा हो गया । कर्म करनेपर यदि पाप नहीं होता तब फिर जीवके भव-बन्धनका और क्या कारण है ? कर्मबन्धनके भयसे ही तो भारतके तत्त्वज्ञानियोंने इससे विमुख होकर ब्रह्मसमाधि प्राप्त करनेके प्रशस्त पथकी यात्रा की है। कर्म-प्रेरणाके मूलमें मनुष्यकी इच्छा वर्तमान रहती है, कोई भी कर्म वासनाके सङ्केतके बिना नहीं हो सकता । कुरुक्षेत्रके युद्धमें जो भारतके राजा उपस्थित हुए थे, उनका उद्देश्य अपनी स्वार्थरक्षा करनेके सिवा और क्या हो सकता है ? कामना-विसर्जनके साथ-ही-साथ कामनाओंसे दूषित हुए देह, प्राण, मन आदिका त्याग करना पड़ता है, इसी मार्गसे महात्मागण यात्रा करते हैं—श्रीकृष्णचन्द्रने इसी श्रेयः-पथका अर्जुनको उपदेश दिया । तब फिर बन्धन-सृष्टिके उपायस्वरूप 'कर्म' की प्रशंसा क्यों की ? अर्जुनके मनमें प्राचीन कर्म-संस्कार दृढ होनेके कारण यह प्रश्न उनके लिये अत्यन्त स्वाभाविक था । समूची गीतामें इसी प्रश्नके उत्तरके बहाने श्रीकृष्णने एक सिद्धयोगकी घोषणा की है । यह सिद्धयोग ही आत्मसमर्पण है । भारतके वेद, वेदान्त, उपनिषद्, पुराण, तन्त्र, यहाँतक कि वस्तुविज्ञान, चार्वाक आदि नास्तिक दर्शन भी दिग्दर्शक यन्त्रके सिवा और कुछ नहीं है । भारतका कोई भी धर्मग्रन्थ साधन-विरुद्ध या आपसमें एक-दूसरेका विरोधी नहीं है; जिसे जो दिशा दिखानी थी, उसने उसी भागपर प्रकाश डाला है, सब दिशाओंको देखकर तत्त्वज्ञ पुरुष निश्चित सरल पथसे भारतका सनातनधर्म प्राप्त कर सकते हैं । हमलोगोंको स्मरण रखना चाहिये कि आर्य-योद्धा श्रीकृष्ण एक बहुत बड़े वैदान्तिक थे, उन्होंने वेदान्त और उपनिषद्के आधारपर ही भावी भारतके सामने सनातनधर्मका विराट् स्वरूप खड़ा किया है । हम आज इस राजमार्गका अनुसरण करके अबाध गतिसे अभीष्ट लक्ष्यकी ओर यात्रा कर सकते हैं । समय थोड़ा है, इसलिये हम यदि केवल साधनकी त्रिधाराको धारण करके ही भागवत संयोग प्राप्त करके धन्य हो सकते हैं तब हमें सुदीर्घ तत्त्वोंका विश्लेषण करनेकी क्या आवश्यकता है ? कर्म, ज्ञान और भक्ति—त्रिमार्ग-योगके द्वारा जो साध्यस्वरूप आत्मसमर्पण-योग है, वही श्रीकृष्णकथित गीताके योगके रूपमें प्रचारित है । योग-भूमि भारतके जातीय जीवनमें यह महायोग प्रतिष्ठित हो !

प्राणप्यारे

(रचयिता—श्रीमान् महाराज राणा राजेन्द्रसिंह जू देव बहादुर "सुधाकर", झालावाड़नरेश)

चित्तको चुराते हो छुपाते हो न जाने कहाँ,
चुटकीमें अपने ही प्रेमीको उड़ाते हो।
रीत यह प्रीतकी तुम्हारी है अनोखी कैसी,
आभा-सी दिखाके कहीं जाके छुप जाते हो ॥
ध्यानमग्न मैं तो हूँ, "सुधाकर" मुझे तो तुम
खाते-पीते जाते-आते सोते देख पाते हो।
बार-बार कहते हो, आता हूँ, मैं आता हूँ, पै,
कहके भी प्रानप्यारे ! क्यों न पास आते हो ?

गीता योगशास्त्र है

(लेखक—एक दीन)

योगका यथार्थ उद्देश्य सिद्धि प्राप्त करना नहीं (सिद्धियाँ तो योगमें विघ्न हैं), बल्कि जीवात्माका श्रीपरमात्माके साथ योग अर्थात् मिलन है, अथवा यों कहें कि जिससे दोनोंका मिलन या एकता हो वह योग है। श्रीमद्भगवद्गीता परम और पूर्ण योगशास्त्र है, जिसका अन्तिम लक्ष्य श्रीपरमात्माकी प्राप्ति है।

गीतामें योगकी प्रारम्भिक साधना द्वितीय अध्यायसे आरम्भ होती है और उत्तरोत्तर आगेके अध्यायोंमें भी उसीका विकास होता गया है, वे सब योगमार्गकी क्रमशः विभिन्न मंजिलें हैं। श्रीपरमात्माके स्वरूप, निवासस्थान और जीवात्मा और परमात्माके सम्बन्धका ज्ञान होना इस मार्गमें सर्वप्रथम आवश्यक है। इस मार्गकी पहली मंजिल विचार-विवेकके द्वारा प्रकृति और पुरुष अथवा आत्मा-अनात्माका ज्ञान है, जिसके कारण गीतामें सबसे पहले प्राचीन सांख्य-योगका उपदेश दिया गया है। यह सांख्ययोग निरीश्वर-वाद नहीं है। इसमें कहा गया है कि आत्मा चेतन, सनातन, अजन्मा, अमर आदि है और शरीर, जो जड़ है, वह केवल वस्त्रके समान है। यह संसार चेतन अविनाशी तत्त्वसे व्याप्त है (२ । १७) और वही केवल सत्, चित्, आनन्द है। जीवात्मा उसीका अंश है और इन्द्रियोंके बाह्य भोगात्मक विषय दुःखमूलक हैं (२ । १४), इनके भोगात्मक सम्बन्धसे ही दुःख प्राप्त होता है। अतएव कर्म कर्तव्य-पूर्ति और यज्ञके उद्देश्यसे योगस्थ होकर अर्थात् देव, पितृ, ऋषि, मनुष्य, पशु आदिके ऋणपरिशोधके निमित्त निष्कामभावसे, अहङ्कार और ममताको छोड़कर करना चाहिये और कर्मकी सिद्धि-असिद्धिमें समान रहना चाहिये। यही बुद्धि-योग है (२ । ३९, ४७ और ४८ तथा ३ । ८, ९)। सकाम कर्म बन्धनका कारण है, किन्तु कर्तव्य और यज्ञ-कर्म बन्धनका कारण नहीं। कर्मका त्याग भी कदापि न करना चाहिये (३ । ८, ९)। यही सांख्ययोगके बादका कर्मयोग है।

इसके बाद ज्ञानयज्ञ अथवा ज्ञानयोग है। इसकी प्राप्तिकी योग्यताके निमित्त इन्द्रिय और प्राण-निग्रह * आवश्यक है (४ । २६, २७)। तथा स्वाध्याय अर्थात् तत्त्वशास्त्रके पठन, मनन और निदिध्यासन (४ । २८) की आवश्यकता है। अष्टाङ्गयोगमें ब्रह्मचर्य (इन्द्रिय-निग्रह), स्वाध्याय और प्राणायामसे भी यही तात्पर्य है। इस अवस्थामें ब्रह्मचर्यपालन मुख्य है, उसमें भी जिह्वा और जननेन्द्रियका निग्रह प्रधान है। अन्य इन्द्रियोंके विकार काम, क्रोध और लोभका त्याग भी जरूरी है (३ । ३७)। इन्द्रियोंका निग्रह सांख्ययोगके अभ्याससे अर्थात् अपनेको शरीर, मन, बुद्धि इत्यादि, जो जड़, अनात्मा हैं, उनसे ऊपर, पृथक् और विलक्षण चेतन आत्मा मानकर आत्मामें ही स्थिति प्राप्त करने (३ । ४३) तथा विषयोंसे ध्यान हटाने (२ । ६२, ६३) से सम्भव है। इसके बाद साधकको तत्त्वदर्शी ज्ञानी गुरुसे ज्ञानयोग-का उपदेश लेना चाहिये (४ । ३४)। इस ज्ञानयोगका परिणाम यह होगा कि साधक यह देखेगा कि अखिल चराचर समष्टि सृष्टि चेतनमय होनेके कारण उसके चेतन आत्मासे अभिन्न है और फिर सब-के-सब परमात्मामें अभिन्न-रूपसे वर्तमान हैं। यह ज्ञान होनेके बाद फिर साधकको मोह नहीं होगा (४ । ३५)। यह ज्ञानयोग कर्मयोगका साधन करके इन्द्रियनिग्रह करनेसे श्रद्धावान् पुरुषको प्राप्त होता है, अन्यथा नहीं (४ । ३८, ३९)। किन्तु यहाँतकका ज्ञान बुद्धिके द्वारा केवल निश्चयात्मक है, इसे विज्ञानमें परिणत करनेसे अर्थात् साक्षात् अथवा अपरोक्ष बनानेसे ही परमात्माकी प्राप्ति होती है। इस प्राप्तिमें मन मुख्य है और मन ही बाधक है। मन उभयात्मक है, यह जिसमें अनुरक्त होता है, वही भाव ग्रहण कर लेता है। वर्तमान समयमें हमारा मन बहिर्मुखी होकर इन्द्रियोंके कामात्मक विषयोंमें आसक्त हो रहा है और अज्ञानके कारण उन्हींको सुखप्राप्तिका साधन समझ रहा है, यद्यपि वे यथार्थमें परिणाममें दुःखदायी हैं। भोगकी प्राप्तिके

* प्राणायाम विधिपूर्वक बहुत थोड़ा करना चाहिये, अधिक करनेसे हानि होती है। इसी निमित्त श्रीमद्भागवत स्क० ११, अ० १४, श्लोक ३५ में तीन बार दस-दस प्राणायाम करनेका उपदेश है।

लिये हिंसा, असत्य, स्तेय, अविहित काम-चेष्टा आदि की जाती हैं, जिससे मन कलुषित हो जाता है, फिर भी सुख-शान्ति न मिलनेके कारण वह और भी चञ्चल हो उठता है। अतएव मनका अज्ञान, तथा भोगलिप्साके कारण उत्पन्न राग-द्वेष, मलीनता और चञ्चलता दूरकर मनको पवित्र, स्थिर और शान्त बनाना आवश्यक है, जिसके विना यह आत्मोन्मुख हो ही नहीं सकता। यह कार्य कर्म और अभ्यासयोगसे सम्पन्न होता है, जिसके लिये ज्ञानके अतिरिक्त वैराग्य और अभ्यासकी आवश्यकता है (६। ३५)। इस योगकी सिद्धिका मूलतत्त्व इस नाम-रूपात्मक संसारके नानात्वको सत्य न मानकर उसमें एक ब्रह्मको देखना और उसीके अनुसार अभ्यास करना है। इसी कारण गीतामें कर्माभ्यासयोग नामक छठें अध्यायमें श्रीभगवान्‌ने इस योगके मूलमन्त्रको इस प्रकार बतलाया है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥२९॥
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥३०॥
सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥३१॥

इन वाक्योंका भाव यह है कि योगमें स्थित साधक अनन्त चेतनको सब भूतोंमें व्याप्त और सब भूतोंको उस अनन्त चेतनमें व्याप्त देखता है और सर्वत्र एकत्वकी-समान दृष्टि रखता है। श्रीभगवान् कहते हैं, जो मुझ परमात्माको सबमें व्याप्त और सबको मुझमें व्याप्त देखता है, वह न मुझसे अदृश्य है, न मैं उसके लिये अदृश्य हूँ। जो सब भूतोंमें व्याप्त मुझ एकको ही इस प्रकार सर्वत्र वर्तमान जानकर मेरा भजन अर्थात् सेवा करता है, वह व्यवहारमें रहकर भी योगी है और मुझको प्राप्त करता है। फिर श्रीभगवान् कहते हैं कि सर्वत्र परमात्मदृष्टिकी केवल भावना ही योग नहीं है, बल्कि इसको आचरणमें परिणत करना 'योग' है। ऊपरके श्लोकोंके बाद ही यह वचन है—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥

(६ । ३२)

जो दूसरोंके सुख-दुःखको अपना सुख-दुःख समझता वही परम योगी है। स्पष्ट अर्थ यह है कि जैसे हमलोग अपने सुखकी वृद्धि करना चाहते हैं, वैसे ही हमें दूसरोंके सुखकी भी वृद्धि करनेके निमित्त यत्न करना चाहिये और इसी तरह दूसरोंके सुखको भी अपना सच्चा सुख समझना चाहिये। और जिस तरह हम अपने दुःखकी निवृत्तिके लिये यत्न करते हैं, उसी तरह दूसरोंके दुःखको भी अपना दुःख मानकर उसकी निवृत्तिके लिये यथासाध्य प्रयत्न करना चाहिये और उस दुःखनिवृत्तिको अपनी ही दुःखनिवृत्ति समझनी चाहिये। यही यथार्थ योग है। इस कर्माभ्यास-योगमें कर्म-यज्ञ अर्थात् कर्मयोग सृष्टिके हितके लिये अपने स्वार्थको स्वाहाकर अर्थात् त्यागकर यज्ञपुरुष परमात्माकी सेवाकी भाँति उन्हींके निमित्त किया जाता है। दान अर्थात् परहित-कार्य और शरीर, मन तथा वाणीकी शुद्धिके लिये तपस्या भी यज्ञ-पुरुषके निमित्त ही की जाती है, क्योंकि स्वयं श्रीभगवान्‌का कथन है कि यज्ञ, जिसमें दान सम्मिलित है, और तपस्याका मैं स्वयं भोक्ता हूँ और इनके द्वारा सबका हित सम्पादन करता हूँ, जो सुहृद्‌का धर्म है (५। २९)। साधारण परोपकार और योगके परहित-सेवामें भेद यह है कि पहलेमें उपकृतको अपनेसे पृथक् समझकर उपकार किया जाता है, किन्तु योगमें उपकृतको पहले अपना ही आत्मा समझकर निष्कामभावसे उसका हितसाधन करते हैं, फिर आगे चलकर उसे श्रीपरमात्माका ही रूप मानकर श्रीपरमात्माकी सेवाकी भाँति, फलाकांक्षासे रहित होकर, निरहङ्कार-भावसे उसका हितसाधन या सेवा की जाती है। क्योंकि साधन, सामग्री और करनेकी शक्ति सब कुछ श्रीपरमात्माकी है, साधक तो केवल निमित्तमात्र है। इसी सिद्धान्तपर योगके प्रथम अङ्ग यमके अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह स्थित हैं। जब सब कुछ परमात्माका रूप ही है तब हिंसा, असत्य, स्तेय आदि दुर्व्यवहार किसीके साथ करना मानो श्रीपरमात्माके ही साथ करना है और इस कारण हिंसाका त्याग कर दूसरोंका हितसाधन करना, असत्यका त्यागकर सबके साथ सत्यका व्यवहार करना, स्तेयका त्यागकर अन्यायपूर्वक किसीकी वस्तु न लेना और परिग्रह अर्थात् दूसरोंसे दान लेना छोड़कर स्वयं दूसरोंको दान देना योगकी मुख्य साधना है। इसी प्रकार सर्वत्र परमात्मभाव रखकर व्यवहार करनेका अभ्यास करनेसे श्रीपरमात्माकी प्राप्ति सहज ही हो जाती है, जैसा कि श्रीमद्भागवतमें कहा है—

अयं हि सर्वकल्पानां सध्रीचीनो मतो मम ।
मद्भावः सर्वभूतेषु मनोवाक्कायवृत्तिभिः ॥
(११ । २९ । १९)

इस सर्वत्र एक ब्रह्मात्मक भावका ज्ञान परिपक्व होनेसे और बाह्य नानात्वपर केवल अध्यास माननेसे विषय-वैराग्य स्वाभाविक ही आ जायगा और यह वैराग्य ज्ञानमूलक होनेके कारण दृढ़ होगा । ऐसे वैराग्यवाले पुरुषको किसी सांसारिक पदार्थकी तृष्णा नहीं होगी । वास्तवमे तृष्णा और राग-द्वेषके कारण ही मन चञ्चल रहता है, और वैराग्यद्वारा इनकी निवृत्ति हो जानेपर मनका आत्मोन्मुख होना सम्भव हो जाता है । इसी निमित्त गीताके उसी छठे अध्यायमें आदेश है कि मनको आत्मामे स्थित करके भावनारहित कर दे और यदि मन आत्माको छोड़कर अन्यत्र जाय तो फिर वहाँसे उसे लौटाकर आत्मामे ही लगावे । सर्वत्र एकात्मभाव बना रखनेसे मनके विक्षेपको दूर करनेमें बड़ी सहायता मिलती है । जो भावना मनमे आवे, बस, उसीको आत्मा मान ले । इस तरह निरन्तर अभ्यास करनेसे मन अवश्य शान्त हो जायगा । यही अभ्यासयोग है, इसीसे मनकी चञ्चलता दूर होती है जो पातञ्जलयोगसूत्रका मुख्य ध्येय है । यहाँ भी अभ्यास और वैराग्य ही इसके साधन बतलाये गये हैं । ऊपर कथित गीताका वचन इस प्रकार है—

शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥
यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥
(६ । २५-२६)

उक्त अध्यायके १४ वें श्लोकमें योगकी प्राप्तिके लिये ब्रह्मचर्यकी आवश्यकता बतलायी गयी है । वास्तवमे योगके लिये ब्रह्मचर्य अत्यन्त आवश्यक है । ब्रह्मचर्य योगके प्रथम अंग यमके अन्तर्गत है । आत्मामें मनके स्थित हो जानेपर आत्माके आनन्दकी उपलब्धि होती है और यह महान् सुख इन्द्रियातीत है, केवल बुद्धिग्राह्य है (६ । २१) ।

केवल आत्मस्थिति, जो आधुनिक सांख्यका लक्ष्य है, हो जानेमे ही योगके लक्ष्यकी पूर्ति नहीं होती । इस आत्मानन्दको भी अतिक्रम करना चाहिये । इसलिये श्रीभगवान्का कथन है कि श्रेष्ठ योगी वही है जिसका मन मेरे साथ संलग्न हो (६ । ४७) । अतएव अब योगके मुख्य लक्ष्य श्रीभगवान्की प्राप्तिके लिये उनकी ओर अग्रसर होना चाहिये । मनको अपने आत्मामें लय करके अब आत्माको श्रीभगवान्में अर्पित कर देना चाहिये । इसी आत्मार्पणका दूसरा नाम शरणापन्न होना है । इसमें सबसे प्रथम विचारणीय विषय यह है कि श्रीभगवान्के कौन-से निवास और भावमें आत्मार्पण किया जा सकता है । श्रीभगवान्के विराट् व्यापक विश्वरूपके भावमें अर्पण करना अथवा उनके साथ एकता प्राप्त करना विच्छिन्न शरीरमे रहनेवाले जीवात्माके लिये कदापि सम्भव नहीं है । तब यह सम्भव कैसे होगा ? इस जटिल समस्याको स्वयं श्रीभगवान्ने गीतामें ही हल कर दिया है । उन्होंने कहा है कि मैं सब भूतोंके हृदयोंमें हूँ (१३ । १७; १५ । १५; १८ । ६१) । इस हृदयस्थ ईश्वरमे ही आत्मार्पण-योग करना होगा—यह श्रीभगवान्ने गीतामें स्पष्ट शब्दोंमे कहा है । अध्याय १८ के श्लोक ६१ में अपना वास सब भूतोंके हृदयमे बतलाकर उसके बादके श्लोकमें कहते हैं—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥

इसका स्पष्ट अर्थ है कि मन, वचन और शरीरसे उस हृदयस्थ ईश्वरकी शरणमें जाओ, जिसके बाद उसकी कृपा-से परम शान्ति मिलेगी और उसका जो सनातन अविचल पद है, उसकी प्राप्ति होगी । यही अन्तिम साधना भक्ति-योग है । इस योगमें पहले यह दृढ़ विश्वास होना चाहिये कि परमात्माने जीवात्माका त्राण करनेके लिये कृपा करके अपनेको हृदयमें कैदीकी भाँति बना रक्खा है, जिसमें उसको उनकी प्राप्ति हो, जो अन्यथा सम्भव नहीं था । यह श्रीभगवान्की असीम कृपा जीवोंके लिये है । इस कारण भी जीवात्माका श्रीभगवान्में स्वाभाविक प्रेम होना चाहिये । इसी निमित्त श्रीभगवान्का जीवात्माके साथ पिता-पुत्र, सखा और प्रेमपात्र, प्रियतम और प्रेमीका सम्बन्ध है (११ । ४४) । यह प्रेम-सम्बन्ध भक्तियोगमें मुख्य है । इस योगकी प्राप्ति किस आश्रयका अवलम्बन करनेसे होगी, इसका वर्णन ७ वें अध्यायमें है । वहाँपर दो प्रकृतियोंका, पञ्चभूत और अन्तःकरणचतुष्टयका अपरा जड प्रकृतिके रूपमें और इसके परे जो चैतन्य जीव-शक्ति है, उसका परा प्रकृतिके रूपमें वर्णन है, जिसका दूसरा नाम दैवी प्रकृति भी है ।

श्रीभगवान्की प्राप्ति राजविद्या अर्थात् प्राचीन राजयोग-के द्वारा होती है, इसका उल्लेख गीताके ९ वें अध्यायमें

है। श्रीभगवान्‌का कथन है कि इसका फल प्रत्यक्ष है, यह अभ्यासमें सुखदायी (हठयोगके समान कष्टकर नहीं) और धर्मात्मक है (९।२)। उक्त अध्यायके १३ वें श्लोकमें श्रीभगवान्‌ने कहा है कि महात्मागण मेरी दैवी प्रकृति (परा चैतन्य समष्टि जीव-शक्ति) का आश्रयकर मुझे प्राप्त करते हैं। इसके बाद अपनी प्राप्तिका उपाय गीताके १२ वें अध्यायमें उन्होंने बतलाया है, जो भक्तियोग है। सर्वप्रथम आवश्यकता इस बातकी है कि हृदयमें सगुण साकार भावकी उपासना की जाय, न कि अव्यक्तकी, जो क्लेशकर है। इस भक्तियोगमें श्रीभगवान्‌की दैवी प्रकृतिका आश्रय प्राप्त करना आवश्यक है, जो अपने दिव्य तेज और प्रकाशसे साधकको घोर अविद्यान्धकारसे पारकर श्रीभगवान्‌से युक्त कर देती है। इसका आश्रय पानेके लिये दैवी सम्पत्तिके गुणोंको, जिनका वर्णन गीताके १६ वें अध्यायमें १ से ३ श्लोकतक है, प्राप्त करना और आसुरी सम्पत्तिका, जिसका वर्णन उसी अध्यायमें ४, ७ और ८ श्लोकोंमें है, त्याग करना परमावश्यक है। भक्तियोगका लक्षण १२ वें अध्यायमें १३ से २० श्लोकतकमें बतलाया गया है, उसका भी होना अत्यन्त आवश्यक है। भक्तियोग-का मुख्य साधन निम्न श्लोकोंमें कहा गया है—

> ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
> अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥
> तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
> भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥
> (१२।६।७)

इन श्लोकोंका भाव यह है कि जो अपने सम्पूर्ण कर्मोंको, सांसारिक और पारमार्थिक दोनों, श्रीभगवान्‌के कर्म समझकर उनके निमित्त अहङ्कार, ममता और फल-कामनाका त्यागकर, करता है, उनमें अनुरक्त रहता है और अपने मनमें श्रीभगवान् और उनके सम्बन्धके सिवा दूसरी कोई भावना नहीं आने देता, केवल उन्हींमें मनको सन्निवेशितकर उपासना-ध्यान करता है, ऐसे चित्तसे पूर्ण अनुरक्त प्रेमी भक्तका श्रीभगवान् शीघ्र मायासे उद्धार करके उसे अपनी अमर पदवी देते हैं। यही भाव ८ वें अध्यायके १४ वें श्लोकका भी है, जो इस प्रकार है—

> अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
> तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

इस भक्तियोगमें सब प्रकारके कर्मोंका अर्पण, उपासना अर्थात् शरीर, वचनसे कर्म करते हुए तैलधाराके समान मनसे सतत निरन्तर ईश्वरस्मरण, चिन्तन और ध्यान मुख्य है। अन्तिम साधना, जिससे योग अर्थात् सम्बन्ध हो जाता है, वह है ध्यानयोग। पहले हृदयमें अपने इष्टकी मनोहर दिव्य साकार मूर्तिपर चित्तकी धारणा करनी चाहिये, जिसके लिये प्रथमावस्थामें भीतर ठीक वैसे ही रूपकी भावना करनेके लिये कोई विग्रह अथवा चित्र आवश्यक है। धारणाके परिपक्व हो जानेपर यथार्थ ध्यान प्रारम्भ होगा। वास्तवमें यह ध्यान हृदयका कार्य है और जब हृदय प्रेमसे द्रवित हो जाता है तभी यह सम्भव है। १४ वें अध्यायके २६ वें श्लोकमें श्रीभगवान्‌का वचन है कि जो अव्यभिचारिणी भक्ति (श्रीभगवान्‌हीको सर्वस्व समझना और उन्हींको सर्वार्पण करना) से मेरी सेवा करता है वह गुणातीत हो जाता है। गुणातीतका लक्षण उसी अध्यायके श्लोक २२ से २६ तकमें है। इस भक्ति-योगकी अन्तिम साधनाका क्रम और लक्षण अन्तिम अध्याय १८ में इस प्रकार बतलाया गया है—

> बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
> शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥
> विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
> ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥
> अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
> विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥
> ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
> समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥
> भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
> ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥
> (१८।५१—५५)

यह कथन गीताके योगका सार है। इस कथनमें सद्गुणोंमें इन्द्रियनिग्रह, मनोनिग्रह, विषय-वैराग्य और अहङ्कार, ममता, काम, क्रोध, परिग्रह आदिका त्याग मुख्य है। इन सद्गुणोंकी पूर्ण प्राप्तिसे यहाँ मतलब है। इनकी पूर्ण प्राप्ति भक्तिके संयोगसे ही होती है (पर दृष्ट्वा निवर्तते), तथा साधनाके रूपमें प्रेमोपहारके समान सब कर्मोंको श्रीभगवान्‌के निमित्त करना, प्रेमसे श्रीभगवान्‌का सतत स्मरण, और अन्तिम प्रधान साधना ध्यानयोग, ये तीन मुख्य हैं। मन्त्रजप ध्यानयोगका अभिन्न स्वरूप है।

इसलिये ध्यानके साथ मानसिक मन्त्रजप अवश्य करना चाहिये। योगसूत्रमे लिखा है—तज्जपस्तदर्थभावनम्।

यह ध्यानयोग ध्याता, ध्येय और ध्यान तीनोका योग (एकता) करता है, जो योगका अन्तिम लक्ष्य है। पातञ्जलयोगसूत्रमे भी ध्यानसे समाधिकी प्राप्तिकी बात कही गयी है। गीताके इस परम ध्यानके बाद कर्मफलका त्याग होता है अर्थात् ध्यानरूप कर्मका फल जो मोक्ष है उसका त्याग (सन्यास) इसलिये भक्त करता है कि मोक्ष ले लेनेसे भगवत्सेवा छूट जायगी। वह तो प्रेमके कारण निमित्तमात्र होकर निरन्तर श्रीभगवान्‌की सेवामें रत रहना चाहता है। इसीसे उसको परम शान्ति मिलती है (१२। १२) जो मोक्षसे भी ऊपरकी स्थिति है।

गीतामें केवल प्रपत्ति-योग है

(लेखक—प० श्रीकिशोरीदासजी वाजपेयी)

श्रीमद्भगवद्गीताको किसीने कर्म-परक बतलाया है, किसीने ज्ञान-परक और किसीने भक्ति-परक, परन्तु सबका समन्वय करनेवाले वैष्णव आचार्योंने इस महोपनिषद्‌को प्रपत्ति-परक समझा और बतलाया है। वैष्णवोंके प्रत्येक सम्प्रदायमें यही सिद्धान्त है। भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्यने जो गीतापर भाष्य किया था, वह अब अप्राप्य है, परन्तु उसी भाष्यका अर्थ स्पष्ट करनेके लिये जगद्विजयी श्रीकेशव भट्टाचार्यने जो 'तत्त्वप्रकाशिका' नामकी सुन्दर सस्कृत टीका इसपर लिखी, वह उपलब्ध है और प्रकाशित भी हो चुकी है। इस 'तत्त्वप्रकाशिका' में आचार्य केशव भी गीताको प्रपत्तिपरक स्वीकार करते हैं।

प्रपत्ति और भक्ति

प्रपत्ति और भक्तिमें सूक्ष्मतम मौलिक भेद है। भगवान्‌के ऊपर अपना सब भार छोड़कर निर्द्वन्द्व हो जानेका नाम प्रपत्ति है और अपने उद्धारके लिये भगवान्‌की सेवा-प्रार्थना करना भक्ति है। प्रपन्न (शरणागत) पिताका वह नन्हा-सा बच्चा है, जो अपना सब कुछ पिताके ऊपर छोड़े है, और भक्त वह बड़ा पुत्र है, जो बहुत कुछ अपना भला-बुरा खुद करनेकी हिम्मत रखता और करता भी है। स्वभावतः पिताका ध्यान नन्हे बच्चेपर जितना अधिक रहेगा, उतना बड़ेपर नहीं। बस, प्रपत्ति या शरणागति और भक्तिमें यही भेद है। वस्तुतः प्रपत्तिमे ज्ञान और कर्मकी तरह भक्तिका भी समावेश हो जाता है। यानी सब साधनोंमें प्रपत्ति अगी है और शेष सब अग।

प्रपत्तिको छः मुख्य भेदोंमें विभक्त किया गया है—

आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्वे वरणं तथा॥
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः।

शरणागति या प्रपत्ति-योगके ये छः अग हैं। इनमें 'आत्मनिक्षेप' प्रधान है, अगी है, शेष सब अग हैं। आत्मनिक्षेप ही तो शरणागति है, अपना कुल भार उसपर डाल देना, चाहे वह जो करे।

परन्तु यों शरणागतिमें आनेका ढोंग करके कोई चाहे जो किया करे, यह नहीं हो सकता है। शरणागतिके जो छः अङ्ग ऊपर गिनाये हैं, उनमें आरम्भहीमें है—आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः। अर्थात् जो काम भगवान्‌को अच्छे लगते हैं, उनके करनेका सकल्प मनमें हो, यह पहली बात है। इसमें सब सत्कर्म आ गये। भगवत्प्रपन्न अपने श्रेयके लिये नहीं, भगवान्‌को प्रसन्न करनेके ही लिये सब सदनुष्ठान करेगा। दूसरा अङ्ग है—प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्। प्रपन्न पुरुष ऐसा कोई भी काम न करेगा, जिससे भगवान्‌के अप्रसन्न होनेका डर हो। इस प्रकार सम्पूर्ण असत्कर्मोंसे वह दूर रहेगा।

भगवान् अवश्य मेरी रक्षा करेंगे,—'रक्षिष्यतीति विश्वासः'—इस विश्वासकी तो सबसे अधिक ज़रूरत है। यही नींव है। जबतक विश्वास न होगा, शरणागति पक्की नहीं होगी। 'सशयात्मा विनश्यति'—नास्तिकता आ जायगी।

कार्पण्यका मतलब है—दीनता। भगवान्‌के सामने दैन्यप्रदर्शन भी प्रपत्तिका एक अग है। पामर लोग ज्ञानलव-दुर्विदग्ध होकर इतराने लगते हैं और कहते हैं—'जो न करे

मौला, सो करे एतमादुद्दौला !' ऐसे जीवोंका घोर पतन हो जाता है। 'मैं सब कुछ कर सकता हूँ' 'मैंने सब किया है' इस प्रकारकी भावना पतनका मूल है। प्रपन्न अपने मनमें कभी ऐसा भाव नहीं आने देता और भगवानके प्रति सदा दीन रहता है।

यों जीव जब भगवानके ऊपर दृढ विश्वास करके आत्मनिक्षेप करता है, तो यह प्रपत्ति-योग कहलाता है। श्रीमद्भगवद्गीतामें इसी योगका प्राधान्य है।

किसी भी ग्रन्थका प्रधान विषय क्या है, यह जाननेके लिये आदि, मध्य और अन्तका समन्वय देखना होता है। तीनों जगह जो मिले, वही प्रधान होता है। जिस बातका हम प्रतिपादन करना है, उसे शुरूमें कहेंगे, उसीमें उपक्रम करेंगे, बीचमें उसीकी पुष्टि करेंगे और अन्तमें उसीपर जोर देकर वक्तव्य पूर्ण करेंगे।

अब देखना चाहिये कि श्रीमद्भगवद्गीताके आदि, मध्य और अन्तमें क्या है।

गीताके उपक्रममें 'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।' यों 'प्रपन्न' शब्दसे शरणागतिको प्रधानता दी है। बीचमें भी 'निवासः शरणं सुहृत्' इत्यादि प्रकारसे इसीपर जोर है और अन्तमें तो डंकेकी चोट कहते हैं—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

यहीं आकर गीताशास्त्रकी समाप्ति होती है। अतएव यही उसका प्रधान विषय निश्चित है।

शरणागतिके छहों अंगोंका गीतामें विस्तारसे वर्णन है।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।

इत्यादिके द्वारा प्रपत्तिका प्रथम अंग (आनुकूल्य संकल्प) दिखलाया। परित्याज्य आसुरी सम्पत्‌का वर्णन करके तथा प्रत्यक्ष 'निर्वैरत्व' आदिका उपदेश देकर दूसरा अंग स्पष्ट किया। 'योगक्षेमं वहाम्यहम्' आदि कहकर विश्वास दृढ़ किया, जो प्रपत्तिका तीसरा अंग है। 'पितासि लोकस्य चराचरस्य' यहाँसे लगाकर 'प्रसीद देवेश जगन्निवास' यहाँतक जो कुछ कहा, उससे चतुर्थ अंग स्पष्ट किया। 'दिशो न जाने न लभे च शर्म' और 'न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम्' इस कथनसे पाँचवाँ अंग कार्पण्य बतलाया। मुख्य आत्मनिक्षेप तो प्रधानरूपसे कहा ही गया है—'तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये' 'मामेकं शरणं व्रज' इत्यादि।

शेष ग्रन्थ कर्म, ज्ञान और भक्तिका प्रतिपादन करते हैं जो प्रपत्तिके सहायक हैं।

यों सम्पूर्ण गीताशास्त्रका प्रतिपाद्य विषय प्रपत्ति-योग है। हिन्दीमें भी गोस्वामी तुलसीदासजीकी 'विनयपत्रिका' तथा 'सूरसागर' के विनय-पदोंमें प्रपत्तिका अच्छा विकास मिलता है। 'विनयपत्रिका'* में तो बड़ी ही सुन्दरतासे इस योगका प्रतिपादन हुआ है। और भी सन्तोंने इसीका आश्रय लिया है।
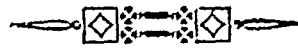
योगिराजके प्रति

योगिराज ! तेरे दर्शनको, भक्त मानते हैं शुभ-स्वर्ग।
उसे परम पुरुषार्थ जान, तव परम धाम चाहें बुधवर्ग॥
तेरे पदकी सेवा हे हर ! तेरे पद-सेवक-संसर्ग।
हो 'द्विजेन्द्र' पर कृपा-दृष्टि वह, जिससे पावें हम अपवर्ग॥

—सरयूप्रसाद शास्त्री 'द्विजेन्द्र'

* विनयपत्रिका हिन्दीटीकासहित १) में गीताप्रेससे मिल सकता है।

योग

(श्रीभारतधर्ममहामण्डलके एक महात्माद्वारा लिखित)

वेद तीन काण्डोंमे विभक्त है, यथा—कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड । वेदके कर्मकाण्डके अनुसार कर्म-सुकौशलको योग कहते हैं । वेदके उपासनाकाण्डके अनुसार चित्तवृत्ति-निरोधको योग कहते हैं और वेदके ज्ञानकाण्डके अनुसार जीवात्मा और परमात्माके एकीकरणको योग कहते हैं । कर्मकाण्डका अन्तिम लक्ष्य निष्काम होकर कर्म करना है । श्रीमद्भगवद्गीतामें इसका विस्तृत वर्णन किया गया है । कर्म करते हुए कर्मबन्धनसे मुक्त होना ही उसका स्वरूप है । उपासनाकाण्डका अन्तिम लक्ष्य अन्तःकरणकी वृत्तियोंको साधनके द्वारा निरुद्ध कर परमात्माके स्वरूपका अनुभव करना है । तरङ्गरहित जलाशयमें जैसा मनुष्य अपना मुख देख लेता है, चित्तकी वृत्तियाँ निरुद्ध होते ही दृश्यप्रपञ्चके द्रष्टा परमात्माका स्वरूप वैसा ही अन्तःकरणमे दिखायी देने लगता है । इस विज्ञानका विस्तृत वर्णन योगदर्शनके सूत्रोंमें पाया जाता है । ज्ञानकाण्डका अन्तिम लक्ष्य अविद्याजनित अज्ञानको विद्याकी कृपासे दूरकर आत्मज्ञान प्राप्त करते हुए परमात्मा और जीवात्माके भेदका जो मिथ्या ज्ञान है, उसको हटाकर जीवात्मा और परमात्माकी अद्वैतसिद्धि करना है । इसका विस्तृत वर्णन उपनिषदों और वेदान्तादि शास्त्रोंमे मिलता है । यही वेदके तीनों काण्डोंके अनुसार योगके सिद्धान्तोंका रहस्य है । वस्तुतः इन तीनोंके द्वारा एक ही अवस्थाकी प्राप्ति होती है ।

श्रीभगवान्‌की सान्निध्यप्राप्तिके साधनोको उपासना कहते हैं । उपासनाका प्राण भक्ति है और कलेवर योग है । शरीरमे प्राणके न रहनेसे जैसे शरीरकी कुछ भी उपयोगिता नहीं रहती, वैसे ही भगवद्भक्तिहीन योग नटका खिलवाड़ हो जाता है । शरीरके अभावमें प्राणके रहनेका कोई स्थान ही नहीं रहता । इस दशामे प्राणका अस्तित्व ही सम्भव नहीं रहता । इसी विज्ञानके अनुसार भक्ति और योगका उपासनाकाण्डके सब साधनोमे अन्योन्याश्रय बना रहना स्वाभाविक है । योगतत्त्ववेत्ता पूज्यपाद महर्षियोंने योगसाधनकी चार स्वतन्त्र शैलियोंका उपदेश दिया है और योगमार्गसे भगवद्राज्यमे पहुँचनेके लिये आठ पौढियाँ बतायी हैं । चार योगसाधन-शैलियोंके नाम हैं—मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग । योगकी आठ पौढियोंके नाम हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि । त्रिकालदर्शी और स्थूल तथा सूक्ष्म राज्यको करतलामलकवत् देखनेवाले महर्षियोंने योगविज्ञानको इन चार श्रेणियों और आठ पौढ़ियोंमें विभक्त करके ऐसा बताया है कि, साधनमार्गके सब अङ्ग-प्रत्यङ्ग इनमे आ जाते हैं ।

मन्त्रयोगका सिद्धान्त यह है कि, यह ससार नामरूपात्मक है । नाम और रूपसे ही जीव अविद्यामें फँसकर जकड़ा रहता है । मनुष्य जिस भूमिपर गिरता है, उसीके अवलम्बनसे उठ सकता है । अतः नाम और रूपके अवलम्बनसे ही जब वह फँसता है, तो नाम और रूपके ही अवलम्बनसे मुक्त भी हो सकता है । मन्त्रयोगके ज्ञाता पूज्यपाद आचार्योंने मन्त्रयोगके साधनोंको सोलह भागोंमे विभक्त किया है । जैसे— दिक्शुद्धि, स्थानशुद्धि, मन्त्रजप, स्तुति, न्यास इत्यादि । मन्त्रयोगके ध्यानको स्थूल ध्यान कहते हैं । यह ध्यान पञ्च सगुणोपासना और अवतारोपासनाके अनुसार कई प्रकारका होता है । मन्त्रयोगकी समाधिको महाभाव समाधि कहते हैं ।

हठयोगका सिद्धान्त यह है कि, स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर एक ही भावमे गुम्फित है और एकका प्रभाव दूसरेपर पूरा बना रहता है । स्थूल शरीरको अपने अधीनकर सूक्ष्म शरीरको अधीन करते हुए योगकी प्राप्ति करनेको हठयोग कहते हैं । योगनिष्णात आचार्योंने हठयोगको सात अङ्गो में विभक्त किया है । यथा—नेती, धौती आदि षट्कर्म, आसन, मुद्रा, प्राणायाम इत्यादि । हठयोगके ध्यानको ज्योतिर्ध्यान कहते हैं और प्राणके निरोधसे होनेवाली हठयोगकी समाधि महाबोध समाधि कहाती है ।

लययोगका सिद्धान्त यह है कि, ब्रह्माण्डकी प्रतिकृति मानवपिण्ड है । ब्रह्म और ब्रह्मशक्तिका विलास जैसा ब्रह्माण्ड है, वैसा मानवपिण्ड भी है । ग्रह, नक्षत्र, चतुर्दश भुवन आदिके पीठ मानवपिण्डमे भी हैं । पञ्चकोशोंका

आवरण शिथिल होनेपर पिण्ड जहाँ चाहे, उसी लोकमें अपना सम्बन्ध स्थापन कर सकता है। इसी विज्ञानके अनुसार मनुष्यपिण्डके आधारपद्ममें कुलकुण्डलिनी नामक ब्रह्मशक्ति प्रसुप्त रहकर अविद्याके प्रभावसे सृष्टिक्रिया किया करती है। रजोवीर्यजनित बैजी सृष्टि उसका साक्षात् फल है। मनुष्यशरीरस्थ सप्तम चक्र मस्तकमें स्थित सहस्रदलमें जिस योगद्वारा कुलकुण्डलिनीशक्तिको ले जाकर ब्रह्मरूपी सदाशिवके साथ मिला दिया जाता है, उस शिवमें शक्तिका लय कर मुक्ति प्राप्त करनेके साधनका नाम लययोग है। लययोगके आठ अङ्ग हैं। लययोगके ध्यानको बिन्दुध्यान और लययोगकी समाधिको महालय समाधि कहते हैं।

राजयोग अन्य तीन योगोंकी चरमसीमा है। उसका सिद्धान्त यह है कि मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कारसे सवलित अन्तःकरण ही जीवके बन्धनका कारण और मुक्तिका भी कारण है। जैसे अशुद्ध मन जीवको नीचे गिराता है और शुद्ध मन ऊपर उठाता है, वैसे ही इन्द्रियपरायण बुद्धि जीवको बन्धनमें जकड़ती है और ब्रह्मपरायण बुद्धि जीवको मुक्तिभूमिमें पहुँचा देती है। अतः शुद्ध बुद्धिकी सहायतासे तत्त्वज्ञान लाभ करके अन्तमें राजयोगी जीव और ब्रह्मके अभेदका कारण समझकर ज्ञानसे अज्ञानका नाश करता हुआ जीव और ब्रह्मकी अद्वैतसिद्धिके द्वारा मुक्त हो जाता है। राजयोगसाधनके सोलह अङ्ग हैं। राजयोगके ध्यानको ब्रह्मध्यान कहते हैं और राजयोगकी समाधि निर्विकल्प समाधि कहाती है, जिसका फल जीवन्मुक्ति है।

इन चार योगशैलियोंके मूलमें भगवद्भक्तियुक्त अष्टाङ्गयोगका साधनक्रम विद्यमान है। अष्टाङ्गयोगके आठों अङ्ग ब्रह्मरूपी सर्वोच्च सौध शिखर (छत) पर चढ़नेके लिये आठ सोपान (सीढ़ियाँ) रूप हैं। इनका सक्षिप्त विज्ञान यह है कि, बहिरिन्द्रियोंपर आधिपत्य जमानेके साधनोंको यम कहते हैं। अन्तरिन्द्रियोंपर आधिपत्य जमानेके साधनोंको नियम कहते हैं। स्थूल शरीरको योगके उपयोगी बनानेके साधनोंको आसन कहते हैं। शरीरस्थ प्राणको योगोपयोगी बनानेके साधनोंको प्राणायाम कहते हैं। ये चारों साधन बहिरङ्गके हैं। बहिर्मुख मनको अन्तर्मुख करनेके साधनोंको प्रत्याहार कहते हैं। प्रत्याहारसे ही अन्तरङ्गका साधन प्रारम्भ होता है। अन्तर्जगत्में ले जाकर मनको एक स्थानमें ठहरानेके साधनोंको धारणा कहते हैं। अन्तर्जगत्में ठहरनेका अभ्यास प्राप्त करते हुए अपने इष्टदेव, चाहे सगुणभावमय रूप हो, चाहे ज्योतिर्मय रूप हो, चाहे बिन्दुमय रूप हो, चाहे निर्गुण सच्चिदानन्दमय रूप हो, जिसका जैसा अधिकार हो, उसी इष्टदेवको केवल ध्येय बनाकर जगत्के भूल जानेको ध्यान कहते हैं। परमात्मामें अपने जीवभावके मिला देनेको समाधि कहते हैं। वह समाधि सविकल्प और निर्विकल्प दो भागोंमें विभक्त है। निर्विकल्प समाधि ही सब साधनोंका अन्तिम लक्ष्य है। यही सर्वजीवहितकारी सब सम्प्रदायोंके अनुयायियों, सब प्रकारके उपासकों और सब प्रकारके साधकोंके परम हितकर योगका सक्षिप्त विज्ञान है।

विरक्त

(रचयिता—श्रीपन्यासजी महाराज विजयमाणिक्यसिंहजी यति 'मानिक')

सत्यव्रत धार मन मोहते निवार कर, गिरिकी गुहामें तन तपते तपायेंगे।
दया दिल लायेंगे औ जीव न सतायेंगे औ, दीन न दवायेंगे न काया कलपायेंगे ॥
'मानिक' की जोत ईश जोतमें जुटायेंगे औ, आनन्द वढायेंगे अनन्त सुख पायेंगे।
दुनियामें फेर कभी आयेंगे न जायेंगे न, कर्मको खपायेंगे अमरपद पायेंगे ॥

योगतत्त्वमीमांसा

(लेखक—श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य स्वामीजी श्रीश्रीजयेन्द्रपुरीजी महाराज)

नमो गुरुभ्यो गुरुपादुकाभ्यो नमः परेभ्यः परपादुकाभ्यः । आचार्यसिद्धेश्वरपादुकाभ्यो नमोऽस्तु लक्ष्मीपतिपादुकाभ्यः ॥

इस संसारमे जितने भी आस्तिक दर्शन हैं अथवा अन्य मत-मतान्तर हैं उन सबमे परस्पर किसी-न-किसी अंशमे विवाद अवश्य रहता है, परन्तु 'योग ऐहिक और आमुष्मिक कल्याणका हेतु है' इसमें किसी-का भी विवाद नहीं है । योगको सबने मुक्तकण्ठसे कल्याणका हेतु स्वीकार किया है । नास्तिक-से-नास्तिक भी योगकी प्रशसा मुक्तकण्ठसे करते हैं ।

सब आस्तिक दर्शनोंका यह सिद्धान्त है कि–'अतीन्द्रिय अर्थमें वेद ही प्रमाण है, जिसमे निखिल विश्व प्रतिष्ठित है' वस्तुतः जो सर्वथा दुःखादि सम्बन्धसे रहित असङ्ग चैतन्य तत्त्व है यही जानने लायक है, इतना ही कहकर वेद भगवान् उदासीनताका अवलम्बन नहीं करते, किन्तु ससारदुःखको समूल उच्छेद करनेकी इच्छावाला पुरुष तत्त्वबोधकी इच्छा करता हुआ अनुपायके ग्रहणद्वारा अन्ध-गोलाङ्गूलन्यायसे अनर्थको न प्राप्त हो, इसलिये कृपा करके तत्त्वकी अभिव्यक्ति करनेवाली चार प्रकारकी प्रतिपत्तियोमे विधि आदि अर्थको बतलानेवाले तव्यादि प्रत्ययद्वारा उपादेयता भी बतलाते हे,यथा'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इत्यादि । यहाँ प्रथम प्रतिपत्ति (निश्चय) श्रवणरूप है । सम्पूर्ण उपनिषद्वाक्योंका अद्वितीय ब्रह्ममें तात्पर्यनिर्णयानुकूल न्यायविचारात्मक, तत्त्वविषयक शाब्दबोधरूप अन्तःकरणकी वृत्तिविशेषका नाम श्रवण है । दूसरी प्रतिपत्ति मनन है, आगमके अविरुद्धतर्कणारूप अथवा तत्त्वकी अनुमितिरूप अन्तःकरणकी वृत्तिविशेषका नाम मनन है । तीसरी प्रतिपत्ति निदिध्यासन है, विजातीय प्रत्ययसे अनन्तरित सजातीय प्रत्ययके प्रवाहका नाम निदिध्यासन है । श्रवणमननजनित सस्कारसहित अन्तः-करण निदिध्यासन करनेमे समर्थ होता है । और चौथी प्रतिपत्ति असङ्ग प्रत्यगभिन्न ब्रह्मस्वरूपका साक्षात्काररूप है । अनादि अविद्याकी निवृत्तिसे उपलक्षित निरतिशय अद्वयानन्दस्वरूपावस्थित चितिशक्तिरूप कैवल्य, स्वरूप-साक्षात्कारका फल है । इस तुरीयसाक्षात्काररूप प्रतिपत्ति-का अन्तरङ्ग साधन प्रत्ययैकतानतारूप निदिध्यासन नामक तृतीय प्रतिपत्ति है ।

ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ।

(मुण्डकश्रुति ३ । १ । ८)

वृद्ध योगी लोग इस निदिध्यासनका ही दूसरा नाम प्रत्ययैकतानतारूप ध्यान कहते हैं । अतएव भाष्य-कार शङ्करभगवान्ने निदिध्यासितव्यका अर्थ 'ध्यातव्य' किया है । इस निदिध्यासनरूप ध्यानकी परिपक्क अवस्था ही समाधि है ।

ध्यानद्वादशकेनैव समाधिरभिधीयते ।

(स्कन्द०)

ध्यानादस्पन्दनं बुद्धेः समाधिरभिधीयते ।

यह विश्वरूपाचार्यका वचन है । अतएव 'समाध्य-भावाच्च' (२ । ३ । ३९) । इस ब्रह्मसूत्रके भाष्यमे 'समाधि' शब्दके विवरणमें 'निदिध्यासितव्यः', 'ओमित्येवं ध्यायथ' इत्यादि ध्यानप्रतिपादक वाक्योंका उदाहरण शाङ्करभाष्यमें दिया है । अतएव योगसूत्रकारने भी 'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्' (३ । २) इस प्रकार ध्यानका निर्वचन करके

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ।

(३ । ३)

इस योगसूत्रमे ध्यानका ही समाधिरूपसे निर्वचन किया है । समाधिको ही महर्षिलोग 'योग' कहते हैं—

समाधिः समतावस्था जीवात्मपरमात्मनोः ।
सयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनोः ॥

(याज्ञवल्क्य०)

अतएव—

यत्समत्वं द्वयोरत्र जीवात्मपरमात्मनोः ।
स नष्टसर्वसङ्कल्पः समाधिरभिधीयते ॥
परमात्मात्मनोर्योऽयमविभागः परंतप ।
स एव तु परो योगः समासात्कथितस्तव ॥

—इत्यादि स्कन्दपुराणके वाक्योंमे समाधि और योगका एक ही लक्षण कहा है ।

बहुत क्या कहें, यह निदिध्यासन ही क्षण-घड़ी-घण्टा-प्रहर-दिन-रात्रि-अर्द्धमास-मास-ऋतु-अयन-वर्ष आदि काल-क्रमके अभ्याससे परिपक्व होकर प्रसख्यान, सम्प्रज्ञात, धर्ममेघ, ऋतम्भरा प्रज्ञा, गुणवैतृष्ण्य, परवैराग्य, ज्ञानप्रसाद, ध्रुवा स्मृति, प्रसख्यान-पराकाष्ठा, असम्प्रज्ञात, निर्विकल्प समाधि, सर्वग्रन्थिविप्रमोक्ष, प्रतिप्रसवजीवन्मुक्ति आदि शब्दोंसे कहा जाता है। यह वार्ता विद्वान् योगियोसे छिपी नहीं है। यहाँपर यह वार्ता जानने योग्य है कि प्रसख्यान, धर्ममेघ, सम्प्रज्ञातादि अवस्थापन्न ध्यान विज्ञानकी उत्पत्तिद्वारा मोक्षका हेतु है। और ज्ञानप्रसाद, परवैराग्य, ध्रुवा स्मृत्यादि अवस्थापन्न ध्यानयोग साक्षात् मोक्षका हेतु है। और असम्प्रज्ञात समाधि तो मोक्षके समान ही है।

इसलिये—

स्वरूपप्रतिष्ठा तदानीं चितिशक्तिर्यथा कैवल्ये।

—इस सूत्रसे पतञ्जलिभगवान्‌ने असम्प्रज्ञात समाधिको कैवल्यके सदृश कहा है। इसी अवस्थाको वसिष्ठजी परा-(दा)-र्थाभाविनी और तुर्यगा कहते हैं। इस अवस्थाको प्राप्त विद्वान् ही ब्रह्मविद्वरिष्ठ जीवन्मुक्त कहा जाता है।

शङ्का—प्रत्यगभिन्न ब्रह्मप्रमाकी उत्पत्तिके लिये जिज्ञासुको प्रमाकरण और करणव्यापाररूप इतिकर्तव्यता, इन दोनोंकी ही अपेक्षा है। इसमे करण 'त त्वौपनिषद पुरुष पृच्छामि' इत्यादि श्रुतियोंसे 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यका श्रवण है, और इतिकर्तव्यता अप्रामाण्य शङ्काको दूर करनेवाला मननरूप तर्क है, एव श्रवण-मननसे ही इष्ट स्वरूपसाक्षात्कारकी सिद्धि बन सकती है, अतः अत्यन्त क्लेशसाध्य निदिध्यासनरूप समाधियोगकी कोई अपेक्षा नहीं है। इसी कारणसे 'एतेन योगः प्रत्युक्तः' (२।१।३) इस ब्रह्मसूत्रसे व्यासभगवान्‌ने योगका खण्डन किया है। और—

एतेन सांख्यस्मृतिप्रत्याख्यानेन, योगस्मृतिरपि प्रत्याख्याता द्रष्टव्या।

—यह शाङ्करभाष्य है। 'विचारस्यासम्भवे योग ईरितः'—यह विद्यारण्यस्वामीका उपदेश है।

समाधान—स्वरूपप्रमाकी उत्पत्तिके लिये प्रमाण और इतिकर्तव्यताके सिवा अन्य साधनोंका अनुष्ठान करना चाहिये, यह हम नहीं कहते। किन्तु अत्यन्त निविड अनादि भ्रम-[illegible]जन्य प्रतिबन्धकोंके वैचित्र्यसे यह इतिकर्तव्यता ही अनेक शाखावाली है। स्वरूपाभिव्यक्तिका प्रथम प्रतिबन्धक भोगोंकी वासना है, जो निरन्तर अग्निकी तरह जलाती है, वृश्चिकादिकी तरह डँसती है, भालेकी तरह छेदन करती है, रात्रिकी तरह अन्धा बनाती है, रस्सीके सदृश बाँधती है, तलवारकी तरह काटती है। दूसरा प्रतिबन्धक 'उपनिषद् अद्वितीय ब्रह्ममें प्रमाण हैं कि नहीं' इत्याकारक सशयरूप है, अथवा 'उपनिषदोंसे अद्वितीय असङ्ग ब्रह्मका बोध सम्भव नहीं है'—यह प्रमाणगत असम्भावना है। तीसरा प्रतिबन्धक 'आत्मा देहादिसे अतिरिक्त है या नहीं और अतिरिक्त होनेपर भी कर्ता है या अकर्ता, अकर्ता होनेपर भी चेतन है या जड है, और चेतन होनेपर भी आनन्दस्वरूप है या आनन्द गुणवाला है, आनन्दस्वरूप होनेपर भी ब्रह्मसे आत्मा भिन्न है या अभिन्न है' इत्यादि विविध सशयरूप है। अथवा अबाधित ब्रह्ममें भी बाधितत्व-कल्पनारूप प्रमेयगत असम्भावना है। और चतुर्थ प्रतिबन्धक ब्रह्मके प्रत्यक्ष हो जानेपर भी ब्रह्मसाक्षात्काररूप प्रमामें असाक्षात्कारत्वकी कल्पनारूप विपरीत भावना है। यहाँ जो प्रथम विषयभोगोंकी वासना है सो उपनिषद्-श्रवणके अङ्ग यम-नियम-विवेक-वैराग्यादिसे नष्ट होती है। प्रमाणगत असम्भावना श्रवणसे नष्ट होती है, और प्रमेयगत सन्देह अथवा असम्भावना मननसे नष्ट होती है। इसके लिये यद्यपि निदिध्यासनकी परिपक्व अवस्थारूप समाधियोगकी अपेक्षा नहीं है, तथापि 'वेदान्त यद्यपि ब्रह्मको बोधन करते हैं, ब्रह्म किसी मानसे बाधित भी नहीं है, तो भी ब्रह्म मुझको प्रत्यक्ष नहीं है, परोक्ष ही है' इत्यादि भ्रान्ति और भ्रान्तिसस्कारपरम्परारूप विपरीत भावनाकी अनुवृत्ति जबतक मौजूद है, तबतक विद्या प्रतिबन्धरहित अपने फलको नहीं दे सकती। अतः पूर्वोक्त भ्रान्तिनिरासपूर्वक 'उपनिषदोंसे बोधित एव सर्वमानोंसे अबाधित सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म ही मैं हूँ, प्रत्यगभिन्न असङ्ग अद्वितीय स्वयप्रकाश सच्चिदानन्द ब्रह्म मुझको सदा अपरोक्ष है'—इस प्रकार स्वानुभवपर्यन्त ब्रह्मसाक्षात्कारके लिये निदिध्यासनकी परिपक्व अवस्थारूप योगकी शरण अवश्य स्वीकार करनी पड़ती है। 'एतेन योगः प्रत्युक्तः' इस सूत्रसे व्यासभगवान्‌ने योगका खण्डन नहीं किया है, किन्तु प्रधानादि जगत्‌में त्रिकालाबाध्यत्वरूप सत्यत्व, प्रधान स्वातन्त्र्य, जीवोंका परस्पर भेद, जीव-ईशका भेद आदि जो वेदके विरुद्ध हैं, उनका केवल खण्डन किया है। क्योंकि व्यासभगवान्‌ने—

'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्' 'ध्यानाच्च' 'आ प्रायणात्तत्रापि हि दृष्टम्।' (४।१।१,८,१२)

—इत्यादि ब्रह्मसूत्रोंसे प्रसंख्यानरूप अथवा निदिध्यासनकी परिपक्व अवस्थारूप योगको प्रत्यगभिन्न ब्रह्मसाक्षात्कार-द्वारा कैवल्यका हेतु स्वयं स्वीकार किया है।

इसके अतिरिक्त अनेक श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण सभी योगकी कल्याणहेतुताको मुक्तकण्ठसे स्वीकार करते हैं, विस्तारभयसे यहाँ प्रमाण नहीं दिये गये हैं।

ऋषि-मुनि-विद्वान् महात्माओंका अनुभव भी इसमें प्रमाण है। कामातुरके व्यवहित कामिनीसाक्षात्कारमें प्रसंख्यानकी कारणता प्रसिद्ध ही है। अतः योगके विषयमें साक्षात्कारकारणताकी कल्पना नवीन नहीं है। अतएव भामतीकार कहते हैं—

सा हि सत्कारदीर्घकालनैरन्तर्यसेविता सती दृढभूमिविशेषसाक्षात्काराय प्रभवति कामिनीभावनेव स्त्रैणस्य पुंसः इति।

प्रश्न—योगकी प्रमाकरणोंमें परिगणना न होनेसे योगजन्य ब्रह्मसाक्षात्कार कामिनीसाक्षात्कारकी तरह प्रमा नहीं होगा?

उत्तर—जहाँ प्रमाणजन्यत्वाभाव हो, वहाँ प्रमात्वका अभाव हो यह नियम नहीं है। क्योंकि जहाँ बाष्पको धूम समझकर पर्वतमें वह्निकी अनुमितिके अनन्तर वह्निका अर्थी पर्वतमें जाय और वहाँ वस्तुतः वह्नि विद्यमान हो तो वहाँ अनुमिति प्रमा है। यह प्रसङ्ग 'पाणौ पञ्चवराटकान् पिधाय' इत्यादि खाद्यखण्डनमें स्पष्ट है। वस्तुतः, जैसे घटसाक्षात्कारमें नेत्रका द्वार नेत्रका सन्निकर्ष है, वैसे ही ब्रह्मसाक्षात्कारमें उपनिषदोंका द्वार योग है, अतः योगकी प्रमाकरणोंमें गणना न होनेपर भी योगजन्य ब्रह्मसाक्षात्कार प्रमाणमूलक होनेसे उसमें अप्रमात्वकी शङ्का नहीं बनती। 'ब्रह्मसाक्षात्कारका शब्द करण नहीं है, किन्तु शमदमादिसे संस्कृत मन ही करण है'—वाचस्पतिके इस मतमें भी योगको द्वार माना है। अतएव 'कथं तत्त्वज्ञानमुत्पद्यते'—इस प्रकार आकाङ्क्षाको उठाकर 'समाधिविशेषाभ्यासात्' इत्यादि न्यायसूत्रसे गौतम महर्षिने भी योगको तत्त्वज्ञानका हेतु वर्णन किया है। यह समाधिरूप योग चित्तका धर्म है, आत्माका धर्म नहीं है; क्योंकि 'केवलो निर्गुणश्च' इत्यादि श्रुतियोंसे आत्मा निर्गुण है। 'स च सार्वभौमश्चित्तस्य धर्मः'—यह प्रथम योगसूत्रके भाष्यका वचन है। अर्थात् चित्तकी पाँच भूमियाँ हैं—क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। रजोगुण अर्थात् शब्दादि विषयोंमें और रागद्वेषादिमें हर समयमें व्यग्र—अत्यन्त चञ्चल चित्तका नाम क्षिप्त है, जैसे दैत्य-दानवोंका चित्त अथवा बन्दरका चित्त। तमोगुणके समुद्रेकसे निद्रादि वृत्तिवाले तमःप्रधान चित्तका नाम मूढ है, जैसे भैंसका चित्त अथवा अजगरका चित्त। जिस चित्तमें चञ्चलता बहुत हो और कदाचित् थोड़ी शान्ति भी हो वह चित्त विक्षिप्त कहा जाता है, जैसे देवताओंका चित्त अथवा जिज्ञासुओंका चित्त। किसी एक विषयमें तैलधाराकी तरह प्रवाहरूपसे वहनशील चित्तका नाम एकाग्र है। ऐसा चित्त सम्प्रज्ञात (सविकल्प) समाधिवाले योगीका होता है। जिस चित्तकी सम्पूर्ण वृत्तियोंका निरोध हो गया हो अर्थात् सम्पूर्ण संकल्पविकल्पोंसे रहित संस्कारमात्रशेष चित्तका नाम निरुद्ध है। ऐसा चित्त असम्प्रज्ञात (निर्विकल्प) समाधिवाले योगीका होता है।

प्रश्न—पतञ्जलि भगवान्ने 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'—इस सूत्रसे चित्तवृत्तिके निरोधको योगका लक्षण कहा है, परन्तु यह लक्षण ठीक नहीं है। क्योंकि क्षिप्त-मूढ-विक्षिप्त भूमियोंमें भी सात्त्विक वृत्तिका निरोध विद्यमान है, इन भूमियोंमें होनेवाले निरोधको योग नहीं कह सकते, अन्यथा बन्दर, भैंस आदि सम्पूर्ण जीव योगी हो जायँगे। दुनियामें ऐसा कोई भी चित्त नहीं है, जिसकी वृत्तिका निरोध न हो। यदि सर्ववृत्तियोंका निरोध योगका लक्षण है, तब सम्प्रज्ञात समाधिमें यह लक्षण नहीं जावेगा?

उत्तर—

क्लेशकर्मादिपरिपन्थित्वे सति चित्तवृत्तिनिरोधो योगः।

—इस लक्षणके स्वीकार होनेसे अतिव्याप्ति-अव्याप्ति दूषण नहीं रह सकता। क्योंकि क्षिप्त-मूढ-विक्षिप्त भूमियोंके निरोधमें क्लेशादिविरोधित्व नहीं है, और सर्व शब्दके अग्रहणसे सम्प्रज्ञातमें अव्याप्ति भी नहीं है। सम्प्रज्ञातमें राजस-तामस वृत्तियोंका निरोध होनेसे क्लेशादिपरिपन्थित्व विद्यमान है। प्रकृति और प्रकृतिके विकारोंमें जो समाधि है उनके फल अनेक प्रकारकी विभूतियाँ हैं। इन विभूतियोंका निरूपण विभूतिपादमें बड़े विस्तारसे किया गया है। ये सब समाधि जडसमाधि हैं, 'भवप्रत्ययो विदेह-

प्रकृतिलयानाम्' इस सूत्रमे यही जड समाधि कही है। इसी जड समाधिका नाम भवप्रत्यय है। तत्त्वजिज्ञासुको यह जड समाधि कर्तव्य नहीं है।

प्रकृति-विकृतिरहित अद्वितीय सर्वान्तर्यामी स्वयप्रकाश चैतन्य ज्योतिःस्वरूप शुद्ध असङ्ग प्रत्यगभिन्न ब्रह्मविषयक समाधि चैतन्य समाधि कही जाती है, यह समाधि ही जिज्ञासुको कर्तव्य है। इस चैतन्य समाधिवाले योगीके भी यदि विषयवासना शेष रह गयी हो तो प्रत्यक् चेतनका साक्षात्कार नहीं होता, किन्तु वासनाके अनुसार उत्तम लोकोंकी ही प्राप्ति होती है। जबतक अणुमात्र भी विषयवासना रहेगी तबतक आवरणभग नहीं होगा। अतएव श्रीगौडपादाचार्यजी कहते हैं—

अणुमात्रेऽपि वैधर्म्ये जायमाने विपश्चितः।
असङ्गता सदा नास्ति किमुतावरणच्युतिः॥

(प्र० ४। ९७)

इस चैतन्य समाधिका नाम ही अस्पर्शयोग है, यह समाधि द्वैतदृष्टिवाले योगियोंको दुर्दर्श है—

अस्पर्शयोगो वै नाम दुर्दर्शः सर्वयोगिभिः।
योगिनो बिभ्यति ह्यस्मादभये भयदर्शिनः॥

(प्र० ३। ३९)

यह गौडपाद स्वामीका वचन है।

समाधि

समाधियोगका स्पष्टरूपसे वर्णन इस प्रकार है—

व्युत्थान-सस्कारोंका तिरस्कार और निरोध-सस्कारोंके प्रकट होनेपर अन्तःकरणका एकाग्रतारूप परिणाम समाधि है। यह समाधि दो प्रकारकी होती है, एक सविकल्प और दूसरी निर्विकल्प। ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेयरूप त्रिपुटीभानसहित अद्वितीय ब्रह्मविषयक अन्तःकरणकी वृत्तिकी स्थिति सविकल्प समाधि है। यह सविकल्प समाधि दो प्रकारकी है। एक शब्दानुविद्ध, दूसरी शब्दाननुविद्ध है। 'अह ब्रह्मास्मि'—इस शब्दभानके सहित होनेसे समाधि शब्दानुविद्ध कही जाती है। और शब्द-भानसे रहित शब्दाननुविद्ध कही जाती है। और त्रिपुटीभानरहित अखण्ड ब्रह्माकार अन्तःकरणकी वृत्तिकी स्थिति निर्विकल्प समाधि है। इस प्रकारसे समाधिके दो भेद हैं। इनमें सविकल्प समाधि साधन है एव निर्विकल्प फल है। जो सविकल्प समाधि है, उसमें यद्यपि त्रिपुटीरूप द्वैत प्रतीत होता है, तथापि वह द्वैत ब्रह्मरूपसे ही प्रतीत होता है। जैसे मृत्तिकाके विकार घटादि विवेकीको प्रतीत भी होते हैं तो भी मृत्तिकारूपसे ही प्रतीत होते हैं, वैसे ही सविकल्प समाधिमें विवेकीको त्रिपुटीद्वैत ब्रह्मरूप ही प्रतीत होता है। यद्यपि निर्विकल्प समाधिमें भी सविकल्प समाधिकी तरह त्रिपुटीद्वैत विद्यमान है, तथापि त्रिपुटीद्वैतकी प्रतीति नहीं होती। जैसे जलमें लवण डालें तो यहाँ लवण मौजूद है, परन्तु नेत्रसे लवणकी प्रतीति नहीं होती। अतः सविकल्प-निर्विकल्प समाधिका यह भेद सिद्ध हुआ कि सविकल्प समाधिमें ब्रह्मरूप करके द्वैत प्रतीत होता है और निर्विकल्प समाधिमें द्वैतकी प्रतीति नहीं होती।

सुषुप्ति और निर्विकल्प समाधिका भेद

सुषुप्तिमें ब्रह्माकार वृत्ति नहीं होती और निर्विकल्प समाधिमे अन्तःकरणकी ब्रह्माकार वृत्ति तो रहती है, परन्तु वृत्तिका भान नहीं रहता। सुषुप्ति होनेपर बैठा हुआ शरीर गिर पड़ता है, समाधिमे नहीं गिरता। इससे मालूम होता है कि समाधिमें अन्तःकरणकी वृत्ति रहती है। समाधिसे उठनेपर ब्रह्माकार वृत्तिकी प्रतीति होती है, इससे भी निर्विकल्प समाधिमें वृत्तिकी अनुवृत्ति अवश्य रहती है। यद्यपि निर्विकल्प समाधिमें प्रयत्न नहीं है, तथापि प्रथमके प्रबल प्रयत्नसे निर्विकल्प समाधिमे ब्रह्माकारवृत्तिका प्रवाह अवश्य रहता है। इसके अतिरिक्त सुषुप्तिमें अन्तःकरणका लय अज्ञानमें होता है और निर्विकल्प समाधिमें जलप्रक्षिप्त लवणकी तरह चेतनमें अन्तःकरणका लय होता है। सुषुप्तिमें आवरण रहता है, आत्मविषयक निर्विकल्प समाधिमें आवरण नहीं रहता। सुषुप्तिमें आवृत आनन्दका अनुभव होता है, निर्विकल्प समाधिमें निरावरण आनन्दस्वरूपका अनुभव है। यम-नियमादि प्रयत्नके बिना चित्तका लय निद्रा है, यम-नियमादि-प्रयत्नपूर्वक चित्तका लय समाधि है—

निगृहीतस्य मनसो निर्विकल्पस्य धीमतः।
प्रचारः स तु विज्ञेयः सुषुप्तेऽन्यो न तत्समः॥
लीयते हि सुषुप्तौ तन्निगृहीतं न लीयते।
तदेव निर्भयं ब्रह्म ज्ञानालोकं समन्ततः॥

(गौडपाद प्र० ३। ३५)

निर्विकल्प समाधिके दो प्रकार

एक अद्वैतभावनारूप निर्विकल्प समाधि होती है, दूसरी अद्वैत अवस्थानरूप होती है। जो अद्वैत

ब्रह्माकार अन्तःकरणकी अज्ञात वृत्तिसहित हो वह अद्वैत-भावनारूप निर्विकल्प समाधि है। इसके अधिक अभ्याससे जब अन्तःकरणकी वृत्ति शान्त हो जाती है तब वृत्तिरहित अद्वैत-अवस्थानरूप निर्विकल्प समाधि सिद्ध होती है। जैसे तप्त लोहेपर जलकी बूँद गिरी हुई तप्त लोहेमे प्रवेश करती है, तद्वत् अद्वैतभावनारूप समाधिके दृढ़ अभ्याससे अत्यन्त प्रकाशमान ब्रह्ममे वृत्तिका लय होता है।

यहाँ यह रहस्य है कि यद्यपि अद्वैत-अवस्थानरूप समाधिमें रज-तमका तिरोधान हो चुका है, तथापि शुद्ध सत्त्वगुण विद्यमान है एव च शुद्ध सत्त्वगुणरूप उपादानमें ही वृत्तिके लयका सम्भव है, निर्विकार ब्रह्मप्रकाशमें नहीं। तप्त लोहेपर जलबिन्दुका दृष्टान्त जो कहा है, वहाँ भी विचारदृष्टिसे पार्थिव लोहेमें जलबिन्दुका लय नहीं होता किन्तु जलका उपादान जो अग्नि है उसीमे जलबिन्दुका लय होता है, तप्त लोहेमे उपचारमात्र है। तथापि ब्रह्मप्रकाशके भानरूप निमित्तसे वृत्तिका लय हुआ है, अतः उपचारसे ब्रह्म-प्रकाशमें लय कहा है। अथवा उस समाधिनिष्ठ ब्रह्म-विद्वरिष्ठकी दृष्टिसे गुणादिक हैं ही नहीं, शुद्ध ब्रह्म ही है, ब्रह्मका विवर्त ही निखिल विश्व है। अतः प्रकाशरूप ब्रह्ममे वृत्तिका लय कहा है।

चित्तवृत्तिनिरोधरूप योगके आठ उपाय भगवान् पतञ्जलिने योगदर्शनमें बतलाये हैं—

(१) 'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः'। अभ्यास तथा वैराग्यसे चित्तवृत्तिका निरोध होता है। 'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते'—इस वचनसे श्रीभगवान्ने भी चित्तनिरोधके उपाय अभ्यास-वैराग्य ही कहे हैं।

(२) 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा'। अथवा प्रणवजप और प्रणवके अर्थचिन्तनसे भी चित्तवृत्तिका निरोध होता है।

(३) 'प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य'। प्राणायामसे भी चित्तवृत्तिका निरोध होता है।

(४) नासिकाके अग्रभागमें संयम करनेसे दिव्य गन्धका प्रत्यक्ष होता है। 'त्रयमेकत्र संयमः'। किसी एक अभिमत लक्ष्यमें धारणा-ध्यान-समाधिका नाम सयम है। जिह्वाग्रमें सयमके परिपाकसे दिव्य रसका, तालुमे संयमसे दिव्य रूपका, जिह्वाके मध्यमें सयमसे दिव्य स्पर्शका, एव जिह्वाके मूलमें सयमसे दिव्य शब्दका साक्षात्कार होता है। इन गन्धादि प्रत्यक्षोका नाम विषयवती प्रवृत्ति है। यह प्रवृत्ति चित्तनिरोधद्वारा समाधिमे उपयोगी होती है।

(५) हृदयकमलमें सयम करनेसे चित्तका प्रत्यक्ष होता है। अस्मितामें सयम करनेसे अस्मिताका प्रत्यक्ष होता है, इस प्रत्यक्षसे भी योगीका चित्त निरुद्ध होता है।

(६) वीतराग पुरुषके चित्तके अनुकूल चलनेसे, अथवा वीतराग पुरुषोंके अन्तरङ्ग होनेसे भी चित्तका निरोध होता है।

(७) स्वप्नमे देखी हुई भगवान् महेश्वरकी मूर्तिमें सयम करनेसे भी चित्तवृत्तिनिरोधरूप योगकी सिद्धि होती है।

(८) 'यथाभिमतध्यानाद्वा'। अथवा जो देवतादि-विग्रह अपनेको इष्ट हो उसीका ध्यान करे, उससे भी चित्तवृत्तिका निरोध हो जाता है। ये सक्षेपसे आठ उपाय योगके हैं।

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्।

(यो० सू० १। ३३)

इस सूत्रमे कहे हुए मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षारूप चतुर्विध भावनाओंका इन आठ उपायोंमेंसे प्रत्येकके साथ समुच्चय है। इनका विस्तार योगदर्शनके समाधिपादमें है, यहाँ विस्तारभयसे नहीं लिखते।

निर्विकल्प समाधिके (१) लय, (२) विक्षेप, (३) कषाय, (४) रसास्वाद—ये चार विघ्न हैं। आलस्य और निद्रासे वृत्तिके अभावको लय कहते हैं। उस लयसे सुषुप्तिके समान अवस्था हो जाती है, ब्रह्मानन्दका भान नहीं होता है। अतः निद्रा-आलस्यादिक निमित्तसे जब वृत्तिका लय होता दीखे तब योगी सावधान हो, निद्रादिकोको रोककर वृत्तिको जगावे, आँखोमें जल और कपूर लगावे। इस वृत्तिके जागरणरूप प्रवाहके अनुकूल प्रयत्नको गौडपादाचार्य 'चित्तसम्बोधन' कहते हैं। 'लयात् सम्बोधयेच्चित्तम्'—यह गौडपादका वचन है।

जैसे बाज आदिके डरसे पक्षी घरमें प्रविष्ट होता है, और भयसे व्याकुल होनेके कारण घरके भीतर अपने बैठनेका स्थान न देखकर पुन तुरन्त बाहर आकर खेदको प्राप्त होता है, वैसे ही अनात्मपदार्थोको दुःखका हेतु जानकर

अद्वैतानन्दको विषय करनेके लिये अन्तर्मुख हुई वृत्तिको कुछ काल स्थितिके विना चैतन्यस्वरूप आनन्दका लाभ नहीं होता, क्योंकि वृत्तिका विषय चेतन अति सूक्ष्म है। अतः वृत्ति बहिर्मुख होकर पुनः अनात्मपदार्थोंमें लग जाती है। इस रीतिसे बहिर्मुख वृत्तिको विक्षेप कहते हैं। अतः वृत्तिके अन्तर्मुख होनेपर जबतक वृत्ति ब्रह्माकार न होवे तबतक बाह्य पदार्थोंमें दोषभावना ही करे, वृत्तिको बहिर्मुख न होने दे, किन्तु अन्तर्मुखता ही स्थापन करे। विक्षेपरूप विघ्नका विरोधी जो योगीका प्रयत्न है उसे गौडपादजीने 'शम' कहा है। 'विक्षिप्तं शमयेत् पुनः'—यह गौडपादजीका वचन है।

रागादिक दोषोंको 'कषाय' कहते हैं। रागादि दो प्रकारके हैं—एक बाह्य, दूसरे आन्तर। पुत्र-धनादिके प्रति वर्तमानविषयक राग-द्वेष-मोहादिक बाह्य हैं, भूत और भावीका चिन्तनरूप मनोराज्य आन्तर है। रागादिक दोष-सहित अन्तःकरण क्षिप्त है, इस क्षिप्त अन्तःकरणका योगमें अधिकार ही नहीं है। अतः रागादिक दोषरूप कषाय समाधिके विघ्न हैं, यह कहना नहीं बन सकता। तथापि इसका समाधान यह है कि बाह्य अथवा आन्तर जो रागादिक हैं वे क्षिप्त अन्तःकरणमें ही होते हैं, क्षिप्त अन्तःकरणका योगमें अधिकार है नहीं, तो भी जन्म-जन्मान्तरमें पूर्व अनुभव किये जो राग-द्वेष हैं उनके सूक्ष्म संस्कार विक्षिप्त अन्तःकरणमें भी बन सकते हैं। स्थूल राग-द्वेषादिकोंका नाम कषाय नहीं है, सूक्ष्म राग-द्वेषादिकोंके संस्कार ही 'कषाय' कहे जाते हैं। सूक्ष्म संस्कार अन्तःकरणमें रहते ही हैं। परन्तु राग-द्वेषादिकोंके उद्बुद्ध संस्कार समाधिके विरोधी हैं, अनुद्भूत (अप्रकट) विरोधी नहीं हैं। योगीके अन्दर जब राग-द्वेषादिक संस्कार प्रकट हों तब यह उन्हें विषयोंमें दोषदृष्टिसे दबा दे। बाह्यविषयाकार वृत्तिको विक्षेप कहते हैं। योगीके प्रयत्नसे जब वृत्ति अन्तर्मुख हो तब जिन राग-द्वेषादिकोंके उद्भूत संस्कारोंसे अन्तर्मुख हुई भी वृत्ति रुक जाय, ब्रह्माकार न हो सके, उन राग-द्वेषादिके उद्भूत संस्कारोंका नाम 'कषाय' है।

रसास्वादका यह अर्थ है—योगीकी वृत्ति जब लय, विक्षेप और कषायके न होनेसे अन्तर्मुख हो तब ब्रह्म-साक्षात्कारके पहले विक्षेपकी निवृत्तिसे आनन्दाभास होता है। जैसे भारवाही पुरुषको भार उतर जानेसे आनन्द होता है। वहाँ आनन्दमें और तो कोई विषय हेतु नहीं है, पर भारजन्य दुःखकी निवृत्ति होनेसे भारवाही यह कहता है कि मुझे आनन्द हुआ है। इससे दुःखकी निवृत्ति ही आनन्दका हेतु है। वैसे योगीको समाधिमें विक्षेपकी निवृत्ति होनेसे जो आनन्द होता है उस अनुभवका नाम रसास्वाद है।

विक्षेपरूप दुःखकी निवृत्तिसे होनेवाले आनन्दके अनुभवसे ही यदि योगी तृप्त हो जावे, तो सर्व उपाधि-रहित अद्वितीय ब्रह्मानन्दाकार वृत्तिके नहीं होनेसे प्रत्यगभिन्न—निरुपाधिक ब्रह्मानन्दका अनुभव योगीको नहीं होगा। अतः विक्षेपनिवृत्तिजन्य आनन्दका अनुभवरूप रसास्वाद भी समाधिमें विघ्न है।

इष्टकी प्राप्ति न होनेपर भी विरोधीकी निवृत्तिसे आनन्दकी प्राप्ति अन्य स्थलमें भी देखी गयी है। जैसे किसी पुरुषके घरमें निधि गड़ी हुई है, उसके ऊपर पृथ्वीमें बड़ा भारी काला नाग रहता है, वहाँ उस काले नागको मार देनेसे भी आनन्द होता है। यदि वह पुरुष काले नागके मरनेसे होनेवाले आनन्दमें ही अलबुद्धि कर ले और निधि-प्राप्तिके लिये खोदनेमें प्रयत्न न करे तो निधिकी प्राप्ति नहीं होगी। वैसे ही अद्वैत ब्रह्मरूप निधि अज्ञानसे ढकी हुई है, देह-गेहादिक अनात्मपदार्थोंकी प्रतीतिरूप काला नाग है; यदि योगी अनात्मपदार्थोंकी प्रतीतिरूप (विक्षेप) नागके मरनेसे पैदा होनेवाले आनन्दमें अल-बुद्धि कर ले और अद्वितीय ब्रह्मके साक्षात्कारके लिये प्रयत्न न करे तो आवरणके भङ्ग न होनेसे योगी पुरुषार्थसे भ्रष्ट हो जायगा। अतः विक्षेपनिवृत्तिजन्य आनन्दका अनुभव-रूप रसास्वाद ब्रह्मानन्दकी प्राप्तिमें विघ्न है।

अथवा सविकल्प समाधिसे होनेवाले आनन्दका नाम रसास्वाद है। यदि योगी सविकल्प समाधिसे होनेवाले आनन्दमें ही अलबुद्धि कर ले तो निर्विकल्प समाधिके आनन्दसे वञ्चित हो जावेगा। अतः निर्विकल्प समाधिका विघ्न सविकल्प समाधिजन्य आनन्दका अनुभव रसास्वाद है। अतः इस रसास्वादमें ही योगी अपनेको कृतकृत्य न माने, किन्तु असङ्ग होकर परवैराग्यके अभ्याससे निर्विकल्प समाधिके लिये ही प्रयत्न करे।

अतएव गौडपाद स्वामीजी कहते हैं—

नास्वादयेत्सुखं तत्र निःसङ्गः प्रज्ञया भवेत्।
निश्चलं निश्चरच्चित्तमेकीकुर्यात्प्रयत्नतः॥

(प्र० ३। ४५)

अर्थात् लय-विक्षेपरहित एकाग्र चित्तमें निर्विकल्प समाधिके पहले जो आनन्दाभासरूप सुख उत्पन्न होता है उसके स्वादमें मग्न न हो जावे, किन्तु उसको अज्ञान-विजृम्भित-मिथ्या समझकर निःस्पृह होवे, विवेकपूर्वक असङ्ग आत्माकी ही भावना करे । सर्व दोषोंकी निवृत्ति होनेपर विद्वान्‌को जो निर्विकल्पक ब्रह्मविषयक समाधि होती है उसका स्वरूप भी श्रीस्वामी गौडपादजीने लिखा है—

सर्वाभिलापविगतः सर्वचिन्तासमुत्थितः ।
सुप्रशान्तः सकृज्ज्योतिः समाधिरचलोऽभयः ॥

(प्र० ३ । ३७)

'सर्व बाह्य शब्दादि व्यवहारसे रहित, सर्व सूक्ष्म प्रपञ्चरूप चिन्तासे रहित, सम्पूर्ण अविद्यादि क्लेशोंसे रहित, सदा स्वयंप्रकाशमान, ज्योतिःस्वरूप, अचल, भयादि द्वैत-रहित स्वस्वरूपका नाम ही समाधि है ।' सम्पूर्ण प्रत्ययोंसे और सब प्रकारके सम्बन्धोंसे रहित होनेके कारण इस समाधिका नाम ही अस्पर्शयोग है ।

प्रश्न—अनादि-अनन्त कालसे सञ्चित अनात्मविषयक प्रत्ययोंके अनन्त होनेसे इनका अल्पकालके अल्पसंख्यक आत्मविषयक प्रत्ययोंसे निरोध नहीं बन सकता ।

उत्तर—आत्मविषयक अभ्यासजन्य प्रत्ययोंके अल्प-संख्यक होनेपर भी इनका विषय आत्मा सत्य है, अतः इनसे मिथ्याविषयक अनात्मगोचर प्रत्ययोंका निरोध हो जाता है—'भूतार्थ (सत्य)पक्षपातो हि धियां स्वभावः ।'

तावदेवेयमनवस्थिता भ्राम्यति न यावत् तत्त्वं प्रतिलभते ।

—यह वाचस्पतिका वचन है ।

निरुपद्रवभूतार्थस्वभावस्य विपर्ययैः ।
न बाधोऽनादिमत्त्वेऽपि बुद्धेस्तत्पक्षपाततः ॥

यह बुधका वचन है । 'तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कार-प्रतिबन्धी' (१ । ५०) यह पतञ्जलिका सूत्र है । इसी योगसूत्रमें 'ख्यातिपर्यवसानं हि चित्तचेष्टितम्'—यह व्यास-भाष्यका वचन है । लाखों भेड़ोंको मारनेके लिये एक ही शेर समर्थ हो सकता है । अतः बहुत संख्यावालोंसे अल्प संख्यावालोंका बाध होता है, यह नियम नहीं है ।

यहाँपर यह क्रम है—प्रथम गुरु और शास्त्रके द्वारा श्रवण किये हुए ब्रह्मस्वरूपका स्मरण करे और पुनः-पुनः आवृत्ति करता हुआ विजातीय वृत्तिके तिरस्कारपूर्वक सजातीय वृत्तिके प्रवाहको बढ़ावे, जब चित्त तैलधाराकी तरह लक्ष्यमें एकाग्र हो जाता है तब अनात्मवृत्तियोंका निरोध हो जाता है और एकाग्रताकी परिपक्वावस्थारूप समाधि (निर्विचार) योगका लाभ होता है । इस समाधियोगके परिपक्व होनेपर वैशारद्य (रजस्तमसे अनभिभूत स्वच्छ सत्त्वके स्थितिप्रवाह) का लाभ होता है । इसके अनन्तर अध्यात्मप्रसाद (यथार्थवस्तुविषयक युगपत् स्फुट प्रज्ञाका आलोक) होता है । इस अवस्थाका वर्णन करते हुए योगभाष्यमें कहा है—

प्रज्ञाप्रसादमारुह्य अशोच्यः शोचतो जनान् ।
भूमिष्ठानिव शैलस्थः सर्वान् प्राज्ञोऽनुपश्यति ॥

इस अध्यात्मप्रसादकी परिपक्व अवस्थाके लाभ होनेपर ऋतम्भरा प्रज्ञाका लाभ होता है । यह प्रज्ञा अन्वर्थ है, केवल सत्यको ही विषय करनेवाली है—विपर्यासका इसमें गन्ध भी नहीं रहता । इस अवस्थाका वर्णन करते हुए व्यासजीने योगभाष्यमें कहा है—

आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च ।
त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम् ॥

अर्थात् श्रवण, मनन, ध्यानाभ्यासमें पुनः-पुनः आदरसे उत्तम योग (ऋतम्भरा प्रज्ञा) की प्राप्ति होती है । यह प्रज्ञा अद्वितीयत्व-असङ्गत्वादि विशेषविषयक होनेसे श्रुत और अनुमानजन्य प्रज्ञासे अन्यविषयक है । इस तत्त्वसाक्षात्काररूप प्रज्ञाके लाभ होनेसे योगीके स्वतःसिद्ध प्रज्ञासे पुनः-पुनः नवीन-नवीन संस्कार पैदा होता है । 'तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी' (१ । ५०)—यह तत्त्वसाक्षात्कारजन्य संस्कार व्युत्थानसंस्कार आशयका बाध करता है । व्युत्थानसंस्कारोंके अभिभवसे अनात्म-संस्कारजन्य प्रत्ययरूप व्युत्थान नहीं होता; प्रत्ययनिरोधसे समाधि होती है, एवं समाधिसे पुनः तत्त्वप्रज्ञा होती है और उससे प्रज्ञाकृत संस्कार—इस प्रकार नवीन-नवीन संस्कार, आशय पैदा होता है, ततः प्रज्ञा, ततः संस्कारः ।

प्रश्न—यह संस्कारका अतिशय चित्तको साधिकार क्यों नहीं करता ?

उत्तर—ये संस्कार तत्त्वज्ञानसे पैदा हुए हैं, अतः चित्तको साधिकार अर्थात् भोगादि कार्य करनेमें समर्थ नहीं कर सकते । किन्तु ये विवेकख्यातिजन्य संस्कार क्लेशक्षय-

के हेतु है, अतः चित्तको भोगरूप कार्य करनेमें असमर्थ कर देते हैं। अतएव योगभाष्यमें कहा है—'ख्यातिपर्यवसानं हि चित्तचेष्टितम्'। परवैराग्यसे तत्त्वज्ञान और तत्त्वज्ञानजन्य संस्कारोंका भी निरोध हो जानेपर निर्बीज समाधि होती है, इसी समाधिका नाम असम्प्रज्ञातयोग है। 'तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः'—इस सूत्रसे पतञ्जलि भगवान्ने असम्प्रज्ञातयोगका ही वर्णन किया है। परवैराग्यजन्य निरोधसंस्कारोंके सहित चित्त निवृत्त हो जाता है, चित्तके निवृत्त होनेसे पुरुष स्वस्वरूपमें स्थित शुद्ध मुक्त कहा जाता है। 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्'—इस योगसूत्रने इसी अवस्थाका वर्णन किया है। यह योगका स्वरूप कहा।

इस योगके सामान्यतः चार भेद हैं—१ मन्त्रयोग, २ लययोग, ३ हठयोग, ४ राजयोग। मन्त्रयोगका वर्णन संक्षेपसे योगचूडामण्युपनिषद्में किया है—

हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः।
हंस हंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा॥
षट् शतानि दिवा रात्रौ सहस्राण्येकविंशतिः।
एतत्संख्यान्वितं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा॥
अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदा सदा।
अस्याः सङ्कल्पमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते॥
अनया सदृशी विद्या अनया सदृशो जपः।
अनया सदृशं ज्ञानं न भूतं न भविष्यति॥
(३१–३५)

योगतत्त्वोपनिषद्में मन्त्रयोगके विषयमें इस प्रकार कहा है—

मातृकादियुतं मन्त्रं द्वादशाब्दं तु यो जपेत्।
क्रमेण लभते ज्ञानमणिमादिगुणान्वितम्॥
(२१। २२)

तुलसीदासजीने भी मन्त्रयोगकी महिमा बहुत गायी है—

नाम जीहँ जपि जागहिं जोगी। बिरति बिरंचि प्रपंच बियोगी॥
साधक नाम जपहिं लय लाये। होंहि सिद्ध अनिमादिक पाये॥

पतञ्जलि भगवान्ने भी मन्त्रयोगका वर्णन किया है—

'तस्य वाचकः प्रणवः', 'तज्जपस्तदर्थभावनम्'।
(योग० १। २७-२८)

मनु भगवान् कहते हैं—

योऽधीतेऽहन्यहन्येतांस्त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः।
स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः खमूर्तिमान्॥
(२। ८२)

जप्येनैव तु संसिद्ध्येद्ब्राह्मणो नात्र संशयः।
(२। ८७)

'जो पुरुष प्रतिदिन आलस्यादिरहित होकर प्रणव-व्याहृतिके सहित गायत्रीमन्त्रका जप तीन वर्षपर्यन्त नियमसे करता है, सो वायुकी तरह स्वतन्त्र गतिवाला होता है, और परब्रह्मको प्राप्त होता है।'

'पवित्र मन्त्रके जपसे ही ब्राह्मण सिद्ध होता है, इसमें सन्देह नहीं है।'

यस्तु द्वादशसाहस्रं प्रणवं जपतेऽन्वहम्।
तस्य द्वादशभिर्मासैः परं ब्रह्म प्रकाशते॥
(सन्यासोपनिषद्)

हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः।
हंस हंसेति मन्त्रोऽयं सर्वैर्जीवैश्च जप्यते॥
गुरुवाक्यात् सुषुम्नायां विपरीतो भवेज्जपः।
सोऽहं सोऽहमिति प्रोक्तो मन्त्रयोगः स उच्यते।
प्रतीतिर्मन्त्रयोगाच्च जायते पश्चिमे पथि॥
(योगशिखोपनिषद् १। १३०–१३२)

मन्त्रयोगसे पश्चिमपथ (सुषुम्ना) का दर्शन होता है। सुषुम्नादर्शनसे चित्तस्थितिद्वारा तत्त्वसाक्षात्कार ही मन्त्रयोगका फल है, अर्थात् 'सोऽहम्' इत्यादि मन्त्रजप करते-करते जो चित्तवृत्तिका निरोध होता है उसका नाम मन्त्रयोग है। मानस जप और मौखिक जप न हो सके तो लेखात्मक जप करे, इससे भी मन स्थिर हो जाता है।

लययोग

लययोगश्चित्तलयः कोटिशः परिकीर्तितः।
गच्छंस्तिष्ठन् स्वपन् भुञ्जन् ध्यायेन्निष्कलमीश्वरम्॥
स एव लययोगः स्यात्........।
(योगतत्त्वोपनिषद् २३-२४)

इन्द्रियाणां मनो नाथो मनोनाथस्तु मारुतः।
मारुतस्य लयो नाथः स लयो नादमाश्रितः॥
(हठयोगप्रदीपिका ४। २९)

'इन्द्रियोंका नाथ (स्वामी) मन है, और मनका स्वामी प्राण है, प्राणका नाथ मनका लय है, मनका लय

नादके श्रवणसे होता है।' अर्थात् षण्मुखी मुद्रामे (अपने दो अँगूठोंसे कान, दो तर्जनियोंसे आँख, दो मध्यमाओंसे नाक, बाकी अँगुलियोंसे मुख बन्द करके आधी रात्रिके बाद आन्तर शब्दमें मनको लगाना) मनका लय करे।

अभ्यस्यमानो नादोऽयं बाह्यमावृणुते ध्वनिम्।
पक्षाद्विक्षेपमखिलं जित्वा योगी सुखी भवेत्॥
कर्पूरमनले यद्वत् सैन्धवं सलिले यथा।
तथा संधीयमानं च मनस्तत्त्वे विलीयते॥
(४। ८३, ५९)

'लयो विषयविस्मृतिः', 'निरालम्बं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्', 'भ्रुवोर्मध्ये शिवस्थानं मनस्तत्र विलीयते, विलापयेदित्यर्थः'। (४। ३४, ५०, ४८)

—इत्यादि हठयोगप्रदीपिकामे लययोगका विस्तारसे वर्णन किया है।

सङ्कल्पमात्रकलनैव जगत्समग्रं
सङ्कल्पमात्रकलनैव मनोविलासः।
सङ्कल्पमात्रमतिमुत्सृज निर्विकल्प-
माश्रित्य निश्चयमवाप्नुहि राम शान्तिम्॥

—इत्यादि योगवासिष्ठमे भी विस्तारसे लययोगका वर्णन है।

पवनः स्थैर्यमायाति लययोगोदये सति।
लयात्सम्प्राप्यते सौख्यं स्वात्मानन्दं परं पदम्॥
(योगशिखोपनिषद्)

निर्विकल्पे निराधारे निराकारे निरञ्जने।
सर्वभूतलयं दृष्ट्वा भूतसिद्धिः प्रजायते॥

हठयोग

· · हठयोगमतः शृणु।
यमश्च नियमश्चैव आसनं प्राणसंयमः॥
प्रत्याहारो धारणा च ध्यानं भ्रूमध्यमे हरिम्।
समाधिः समतावस्था साष्टाङ्गो योग उच्यते॥
लघ्वाहारो यमेष्वेको मुख्यो भवति नेतरः॥
अहिंसा नियमेष्वेका मुख्या वै चतुरानन!।
(२४-२५, २८, २९)

—इत्यादि हठयोगका प्रतिपादन योगतत्त्वोपनिषद्मे किया गया है। इन अङ्गोंका वर्णन 'योगदर्शन', 'हठयोग-प्रदीपिका', 'घेरण्डसंहिता' आदि योगग्रन्थोंमे विस्तारसे किया गया है। यहाँ लेखविस्तारके भयसे यमादिका वर्णन नहीं करते।

अथवा—

हकारेण तु सूर्यः स्यात् सकारेणेन्दुरुच्यते।
सूर्याचन्द्रमसोरैक्यं हठ इत्यभिधीयते॥
हठेन ग्रस्यते जाड्यं सर्वदोषसमुद्भवम्।
क्षेत्रज्ञः परमात्मा च तयोरैक्यं तदा भवेत्॥
(योगशिखोपनिषद्)

सूर्य नाम दक्षिण स्वरका है, चन्द्र नाम वाम स्वरका है, दोनोंकी समताका नाम हठयोग है। अर्थात् नाभिसे उठकर नासिकाके अग्रभागसे बारह अङ्गुलपर्यन्त प्राण-वायु बाहर जाता है, पुनः लौटकर नाभिमे प्राणवायु आता है, इस प्रकार प्राणवायुकी स्वाभाविक गति है।

प्राणायामके बलसे योगी प्राणवायुकी गतिको एक-एक दो-दो अङ्गुल क्रमशः घटावे, जब द्वादश अङ्गुल बाहरकी गति बन्द हो जाय और केवल नासिकाके भीतर ही दोनो स्वर सम होकर सुषुम्नासे जिस अवस्थामे प्राण चले उस अवस्थाका नाम 'हठ' है। इस अवस्थाका वर्णन श्रीभगवान्‌ने गीतामें भी किया है—

प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ॥ इत्यादि।

अथवा प्राणनिरोधद्वारा मनका निरोध हठयोग है, और मनके निरोधद्वारा प्राणका निरोध राजयोग है।

राजयोग

मन्त्रयोग, लययोग, हठयोगका फल राजयोग है। आत्मनिष्ठा, ब्रह्मनिष्ठा, राजविद्या, राजगुह्य, महायोग, अस्पर्शयोग, सांख्ययोग, अध्यात्मयोग, ज्ञानयोग, राजाधि-राजयोग इत्यादि अनेक नाम राजयोगके हैं। १ विवेक २ वैराग्य ३ षट्सम्पत्ति ४ मोक्षकी इच्छा ५ श्रवण ६ मनन ७ निदिध्यासन ८ तत्पदार्थ, त्व पदार्थका शोधन-रूप आठ अङ्गोंसे प्रत्यगभिन्न ब्रह्मविषयक निर्विकल्प समाधिरूप राजयोगकी सिद्धि होती है। कर्मयोग, ध्यानयोग, भक्तियोग भी राजयोगके अङ्ग हैं। त्रिशिखिब्राह्मणोप-निषद्मे राजयोगके १ यम २ नियम ३ आसन ४ प्राणायाम ५ प्रत्याहार ६ धारणा ७ ध्यान ८ समाधि, ये आठ अङ्ग कहे हैं, इन यमादिका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

देहेन्द्रियेषु वैराग्यं यम इत्युच्यते बुधैः ॥
अनुरक्तिः परे तत्त्वे सततं नियमः स्मृतः ।
सर्ववस्तुन्युदासीनभावमासनमुत्तमम् ॥
जगत्सर्वमिदं मिथ्याप्रतीतिः प्राणसंयमः ।
चित्तस्यान्तर्मुखीभावः प्रत्याहारस्तु सत्तम ॥
चित्तस्य निश्चलीभावो धारणा धारणं विदुः ।
सोऽहं चिन्मात्रमेवेति चिन्तनं ध्यानमुच्यते ॥
ध्यानस्य विस्मृतिः सम्यक् समाधिरभिधीयते ।
(२८—३२)

अर्थात् देहादिमें वैराग्य यम है । निरन्तर परतत्त्वमें अनुरक्तिका नाम नियम है । सर्व वस्तुओंमें उदासीनता आसन है । जगत्‌में मिथ्यात्वनिश्चय प्राणायाम है । चित्तकी अन्तर्मुखता प्रत्याहार है । चित्तका तत्त्वमें निश्चलभाव धारणा है । 'चिन्मात्र ब्रह्म ही मैं हूँ'— इस चिन्तनका नाम ध्यान है । ध्यानकी अच्छी तरह विस्मृति अर्थात् केवल संस्कारशेष अवस्था समाधि है ।

तेजोबिन्दूपनिषद्‌में राजयोगके पन्द्रह अङ्ग कहे गये हैं ।

यमो हि नियमस्त्यागो मौनं देशश्च कालतः ।
आसनं मूलबन्धश्च देहसाम्यं च दृक्स्थितिः ॥
प्राणसंयमनं चैव प्रत्याहारश्च धारणा ।
आत्मध्यानं समाधिश्च प्रोक्तान्यङ्गानि वै क्रमात् ॥
सर्वं ब्रह्मेति विज्ञानादिन्द्रियग्रामसंयमः ।
यमोऽयमिति सम्प्रोक्तोऽभ्यसनीयो मुहुर्मुहुः ॥
(१ । १५—१७)

(१) 'सम्पूर्ण ब्रह्म ही है'—इस ज्ञानसे जो इन्द्रिय-ग्रामका संयम है, सो ही यम है । इस यमका जिज्ञासुको पुनः पुनः अभ्यास करना चाहिये ।

(२) सजातीयप्रवाहश्च विजातीयतिरस्कृतिः ।
नियमो हि परानन्दो नियमात्क्रियते बुधैः ॥
(१ । १८)

'अहं ब्रह्मास्मि' वृत्तिका सजातीय प्रवाह और विजातीय वृत्तियोंका तिरस्कार नियम है । इसका विद्वान्‌लोग नियमसे अनुष्ठान करते हैं ।

(३) त्यागो हि महतां पूज्यः सद्यो मोक्षप्रदायकः ।
(१ । १९)

अनात्मचिन्ताका न करना ही त्याग है । यह महान् पुरुषोंका पूज्य है, शीघ्र मोक्षको देनेवाला है ।

(४) ब्रह्म मन-वाणीका अगोचर है और 'नेति-नेति' श्रुतिप्रमाणसे अनात्मा वस्तुतः है नहीं, इस निश्चयको मौन कहते हैं ।

इति वा तद्भवेन्मौनं सर्वं सहजसंज्ञितम् ।
गिरा मौनं तु बालानामयुक्तं ब्रह्मवादिनाम् ॥

(५) आदावन्ते च मध्ये च जनो यस्मिन्न विद्यते ।
येनेदं सततं व्याप्तं स देशो विजनः स्मृतः ॥
(१ । २२-२३)

वस्तुतः जिसमें सर्वथा सर्वदा कोई भी मनुष्यादि प्रपञ्च नहीं है, सबका विवर्ताधिष्ठान होनेसे जो सर्वत्र सर्वदा विद्यमान है उस अपने आत्माको ही योगियोंने अभ्यासके लिये निर्जन एकान्त देश कहा है ।

(६) कल्पना सर्वभूतानां ब्रह्मादीनां निमेषतः ।
कालशब्देन निर्दिष्टं ह्यखण्डानन्दमद्वयम् ॥
(१ । २४)

ब्रह्मादि सर्वभूतोंकी जिसमें क्षणभरमें कल्पना होती है ऐसा अखण्ड आनन्द अद्वितीय ब्रह्म ही अभ्यासके योग्य काल है । अर्थात् अभ्यासीको देश-कालकी भ्रान्तिका त्याग करना चाहिये ।

(७) सुखेनैव भवेद्यस्मिन्नजस्रं ब्रह्मचिन्तनम् ।
आसनं तद्विजानीयादन्यत्सुखविनाशनम् ॥
(१ । २५)

यद्यपि आसन चौरासी लक्ष हैं, उनमें ८४ आसन प्रधान हैं, चौरासी आसनोंमें भी १ सिंह २ भद्र ३ पद्म ४ सिद्ध, ये चार आसन प्रधान हैं; इनमें भी सिद्धासन अत्यन्त प्रधान है । सिद्ध आसनका यह लक्षण है—वाम पादकी एड़ीको उपस्थके ऊपर दबाकर धरे, और वाम पैरके जाँघ और ऊरुके बीचमें दक्षिण पैरके पंजेको दबाके रक्खे, और भ्रुकुटीके ऊपर दृष्टि रक्खे, और स्थाणुकी तरह सरल निश्चल शरीर करे । इसका नाम सिद्धासन है । तथापि जिस आसनसे सुखपूर्वक निरन्तर ब्रह्मका चिन्तन हो सके वही आसन योगीको उपादेय है । अर्थात् जिस स्थितिमें एकाग्र मन ब्रह्मचिन्तन कर रहा हो, उस स्थितिको न बदले । स्थिति बदलनेपर एकाग्रताका सुख नष्ट हो जायगा । वस्तुतः जो सम्पूर्ण सिद्धोंकी सिद्धिका निमित्त है, जो सर्वभूतोंका आदि है, जो विश्वका अधिष्ठान है, वही अद्वितीय ब्रह्म सिद्धासन है—

सिद्धये सर्वभूतादि विश्वाधिष्ठानमद्वयम् ।
यस्मिन् सिद्धिं गताः सिद्धास्तत्सिद्धासनमुच्यते ॥

(८) यन्मूलं सर्वलोकानां यन्मूलं चित्तबन्धनम् ।
मूलबन्धः सदा सेव्यो योग्योऽसौ ब्रह्मवादिनाम् ॥
(१ । २६-२७)

जो सर्वलोकोंका मूल है, जो चित्तनिरोधका मूल है, सो यह आत्मा ही ब्रह्मवादियोंको सदा सेवन करना चाहिये। यही मूलबन्ध है, अन्य गुदासंकोचरूप मूलबन्ध जिज्ञासुको सेव्य नहीं है।

(९) अङ्गानां समतां विद्यात्समे ब्रह्मणि लीयते।
नोचेन्नैव समानत्वमृजुत्वं शुष्कवृक्षवत् ॥
(१ । २८)

अपने हस्तादि सम्पूर्ण अंगोंको ब्रह्मरूप समझे, इस प्रकार समझनेवाला योगी ब्रह्ममें ही लीन होता है। इस ज्ञानके बिना केवल कटि आदि अंगोंकी समता या ऋजुता शुष्कवृक्षकी सरलताकी तरह व्यर्थ है।

(१०) दृष्टिं ज्ञानमयीं कृत्वा पश्येद्ब्रह्ममयं जगत्।
सा दृष्टिः परमोदारा न नासाग्रावलोकिनी ॥
(१ । २९)

ज्ञानदृष्टिसे सम्पूर्ण जगत्‌को ब्रह्मरूप देखे, यही दृष्टि परम उदार मोक्षको देनेवाली है, नासिकाके अग्रभागको विषय करनेवाली दृष्टि मुमुक्षुको कर्तव्य नहीं है। नासिकाके अग्रभागमें दृष्टि करनी चाहिये, इसका यह भाव है कि यदि योगी नेत्रोंको अधिक खोलेगा तो विक्षेप होगा, यदि सर्वथा नेत्र बन्द करेगा तो आलस्यादिसे चित्तका लय होगा, अतः योगी शाम्भवी मुद्रासे स्थित रहे, भ्रकुटीके मध्यमें आन्तरतत्त्वमें लक्ष्य रक्खे, नेत्रोंको किञ्चित् खुला रक्खे, इसको शाम्भवी मुद्रा कहते हैं।

(११) चित्तादिसर्वभावेषु ब्रह्मत्वेनैव भावनात्।
निरोधः सर्ववृत्तीनां प्राणायाम स उच्यते ॥
(१ । ३१)

'चित्तादि सर्व पदार्थोंमें ब्रह्मभावनाके परिपाकसे सर्ववृत्तियोंका निरोध हो जाता है और सर्ववृत्तियोंके निरोधसे प्राणका भी निरोध होता है। यही मुख्य प्राणायाम है।'

'नेति-नेति' श्रुतिके बलसे प्रपञ्चका अभाव निश्चय करना रेचक प्राणायाम है। 'ब्रह्मैवाहमस्मि'—इस वृत्तिका नाम पूरक है। 'ब्रह्मैवाहमस्मि'—इस वृत्तिकी निश्चलता कुम्भक प्राणायाम है, ब्रह्मनिष्ठोंका यही प्राणायाम है। केवल नाक दबाकर प्राणोंका रोकना अज्ञानियोंका प्राणायाम है।

निषेधनं प्रपञ्चस्य रेचकाख्यः समीरितः।
ब्रह्मैवास्मीति या वृत्तिः पूरको वायुरुच्यते ॥
ततस्तद्वृत्तिनैश्चल्यं कुम्भकः प्राणसंयमः।
अयं चापि प्रबुद्धानामज्ञानां घ्राणपीडनम् ॥

(१२) विषयेष्वात्मतां दृष्ट्वा मनसश्चित्तरञ्जकम्।
प्रत्याहारः स विज्ञेयोऽभ्यसनीयो मुहुर्मुहुः ॥
(१ । ३२—३४)

'सम्पूर्ण विषयोंमें आत्मदृष्टि करनेसे जो चित्तका सन्तोष और शान्ति होती है वही प्रत्याहार है, यही प्रत्याहार योगीके द्वारा अभ्यास करने योग्य है।'

(१३) यत्र यत्र मनो याति ब्रह्मणस्तत्र दर्शनात्।
मनसा धारणं चैव धारणा सा परा मता ॥
(१ । ३५)

जहाँ-जहाँ मन जावे वहाँ-वहाँ ब्रह्मदर्शन, यही उत्तम धारणा है।

(१४) ब्रह्मैवास्मीति सद्वृत्त्यां निरालम्बतया स्थितिः।
ध्यानशब्देन विख्यातः परमानन्ददायकः ॥
(१ । ३६)

अन्य विषयशून्य जो 'ब्रह्मैवाहमस्मि' वृत्तिकी एकतानता है, यही ध्यान है। यह ध्यान परमानन्दका देनेवाला है।

(१५) निर्विकारतया वृत्त्या ब्रह्माकारतया पुनः।
वृत्तिविस्मरणं सम्यक् समाधिरभिधीयते ॥
(१ । ३७)

निर्विकार अद्वितीय ब्रह्माकारवृत्तिकी स्थितिके अनन्तर परिणामित्वादि दोषदर्शनपुरःसर परवैराग्यसे जो सर्वथा वृत्तिका विस्मरण और विलय है, सो संस्कारशेष अवस्था समाधि है। इस समाधिका तबतक पूर्णतया अभ्यास होना चाहिये, जबतक सम्पूर्ण विषयशून्य ब्रह्मका प्रत्यक् स्वस्वरूपसे स्फुरण न हो जाय। एवं योगचूडामणि उपनिषद्‌में राजयोगके आसनादि ६ ही अङ्ग कहे हैं। एवं श्रीजाबालोपनिषद्, योगतत्त्वोपनिषद्, योगशिखोपनिषद् आदिमें भी राजयोगका विस्तारसे वर्णन किया है। यहाँ विस्तारके भयसे नहीं लिखते हैं।

अहमेव परं ब्रह्म ब्रह्माहमिति संस्थितिः।
समाधिः स तु विज्ञेयः सर्ववृत्तिविवर्जितः ॥
दानं स्वधर्मो नियमो यमश्च
श्रुतं च कर्माणि च सद्व्रतानि।
सर्वे मनोनिग्रहलक्षणान्ताः
परो हि योगो मनसः समाधिः ॥

योगसाधन-रहस्य

(लेखक—स्वामी श्रीदयानन्दजी)

आर्यशास्त्रमें भक्तिको उपासनाका प्राण और योगको उपासनाका शरीर कहा गया है। जिस प्रकार विना प्राणके शरीर रह नहीं सकता, उसी प्रकार विना भक्तिके उपासना बन ही नहीं सकती; इस कारण भक्ति उपासनाका प्राण है। शरीरके विना जिस तरह शरीरी आत्माका भोग असम्भव है उसी प्रकार योगकी शैलीके विना उपासनाका कोई साधन बन ही नहीं सकता। इसी कारण योगको उपासनाका शरीर कहा है। आवरण, विक्षेप आदि भावोंसे अन्तःकरणके युक्त रहनेसे परमात्माका स्वरूप प्रकट नहीं हो सकता, इस कारण सर्वव्यापी परमात्मा जीवके अन्तःकरणमें विराजमान रहनेपर भी उससे दूर हो जाते हैं; अथवा यह कहिये कि, अन्तःकरणरूप जलाशय सदसद्वृत्तियोंसे तरङ्गायित और आलोडित रहनेके कारण परमात्मारूपी सूर्यका यथार्थ स्वरूप उस जलाशयमें दिखायी नहीं पड़ता। जब साधनकी सुकौशलपूर्ण क्रियाद्वारा उस जलाशयरूपी अन्तःकरणका वृत्तिरूपी तरङ्ग एकबार ही शान्त हो जाता है तभी सूर्यप्रतिबिम्ब अथवा अपना मुख दर्शक उसमें देख सकता है। अत. योगशास्त्रमें कहा है—

'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'

'तदा द्रष्टु. स्वरूपेऽवस्थानम्'

चित्तवृत्तिनिरोधकी सुकौशलपूर्ण क्रियाओंको योग कहते हैं। योगक्रियाद्वारा क्रमशः अन्तःकरणकी वृत्तियाँ शान्त होते-होते जब एकबारगी ही शान्त हो जाती हैं उस अवस्थाका नाम योगयुक्त अवस्था है। उसी अवस्थामें द्रष्टा अर्थात् परमात्मा अपने यथार्थ स्वरूपमें प्रकट हो जाते हैं। हम यह दिखा चुके हैं कि, चित्तवृत्तियोंके चाञ्चल्यके कारण सर्वव्यापक तथा जीव-हृदय-विहारी परमात्मा जीवके हृदयसे छिप जाते हैं, यही उनका जीवसे दूर हट जाना है। जिन-जिन साधनोंके द्वारा इस प्रकार दूर हटे हुए परमात्मासे अनाथ हुआ जीव उनके निकट होकर सनाथ हो जाता है उन्हींको उपासना कहते हैं, अर्थात् उप—समीपे, आस्यते—प्राप्त होता है, अनया—इस साधनके द्वारा, इति उपासना। अत. जिन-जिन क्रियाओंके अवलम्बनसे परमात्माके निकट होनेमें जीव समर्थ होता है, उन्हींको उपासना कहते हैं और जब चित्तवृत्तिनिरोध होते-होते उसकी पूर्णावस्थामें परमात्मा अन्त.करणमें प्रकट होकर जीवके निकटस्थ हो जाते हैं तो यह मानना ही पड़ेगा कि, उपासनापक्षमें सर्वथा सर्वरूपसे सहायक योग उपासनाका शरीररूप है।

योगशास्त्रमें व्युत्थान दशासे लेकर निरोध दशापर्यन्त चित्तकी पाँच भूमियाँ बतायी गयी हैं, यथा मूढ, क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। चित्तकी मूढ भूमि वह कहलाती है जिसमें चित्त सदसद्विचारहीन होकर, आलस्य, विस्मृति आदिके वश होकर बेलगाम घोड़ेकी तरह कुछ-से-कुछ करता रहता है। यह भूमि तमोगुणकी है। चित्तकी रजोगुणमयी दूसरी भूमिका नाम क्षिप्त है। इसमें चित्त किसी एक कार्यमें लगकर बुद्धिकी सहायतासे विचार करता हुआ किसी लक्ष्यका साधन करता रहता है। यथा—लगामवाला घोडा या विचारवान् प्रवृत्तिपर मनुष्योंके चित्तकी भूमि। चित्तकी तीसरी भूमिका नाम विक्षिप्त है। यह भूमि सत्त्वगुणकी है और क्षिप्तसे विशिष्टतायुक्त होनेसे ही इसका नाम विक्षिप्त है। इस भूमिमें चित्त सुख, दुःख, विचार, आलस्य, रजोगुण, तमोगुण आदिसे पृथक् होकर शून्य हो जाता है और उसमें कोई भी चिन्ता नहीं रहती है। इस भूमिका उदय महात्माओंमें अधिक और सांसारिक जीवोंमें कभी-कभी बहुत थोडी देरके लिये होता है। तदनन्तर चित्तकी जो दो भूमियाँ हैं वे साधन अवस्था-की हैं। इनमेंसे एकाग्र भूमिमें ध्याता ध्यानयोगके द्वारा ध्येय वस्तुमें चित्तको ठहरानेका प्रयत्न करता है जिसके लिये भगवान् श्रीपतञ्जलिजीने यम, नियम, आसन, प्राणायामादि अष्टाङ्गयोगरूप साधारण उपाय और ईश्वरप्रणिधान, अभिमतध्यान, स्वप्ननिद्राज्ञानावलम्बन, ज्योतिष्मती विशोकादर्शन आदि कई असाधारण उपाय बताये हैं। इस प्रकार साधारण तथा असाधारण उपायोंके द्वारा एकाग्र भूमिमें उन्नति लाभ करके अन्तमें जब साधक-के चित्तमें ध्याता, ध्यान, ध्येयरूपी त्रिपुटीका विलय साधन होता है तभी अन्तिम भूमिरूप निरुद्ध भूमिका उदय होता है। इसी निरुद्ध भूमिमें ही योगी क्रमश. सम्प्रज्ञात समाधि-

की चार अवस्थाओंको अतिक्रम करके अन्तमें सिद्धावस्थाको प्राप्तकर मुक्त हो जाता है। अतः अधिकारानुसार चाहे कोई किसी रास्तेसे ही चले योगशास्त्रकी बतायी हुई एकाग्र भूमिसे निरुद्ध भूमिमें पहुँचनेका नाम ही साधन है।

चित्तवृत्तिनिरोध करनेवाली सुकौशलपूर्ण जितनी क्रियाएँ हैं उन्हींको पूज्यपाद महर्षियोंने अनेक गवेषणा करके निश्चय कर दिया है कि चित्तवृत्तिनिरोध करनेवाली क्रियाशैलीको चार भागोंमें विभाजित कर सकते हैं और चित्तवृत्तियोंको निरोध करनेके मार्गको आठ सोपानों अथवा आठ मार्गविभागोंमें विभक्त कर सकते हैं। यह संसार नामरूपात्मक है अर्थात् परिदृश्यमान संसारका कोई भी अङ्ग नामरूपसे बचा हुआ नहीं है। इसी कारण नामरूपमें फँसकर ही जीव बद्ध होता है। चित्तकी वृत्तियाँ भी नामरूपके ही अवलम्बनसे अन्तःकरणको चञ्चल किया करती हैं। अतः जहाँ मनुष्य गिरता है उसी भूमिको पकड़कर उठना चाहिये। अस्तु, नामरूपके अवलम्बनसे चित्तवृत्तिनिरोधकी जितनी क्रियाएँ हैं उनको मन्त्रयोगके अन्तर्गत करके महर्षियोंने वर्णित किया है।

हठयोगका ढंग कुछ और ही है। स्थूल शरीर सूक्ष्म शरीरका ही परिणाम है। इस कारण स्थूल शरीरका प्रभाव सूक्ष्म शरीरपर बराबर समानरूपसे पड़ता है। अतः स्थूल शरीरके अवलम्बनसे सूक्ष्म शरीरपर प्रभाव डालकर चित्तवृत्तिनिरोध करनेकी जितनी शैलियाँ हैं उनको हठयोग कहते हैं।

लययोगका ढंग कुछ और ही विचित्र है। जीवशरीररूपी पिण्ड और समष्टिसृष्टिरूपी ब्रह्माण्ड ये दोनों समष्टि-व्यष्टिसम्बन्धसे एक ही हैं। अतः दोनोंको एक समझकर अपने भीतर जो प्रकृतिशक्ति है उसे अपने शरीरस्थ पुरुषभावमें लय करनेकी जो शैली है और उसके अनुयायी जितने साधन हैं उनको लययोग कहते हैं।

राजयोगका अधिकार सबसे बढ़कर है। मनकी क्रिया मनुष्यको फँसाती है और बुद्धिकी क्रिया मनुष्यको मुक्त करनेमें सहायक होती है, यही कारण है कि अज्ञानसे जीव बन्धनको प्राप्त होता है और ज्ञानसे मुक्त होता है। अतः बुद्धिक्रियारूपी विचारद्वारा चित्तवृत्तिनिरोधकी जो शैली है उसको राजयोग कहते हैं।

योगमार्गके आठ सोपानरूप आठ अङ्गोंमेंसे चार बहिरङ्ग और चार अन्तरङ्ग कहाते हैं। यम, नियम, आसन और प्राणायाम ये चार बहिरङ्ग हैं और प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये चार अन्तरङ्ग हैं। बहिर् और अन्तरङ्गको मिलानेवाला प्रत्याहार अङ्ग है। जीव बहिरिन्द्रिय और अन्तरिन्द्रियमें फँसकर बद्ध रहता है। इस कारण बहिरिन्द्रिय और अन्तरिन्द्रियसे वीतराग करानेके जो अभ्यास हैं उनको यथाक्रम यम और नियम कहते हैं। इन दोनोंकी क्रियाशैली विभिन्न आचार्योंके मतानुसार विभिन्न प्रकारकी है। इस प्रकारसे यम और नियमके साधनोंसे उपासना-काण्डका साधक योगसाधनका अधिकारी बनता है। और तृतीय सोपानमें वह अपने शरीरको योगोपयोगी करता है। मीमांसाका यह सिद्धान्त है कि चाञ्चल्यसे बन्धन और धैर्यसे मुक्ति होती है। अतः शरीरको धैर्ययुक्त करनेकी जो शैली है उसको आसन कहते हैं। शरीरको धैर्ययुक्त करनेके अनन्तर प्राणको धैर्ययुक्त करनेकी जो शैली है उसे प्राणायाम कहते हैं। प्राणायाम चतुर्थ अङ्ग है। प्राणायाम अङ्गके साधनके अनन्तर साधकको योगके अन्तरङ्ग साधनका अधिकार प्राप्त होता है क्योंकि मन और वायु दोनों कारण और कार्यरूपसे एक ही हैं। प्रत्याहार साधनके द्वारा साधक अपनी बहिर्दृष्टिको बहिर्जगत्से हटाकर अन्तर्जगत्में ले जाता है। कूर्म जिस प्रकार अपने अङ्गोंको समेट लेता है उसी प्रकार प्रत्याहाररूपी पञ्चम अङ्गके साधनसे उन्नत साधक बहिर्विषयसे अपनी विषयवती प्रवृत्तिको अन्तर्राज्यमें खींचकर बहिर्जगत्से अन्तर्जगत्में पहुँच जाता है। यही योगका पञ्चम अङ्ग है। अन्तर्जगत्में पहुँचकर सूक्ष्म अन्तर्राज्यके किसी विभागका अवलम्बन करके अन्तर्राज्यमें ठहरे रहनेको ही धारणा कहते हैं। इस प्रकारसे षष्ठ अङ्गरूपी धारणा साधनद्वारा योगी जब अन्तर्राज्यको जय कर लेता है तब बहिः और अन्तर्राज्यके द्रष्टा परमात्माके सगुण तथा निर्गुण रूपके ध्यान करनेकी शक्ति योगीको प्राप्त होती है। उस समय ध्याता, ध्यान और ध्येयरूपी त्रिपुटीके सिवा और कुछ नहीं रहता है। यही योगका सप्तम अङ्ग है। तत्पश्चात् ध्याता, ध्यान, ध्येयरूपी त्रिपुटीका जब विलय हो जाता है और ध्याता ध्यानमें मिलकर दोनों ध्येयमें लय हो जाते हैं उसी द्वैतभावरहित वृत्तिनिरोधकी अन्तिम अवस्थाको समाधि कहते हैं। यही योगका अष्टम अङ्ग है। मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग इन चारों क्रियासिद्धान्तोंकी जो क्रियाशैली पूज्यपाद महर्षियोंने कही है वे सब इन्हीं आठ अङ्गोंकी सहायतासे निर्णीत हुई हैं। भेद

इतना ही है किसीमें किसी अङ्गका विस्तार है और किसीमें किसी अङ्गका सङ्कोच है। इस प्रकारसे साधक एकके बाद दूसरा सोपान, दूसरेके बाद तीसरा सोपान इस प्रकारसे सोपान अतिक्रम करता हुआ अष्टम सोपानरूपी सविकल्प समाधिमें पहुँच जाता है और तदनन्तर निर्विकल्प समाधिमें पहुँचकर स्वरूप-उपलब्धि करनेमें समर्थ हो जाता है। निर्विकल्प समाधिप्राप्त योगी शारीरिक सर्व कर्म करता हुआ भी कुछ भी नहीं करता। तब वह चाहे स्वरूपस्थित रहे, चाहे व्युत्थान दशाको प्राप्त होकर कर्ममें प्रवृत्त हो, सब अवस्थाओंमें निर्विकल्प भावमें स्थित रहनेके कारण अद्वैतभावमें स्थिर रहता है। इसी दशाको जीवन्मुक्त दशा कहते हैं। इसीको अद्वैतस्थिति, इसीको परज्ञानकी दशा और इसीको पराभक्तिकी दशा भी कहते हैं। भिन्न-भिन्न विचारके अनुसार ये सब पर्यायवाचक शब्द हैं। उपासनाकी प्राणरूपिणी भक्ति और उपासनाके शरीररूपी योगका यही अन्तिम लक्ष्य है।

इन शास्त्रीय वचनोंका तात्पर्य यह है कि चित्तवृत्तिनिरोधद्वारा जो अवस्था प्राप्त होती है और जिस अवस्थामें जीवात्मा और परमात्माका एकीकरण होकर स्वरूपकी प्राप्ति होती है ऐसे साधनको योग कहते हैं। इन वचनोंसे यही सिद्धान्त निकलता है कि चित्तवृत्तियोंका जबतक निरोध नहीं होता है तबतक जीवकी पृथक् सत्ता विद्यमान रहती है। परन्तु चित्तवृत्तिका जितना-जितना निरोध होता जाता है उतना-उतना ही अज्ञानमूलक जीवत्वका नाश होकर स्वरूपका विकास होता है और चित्तवृत्तिके सम्पूर्णरूपसे निरुद्ध हो जानेपर जीवके जीवत्वका कारण नष्ट हो जाता है और तभी स्वरूपका पूर्ण विकास होता है। मन्त्रयोगकी सिद्धावस्थारूपी महाभाव समाधिमें और हठयोगकी सिद्धावस्थारूपी महाबोध समाधिमें और लययोगकी सिद्धावस्थारूपी महालय समाधिमें साधकको जो सफलता प्राप्त होती है उन सफलताओंसे साधकको चित्तवृत्तिके निरोध करनेमें बहुत कुछ सहायता मिलती है। इन तीनों सविकल्प समाधियोंकी दशामें साधक लौकिक पुरुषार्थद्वारा चित्तवृत्तियोंको दबाकर निरोध करनेमें समर्थ होता है। इन तीनों सविकल्प समाधियोंकी दशामें पूर्णरीत्या न चित्तवृत्तियोंका विलय होता है और न उनका मूलनाश ही हो सकता है। मन्त्र और इष्टदेवके रूपके एकीकरणद्वारा मन्त्रयोगकी महाभाव समाधिका उदय होता है। वायुनिरोधद्वारा हठयोगकी महाबोध नामक समाधिका उदय होता है और नाद और बिन्दुके एकीकरणसे लययोगकी महालय नामक समाधिका उदय होता है। ये तीन समाधियाँ लौकिक उपायसम्भूत होनेसे, हठपूर्वक अनुष्ठित होनेसे और ज्ञानसम्बन्धरहित होनेसे यद्यपि बलपूर्वक चित्तवृत्तिनिरोध करनेमें समर्थ होती हैं, तथापि चित्तवृत्तिके मूलोच्छेदमें समर्थ नहीं होतीं। अतः इन तीनों समाधिदशाओंमें वृत्तियोंका पुनरुत्थान होना सम्भव है। साधक इन तीनोंमेंसे किसी समाधिको प्राप्त करके जब योगकी उन्नत भूमिमें पहुँच जाता है, तभी वह देवदुर्लभ साधनकी उन्नत अवस्थाको प्राप्त करके राजयोगका अधिकारी बन जाता है। वस्तुतस्तु, मन्त्रयोग, हठयोग और लययोग जहाँ समाप्त होते हैं, राजयोगका श्रेष्ठ अधिकार वहींसे प्रारम्भ होता है।

राजयोगके साधनक्रमकी समालोचना करनेसे यही सिद्धान्त होगा कि प्रथम परम भाग्यवान् राजयोगी सप्त दर्शनोक्त सप्त ज्ञानभूमियोंको एकके बाद दूसरी इस तरह क्रमशः अतिक्रम करता हुआ जैसे मनुष्य सोपानद्वारा छतपर चढ़ जाता है, उसी प्रकार सप्त ज्ञानभूमियोंका रहस्य समझ जाता है। यही राजयोगोक्त सोलह अङ्गोंमेंसे प्रथम सप्ताङ्गोंका साधनक्रम है। इसके अनन्तर सौभाग्यवान् योगी सत् और चित् भावपूर्ण प्रकृति-पुरुषात्मक दो राज्योंके दर्शन करके उनकी धारणासे अनन्त रूपमय प्रपञ्चकी विस्मृति सम्पादन करनेमें समर्थ होता है। यही राजयोगके अष्टम और नवम अङ्गका साधनक्रम है। उसके अनन्तर वह योगिराज परिणामशील प्रकृतिके स्वरूपको सम्पूर्णरूपसे परिज्ञात होकर ब्रह्म, ईश और विराट्रूपमें अद्वितीय ब्रह्मसत्ताका दर्शन करके ध्यानभूमिकी पराकाष्ठाको पहुँच जाता है। यही राजयोगोक्त सोलह अङ्गोंमेंसे दशम, एकादश और द्वादश अङ्गोका साधनक्रम है। इसके अनन्तर परम भाग्यवान् योगाचार्य यथाक्रम वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत इन चारों आत्मज्ञानयुक्त (ये चारों समाधिकी दशाएँ पूर्वकथित मन्त्र-हठ-लययोगोक्त महाभाव, महाबोध, महालय समाधिसे विभिन्न हैं) समाधि दशाको अतिक्रमण करते हुए स्वस्वरूपको प्राप्त हो जाते हैं। इसी दशाको जीवन्मुक्ति दशा कहते हैं। यही सब प्रकारके योगसाधनोंका अन्तिम लक्ष्य है। यही उपासनाराज्यकी परिधि है और यही वेदान्तका चरम सिद्धान्त है।

आत्मज्ञान प्राप्त करनेका सरल उपाय—योग

(लेखक—ब्रह्मचारी श्रीगोपालचैतन्यदेवजी महाराज)

रम करुणामय श्रीश्रीसद्गुरु महाराजकी असीम कृपासे सञ्जीवित होकर आत्मस्वरूप अपने परमप्रिय सुधी 'कल्याण' के प्रेमी पाठकोंको परम कल्याणके मार्गपर चलनेकी विधियाँ बतलानेके लिये तैयार हुआ हूँ । यद्यपि मैं जानता हूँ कि यह विषय विशेष गूढ-शास्त्रतत्त्व, भावतत्त्व और साधन-तत्त्वसे पूर्ण होना चाहिये, तथापि मालूम नहीं अन्तरात्माने किसकी प्रेरणासे अनुप्राणित होकर मुझ-सदृश मूढ और गँवारसे लेखनी उठवायी है । यदि इस प्रबन्धमें कोई भूल-चूक हो तथा भाषासम्बन्धी दोष हों तो प्यारे सुधी पाठक उस ओर ध्यान न दे केवल क्रियाओंको विधिवत् करनेकी चेष्टा करें । मेरा विश्वास है कि वे स्वयं मेरी बातोंकी सत्यताका अनुभव करते हुए परमानन्दावस्था प्राप्त करेंगे । हाँ, मूल विषयपर आनेके पूर्व कुछ अपने जीवनका हाल लिखनेके लिये मैं विवश हो गया हूँ; क्योंकि पहले-पहल मुझे विशेष कष्ट उठाना पड़ा था, जिसे सामने रखनेसे आगेकी बातोंका यथार्थ मूल्य प्रकट होनेमें बहुत कुछ सहायता मिलेगी ।

बचपनमें ही योगसाधनकी धुन मेरे सिरपर सवार हो गयी थी । तबसे मैं जिस किसी साधु सन्तको देखता, भले-बुरेका कोई विचार न कर उसीके चरणोंमें सिर झुका देता और साधनतत्त्व प्राप्त करनेके लिये अपनी विशेष उत्कण्ठा प्रकट करता । उस समय मेरी हालत ऐसी हो गयी थी कि किसी विषयपर विचार करनेकी शक्ति मुझमें नहीं थी तथा एक मुहूर्त्त भी व्यर्थ बिताना बड़ा कष्टदायक मालूम पड़ता था । फलस्वरूप अनेक साधु-सन्त मिले, अनेक प्रकारकी साधना भी उनसे प्राप्त की तथा उन्हीं साधनादिके फलस्वरूप दमा, क्षय और रक्तपित्तकी व्याधियोंसे आक्रान्त होकर यमराजका अतिथि बननेके लिये तैयार होने लगा । उन्हीं दिनों परममङ्गलमय परमपिताकी अहैतुकी कृपासे 'योगी गुरु' नामक एक सर्वांग सुन्दर पुस्तक अचानक मेरे हाथ लग गयी । उसे पढ़नेपर मालूम हुआ कि अनियमित रूपसे योगसाधन और प्राणायामादि करनेसे अनेक प्रकारके कठिन रोग हो सकते हैं; किन्तु पवन-विजय—स्वरोदय-शास्त्रकी विधिके अनुसार चलनेपर साधक उन कठिन व्याधियोंसे मुक्त हो सकता है । तब मैं पवन-विजय—स्वरोदय-शास्त्रकी विधिको अपने जीवनका एकमात्र सबल बनाकर धीरे-धीरे उसके अनुसार अभ्यास करने लगा । उस पुस्तकमें उस शास्त्रकी अनेक अद्भुत विधियाँ मौजूद थीं । आखिर सालभरके भीतर ही सब रोगोंसे मुक्त होकर मैंने पूर्ण स्वस्थ शरीर प्राप्त कर लिया और साथ ही साधन-तत्त्वका भी बहुत कुछ अनुभव प्राप्त किया । उसके बाद जीवन्मुक्त महापुरुषके श्रीश्रीचरण-सरोजोंमें आत्मसमर्पण करके, नियमितरूपसे साधन करके, अपने जीवनमें अपूर्व आनन्द प्राप्त किया । आज उसी साधनाका थोड़ा-सा अंश 'कल्याण' के प्रेमी पाठकोंके मंगलके लिये यहाँ लिखनेकी चेष्टा कर रहा हूँ ।

योग अनेक प्रकारके होते हैं—जैसे राजयोग, कर्मयोग, हठयोग, लययोग, सांख्ययोग, क्रियायोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, ध्यानयोग, विज्ञानयोग, ब्रह्मयोग, विवेकयोग, विभूतियोग, प्रकृति-पुरुष-योग, मन्त्रयोग, पुरुषोत्तमयोग, मोक्षयोग, राजाधिराज-योग इत्यादि । सीधी बात तो यह है कि व्यापक कर्ममात्रको ही योग कहा जा सकता है, परन्तु वे सब एक ही प्रधान योगके अर्थात् जीवात्मा-परमात्माके मिलनके ही अंग-प्रत्यंगमात्र हैं । योगी याज्ञवल्क्यजीने भी इसे ही योग कहा है, जैसे—

संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनोः ।

अर्थात् जीवात्मा-परमात्माका मेल ही योग है । अनेक प्रकारके योगोंके नाम सुने जाते हैं तो भी वास्तवमें योग एक ही प्रकारका होता है, दो या अधिक प्रकारका नहीं । उस एक ही प्रकारके योगसाधनकी सोपानस्वरूप जितनी प्रक्रियाएँ हैं, वे सब ध्यानविशेषमें—उपदेश-विशेषमें एक-एक स्वतन्त्र योगके नामसे पुकारी जाती हैं, तथापि जीवात्मा और परमात्माका संयोग-साधन ही योगका प्रकृत उद्देश्य है । सब साधनाओंका मूल अर्थात् सर्वोत्कृष्ट साधना योग ही है ।

योगकी श्रेष्ठता

शास्त्रमें भी लिखा है कि 'वेदव्यासपुत्र श्रीशुकदेवजीने पूर्वजन्ममें किसी वृक्षकी शाखामें छिपकर

भगवान् शिवजीके मुँहसे निकला हुआ योगोपदेश श्रवण किया और उसीसे पक्षियोंनिसे उद्धार पाकर परजन्ममें वह परम योगी बन गये ।' योगका उपदेश सुननेमात्रसे जब इतना लाभ होता है तब उसकी साधना करनेसे ब्रह्मानन्द तथा सब सिद्धियोंके प्राप्त होनेमें क्या सन्देह है ?

योग धर्म-जगत्का एकमात्र पथ है । तन्त्रका तन्त्र, मुसलमानोंके अल्लाह तथा ईसाइयोंके ईसा पृथक्-पृथक् होनेपर भी जब वे अपने-अपने अभ्यासके द्वारा आत्मलीन हो जाते हैं, तब वे अज्ञातभावसे भी योगाभ्यासके सिवा और क्या किया करते हैं ? परन्तु किसी भी देशका कोई भी धर्म-शास्त्र आर्य-योगधर्मकी भाँति परिणति और परिपुष्टिको प्राप्त नहीं हुआ है । अतः अन्यान्य जातियोंके सम्बन्धमें चाहे जो बात हो, परन्तु भारतीय तन्त्र, मन्त्र, पूजापद्धति, भक्ति आदि सभी योगमूलक ही हैं ।

योगाभ्यासके द्वारा चित्तकी एकाग्रता प्राप्त हो जानेपर ज्ञान उत्पन्न हो जाता है एवं उसी ज्ञानसे जीवात्माकी मुक्ति होती है । वह मुक्तिदाता परम ज्ञान योगके सिवा केवल शास्त्र पढ़नेसे प्राप्त नहीं हो सकता । भगवान् शंकरजीने कहा है—

अनेकशतसंख्याभिस्तर्कव्याकरणादिभिः ।
पतिताः शास्त्रजालेषु प्रज्ञया ते विमोहिताः ॥

(योगबीज ८)

'सैकड़ों तर्कशास्त्र तथा व्याकरणादि पढ़कर मनुष्य शास्त्रजालमें फँसकर केवल विमोहित हो जाते हैं । वास्तवमें प्रकृत ज्ञान योगाभ्यासके बिना उत्पन्न नहीं होता ।'

मथित्वा चतुरो वेदान् सर्वशास्त्राणि चैव हि ।
सारन्तु योगिभिः पीतस्तक्रं पिबन्ति पण्डिताः ॥

(ज्ञानसंकलिनी तन्त्र ५१)

'वेदचतुष्टय तथा सब शास्त्रोंको मथकर उसका मक्खन-स्वरूप सार-भाग तो योगी चाट गये हैं और उसका असार-भाग तक्र (छाछ) पण्डित लोग पी रहे हैं ।' शास्त्र पढ़नेसे जो ज्ञान प्राप्त होता है वह मिथ्या तथा कोरी डींगमात्र है—वह प्रकृत ज्ञान नहीं । बाहरकी ओर मुँह किये हुए मन, बुद्धि और इन्द्रियोंको सब बाहरी विषयोंसे निवृत्त करके अन्तर्मुखी करते हुए सर्वव्यापी परमात्मामें मिलानेका नाम ही वास्तविक ज्ञान है ।

वह ज्ञान योगाभ्यासके बिना प्राप्त नहीं होता । साधारण लोगोंका जो ज्ञान है वह केवल भ्रान्त ज्ञान है । क्योंकि सभी जीव मायाके फन्देमें जकड़े हुए हैं और मायाका फन्दा तोड़े बिना सच्चा ज्ञान नहीं उपजता । मायाका फन्दा तोड़कर सच्चा ज्ञानालोक प्राप्त करनेका उपाय योग है । योगसाधनके अतिरिक्त अन्य किसी प्रकारसे भी मोक्षका हेतुभूत जो दिव्य ज्ञान है, वह नहीं प्राप्त होता । योगविहीन सांसारिक ज्ञान वास्तवमें अज्ञान-मात्र है, उससे केवल सुख-दुःखका अनुभव होता है—मुक्तिपथपर चलनेमें सहायता नहीं मिलती । परम योगी महादेवजीने अपने मुँहसे कहा है—

योगहीनं कथं ज्ञानं मोक्षदं भवतीश्वरि ।

(योगबीज १८)

'हे परमेश्वरि ! योगविहीन ज्ञान कैसे मोक्षदायक हो सकता है ?' सदाशिवजीने योगकी श्रेष्ठता बताकर पार्वतीको सुनाया था—

ज्ञाननिष्ठो विरक्तोऽपि धर्मज्ञोऽपि जितेन्द्रियः ।
विना योगेन देवोऽपि न मुक्तिं लभते प्रिये ॥

(योगबीज ३१)

'हे प्रिये ! ज्ञानवान्, संसारविरक्त, धर्मज्ञ, जितेन्द्रिय अथवा कोई देवता भी योगके बिना मुक्ति नहीं पा सकता ।' बिना योगके केवल साधारण, नाममात्रके ज्ञानसे ब्रह्मज्ञान नहीं प्राप्त होता । योगरूपी अग्नि अशेष पाप-पुञ्ज जला देती है एवं योगके द्वारा दिव्य ज्ञान प्राप्त होता है । उस ज्ञानसे ही लोग दुर्लभ निर्वाण-पद पाते हैं । अब सुधी सज्जन समझ गये होंगे कि योगसाधनके अतिरिक्त दिव्य ज्ञान प्राप्त करनेका दूसरा कोई सरल उपाय नहीं है । अब देखना चाहिये कि वह—

योग क्या है ?

सर्वचिन्तापरित्यागो निश्चिन्तो योग उच्यते ।

(योगशास्त्र)

जिस समय मनुष्य सब चिन्ताओंका परित्याग कर देता है, उस समय उसके मनकी उस लयावस्थाको योग कहते हैं । और—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ।

(पातञ्जल० समाधिपाद २)

अर्थात् 'चित्तकी सभी वृत्तियोंको रोकनेका नाम योग है ।' वासना और कामनासे लिप्त चित्तको वृत्ति कहा है । इस वृत्तिका प्रवाह जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—इन तीनों

अवस्थाओंमे मनुष्यके हृदयपर प्रवाहित होता रहता है। चित्त सदा-सर्वदा ही अपनी स्वाभाविक अवस्थाको पुनः प्राप्त करनेके लिये प्रयत्न करता रहता है; किन्तु इन्द्रियाँ उसे बाहर आकर्षित कर लेती हैं। उसको रोकना एवं उसकी बाहर निकलनेकी प्रवृत्तिको निवृत्त करके उसे फिर पीछे घुमाकर चिद्घन पुरुषके पास पहुँचनेके पथमें ले जानेका नाम ही योग है। हम अपने हृदयस्थ चैतन्यघन पुरुषको क्यों नहीं देख पाते? कारण यही है कि हमारा चित्त हिंसादि पापोंसे मैला और आशादि वृत्तियोंसे आन्दोलित हो रहा है। यम-नियमादिकी साधनासे चित्त-का मैल छुड़ाकर चित्त-वृत्तिको रोकनेका नाम योग है।

अब इस योगसाधनाका सरल उपाय, जिसके द्वारा अपने जीवनमे मुझे कुछ लाभ हुआ है, आपलोगोंके सामने रखनेका साहस करता हूँ। योगकी साधना करनेसे पहले सम्यक्रूपसे शरीर-तत्त्व जान लेना उचित है। विस्तार-भयसे मैं यहाँ उसका उल्लेख न कर केवल साधना-विधि ही लिखता हूँ। जो उसे जानना चाहते हो उन्हे पातञ्जलादि योग-शास्त्र या 'योगी गुरु' 'ज्ञानी गुरु' नामक पुस्तकोंका अवलोकन करना चाहिये।

योगके आठ अङ्ग हैं। उन्हींका साधन करना होता है। साधनाका अर्थ है अभ्यास। योगके आठ अङ्ग इस प्रकार हैं—

> यमश्च नियमश्चैव आसनञ्च तथैव च।
> प्राणायामस्तथा गार्गि प्रत्याहारश्च धारणा।
> ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि वरानने॥
>
> (योगियाज्ञवल्क्य १। ४५)

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि—ये ही आठ योगके अङ्ग हैं। योगका साधन करना हो अर्थात् पूर्ण मनुष्य बनकर स्वरूप-ज्ञान प्राप्त करना हो तो योगके इन आठों अङ्गोंकी साधना यानी अभ्यास करना चाहिये। पहले यम-नियमके साथ-ही-साथ आसनका भी अभ्यास करना उचित है। आसन किसे कहते हैं?

> स्थिरसुखमासनम्।
>
> (पातञ्जल० साधनपाद ४६)

शरीर न हिले, न डुले, न दुखे, न चित्तमें किसी प्रकारका उद्वेग हो, ऐसी अवस्थामे बैठनेको आसन कहते हैं। योगशास्त्रमे अनेक प्रकारके आसन बताये गये हैं, उनमेसे योगसाधनके लिये सिद्धासन सर्वश्रेष्ठ है। जीवन्मुक्त महापुरुष और सिद्ध योगी सिद्धासन तथा मुक्त पद्मासनका उपदेश देते हैं। सिद्धासन कैसे करना चाहिये?

> योनिस्थानकमङ्घ्रिमूलघटितं कृत्वा दृढं विन्यसेत्
> मेढ्रे पादमथैकमेव हृदये कृत्वा समं विग्रहम्।
> स्थाणुः संयमितेन्द्रियोऽचलदृशा पश्यन् भ्रुवोरन्तरं
> चैतन्याख्यकपाटभेदजनकं सिद्धासनं प्रोच्यते॥
>
> (गोरक्षसंहिता ११)

'योनि-स्थानको वाम-पदके मूलदेशसे दबाकर, दूसरे चरणसे मेढ्र-देशको आबद्धकर, हृदयमे ठोडी जमाकर, देहको सीधा रखकर और दोनों भौंहोंके मध्यदेशमे दृष्टि स्थापित करके यानी शिवनेत्र होकर निश्चलभावसे बैठने-का नाम सिद्धासन है।' सिद्धासन सिद्धि प्राप्त करनेके लिये सहज और सरल आसन है। सिद्धासनका अभ्यास करनेसे अति शीघ्र योगमे सिद्धि प्राप्त होती है। इसकी साधनासे किसी प्रकारका अनिष्ट होनेकी सम्भावना नहीं रहती। इसके द्वारा बहुत जल्द योगमे सिद्धि मिलनेका कारण यह है कि लिङ्गमूलमें जीव तथा कुण्डलिनी शक्ति अवस्थित है। सिद्धासनके कारण वायुका पथ सरल तथा सहजगम्य हो जाता है। इससे स्नायुओंका विकास होता है और समस्त शरीरकी बिजलीके लिये चलने-फिरनेका सुभीता हो जाता है। योगशास्त्रमे कहा है कि सिद्धासन मुक्तिवाले दरवाजेके किवाड खोलता है तथा सिद्धासनसे आनन्दकारी उन्मनी (समुन्नत) दशा मिलती है। सभी सज्जन आसानी-से सिद्धासन कर सकते हैं।

अब पद्मासनकी बात सुनिये—

आसनं पद्मकमुत्तमम्।—(गारुड० ४१)

और भी—

> वामोरूपरि दक्षिणं हि चरणं संस्थाप्य वामं तथा
> दक्षोरूपरि चैव बन्धनविधिं धृत्वा कराभ्यां दृढम्।
> तत्पृष्ठे हृदये निधाय चिबुकं नासाग्रमालोकयेत्
> एतद् व्याधिविकारनाशनकरं पद्मासनं प्रोच्यते॥
>
> (गोरक्षसंहिता १२)

'बायीं जाँघपर दाहिना पैर और दाहिनी जाँघपर बायाँ पैर रखकर, दोनों हाथ पीठकी ओर घुमाकर बायें हाथसे बायें पैरका अँगूठा और दाहिने हाथसे दाहिने पैरका

अँगूठा पकड़ना चाहिये। फिर छातीमें ठोडी सटाकर नाककी नोकपर दृष्टि जमानी चाहिये। इस तरह बैठनेका नाम पद्मासन है।'

पद्मासन दो प्रकारका है—मुक्त और बद्ध। उपर्युक्त नियमसे बैठनेको बद्ध-पद्मासन कहते हैं तथा हाथोंको पीठकी ओरसे घुमाकर अँगूठे न पकड़, दोनों जाँघोंपर दोनों हाथ चित रखकर बैठनेका नाम मुक्त-पद्मासन है।

पद्मासन लगानेसे निद्रा, आलस्य, जडता प्रभृति देहकी ग्लानि निकल जाती है। पद्मासनके प्रभावसे कुण्डलिनी चैतन्य हो जाती है एवं दिव्य ज्ञान प्राप्त हो जाता है। पद्मासन लगाकर दाँतकी जड़में जीभकी नोक जमानेसे सब प्रकारकी बीमारियाँ दूर होती हैं।

इन दो प्रकारके आसनोंके अतिरिक्त स्वस्तिकासन, भद्रासन, उग्रासन, वीरासन, मण्डूकासन, कूर्मासन, कुक्कुटासन, गुप्तासन, योगासन, शवासन, सिंहासन, मयूरासन, शीर्षासन आदि अनेक प्रकारके आसन प्रचलित हैं सही, किन्तु अनेक प्रकारके आसनोंका अभ्यास करनेमें समय नष्ट करनेकी आवश्यकता नहीं। उपर्युक्त दोनों प्रकारके आसनोंमें जिसे जिस आसनमें सुभीता मालूम हो, उसे उसी आसनका अवलम्बनकर योगाभ्यास करना चाहिये।

राजपूताना, मध्यभारत, पञ्जाब आदि नाना स्थानोंमें भ्रमण करते समय मुझे मालूम हुआ कि उन प्रदेशोंमें बहुत-से सज्जन शीर्षासन करते हैं। शीर्षासन योगसाधनके अनुकूल नहीं है, ऐसा अनेक योगाभ्यासी सज्जनोंसे मुझे मालूम हुआ है। क्योंकि शीर्षासन करके प्राणायाम आदि यौगिक क्रिया तथा पूजा, मन्त्र, जपादि कोई धर्मसम्बन्धी क्रिया नहीं की जा सकती। हाँ, शीर्षासनद्वारा साधक ब्रह्मरन्ध्रसे जो अमृतधारा टपकती है, और जो अनाहत-पद्मस्थित अरुण-वर्ण सूर्यमण्डलमें पहुँचकर सूख जाती है, उसीको पीनेकी चेष्टा करते हैं। परन्तु उस क्रियासे कहाँतक सिद्धि प्राप्त होती है, यह कहना कठिन है। अनेक योगाभ्यासी सज्जनोंका कहना है कि उस क्रियासे न तो शरीर बलिष्ठ, पुष्ट और जरारहित होता है और न उस अमृतपानसे उनका चित्त ही लय होकर अनिर्वचनीय आनन्द प्राप्त करता है। आसन करनेका मतलब यही है कि शरीर स्वस्थ रहे तथा धीरे-धीरे कुल-कुण्डलिनी जाग्रत होकर क्रमशः दिव्य ज्ञान प्राप्त हो जाय। आसनके सम्बन्धमें शास्त्र यही कहता है कि—

ततो द्वन्द्वानभिघातः। (पातञ्जल० साधनपाद ४८)

आसनका अभ्यास करनेसे सब प्रकारके द्वन्द्व छूट जाते हैं अर्थात् शीत-ग्रीष्म, क्षुधा-तृष्णा, राग-द्वेष प्रभृति किसी प्रकारका द्वन्द्व योगसाधनमें बाधा नहीं डाल सकता अर्थात् गीताके द्वितीय अध्यायमें वर्णित स्थितप्रज्ञके लक्षण आप-ही-आप आ पहुँचते हैं। परन्तु सदा ही यह स्मरण रखना चाहिये कि आसनका सबसे मुख्य उद्देश्य यही है कि मेरुदण्ड (पीठकी रीढ़) सदा सीधा रहे। क्योंकि उसीके अन्दर सुषुम्ना नाड़ी विद्यमान है, जिसके भीतर क्रमशः वज्रिणी, चित्रिणी तथा ब्रह्मनाड़ी विद्यमान है। आसन, मुद्रा तथा ध्यानद्वारा कुल-कुण्डलिनी-शक्ति जाग्रत होती है और ब्रह्मनाड़ीके भीतरसे क्रमशः षट्चक्रको भेदती हुई ब्रह्मरन्ध्रमें पहुँचती है, जहाँ परात्पर ब्रह्म शिवजीसे मिलकर लय हो जाती है, या यों कहें कि साधक समाधिस्थ हो जाते हैं। साधनाके समय अगर मेरुदण्ड टेढ़ा-बाँका रहे तो उपर्युक्त क्रियाके सम्पन्न होनेकी सम्भावना ही नहीं रहती और न दिव्य ज्ञान ही प्राप्त हो सकता है, बल्कि नाना प्रकारकी व्याधियाँ ही होनेकी सम्भावना रहती है। अतएव साधना करते समय सदा ही स्मरण रखना चाहिये कि रीढ़की हड्डी सीधी रहे।

नित्य नियमितरूपसे त्रिकाल-सन्ध्या तथा रात्रि-सन्ध्या (रात्रि १२ बजे) अर्थात् चार बार आसन लगानेसे छः महीनेके भीतर आसनमें सिद्धि प्राप्त हो सकती है। हाँ, प्रत्येक बार कम-से-कम आध घण्टा अवश्य आसन लगाना चाहिये। आसन लगाकर बैठनेपर जब शरीरमें दर्द न हो अथवा किसी प्रकारके कष्टका अनुभव न हो, बल्कि एक प्रकारके आनन्दका उदय हो तभी समझना चाहिये कि आसन सिद्ध हुआ।

साधनमें सबसे पहले निम्नलिखित कुछ बातोंपर विशेष ध्यान देना चाहिये—

(१) नित्य नियमितरूपसे एक ही स्थानपर आसन लगाना उत्तम है। ऐसा करनेसे उस स्थानपर एक प्रकारकी शक्ति पैदा हो जाती है। जब कभी मन चञ्चल होता है तब उस स्थानपर पहुँचते ही शान्त हो जाता है तथा एक प्रकारकी आनन्दावस्था आप-ही-आप प्राप्त होती है।

(२) जिस स्थानपर अर्थात् जिस कोठरीमें बैठकर साधना की जाय, वह स्थान विशेष हवादार, साफ-सुथरा और शुद्ध होना चाहिये। उस स्थानको नित्य अपने ही हाथों साफ करना चाहिये, गोबर आदिसे लीप देना चाहिये। दूसरे आदमीसे यह सब काम नहीं कराना चाहिये। क्योंकि जब दूसरा आदमी कमरेमें आता है तब उसके शरीरमें उस शक्तिका, जो नित्य नियमितरूपसे साधना करनेसे उस स्थानमें पैदा होती है, कुछ अंश चला जाता है, जिससे वह आदमी तो कुछ आध्यात्मिक उन्नति करता है, मगर साधक उतने अंशमें शक्तिहीन हो जाता है। इससे उत्तम तो यह है कि उस स्थानपर कभी कोई दूसरा व्यक्ति जावे ही नहीं।

(३) जिस आसन (जैसे कम्बलासन, कुशासन, व्याघ्रासन आदि) पर बैठकर स्वयं साधना की जाय, उस आसनको कोई हाथसे भी स्पर्श न करे—इस बातपर बराबर ध्यान रखना चाहिये। अगर कोई उसे छू दे तो उसे छोड़ ही देना उचित है।

(४) इस बातपर भी ध्यान रखना चाहिये कि जिस कपड़े, दुपट्टे तथा कौपीनको धारणकर साधन किया जाय, उसे भी कोई दूसरा आदमी न छुए। उसे अगर साफ करना हो तो अपने ही हाथों साफ कर लेना चाहिये।

(५) साधनके स्थानमें अपवित्र वस्तु मिट्टीके तेलको कभी नहीं जलाना चाहिये। निशाकाल तथा ब्राह्ममुहूर्तमें साधना करते समय जीवन्मुक्त महात्मा लोग तथा देवी-देवता साधकके पास आकर उसे नाना प्रकारसे सहायता पहुँचाते हैं। उस स्थानपर अपवित्र वस्तु रहनेपर अथवा स्वयं अपवित्र अवस्थामें साधन करनेपर वे कभी वहाँ नहीं पधारेंगे और न साधककी सहायता ही करेंगे। शुद्धभावसे साधना करनेपर कुछ महीने बाद ही साधक स्वयं उन सब जीवन्मुक्त पुरुषों तथा देवी-देवताओंकी अनुकम्पाका अनुभव करने लगेगा। यह बात सत्य, सत्य, ध्रुव सत्य है।

(६) जिस समय साधना करने जाना हो उस समय शुद्ध होकर, अर्थात् सुविधा हो तो स्नान करके अथवा हाथ-पैर धोकर, धोती-कपड़ा आदि बदलकर, खड़ाऊँ पहनकर उस स्थानमें जाना चाहिये।

(७) अगर साधक अपना भोजन स्वयं बना ले तो इससे विशेष लाभ होगा। क्योंकि साधक स्वयं तो सात्त्विकभावकी प्राप्तिके लिये साधना कर रहा है, उस अवस्थामें अगर तामसिक और राजसिक व्यक्तिके हाथका भोजन करेगा तो उसकी साधनामें बाधा पड़ेगी। अतएव साधकको इन सब बातोंपर सदा ध्यान रखना चाहिये, तभी साधनाद्वारा कुछ लाभ हो सकता है।

उपर्युक्त जितनी बातें कही गयी हैं, सबका मतलब है शौच। शौच दो प्रकारका होता है। इस विषयमें शास्त्र-वचन इस प्रकार है—

> शौचं तु द्विविधं प्रोक्तं बाह्यमाभ्यन्तरं तथा।
> मृज्जलाभ्यां स्मृतं बाह्यं मनःशुद्धिस्तथान्तरम्॥
>
> (योगियाज्ञवल्क्य)

शरीर और मनकी मलिनताके दूर करनेको शौच कहते हैं। परन्तु साबुन, क्रीम, स्नो, पाउडर, फुलेल तथा एसेन्स इत्यादि विलासिताकी सामग्रियाँ शौचके साधन नहीं हैं, अतएव इन सबके मोहको छोड़कर गोमय, मृत्तिका तथा जल इत्यादिके द्वारा ही शरीरकी, एवं दया इत्यादि सद्गुणोंद्वारा मनकी मलिनताको दूर करना चाहिये। उपर्युक्त बातें भी शौचके ही अङ्ग हैं। वर्तमान समयमें बहुतसे सज्जन बाहरके शौचकी ओर ही अधिक ध्यान देते हैं—आन्तर शौचकी ओरसे अन्धे बन जाते हैं। किन्तु इस विषयमें मुझे विस्तारके साथ लिखने-की आवश्यकता नहीं—सब सज्जन जानते ही हैं कि आन्तर शौचके बिना बाह्य शौचका कोई मूल्य नहीं।

प्रत्येक साधनसे हमें क्या लाभ होता है, इसका वर्णन हमें शास्त्रोंमें मिलता है। शौचके सम्बन्धमें शास्त्रका कथन है—

> शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः।
>
> (पातञ्जल० साधनपाद ४०)

हृदयमें पवित्रता रहनेपर शरीर यदि कहीं जरा भी अपवित्र मालूम होगा तो उससे घृणा होने लगेगी और दूसरोंके साथ सङ्गति करनेमें भी घृणा होगी। उस समय अवधूतगीताका यह महान् वाक्य मनमें जाग्रत् हो उठेगा—

> विष्ठादिनरकं घोरं भगं च परिनिर्मितम्।
> किमु पश्यसि रे चित्त कथं तत्रैव धावसि॥
>
> (८। १४)

अब साधन-विधिपर आवें। किसी प्रकारकी भी साधना क्यों न की जाय, जबतक मन स्थिर नहीं होगा तबतक

सब वृथा है। अतः आसनका साधन करते समय चुपचाप न बैठ मन स्थिर करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। प्राणायामके द्वारा मन स्थिर तो जरूर हो सकता है, परन्तु वह काम कुछ कठिन है, और यदि प्राणायाममें कहीं नियमका ठीक-ठीक पालन न हुआ तो नाना प्रकारकी व्याधियाँ हो सकती हैं। सिद्ध योगियोंका कहना है कि प्राणायाम बहुत ऊँची साधना नहीं है,—हाँ, प्राणायामके द्वारा शरीरके स्वस्थ होने तथा आत्मज्ञान प्राप्त करनेमें थोड़ी-बहुत सहायता मिलती है। प्राणायाम शास्त्रानुसार आठ प्रकारका है, उनमेंसे योगिगण शरीर स्वस्थ रखनेके लिये केवल शीतली प्राणायाम करते हैं। परन्तु प्राणायामके पहले शरीरस्थ नाडियोंका शोधन विशेष आवश्यक है। कृतादि युगमें साधु-सन्त नेति, धोति, कपालभाति आदि क्रियाओंसे नाड़ी-शोधन करते थे। परन्तु कलियुगके दुर्बल तथा अल्पायु मनुष्योंके लिये वे क्रियाएँ सुलभ नहीं हैं। हठयोगकी नेति, धोति आदि क्रियाएँ यदि सम्यक् प्रकारसे न हुई तो साधकको अवश्य ही दुःसाध्य व्याधियोंसे आक्रान्त होकर, नाना प्रकारके कष्ट भोगकर यमराजका अतिथि बनना पड़ेगा। परम मङ्गलमय भगवान् अपने प्यारे जीवोंपर सदा ही कृपा-दृष्टि डाले हुए हैं। कलियुगके मनुष्य इन सब कठिन क्रियाओंके करनेमें असमर्थ होंगे, ऐसा सोच-समझकर ही जगद्गुरु भगवान् श्रीमच्छङ्कराचार्यजीने नाडीशोधन नामक एक प्रकारकी अति सरल विधि बतलायी है। हठयोगकी विधिसे, अति कठिन तथा सदा विपद्युक्त मार्गद्वारा नाडीशोधनमें कम-से-कम एक युग तो चाहिये ही, परन्तु शङ्करकी बतायी हुई विधिके द्वारा उसी नाडीशोधनकी क्रिया दो-तीन महीनेमें ही सिद्ध हो जाती है तथा इसमें कोई नुकसान भी नहीं होता। यह कितने आनन्दकी बात है!

नाडीशोधन

सबसे पहले आसनका अभ्यास करना चाहिये। जब आसनमें सिद्धि प्राप्त हो जाय तब नाडीशोधनकी क्रिया शुरू करनी चाहिये। स्थिरभावसे सुखासनमें बैठकर दाहिने हाथके अँगूठेसे दाहिने नथुनेको कुछ दबाकर बायें नथुनेसे जहाँतक हो सके, वायुको खींचना चाहिये और जरा-सी देर भी न ठहरकर अनामिका और कनिष्ठा अँगुलियोंसे बायें नथुनेको बन्दकर दाहिने नथुनेसे वायुका रेचन करना अर्थात् वायुको निकाल देना चाहिये, फिर दाहिने नथुनेसे वायु खींचकर यथाशक्ति बायें नथुनेसे निकाल देना चाहिये। परन्तु खींचनेका काम पूरा होते ही उसी क्षण वायुको निकाल देना चाहिये, जरा देर भी न रोकना चाहिये। पहले अभ्यास करते समय उपर्युक्त क्रिया तीन बार करनी चाहिये। इसके बाद तीन बारका अच्छी तरह अभ्यास हो जानेपर पाँच बार, फिर सात बार—इस प्रकार बढ़ाते जाना चाहिये।

विधि

रात-दिनमें इस तरह एक बार ब्राह्ममुहूर्त्तमें यानी सूर्योदयसे पहले, एक बार दोपहरको, एक बार सूर्यास्तके बाद रातके समय और एक बार रात १२ बजेके बाद—कुल चार बार क्रिया करनी चाहिये। रोज नियमसे चार बार अभ्यास करनेसे दो-तीन महीनेमें सिद्धि मिल जायगी।

नाडीशोधनमें सिद्धि प्राप्त हो जानेपर देह खूब हलकी मालूम होती है, आलस्य, जडता, सुस्ती सब कुछ दूर हो जाती है। कभी-कभी आनन्दसे मन उत्फुल्ल हो उठता है और समय-समयपर सुगन्धिसे नाक भर जाती है। जब ये सब लक्षण प्रकट होने लगें तब समझना चाहिये कि नाडी-शोधनकी क्रिया सिद्ध हो गयी।

अब प्राणायामकी बात सुनिये। प्राणायाम किसे कहते हैं?

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।

(पातञ्जल० साधनपाद ४९)

'श्वास-प्रश्वासकी स्वाभाविक गतिका विच्छेद करके शास्त्रोक्त नियमोंके अनुसार चलानेका नाम प्राणायाम है।' इसके अतिरिक्त प्राण और अपानवायुके संयोगको भी प्राणायाम कहते हैं। जैसे—

प्राणापानसमायोगः प्राणायाम इतीरितः।
प्राणायाम इति प्रोक्तो रेचकपूरककुम्भकैः॥

(योगियाज्ञवल्क्य ६। २)

प्राणायाम कहनेसे हम साधारणतः रेचक, पूरक तथा कुम्भक इन तीन प्रकारकी क्रियाओंको ही समझते हैं। बाहरकी वायुको आकर्षित करके भीतर भरनेको पूरक, जलसे पूर्ण घड़ेकी तरह भीतर ही वायु धारण करनेको कुम्भक और उस धृत वायुको बाहर निकालनेको रेचक कहते हैं। पहले दाहिने हाथके अँगूठेमें दाहिने नथुनेको

बन्दकर प्रणव (ॐ) अथवा अपने इष्ट-मन्त्रका सोलह बार जप करते हुए वायुको धीरे-धीरे बायें नथुनेसे खींचकर भीतर यथा-शक्ति भरना चाहिये; फिर कनिष्ठिका और अनामिकासे बायें नथुनेको बन्दकर वायुको रोकते हुए ॐ या मूल मन्त्रका चौंसठ बार जप करते हुए कुम्भक करना चाहिये, उसके बाद अँगूठेको दाहिने नथुनेसे उठाकर ॐ या मूल मन्त्रका बत्तीस बार जप करते हुए दाहिने नथुनेसे वायुको निकाल देना चाहिये। फिर इसी प्रकारसे उलटे तौरपर अर्थात् श्वास छोड़नेके बाद उसी दाहिने नथुनेसे ॐ या मूल मन्त्रका जप करते हुए पूरक, दोनों नथुनोंको बन्द करके कुम्भक, और बायें नथुनेसे रेचक करना चाहिये। बायें हाथकी अँगुलियोंके पोरोंपर जपकी गिनती करनी चाहिये।

प्राणायामकी विधि

पहले-पहल पूर्वोक्त सख्यासे प्राणायाम करनेमे यदि कष्ट हो तो ८।३२।१६ या ४।१६।८ बार जप करते-करते प्राणायाम करना चाहिये। दूसरे धर्मावलम्बियों-को या जिनको मन्त्रजप करनेकी सुविधा न हो उन्हे एक, दो, तीन इत्यादि सख्याओंकी गिनती करते हुए प्राणायाम करना चाहिये, अन्यथा फल मिलनेकी सम्भावना नहीं रहेगी। क्योंकि ताल-तालपर श्वास-प्रश्वासकी क्रिया सम्पन्न होनी चाहिये। परन्तु सावधान! कभी जोरसे रेचक या पूरक न हो। रेचकके समय विशेष सतर्क एव सावधान रहना चाहिये। इतना धीरे-धीरे श्वास परित्याग करना चाहिये कि हाथपर रक्खा हुआ सत्तू भी निःश्वासके वेगसे उड़ न सके। प्राणायामके समय सुखासनसे बैठकर मेरुदण्ड, गर्दन, मस्तक सीधा और भौंहोंके बीचमें दृष्टि रखनी चाहिये। इसे सहित कुम्भक कहते हैं।

परन्तु सिद्ध योगी इसकी सहायता न लेकर शीतली प्राणायामकी ही सहायता अधिक लेते हैं। क्योंकि शीतली प्राणायामसे शरीर विशेष स्वस्थ रहता है।

> सर्वदा साधयेद् योगी शीतलीकुम्भकं शुभम्।
> अजीर्णं कफपित्तश्च नैव तस्य प्रजायते॥
>
> (गोरक्ष-सहिता)

योगियोंको चाहिये कि सदा इसी शीतली कुम्भककी साधना करें। इसकी साधना करनेसे कभी अजीर्ण और कफपित्तादि व्याधियाँ नहीं होगी। शीतली प्राणायामकी विधि इस प्रकार है—

> जिह्वाया वायुमाकृष्य उदरे पूरयेच्छनैः।
> क्षणं च कुम्भकं कृत्वा नासाभ्यां रेचयेत् पुनः॥
>
> (घेरण्ड-सहिता)

'जीभसे वायुको आकर्षित करना चाहिये अर्थात् दोनों होंठ सिकोड़कर बाहरकी वायुको धीरे-धीरे खींचना चाहिये। इस प्रकार अपनी शक्तिभर वायु खींचकर मुँह बन्द कर लेना चाहिये और वायुको घोंटकर पेटमे पहुँचाना चाहिये। इसके बाद थोड़ी देरतक इस वायुको कुम्भकद्वारा धारण करके दोनो नथुनोंसे बाहर निकाल देना चाहिये।'

शीतली प्राणायामकी विधि

इस नियमसे वायु बार-बार खींचनेपर कुछ काल बाद रक्त स्वच्छ हो जायगा एव शरीर कामदेवके सदृश सतेज बन जायगा। शीतली कुम्भक करनेपर अजीर्ण और कफ-पित्तादि रोग नहीं पैदा होंगे। चर्मरोग प्रभृति बीमारीमें रक्त साफ करनेके लिये सालसा काममे न लाकर, उसके बदले यह क्रिया करके देखना चाहिये। यह सालसासे भी शीघ्र फलदायी हो सकती है और इसका फल दीर्घकालतक स्थायी भी हो सकता है।

रोज रात-दिनमें कम-से-कम तीन चार बार, पाँच-सात मिनट हर बार, स्थिरभावसे बैठकर इसी तरह मुँहसे वायु खींचनी चाहिये और नथुनोसे निकालनी चाहिये। अवश्य ही जितना ही अधिक इसका अभ्यास किया जायगा, उतना ही शीघ्र लाभ पहुँचेगा।

मैले-कुचैले और वायु बिगड़े हुए स्थानमे, वृक्षके नीचे, मिट्टीके तेलका चिराग जलाकर, घरमें और खाया हुआ अन्न न हजम होनेपर यह क्रिया नहीं करनी चाहिये। वायु निकालनेके बाद हाँफना भी नहीं चाहिये, इस बातका विशेष खयाल रखना चाहिये। विशुद्धवायुसे पूर्ण स्थानमें स्थिरासनसे बैठकर धीरे-धीरे पूरक तथा रेचक करना चाहिये। इसकी साधनासे क्या लाभ होता है, वह भी सुनिये—

> गुल्मप्लीहादिकान् दोषान् ज्वरं पित्तं क्षुधां तृषाम्।
> तृष्णाश्च शीतली नाम कुम्भकोऽयं निहन्ति वै॥
>
> (घेरण्ड सहिता)

जपसे ध्यानमें सौगुना अधिक फल होता है। ध्यानकी अपेक्षा सौगुना अधिक फल लाभ होता है—लययोगसे। अतः जपादिकी अपेक्षा सबको किसी भी प्रकारके लययोगका साधन करना चाहिये। अब साधनाकी विधि सुनिये। यों तो इस साधनाकी विधियाँ बहुत-सी हैं, परन्तु उनमेंसे जो सबसे सरल है, उसीको मैं बतलाता हूँ। विधि इस प्रकार है—

नादानुसन्धान-विधि

साधकको उपर्युक्त नियमसे शुद्ध होकर योगसाधनके स्थानपर उत्तर दिशाकी ओर मुँह करके आसन जमाकर बैठ जाना चाहिये। जिन्हें निर्वाण-मुक्तिकी इच्छा हो उन्हें उत्तर दिशाकी ओर मुँह करके बैठना चाहिये, परन्तु जिन्हें सांसारिक उन्नतिकी इच्छा हो, उनके लिये तो पूर्व दिशाकी ओर मुँह करके बैठना ही उचित है।

जिसे जिस आसनका अभ्यास हो, उसे वही आसन लगाकर मस्तक, गर्दन, पीठ और उदरको बराबर सीधा रखकर, अपने शरीरको सीधा करके बैठ जाना चाहिये। तत्पश्चात् नाभिमण्डलमें दृष्टि जमाकर कुछ देरतक पलक नहीं मारना चाहिये। नाभिस्थानमें दृष्टि और मन रखनेसे निःश्वास धीरे-धीरे जितना कम पड़ता जायगा, मन भी उतना ही स्थिर होता जायगा। इस भावसे नाभिके ऊपर दृष्टि और मन लगाकर बैठनेसे कुछ दिन बाद मन स्थिर हो जायगा। मन स्थिर करनेका ऐसा सरल उपाय दूसरा और नहीं है।

त्राटक-योगकी विधिसे भी मन स्थिर हो सकता है, परन्तु अनियमसे आँखकी बीमारी अथवा आँख खराब हो सकती है। अतः उस विधिको मैं ठीक नहीं समझता हूँ और इस कारण उसका उल्लेख भी यहाँ करनेकी इच्छा नहीं है।

हाँ, उपर्युक्त विधिसे मन स्थिर करते समय यदि थोड़ी-थोड़ी वायु भी धारण की जाय तो नाद-ध्वनि बहुत ही जल्द सुन पड़ती है। पहले झींगुरकी झनझनाहट-जैसा या भर्जी-जैसा झिं-झिं शब्द सुनायी देगा। उसके बाद क्रमशः साधन करते-करते एकके बाद एक बंशीकी तान, बादलका गर्जन, झाँझकी झनकार, भौंरेकी गुञ्जार, घण्टा, घड़ियाल, तुरही, करताल, मृदङ्ग प्रभृति नाना प्रकारके बाजोंके शब्द सुन पड़ेंगे। ऐसे ही रोज अभ्यास करते हुए नाना प्रकारकी ध्वनियाँ सुनी जाती हैं। मैंने जो विधि बतलायी है, उसका शास्त्रमें भी प्रमाण है—

> नाभ्याधारो भवेद् षट्स्तत्र प्राणं समभ्यसेत्।
> स्वयमुत्पद्यते नादो नादतो मुक्तिरन्ततः॥
> (योगस्वरोदय)

ऐसी ध्वनि सुनते-सुनते कभी शरीर रोमाञ्चित हो जाता है, कभी किसी प्रकारका शब्द सुननेसे सिर चक्कर खाने लगता है, कभी कण्ठकूप जलसे पूर्ण हो जाता है। लेकिन साधकको किसी ओर भी ध्यान न देकर अपना काम करते रहना चाहिये। मधु पीनेवाला भौंरा जैसे पहले मधुकी सुगन्धसे आकृष्ट होता है, किन्तु मधु पीते समय मधुके स्वादमें इतना डूब जाता है कि उस समय उसका सुगन्धकी ओर तनिक भी ध्यान नहीं रहता, वैसे ही साधकको भी नादकी ध्वनिसे मोहित न होकर शब्द सुनते-सुनते चित्तको लय कर देना चाहिये।

आत्मज्योति-दर्शन

इस प्रकारका अभ्यास करनेपर हृदयके भीतरसे अभूतपूर्व शब्द और उससे द्रुत प्रतिशब्द कानमें पहुँचेगा। उस समय साधकको आँख बन्द करके अनाहत-पद्ममें स्थित बाणलिङ्ग शिवके मस्तकपर निर्वात—निष्कम्प दीपशिखाकी भाँति ज्योतिका ध्यान करना चाहिये। ऐसे ही ध्यान लगाते-लगाते अनाहत-पद्मस्थ प्रतिध्वनिके भीतर ज्योतिःदर्शन होगा।

> अनाहतस्य शब्दस्य तस्य शब्दस्य यो ध्वनिः।
> ध्वनेरन्तर्गतं ज्योतिर्ज्योतिरन्तर्गतं मनः॥
> (गोरक्ष-संहिता)

उस दीप-कलिका (दीपककी लौ) के आकारमें ज्योतिर्मय ब्रह्ममें साधकका मन संयुक्त होकर ब्रह्मरूपी विष्णुके परमपदमें लीन हो जायगा। उस समय शब्द बन्द हो जायगा तथा मन आत्मतत्त्वमें डूब जायगा। साधक सर्वव्याधिसे मुक्त होकर तेजोयुक्त हो अतुल आनन्दका उपभोग करेगा। उस समयका वह भाव अनिर्वचनीय है! अवर्णनीय है!! अलेखनीय है!!!

नित्य नियमितरूपसे इसी तरह नाभिस्थानमें वायु-धारण करनेसे प्राणवायु अग्निस्थानमें गमन करती है, उस समय अपान-वायुद्वारा शरीरस्थ अग्नि क्रमशः उद्दीप्त हो उठती है। इस क्रियासे और एक विशेष लाभ होता है। जिसकी

पाचन-शक्ति कम हो गयी है—कोई चीज बिल्कुल ही हजम नहीं होती,—वह अगर इस क्रियाको ठीक विधिसे करे तो थोड़े दिन बाद उसके शरीरका समुचित शोधन होकर पाचन-शक्ति बढ़ जायगी और कोष्ठ भी स्वच्छ होता जायगा।

आत्मज्योतिःदर्शनकी एक और दूसरी विधि है, उसे सूर्योदयकी ओर दृष्टि डालकर करना चाहिये।

नादसाधनके सम्बन्धमें शास्त्रका कहना है—

आसीद्बिन्दुस्ततो नादो नादाच्छक्तिसमुद्भवः।
नादरूपा महेशानि चिद्रूपा परमा कला॥

(वायवीय संहिता)

आदि-प्रकृति देवीका नाम परा-प्रकृति है। सुतरां परा-प्रकृति आद्या-शक्ति ही नादरूपा होती है।

न नादेन विना ज्ञानं न नादेन विना शिवः।
नादरूपं परं ज्योतिर्नादरूपी परो हरिः॥

और भी देखिये—

नादाब्धेस्तु परं पारं न जानाति सरस्वती।
अद्यापि मज्जनभयात् तुम्बं वहति वक्षसि॥

इस नाद-ध्वनिकी साधना करते-करते अन्तमें जो 'ॐकार' ध्वनि सुननेमें आती है, वह ध्वनि जबतक साधक जीवन धारण करता है, तबतक कभी बन्द नहीं होती। सदा सर्वावस्थामें अर्थात् जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिमें भी नादध्वनि चलती ही रहती है।

ऊपर जितनी विधियाँ मैंने लिखी हैं, उनका अनुभव मैंने स्वयं साधना करके किया है। इसी कारण विद्याबुद्धि-विवर्जित होनेपर भी उन्हें यहाँ पाठकोंकी हितकामनासे लिख दिया है। अन्तमें सुधी सज्जनोंसे सविनय निवेदन है कि वे इनकी साधना करके चाहें तो प्रत्यक्ष अनुभव कर सकते हैं।

क्षमध्वं पण्डिता दोषान् परपिण्डोपजीविनः।
ममाशुद्ध्यादिकं सर्वं शोध्यं युष्माभिरुत्तमैः॥
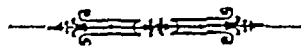
सिद्धयोग

(लेखक—परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीश्रीशंकर पुरुषोत्तमतीर्थ स्वामीजी)

एक समय सृष्टिकर्ता ब्रह्माने देवाधिदेव महादेवसे प्रश्न किया—

सर्वे जीवाः सुखैर्दुःखैर्मायाजालेन वेष्टिताः।
तेषां मुक्तिः कथं देव कृपया वद शङ्कर॥
सर्वसिद्धिकरं मार्गं मायाजालनिकृन्तनम्।
जन्ममृत्युजराव्याधिनाशनं सुखदं वद॥

(योगशिखोपनिषद् १।१-२)

'हे शंकर! सब जीव सुख-दुःखरूप मायाजालसे घिरे हुए हैं। हे देव! कृपया मुझसे यह कहिये कि इनकी मुक्ति किस प्रकार हो सकती है। ऐसा एक उपाय बतलाइये जिससे सब सिद्धियाँ प्राप्त हों, मायाजाल कट जाय और जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधिका नाश हो जाय।'

इसके उत्तरमें भगवान् महादेवने विष्णुके नाभिकमल-से उत्पन्न ब्रह्मासे कहा—

नानामार्गैस्तु दुष्प्रापं कैवल्यं परमं पदम्॥
सिद्धिमार्गेण लभते नान्यथा पद्मसम्भव।

(योगशिखोप० १।३-४)

'हे पद्मसम्भव! कैवल्यरूप परम पदकी प्राप्तिके अनेक उपाय कहे गये हैं, किन्तु उन समस्त उपायोंसे उसे प्राप्त करना सहज नहीं। एकमात्र सिद्धिमार्गके द्वारा ही कैवल्य-पद आसानीसे प्राप्त होता है। अन्य प्रकारसे नहीं प्राप्त होता।' कैवल्य-प्राप्ति ही मानव-जीवनका उद्देश्य है। कैवल्य-मुक्ति होनेपर ही दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति होती है। दुःख नष्ट हो जानेपर पुनः उसकी उत्पत्ति न होनेको ही दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति कहते हैं। कैवल्य या मोक्ष प्राप्त होनेपर जीवको पुनः जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि-जनित दुःख नहीं भोग करना पड़ता। इसे प्राप्त करनेका सहज पथ सिद्धिमार्ग या सिद्धयोग है।

यह सिद्धिमार्ग क्या है, यहाँ इस बातका विशदरूपसे वर्णन करना आवश्यक है। जिस पथसे बिना कष्टके योग

प्राप्त होता है, उसी पथको सिद्धिमार्ग कहते हैं। योग-रूप सिद्धि प्राप्त करनेका पथ सुषुम्ना नाड़ी है, जब इस नाड़ीसे प्राणवायु प्रवाहित होकर ब्रह्मरन्ध्रमें जाकर स्थित होता है तब साधकको जीव-ब्रह्मैक्य-ज्ञानरूप योग प्राप्त होता है। सर्वप्रथम गुरुद्वारा शक्तिका सञ्चार होनेपर कुण्डलिनी-शक्ति जागरित होती है, और उसके बाद क्रमोन्नतिके द्वारा योगलाभ होता है। जिस तरह तुम्हें बरतन, लकड़ी, जल और अग्नि इत्यादि किसी चीजको परिश्रम करके जुटाना नहीं पड़ता, केवल दाताकी कृपासे ही उसके घरमें तैयार अन्नसे ही तुम्हारी क्षुधा शान्त हो जाती है, उसी तरह तुम्हें परिश्रम करके सब योगोंकी आधारस्वरूपा मूलाधारस्थिता कुण्डलिनी-शक्तिको जागरित करनेके लिये योगशास्त्रोक्त आसन, मुद्रा और प्राणायामादि कुछ भी अस्वाभाविक ढगसे अनुष्ठान करनेकी जरूरत नहीं, केवल गुरुशक्तिके प्रभावसे ही कुण्डलिनी-शक्तिके जागरित हो जानेसे स्वाभाविक रूपमें योगमार्ग प्राप्त हो जाता है। इसीको 'सहज कर्म' कहा गया है। स्वभावसे जो होता है, वही वास्तवमें सहज है। स्वाभाविक और अस्वाभाविक भेदसे योगपथ दो प्रकारका है। उनमें अस्वाभाविक उपाय अत्यन्त कष्टसाध्य तथा विघ्नसकुल है। स्वाभाविकसे विपरीत ही अस्वाभाविक है। जो स्वाभाविक है, अर्थात् जो स्वभावतः होता है, वही अनायाससाध्य और सुखद है, तथा उसमें किसी तरहकी विपत्तिकी भी सम्भावना नहीं। देखो, जब स्वभावतः हमें निद्रा, क्षुधा और मल-मूत्रादिका वेग होता है तब सोजाने, भोजन कर लेने और मलमूत्रादि त्याग देनेसे शारीरिक स्वस्थता तथा मानसिक आनन्दका अनुभव होता है। किन्तु निद्राकी इच्छा न मालूम होनेपर भी जबर्दस्ती सो रहनेसे सुषुप्तिके स्थानमें स्वप्न आया करता है और उससे शारीरिक और मानसिक अस्वस्थताका अनुभव होता है। भूख नहीं है, फिर भी भोजन कर लिया, तो उससे अजीर्णतादि दोषके कारण शरीरमें रोग होनेकी सम्भावना रहती है। भूख न रहनेपर भोजन करनेसे वह उतना रुचिकर भी नहीं मालूम होता। मलका वेग नहीं हुआ, फिर भी कॉखकर मल त्याग किया, इससे भविष्यमें गुह्य रोगोंके उत्पन्न होनेकी सम्भावना रहती है किन्तु वेग होनेके बाद मल त्याग करनेपर शारीरिक और मानसिक आराम मालूम होता है। उसी तरह अन्तःकरणमें स्वाभाविकरूपसे आसन, मुद्रा और प्राणायामादि करनेकी इच्छा होनेपर और उसके अनुसार क्रिया करनेपर वह सहज और शान्तिप्रद हो जाती है। स्वभावसे ही जो हो जाता है, उसमें बाधा डालनेपर बल्कि अनिष्टकी सम्भावना रहती है। जैसे, शोकमें जिस समय रुलाई आती है, उस समय उसमें बाधा उपस्थित होनेपर हृदयमें भयानक चोट लगती है, किन्तु रो लेनेपर शरीर और मन हल्का मालूम होता है। मल-मूत्रादिका वेग होनेपर उसे रोक लेनेसे दुःख होता है और रोग उत्पन्न होनेकी सम्भावना रहती है, किन्तु उसका त्याग करते ही आराम मिलता है। उसी तरह गुरुशक्तिके प्रभावसे स्वभावतः जो आसन, मुद्रा और प्राणायाम आदि तथा नाना प्रकारसे अंगसञ्चालन आदि करनेकी इच्छा होती है, उसमें उस समय बाधा डालनेपर मानसिक अशान्ति मालूम होती है और शरीरको भी अच्छा नहीं मालूम होता।

जिस तरह वायु, पित्त और कफ इन तीनोंके स्वभावमें विषमता होनेपर वैद्यके पास जाना पड़ता है और वैद्यके बतलाये हुए औषध, पथ्यका व्यवहार करके स्वभावकी सहायता करनेपर शरीर स्वभावतः ही नीरोग हो जाता है, उसी तरह सद्गुरुकी कृपासे शक्तिसञ्चारके द्वारा सिद्धिमार्ग प्राप्त होनेपर एकमात्र गुरूपदिष्ट मन्त्रजप या ध्यानके द्वारा ही स्वभावतः आसन, मुद्रा, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा और ध्यान इत्यादि सब योगाङ्ग अनायास साधित हो जाते हैं, इसके लिये विशेष परिश्रम करने या चेष्टा करनेकी आवश्यकता नहीं होती, अथवा गुरुसे इन सब आसन, मुद्रा और प्राणायाम आदिका स्वतन्त्ररूपसे उपदेश लेनेकी भी जरूरत नहीं होती।

इसी पथसे क्रमशः अग्रसर होते-होते साधक शीघ्र ही योगसिद्धि प्राप्त करके कृतार्थ और धन्य हो जाता है। इस उपायसे स्वभावतः योगाङ्गादि साधनक्रमसे जीव और ब्रह्मका ऐक्यज्ञान अथवा अखण्ड-चैतन्यानुभूति होती है और इसीको सिद्धिमार्ग या सिद्धयोग कहते हैं। परन्तु यह शक्तिसम्पन्न सद्गुरुकी कृपा प्राप्त होनेपर ही सम्भव है
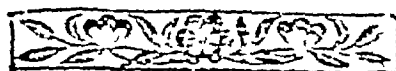
वाम-कौल-तान्त्रिक योग

(लेखक—श्रीगुलाबसिंहजी शर्मा)

नमामि त्वां महादेवीं महाभयविनाशिनीम्।
महादुर्गप्रशमनीं महाकारुण्यरूपिणीम्॥

'मृत्युरूप महाभयका नाश करनेवाली, अति दुस्तर विघ्नोंको शान्त करनेवाली तथा महान् करुणाकी मूर्ति आप महादेवीकी मैं वन्दना करता हूँ।'

जीवात्माका विकास जीवनके उत्कर्षपर निर्भर करता है। यह जीवनशक्ति और प्राणोंकी वृद्धि हम योगाभ्याससे ही विशेषतः लाभ कर सकते हैं। आहार-विहारमें यथायोग्य संयम करते रहने और स्वास्थ्यके साधारण नियमोंका पालन करनेसे हमारी जीवनशक्तिकी वृद्धि होती है। तब योग-सरीखे सर्वोच्च संयमनमार्गका अभ्यास करनेसे हमारी आत्मिक शक्ति अवश्यमेव विकसित होगी, यह ध्रुव सत्य है। हाँ, इन क्रियाओंमें पथप्रदर्शक अर्थात् गुरुकी आवश्यकता अनिवार्य है, और यदि मनकी लगन सच्ची हो तो गुरु भी मिल जाता है। योगके नामसे कई मठ और नानाविध ग्रन्थ हमें प्राप्त हैं, परन्तु अनुभव हमें बतलाता है कि सबसे श्रेष्ठ वही मार्ग है जिसमें अभ्युदय और निःश्रेयस दोनोंकी प्राप्ति सुगम हो—केवल एकाङ्गी धर्म कभी कल्याणप्रद नहीं हो सकता। इसी सिद्धान्तको ध्यानमें रखते हुए आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्णने गीताजीमें कहा है—

तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥
(२। ५०)

अर्थात् 'इससे समत्वबुद्धि योगके लिये ही चेष्टा करो, यह समत्वबुद्धि-रूप योग ही कर्मोंमें चतुरता है।' फिर आगे चलकर भगवान् अर्जुनको उपदेश देते हैं—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥
(६। ४६)

अर्थात् 'योगी तपस्वियोंसे श्रेष्ठ है और शास्त्रके ज्ञान-[illegible] भी श्रेष्ठ माना गया है, तथा सकाम कर्म करने-[illegible] योगी श्रेष्ठ है। अतएव हे अर्जुन! तुम योगी [illegible] यह स्पष्ट है कि योग पूर्णाङ्ग-मार्ग है और [illegible]में है कि यह न किसीका त्याग बतलाता है न किसीका ग्रहण, जैसा कि अन्य साम्प्रदायिक मार्गोंमें है। योगमार्ग हमें भुक्ति और मुक्ति दोनोंको प्राप्त कराता हुआ परम आनन्दमय जीवन अर्थात् मुक्त अवस्थाको प्राप्त करा देता है। शास्त्रोंको देखने, सुनने और विचार करनेसे पता लगता है कि कौलमार्ग अर्थात् तान्त्रिक साधना ही प्रधान योगमार्ग है और उसका यह दावा है—

यत्रास्ति भोगो न च तत्र मोक्षो
यत्रास्ति मोक्षो न च तत्र भोगः।
श्रीसुन्दरीसेवनतत्पराणां
भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव॥

अर्थात् जहाँ भोग है वहाँ मोक्ष नहीं है और जहाँ मोक्ष है वहाँ भोग नहीं है। किन्तु जो लोग भगवती श्रीत्रिपुरसुन्दरीकी सेवामें संलग्न हैं उनके लिये भोग और मोक्ष दोनों ही करतलगत हैं।

तान्त्रिक साधनामें कर्मके त्याग-ग्रहणकी आवश्यकता नहीं, केवल कर्मफल त्यागनेकी आवश्यकता है। इस साधनाके विषयमें कुछ कहनेके पूर्व 'कौल', 'वाम' आदि शब्दोंसे जो भ्रम होता है, उसको दूर करना आवश्यक है।

वाम—**अस्तेमः अनेनः अनेद्यः अनवद्यः अनभिशस्तः उकथ्यः सुनीथः पाकः वामः वयुनमिति दश प्रशस्य-नामानि।** (निरुक्त)

अर्थात् उपर्युक्त दस नाम प्रशस्य अर्थात् श्रेष्ठके वाचक हैं।

य एव हि प्रज्ञावन्तस्त एव हि प्रशस्या भवन्ति।
(दुर्गाचार्य)

अर्थात् जो प्रज्ञावान् (बुद्धिमान्) हैं वे ही प्रशस्य हैं। 'प्रशस्य' शब्दका अर्थ है प्रज्ञावान्। प्रज्ञावान् प्रशस्य योगीका नाम ही 'वाम' है। तन्त्रके प्रवर्तक भगवान् शिव कहते हैं—

वामो मार्गः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः।

अर्थात् वाममार्ग अत्यन्त गहन है और योगियोंके लिये भी अगम्य है।

अधिकार—

परद्रव्येषु योऽन्धश्च परस्त्रीषु नपुंसकः ।
परापवादे यो मूकः सर्वदा विजितेन्द्रियः ॥
तस्यैव ब्राह्मणस्यात्र वामे स्यादधिकारिता ॥

(मेरुतन्त्र)

अर्थात् जो परद्रव्यके लिये अन्धा है, परस्त्रीके लिये नपुसक है, परनिन्दाके लिये मूक है और जो इन्द्रियोंको सदा अपने वशमें रखता है ऐसा ब्राह्मण ही वाममार्गका अधिकारी होता है ।

कौल—**कुलं शक्तिरिति प्रोक्तमकुलं शिव उच्यते ।**
कुलाकुलस्य सम्बन्धः कौलमित्यभिधीयते ॥

(स्वच्छन्दतन्त्र)

अर्थात् 'कुल' शब्द शक्तिका वाचक है और 'अकुल' शब्दसे शिवका बोध होता है, कुल और अकुलके सम्बन्धको कौल कहते हैं ।

तन्त्र—**तन्त्रकृत्तन्त्रसम्पूज्या तन्त्रेशी तन्त्रसम्मता ।**
तन्त्रेशा तन्त्रवित्तन्त्रसाध्या तन्त्रस्वरूपिणी ॥

(ब्रह्मयामल)

अर्थात् 'देवी तन्त्रको रचनेवाली, तन्त्रके द्वारा अर्चनीय, तन्त्रकी स्वामिनी, तन्त्रको मान्य, तन्त्रको जाननेवाली, तन्त्रके द्वारा साध्य और तन्त्रस्वरूपिणी हैं ।'

तात्पर्य तन्त्र शक्ति प्राप्त करनेका मार्ग है और तन्त्र ही स्वय शक्ति है । तन्त्रशास्त्रके दो मुख्य साधनमार्ग हैं—एक भावना और दूसरा कुल-कुण्डलिनीका ऊर्ध्व-सञ्चालन । शास्त्रकार कहते हैं—

भावेन लभते सर्वं भावेन देवदर्शनम् ।
भावेन परमं ज्ञानं तस्माद् भावावलम्बनम् ॥

(रुद्रयामल)

बहुजापात् तथा होमात् कायक्लेशादिविस्तरैः ।
न भावेन विना देवो यन्त्रमन्त्रफलप्रदः ॥

(भावचूडामणि)

अर्थात् भावसे सब कुछ प्राप्त होता है, भावसे ही देवदर्शन होता है और भावसे ही श्रेष्ठ ज्ञानकी प्राप्ति होती है । चाहे हम कितना ही जप करें, कितना ही होम करें और शरीरको कितना ही क्लेश पहुँचावें, भावके बिना देवता यन्त्र और मन्त्रका फल नहीं देते ।

इसी मूल सिद्धान्तको लेकर तमोगुणाधिक साधकके लिये पशु-भाव, रजोगुणाधिक साधकके लिये वीरभाव और सत्त्वगुणाधिक साधकके लिये दिव्यभावकी साधना तन्त्र-शास्त्रमे बतायी है । इन तीनों प्रकारकी साधनाओंके लिये साधक जिज्ञासुओंको किसी सुविज्ञ गुरुके पास जाकर उनका मर्म जानना चाहिये । केवल ग्रन्थ देखकर कोई साधना करेंगे तो भ्रममें फँसकर अपना पतन करेंगे ।*

अस्तु, कुलकुण्डलिनी क्या है, यह अब पहले देखना चाहिये—

Shortly stated, Energy (*Shakti*) polarises itself into two forms, namely, static or Potential (*Kuṇḍalinī*) and dynamic (the working forces of the body as (*Prāṇa*)

—*Sir John Woodraffe* (*Shakti and Shakta*)

Kuṇḍalinī is the static *Shakti*

It is the Individual bodily representative of the great Cosmic Power (*Shakti*) which creates and sustains the Universe

—(*'The Serpent Power' by Arthur Avalon*)

अर्थात् संक्षेपमें हम यों कह सकते हैं कि शक्ति स्थिर अथवा अविकसित (कुण्डलिनी) और चल (अर्थात् शरीरकी प्राणरूप सञ्चालिका शक्ति) रूपसे द्विविध हो जाती है । —सर जॉन वुडरफ़ ('शक्ति और शाक्त') ।

कुण्डलिनी स्थिर शक्ति है । यह उस महान् विश्वव्यापिनी शक्तिका ही व्यष्टि शरीरस्थित रूप है ।

—आर्थर एवेलन ('कुण्डलिनी शक्ति') ।

यह तो हुई पाश्चात्त्य विद्वानोंकी राय । शास्त्रकारोंके वचन ये हैं—

---

* तान्त्रिक शब्द सब पारिभाषिक हैं और उनका अर्थ गुप्त है । जो गुरु-परम्परानुसार चल रहा है । अत. उन आदेशों और क्रियाओंको गुरु ही समझा सकता है । यह 'हृदयका गुप्त रहस्य' है, जो गुरुसे शिष्यको प्राप्त होता है और गुप्त ही रक्खा जाता है—

प्रकाशात् सिद्धिहानि स्याद्वामाचारगतौ प्रिये ।
अतो वामपथं देवि गोपायेत् मातृजारवत् ॥

(विश्वसार)

अर्थात् हे प्रिये 'वामाचारमार्गमें साधनको प्रकाशित करनेसे सिद्धिहानि होती है, अतः हे देवि' वाममार्गको माताके जारके समान गुप्त रखना चाहिये ।

सुप्ता नागोपमा ह्येषा स्फुरन्ती प्रभया स्वया।
अहिवत् सन्धिसंस्थाना वाग्देवीबीजसंज्ञका॥
ज्ञेया शक्तिरियं विष्णोर्निर्भया स्वर्णभास्वरा।
सत्त्वं रजस्तमश्चेति गुणत्रयप्रसूतिका॥

अर्थात् यह देवी सोयी हुई नागके समान मालूम होती है तथा अपने ही प्रकाशसे दीप्त है। यह सर्पके समान सन्धिस्थानमें रहती है तथा वाग्देवीके बीज नामसे विख्यात है। इसे विष्णुकी शक्ति जानना चाहिये। यह निर्भय और स्वर्णके समान आभावाली है तथा सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणोंका प्रसूतिस्थान है।

अर्थात् सब शक्तियोंकी मूल शक्ति यह कुलकुण्डलिनी है। इसको कैसे जगाया जाय, यही प्रश्न है। हमारे ऋषियोंने कई प्रकारके उपाय साधनाधिकारभेदसे बतलाये हैं, जैसे मन्त्रयोग, भक्तियोग, ध्यानयोग, विन्दुयोग (अथवा नादयोग), हठयोग, राजयोग इत्यादि। इनका विवरण ग्रन्थोंमें होनेपर भी साधकके लिये सिद्ध गुरुकी आवश्यकता है। सिद्ध गुरुके बिना कुछ प्राप्त नहीं होगा और मैं भी यहाँ उतना ही वर्णन करूँगा जितनेके लिये गुरु-आज्ञा है।

(१) सबसे पहले बाह्य और आन्तर शुद्धि होनी चाहिये। फिर (२) आहार-विहार नियमित और शुद्ध होना चाहिये। (३) ऐसे आचार नहीं होने चाहिये जिनसे मस्तिष्कमें अधिक क्षोभ पैदा हो। (४) ईश्वर अर्थात् इष्टमें पूर्ण प्रेम होना चाहिये। (५) आध्यात्मिक ग्रन्थोंका स्वाध्याय और गुरु-आज्ञापर पूर्ण श्रद्धा होनी चाहिये। (६) साधनाका स्थान नीरव, एकान्त, स्वच्छ और शुद्ध वायुयुक्त हो। (७) साधन प्रातः-साय और अर्द्धरात्रिमें अवश्य करना चाहिये। आधीरातका समय ध्यान और जपके लिये श्रेष्ठ है। (८) जिह्वादि इन्द्रियोंका पूर्ण संयम करना चाहिये। (९) मन-बुद्धिसे किसीका भी अहित न सोचना, प्रत्युत प्राणिमात्रके हितकी भावना करनी चाहिये। (१०) हर हालतमें ब्रह्मशक्तिका स्वरूप अपनेको समझते हुए अपने आत्माको अजर, अमर, और सब शक्तियोंका केन्द्रस्थान समझना चाहिये। ...ी-जातिको जगदम्बास्वरूप समझते हुए कभी ...समझना चाहिये, बल्कि माताके रूपमें ...े।

ये हैं नियम जिनमें साधकको साधनासे पहले अपने-आपको ढालना होगा। तत्पश्चात् निम्नलिखित साधना आरम्भ करनी चाहिये—शीर्षासनका नित्य प्रातः-साय अभ्यास करो। प्रथम एक मिनटसे प्रारम्भ करके जब दस मिनटतकका अभ्यास हो जाय तब प्राणायामका अभ्यास करो। पद्म या सिद्ध आसनसे बैठकर रेचक, पूरक, कुम्भकका अभ्यास आरम्भ करो। प्रयत्न करो कि ज्यादा देरतक कुम्भक हो सके, पर बलपूर्वक प्राणवायुको रोकनेका प्रयत्न मत करो। धीरे-धीरे अभ्यास करो। इसमें ॐके उच्चारणकी गिनतीका हिसाब रक्खो और प्रति सप्ताह पाँच मन्त्र बढ़ाते चलो। बीस प्राणायामसे अधिक न बढ़ाना चाहिये और तीन घण्टेतकका कुम्भक हद है। स्मरण रक्खो कि वायुमण्डल ही प्राण नहीं है, वायुका विशुद्धतम अंश ही प्राणवायु कहलाता है। विशुद्ध-विशेषका सम्बन्ध ग्रहोंकी शक्ति (Planatary Electricity) और विशेषकर सूर्यज्योतिसे है। जबतक सूर्य रहता है जाग्रति रहती है। सूर्यके न रहनेसे जीवमात्र ही शक्तिहीन हो जाते हैं और उन्हें विश्रामकी आवश्यकता पड़ती है। अतः जिस तरह बाह्य सूर्य है, उसी तरह हमारे अन्दर सूर्यकेन्द्र है, जिसको (Solar Plex) कहते हैं। इसका स्थान नाभिके पास है और यौगिक भाषामें उसे मणिपूर-चक्र भी कहते हैं। यही वह मणिपूर है जिसका वर्णन पुराणोंमें आया है कि शक्तिका स्थान मणिपूरमें है। (इसी तरह विष्णुका वैकुण्ठ और शिवका कैलास भी मनुष्यके शरीरमें ही है। पर तिनकेकी ओट पहाड़ है।) अतः प्राणायामकी प्रक्रिया-द्वारा यही चित्त-शक्ति बढ़ायी जाती है और जल्द वह समय आ जाता है जब मणिपूर-चक्र जगने लगता है। जब चक्र जगने लगता है तब साधकमें तेज चमकने लगता है। वह शक्तिमान् हो उठता है और उसकी इच्छाशक्ति बलवती हो जाती है। उसके बाद प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और तल्लीनता अर्थात् समाधि आरम्भ होती है।

मस्तिष्क ही ज्ञानरज्जुके रूपमें मेरुदण्डके भीतर नीचेतक अनन्त स्नायु-तन्तुओंके रूपमें फैला हुआ है। पायुसे दो अङ्गुल ऊपर, उपस्थसे चार अङ्गुल नीचे ज्ञान-रज्जु मेरु-दण्डके बाहर चार अङ्गुल विस्तृत कन्दके रूपमें प्रकट हुई है। सिद्धोंके मतानुसार उसी कन्दसे बहत्तर हजार नाडियोंका सम्बन्ध है। इन नाडियोंमें मुख्य इडा-पिङ्गला और

सुषुम्ना है। हमारा उद्देश्य केवल प्राणायामसे उस कन्दको पुष्ट करके शरीरको पुष्ट करना ही न होना चाहिये, बल्कि शरीर तो स्वयं पुष्ट होगा, हमारा लक्ष्य होना चाहिये ब्रह्मानन्द-प्राप्ति—शिवशक्तिसम्मिलन। हमारी अन्तर्मुख शक्ति तब सिद्ध होगी जब हमारा सम्बन्ध सुषुम्नासे होगा। क्योंकि सुषुम्ना नाड़ी कन्दसे होती हुई मस्तिष्कतक जाती है और जीवात्मासे विशेष सम्बन्ध रखती है। अतः इसी सुषुम्नाद्वारा योगिगण केवल भावनासे प्राणायामसे सञ्चित शक्तिको ठोकर लगाकर कुण्डलिनीको जगाकर ऊर्ध्व-गामिनी करनेमें समर्थ होते हैं और अमृत-पद प्राप्त करते हैं। शिवभक्त इसको शिवशक्तिसम्मिलन कहते हैं। कृष्णभक्त इस कुल-कुण्डलिनी-रूपी राधिकाका कृष्ण ब्रह्मके साथ (वशीवटके निकट) मस्तिष्कके पास रासविलास देखा करते हैं और आधुनिक सन्त सुरति-शब्द-योग कहकर गद्गद् होते हैं। यही जीव शिव हो जाता है—सब ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं। कुण्डलिनीके जागरणपर एक प्रकारका कम्प पैदा होता है और उससे ॐ की ध्वनि स्वय निकलने लगती है तथा अनेक प्रकारके स्वर आने लगते हैं। यह ओंकार जगदम्बाका उद्गार है और काम, क्रोध, लोभ, मत्सरका नाश ही शुम्भ, निशुम्भ, चण्ड, मुण्डका वध है।

भृकुटीमे द्विदल कमल है, जहाँ शिवका निवासस्थान है और योगियोंके मतसे महाकाल रुद्र वहाँ लेटे हैं। जगदम्बा कुण्डलिनी जाकर ठोकर लगाती हैं, उनके वक्षःस्थलपर भीषण नृत्य करके उनमे जीवनका सञ्चार करती हैं और शवसे शिव बनाकर सहस्रदलपद्ममें सदा ही विहार करती हैं। यही कालीका नृत्य है।

तान्त्रिक मतसे एक तो यह मार्ग है और दूसरे इसी योगके शाखास्वरूप मन्त्र, ज्योति, नादादि योग हैं। पर योग मात्रकी साधना तभी सिद्ध होती है जब कुण्डलिनी जाग उठे। सब योगोंका लक्ष्य भी एक ही है। इसमे वाद-विवादसे कुछ नहीं मिलेगा, यह तो करतब विद्या है, जो करेगा वह आनन्द लेगा। इससे अधिक कुछ नहीं लिखा जा सकता, न लिखनेकी आज्ञा ही है। आगे जो कुछ है वह अनिर्वचनीय और अनुभवगम्य है। अन्तिम प्रार्थना यही है कि जगदम्बा हमारा और आपका सबका कल्याण करें। जो साधना करना चाहें उनसे प्रार्थना है कि वे पञ्चदेवोंके प्रति द्वेष-भावना छोड़ दें, देव एक है, वस्तु एक है, केवल भावना और साधन-प्रणाली पृथक्-पृथक् है—ऐसा समझकर एक-दूसरेके इष्टको प्रेमसे देखें। इससे सबका मङ्गल होगा। शास्त्रकार कहते हैं—

> **एकैव माया परमेश्वरस्य**
> **स्वकार्यभेदाद् भवति चतुर्धा।**
> **भोगे भवानी समरे च दुर्गा**
> **क्रोधे च काली पुरुषे च विष्णुः॥**

अर्थात् परमेश्वरकी एक ही माया अपने कार्य-भेदसे चार प्रकारकी हो जाती है। भोगके समय उसे भवानी कहते हैं, समरमें वही दुर्गा कहलाती है, क्रोधमे वह काली नामसे विख्यात होती है, तथा पुरुषरूपमे वह विष्णुसंज्ञा-को धारण करती है।

जो इस पथपर चलेंगे वे आनन्द प्राप्त करेंगे—

> **ब्रह्मानन्दरसं पीत्वा ये तु उन्मत्तयोगिनः।**
> **इन्द्रोऽपि रङ्कवद्भाति का कथा नृपकीटकः॥**

अर्थात् ब्रह्मानन्दरूप रसको पीकर जो योगी उन्मत्त हो जाते हैं उनके सामने इन्द्र भी रङ्कतुल्य प्रतीत होता है, साधारण नृपरूप कीटोंकी तो बात ही क्या है?

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

अस्पर्शयोग

(लेखक—प० श्रीनरदेवजी शास्त्री वेदतीर्थ)

अस्पर्शयोगो वै नाम दुर्दर्शः सर्वयोगिभिः।
योगिनो बिभ्यति ह्यस्मादभये भयदर्शिनः॥

(गौडपादीय कारिका ३९)

श्रीआनन्दगिरिजीने इस कारिकाका अर्थ इस प्रकार किया है—'वर्णाश्रमधर्मसे, पापादि मलसे जिसको स्पर्श नहीं होता, जो इनसे सर्वथा अछूत रहता है वह अद्वैतानुभव अस्पर्श है। वह यह योग अर्थात् जीवकी ब्रह्मभावसे योजना ही अस्पर्शयोग है।'

भगवान् शङ्कराचार्य इसका भाष्य यों करते हैं—

यद्यपीदमित्थं परमार्थतत्त्वम्। अस्पर्शयोगो नामायं सर्वसम्बन्धाख्यस्पर्शवर्जितत्वादस्पर्शयोगो नाम वै स्मर्यते प्रसिद्धमुपनिषत्सु। दुःखेन दृश्यत इति दुर्दर्शः सर्वैर्योगिभिः, वेदान्तविहितविज्ञानरहितैः सर्वयोगिभिरात्मसत्यानुबोधायासलभ्य एवेत्यर्थः। योगिनो बिभ्यति ह्यस्मात्सर्वभयवर्जितादप्यात्मनाशरूपमिमं योगं मन्यमाना भयं कुर्वन्ति अभयेऽस्मिन्भयदर्शिनो भयनिमित्तात्मनाशदर्शनशीला अविवेकिन इत्यर्थः॥ ३९॥

इसका अर्थ यह है—

'यह अस्पर्शयोग सब स्पर्शोंसे, सब सम्बन्धोंसे अलिप्त रहनेका नाम है और उपनिषदोंमें प्रसिद्ध है एव कई स्थानोंमें इसका उल्लेख आया है। जिनको वेदान्तविहित विज्ञानका बोध नहीं उनके लिये 'दुर्दर्शः' है। यह अस्पर्शयोग सब प्रकारके भयोंसे शून्य है तो भी योगिजन इस योगसे भयभीत होते रहते हैं—वह भय यह कि कहीं इस अस्पर्शयोगके अभ्याससे आत्मनाश न हो जाय। इस प्रकार अस्पर्शयोगद्वारा अद्वैततत्त्वमें मिल जानेसे आत्मतत्त्वका नाश समझनेवाले योगियोंका अविवेक ही है अर्थात् अविवेकियोंको ही ऐसा भय रहता है, अन्योंको नहीं।'

उपनिषदोंमें 'न लिप्यते कर्मणा पापकेन' इत्यादि वचन मिलते हैं। अस्पर्शयोगवाले योगिजन पाप-पुण्यसे अलिप्त रहते हैं। इस प्रकार उपर्युक्त कारिका, उसका शाङ्करभाष्य, उसपर की गयी आनन्दगिरिजीकी टीका इन सबका अभिप्राय अस्पर्शवादसे विशुद्ध अद्वैतका है।

अभयके विषयमें यह निम्नलिखित कारिका क्या कहती है, देखिये—

मनसो निग्रहायत्तमभयं सर्वयोगिनाम्।
दुःखक्षयः प्रबोधश्चाप्यक्षया शान्तिरेव च॥

(गौडपादीय का० ४०)

'अभय—आत्मदर्शनतत्त्व तो मनके निग्रहके अधीन है जिससे समस्त दुःखोंका क्षय होता है और प्रबोधचन्द्रका उदय भी। अक्षय शान्ति भी मिलती है।'

गीताका कर्मयोग भी एक प्रकारसे अस्पर्शवाद ही है। उसमें भी फलकी आकांक्षासे अछूत रहकर कर्म करना पड़ता है—फलकी आकाक्षा छोड़कर केवल कर्त्तव्यके लिये कर्त्तव्य करते रहनेसे पुरुष पाप-पुण्यसे अलिप्त रहकर मोक्षका अधिकारी बन जाता है। ध्यानयोगका जो फल है वही फल इस प्रकारके अस्पर्शवादका है—

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।

(१)	(२)	(३)
योगका ध्यानयोग	गौडपादका अस्पर्शयोग	गीताका कर्मयोग
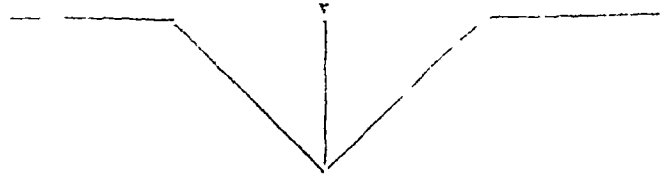
तीनोंका फल एक

अर्थात्

मोक्ष

जितना भी दुःख है वह है स्पर्शका, कर्मफलमें लिप्त रहनेका,—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।

(गीता)

× × ×

न तेषु रमते बुधः। (गीता)

संसारके जितने संस्पर्शज भोग हैं वे दुःखके ही कारण हैं—बुद्धिमान् पुरुष उनमें रमते नहीं, अलग रहते हैं,

अस्पर्शसे काम लेते हैं तब वे पुण्यापुण्यसे ऊपर उठते हैं, तब आत्मदर्शन कर पाते हैं, तब 'अभय' में लीन हो जाते हैं। यह अस्पर्शयोग अत्यन्त कठिन है। साधारण योगियोंको तो क्या बड़े-बड़े योगियोंको भी अप्राप्य है। पर अभ्यास और वैराग्यसे वशीकारसंज्ञा प्राप्त करनेपर सहजगम्य है।

पुराकालमे हमारे इस पवित्र भरतखण्डमें इस प्रकारके उच्चकोटिके योगियोंकी कमी नहीं थी—अब भी यह खण्ड शून्य नहीं है पर पुराकालकी वह बात भी नहीं रही है। आजकल निम्नलिखित पारमार्थिक सत्यको समझानेवाले हमारे देशमे कितने मिलेंगे? और कहाँ मिलेंगे? मिलेंगे तो वे किस प्रकार पहचाने जायँगे? पहचाने भी गये तो वे किस प्रकार प्रसन्न होंगे और तत्त्वको समझायेंगे?

न कश्चिज्जायते जीवः सम्भवोऽस्य न विद्यते।
एतत्तदुत्तमं सत्यं यत्र किञ्चिन्न जायते॥
(गौडपादीय कारिका ४८)

'वस्तुतः 'कर्ता' 'भोक्ता' जीव तो कभी उत्पन्न नहीं होता। स्वभावसे जो 'अज' है 'एक ही आत्मा' है वह उत्पन्न भी कैसे हो सकता है? संसारमें जितने 'सत्य' हैं उनमें परमार्थ सत्य यह है कि उस सत्यस्वरूप ब्रह्ममें अणुमात्र भी उत्पन्न नहीं होता।'

अब रही द्वैताद्वैतकी बात, उसको गौडपादीय कारिका ३१ मे स्पष्ट वर्णन किया है—

मनोदृश्यमिदं सर्वं यत्किञ्चित्सचराचरम्।
मनसो ह्यमनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते॥

'द्वैतकी सब बात मनके अधीन है—मनके कारण है। मन ही जब लीन-विलीन हो गया तब द्वैत कहाँ? द्वैतकी बात बोलनेवाला कहाँ?'
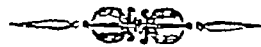
भक्तियोग तथा उसकी सर्वव्यापकता और उत्कृष्टता

(लेखक—साहित्याचार्य प० श्रीमथुरानाथजी शास्त्री, भट्ट, कविरत्न)

[१]

हे शिक्षित हो या अशिक्षित, आस्तिक हो या नास्तिक; सबका ध्येय सुख है। सबकी इच्छा यही रहती है कि दुःखसे बचें, और सुख मिले। मनुष्य ही क्या, प्राणिमात्र सुखके लिये व्यस्त हैं। अपनी जानमे वह वही यत्न करता है कि जिससे दुःखसे बचकर सुखके सम्मुख हो। किन्तु अपनी-अपनी बुद्धि और योग्यताके अनुसार उपायोंमे अन्तर है। एक आदमीके यत्नकी पहुँच वहींतक हो पाती है कि कुछ दिनके लिये चाहे उसे दुःखसे छुटकारा भले ही मिल जाय परन्तु उस नियत अवधिके बीत जानेपर फिर उसे उसी दुःखका सामना करना पड़ता है। परन्तु दूसरा आदमी अपनी दूरन्देशीमे ऐसे उपायोमे लगता है जिनके कारण अनन्त अवधिके लिये वह दुःखोसे छुटकारा पा जाता है। गरमीके घामसे घबराया हुआ पशु जब किसी मकानकी छायामे पहुँच जाता है तो समझता है, मैने अपने उपायों से सुख प्राप्त कर लिया। किन्तु सूर्य ज्यों-ज्यों ऊपर चढ़ता जाता है, छाया वहाँसे हटती जाती है। वह भी अपनी जानमें उपायोंमे कमी नहीं करता। उसके साथ-साथ आगे बढ़ता चला जाता है। किन्तु जब मकानकी भित्ति आ चुकती है, और धूपसे बचाव नहीं हो पाता तब वह अपने उद्योगको विफल समझकर घबरा उठता है। सन्तापसे बचनेके लिये इधर-उधर दीन दृष्टि डालता है।

विचारशीलोंका एक बारीक विचार यहाँ और है। वह 'सुख' शब्दके अर्थपर ही डट जाते हैं। उनका कहना है कि 'सुख' पदार्थको ही अभी लोगोने नहीं समझा है। वर्तमान परिस्थितिमे कुछ-न-कुछ उन्नति होना, थोड़ा-बहुत आराम और उत्कर्षकी तरफ जाना ही 'सुख' कहा जाना चाहिये। हमारी प्रचलित परिस्थितिमे एक आगन्तुक दुःख जो अचानक आ पड़ता है उसकी निवृत्ति होनेपर हम खुशी जरूर होते हैं किन्तु विचार-दृष्टिसे वह सुख नहीं कहा जा सकता। वह तो अचानक आयी हुई आपत्तिसे बचाव है न कि लाभ। जिस सेवकको प्रतिमास पचास रुपया वेतन मिलता है, स्वामीकी अप्रसन्नताके कारण हर मास उसके यदि पाँच रुपये कुछ मासतक कटते रहे और फिर उसे पचास रुपया मासिक

मिलने लगे तो क्या इसे उन्नति समझेंगे ? रास्ता चलते हुए आदमीके सिरपर अचानक बोझ रख दिया जाता है जिससे वह बेचारा घबरा उठता है। उसके हट जानेपर जरूर वह निश्चिन्तताका श्वास लेता है किन्तु क्या यह वास्तव सुख है ? सुख तो वह गिना जाना चाहिये जो कि उसे अपनी परिस्थितिसे कुछ आगे बढ़ावे। अतएव आगन्तुक दुःखोंके अभावको सुख नहीं मानना चाहिये। संसारके सुख प्रायः सब इसी तरहके हैं। भर्तृहरि कहते हैं—

निवृत्तौ दुःखानां सुखमिति विपर्यस्यति जनः।

इन सब बातोंको सोचकर ही विवेकशील दार्शनिकोंने उत्तमोत्तम सुखकी परिभाषा अलग ही मानी है। वह स्वर्गसुखको उत्कृष्ट बताते हैं। दूसरे-दूसरे शास्त्रोंने 'स्वर्ग' को एक लोकान्तर माना है किन्तु इनके मतसे— 'जिस सुखमें दुःखका जरा भी मिलाव न हो, जो किसी सुखकी तुलनामें दबता न हो, जिसमें अन्तर (विच्छेद) न पड़ता हो, जो यथेच्छ प्राप्त हो, उसे ही स्वर्गसुख[1] कहते हैं।

जो ईश्वर और शास्त्रोंपर विश्वास नहीं करते उनके मतमें सुख और उसकी प्राप्तिके लिये उपाय-परिकल्पना कैसी होगी, इसपर मैं विचार करना नहीं चाहता। जो ईश्वरको केवल मानते ही नहीं, उसकी प्रसन्नता सम्पादनको ही जो परम पुरुषार्थ समझते हैं, शास्त्रोंको प्रमाण मानते हैं वे 'स्वर्गकामो यजेत' इस शास्त्राज्ञाके अनुसार स्वर्गसुखके लिये यज्ञ-यागादि किया करते हैं। किन्तु वह सुख भी सावधिक (मर्यादी) है। किये हुए यज्ञादिका पुण्यफल जितने कालके लिये पर्याप्त हो सकता है उतने कालके लिये वे भी उस लोकान्तर या सुखविशेषको भोगते हैं। फिर 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति'।

दूसरे, स्वर्गीय भी आपत्तियोंके आक्रमणोंसे एकदम बरी नहीं कहे जा सकते। माना कि हम पग-पगपर नानाविध आपत्तियोंसे घिरे रहते हैं, चिन्ता और सन्ताप हमारा हरदम पीछा किया करते हैं, सुख थोड़ा और आपत्तियाँ बहुत। किन्तु एकदम सुखी तो देवता भी नहीं गिने जा सकते। और तो क्या, सब देवताओंके अधिपति इन्द्र भी आये दिन शत्रुओंके आक्रमणोंका सामना किया करते हैं। फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि स्वर्गमें पहुँचनेपर तो दुःखोंसे सदाके लिये छुटकारा हो ही जाता है ?

फिर यज्ञ-यागादिका पूरा पार पड़ जाना भी तो सहज नहीं। उनकी विधिमें थोड़ा भी अन्तर होते ही कार्यसिद्धि कैसी, उलटा प्रत्यवाय (पाप) का भागी होना पड़ता है। 'व्रीहीन् अवहन्ति' धानोंका अवघात (काष्ठादिसे छड़ना) जहाँ विहित है वहाँ थोड़ा भी अन्तर पड़ जानेसे कर्ममें वैगुण्य हो जाता है। 'दक्षिणेन कुशानास्तीर्य' 'वेदीके दक्षिण भागमें कुश फैलावे'। यदि इसमें थोड़ी भी भूल हो गयी तो कार्यसिद्धिमें अन्तर पड जाता है। मन्त्र बोलते समय स्वरमात्रमें भी थोडी-सी भूल हो गयी तो लेनेके देने पड़ जाते हैं। असुरोंकी तरफसे, इन्द्रको मारनेवालेको उत्पन्न करनेके लिये यज्ञ किया जा रहा था, किन्तु 'इन्द्रशत्रो' इस पदमात्रमें स्वरकी जरा-सी गलती करनेसे इन्द्रके हाथसे मरनेवाला पैदा हो गया। अब कहिये, कितनी बड़ी सावधानीका काम है। कितना अध्यवसाय, कितना परिश्रम, कितना काल अपेक्षित है ? फिर सौभाग्यसे पूर्ण सिद्धि हो भी गयी तो भी वह सुख सदाके लिये स्थायी हो, सो भी नहीं। 'पतनान्ताः समुच्छ्रयाः' के अनुसार कभी-न-कभी उसका भी अन्त होता ही है। अब कहिये, तपश्चर्या अथवा यज्ञादिके द्वारा जो हमने फलसिद्धि प्राप्त की उससे कौन-सा हमें आत्यन्तिक सुख मिल सका ?

फिर और लीजिये। यज्ञ-यागादि करनेके लिये, तपश्चर्या-विधानके लिये सब मनुष्य अधिकारी भी तो नहीं। प्रथम, वेदाध्ययनका ही सबको अधिकार नहीं, फिर उसके द्वारा यज्ञादि करना तो सबके हिस्सेमें आ ही कैसे सकता है ? वेदका सबको अधिकार क्यों नहीं ? मैं समझता हूँ, इसपर झगड़ा करना जम नहीं सकेगा। क्योंकि 'वेद पढ़कर यज्ञ करनेसे स्वर्ग मिलता है' यह आपने कैसे जाना ? आप यही कहेंगे न कि शास्त्रमें लिखा देखा है। बस, उसी शास्त्रमें यह भी व्यवस्था की है कि अमुक वर्ण 'वेद पढे और अमुक नहीं।' फिर 'स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा' पर ही आप क्यों बिगड़ उठते हैं ? शास्त्रके एक हिस्सेपर तो श्रद्धा रखकर यज्ञ करनेके लिये तैयार होते हैं और दूसरी तरफ शास्त्रको अप्रमाण भी मानते

१. यन्न दुःखेन सम्भिन्नं यन्न ग्रस्तमनन्तरम्।
अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वःपदास्पदम्॥

जाते हैं ? यो मनमानी भी करना चाहते हैं और शास्त्रोंसे लाभ उठानेकी भी आशा रखते हैं ?

अब आप ही विचार कीजिये, सब प्राणियोंके लिये आत्यन्तिक सुखप्राप्तिका उपाय क्या हो सकता है ? मेरे पहले निवेदनपर ध्यान रहना चाहिये कि शास्त्रोंको जो प्रमाण मानते हैं उन आस्तिकोंके विषयमें ही मैं निवेदन कर रहा हूँ। और निबन्ध लिखना भी मेरा उन्हींके लिये है। शास्त्रज्ञ आस्तिकोंका कथन है कि आनन्दैकात्मक उन भगवान्से उत्पन्न हुआ उनका ही एकांश यह जीव जबतक उन्हीं भगवान्के सम्मुख नहीं होता तबतक इसको सुख नहीं मिल सकता। भगवान्ने अपनी इच्छासे, अपनी क्रीडाके लिये, अपने ही रूपसे, स्वात्मक यह जगत् उत्पन्न किया है। जबतक वह स्वयं न चाहें तबतक इस क्रीडाकी समाप्ति न हो, बराबर यह क्रीडा चली जाय, इसके लिये कर्मबन्धका जो प्रबल चक्र चलाया गया है उसमें 'माया' का प्रधान हाथ है। वह इस जीवको ठिकानेपर आने ही नहीं देती। अपने स्वरूपको तथा अपने स्वामीको भूला हुआ यह जीव अन्धेकी तरह संसारचक्रमें अनन्त जन्मोंसे घूम रहा है। सौभाग्यवश सत्संगति मिल जानेपर जैसे ही यह उस सूक्ष्म सच्चे रास्तेके अभिमुख आने लगता है [यदि इसकी लगन दृढ न हुई] तो वह 'माया' फिर इसकी बुद्धिको चकरा देती है, जिससे यह उस रास्तेसे भटककर फिर उसी चौरासीके चक्करमें पड़ जाता है।

एक अन्धा यदि ऐसे एक बगीचेमें फँस जाय कि जिसके चारों तरफ लताओंसे आच्छन्न पुख्ता चहारदिवारी हो, केवल एकमात्र सूक्ष्म दरवाजा ऐसा हो जिसपर भी आधेसे ज्यादा लताएँ छायी हुई हों। वह निःसहाय अन्धा चारों तरफ टटोलता-टटोलता बाहर निकलनेके लिये जैसे ही उस दरवाजेके सामने पहुँचने लगता है कि दरवाजेके सहारे खड़ा हुआ एक कौतुकी पुरुष मोरपङ्खकी पिच्छी उसके शरीरपर छुआ देता है। वह बेचारा लताओंके धोखेसे उस दरवाजेमें न घुसकर फिर आगे बढ़ जाता है और उसी चहारदिवारीको टटोलता हुआ चक्कर काटने लगता है। बस, यही हाल चौरासीके चक्करमें पड़े हुए इस जीवका है। जैसे ही यह सन्मार्गके अभिमुख होने लगता है कि फिर मायाकी चपेटमें पड़कर चौकड़ी भूल जाता है। गरज़ यह कि जबतक स्वयं उस कौतुक करनेवालेका ही आश्रय यह जीव नहीं ले लेता तबतक यह उस 'भूलभुलैया' के बाहर नहीं निकल सकता। स्वयं भगवान् ही इस भेदको खोलते हैं कि— 'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते'।

[२]

भगवान्का आश्रय जिसमें लिया जाय, उनकी 'प्रपत्ति' जिसमें की जाय, अपने मनकी गति भगवान्में जहाँ लगा दी जाय, वह विशिष्टयोग 'भक्तियोग' है।

यों तो सात्त्विक, राजस, तामस आदि भक्तिके अनेक भेद बताये गये हैं, परन्तु जहाँ और-और तरफ बहते हुए मनकी गतिको भगवान्में ही लगा दिया जाय, उस 'निर्गुणा' भक्तिको ही सबसे प्रधानता दी गयी है। 'निबन्ध' बढ न जाय, इसलिये केवल डेढ श्लोकसे ही इस 'भक्तियोग' का स्वरूप और उत्कर्ष दिखानेका यत्न करता हूँ। आशा है, मार्मिक लोगोंके लिये यही पर्याप्त होगा।

भगवान् आज्ञा करते हैं—

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ॥
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।

'गङ्गाप्रवाहकी गति जिस तरह समुद्रकी तरफ अप्रतिरुद्ध और स्वाभाविक होती है, इसी प्रकार मेरे गुणोंको सुनकर सर्वव्यापक मुझमें अविच्छिन्न (प्रतिबन्धरहित) जो मनकी गति है वही निर्गुण भक्तियोगका लक्षण अर्थात् ज्ञापक (सूचक) कहा गया है'। यह पद्यका अक्षरार्थ हुआ। यहाँ एक-एक पदसे क्या-क्या गूढार्थ सूचित किया गया है, अब जरा इसपर ध्यान दीजिये—

'मद्गुणश्रुतिमात्रेण' इस पूरे पदमें प्रीतिकी स्वाभाविकता और मनोगतिकी अनिवार्यता सूचित की गयी है। मन गुणोंके कारण जब किसीपर अनुरक्त होता है, वह अनुराग बड़ा दृढ और स्वाभाविक होता है। क्योंकि अपनी मनोरथपूर्तिके लिये जब किसीके प्रति किसीका खिंचाव होता है और वह अपने प्रेमपात्रको चाहने लगता है उसमें गुण दरअसलमें गुणका (रस्सीका) काम करते हैं। इसीलिये साहित्यवालोंने पूर्वानुरागमें कहा है—

श्रवणाद्दर्शनाद्वापि मिथः संरूढरागयोः।

श्रीरुक्मिणीजीने जिस समय भगवान्के गुणोंको सुना उसी समय भगवान्के प्रति उनका हृदय इतना आकृष्ट

हुआ कि उन्होंने सम्पूर्ण भूमण्डलके बड़े-बड़े प्रतापी राजाओंमें भगवान् श्रीकृष्णको ही अपने योग्य पति माना—

> सोपश्रुत्य मुकुन्दस्य रूपवीर्यगुणश्रियः ।
> ··· ···तं मेने सदृशं पतिम् ॥

इन गुणोंने श्रीरुक्मिणीजीके हृदयको इस प्रकार दृढ़ बाँध लिया था कि थोड़ा भी शैथिल्य होना कहाँ था ? इन गुणोंके कारण ही, बिना भगवान्को देखे ही उन्होंने भगवान्को अपना पतितक वरण कर लिया था । यह क्या सामान्य बात है ? वह कहती है—'हे भुवनसुन्दर ! आपके गुणोंको सुनकर विवश हुआ यह मेरा हृदय सब अपत्रप (लज्जा) आदिको छोड़कर 'आविशति' आपमें केवल लगा ही नहीं है, इसे एक तरहका 'आवेश' हो गया है । 'त्वय्यच्युत' 'तन्मे भवान् खलु वृतः पतिः' 'अतएव आपको मैंने अपना पति वरण किया है ।' इस गुणश्रवणका प्रभाव यहींतक नहीं हुआ, बल्कि अपने प्राणपर्यन्त भगवान्को उन्होंने अर्पण कर दिये थे । वह अपने पत्रमें लिखती है—

> यर्ह्यम्बुजाक्ष न लभेय भवत्प्रसादं
> जह्यामसून् व्रतकृशान् शतजन्मभिः स्यात् ।

हे कमलदललोचन ! यदि आपकी कृपा मुझपर नहीं होगी तो इन प्राणोंको मैं छोड़ दूँगी । ये प्राण पहले ही कैसे हैं—'व्रतकृशान', आपकी प्राप्तिके लिये जो नाना व्रत किये हैं उनके कारण दुर्बल हो रहे हैं । फिर इनके चले जानेमें देर ही क्या लगेगी ? आप यह न समझें कि मेरा यह हृदयसमर्पण केवल इसी जन्मके लिये हुआ है । नहीं-नहीं, यदि आपका अनुग्रह इस जन्ममें न हुआ और आपको स्मरण करते-करते यह शरीर छूट गया तो फिर दूसरे जन्ममें भी आपकी ही प्रीति होगी । और वहाँ भी आपके अनुग्रहकी यों ही लालसा रहेगी । इस तरह चाहे मेरे शत (अनन्त) जन्म ही क्यों न हों, परन्तु मैं आपकी प्रसन्नताको प्राप्त किये बिना नहीं जी सकती । इस दृढ़ताको सूचन करनेके लिये ही आपने यहाँ कहा है—'शतजन्मभिः स्यात' । बस, गुण-श्रवणके इस सुदृढ और स्थायी प्रभावको दिखलानेके लिये ही भगवानने यहाँ कहा है—'मद्गुणश्रुतिमात्रेण' ।

'मात्र' शब्दसे यह ध्वनित किया गया है कि भक्तका ऐसा स्वाभाविक और दृढ़ अनुराग होना चाहिये कि [illegible] श्रवणमात्र करते ही भगवान्के प्रति उसका वह आकर्षण हो कि बस, फिर कोई प्रतिबन्धक सामग्री उसके हृदयको भगवत्प्रीतिसे रोक न सके । भगवद्विमुख राक्षसमयी लङ्कामें रहते हुए भक्त विभीषणने जहाँ भगवान्के गुणश्रवण किये वहीं उनके हृदयका वह आकर्षण हुआ कि बस, उन्होंने सर्वसमृद्ध लङ्का, स्त्री-पुत्र-बान्धव आदि सब कुछ छोड़कर भगवान् श्रीरामचन्द्रको ही अपना आत्मसमर्पण कर दिया । वह कहते हैं—

> भवद्गतं मे राज्यं च जीवितं च सुखानि च ।

विभीषणने तबतक भगवान् श्रीरामचन्द्रका प्रत्यक्ष दर्शन नहीं किया था । श्रीरामके त्रिलोकविख्यात गुण ही उनके कानोंतक पहुँचे थे । परन्तु गुणश्रवणसे ही उनके हृदयमें वह प्रीत्युद्रेक हुआ कि उन्होंने सब राज्य-सुखादिको तृणवत् छोड़कर, प्रत्युत भ्रातृत्यागसे हुई समस्त ससारकी अवहेलनाको भी सिरपर स्वीकार करके, श्रीरामचन्द्रकी चरणसेवाको ही आजन्मके लिये अङ्गीकार कर लिया । इसी प्रेमकी दृढ़ताको सूचित करते हुए यहाँ कहा है कि मद्गुणश्रुति 'मात्रेण' ।

'मयि' 'मुझमें' (मनोगतिः, मनका लगना), यही कहना पर्याप्त था, फिर 'सर्वगुहाशये' यह विशेषण देनेका तात्पर्य है 'सर्वव्यापक, सर्वसाक्षी मुझमें' । अर्थात् जिस तरह मेरे गुणश्रवण वह कर चुका है, उसी तरह मेरा प्रभाव, माहात्म्य भी जिसको अवगत हो चुका हो । इसका आशय यह है कि जिसको भगवान्के सर्वसामर्थ्य, ऐश्वर्य, सर्वव्यापकतापर दृढ विश्वास हो जायगा फिर उसकी भक्ति भगवान्से कभी भी हट न सकेगी । क्योंकि जब वह देखेगा कि भगवान्से बढकर चतुर्दश भुवनोंमें भी कोई समर्थ नहीं है तो अब उनको छोड़कर वह किसके पास जायगा ? प्रह्लादकी परीक्षा करनेके लिये जिस समय भगवान्ने कहा—

> वरं वृणीष्वाभिमतं कामपूरोऽस्म्यहं नृणाम् ।

हे प्रह्लाद ! अपना अभिमत वर माँगो । मैं मनुष्योंके मनोरथोंको पूर्ण करनेवाला हूँ । उस समय ऐकान्तिक भक्तवर प्रह्लादने कहा कि—हे भगवन् ! मेरे सदृश तुच्छ तो पहलेसे ही मनोरथोंमें आसक्त हैं, फिर आप मुझे वरोंके द्वारा क्यों प्रलोभित करते हैं । और हे भगवन् ! आपके सम्मुख आकर मैं माँगूँ भी तो क्या माँगूँ ? मनुष्यके प्रार्थनीय आयु, धन, वैभव ही क्या स्थिर हैं, जो इनके लिये आपके सम्मुख मुख खोला जाय । हे अखिलेश ! मैंने मनुष्य तो

क्या, देवताओंतककी दशा देख ली है। देवता भी कैसे? सम्पूर्ण लोकोंके पालक होनेके कारण जो 'लोकपाल' कहाते हैं। मैंने देखा है कि उनके भी आयु, धन, वैभव, मेरे पिता (हिरण्यकशिपु) की भ्रुकुटिके कोटिपर चढे हुए थे। जरा-से फर्कसे इधरके उधर हो जाते थे। कोपसे उसकी भ्रुकुटि जरा बाँकी हो जाती, इतने मात्रमें वह अपनी आयुकी समाप्ति समझ लेते थे, और प्रसन्नतासे जरा भी उसकी भ्रुकुटि नाच उठती तो वह अपना अहोभाग्य समझते थे। वह अद्भुत प्रतापी पिता भी जब आपके आगे क्षणभरमें निरस्त हो चुका, तो अब आपके सामर्थ्यको समझना कुछ बाकी रह गया?

महाभारतके युद्धमें सम्मुख समरसे विचलित हुए अर्जुनको जिस समय भगवान्‌ने सम्पूर्ण सांख्ययोगादिका उपदेश दिया, उस समय युक्तियुक्त होनेके कारण सब बातें उसने मान तो लीं परन्तु उसके हृदयमें कुछ सन्देहरेखा बराबर बनी रही। जिस समय भगवान्‌ने कहा—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥

इस अक्षय 'योग' का उपदेश मैंने सूर्यको दिया था, सूर्यने मनुको और मनुने इक्ष्वाकुके लिये बताया था। उस समय सन्दिग्ध अर्जुनने पूछ ही तो लिया कि—'अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः' [हे भगवन्! आपका जन्म तो अब हुआ है और सूर्यका जन्म तो आपसे बहुत पहले हो चुका है, फिर आपने यह उपदेश विवस्वान्‌को कैसे दिया?] इसपर भगवान्‌को अपना माहात्म्य अर्जुनके लिये कहना पड़ा—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥

'मैं जन्म-मरणादि विकारोंसे रहित हूँ तथा प्राणिमात्रका स्वामी हूँ तो भी दया-दाक्षिण्य आदि अपने स्वभावको लेकर अपनी लीलासे जगत्‌के उद्धारके लिये उत्पन्न होता हूँ।'

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्॥

'मैं सबके हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे रहता हूँ। स्मृति और ज्ञान तथा उनका अभाव (विस्मृति और अज्ञान) यह सब मुझहीसे होता है। वेदोंके द्वारा उपदेश्य भी मैं ही हूँ तथा वेदोंका कर्ता और ज्ञाता भी मैं ही हूँ।'

इत्यादि भगवान्‌का अलौकिक माहात्म्य जब अर्जुनको विदित हुआ और विश्वरूपदर्शनके द्वारा जब भगवान्‌का सर्वसामर्थ्य उसके हृदयमें अच्छी तरह जम गया तब भगवान्‌के प्रति उसकी श्रद्धा और विश्वास अटल हो गया। अपने हृदयमें भगवान्‌के प्रति समानभाव रखनेकी जो धृष्टता उसने की थी उसके लिये शत-शत प्रणाम करके उसने क्षमा माँगी। हाथ जोड़कर उनकी प्रपत्ति की और कहा कि 'करिष्ये वचनं तव' 'मैं अब जो आपकी आज्ञा होगी वही करूँगा।' कारण इसका यही था कि अर्जुनको भगवान्‌के माहात्म्यका दृढ़ निश्चय हो चुका था। इसीलिये 'भक्ति' के लक्षणमें आचार्योंने कहा है—

माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः।
रागो भक्तिरिति प्रोक्तः··············॥

बस, भगवान्‌के सर्वसामर्थ्यको जानकर भक्तकी श्रद्धा और भी सुदृढ हो जाय इसीलिये यहाँ विशेषण दिया है—'सर्वगुहाशये'।

'मनका लगना' यह न कहकर 'मनोगतिः' यह कहना बड़ा गम्भीर भाव ध्वनित करता है। जिस मनको निश्चल करनेके लिये योगी और मुनि चिरकालतक घोर परिश्रम करके भी कभी-कभी फेल हो जाते देखे हैं, उसी चञ्चलतम स्वभाव मनको निश्चल बनाकर किसी जगह लगा देना क्या स्वाभाविक बात है? 'योग' और 'भक्तियोग' का तारतम्य ज़रा बारीकीसे परखनेका यही स्थल है। 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' 'मनकी वृत्तिको रोक लेना' इसीपर योगकी नींव डाली गयी है। किन्तु चित्तवृत्ति रोक लेनेके इतिहासपर साधारण भी दृष्टि डालेंगे तो आपको विदित हो जायगा कि इसकी सिद्धि होना क्या सबके लिये सरल है? विश्वामित्र-सदृश त्रिलोकविश्रुत तपस्वी, जिन्होंने कि अपने तपःप्रभावसे दूसरी सृष्टि बनाना ही आरम्भ कर दिया था, वह भी इस मनके अनिवार्य वेगको जब नहीं रोक सकते हैं तब मनको निश्चल कर डालना क्या साधारण-

---

१. दृष्टा मया दिवि विभोऽखिलधिष्ण्यपाना-
मायुः श्रियो विभव इच्छति याञ्जनोऽयम्।
येऽस्मत्पितुः कुपितहासविजृम्भितभ्रू-
विस्फूर्जितेन लुलिताः स तु ते निरस्तः॥

भी बात होगी ? चञ्चल और वेगवान् होनेमें मन आजतक दुनियाभरमें सबका उपमान रहा है। इससे बढ़कर कोई चपलस्वभाव नहीं।

गीतामें भी मनके निग्रहकी जहाँ बात आयी वहाँ अर्जुनको कहना पड़ा—

> चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
> तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥

'प्रमाथि' 'बलवद्' 'दृढम्' इन तीनों विशेषणोंपर थोड़ा विचार करनेकी आवश्यकता है। यदि कोई पदार्थ तेज तो हो किन्तु दुर्बल (कमजोर) हो तो फिर भी बचावकी आशा रहती है परन्तु यहाँ कहा है 'बलवत्' (बलवान्)। बलवान् भी हो परन्तु कुछ मृदुप्रकृति अर्थात् अपने निश्चयसे लौट आना भी जहाँ सम्भव हो तो फिर बचतका अवकाश होता है किन्तु यह है 'दृढम्'। और तो क्या, यह जिस समय विकृत होता है और इसके रोकनेकी बलवत् चेष्टा की जाती है उस समय यह रुद्धवेग होकर भीतर-ही-भीतर सब इन्द्रियोंको मथित (विह्वल) कर डालता है। भला, इसकी गतिको रोक लेनेका 'योग' (नुसखा) सबसे सध सकेगा कि जिससे वे इस 'भवरोग' से छुटकारा पावें ? इसीलिये 'भक्तियोग'में गतिको रोकनेकी बात नहीं, प्रत्युत यहाँ तो 'गति' का विशेषण दिया है 'अविच्छिन्ना' बे-रोक-टोक।

आप मनकी गति रोक लेनेकी अस्वाभाविक और कठिन चेष्टा न कीजिये। उसकी गतिको अविच्छिन्न रहने दीजिये, किन्तु उसका मुख जरा मोड़ दीजिये। अबतक वह और-और तरफ बहता था, अब भगवान् कपिल इतना-सा ही भक्तिमें 'योग' साधन करनेके लिये आज्ञा दे रहे हैं कि वह गति 'मयि' मेरी तरफ कर दो। मनका जितना भी वेग है सब मेरी तरफ़ जोड़ दो। जब आप उसकी गतिको ज़बरदस्ती रोकनेकी असाध्य चेष्टा नहीं करते तब वह भी 'विद्रोही' नहीं होगा। उसे आप मार्ग बना दीजिये, वह उसी रास्ते अपनी स्वाभाविक प्रबलतासे चलता रहेगा। पानी बहता हुआ जिस समय जोरसे आ रहा हो यदि आप उसे रोकना चाहेंगे तो फल यह होगा कि वह सब तरफ़ फैल जायगा। और अधिक स्थान घेरेगा। यह भी बहुत सम्भव है कि यदि वह प्रबल हुआ तो रोकनेवालेको बहा ले जाय। किन्तु यदि आप उसकी गतिको मोड़ देंगे, रोकेंगे नहीं, तो वह सीधा-सीधा चला जायगा। इसी स्वारस्यको सूचित करनेके लिये दृष्टान्त भी दिया है 'यथा गङ्गाम्भसः' जैसे गङ्गाके जलकी गति।

'जैसे गङ्गाकी गति समुद्रकी तरफ होती है' यहीं कहना तो पर्याप्त था, फिर 'गङ्गाके जलकी गति' यों बोलनेमें 'भुजङ्गकी-सी गति' क्यों ? सुनिये—भगवती गङ्गा हिमालय-शिखरसे जिस समय उद्भूत होती हैं उनकी गति नीचेकी तरफ होती है। और जैसे-जैसे उनमें हिमका द्रव (पिघलाव) मिलता जाता है वह प्रबल प्रवाहके साथ आगेकी तरफ बढ़ती जाती हैं। गगनचुम्बी पर्वतसे उतरकर समुद्रकी तरफ जाती हैं, इसलिये ढलावकी तरफ झुका हुआ जलप्रवाह कितने प्रबल वेगसे चल रहा होगा यह सरलतासे अनुमान किया जा सकता है। उस प्रचण्ड प्रवाहमें यदि पर्वत-सरीखा भी आ जाय तो उसे भी एक बार तो भेदन करके वह निकल जाय। भला, जलके वेगको कोई रोक सकता है ? ढलावकी तरफ झुकी हुई जलकी और मनकी गति अनिवार्य होती है इस बातको महाकवि कालिदासने भी माना है। वह कहते हैं—

> क ईप्सितार्थस्थिरनिश्चयं मनः
> पयश्च निम्नाभिमुखं प्रतीपयेत्।

'अपने मनोरथकी तरफ प्रबलतासे झुके हुए मन और ढलावकी तरफ बहते हुए जलको भला कौन लौटा सकता है ?'

'अविच्छिन्ना' का तात्पर्य है प्रतिबन्धरहित। अर्थात् मनकी गति भगवान्में ऐसी हो जाय कि कोई उसे रोक न सके। सदा भगवान्की ही भावना रहे। ऐन्द्रिय विषयोंका भी यदि प्रसङ्ग आ पड़े तो भी भगवान्का सम्बन्ध न टूटे। नेत्रेन्द्रियको अच्छे दृश्य देखनेकी यदि लालसा हो तो भगवान्की सेवामें ही नाना तरहके वस्त्र-आभूषण—लता-वृक्ष पुष्पादिका आयोजन कर दीजिये जिसमें चक्षुरिन्द्रिय 'विद्रोही' न हो। प्रत्युत भगवत्सेवामें आसक्त होनेके कारण कल्याणमार्गका परिष्कारक हो जाय। इसी तरह आस्वाद्य पदार्थोंकी तरफ यदि जिह्वादिकी प्रबल उत्कण्ठा हो तो भगवन्नैवेद्योपयुक्त भोज्यादिसे उसे शान्त करके अनुकूल मार्ग दे दीजिये। कहनेका

भक्तियोग

(लेखक—पण्डितशिरोमणि श्रीनरसिंहाचार्यजी वरखेडकर)

मन्ये धनाभिजनरूपतपःश्रुतौज-
स्तेजःप्रभावबलपौरुषबुद्धियोगाः ।
नाराधनाय हि भवन्ति परस्य पुंसो
भक्त्या तुतोष भगवान् गजयूथपाय ॥

(श्रीमद्भागवत ७ । ९ । ९)

विश्वके कल्याणका अमोल सुयोग भक्तियोगपर ही निर्भर करता है। अतः उस रमणीय भक्तियोगको विश्वके 'कल्याण' द्वारा ही प्रकट करता हूँ।

भक्तिका स्वरूप

अनुग्रह, प्रेम, भक्ति ये तीनो एक ही स्नेहके पर्याय हैं। वयोमान, गुण, योग्यतादिसे किञ्चित् न्यून रहनेवाले सेवक, शिष्य, पुत्रादिपर जब इस स्नेहका दौरा पहुँचता है, तब वह अनुग्रहके नामसे जनतामें प्रसिद्ध हो जाता है। यदि अपनी बराबरीके मित्रगण, भार्यादिसे स्नेहमय वार्तालाप, अथवा पत्रव्यवहारादि करने लगें तो यही स्नेह प्रेमरूपसे फड़कने लगता है। कदाचित् सौभाग्यवश अपनेसे श्रेष्ठ माता, पिता, गुरु और देवतादिके पास विनय, श्रद्धा, सदाचारादि अलङ्कारोंसे मण्डित होकर पहुँचे तो फिर यह स्नेह राजर्षि प्रह्लाद, अम्बरीष अथवा देवर्षि नारदादिकी पङ्क्तिमें भी बैठते नहीं सकुचता।

केवल इसी स्नेहके ऊपर समस्त विश्वका उदय और आनन्द निर्भर है। यदि यही एक स्नेह समस्त भूमण्डलमें यथायोग्य सभी लोगोंमें फैल जाय तो भूलोक और स्वर्लोकमें अन्तर ही क्या समझ पड़ेगा? माता पुत्रका, राजा प्रजाका, गुरु शिष्यका, विशेष क्या कहें करुणासागर भगवान् अपने सृज्य पदार्थोंका पालन केवल इसी स्नेहके वशीभूत होकर करते हैं। इसके विपरीत पुत्र, प्रजा, शिष्य आदि भी जो माननीयोंकी सेवा-आदरादि करते हैं वह भी इसी स्नेहका परिणाम है। यदि इसी दृष्टिकोणसे समस्त जगत्की ओर देखा जाय तो इस स्नेहमयी बागडोरको माता, पुत्र, पिता, गुरु, शिष्य, बन्धु आदि समस्त जगत्में फैलाकर, उसमें उस जगत्को नत्थीकर, भगवान् किस प्रकारसे जगत्का पालन करते हैं यह भेद खुल जाता है। और भगवान्की इस अगाध महिमाका विचार करनेसे हमारा स्नेहमय भक्तियोग ब्रह्माण्डमें न समाकर उसके भी परे रहनेवाले आनन्दकन्द मेघश्याम भगवान्के चरणारविन्दोंमें लीन हो जाता है। इसीसे भक्तियोगकी उत्कृष्टता और व्यापकता कितनी है, यह बात सुगमतासे ध्यानमें आ जाती है।

भक्तियोगका स्वरूप ही उसकी महत्ता तथा व्यापकतामें प्रमाण है। इसलिये पहले उसका स्वरूप ही पाठकोंके सामने रखते हैं जिससे भक्तियोगकी अन्य विलक्षणता भी सहज ही दृष्टिपथमें आ जाय।

श्रीमन्मध्वाचार्यजीने अपने ग्रन्थोंमे भक्तियोगका वर्णन नीचे लिखे अनुसार किया है।

माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तः तया मुक्तिर्न चान्यथा ॥

(श्रीमन्महाभारततात्पर्यनिर्णय)

महत्त्वबुद्धिर्भक्तिस्तु स्नेहपूर्वाभिधीयते।
तथैव व्यज्यते सम्यग् जीवरूपं सुखादिकम् ॥

(ब्रह्मसूत्रभाष्य)

इसी अभिप्रायसे योगिवर श्रीमज्जयतीर्थमुनीन्द्रजीने 'श्रीमन्न्यायसुधा' ग्रन्थमें कहा है—

तत्र भक्तिर्नाम निरवधिकानन्तानवद्यकल्याणगुणत्वज्ञानपूर्वकः स्वस्वात्मात्मीयसमस्तवस्तुभ्योऽनेकगुणाधिकोऽन्तरायसहस्रेणाप्यप्रतिबद्धो निरन्तरप्रेमप्रवाहः।

सारांश, अपरिमित अनवद्य कल्याणगुणोंके ज्ञानसे उत्पन्न हुए, अपने समस्त सम्बन्धिजन तथा पदार्थोंसे ही क्या, प्राणोंसे भी कई गुना अधिक, हजारों विघ्न आनेपर भी न टूटनेवाले, अत्यधिक सुदृढ, गङ्गाप्रवाहके समान अखण्ड प्रेमके प्रवाहको भक्ति कहते हैं।

इसीको दूसरे शब्दोंमें सक्षेपसे कहना हो तो इस प्रकार भी कह सकते हैं कि जिस अखण्ड स्नेहधारामें सदा सर्वदा एकमात्र भगवान् ही विषय हैं, अन्य नहीं, वही उत्कृष्ट अथवा अनन्य भक्तियोग है। इसी प्रकार मातृपितृभक्ति, गुरुभक्ति, पतिभक्ति, स्वामिभक्ति आदिमें भी अनन्यत्व जानना चाहिये।

यदि सर्वसाधारण स्नेहको ही भक्ति कहा जाय तो अन्य पदार्थोंपर किये जानेवाले स्नेहसे भगवानादि श्रेष्ठ पदार्थोंपर किये जानेवाले स्नेहमें वैलक्षण्य ही क्या रह जाता है? क्योंकि वस्त्र-आभूषणादि, मित्र-भार्या-पुत्रादि समस्त पदार्थोंपर यथाक्रम अधिकाधिक स्नेह हम सभी लोग करते हैं। परन्तु यह सिद्धान्त है कि यह स्नेह कारण-वशात् टूटनेवाला अतएव अनित्य है। इस सिद्धान्तकी प्रतीति प्रत्येक प्राणीको उस समय स्पष्टरूपसे हो जाती है जब कि उसके खास प्राणोंपर आकर बीतती है। आध्यात्मिक तत्त्वोंको लोकप्रसिद्ध तथा मनोरञ्जक दृष्टान्तोंसे समझा देनेमें परमकुशल श्रीवेदव्यासजीने, श्रीमन्महाभारत-जैसे उच्च कोटिके ग्रन्थमें यही सिद्धान्त अनुभवारूढ कर देनेके लिये एक चिड़ियाकी कहानी कही है जिसमें, कराल दावानलके घेरमें फँसी हुई वह चिड़िया बड़े कष्टसे पालन किये हुए अपने छोटे-छोटे सात बच्चोंको, जो कि उड़नेमें असमर्थ हैं, रक्षणकी इच्छासे एकत्रित कर, आखिर प्रबल ज्वालाग्निके तापसे विवश होकर, केवल अपनी रक्षाके लिये एकके पीछे एक सबको पैरके तले दबाती हुई उनके भस्म होनेके बाद आप स्वयं उसी अग्निमें भस्म हो जाती है। यह स्वप्राणोंपर रहनेवाले स्नेहका चरित्रचित्रण है। अस्तु,

इस संसारमें पुत्र, शिष्य, भार्या, सेवकादिकोंको क्रमशः माता-पिता, गुरु, पति, स्वामी आदि ही अनन्य भक्तिके लिये भगवान्के प्रतीक हैं। इनकी भक्ति करनेसे ही उनके अन्दर रहनेवाले भगवान् प्रसन्न होते हैं अन्यथा नहीं। इनकी सेवाके अविरोधसे, अथवा इन लोगोंकी अनुमतिसे अन्य प्रतीकोंकी भी शास्त्रविहित सेवा अन्यान्य-रूपसे कर सकते हैं। परन्तु यदि इनके विरोधसे जप, तप, पूजा आदि की जाय तो वह कभी भगवान्के प्रसाद-की कारण नहीं होती। इस विषयमें क्रमशः पुण्डलीकमुनि, रामचन्द्रजी, कृष्णजी, अनसूयाजी, सीताजी तथा हनुमान्जी अविस्मरणीय उदाहरण हैं। इससे मातृभक्ति, पितृभक्ति आदि भी भगवन्निष्ठबुद्धिपूर्वक करनेसे भगवान्की भक्ति ही कहाती है, ऐसा सिद्ध होता है।

श्रीमन्मध्वाचार्यजीके सिद्धान्तमें द्वेषादि दोष भक्तिके साधन नहीं हैं। शिशुपालादिमें शापादिसे द्वेषादि-बुद्धि थी। स्वरूपतः वे भक्त ही थे। इसीसे पागल पुत्रादिके समान अपने विरुद्ध होनेपर भी भगवान्ने क्षमाकर उनको अपने अन्दर स्थान दिया। यदि द्वेषादिको भक्तिका स्वरूप ही कहा जाय, तो यवनादिकोंका मन्दिर गौ इत्यादिपर किया हुआ आक्रमण, पुण्यप्राप्तिद्वारा स्वर्गादिप्रापक ही क्यों न कहा जाय? इससे 'द्वेषाच्चै-द्यादयो नृपाः' इत्यादि वाक्योंकी योजना स्वरूपभक्तपर ही कही गयी है।

भक्तिके प्रकार

भक्ति, स्नेहविशेष मनोनिष्ठ धर्म होनेके कारण, प्रत्यक्ष-से उसका ज्ञान नहीं हो सकता। प्रत्युत कार्यसे ही भक्तिकी पहचान हो सकती है। उसमें कोई भक्तगण बाह्य उन्मादादि चिह्नोंसे युक्त, कोई केवल आन्तर भक्त तथा कोई आन्तर-बाह्य दोनों प्रकारोंसे युक्त होते हैं। अतएव 'ब्रह्मतर्क' में कहा है—

> **केचिद्भक्ताः प्रनृत्यन्ति गायन्ति च यथेप्सितम्।**
> **केचित्तूष्णीं भजन्त्येव केचिच्चोभयकारिणः॥**

इसी अभिप्रायसे पदरत्नावलीमें भी कहा है—

> **केचिदुन्मादवद्भक्ताः बाह्यलिङ्गप्रदर्शकाः।**
> **केचिदान्तरभक्ताः स्युः केचिच्चैवोभयात्मकाः॥**
> **मुखप्रसाददार्ढ्याच्च भक्तिर्ज्ञेया न चान्यतः॥**

हसनादिलक्षणमुन्मादादावतिव्याप्तमित्यत उक्तं मुखप्रसादादिति।

भक्तिके कार्योंका श्रीमद्भागवतमें इस प्रकार वर्णन है—

> **एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या**
> **जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।**
> **हसत्यथो रोदिति रौति गाय-**
> **त्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः॥**
> (११। २। ४०)

> **क्वचिद्रुदन्त्यच्युतचिन्तया क्वचि-**
> **द्धसन्ति नन्दन्ति वदन्त्यलौकिकाः।**
> **नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यजं**
> **भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः॥**
> (११। ३। ३२)

भगवान्का दर्शन हमें किस प्रकारसे होगा इस चिन्तासे भक्त कभी रोते हैं, कभी भगवान्के विशेष चरित्र स्मरण आनेसे हँसते हैं, आनन्द मानते हैं, नाचते हैं, बिना पूछे ही कभी लोगोंको भगवान्के चरित्र वर्णन करते हैं, फिर उसमें लोगोंको आदर हो या न हो। कभी हावभावसे भगवान्के चरित्रका अनुकरण करते हैं। कभी भगवान्की मनोहर मूर्तिको मनमें लाकर

यदि सर्वसाधारण स्नेहको ही भक्ति कहा जाय तो अन्य पदार्थोंपर किये जानेवाले स्नेहसे भगवानादि श्रेष्ठ पदार्थोंपर किये जानेवाले स्नेहमें वैलक्षण्य ही क्या रह जाता है? क्योंकि वस्त्र-आभूषणादि, मित्र-भार्या-पुत्रादि समस्त पदार्थोंपर यथाक्रम अधिकाधिक स्नेह हम सभी लोग करते हैं। परन्तु यह सिद्धान्त है कि यह स्नेह कारण-वशात् टूटनेवाला अतएव अनित्य है। इस सिद्धान्तकी प्रतीति प्रत्येक प्राणीको उस समय स्पष्टरूपसे हो जाती है जब कि उसके खास प्राणोंपर आकर बीतती है। आध्यात्मिक तत्त्वोंको लोकप्रसिद्ध तथा मनोरञ्जक दृष्टान्तोंसे समझा देनेमें परमकुशल श्रीवेदव्यासजीने, श्रीमन्महाभारत-जैसे उच्च कोटिके ग्रन्थमें यही सिद्धान्त अनुभवारूढ कर देनेके लिये एक चिड़ियाकी कहानी कही है जिसमें, कराल दावानलके घेरमें फँसी हुई वह चिड़िया बड़े कष्टसे पालन किये हुए अपने छोटे-छोटे सात बच्चोंको, जो कि उड़नेमे असमर्थ हैं, रक्षणकी इच्छासे एकत्रित कर, आखिर प्रबल ज्वालाग्निके तापसे विवश होकर, केवल अपनी रक्षाके लिये एकके पीछे एक सबको पैरके तले दबाती हुई उनके भस्म होनेके बाद आप स्वयं उसी अग्निमें भस्म हो जाती है। यह स्वप्राणोंपर रहनेवाले स्नेहका चरित्रचित्रण है। अस्तु,

इस संसारमें पुत्र, शिष्य, भार्या, सेवकादिकोंको क्रमशः माता-पिता, गुरु, पति, स्वामी आदि ही अनन्य भक्तिके लिये भगवान्‌के प्रतीक हैं। इनकी भक्ति करनेसे ही उनके अन्दर रहनेवाले भगवान् प्रसन्न होते हैं अन्यथा नहीं। इनकी सेवाके अविरोधसे, अथवा इन लोगोंकी अनुमतिसे अन्य प्रतीकोंकी भी शास्त्रविहित सेवा अन्यान्य-रूपसे कर सकते हैं। परन्तु यदि इनके विरोधसे जप, तप, पूजा आदि की जाय तो वह कभी भगवान्‌के प्रसाद-की कारण नहीं होती। इस विषयमें क्रमशः पुण्डलीकमुनि, रामचन्द्रजी, कृष्णजी, अनसूयाजी, सीताजी तथा हनुमान्‌जी अविस्मरणीय उदाहरण हैं। इससे मातृभक्ति, पितृभक्ति आदि भी भगवन्निष्ठबुद्धिपूर्वक करनेसे भगवान्‌की भक्ति ही कहाती है, ऐसा सिद्ध होता है।

श्रीमन्मध्वाचार्यजीके सिद्धान्तमे द्वेषादि दोष भक्तिके साधन नहीं हैं। शिशुपालादिमें शापादिसे द्वेषादि-बुद्धि थी। स्वरूपतः वे भक्त ही थे। इसीसे पागल पुत्रादिके समान अपने विरुद्ध होनेपर भी भगवान्‌ने क्षमाकर उनको अपने अन्दर स्थान दिया। यदि द्वेषादिको भक्तिका स्वरूप ही कहा जाय, तो यवनादिकोंका मन्दिर गौ इत्यादिपर किया हुआ आक्रमण, पुण्यप्राप्तिद्वारा स्वर्गादिप्रापक ही क्यों न कहा जाय? इससे 'द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः' इत्यादि वाक्योंकी योजना स्वरूपभक्तपर ही कही गयी है।

भक्तिके प्रकार

भक्ति, स्नेहविशेष मनोनिष्ठ धर्म होनेके कारण, प्रत्यक्षसे उसका ज्ञान नहीं हो सकता। प्रत्युत कार्यसे ही भक्तिकी पहचान हो सकती है। उसमें कोई भक्तगण बाह्य उन्मादादि चिह्नोंसे युक्त, कोई केवल आन्तर भक्त तथा कोई आन्तर-बाह्य दोनों प्रकारोंसे युक्त होते हैं। अतएव 'ब्रह्मतर्क' में कहा है—

केचिद्भक्ताः प्रनृत्यन्ति गायन्ति च यथेप्सितम्।
केचित्तूष्णीं भजन्त्येव केचिच्चोभयकारिणः॥

इसी अभिप्रायसे पदरत्नावलीमे भी कहा है —

केचिदुन्मादवद्भक्ताः बाह्यलिङ्गप्रदर्शकाः।
केचिदान्तरभक्ताः स्युः केचिच्चैवोभयात्मकाः॥
मुखप्रसाददार्ढ्याच्च भक्तिर्ज्ञेया न चान्यतः॥

हसनादिलक्षणमुन्मादादावतिव्याप्तमित्यत उक्तं मुखप्रसादादिति।

भक्तिके कार्योंका श्रीमद्भागवतमे इस प्रकार वर्णन है—

एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या
जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।
हसत्यथो रोदिति रौति गाय-
त्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः॥
(११।२।४०)

क्वचिद्रुदन्त्यच्युतचिन्तया क्वचि-
द्धसन्ति नन्दन्ति वदन्त्यलौकिकाः।
नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यजं
भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः॥
(११।३।३२)

भगवान्‌का दर्शन हमे किस प्रकारसे होगा इस चिन्तासे भक्त कभी रोते हैं, कभी भगवान्‌के विशेष चरित्र स्मरण आनेसे हँसते हैं, आनन्द मानते हैं, नाचते हैं, बिना पूछे ही कभी लोगोंको भगवान्‌के चरित्र वर्णन करते हैं, फिर उसमें लोगोंको आदर हो या न हो। कभी हावभावसे भगवान्‌के चरित्रका अनुकरण करते हैं! कभी भगवान्‌की मनोहर मूर्तिको मनमें लाकर

भक्तियोग

(लेखक—पण्डितशिरोमणि श्रीनरसिंहाचार्यजी वरखेडकर)

मन्ये धनाभिजनरूपतपःश्रुतौज-
स्तेजःप्रभावबलपौरुषबुद्धियोगाः ।
नाराधनाय हि भवन्ति परस्य पुंसो
भक्त्या तुतोष भगवान् गजयूथपाय ॥
(श्रीमद्भागवत ७ । ९ । ९)

विश्वके कल्याणका अमोल सुयोग भक्तियोगपर ही निर्भर करता है। अतः उस रमणीय भक्तियोगको विश्वके 'कल्याण' द्वारा ही प्रकट करता हूँ।

भक्तिका स्वरूप अनुग्रह, प्रेम, भक्ति ये तीनों एक ही स्नेहके पर्याय हैं। वयोमान, गुण, योग्यतादिसे किञ्चित् न्यून रहनेवाले सेवक, शिष्य, पुत्रादिपर जब इस स्नेहका दौरा पहुँचता है, तब वह अनुग्रहके नामसे जनतामें प्रसिद्ध हो जाता है। यदि अपनी बराबरीके मित्रगण, भार्यादिसे स्नेहमय वार्तालाप, अथवा पत्रव्यवहारादि करने लगें तो यही स्नेह प्रेमरूपसे फड़कने लगता है। कदाचित् सौभाग्यवश अपनेसे श्रेष्ठ माता, पिता, गुरु और देवतादिके पास विनय, श्रद्धा, सदाचारादि अलङ्कारोंसे मण्डित होकर पहुँचे तो फिर यह स्नेह राजर्षि प्रह्लाद, अम्बरीष अथवा देवर्षि नारदादिकी पङ्क्तिमें भी बैठते नहीं सकुचता।

केवल इसी स्नेहके ऊपर समस्त विश्वका उदय और आनन्द निर्भर है। यदि यही एक स्नेह समस्त भूमण्डलमें यथायोग्य सभी लोगोंमें फैल जाय तो भूलोक और स्वर्लोकमें अन्तर ही क्या समझ पड़ेगा? माता पुत्रका, राजा प्रजाका, गुरु शिष्यका, विशेष क्या कहें करुणासागर भगवान् अपने सृज्य पदार्थोंका पालन केवल इसी स्नेहके वशीभूत होकर करते हैं। इसके विपरीत पुत्र, प्रजा, शिष्य आदि भी जो माननीयोंकी सेवा-आदरादि करते हैं वह भी इसी स्नेहका परिणाम है। यदि इसी दृष्टिकोणसे समस्त जगत्की ओर देखा जाय तो इस स्नेहमयी बागडोरको माता, पुत्र, पिता, गुरु, शिष्य, बन्धु आदि समस्त जगत्में फैलाकर, उसमें उस जगत्को नत्थीकर, भगवान् किस प्रकारसे जगत्का पालन करते हैं यह भेद खुल जाता है। और भगवान्की इस अगाध महिमाका विचार करनेसे हमारा स्नेहमय भक्तियोग ब्रह्माण्डमें न समाकर उसके भी परे रहनेवाले आनन्दकन्द मेघश्याम भगवान्के चरणारविन्दोंमें लीन हो जाता है। इसीसे भक्तियोगकी उत्कृष्टता और व्यापकता कितनी है, यह बात सुगमतासे ध्यानमें आ जाती है।

भक्तियोगका स्वरूप ही उसकी महत्ता तथा व्यापकतामें प्रमाण है। इसलिये पहले उसका स्वरूप ही पाठकोंके सामने रखते हैं जिससे भक्तियोगकी अन्य विलक्षणता भी सहज ही दृष्टिपथमें आ जाय।

श्रीमन्मध्वाचार्यजीने अपने ग्रन्थोंमें भक्तियोगका वर्णन नीचे लिखे अनुसार किया है।

माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तः तया मुक्तिर्न चान्यथा॥
(श्रीमन्महाभारततात्पर्यनिर्णय)

महत्त्वबुद्धिर्भक्तिस्तु स्नेहपूर्वाभिधीयते।
तयैव व्यज्यते सम्यग् जीवरूपं सुखादिकम्॥
(ब्रह्मसूत्रभाष्य)

इसी अभिप्रायसे योगिवर श्रीमज्जयतीर्थमुनीन्द्रजीने 'श्रीमन्न्यायसुधा' ग्रन्थमें कहा है—

तत्र भक्तिर्नाम निरवधिकानन्तानवद्यकल्याणगुणत्वज्ञानपूर्वकः स्वस्वात्मात्मीयसमस्तवस्तुभ्योऽनेकगुणाधिकोऽन्तरायसहस्रेणाप्यप्रतिबद्धो निरन्तरप्रेमप्रवाहः।

सारांश, अपरिमित अनवद्य कल्याणगुणोंके ज्ञानसे उत्पन्न हुए, अपने समस्त सम्बन्धिजन तथा पदार्थोंसे ही क्या, प्राणोंसे भी कई गुना अधिक, हजारों विघ्न आनेपर भी न टूटनेवाले, अत्यधिक सुदृढ, गङ्गाप्रवाहके समान अखण्ड प्रेमके प्रवाहको भक्ति कहते हैं।

इसीको दूसरे शब्दोंमें सक्षेपसे कहना हो तो इस प्रकार भी कह सकते हैं कि जिस अखण्ड स्नेहधारामें सदा सर्वदा एकमात्र भगवान् ही विषय हैं, अन्य नहीं, वही उत्कृष्ट अथवा अनन्य भक्तियोग है। इसी प्रकार मातृपितृभक्ति, गुरुभक्ति, पतिभक्ति, स्वामिभक्ति आदिमें भी अनन्यत्व जानना चाहिये।

यदि सर्वसाधारण स्नेहको ही भक्ति कहा जाय तो अन्य पदार्थोंपर किये जानेवाले स्नेहसे भगवानादि श्रेष्ठ पदार्थोंपर किये जानेवाले स्नेहमें वैलक्षण्य ही क्या रह जाता है ? क्योंकि वस्त्र-आभूषणादि, मित्र-भार्या-पुत्रादि समस्त पदार्थोंपर यथाक्रम अधिकाधिक स्नेह हम सभी लोग करते हैं । परन्तु यह सिद्धान्त है कि यह स्नेह कारण-वशात् टूटनेवाला अतएव अनित्य है । इस सिद्धान्तकी प्रतीति प्रत्येक प्राणीको उस समय स्पष्टरूपसे हो जाती है जब कि उसके खास प्राणोंपर आकर बीतती है । आध्यात्मिक तत्त्वोंको लोकप्रसिद्ध तथा मनोरञ्जक दृष्टान्तोंसे समझा देनेमें परमकुशल श्रीवेदव्यासजीने, श्रीमन्महाभारत-जैसे उच्च कोटिके ग्रन्थमें यही सिद्धान्त अनुभवारूढ कर देनेके लिये एक चिड़ियाकी कहानी कही है जिसमें, कराल दावानलके घेरमें फँसी हुई वह चिड़िया बड़े कष्टसे पालन किये हुए अपने छोटे-छोटे सात बच्चोंको, जो कि उड़नेमें असमर्थ हैं, रक्षणकी इच्छासे एकत्रित कर, आखिर प्रबल ज्वालाग्निके तापसे विवश होकर, केवल अपनी रक्षाके लिये एकके पीछे एक सबको पैरके तले दबाती हुई उनके भस्म होनेके बाद आप स्वयं उसी अग्निमें भस्म हो जाती है । यह स्वप्राणोंपर रहनेवाले स्नेहका चरित्रचित्रण है । अस्तु,

इस संसारमें पुत्र, शिष्य, भार्या, सेवकादिकोंको क्रमशः माता-पिता, गुरु, पति, स्वामी आदि ही अनन्य भक्तिके लिये भगवान्‌के प्रतीक हैं । इनकी भक्ति करनेसे ही उनके अन्दर रहनेवाले भगवान् प्रसन्न होते हैं अन्यथा नहीं । इनकी सेवाके अविरोधसे, अथवा इन लोगोंकी अनुमतिसे अन्य प्रतीकोंकी भी शास्त्रविहित सेवा अन्यान्य-रूपसे कर सकते हैं । परन्तु यदि इनके विरोधसे जप, तप, पूजा आदि की जाय तो वह कभी भगवान्‌के प्रसाद-की कारण नहीं होती । इस विषयमें क्रमशः पुण्डलीकमुनि, रामचन्द्रजी, कृष्णजी, अनसूयाजी, सीताजी तथा हनुमान्‌जी अविस्मरणीय उदाहरण हैं । इससे मातृभक्ति, पितृभक्ति आदि भी भगवन्निष्ठबुद्धिपूर्वक करनेसे भगवान्‌की भक्ति ही कहाती है, ऐसा सिद्ध होता है ।

श्रीमन्मध्वाचार्यजीके सिद्धान्तमें द्वेषादि दोष भक्तिके साधन नहीं हैं । शिशुपालादिमें शापादिसे द्वेषादि-बुद्धि थी । स्वरूपतः वे भक्त ही थे । इसीसे पागल पुत्रादिके समान अपने विरुद्ध होनेपर भी भगवान्‌ने क्षमाकर उनको अपने अन्दर स्थान दिया । यदि द्वेषादिको भक्तिका स्वरूप ही कहा जाय, तो यवनादिकोंका मन्दिर गौ इत्यादिपर किया हुआ आक्रमण, पुण्यप्राप्तिद्वारा स्वर्गादिप्रापक ही क्यों न कहा जाय ? इससे 'द्वेषाच्चै-द्यादयो नृपाः' इत्यादि वाक्योंकी योजना स्वरूपभक्तपर ही कही गयी है ।

भक्तिके प्रकार

भक्ति, स्नेहविशेष मनोनिष्ठ धर्म होनेके कारण, प्रत्यक्ष-से उसका ज्ञान नहीं हो सकता । प्रत्युत कार्यसे ही भक्तिकी पहचान हो सकती है । उसमें कोई भक्तगण बाह्य उन्मादादि चिह्नोंसे युक्त, कोई केवल आन्तर भक्त तथा कोई आन्तर-बाह्य दोनों प्रकारोंसे युक्त होते हैं । अतएव 'ब्रह्मतर्क' में कहा है—

केचिद्भक्ताः प्रनृत्यन्ति गायन्ति च यथेप्सितम् ।
केचित्तूष्णीं भजन्त्येव केचिच्चोभयकारिणः ॥

इसी अभिप्रायसे पदरत्नावलीमें भी कहा है —

केचिदुन्मादवद्भक्ताः बाह्यलिङ्गप्रदर्शकाः ।
केचिदान्तरभक्ताः स्युः केचिच्चैवोभयात्मकाः ॥
मुखप्रसाददार्ढ्याच्च भक्तिर्ज्ञेया न चान्यतः ॥

हसनादिलक्षणमुन्मादादावतिव्याप्तमित्यत उक्तं मुखप्रसादादिति ।

भक्तिके कार्योंका श्रीमद्भागवतमें इस प्रकार वर्णन है—

एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या
जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः ।
हसत्यथो रोदिति रौति गाय-
त्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः ॥
(११ । २ । ४०)

क्वचिद्रुदन्त्यच्युतचिन्तया क्वचि-
द्धसन्ति नन्दन्ति वदन्त्यलौकिकाः ।
नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यजं
भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः ॥
(११ । ३ । ३२)

भगवान्‌का दर्शन हमें किस प्रकारसे होगा इस चिन्तासे भक्त कभी रोते हैं, कभी भगवान्‌के विशेष चरित्र स्मरण आनेसे हँसते हैं, आनन्द मानते हैं, नाचते हैं, बिना पूछे ही कभी लोगोंको भगवान्‌के चरित्र वर्णन करते हैं, फिर उसमें लोगोंको आदर हो या न हो । कभी हावभावसे भगवान्‌के चरित्रका अनुकरण करते हैं ! कभी भगवान्‌की मनोहर मूर्तिको मनमें लाकर

प्रसन्नचित्तसे चुपचाप बैठे रहते हैं, किसीके पूछनेपर भी उनको जवाब नहीं मिलता।

इन्हीं भक्ति-कार्योंको लेकर अवधूतशिरोमणि श्रीविष्णुतीर्थजीने भक्तिकी तीन अवस्थाएँ कही हैं। भक्ति-कार्य हासादि जिसमें स्पष्टरूपसे नहीं दीखते वह अपक्का भक्ति, जिसमें साधारण स्पष्टरूपसे उन्मादादि कार्य दृष्टिगोचर होते हैं वह पक्ककल्पा, तथा विशेषरूपसे जिसमें ग्रहग्रस्तके समान देखनेमें आते हैं वह पक्कभक्तियोग कहाता है।

भक्तवर प्रह्लादने यह भक्ति नौ प्रकारकी कही है। वही मध्वसिद्धान्तमें प्रमुख मानी गयी है।

प्रकार	उदाहरण	प्रकार	उदाहरण	प्रकार	उदाहरण
१ श्रवणम्	परीक्षित, गार्गि, जनमेजय आदि।	४ पादसेवनम्	हनूमान्, बलि, विभीषण आदि।	७ दास्यम्	लक्ष्मण, हनूमान्, सात्यकि।
२ कीर्तनम्	सनत्कुमार, नारद, शुकाचार्य आदि।	५ अर्चनम्	रुक्मिणी, द्रौपदी, (पत्रम्) गजेन्द्र, शबरी, बलि (पुष्पम्)(फलम्)(तोयम्)	८ सख्यम्	अर्जुन,सुग्रीव आदि।
३ स्मरणम्	गजेन्द्र, अजामिल, गोपिका,कंस,शिशुपाल, (काम) (भय) (द्वेष)	६ वन्दनम्	रहूगण, नलकूबर, मणिग्रीव आदि।	और— ९ आत्मनिवेदनम्	द्रौपदी, कुन्ती, उद्धव, आदि अनेक हैं।

भगवान् श्रीकृष्णजीने गीतामें—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन। ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

इस श्लोकसे तीन प्रकारकी भक्ति ज्ञान, दर्शन और प्रवेशमें कारण कही है। तीनों प्रकारकी भक्ति अनन्य होनेपर भी उनका पूर्वापरी भाव होनेके कारण उनमें तारतम्य मानना पड़ता है। साधारणतः मोक्ष प्राप्त करनेके लिये कारणीभूत अनन्य भक्तिके द्वारा अधिकारीको चार सोपान (सीढ़ियाँ) चढ़ने पड़ते हैं।

प्रथम सोपान अपक्क भक्तिके उपाय	द्वितीय सोपान पक्ककल्प भक्तियोगके उपाय	तृतीय सोपान पक्क भक्तियोगके उपाय	चतुर्थ सोपान मोक्षके उपाय
१ श्रद्धा, आस्तिक्यबुद्धिद्वारा शास्त्रविहित कर्मानुष्ठानसे अन्तःकरणशुद्धि।	१ अपक्क भक्तियोग (अनन्यभक्ति)।	१ पक्ककल्प भक्तियोग (अनन्यभक्ति)।	१ पक्क भक्तियोग (अनन्यभक्ति)।
२ तत्त्वज्ञानके लिये गुरुके पास गमन।	२ विशेषरूपसे तत्त्वज्ञानके लिये गुरुसमीपगमन	२ ध्यानतत्त्वके विशेष ज्ञानके लिये गुरुसमीपगमन।	२ भगवान्का अतिशयिन प्रसाद।
३ प्रणिपातादि(नमस्कारादि) गुरुसेवा।	३ परिप्रश्नादि गुरु-सेवा।	३ गुरुसेवा सर्वरूपसे।	३ प्रारब्धकर्मभोगद्वारा अनिष्ट पुण्यपापोंका नाश।
४ सामान्यरूपसे तत्त्वोंका श्रवण, मनन।	४ विशेषरूपसे तत्त्वोंका श्रवण, मनन, ज्ञान।	४ उपदेशानुसार ध्यान।	४ उत्क्रान्ति।
५ अपक्क भक्तियोग (अनन्यभक्ति)।	५ तत्त्वनिश्चयद्वारा पक्ककल्प भक्तियोग (अनन्यभक्ति)।	५ भगवान्का साक्षात्कार तथा उससे पक्क भक्तियोग	५ सत्यलोकादिद्वारा वैकुण्ठादि लोकोंमें गमन भगवत्प्रवेशादि क्रीडादि।

उपरिनिर्दिष्ट विषयमें प्रमाण अनेक होनेपर भी लेखका विस्तार बहुत हो जानेके कारण स्थलाभावसे यहाँ नहीं दे सकते, इसलिये हम आशा करते हैं कि पाठकवर्ग क्षमा करेंगे।

अन्य साधनोंसे अप्राप्य परम पुरुषार्थ मोक्ष भी जब भक्तिसे प्राप्त होता है तब इस भक्तियोगसे श्रेष्ठ अन्य पदार्थ और कौन-सा हो सकता है? जिस समय अरण्यमें रहनेवाले पाण्डवोंसे मिलनेके लिये सत्यभामाको लेकर श्रीकृष्ण भगवान् गये उस समय सत्यभामा द्रौपदीसे पूछती है कि 'हे द्रौपदी! हमें बहुत आश्चर्य प्रतीत होता है कि तुम अपने पाँचों पतियोंको कैसे स्वाधीन रखती हो। हमें तो एक ही पति है परन्तु वह हमारे अधीन नहीं है। अतएव हमें भी अपनी शिष्या बनाकर उस वशीकरणमन्त्रका उपदेश दे दोगी तो अच्छा होगा।' उस समय हँसकर सती द्रौपदीने सत्यभामासे कहा कि, केवल पतिको ही क्या, समस्त विश्वको अपने अधीन रखनेमें समर्थ ऐसा यह स्त्रियोंको अनन्य पतिभक्तिस्वरूप महावशीकरणरूपी बड़ा भारी मन्त्र है।

भक्तिकी महत्ता

भगवान् स्वयं इसकी महत्ता अपने मुखसे वर्णन करते हैं कि—

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥

'हे प्रिय नारद! हम वैकुण्ठमें ही वास करते हैं, अथवा योगीलोगोंके हृदयमें ही वास करते हैं यह समझना भूल है। जहाँपर हमारे भक्तगण अत्यन्त भक्तिभावसे गायन करते हैं, वहाँ अवश्य ही हम रहते हैं।'

श्रीमद्भागवतमें तो भगवान् अपने भक्तोंको कहते हैं—

यस्यामृतामलयशःश्रवणावगाहः
सद्यः पुनाति जगदाश्वपचाद्विकुण्ठः।
सोऽहं भवद्भ्य उपलब्धसुतीर्थकीर्ति-
श्छिन्द्यां स्वबाहुमपि वः प्रतिकूलवृत्तिम्॥
(३।१६।६)

'जिसका अमृतरूपी निर्मल यश, श्रवणरूपी स्नानसे आचाण्डालान्त समस्त जगत्‌को उसी क्षणमें पवित्र करता है, आप-सरीखे भक्तोंसे जिसको पवित्र कीर्तिका लाभ हुआ है, वह हम, आपलोगोंके प्रतिकूल आचरण करनेवाला यदि हमारा अपना ही हाथ क्यों न हो, उसे काट डालेंगे, फिर अन्यके विषयमें कहना ही क्या!'

अतएव माठर श्रुतिमें कहा है—

भक्तिरेवैनं नयति भक्तिवशः पुरुषः।

'भक्ति ही मोक्षका कारण है। परमात्मा भक्तिके अधीन है।'

कठ श्रुतिमें भी भगवान्‌के प्रसादका असाधारण कारण भक्ति ही वर्णित है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥

शिष्यमण्डलीको जमाकर बड़े-बड़े अर्थशास्त्रके विद्वत्ताप्रचुर व्याख्यानोंसे, अथवा तर्कशास्त्रादिके केवल क्रोडपत्रनिर्माणोपयोगिनी कुशलबुद्धिसे, अथवा समस्त देशोंके नाना प्रकारके समाचारपत्रादिके अध्ययनसे, अथवा भक्तिरहित अन्तःकरणसे भगवद्गुणानुवादोंका श्रवण-मननादि करनेपर भी भगवान् प्रसन्न (प्राप्त) नहीं होते किन्तु भगवान्, जिसको अपना भक्त कहकर स्वीकार करते हैं उसीको अपना स्वरूप तथा अधिकारीका स्वरूप प्रकट कर दिखाते हैं। सारांश भक्तिके सिवा परमात्मप्राप्तिका अन्य कोई भी उपाय नहीं है। इसीसे भक्तियोगके सदृश महत्ता अन्य किसी भी योगकी नहीं है।

भक्तिके उपाय

भक्ति उत्पन्न होनेका उपाय श्रीमद्भागवत-जैसे भक्तिप्रधान ग्रन्थमें अमङ्गलको नाश करनेवाले उत्तमश्लोक भगवान्‌के गुणानुवादोंका श्रवणादि ही कहा है—

यस्तूत्तमश्लोकगुणानुवादः
सङ्गीयतेऽभीक्ष्णममङ्गलघ्नः।
तमेव नित्यं शृणुयादभीक्ष्णं
कृष्णेऽमलां भक्तिमभीप्समानः॥
(१२।३।१५)

भगवद्गुणानुवाद केवल अमङ्गलोंका नाश करनेमें ही पटु (चतुर) है, इतना ही नहीं किन्तु भक्तिप्रतिबन्धक इधर-उधरके ग्राम्य-समाचार, विषयप्रवर्तक प्रतीति-सुन्दर कथाओंमें भी अरुचि उत्पन्न करनेवाला है। ऐसा कहा है—

यत्रोत्तमश्लोकगुणानुवादः
प्रस्तूयते ग्राम्यकथाविघातः।
निषेव्यमाणोऽनुदिनं मुमुक्षो-
र्मतिं सतीं यच्छति वासुदेवे॥
(५।१२।१३)

ज्ञान, भक्ति, वैराग्यप्रवर्तक 'कल्याण' मासिकका अन्य मासिकोंकी अपेक्षा अल्प ही कालमें इतना अधिक प्रचार इस विषयमें प्रज्वलित तथा आदर्श उदाहरण है। 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येत' इस श्रुतिके अनुसार भगवान्‌की प्राप्तिमें उतनी ही देर है जितनी देरतक भक्ति-प्रवर्तक विश्वकल्याणयोग प्रत्येक प्राणीको नहीं होता। लेख बहुत ही विस्तृत हो गया है। जिस भगवान्‌की प्रेरणासे ये चार शब्द 'कल्याण' भक्तोंके सामने रखनेका सुयोग प्राप्त हुआ है उसीके चरणारविन्दोंमें यह अर्पणकर पाठकोंसे विराम ग्रहण करता हूँ।

यत्कीर्तनं यत्स्मरणं यदीक्षणं
यद्वन्दनं यच्छ्रवणं यदर्हणम्।
लोकस्य सद्यो विधुनोति कल्मषं
तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः॥

(श्रीमद्भा० २। ४। १५)

श्रीकृष्णार्पणमस्तु।
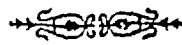
भक्तियोग

(लेखक—आचार्य श्रीबालकृष्णजी गोस्वामी)

योगेश्वराय कृष्णाय योगक्षेमप्रदायिने।
भक्तियोगवितानाय ह्यवतीर्णाय ते नमः॥

योग शब्द कितने व्यापक अर्थोंमें व्यवहृत होता है, यह बात 'कल्याण' के इस 'योगाङ्क' में प्रकाश्य विषयोंकी सूची देखनेसे ही विदित हो जाती है। इस अनेकार्थवाची छोटे-से दो अक्षरके 'योग' शब्दकी यथार्थ परिभाषा करना, कम-से-कम मेरी विद्या-बुद्धिके तो बाहरकी बात है, परन्तु 'कल्याण' के सुयोग्य सम्पादक महोदयके प्रेमभरे अनुरोधकी रक्षा करना भी मेरे लिये अनिवार्य है, अतएव मैं जो कुछ इस सम्बन्धमें लिखूँगा उसमें अपनी कोई कल्पना सम्मिलित न कर केवल योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णके ही उस मतका अनुसरण करूँगा जो उन्होंने इस विषयमें अपने योगशास्त्रमें प्रकट किया है। वे योगकी परिभाषा करते हुए कहते हैं—

योगः कर्मसु कौशलम्।

अर्थात् कर्मोंके करनेमें जो कुशलता (चतुराई) है, उसीका नाम योग है।

कर्मोंको कुशलतासे करनेका आशय यह है कि कर्म एक जडीय तत्त्व है। यह जीवोंके जडबन्धनका कारण है। जडबुद्धि जीवोंके लिये कर्मोंका करना अनिवार्य है। देहधारी जीव कर्म किये बिना एक क्षण भी नहीं रह सकते, क्योंकि कर्मके बिना शारीरिक कृत्योंका होना असम्भव है। अतएव हमें ऐसी चतुराईसे कर्म करने चाहियें, जिसमें वे यथावत् होते भी रहें और हमारे बन्धनका कारण भी न बनें। यह चतुराई हम तभी कर सकते हैं जब हम पहले कर्मके रहस्यको समझ लें। वह रहस्य यह है कि वास्तवमें कर्म स्वयं कोई फल उत्पन्न नहीं करता, उसके साथ हमारी जो इच्छा सम्मिलित होती है उसीके अनुसार फल प्राप्त होता है। यह बात इस उदाहरणसे भलीभाँति समझमें आ जायगी—जैसे कोई दुष्ट मनुष्य जब किसीके शरीरपर शस्त्रद्वारा आघात करता है तब वह पुलिसद्वारा पकड़ा जाकर न्यायालयसे दण्डित होता है, और डाक्टर साहब अनेक रोगियोंके शरीरपर रोज शस्त्रप्रयोग करते हैं तो भी वे राजाप्रजा दोनोंके द्वारा सम्मानित होते हैं। दुष्ट और डाक्टरका कर्म एक है, केवल उसके करनेकी इच्छा पृथक्-पृथक् है। दुष्टकी इच्छा तो दुख देनेकी होती है और डाक्टर साहबकी इच्छा आराम पहुँचानेकी होती है; इसीलिये दोनोंका कर्म समान होनेपर भी, कर्ताकी इच्छाके अनुसार फल भिन्न-भिन्न मिलता है। इसी नियमके अनुसार जो कर्म फलकी आशासे हम अपने लिये करते हैं, वे हमें फल भोगनेके लिये बन्धनमें ले आते हैं और जो फलाशात्यागपूर्वक भगवान्‌के लिये करते हैं वे हमें जडमुक्त कर परमधामको पहुँचाते हैं। इस प्रकार कर्म करते समय अपनी इच्छाको ठीक रखना ही कुशलता है और यह कुशलता ही योग है। इससे भिन्न अर्थमें योग शब्दका प्रयोग योगेश्वरको स्वीकृत नहीं है। इसीसे वे कहते हैं—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥

अर्थात् हे अर्जुन! योगी पुरुष तपस्वी, ज्ञानी, कर्मी आदि सबसे श्रेष्ठ है, अतएव तू योगी बन जा।

यदि कहो कि तपस्वी, ज्ञानी, कर्मी आदि भी तो योगी कहे जाते हैं, तो योगेश्वर अपने अभिमत योगी-के लक्षण भी बताते हैं—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

'अन्य समस्त योगियोंमें जो अपने अन्तरात्माको मुझमें लगाकर श्रद्धापूर्वक मेरा भजन करता है मैं उसीको सर्वोत्तम योगी मानता हूँ।'

योगेश्वरने हमको अपने योगशास्त्रमें कर्मोंको कुशलतापूर्वक करनेकी प्रक्रिया भी उपदेश कर दी है। वे आज्ञा करते हैं—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥

'आहार-विहार, कर्मोंकी चेष्टा एवं शयन-जागरण-को युक्तरूपसे करनेवाले पुरुषका योग दुःखोंको नाश करता है।' योगेश्वर युक्त शब्दका भी अर्थ स्वयं आदेश करते हैं—

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा॥

'सर्व कामनाओंसे रहित एकाग्रचित्त जब आत्मामें स्थित होता है तब वह युक्त कहाता है।'

आत्माका अर्थ भी उन्हींके मुखारविन्दसे सुनिये—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।

'समस्त भूतोंमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित मैं ही सबका आत्मा हूँ।'

सबका सारार्थ यह है कि जो कुछ भी कर्मचेष्टा की जाय, उसका सबका सम्बन्ध सर्वात्मा श्रीकृष्णके साथ स्थापित करनेसे ही दुख दूर करनेवाला योग होगा।

इसीसे योगेश्वरने कहा है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

'हे कौन्तेय! तू जो कुछ करे, जो भोजन करे, जो हवन करे, जो दान करे, जो तप करे, वह सब मेरे अर्पण कर दे।'

ऐसा करनेसे क्या होगा? सो भी योगेश्वर बतलाते हैं—

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥

'शुभाशुभ फलवाले कर्मबन्धनोंसे छूट जायगा और कर्मत्यागरूप योगसे युक्तात्मा विमुक्त होकर मुझे प्राप्त करेगा।'

सारांश यह है कि फलाशासे शून्य कुशलतासे किये हुए कर्मकी कर्म संज्ञा नहीं होती, किन्तु वह योग नाम-से अभिहित होता है और इसे अन्यान्य साधारण योगोंकी अपेक्षा असाधारण सिद्ध करनेके लिये भक्तियोग आख्या प्रदान की गयी है। अन्यान्य योगोंमें एवं भक्ति-योगमें सबसे बड़ा अन्तर यह है कि वे सब व्यभिचारी योग हैं और यह अव्यभिचारी है। जो योग श्रीकृष्णसे अतिरिक्त विषयान्तरोंसे प्रयुक्त होता है, वह व्यभिचारी है। और जो एकमात्र श्रीकृष्णको ही विषयरूपसे वरण करता है, वह अव्यभिचारी है। श्रीकृष्णसेवैकपरायण इस भक्तियोगके द्वारा ही हम मायिक गुणोंसे पार होकर, निर्गुण अवस्था लाभ कर सकते हैं, जैसा कि श्रीयोगेश्वरने स्वयं श्रीमुखसे आज्ञा की है—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

अर्थात् जो पुरुष अव्यभिचारी भक्तियोगके द्वारा मेरा सेवन करता है, वह गुणोंको अतिक्रम कर ब्रह्मभावको प्राप्त करनेमें समर्थ होता है।

ब्रह्मभाव मुक्त जीवकी एक निर्गुण अवस्थाविशेष है, यह भी श्रीयोगेश्वरने ही कहा है—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥

'ब्रह्मभावको प्राप्त पुरुषका आत्मा प्रसन्न होता है, न वह शोच करता है, न आकांक्षा करता है; सब भूतोंमें समान भाव रखता हुआ मेरी पराभक्तिको प्राप्त करता है।'

अर्थात् भक्तियोगका ही अपर नाम साधन-भक्ति है जिसके द्वारा पराभक्तिका अधिकार लाभ होता है। यह श्रीयोगेश्वरके अभिमत 'योग' की व्याख्या है। इससे आगे पराभक्ति भावराज्यकी बात है। उसके सम्बन्धमें कुछ लिखना मेरे समान अभावुकके लिये और भी कठिन है और इससे अधिक लिखनेके लिये स्थान भी नहीं है अतः विषयको यहीं विश्राम दिया जाता है।

भक्ति और प्रपत्तिका स्वरूपगत भेद

(लेखक—देवर्षि पं० श्रीरमानाथजी शास्त्री)

स्नेहो भक्तिर्द्विधा वैधी स्वभावानुगता च या ।
प्रपत्तिरात्मनिक्षेपः सा द्विधा रूढियोगतः ॥
स्नेह आनन्दधर्मः स्यादानन्दो भगवानिति ।
प्रपत्तिः स्वीकृतिर्विष्णोर्भेदाभेदोऽनयोर्द्वयोः ॥

'स्नेह (प्रेम)-रस ही भक्तिरस है । यह भक्तिरस दो प्रकारका है, एक शास्त्रप्राप्त और दूसरा स्वभावप्राप्त । पर अपने-आपको परमात्मापर छोड़ देना प्रपत्ति कहलाता है। यह प्रपत्ति भी दो तरहकी है, पहली रूढिप्राप्त और दूसरी योगप्राप्त ।'

'आनन्दकी ही एक किरण स्नेह है, और भगवान् स्वयं आनन्दस्वरूप हैं । भगवत्कृत स्वीकारको (दूसरी) प्रपत्ति कहा है' अतएव भक्ति और प्रपत्तिका भगवान्‌के साथ भेद और अभेद दोनों सम्बन्ध हैं ।

'आनन्दः प्रियतातीव' आदि वाक्योंसे और अनुभवसे यह सिद्ध है कि आनन्दका ही विस्तार स्नेह किंवा प्रेम है । और 'सत्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियोंसे यह भी सिद्ध है कि आनन्द ही भगवान् है । अतएव कहना होगा कि भगवान् और भगवान्‌का स्नेह (प्रेम) वास्तवमें एक है । किन्तु एकतामें व्यवहार-आनन्द नहीं आता इसलिये यह भगवान्‌का आनन्द प्रेमरूप होकर हमारे पास आ गया । अब हमें भगवान्‌के आनन्दका स्वाद आने लगा । इस तरह भक्ति और भगवान्‌में परस्पर भेदाभेद सम्बन्ध है ।

यही बात प्रपत्तिमें भी है । प्रपत्तिका रूढ अर्थ है स्वीकार और यौगिक अर्थ है आत्मनिक्षेप । प्र—प्रकर्षेण, एकदम, पत्तिः—पदनम्, भगवान्‌में चले जाना और आत्मनः—अपने-आपको भगवान्‌में निक्षेप—नितरां क्षेपः—एकदम डाल देना, दोनों बातें एक ही ह । यदि प्रपत्तिका कोरा 'स्वीकार' अर्थ लेते ह तो भगवान्‌के साथ प्रपत्तिका [भे]द है और यदि आत्मनिक्षेप लेते ह तो अभेद है । इस [त]रह प्रपत्तिका भी भगवान्‌के साथ भेदाभेद सिद्ध है । [भ]गवत्कृत जीवस्वीकार और जीवकृत भगवत्स्वीकार [दो]नों प्रपत्ति हैं । पहली अनुग्रह (पुष्टि) प्रपत्ति है, और [दू]सरी मार्यादिक प्रपत्ति । दृष्टान्त श्रीगोपीजन और [श्री]विभीषण ।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।

'रसो वै सः' 'सत्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' 'आनन्द आत्मा' । वह परमात्मा रस है । परब्रह्म सत्य, विज्ञान और आनन्द है । आनन्दमय परब्रह्मका आत्मा भी आनन्द ही है । इत्यादि श्रुतियोंसे यह सिद्ध है कि परब्रह्म परमात्मा रसरूप है, आनन्दरूप है । और 'ममैवांशो जीवलोके', 'अंशो नानाव्यपदेशात्', 'एकांशेन स्थितो जगत्' इत्यादि स्मृतिसूत्रोंसे यह भी स्पष्ट होता है कि उस रसरूप परमात्माका ही रूपान्तर होनेसे—अंश होनेसे सब देहोंमें विद्यमान आत्मा (जीव) भी वास्तवमें रसरूप आनन्दरूप ही है । किन्तु माया, बुद्धि, प्राण, इन्द्रिय और देहका आवरण आ जानेसे इसकी वह रसरूपता तिरोहित हो रही है । अतएव इसे अपना आनन्द तो अनुभवमें आता नहीं और बाह्य पदार्थोंमे आनन्द मालूम देता है । इससे यह बाह्य पदार्थोंमें प्रेम करने लगता है और अन्तमें उनमें आसक्त होकर जन्म-मरणके चक्रमें पड़ जाता है । अस्तु ।

उस आनन्दरूप आत्माका ही विशुद्ध धर्म या किरण ही जब मनके द्वारा अन्तःप्रकट होता है तब वह स्नेह किंवा प्रेम कहाता है और इसीलिये प्राकृत लोग उस प्रेमको मनोधर्म कह देते हैं । वास्तवमें यह स्नेह आनन्दका ही धर्मान्तर होनेसे आत्मधर्म ही है । स्नेहका मूलरूप निर्गुण है, सत्त्वादि गुणोंका इसमें स्पर्शतक नहीं है । इसीको भाव किंवा रति भी कहते हैं । आत्मधर्म होनेसे ही यह नित्य है, अतएव स्थायी है । यह निर्गुण विशुद्ध प्रेम जहाँ कहीं भी (आलम्बनमें) पैदा होता है वहाँ निष्कारण ही पैदा होता है । यह अतीन्द्रिय है, केवल बुद्धिवेद्य है किंवा स्वसंवेद्य है । गुणमात्रसे रहित है, अतएव दुःखरहित है और अनिर्वचनीय है । यह साधनोंसे बढ़ता नहीं और विरुद्ध साधनोंसे घटता भी नहीं । सदा एक स्वरूपमें ही रहता है । तथापि आधारोंके द्वारा जब अधिक-अधिक अनुभूयमान होता है, तब उद्दीपन विभावादिके द्वारा इसका मूल व्यापक रूप प्रकट होने लगता है । इसी अवस्थाको सहृदय लोक रस, शृंगार, वात्सल्य किंवा भक्ति कहते हैं । किन्तु यह याद रहे कि

लौकिकमें जो शृङ्गारादि हैं उनमें गुणोंका स्पर्श है किन्तु उस अलौकिक रसमें गुणोंका स्पर्श नहीं है। यहाँतक यह प्रेमरस बढ़ता है कि सारे संसारमें प्रकाशित हो जाता है और फिर अन्तमें आप भी उसी व्यापक प्रेमानन्दमें विलीन हो जाता है। उस दशामें आनन्दसे अनुभवकी मात्रा बहुत कम हो जाती है। अतएव श्रुति 'नेति-नेति', 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' कहकर उसके स्वरूपका निर्देश करती है। इस प्रेमरसकी कुछ प्रारम्भिक दशाका वर्णन किसी अभियुक्तने यों किया है—

आविर्भावदिने न येन गणितो हेतुस्तनीयानपि
क्षीयेतापि न चापराधविधिना नत्या न यद्वर्धते।
पीयूषप्रतिवादिनस्त्रिजगतीदुःखद्रुहः साम्प्रतं
प्रेम्णस्तस्य गुरोः किमद्य करवै वाङ्निष्ठतालाघवम्॥

'जिस प्रेमने पैदा होनेके समय एकदम थोड़े भी कारणकी अपेक्षा न रक्खी और जो हजारों अपराध होनेपर भी नष्ट किंवा कम नहीं होता। तथा चापलूसी करनेसे कभी बढ़ता भी नहीं और जो अमृतके सामने खम ठोककर 'तू मेरे सामने कौन वस्तु है' यह कहनेको सदा तैयार रहता है, उस सारे ससारके दुःखोंके नाश करनेवाले और अति महत् प्रेमको मैं आज अपनी वाणीसे कैसे कहूँ और कहकर उसकी आबरू कैसे बिगाड़ दूँ।'

यह प्रेम जब अपने समानमें होता है तब उसे स्नेह किंवा शृगार कहा जाता है। अपनेसे छोटेमें वात्सल्य और अपनेसे बड़ेमें उत्पन्न होकर यह भक्ति नामसे प्रसिद्ध है।

ऐश्वर्य (हुकूमत, प्रताप), पराक्रम, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य इन षट्गुणोंसे महत्त्व (बड़प्पन) होता है। इनमेंसे एक-एक गुण भी जहाँ आ जाते हैं वहाँ वह बड़ा कहा जाता है। यदि कहीं यह सारे गुण एकमें ही स्वभावतः रहते हों तो फिर उसके माहात्म्यकी कथा ही क्या है। अतएव भगवान् सबसे बड़े हैं। उन पुरुषोत्तम भगवान्‌में उनके माहात्म्यको समझकर जो प्रेम किया जाता है उसे भक्ति कहते हैं। नारदपाञ्चरात्रमें यही बात इस तरहसे कही है—

माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथा॥

विशुद्ध अवस्थामें यह एक भक्तिरस है किन्तु जब इसमें सत्त्व, रज और तम त्रिगुणका मेल हो जाता है तब यह भक्ति तीन, नौ, इक्यासी, और आगे चलकर अनन्तविध हो जाती है।

यहाँतक हमने विशुद्ध निर्गुण रसरूपा भक्तिका निरूपण किया। यह फलरूपा भक्ति है। अतएव इसीका रूपान्तर और इसका साधन भी एक नवधा भक्ति किंवा तनुजा वित्तजा सेवा नामक साधनभक्ति और भी है। इस वैधी साधनभक्तिका निरूपण श्रीमद्भागवतमें इस तरह है—

देवानां गुणलिङ्गानामानुश्रविककर्मणाम्।
सत्त्व एवैकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या॥
अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी।
(३।२५।३२-३३)

वेद और वैदिक शास्त्रोंकी आज्ञासे और उनमें कहे गये साधनोंके अनुष्ठानसे जो क्रमसे प्रकट होती है उस स्नेहरूपा भक्तिको वैधी भक्ति कहते हैं। कभी-कभी किसी-किसी अधिकारीको जन्मसे ही यह भक्ति प्राप्त होती है, जैसे प्रह्लादजीको। उस जगह पूर्वजन्मके साधनानुष्ठानसे किंवा सामान्यानुग्रहसे ही वह प्रकाशित हुई है यह निश्चय है। इसलिये उसे भी वैधी भक्ति ही समझना चाहिये। इस वैधी भक्तिका क्रम इस तरहसे है। एक मनवाले सब दैवइन्द्रियोंके व्यवहार स्वाभाविक होकर सत्त्वविग्रह श्रीभगवान्‌में ही निरन्तर होते रहें वह भक्ति कही जाती है। फिर कामनारहित होकर सदाके लिये निर्गुण भगवान् पुरुषोत्तमको ही अपना विषय बना लें तब वे सर्वेन्द्रियवृत्तियाँ ही पूर्वोक्त मनके साथ एकताको प्राप्त होकर भगवती अनिमित्ता वैधी भक्ति कही जाती है।

'द्वया ह वै प्राजापत्याः' किंवा 'देवासुरा वै संयेतिरे उभये प्राजापत्याः' इत्यादि श्रुतियोंके अनुसार प्रत्येक प्राणीकी दसों इन्द्रियाँ दो प्रकारकी होती हैं—दैव और आसुर। इन दैवासुर इन्द्रियोंकी वृत्तियोंमें परस्पर प्रतिदिन युद्ध होता रहता है। दैव वृत्तियाँ स्वभावतः आनुश्रविक होती हैं। और आसुर वृत्तियाँ केवल लौकिक होती हैं। आनुश्रविक देवेन्द्रियवृत्तियाँ जब-जब जिस-जिस इन्द्रियान्तवर्ति प्राणका आश्रय लेकर उन आसुर वृत्तियोंको जीतना चाहती हैं तब-तब ही वे बलिष्ठ आसुर वृत्तियाँ उनके उस आश्रयको पापविद्ध कर देती हैं। तब अन्तमें वे दैव वृत्तियाँ आसन्य-प्राणका आश्रय लेती हैं। वहाँ भी आसुर वृत्तियाँ पहुँचती

तो है पर वह मुख्यप्राण भगवद्रूप है अतएव मिट्टीके ढेले पत्थरपर गिरकर जैसे विखर जाते है उसी तरहसे आसुर वृत्तियॉं इस मुख्यप्राणपर आक्रमण करनेसे स्वय ही नष्ट हो जाती है। फिर ये दैवेन्द्रियवृत्तियॉं वेदोक्त कर्मादिके द्वारा कार्यसे भी दैव वन जाती है। भक्तिके लायक अपना स्वरूप बना लेती है। बहुजन्माभ्यासी ऋषियोके, इन्द्रादि देवोंके किंवा अनुगृहीत दैवसम्पन्न मनुष्योंके भी इन्द्रिय दैव होते है।

जिस तरह इन्द्रियॉं दो प्रकारकी होती है वैसे ही मन भी दो प्रकारका है। मनः शब्दसे यहॉं उस बुद्धिका ग्रहण होता है जो मनके साथ एकताको प्राप्त होकर निश्चयका और इन्द्रियोके द्वारा कार्य करानेका काम करती है। इस मन और बुद्धिका विशेष विवेचन गहन एव विस्तृत होनेसे ज्ञेय होनेपर भी हम इसे यहॉं ही छोड़ते है।

मनोरूपा बुद्धि दो प्रकारकी है एक व्यवसायात्मिका और दूसरी अव्यवसायात्मिका बहुशाख और अनन्त होती है। पर व्यवसायात्मिका एक ही रहती है। बुद्धिको व्यवसायात्मिका बनानेके लिये शास्त्रोंमे अनेक प्रकारके साधन कहे है उनके अनुष्ठानसे बुद्धि व्यवसायात्मिका हो जाती है, पर व्यवसायात्मिका बुद्धि जब आत्माके सहारे अपने कर्तव्यका निश्चय कर चुकती है और इन्द्रियोके द्वारा कार्य करानेकी आज्ञा आत्मासे ले लेती है तब मनके साथ एकताको प्राप्त हो जाती है, मनोरूप हो जाती है। यह मन मननात्मक रहता है। अर्थात् विजातीय प्रत्यय-रहित होकर सजातीय प्रत्ययद्वारा युक्त रहता है। इस तरह वेदोक्त साधनानुष्ठानोंके द्वारा जिस पुरुषका मन एकभावापन्न हो जाता है उस पुरुषकी वे पूर्वोक्त चक्षुरादि इन्द्रियॉं जब विशुद्ध सत्त्वविग्रह अवतीर्ण भगवान्में किंवा निर्गुण पुरुषोत्तम भगवान्मे ही निरन्तर लग जाती है, उनकी वृत्तियॉं भगवान्की परिचर्यामे ही रहती है तब उसे तनुजा वित्तजा सेवा किंवा नवधा भक्ति कहते हैं। चक्षुका लौकिक कार्योंमे दर्शनमात्र कार्य रह जाय पर उसकी वृत्ति (व्यवहार) तो केवल भगवान्मे ही होने लगे। इसी तरह दसों इन्द्रियोंकी वृत्तियॉं जब केवल निर्गुण भगवान्मे लग जाती है तब आत्मनिष्ठ आनन्दका आवरण दूर हो जाता है और नित्यविद्यमान भक्ति (प्रेम) प्रकट होती है। यह हम पूर्वमे सिद्ध कर चुके है कि भक्ति, प्रेम किंवा आनन्द पदार्थ नित्य हैं, वे न उत्पन्न होते है और न नष्ट। साधनोंके द्वारा उनका आविर्भाव-तिरोभाव ही होता रहता है। आवरण आनेसे तिरोभाव और आवरणके हट जानेसे आविर्भाव होता है। अज्ञानीलोग आविर्भावको ही उत्पत्ति समझ लेते है। इस प्रेमरूपा भक्तिके प्रादुर्भावके लिये जो पूर्वोक्त श्रवणादि नव साधन किंवा तनुजा वित्तजा सेवा करनेमें आती है उसे भी भक्ति ही कहते हैं, पर साधनभक्ति कहते हैं। शास्त्रमें कहा भी है—'भक्त्या सजातया भक्त्या', 'मयि सजायते भक्तिः'। तनुजा वित्तजा सेवा और नवधा भक्ति, दोनों प्रायः एक हैं।

> श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
> अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

यह नवधा भक्ति है और तनुजा सेवामें भी यही साधन विचारपूर्वक किये जाते हैं, इसलिये दोनों एक ही पदार्थ है। विभवके बाहुल्यमें राजोपचारसे सेवाका निर्वाह करना ही वित्तजा सेवा है न कि पैसा देकर दूसरोंके द्वारा तनुजा कराना।

परम भागवतवक्ताके मुखसे भगवान्के स्वरूप, जन्म, लीला, नाम और स्तोत्र आदिको श्रद्धासे सुनकर उन सबका परमपुरुष भगवान्मे निर्धारण कर लेनेको श्रवणभक्ति कहते हैं। तनुजा सेवामे भी कीर्तनके समय किंवा अनवसरके समय श्रीभागवत सुबोधिनी गीता आदिके सत्सगमें यह भक्ति होती है। प्रभुके नाम-चरित्र आदिके अधिकारानुसार श्रद्धासे कथनको कीर्तनभक्ति कहते हैं। तनुजा सेवामे भी यह कीर्तन प्राय. आठों दर्शनादिमें होते रहते हैं। भगवत्स्वरूप उनकी लीला आदि, तथा उनके परिकरका श्रद्धासे चिन्तन करना ही स्मरणभक्ति है। यह भी तनुजा सेवामे होता रहता है। सर्वदा श्रद्धासे परिचर्या, अर्थात् भगवान्के वस्त्रप्रक्षालन आदि सर्वविधि सेवा करते रहना, यह पादसेवनभक्ति है। माहात्म्यबुद्धि रखकर शास्त्रोक्त विध्यनुसार किन्तु प्रेम और लोकरीतिसे जुदे प्रकारके उपचारोंसे भगवत्पूजा करनेको अर्चनभक्ति कहते हैं। तनुजा सेवामे भी यह दोनो किये जाते है। मन्दिर-मार्जन, वस्त्रप्रक्षालन, जलाहरण, रसवतीकरण आदि पादसेवन कहा जाता है। और पञ्चामृतस्नान, अधिवासन, सङ्कल्प, देवोत्थापन, शङ्ख, झॉंझ, दुन्दुभिध्वनि, समन्त्रकस्नान आदि अर्चनभक्ति है। भगवान्के आगे अपना दैन्य

प्रकाशित करते रहकर नमन-प्रणाम आदि करना 'वन्दनभक्ति' है। यह तनुजा सेवामें समान ही है। प्रभुके सिवा अन्य किसीका भी आश्रय न लेनेको दास्य कहते हैं। तनुजा सेवामे भी अनन्याश्रय भगवत्प्रसादी चन्दन ताम्बूल भोज्य पदार्थोंका भगवद्दत्त बुद्धिसे ग्रहण करना ही दास्यभक्ति है। प्रभुकी सेवामे किसीकी भी प्रेरणाके विना अपनी प्रीति और श्रद्धासे प्रेरित होकर प्रभुके हितोंके अनुष्ठान करते रहनेको सख्यभक्ति कहते हैं।

कराविव शरीरस्य नेत्रयोरिव पक्ष्मणी।
अप्रेरितं हितं कुर्यात्तन्मित्रं मित्रमुच्यते॥

इत्यादि वचनोंके अनुसार ग्रीष्ममें पखा करना, चन्दन धारण कराना, शीतकालमें गद्दा, रजाई प्रभृति रुई और मखमलके वस्त्र धारण कराना, सुहागसोंठ वगैरह गरम वस्तुओंका भोग धरना प्रभृति उन-उन ऋतुओंके अनुसार प्रेम और लौकिक रीतिके अनुसार उपचार करना सख्यभक्ति है। अपने-आपको स्त्री-पुत्र-धन-गृहादिसहित भगवत्सेवाके उपयोगी कर देना, उपकरण बना देना, बस यही आत्मनिवेदन है। यह नवधा भक्ति है और यही सब तनुजा सेवा है। तनुजा सेवामें सब नवधा भक्ति आ जाती है। और यही भगवदधीन सर्वेन्द्रियवृत्तियाँ हैं। किन्तु ये सब इन्द्रियव्यवहार किंवा तनुजा सेवा अनिमित्ता होनी चाहिये। भक्ति (सेवा) में केवल भगवान्का किंवा भगवत्प्रेमका ही प्रयोजन किंवा उद्देश्य रहना चाहिये। किन्तु देहसुख, स्त्रीपुत्र-धनादि लौकिक प्रयोजन किंवा पापनिर्हरण, स्वर्ग किंवा मोक्ष आदि अलौकिक प्रयोजन भी भक्तिका उद्देश्य न रहना चाहिये। क्योंकि—

भक्तिरस्य भजनमिहामुत्रफलभोगनैराश्येनामुष्मिन्मनः-कल्पनम्।

—इत्यादि श्रुतिमें तथा 'इति पुंसार्पिता विष्णौ', 'भक्त्या त्वनन्यया', 'अनिमित्ता भागवती' इत्यादि स्मृति-पुराणोंमें निष्काम भक्तिका ही विधान है। 'श्रवण कीर्तन विष्णोः' इत्यादि प्रह्लादके वचनमें 'अर्पिता' शब्द है। अर्थात् भगवान्में अर्पण करते हुए भक्ति करनी चाहिये, ऐसा कहा है। सेवा करते समय उस सेवा या नवधा भक्तिको भगवान्में ही स्थित रखना चाहिये। वहाँसे उठा न लेना चाहिये। भक्ति करके जो लोग भगवान्से किसी भी फलकी चाहना करते हैं वे इस भक्तिको भगवान्के पाससे हटाकर अपने पास ही ले लेते हैं। ऐसा न कर उसे श्रीभगवान्में ही अर्पित रखना चाहिये। ऐसी भक्ति अनिमित्ता कही जाती है।

अनिमित्ता होकर भी फिर यह भागवती होनी चाहिये। अर्थात् कोई निर्विशेष निर्धर्मक किंवा अनित्याल्पगुण वस्तु भक्तिका विषय नहीं होना चाहिये किन्तु भगवान् षडैश्वर्य किंवा नित्यानन्तकल्याणगुण पुरुषोत्तम ही उसका **विषय** रहना चाहिये तब वह अनिमित्ता भागवती भक्ति कही जाती है। यह सब भगवदनुग्रहके विना नहीं है। अतएव लक्षणमे 'या' यत् शब्दका प्रयोग किया है।

सामान्यानुग्रहसे भी इतना सब साध्य नहीं है। प्रभुका सामान्य अनुग्रह तो मनुष्यजन्म दे देता है। यही बात भगवान्ने कही है कि 'मयानुकूलेन नभस्वतेरितम्' सागरमें पतित नौकाके लिये अनुकूल पवनका चल जाना भी बहुत सहारा है। किन्तु दण्डका चलाना तो आवश्यक है ही। इसी तरह दैवी मनुष्यजन्मके मिल जानेपर भी साधनानुष्ठान तो आवश्यक है हो। दैवीसम्पल्लब्धजन्माके लिये तीन साधन हैं। 'ज्ञान कर्म च भक्तिश्च' इन तीन उपायोंमें सब उपायोंका समावेश हो जाता है। कर्म, ज्ञान और भक्तिरूप सब साधन हैं।

शिशु जब जन्म लेता है तब महीने-दो-महीनेतक उसके पास चेष्टाके सिवा अपनी फलसिद्धिके लिये अन्य कोई साधन नहीं है। फिर जैसे-जैसे उन चेष्टा (कर्मों) के द्वारा आवरण हटता जाता है वैसे-ही-वैसे उसके अन्तःस्थित ज्ञान और प्रेमका प्रादुर्भाव होता जाता है। इसी तरह जीवके पास अपने उद्धारके लिये पहला साधन ज्ञानसहित वेदशास्त्रोक्त कर्म है। निष्काम किंवा भगवदर्पित कर्मोंके द्वारा आवरण दूर होता है और भगवद्रूप अतएव नित्य सिद्ध ज्ञान और प्रेम (स्नेह) अन्तःप्रकाशित हो जाते हैं। ज्ञानसहित निष्काम कर्म किंवा भगवत्-समर्पित कर्म करते-करते देहपात भी हो जाय तो भी उसकी हानि नहीं होती। भगवान्ने स्वयं आज्ञा की है कि—

'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।'
'नहि कल्याणकृत् कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति।'

हे अर्जुन! सत्कर्म करनेवाला कभी भी नीचे नहीं गिरता। सत्कर्मका थोड़ा भी अंश उसे बड़े भयसे भी बचा लेता है। फिर भी उसे उत्तम जन्म और पौर्वदैहिक बुद्धि मिल जाती है। और यदि न मरा और उसी

जन्ममें वह उसका कर्म पूरा-पूरा पार उतर गया तो फिर 'पञ्चाग्निविद्या' के अनुसार यह दूसरा जन्म उसे अन्तिम मिलता है। इस फलरूप जन्ममें पूर्वोक्त भक्ति पूर्वोक्त रीतिके अनुसार अनिमित्ता और भागवती प्राप्त होती है। किंवा स्वतन्त्रा भक्ति प्राप्त होती है। यह स्वतन्त्रा भक्ति पुष्टिमार्गीय है इसलिये हम इसे यहाँ ही छोडते हैं।

अनिमित्ता भागवती भक्ति (साधन) सायुज्य मुक्तिसे भी श्रेष्ठ होती है, क्योंकि इसका फल गाढ़ भगवत्प्रेम है। और सायुज्यमें प्रेमरूप तो है किन्तु प्रेमप्राप्ति नहीं। भक्तोंको आनन्दरूप हो जाना वाञ्छनीय नहीं है अपि तु आनन्दभोग वाञ्छनीय है। भगवत्प्रेम ही फलरूपा भक्ति है। यद्यपि इस मानसी सेवा (प्रेमभक्ति) के तीन फल हैं जो आगे कहे जायँगे और इसलिये यह भी साधन ही है, तथापि ऐसे भक्तोंके लिये यह प्रेम ही सर्वोत्तम फल है, अन्य फलोंकी वे चाहना नहीं करते। अतएव अन्यत्र कहा है कि—

दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः।

भगवान् अपने भक्तोंको सालोक्यादि फलोंका दान करते हैं पर वे भजनके सिवा कुछ नहीं चाहते। इस फलरूपा भक्तिका वर्णन इस प्रकार किया है—

नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचि-
न्मत्पादसेवाभिरता मदीहाः।
येऽन्योन्यतो भागवताः प्रसज्य
सभाजयन्ते मम पौरुषाणि॥

पूर्वश्लोकोक्त तनुजा वित्तजा (नवधा) सेवा करनेसे भगवद्रस (प्रेम) की अभिव्यक्ति हो जाती है। इस श्लोकमें उस भगवद्रसके प्रकट हो जानेके तीन प्रत्यक्ष लक्षण कह रहे हैं। 'मत्पादसेवाभिरताः' 'मदीहाः' और 'येऽन्योन्यतो भागवताः प्रसज्य सभाजयन्ते मम पौरुषाणि'—ऐसे प्रेमी भक्तोंके काय, वाक् और मनके व्यवहार स्वाभाविक रीतिसे भगवान्में ही रहते हैं। मेरी सेवा करनेमें ही उनकी चित्तवृत्ति सर्वदा लगी रहती है, उनके शारीरिक व्यवहार भी सर्वदा मत्सम्बन्धी होते रहते हैं। और समानधर्मा वे लोग परस्पर निष्किञ्चन मित्रता रखते हुए भगवत्सम्बन्धी पराक्रमोंका ही सर्वदा सादर सप्रेम कथोपकथन तथा सत्कार किया करते हैं। अतएव भगवान्से प्रार्थना करना तो दूर है पर अपने हृदयमें सायुज्यादि चार मुक्तियोंकी अभिलाषा भी कभी नहीं करते। उनको तो भगवत्स्वरूपलीला और गुणोंके रसका अनुभव करते रहना ही परम उत्कृष्ट फल मालूम देता है। क्योंकि उनके हृदयमें आनन्दरूप भगवान्का प्रादुर्भाव हो जाता है, उनका यही साध्य है, यही साधन है और जीवित भी यही है। 'तन्मे साध्यं साधनं जीवितं च' उन्हें फिर जगत्के किंवा जगत्से बाहरके किसी पदार्थसे भी प्रीति नहीं रहती।

हमारे गीताके ठाकुरने भी आज्ञा की है—

'रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥'
'यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥'

---

१ (सा चेद्भागवती भवति साक्षाद्भगवन्तं विषयीकरोति भगवद्भावं षड्गुणरूपतामापद्यते। पूर्वं सत्त्वरूपे देवे विष्णौ वृत्तिः सैव जन्मान्तरे भागवती भवतीति वा। पञ्चाग्निविद्यायां ज्ञानौपयिकदेहसिद्धिर्निरूपिता। तथापि मुक्तेः सायुज्यादपीयं भक्तिर्गरिष्ठा सिद्धेर्गरीयसी। ‥‥ एतया मे पदं प्राप्यत इति भावः। तादृशभक्तानां ज्ञानिनामिवाग्रिमकृत्यमाह प्रकारद्वयेन। तत्र प्रथममाह—त्रिभिर्नैकात्मतामित्यादिभिः। इयं हि फलरूपा भक्तिर्ज्ञातव्या। फलरूपता तदैव भवति, यदा भजनाद्रसोऽभिव्यक्तो भवति बहुधा। 'तस्या अभिव्यक्तेर्निदर्शनम्, भगवत एकात्मतां फलं न स्पृहयन्ति, प्रार्थना दूरे। तेषां कायवाङ्मनोवृत्तिः स्वभावत एव भगवति भवतीत्याह मत्पादसेवेत्यादिना। तेषां फलावस्थामाह—पश्यन्ति ते म इति। ते मे रूपाणि पश्यन्ति, निरन्तरं भगवत्साक्षात्कारो भवति यथा मित्रैः सह क्रीडन्ति। ततस्तेषां सायुज्यमाह—तैर्दर्शनीयेति। भगवान् स्वगृहं गच्छन् तानपि नयति। ते तु इन्द्रियाणि मनश्च नयन्ति। भक्तिस्तु फलावश्यम्भाविनी कालादीनामगम्यमतिसूक्ष्ममेव भगवदात्मकं फलं प्रयच्छन्ति। सालोक्यादि फलमाह—अथो इत्यादि। सा चेद्भक्तिर्मध्यमा भवेत् ततोऽयं भिन्नप्रक्रमः। परस्य कालाक्षराद्य लोके व्यापिवैकुण्ठे सर्वमैश्वर्यादिकमश्नुवते। एवं भेदत्रयं निरूपितम्, सायुज्यं वैकुण्ठः जीवन्मुक्तिश्चेति।
(भाग० सुबोधिनी ३। २५। श्लोक ३२से ४०)

यह अनुवाद है, विधि नहीं है। इस प्रकार चिरकाल भगवद्रसका अन्तःस्वाद लेते-लेते सर्वत्र भगवान्‌का बहिः-प्राकट्य हो जाता है। उस समय वे भक्तलोग पूर्ण फलका अनुभव करते हैं। जहाँ भगवान् रस्य और परतन्त्र हो जाय और भक्त रसयिता तथा स्वतन्त्र हो जाय वह अवस्था भक्तों-की पूर्णफलावस्था है। शास्त्रमें इसे अलौकिक सामर्थ्य और परप्राप्ति भी कहा है। 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इस ऋचा और 'सत्य ज्ञानम्' इत्यादि विवरणरूप ब्राह्मणका भी यही तात्पर्य है। भक्ति (सेवा) तारतम्यसे फलतारतम्य हो जाता है इसलिये द्वितीय, तृतीय फल और भी है। भागवत तृतीय स्कन्धके इसी प्रकरणमे 'पश्यन्ति ते मे' से लेकर 'तान्मृत्यो-रतिपारये' पर्यन्त (३५ से ४०) श्लोकोंमे सायुज्य, व्यापिवैकुण्ठ और जीवन्मुक्ति ये तीन सेवाफल कहे गये हैं। सायुज्यके दो अर्थ होते हैं सहयोग और ऐक्य। भक्तलोगोंको परमानन्दसहयोग भी अभिलषित है, इसलिये 'पश्यन्ति ते मे' इस श्लोकमें सहयोग अर्थात् अलौकिक सामर्थ्यका निरूपण किया है। 'तैर्दर्शनीयावयवैः' इस श्लोकमें द्वितीय सायुज्य परमानन्दैक्यका प्रतिपादन किया है। 'अथो विभूतिं मम' और 'न कर्हिचिन्मत्पराः' इन दोनों श्लोकोंसे व्यापिवैकुण्ठनिवासरूप फलका कथन किया है और 'इमं लोकम्' और 'विसृज्य सर्वानन्यांश्च' इन दो श्लोकोंसे जीवन्मुक्तिफलका निरूपण किया है। यहाँ जीवन्मुक्तिका अर्थ है अलौकिक अक्षरात्मक देहकी प्राप्ति। यहाँ तक हमने फलसहित वैधी भक्तिका स्वरूप कहा। यह भक्ति परमानन्दरूपा होनेसे भगवान्‌से भिन्न भी है और अभिन्न भी है।

अब इस भक्तिका दूसरा भेद स्वभावानुगता भक्ति है। स्वभावानुगता भक्ति पुष्टि (अनुग्रह) मार्गका विषय है। स्वभावानुगता भक्ति और पूर्वोक्त वैधी भक्तिमें विशेष भेद नहीं है। यह भी परमानन्दरूपा है और परमानन्दप्राप्ति ही इसका भी फल है। केवल कारणका भेद है। कारणके भेदको उपचारसे भक्तिमे कहा गया है। वैधी भक्ति साधनों-से प्रकाशित होती है और स्वभावानुगता भगवान्‌के विशेषा-नुग्रहसे प्रकाशित होती है। भगवान्‌का अनुग्रह भगवद्धर्म है इसलिये नित्य है और साधनासाध्य है।

भक्ति और प्रपत्तिके स्वरूपमें भेद दिखानेके लिये प्रपत्तिका भी स्वरूपदर्शन कराना उचित है। प्रत्येक शब्द रूढ और यौगिक भेदसे दो तरहके हो सकते हैं। प्रकृतिप्रत्यय-की तरफ ध्यान न देकर जिसकी सिद्धि अनादिसिद्ध मान ली गयी है वह रूढ शब्द है और प्रकृतिप्रत्ययके अनुसार जिसकी सिद्धि दिखायी गयी है वह यौगिक शब्द माना गया है। इन शब्दोंके अर्थ भी दो तरहके हैं—रूढ और यौगिक, किंवा रूढप्राप्त, योगप्राप्त।

प्रपत्ति शब्दको रूढ मानते हैं तब उसका स्वीकार अर्थ है। और जब उसे यौगिक मानते हैं तब प्र—प्रकर्षेण एक-दम, पत्तिः—पदन गमनम्, भगवान्‌के साथ सगत हो जाना अर्थ होता है। प्रपत्तिमार्गमें प्रपत्तिके दोनों अर्थ स्वीकृत हैं। यह प्रपत्तिमार्ग दो प्रकारका है, मार्यादिक (किसी विशेष मर्यादासे सम्बद्ध) और अनुग्रहलब्ध। यद्यपि भक्तिमार्गकी तरह प्रपत्तिमार्गमें प्रेम और प्रेमप्रकर्ष रहता है तथापि 'प्रधानाभिहारन्याय' से प्रपत्तिके ही आधिक्य रहने-से यह प्रपत्तिमार्ग कहा जाता है, भक्तिमार्ग नहीं।

कलौ भक्त्यादिमार्गा हि दुःसाध्या इति मे मतिः।

कलियुगमें कर्म, ज्ञान और भक्तिमार्गका निर्वाह करना अति कठिन है। इसीलिये भगवान् श्रीकृष्णने इन सबसे पृथक् शरण (प्रपत्ति) का मार्ग प्राकट्य किया है। भक्तों-की दृष्टिमे भगवत्प्रेम फल है, साधन नहीं। इसलिये भी प्रपत्तिमार्ग भक्तिमार्ग नहीं कहा जा सकता। वास्तवमें प्रपत्तिको मार्ग कहना भी युक्त नहीं है।

प्रपत्ति (स्वीकार) दो प्रकारकी है। भक्तकृत भगवान्-का स्वीकार और भगवत्कृत भक्तका स्वीकार। भक्तकृत भगवत्स्वीकार मार्यादिक प्रपत्ति है। वानरका शिशु अपनी माताको कसकर पकड़ता है। माता उतना उसे नहीं पकड़ती। यह तो अपने चलने-फिरने, खाने-पीने, उछलने-कूदनेमें लगी रहती है। किन्तु मार्जारी (बिल्ली) अपने शिशुका स्वयं दृढतर ग्रहण करती है। शिशुको मार्जारीकी उतनी परवा नहीं रहती। उस शिशुका सर्वाधार माता है। माताको उसने आत्मनिक्षेप कर रक्खा है। शिशु अपने साथ कोई साधन नहीं रखता। माता आती है तो शिशु उलटा अपने नेत्र मींच लेता है। अब उसका जीवन मारण, धारण, नयन, स्थापन सब कुछ मार्जारीके ही हाथमे है।

इसी तरह भक्तकृत भगवत्प्रपत्ति मार्यादिक है। भगवान् अपने स्वरूपमें है। अपनी लीलाएँ भी यथावत् करते चले

जाते हैं। किन्तु भक्तने अपने स्वरूप और चरित्रमें परिवर्तन कर दिया है। यह परिवर्तन छः प्रकारका है—

> आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्।
> रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्वे वरणं तथा॥
> आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः।

'शरणागतिः रक्षकत्वेन भगवत्कर्मकः स्वीकारः।' भगवान्को ही अपना रक्षकरूपसे स्वीकार करना, बस, यही शरणागमन किंवा प्रपत्ति कही जाती है। यद्यपि यहाँ आत्मनिक्षेप है किन्तु अन्य साधन समान है। जैसे आनुकूल्यसङ्कल्प आदि हैं, उन्हींके जोड़तोड़का आत्मनिक्षेप भी है, वह फलरूप नहीं है। प्रपत्तिमें यदि आत्मनिक्षेपके साथ आनुकूल्यका सङ्कल्प भी है तब आत्मनिक्षेप उतना दृढ नहीं रहता। अस्तु।

भगवदनुकूलताका स्वीकार, प्रतिकूलताका परित्याग, रक्षाके विषयमें विश्वास, केवल भगवान्का वरण (स्वीकार), आत्मनिक्षेप और दैन्य, इन छहोंको प्रपत्ति कहते हैं। पुष्टि प्रपत्ति और मार्यादिक प्रपत्ति दोनोंमें प्र—प्रकर्षेण पत्तिर्गमनम्—एकदम भगवान्के साथ सङ्गम (आत्मनिक्षेप), ऐक्य है और वह सायुज्य (प्रत्यापत्ति) पर्यन्त गिना गया है। अतएव दोनोंको प्रपत्ति कहा गया है। किन्तु मार्यादिक प्रपत्तिमें साधनान्तरोंका सहयोग होनेसे आत्मनिक्षेप अदृढ (शिथिल) है।

मार्यादिक प्रपत्तिके दृष्टान्त अर्जुन और विभीषण हैं। गीताके प्रारम्भमें 'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्' कहकर अर्जुनने भगवान्का रक्षकत्वेन स्वीकार किया है। मध्य मध्यमें 'त्वमादिदेवः' तथा अन्तमें 'करिष्ये वचनं तव' इत्यादि कहकर आनुकूल्यादि अङ्गोंका भी निर्वाह किया है। तथापि अर्जुनपर भगवान्का विशेषानुग्रह भी है, इसलिये इसकी प्रपत्ति पुष्टिसम्मिश्र है, शुद्ध मार्यादिक नहीं है।

अपने-अपने धर्मोंका त्याग करके जो एक दूसरेका दृढ स्वीकार हो वह अनुग्रह प्रपत्ति है। और व्यासजीने कहा भी है—

> गृहीतवान् स क्षितिदेवदेव'।

अर्जुनको भगवान्ने स्वीकार किया है। अपने धर्मोंका त्याग करके अर्जुनका स्वीकार किया है और उसके अन्य साधनोंका त्याग कराकर अपना स्वीकार करनेका उपदेश भी किया है। अर्जुनसे भगवान्ने अन्तमें स्पष्ट कहा है कि तू तो अभीतक धर्मोंको पकड़े बैठा है अतएव अभीतक तूने मुझे कसकर पकड़ा नहीं है, इसलिये यदि तू मुझे पूरा-पूरा पकड़ना चाहता है तो—

> सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

'सब धर्मोंको छोड़कर एक मेरी शरणमें आ जा।'

इसीका नाम 'आत्मनः नितरां क्षेपः' है। इतना ही नहीं, गीता और भागवतमें अर्जुन और भगवान्के चरित्र एवं उन दोनोंके वचन ऐसे हैं जिनसे प्रतीत होता है कि दोनोंने स्वधर्मत्यागपुरःसर एक दूसरेका स्वीकार किया है।

गीतामें—

> यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
> विहारशय्यासनभोजनेषु।

और श्रीभागवतमें—

> नर्माण्युदाररुचिरस्मितशोभितानि
> हे पार्थ हेऽर्जुन सखे कुरुनन्दनेति।
> सञ्जल्पितानि नरदेव हृदिस्पृशानि
> स्मर्तुर्लुठन्ति हृदयं मम माधवस्य॥
> (१।१५।१८)
>
> वञ्चितोऽहं महाराज हरिणा बन्धुरूपिणा।
> (१।१५।५)

—इत्यादि अर्जुनके वाक्य हैं। इनसे दोनोंका गहरा प्रेम और परस्पर स्वीकार प्रतीत होता है। इसलिये कुछ अंशमें ऐक्य और प्रेमप्रकर्षके होनेसे अर्जुन केवल मर्यादा-प्रपत्तिका उदाहरण नहीं है।

केवल मर्यादाप्रपत्तिका उदाहरण विभीषण है। विभीषणने अपने धर्मोंका परित्याग नहीं किया है और न श्रीराघवने ही अपने धर्मोंका परित्याग किया है। विभीषणने श्रीरामचन्द्रका परिहास किंवा असत्कार भी नहीं किया है और न श्रीरामचन्द्र विभीषणके सारथी बने हैं और न दिव्यास्त्रोंको अपने ऊपर सहनकर अपनेसे भी विशेष विभीषणकी रक्षा की है। विभीषणके कर्तव्यको स्वयं करके उसको महत्त्व दिलानेका कार्य भी श्रीरामचन्द्रने नहीं किया है। प्रत्युत विभीषणने लङ्काका राज्य ग्रहण किया और प्रभुने विभीषणसे रावणकी रहस्य बातें जानकर युद्धमें सुभीता भी कर लिया, ये प्रेमसन्देहास्पद हेतु दोनोंमें मिल सकते हैं इसलिये दोनोंमें पूरा-पूरा

आत्मनिक्षेप और प्रेमप्रकर्ष न होनेसे, और आनुकूल्य तथा प्रातिकूल्यवर्जनका निर्वाह होनेसे बिभीषण केवल मर्यादा-प्रपत्तिका उदाहरण है। राज्याभिषेक होनेके बाद विभीषणको भगवान्‌ने विदा कर दिया और वह खुशी-खुशी चला भी गया, और जानेके बाद भी विभीषणके किसी व्यवहारमे परिवर्तन न होने पाया। ये केवल मर्यादाके लक्षण हैं। अतएव विभीषणकी प्रपत्ति मार्यादिक प्रपत्ति है और अर्जुनकी मर्यादापुष्टि प्रपत्ति है।

इन दोनो प्रपत्तियोंसे पृथक् अनुग्रह (पुष्टि) लब्धप्रपत्ति है और यही भगवान्‌को भी प्रिय है। अनुग्रहलब्ध प्रपत्तिमें अनुग्रहके सिवा अन्य साधन हेतुभूत नहीं होते और प्रपत्ति होनेके बाद भी आनुकूल्य सङ्कल्पादि साधनोंका नियम नहीं होता, कभी हो भी जाय, कहीं नहीं भी। प्रत्युत कभी-कभी तो आनुकूल्यादि साधनोंका एकदम परिवर्तन हो जाता है। प्रपन्नकी इच्छाके आगे भगवान्‌की इच्छा नहीं चलती। भगवान्‌को प्रपन्नकी अनुकूलता देखनी पड़ती है। उसके प्रातिकूल्यको बचाना पड़ता है। भगवान् और प्रपन्न दोनो अपने-अपने धर्मोंका परित्याग करके धर्मीका (एक दूसरेका) दृढ स्वीकार करते हैं। दोनोका परस्पर आत्मनिक्षेप रहता है। अतएव ऐश्वर्य और प्रेमप्रकर्ष रहता है। इसलिये इस प्रपत्तिका नाम पृथक् शरणमार्ग है। यह आत्मनिवेदन परस्परका है इसलिये नवधा भक्तिके आत्मनिवेदनसे यह एकदम जुदा है। और यही प्रपत्ति हमारे गीताके ठाकुरको हृदयसे सम्मत है।

भगवद्गीतामे कर्म, ज्ञान और भक्तिका फलसहित उपदेश करके १८ वें अध्यायके अन्तमें अनुग्रहलब्ध प्रपत्तिका ८ श्लोकोंसे उपदेश देना प्रारम्भ किया है और अन्तमें ६५ वें श्लोकमे तो पूर्ण प्रपत्तिका निरूपण कर ही दिया। गीता-के कर्म, ज्ञान, भक्तिका भगवदुपदेश गुह्य धर्मका उपदेश है। मार्यादिक प्रपत्तिका उपदेश गुह्यतर है और अनुग्रह-लब्ध प्रपत्तिका गुह्यतम उपदेश है। 'भक्त्या मामभिजानाति' इस ५५वें श्लोकपर्यन्त सारी गीतामे प्राय· गुह्य धर्मका निरूपण है। और 'सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाण·'—यहाँसे लेकर 'इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया' इस ६२ वें श्लोकपर्यन्त मार्यादिक प्रपत्तिरूप गुह्यतर समझका उपदेश किया है। और सर्वान्तमे 'सर्वधर्मान परित्यज्य' इत्यादि ६५वें श्लोकमें पूर्ण प्रपत्तिरूप गुह्यतम वस्तुका उपदेश दिया है। सो भी परोक्ष रीतिसे। क्योंकि प्रत्यक्ष-मे जिस अर्जुनको उपदेश दे रहे हैं वह उस प्रपत्तिका अधिकारी ही नहीं है।

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

—इस श्लोकके भाष्य और टीकाओंमे अनेक विद्वान् अर्थपरिवर्तन करनेका कष्ट करते हैं किन्तु वह अर्थ भगवद्वाग्ययगोचर नहीं है। यह अर्थ यदि मान लिया जाय तो निरर्थक लक्षणाओंका ढेर लग जाय। यदि उसी अर्थको कहना भगवदभिमत होता तो स्पष्ट उन्हीं अक्षरोंमें कहना क्या भगवान्‌को नहीं आता था? अतएव यथाश्रुत अर्थ ही भगवान्‌को अभिमत है। और इस तरह स्पष्ट रीतिसे कहनेमे भगवान्‌का आशय ही कुछ और है और वह आशय आचार्योंने अपने एक श्लोकमे स्पष्ट कर दिया है—

न्यासादेशेषु धर्मत्यजनवचनतोऽकिञ्चनाधिक्रियोक्ता
कार्पण्यं नाङ्गमुक्तं तदितरभजनापेक्षणं नो व्यपोढम्।
दु·साध्येच्छोद्यमौ वा क्वचिदुपशमितावन्यसम्मेलने वा
ब्रह्मास्त्रन्याय उक्तस्तदिह न विहतो धर्म आज्ञादिसिद्धः॥

'सर्वधर्मान् परित्यज्य' इस प्रपत्तिके उपदेशमे जो सर्वधर्म त्याग करनेकी आज्ञा दी गयी है, इससे भगवान्‌की ही आज्ञाऍ जो अन्यत्र धर्माचरणके विषयमे हुई हैं उन सबका बाध होता है। भगवान्‌का प्रादुर्भाव धर्म-रक्षार्थ माना गया है और गीतामे बहुत-सी जगह आपने धर्माचरण करनेका उपदेश दिया है। अब जो यह 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' सबसे अन्तिम आज्ञा हुई है इसने उन सब आज्ञाओंको मटियामेट कर दिया है, यह प्रश्न यहाँ उपस्थित होता है। और यह ठीक भी है, एक जगह धर्म करानेका आग्रह और दूसरी जगह उसके त्यागकी आज्ञा देना यह क्या बात हुई?

इसके उत्तरमे आचार्योंने पॉच कारणोंका निर्देश किया है। 'अकिञ्चनाधिक्रिया उक्ता' से लेकर 'ब्रह्मास्त्रन्याय उक्त·' पर्यन्त। सबसे पहला कारण यह है कि सब धर्म उनके अधिकारानुसार निर्माण किये गये हैं। धर्मके द्वारा ही सबका उद्धार होता है, यह सही है, किन्तु उन सबमे अधिकार नियत है। जगत्‌मे ऐसे बहुत-से मनुष्य विद्यमान हैं जिनकी प्रभु (धर्मी) को छोड़कर धर्मोपर श्रद्धा ही नहीं जमती। इस आशयके अभियुक्तोंके वचन भी है—

सन्ध्यावन्दन भद्रमस्तु भवते भो स्नान तुभ्यं नमो
हे देवाः पितरश्च तर्पणविधौ नाहं क्षमः क्षम्यताम् ।
यत्र क्वापि निषद्य यादवकुलोत्तंसस्य कंसद्विषः
स्मारं स्मारमघं हरामि तदलं मन्ये किमन्येन मे ॥

इनका कहनेका आशय है कि भगवदासक्त प्रेमी पुरुषको धर्मोंमे कुछ मतलब ही नहीं रह जाता । अब कहिये कि ऐसे पुरुषका किसी धर्ममें भी अधिकार रह जाता है क्या ? कितने ही अधिकारविशेषके पुरुष कहने लगेंगे कि इस तरह सब धर्मोंमें अश्रद्धा रखनेवाला अवश्य नरकमें जाने लायक है । किन्तु इसका मर्म उनसे नहीं पूछा जा सकता । इसके विषयमें तो उसकी माता किंवा प्रिय पितासे पूछा जाय कि 'तेरा पुत्र नरकमें जाता है, बोल, अब क्या करें ।' मैं समझता हूँ कि प्रियता ऐसी वस्तु है कि वह विधिकी परवा नहीं करती । प्रिय मनुष्य अपने प्रियके बचावका कोई-न-कोई उपाय ढूँढ निकालता है । यह तो असर्वज्ञ और असमर्थकी बात है । और जो समर्थ और सर्वज्ञ हैं उनका फिर कहना ही क्या है । भगवान् सर्वज्ञ हैं, समर्थ हैं और सब जीवमात्रके 'माता धाता पितामहः' हैं । उनके वाक्य हैं कि 'जिनका कोई भी सहारा नहीं है उनका मैं आश्रय हूँ ।'

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥

इससे अकिञ्चन पुरुषोंके लिये प्रपत्ति है । अतएव 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' इसमें उनका अधिकार दिखाया गया है ।

अथवा स्नान किये बिना जैसे धर्मकार्य नहीं हो सकता, अतएव स्नान धर्मकार्यका पूर्वाङ्ग है, वैसे ही निष्किञ्चन हुए बिना प्रपत्ति होना दुष्कर है अतएव कार्पण्य (दैन्य) प्रपत्तिका पूर्वांग है । और 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' कहकर दैन्यका उपदेश किया है । प्रपन्नके लिये दैन्य अपेक्षित है । किंवा भगवानसे अन्य और भगवान् दोनोंका भजन और अपेक्षणकी मनाही की गयी है । अन्य-भजन किंवा भगवद्भक्ति रही आवेगी तो कुछ-कुछ भरोसा और मान बना रहेगा और उनसे अपेक्षा रखना भी बना रहेगा । ऐसी अवस्थामें आत्मनिक्षेप और भगवत्स्वीकार पूरा-पूरा न होने पावेगा । इसलिये 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' कहकर भगवदितरके भजन और अपेक्षाको हटाया है ।

अथवा इसी बहानेसे अन्याश्रयको दूर रखनेके लिये 'ब्रह्मास्त्रन्याय' कहा गया है । हनुमान्‌जीने मेघनादके ब्रह्मास्त्रका स्वीकार किया और बँध गये किन्तु राक्षसोंको ब्रह्मास्त्रपर उतना विश्वास न रहा, अतएव रस्से वगैरहसे भी उन्होंने हनुमान्‌जीको बाँधा । तब ब्रह्मास्त्रने हनुमान्‌जीको छोड़ दिया । यह कथा रामायणमें प्रसिद्ध है । इसी तरह यदि प्रभुका स्वीकार करनेपर भी अन्य धर्मोंका आचरण भी करते रहे तब ब्रह्मास्त्रन्याय हो जाता है, अर्थात् भगवान्‌की प्रपत्ति उसका परित्याग कर देती है । यह बात समझानेके लिये ही प्रभुने 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' यह आज्ञा की है । अतएव मार्गान्तर होनेसे आज्ञादिसिद्ध धर्मोंका विरोध नहीं होने पाता । प्रपत्तिके विशेषकी समझ चाहनेवालोंको 'न्यासादेश' ग्रन्थ देखना उचित है ।

जिस दिन श्रीकृष्णकी दृढ प्रपत्ति (स्वीकार) ग्रहण की उसी दिन यह जीव कृतकृत्य हो चुका ।

'तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥'
'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥'
'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।'

—इत्यादि प्रतिज्ञाओंके अनुसार जीवका उद्धार भगवान्‌का कर्तव्य रह गया । अब उसमें जीवका कर्तव्य कोई नहीं रह जाता और अविश्वास रखनेकी भी बिल्कुल आवश्यकता नहीं है, क्योंकि भगवान् सत्यसङ्कल्प हैं । 'ब्रह्मास्त्रचातकौ भाव्यौ' ब्रह्मास्त्र और चातकका विचार रखना चाहिये । प्रपन्नके लिये अनन्यता और विश्वासका परित्याग करना विषके समान हानिकारक है ।

अविश्वासो न कर्तव्यः सर्वथा बाधकस्तु सः ।

अब यहाँ एक प्रश्न यह होता है कि यदि प्रपत्तिमात्रसे जीवका उद्धार हो चुकता है और फिर उसका कोई कर्तव्य नहीं रहता तो फिर भगवत्सेवा, भगवन्नामजप, स्तोत्रपाठ आदि क्यों करने चाहिये ? और भगवदाज्ञा-सिद्ध वर्णधर्मका पालन भी व्यर्थ है ।

ठीक है, ये सब नहीं करने चाहिये । और प्रपत्तिमार्गमें यह सब उस दृष्टिसे किये भी नहीं जाते । यह ठीक है कि प्रपत्तिसमनन्तर ही उसका उद्धार हो चुका, यह कृतकृत्य हो चुका । अब उसका अपने उद्धारके लिये कोई

कर्तव्य नहीं रहा। तो अब यह प्रश्न रहता है कि फिर उसे करना क्या चाहिये? प्रपत्तिके समनन्तर ही मनुष्य निश्चेष्ट हो जाय किंवा मर जाय, यह तो उसके हाथमें है नहीं, क्योंकि 'प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति'। किसी तरह जीवनकाल तो बिताना ही पड़ेगा, कालक्षेप तो करना ही होगा। बस, कालक्षेपके लिये भगवत्परिचर्या, भगवन्नामावृत्ति प्रभृति करते रहना सुन्दर उपाय है और लौकिकासक्तिको बचानेके लिये अपेक्षित शास्त्रसिद्ध वर्णधर्मका भी पालन करते रहे तो हानि नहीं और ये सब अनवसरमें किये जाते हैं। इस तरह प्रपन्नका भगवत्स्वीकार और आत्मनिक्षेप पूर्ण हो जाता है। ये बातें भी हमने असमर्थ जीवकी दृष्टिसे ही कही हैं।

वास्तवमें तो पूर्ण प्रपन्नका उदाहरण गोपसीमन्तिनी हैं। यह तो हम अपने अन्य ग्रन्थमें कह ही चुके हैं कि श्रीगोपीजनोंके चार यूथ मुख्य हैं। उन सबमें नित्यसिद्धा गोपीजन मुख्य एवं भगवद्रूपा हैं। ये ही इस मुख्य प्रपत्तिका मुख्य दृष्टान्त हैं। स्वामी और स्वामिनियाँ दोनों एक ही (रस) पदार्थ हैं तब परस्पर स्वीकार और दृढ आत्मनिक्षेपका (एकीभावका) सन्देह करना तो व्यर्थ ही है। प्राकट्य होनेके पहले और प्रत्यापत्तिमें तो दोनों एक ही हैं पर भूतलपर प्रकट होते ही श्रीगोपीजनोंने प्रभुको अपना आत्मनिक्षेप कर दिया, और प्रभुने उसी समय स्वीकार भी कर लिया, यह 'आत्मानं भूषयांचक्रुः' 'यर्ह्यङ्गनादर्शनीयकुमारलीलौ' इत्यादि प्रकरणोंमें सूचित है।

स्पष्ट आत्मनिक्षेपके पूर्व भी श्रीगोपीजनोंने आज्ञा की है कि 'सन्त्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलं प्राप्ताः' धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चारों पुरुषार्थ मनुष्यके मनको अपने साथ विशेष करके सी लेते हैं। इसलिये मोक्ष (आत्मज्ञान)-पर्यन्त ये सब विषय सामान्य हैं। अतएव श्रीगोपीजन कहती हैं कि हे पुरुषोत्तम! हम इन सब विषयोंका वासनासहित (सर्वधर्मान् परित्यज्य) परित्याग करके आपके चरणतलमें आयी हैं। यहाँ भी पूर्ण स्वीकार और दृढ आत्मनिक्षेप है ही।

अच्छा, जब भगवान्ने दार्ढ्यपरीक्षार्थ स्त्रीधर्मका उपदेश किया, तब भी उसका उत्तर स्वामिनी देती हैं कि—

> यत्पत्यपत्यसुहृदामनुवृत्तिरङ्ग
> स्त्रीणां स्वधर्म इति धर्मविदा त्वयोक्तम्।
> अस्त्वेवमेतदुपदेशपदे त्वयीशे
> प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा॥

धर्मावलम्बी धर्मोपदेशकोंने स्त्रियोंके लिये पति, पुत्र, सास, ससुर प्रभृतिकी सेवा करना ही धर्म कहा है और आप भी ऐसा ही उपदेश दे रहे हैं, किन्तु ये सब व्यर्थ प्रयास हैं, क्योंकि न तो हमारी शास्त्रसे पहचान है और न धर्मसे। किन्तु यह अवश्य जान रही हैं कि आप धर्मसामान्यके पण्डित हैं, न कि धर्मविशेषके किंवा धर्मीके। हमारा धर्म क्या है, यह आपने जाना ही नहीं, अथवा जानकर भी आप छिपा गये हैं। अस्तु, प्रपन्नको स्वामीके कर्तव्यकी विशेष छानबीन करना उचित नहीं है। हम तो इतना ही समझना ठीक मानती हैं कि आप ही सब प्राणीमात्रके अतिप्रिय हैं, रक्षक हैं, और सबके आधार हैं, इसलिये सर्वोपदेशोंके स्थानभूत अति दुर्लभ और हमारे लिये परम सुलभ आपको छोड़कर अब और कहाँ-कहाँ पृथक्-पृथक् भाव करती फिरें। हम तो अब आपमें ही सर्वभावसे आत्मनिक्षेप करती हैं। आपकी ही सेवाको सर्वसेवा जानती हैं। यहाँ अन्याश्रय और अविश्वासका सर्वथा परित्याग है। श्रीगोपीजनोंका भगवान् (धर्मी) के सिवा अन्य किसी धर्मके साथ कोई सम्बन्ध नहीं था, यह बात मुक्तिस्कन्धमें भगवान्ने ही कही है—

> ते नाधीतश्रुतिगणा नोपासितमहत्तमाः।
> अव्रततप्ततपसो मत्सङ्गान्मामुपागताः॥

सर्वसाधनरहित अनेक भक्तोंका निरूपण करते हुए उन्हींमें श्रीगोपीजनोंकी भी परिगणना की है, किन्तु उन सबसे श्रीगोपीजनोंका स्थान बहुत ऊँचा है। प्रपत्तिकी दृष्टिसे सत्सङ्ग भी साधन है, धर्मपरिग्रह है। 'सत्सङ्गेन हि दैतेया.' (११।१२।३) इत्यादि श्लोकोंमें निर्दिष्ट प्रपन्नोंमें सत्सङ्गका परिग्रह विद्यमान था, किन्तु श्रीगोपीजनोंमें भगवान्से अन्य सत्सङ्गका लेश भी नहीं था। उनको तो भगवत्सङ्गसे ही भगवत्प्राप्ति हुई है। अतएव श्रीगोपीजन ही पूर्ण प्रपत्तिके पूर्ण दृष्टान्त हैं।

जिस प्रकार श्रीगोपीजनोंने सर्वधर्मत्यागपुरःसर भगवान्का स्वीकार और आत्मनिक्षेप किया था उसी प्रकार भगवान्ने भी स्वधर्मत्यागपूर्वक श्रीगोपीजनोंका स्वीकार किया था। भगवान्की यह प्रारम्भकी प्रतिज्ञा है—

> तस्मान्मच्छरणं गोष्ठं मन्नाथं मत्परिग्रहम्।
> गोपाये स्वात्मयोगेन सोऽयं मे व्रत आहितः॥

और मध्वमे भी आपने आज्ञा की है कि 'मया परोक्षं भजता तिरोहितम् ।' और अन्यत्र भी कहा है—

ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तलौकिकाः ।

सबसे विशेष तो यह है कि भगवान्का मुख्य धर्म आत्मारामता है, किन्तु भगवान्ने उसका भी परित्याग कर दिया और श्रीगोपीजनोंका स्वीकार किया—'आत्मारामोऽप्यरीरमत्' । यह भगवत्कृत भक्तस्वीकार आत्मनिक्षेप है ।

भगवान्को आत्मनिवेदन करके स्वामिनीवर्ग सर्वदाके लिये कृतकृत्य हो चुका था । अतएव वे समयका अतिवहन करनेके लिये भगवद्गुणगानादि करती रहती थीं । यह बात श्रीशुकब्रह्मने इस तरह कही है—

गोप्यः कृष्णे वनं याते तमनुद्रुतचेतसः ।
कृष्णलीलाः प्रगायन्त्यो निन्युर्दुःखेन वासरान् ॥

यहाँतक हमने यह प्रपत्तिका सक्षेपसे निरूपण किया है । भक्तिमे अनुग्रह है और प्रेमप्रकर्ष है । तथा प्रपत्तिमें भी अनुग्रह और प्रेमप्रकर्ष है । दोनोंमे भगवान् ही फल हैं । इस दृष्टिसे दोनों एक है, किन्तु केवल साधनाचरणका दोनोंमे भेद है । भक्तिमे साधनविशेषरूप धर्मविशेषका भी स्वीकार है, पर प्रपत्तिमे केवल धर्मी (भगवान्) का ही स्वीकार है, साधनानुष्ठानका नहीं ।

भक्तिमे आनुकूल्यका सकल्प और प्रातिकूल्यका वर्जन है, किन्तु प्रपत्तिमे इनका नियम नहीं है । कहीं दोनो हैं, कहीं एक है, और कहीं दोनों ही नहीं । उपालम्भ-लीला, और मानादिलीलाओंमें और भ्रमरगीतादिके समय प्रातिकूल्य ही आभासित होता है । यद्यपि प्रपत्ति और भक्ति दोनोंहीके विषयमें बहुत वक्तव्य रह गया है, तथापि लेखके बढ जानेके भयसे आज यहींतक कहकर इस विषयको पूर्ण किया जाता है । हरिः ओं शम् ।

ज्ञानयोग

(लेखक—पं० श्रीविनायक नारायण जोशी 'साखरे महाराज')

शब्दशक्तेरचिन्त्यत्वाच्छब्दादेवापरोक्षधीः ।
सुप्तः पुरुषो यद्वच्छब्देनैवावबुद्ध्यते ॥

'योग' शब्द सुनते ही श्रोताके मनमे सर्वप्रथम हठयोगकी कल्पना आती है । परन्तु 'योग' शब्दका अर्थ हठयोग नहीं है । 'योग' मे 'युज्' धातु होनेसे चित्तको एकाग्र करना, जोड़ना, एकत्र होना इत्यादि इसके अनेक अर्थ होते हैं । साधकका जिससे सम्बन्ध होगा, उसी सम्बन्धके अनुसार उसकी साधनाको नाम प्राप्त होगा । यदि साधकका सम्बन्ध कर्मके साथ है तो वह कर्मयोग, भक्तिसे सम्बन्ध है तो वह भक्तियोग, और ज्ञानसे सम्बन्ध है तो वह ज्ञानयोग कहा जायगा ।

निष्काम कर्मयोग

स्वर्गादि फलकी इच्छासे यदि नित्य-नैमित्तिक कर्मोंसे सम्बन्ध है तो उस कर्मयोगसे मोक्षप्राप्ति नहीं होती, वे कर्म तो कर्त्ताको स्वर्गादि फल प्राप्त कराकर क्षीण हो जाते हैं । किन्तु वे ही नित्य-नैमित्तिक कर्म जब निष्काम बुद्धिसे अर्थात् ईश्वरार्पणबुद्धिसे किये जाते हैं तब वे चित्तशुद्धि करके मोक्ष प्राप्त कराते हैं और इसी कारण उन्हें निष्काम कर्मयोग कहते हैं ।

निष्काम कर्म क्या असम्भव है ?

किसी भी मनुष्यके लिये निष्काम कर्मका होना सम्भव नहीं, क्योंकि 'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते'—(प्रयोजनके बिना कोई अदना काम भी नहीं होता ।) इस न्यायके अनुसार किसी भी मनुष्यमें फलकामनारहित किसी कर्मकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती । स्वर्गादि फलकी इच्छा न करके ईश्वरार्पणबुद्धिसे कर्म करनेवाले पुरुषके मनमें यह कामना होती ही है कि ईश्वरके प्रसादसे मोक्षकी प्राप्ति हो, प्राप्तभोगैश्वर्यका परित्यागकर स्वदेशके कल्याणके लिये दिन-रात आन्दोलन करनेवाले पुरुषके मनमें स्वराज्य-प्राप्तिकी कामना होती ही है, पितरोंकी कष्टप्रद सेवा करनेवाले सुपुत्रकी यह कामना होती ही है कि इन पितरोंकी सेवा करनेसे जो पुण्य प्राप्त होगा, उससे उत्तम लोककी प्राप्ति हो । तब निष्काम कर्म क्या हुआ यह प्रश्न रह ही जाता है ।

निष्काम कर्मकी सम्भवनीयता

कोई भी कर्म कामनारहित नहीं होता, यह बात सत्य है। तथापि वेदोंमें जिन-जिन कर्मोंका लौकिक फल कहा गया है, उन-उन फलोंकी कामनासे जब कर्मारम्भ किया जाता है तब उस कर्मको सकाम कर्म कहते हैं। और लौकिक कर्मफलकी इच्छा न कर केवल मोक्षकी कामनासे, ईश्वरार्पणबुद्धिसे जब कर्म किया जाता है तब उस मोक्षकी कामनाको 'कामना' नहीं कहते, ऐसी शास्त्रमर्यादा है। यदि कोई यह कहे कि ऐसी शास्त्रमर्यादा क्यों है तो इसका कारण यह है कि मोक्षका स्वरूप कूटस्थात्मरूप है। आत्मरूप मोक्ष जीवोंको नित्य प्राप्त है। मोक्ष नित्य प्राप्त होनेके कारण ही आत्मप्राप्तिकी कामना भ्रमरूप है। कर्णको कौन्तेयत्व प्राप्त होनेकी कामना भ्रमरूप थी, क्योंकि वह तो स्वतःसिद्ध कौन्तेय (कुन्तीका पुत्र) था। रज्जुसर्प भ्रमरूप होनेके कारण वह सर्प नहीं है। उसी तरह आत्मा मोक्षरूप होनेके कारण मोक्ष-कामना कामना नहीं और इस कारण मोक्ष-कामनासे किये हुए कर्मको निष्काम कर्म कह सकते हैं। जीवन्मुक्त पुरुषके अन्तःकरण-में प्रारब्धवश उत्पन्न होनेवाली उपदेश करनेकी कामना कामना नहीं, इस कारण श्रीकृष्ण अथवा अन्य जीवन्मुक्त पुरुषोंके किये हुए उपदेशादि सब कर्म निष्काम हैं। अतएव मुमुक्षुद्वारा मोक्षेच्छासे किया हुआ कर्म भी निष्काम ही होता है। श्रीविद्यारण्यस्वामीने पञ्चदशीके छठे प्रकरण-में पुरुषकी इच्छाको काम कब कहते हैं, इसका निर्णय करते हुए लिखा है—

> **अहङ्कारचिदात्मानावेकीकृत्याविवेकतः।**
> **इदं मे स्यादिदं मे स्यादितीच्छाः कामशब्दिताः।२६१।**
> **अप्रवेश्य चिदात्मानं पृथक् पश्यन्नहङ्कृतिम्।**
> **इच्छंस्तु कोटिवस्तूनि न बाधो ग्रन्थिभेदतः।२६२।**

इसका भावार्थ यह है कि 'शुद्ध चैतन्यरूप आत्मा और अहङ्कार वास्तवमें एक दूसरेसे भिन्न हैं, अविवेकके कारण ये एक ही हैं, ऐसा निश्चय करके मुझे अमुक-अमुक वस्तु चाहिये, ऐसी इच्छा (जीव) करता है। ऐसी इच्छाको काम कहते हैं। आत्मा और अन्तःकरणका भेद मालूम हो जानेपर यदि ज्ञानी करोड़ों वस्तुओंकी भी इच्छा करे तो ग्रन्थिभेद हो चुकनेके कारण उसमें कोई हर्ज नहीं। क्योंकि उस इच्छाको काम नहीं कहा जा सकता।'

दूसरे, रत्नादि पाषाण ही हैं, किन्तु उन्हें कोई पाषाण नहीं कहता, इसी तरह मृतकका अग्निसंस्कार करते समय घड़ा फोड़नेके लिये जो छोटा-सा पत्थर लिया जाता है; वह वास्तवमें होता तो पाषाण ही है, किन्तु उसे पाषाण न कहकर 'अश्मा' कहनेकी श्रेष्ठ लोगोंकी रूढि है। अतएव कोई भी कर्म सकाम होनेपर भी उपर्युक्त कारणोंसे मोक्षकी कामनासे किये हुए कर्मको निष्काम कर्म कहनेकी शास्त्रों-की प्रथा है। अतएव निष्काम कर्मयोग सम्भव है।

भक्तियोग

निष्काम कर्मयोगके विषयमें जो ऊपर विचार किया गया, उसीके अन्दर भक्तियोग भी है। नामस्मरण, चिन्तन, ध्यान, धारणारूप जो भक्ति है, वह भी एक मानसिक कर्म ही है। इसी कारण वह निष्काम कर्मयोगके अन्तर्भूत है। जिस तरह निष्काम कर्म अन्तःकरणकी शुद्धिका हेतु है, उसी तरह ईश्वरभक्ति अन्तःकरणकी स्थिरता-का हेतु है। जब अन्तःकरणकी शुद्धि और स्थिरता होती है तब आचार्यद्वारा महावाक्यका उपदेश लेनेपर जीव-ब्रह्मैक्य-फलरूप ज्ञान उत्पन्न होता है। यद्यपि महावाक्य सुननेसे शब्दशक्तिसे ही ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञान उत्पन्न होता है, तथापि अन्तःकरण यदि शुद्ध और निश्चल न हो तो उस ज्ञानसे मोक्षरूप परमानन्दकी प्राप्ति नहीं हो सकती। अतएव सर्वप्रथम मुमुक्षुको निष्काम कर्मयोग और भक्तियोग दोनोंका अनुष्ठान करनेकी आवश्यकता है।

अन्तःकरणकी शुद्धि और निश्चलता प्राप्त होनेके बाद जीव-ब्रह्मैक्य-ज्ञानकी प्राप्तिके लिये—

> **तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्**
> **समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।**

—इस वेदाज्ञाके अनुसार मुमुक्षुको हाथमें समिध लेकर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्यकी शरणमें जाना चाहिये।

मुमुक्षुके शरणमें जानेपर ब्रह्मनिष्ठ गुरु शिष्यको 'तत्त्वमसि' महावाक्यका उपदेश करते हैं। इस वाक्यमें 'तत्' पदका अर्थ है ईश्वर और 'त्वं' पदका अर्थ है जीव। इन दोनों पदोंके अर्थको लेकर 'असि' पदसे उनका एकत्व मानें तो अल्पज्ञ अल्पशक्ति जीव और सर्वज्ञ सर्वशक्ति ईश्वरका ऐक्य होना सम्भव नहीं। किन्तु जब पदोंका अर्थ लेनेपर वाक्यार्थ अनुभवके विरुद्ध होता है तब लक्षण-से पदोंके अर्थको ग्रहणकर शुद्ध ब्रह्मके साथ कूटस्थरूप

शुद्ध जीवका एकत्व मान लें। इससे मुमुक्षुको श्रवण-कालमें जो आपाततः जीव-ब्रह्मात्मैक्यका विश्वास हुआ रहता है, वह दृढ हो जाता है। अतएव महावाक्यके श्रवणसे जो ब्रह्मके आत्मत्वसे ज्ञान प्रत्यक्ष होता है उस ज्ञानसे मुमुक्षु संसारमुक्त होकर ब्रह्मरूप परमानन्दको प्राप्त होता है अर्थात् परमानन्द-रूप हो जाता है।

शंका—यहाँपर यह शंका हो सकती है कि यदि हम यह मान लें कि 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योंसे ही ब्रह्मापरोक्ष ज्ञान हो जाता है, तब 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' इत्यादि वेदवाक्योंसे विरोध होता है। वाणी परमात्माके स्वरूपका प्रतिपादन करती हुई, परमात्मस्वरूपको न पहुँचकर मनके साथ वापस आ जाती है अर्थात् वाणीसे परमात्माका वर्णन होना सम्भव नहीं। इसी तरह 'यद् वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि'—केनके प्रथम खण्डमें कहा गया है। वाणीके उपादानभूत स्वप्रकाशमान परमात्माका प्रकाश अर्थात् ज्ञान लेकर शब्दके स्थानमें जड पदार्थको प्रकाशित करनेकी शक्ति प्राप्त हुई है। दीपकके स्थानमें जड पदार्थ प्रकाशित करनेकी शक्ति जैसे दीपोपादानभूत अग्निकी है, वैसे ही शब्दके स्थानमें पदार्थ-प्रकाशनकी शक्ति शब्दोपादानभूत स्वप्रकाशमान अर्थात् ज्ञानरूप परमात्माकी है। जब ऐसी बात है तब—

येनेदं जानते सर्वं तत्केनान्येन जानताम्।
(प० प्र० ३। १७)

अर्थात् जिसके योगसे सब प्रकाशित होता है उस ब्रह्मको ब्रह्मके अतिरिक्त जड पदार्थोंके द्वारा क्या प्रकाशित किया जा सकता है? कदापि नहीं। श्रीज्ञानेश्वर महाराजजी कहते हैं—

सूर्याचेनि प्रकाशें। जे कांहीं जड आभासे॥
तेणें तो गिवसे। सूर्यु कायी?
(अ० प्र० ५ ओ० १४)

अर्थात् सूर्यके प्रकाशसे जो सब जड पदार्थ प्रकाशित होते हैं, उन जड़ पदार्थोंसे क्या सूर्य प्रकाशित किया जा सकता है? कभी नहीं।'

इस सम्पूर्ण विवेचनसे यह मालूम हुआ कि लौकिक शब्दोंसे तो नहीं, परन्तु वैदिक शब्दोंसे भी ब्रह्मज्ञान होना सम्भव नहीं। तब तो वैदिक शब्द 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि साधारण वाक्य हों अथवा 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य हों, एकदम शब्दोंसे ब्रह्मज्ञान होना सम्भव नहीं, ऐसा सिद्ध होता है। किन्तु आप कहते हैं कि आचार्यद्वारा तत्त्वमसि आदि वेदवाक्योंमे मुमुक्षुको ब्रह्मका अपरोक्ष ज्ञान हो जाता है। यह कैसे?

समाधान—किसी मनुष्यको यदि अपने मुँहके होनेकी बातपर विश्वास हो जाय तो भी उसे स्वयं अपना ही मुँह आरसी आदि उपाधियोंके बिना कभी नहीं दिखायी दे सकता। अथवा चक्षुरिन्द्रियसे जो अग्राह्य अत्यन्त सूक्ष्म जन्तु है, उसका ज्ञान सूक्ष्मपदार्थदर्शक दूरबीनके बिना होना सम्भव नहीं। दूरबीनकी सहायतासे उस सूक्ष्म जन्तु-का औपाधिक स्थूलत्व मालूम कर उसका ज्ञान प्राप्त किया जाता है। दृश्य पदार्थोंके विषयमें यह बात सबको मालूम है। ब्रह्म—आत्मा तो निरवयव, अरूप, निर्गुण है, इस कारण आरसी अथवा दूरबीनकी सहायतासे किसी भी इन्द्रियके द्वारा उसका ग्राह्य होना सम्भव नहीं। पञ्च-ज्ञानेन्द्रियाँ तो अपने-अपने उपादानभूत आकाशादिके गुणोंका अर्थात् केवल शब्दादि विषयोंका ज्ञान कराती हैं। आत्मा निर्गुण है, अतएव किसी भी ज्ञानेन्द्रियसे उसका ज्ञान नहीं हो सकता। इन्द्रियोंके सन्निकट होनेपर किसी पदार्थका प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, ऐसा नैयायिक मानते हैं। परन्तु कुछ पदार्थोंका 'दशमस्त्वमसि' के अनुसार शब्दोंसे ही प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। इन्द्रियके सान्निध्यके द्वारा अथवा शब्दद्वारा अन्तःकरणकी वृत्ति ज्ञेयपरसे अज्ञानके आवरणको दूर करती है और अन्तःकरणस्थित आत्म-चैतन्यका आभास उस-उस आत्मभिन्न जड पदार्थको प्रकाशित करता है अर्थात् आवरणका नाश हो जानेके बाद अन्तःकरणकी वृत्ति ज्ञेय पदार्थके आकारकी हो जाती है। उसीके साथ वृत्तिमें आया हुआ आत्मज्ञानका आभास ही उस पदार्थके आकारका हो जाता है, जिससे उस पदार्थ-का ज्ञान होता है, ऐसा कहते हैं।

शंका—हाँ, यह तो हम समझ गये कि जड पदार्थका ज्ञान अन्तःकरणकी वृत्तिसे होता है। परन्तु आत्माका ज्ञान इन्द्रियों अथवा शब्दकी सहायतासे होना कैसे सम्भव है?

समाधान—मुख्य शंकाका समाधान समझनेके लिये अन्तःकरणकी जैसी भूमि तैयार होनी चाहिये, वैसी तैयार होनेके लिये ही जड पदार्थके ज्ञानकी प्रक्रिया ऊपर कही गयी है। उसमें मुख्य रहस्य यह है कि आत्मभिन्न जड पदार्थको वृत्तिसे व्याप्त कर आभासके तदाकार हुए बिना

जड पदार्थका ज्ञान होना सम्भव नहीं। अन्तःकरणकी वृत्ति जो पदार्थमें व्याप्त होती है, उसे वृत्तिव्याप्ति कहते हैं। और अन्तःकरणकी वृत्तिमे जो चिदाभास रहता है उसे शास्त्रकी भाषामें 'फल' कहते हैं। उस आभासकी जड पदार्थमें जो व्याप्ति है, उसे फलव्याप्ति कहते हैं। कहनेका तात्पर्य, जड पदार्थका ज्ञान होनेके लिये वृत्तिव्याप्ति और फलव्याप्तिकी आवश्यकता है। इन दोनों व्याप्तियोंके बिना जड पदार्थका ज्ञान होना सम्भव नहीं। परन्तु ब्रह्म-आत्मा जड नहीं है, स्वप्रकाशमान है तथा उसके ऊपर अनादि अविद्याका आवरण है। अब अन्तःकरणकी वृत्तिके द्वारा उस आवरणके नष्ट होनेपर अर्थात् पूर्वोक्त निष्काम कर्म और निष्काम भक्तियोगके द्वारा शुद्ध और स्थिर हुए अन्तःकरणमे, अन्तःकरणस्थित ब्रह्मात्मचैतन्यकी सच्चिदानन्दरूपसे सहज अभिव्यक्ति होती है। इसीको ब्रह्मापरोक्ष ज्ञान कहते हैं। प्रकाशमान सूर्य जब बादलोंसे आच्छादित रहता है तब यथार्थरूपमे नहीं दिखायी पड़ता। बादलके कारण सूर्यदर्शन नहीं होता, यह सूर्यके ही सामान्य प्रकाशसे मालूम होता है, परन्तु बादलके आच्छादनके द्वारा सूर्यके यथार्थ स्वरूपका भान नहीं होता। हवा चलनेसे वे बादल जब दूर हो जाते हैं तब सूर्यका स्पष्ट दर्शन होता है। उस समय लोक-व्यवहारमे यह कहा जाता है कि हवाने सूर्यदर्शन करा दिया। किन्तु वस्तुतः हवाने केवल बादलोंको दूर किया, सूर्यको तैयार नहीं किया। श्रीज्ञानेश्वर महाराजने गीताके १८ वें अध्यायके ५५ वें श्लोककी व्याख्यामें दो-तीन दृष्टान्त देकर इसी सिद्धान्तको बतलाया है—

वारा आभाळचि फेडी। वांचूनि सूर्यातें न घडी।
कां हातु बाबुळी बाडी। तोय न करी॥ १२३१॥
तैसा आत्मदर्शनीं आडळु। असे अविद्येचा जो मळु॥
तो शास्त्र नाशी येरु निर्मळु। मी प्रकाशें स्वयें॥१२३२॥
म्हणौनि आघवींचि शास्त्रें। अविद्या विनाशाचीं पात्रें।
वांचोनि न होतीं स्वतन्त्रें। आत्मबोधीं॥१२३३॥

अर्थात् हवा बादलोंके आवरणमात्रको दूर करती है। सूर्यको तैयार नहीं करती। अथवा पानीपर जमी हुई काईको एक किनारे कर देती है, वह पानीको तैयार नहीं करती, पानी तो काईके नीचे रहता है।

इसी प्रकार स्वप्रकाशानन्द आत्माका ज्ञान होनेमे प्रतिबन्धक जो अविद्याका मल है, उस मलका नाश शास्त्र करते हैं। हे अर्जुन! उस मलका नाश होनेके बाद अत्यन्त निर्मल अन्तःकरणमे स्वप्रकाशमान परमात्मा स्वतः ही अभिव्यक्त होता है। अर्जुन! सब शास्त्र केवल अविद्याका ही नाश करनेवाले हैं। यथार्थ आत्मबोध करा देना शास्त्रके हाथकी बात नहीं है।

इसी उद्देश्यसे समन्वयाधिकरणमें—

अविद्याकल्पितभेदनिवृत्तिपरत्वाच्छास्त्रस्य। न हि शास्त्रमिदन्तया विषयभूतं ब्रह्म प्रतिपिपादयिषति किं तर्हि? प्रत्यगात्मत्वेनाविषयतया प्रतिपादयदविद्याकल्पितं वेद्यवेदितृवेदनादिभेदमपनयति।

—ऐसा कहा गया है। इसका अर्थ है कि ऋग्वेदादि शास्त्र सच्चिदानन्द ब्रह्मको 'इदत्वसे' अर्थात् अङ्गुलीनिर्देश करके जिज्ञासुको नहीं दिखाते कि यह ब्रह्म है। जीवके लिये आत्मरूप अविषय होनेसे ब्रह्मके प्रति उसमें अविद्याकल्पित वेद्यवेदितृवेदनादि भेद उत्पन्न हो जाते हैं जिससे वह ब्रह्मसे दूर हो जाता है, इसलिये शास्त्र केवल अविद्याकल्पित मिथ्या भेद-प्रतीतिका नाशभर करते हैं। कल्पित भेद निवृत्त हो जानेपर महावाक्यके श्रवणसे स्वप्रकाशमान ब्रह्म आत्मत्वसे अन्तःकरणमे अभिव्यक्त होता है। इसीका नाम ब्रह्मापरोक्ष ज्ञान है।

इस सम्पूर्ण विवेचनसे ऐसा मालूम होता है कि क्या वेद-वाक्य अथवा क्या अन्य शास्त्र, किसीके द्वारा साक्षात् आत्मज्ञान होना सम्भव नहीं। तब शास्त्रोंका उपयोग क्या है? ऐसा यदि कोई कहे तो इसका उत्तर यह है कि यद्यपि ब्रह्म स्वप्रकाशमान है, सब जीवोंका आत्मा है, उसीके ज्ञानके आश्रयपर सब लौकिक और वैदिक व्यवहार चलते हैं, फिर भी जीवोंके अन्दर सच्चिदानन्दब्रह्मरूप आत्मा है, ऐसा ज्ञान नहीं होता, अतएव यह मानना होगा कि स्वप्रकाशानन्द आत्माके ऊपर अविद्याका आवरण है। उस आवरणका नाश गुरुद्वारा वेदान्तमहावाक्य सुननेसे ही होता है, दूसरे किसी उपायसे नहीं होता। इसी कारण उपनिषदोंका ऐसा सिद्धान्त है कि आचार्यद्वारा महावाक्य सुननेसे ब्रह्मात्मैक्य अपरोक्ष ज्ञान होता है। अवश्य ही वेदवाक्य ब्रह्मको अङ्गुलीनिर्देश करके सामने दिखा नहीं देते। इसी अर्थमें 'यतो वाचो निवर्तन्ते' आदि श्रुतिने कहा है। परन्तु अन्तःकरण यदि अत्यन्त शुद्ध हो तो वेदान्तमहावाक्यके द्वारा उसमें ब्रह्मस्वरूपकी अभिव्यक्ति

होती है। इसीका 'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या' (तीव्र बुद्धिसे देखा जाता है), 'मनसैवेदमाप्तव्यम्' (मनसे प्राप्त होता है)' आदिके द्वारा श्रुतिने प्रतिपादन किया है। यही तुम्हारी शङ्काका समाधान है।

इन सब बातोंका मतलब यह है कि मुमुक्षुको आत्म-ज्ञान प्राप्त करनेके लिये कुछ करनेकी आवश्यकता नहीं होती, आत्मा तो प्रतिक्षण अन्तःकरणमें अभिव्यक्त है। परन्तु बुद्धिके अन्दर भेदकी सत्यताका निश्चय है। इस प्रतिबन्धके कारण जीवको स्वच्छ आत्माका ज्ञान नहीं। जबतक उस स्वच्छ आत्माका ज्ञान नहीं होता तबतक जीवके संसारसे मुक्त होनेकी सम्भावना नहीं। इस कारण भगवान् शंकराचार्यने गीताके १८ वें अध्यायके ५० वें श्लोककी व्याख्याके अन्तमें—

तस्माज् ज्ञाने यत्नो न कर्तव्यः किं त्वनात्मबुद्धिनिवृत्तावेव, तस्माज् ज्ञाननिष्ठा सुसम्पाद्या।

—कहकर यह बतलाया है कि निष्काम कर्मयोग, भक्तियोग, अष्टांगादि योग, ध्यानादि अनन्त योग इत्यादि सब तरहके योग ज्ञानयोगके ही अंग हैं। इन अंगोंकी सहायतासे आत्मस्वरूप ज्ञानके प्रतिबन्धक अज्ञानावरणको दूर करना चाहिये और गुरुद्वारा प्राप्त महावाक्यकी सहायतासे ब्रह्मका अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त करना चाहिये और मुक्त होना चाहिये। यही वैदिक शब्दोंद्वारा अपरोक्ष ज्ञानोत्पत्तिकी प्रक्रिया है जो संक्षेपसे यहाँ कही गयी है।

सम्पूर्ण योग

(लेखक—पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर)

प्राचीन ऋषि-मुनियोंद्वारा जो धर्म मानवजातिके उद्धारके लिये प्रकाशित हुआ, उसमें 'योगसाधन' को प्रधान स्थान प्राप्त है। यदि मानव-धर्मसे योगसाधनको पूर्णतया हटा दिया जाय तो फिर उसमें कोई विशेष महत्त्वकी बात ही नहीं रह जायगी। योगसाधनका ऐसा महत्त्व अपने सनातन वैदिक धर्ममें बताया गया है।

अगर अपनी भाषाका निरीक्षण किया जाय तो उसमें भी योगकी सार्वत्रिक उपयोगिताका पता लगता है। भाषामें 'प्रयोग, संयोग, वियोग, नियोग, अधियोग, अतियोग, सुयोग, उद्योग, अभियोग, प्रतियोग, उपयोग' इत्यादि अनेक शब्द प्रयोगमें आते हैं। ये सब भी 'योग' ही हैं। यदि इन योगोंका उपयोग भाषामें न किया जाय तो भाषा कितनी अधूरी हो जायगी, इसका ज्ञान प्रत्येक भाषाभाषीको सहजमें ही हो सकता है। भाषामें योगका यह सार्वत्रिक प्रयोग सिद्ध करता है कि भाषाकी पूर्णताके लिये 'योग' की अत्यन्त आवश्यकता है।

भाषा क्या है? भाषा आत्माका ही प्रकाश है। आत्मा बुद्धिके साथ युक्त होकर अपने जो भाव प्रकट करता है, वही भाषा है। अर्थात् भाषा आत्माका भाव है अथवा प्रभाव है। और वह पूर्वोक्त योगोंके बिना प्रकट नहीं हो सकता। इसीलिये कहा जाता है कि आत्माका प्रकाश प्रकट होनेके लिये 'योग' की आवश्यकता है।

आर्य वैद्यकमें औषध-योजनाको 'योग' कहते हैं। ज्योतिषशास्त्रमें ग्रहोंके योगको भी 'योग' कहा जाता है। गणितशास्त्रमें भी 'योग' है। इस तरह देखा जाय तो योगके बिना कोई शास्त्र नहीं है, यह बात स्पष्ट हो जायगी। योगकी व्यापकता यहाँतक है कि 'वियोग' में भी 'योग' की आवश्यकता है, फिर 'संयोग' में आवश्यकता है—यह कहनेकी तो आवश्यकता ही क्या है?

इस तरह भारतीय ऋषि-मुनियों तथा तपस्वियोंने योगका मानवजीवनके साथ अटूट सम्बन्ध देखा और अनुभव भी किया। इस समयमें भी प्रत्येक व्यक्तिको इस सम्बन्धका अनुभव करना चाहिये।

सभी शास्त्रोंमें 'योग' कहा गया है। पातञ्जल योग-दर्शनमें 'योगसाधन' का ही विचार किया गया है; कपिलमुनिके सांख्यदर्शनने भी 'सांख्ययोग' कहा है, पूर्वमीमांसामें 'कर्मयोग' कहा है, उत्तरमीमांसामें 'ब्रह्मयोग' है, श्रीमद्भागवतादि पुराणोंमें भक्तियोग है।

इस तरह अनेक ग्रन्थकार इस योगतत्त्वका विवेचन करनेमें ही प्रवृत्त हुए दीखते हैं। अतः हम कह सकते हैं कि सब आर्यशास्त्रोंका एकमात्र उद्देश्य यही है कि धर्म-जिज्ञासुओंके मनमें इस योगतत्त्वको स्थिर कर दिया जाय।

इतना प्रयत्न होनेपर तो हम सब सनातनधर्मियोंके मनमें योगकी प्रवृत्ति होनी चाहिये, परन्तु ऐसा देखा नहीं जाता। विरले ही कोई योगसाधनमें लगते हैं, बाकी लोग वैसे ही कोरे रह जाते हैं जैसे योगके प्रचारके लिये कोई प्रयत्न ही न हुआ हो। ऐसा क्यों? इस प्रश्नका विचार करनेका समय आ गया है। जो लोग धार्मिक हैं, उन्हें इसका विशेष विचार करना चाहिये।

हमारे विचारमें इसका मुख्य कारण है 'सम्पूर्ण योगकी अवहेलना और अपूर्ण योगकी ओर अधिक झुकाव।' प्रायः लोग समझते हैं कि भक्तियोग, कर्मयोग, ज्ञानयोग, हठयोग, लययोग, ध्यानयोग आदि सब योग एक दूसरेसे पृथक् हैं और एकका दूसरेके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। यह विचार इतना दृढ़ हो गया है कि योगमार्गका अनुसरण करनेवाले साधक भी अपने-आपको दूसरोंसे पृथक् समझते हैं; अर्थात् भक्तिमार्गी लोग अपने-आपको हठयोगियोंसे पृथक् मानते हैं। इसी तरह ज्ञानमार्गियोंका कर्ममार्गियोंसे विरोध है और यह विरोध ग्रन्थोंमें भी स्पष्ट दिखायी देता है।

क्या भक्ति, ज्ञान, कर्म आदि परस्परविरोधी मार्ग हैं? क्या दूसरे मार्गका स्पर्श भी न कर केवल भक्ति, केवल कर्म अथवा केवल ज्ञानका अनुष्ठान होना सम्भव है? हमारे विचारसे सम्भव नहीं है। परन्तु कर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्गका परस्पर विरोध भाष्यकारोंने भी मान लिया है। और ऐसा भी मानने लगे हैं कि ये सब मार्ग एक ही केन्द्रबिन्दुको प्राप्त होनेवाले हैं, फिर भी ये परस्पर भिन्न हैं।

यदि ये सब मार्ग भिन्न-भिन्न हैं तो यह निश्चित है कि इनमेंसे कोई मार्ग 'सम्पूर्ण' नहीं है। जो योग 'सम्पूर्ण' होगा, वह किसीसे भी भिन्न नहीं हो सकता।

हठयोगी कहते हैं कि हम आसन-प्राणायामादिके अभ्यासके द्वारा प्राण स्थिर करते हैं और चित्तकी एकाग्रता साधते हैं, ज्ञानयोगी कहते हैं कि हम विशेष मननादि साधनसे स्थिरताका साधन करते हैं, कर्मयोगी कहते हैं कि हम कर्म करनेमें ही अपना जीवन समर्पित कर देते हैं, भक्त कहते हैं कि हम नाम-स्मरण आदि करते हैं। इस तरह प्रत्येक साधक अपने मार्गको दूसरोंसे पृथक् समझता है। इसका फल यह होता है कि हठयोगी आसनोंसे शरीर और प्राणायामके द्वारा प्राणोंपर विजय प्राप्त करता है, ज्ञानयोगी मननके द्वारा मनपर अच्छे संस्कार जमाता है; कर्मयोगी कर्मेन्द्रियोंसे प्रयत्न करता है और भक्तिमार्गी नामस्मरण आदिमें ही लगा रहता है। इनमेंसे एक शरीरका आश्रय करता है, दूसरा प्राणपर निर्भर करता है, तीसरा मनका उपयोग करता है, चौथा कर्मेन्द्रियोंका उपयोग करता है और पाँचवाँ स्मरणशक्तिका आश्रय लेता है। इस तरह इनमेंसे एक भी सम्पूर्ण मानवशक्तियोंका उपयोग नहीं करता। हर एक प्रकारका साधक एक-एक शक्तिका उपयोग करता है और इसीलिये अपने आपको दूसरेसे पृथक् अनुभव करता है तथा इस पृथक्त्वमें उसे अपूर्णता-का भी अनुभव होता है।

मनुष्यके पास आत्मा, बुद्धि, मन, प्राण, इन्द्रियाँ, पञ्चभूत आदि अनेक पदार्थ हैं। इन सबका एक साथ योग होनेपर ही 'सम्पूर्ण योग' हो सकता है। जो यह कहते हैं कि हम केवल प्राणोंका साधन करते हैं, अथवा केवल अपने आत्माको ही परमात्माके साथ मिलाते हैं, वे अंशका योग करते हैं, उनके सम्पूर्ण अङ्गोंके साथ योग नहीं होता। अतः वे अपूर्ण योग करते हैं और इसलिये पृथक्त्वका अनुभव करते हैं।

वस्तुतः देखा जाय तो केवल एक ही शक्तिका प्रयोग करना असम्भव है। अर्थात् हठयोगी जो यह कहते हैं कि हम आसन-प्राणायाम आदिके द्वारा केवल शरीरावयव और प्राणका ही अनुष्ठान करते हैं, वे गलती करते हैं। आत्मा, बुद्धि, मन, प्राण, इन्द्रिय, पञ्चभूत आदि सबका उपयोग किये बिना न हठयोगका अनुष्ठान हो सकता है और न अन्य योगोंका। थोड़ा-सा विचार करनेपर यह स्पष्ट तौरपर मालूम हो जायगा कि प्रत्येक योगमें सब साधनोंका न्यूनाधिक उपयोग होता ही है। परन्तु साधक यह अनुभव नहीं करता कि मेरे अनुष्ठानमें 'सम्पूर्ण योग' का अनुष्ठान हो रहा है, बल्कि भ्रमसे यह मानता है कि मेरा साधन-मार्ग दूसरोंके साधन-मार्गसे भिन्न है, पृथक् है। जो इस भ्रममें ही मस्त रहते हैं वे 'सम्पूर्ण योग' के लाभसे वञ्चित रह जाते हैं और अपूर्णताका अनुभव करते हैं। इतना ही नहीं, ऐसे ही लोग साधनमार्गोंके आपसी झगड़के

हेतु बनते हैं और इस तरह योगका सर्वव्यापक उन्नतिका साधन प्राप्त होनेपर भी वे उसके सम्पूर्ण लाभसे वञ्चित रह जाते हैं।

बहुत-से साधक यह समझते हैं कि योगकी सिद्धि आत्माका परमात्माके साथ मिलाप हो जाना है; अर्थात् वे यह समझते हैं कि हमारे मन, बुद्धि, प्राण, इन्द्रिय और पञ्चभूत आदिका परमात्माके साथ योग नहीं होता है। यही 'अपूर्ण योग' अथवा 'सम्पूर्ण योगका अपूर्ण ज्ञान' है और यही बहुत बड़ा घात करनेवाला है तथा नाश कर रहा है। ऋषि-मुनियोंने तो हमें सम्पूर्ण योगसाधन दिया, परन्तु उसे हमने ग्रहण नहीं किया, केवल उसके एक-एक अंशको लेकर ही हम आपसमें झगड़ रहे हैं और इसीलिये योगसाधनके सम्पूर्ण लाभसे वञ्चित हो रहे हैं।

साधकोंको यह समझ लेना चाहिये कि जबतक वे इस अपूर्ण साधनमें विचरते रहेंगे तबतक उनको पूर्णत्वका अनुभव नहीं होगा। अब प्रश्न यह होता है कि 'सम्पूर्ण योग' का लक्षण क्या है और उसका साधन कैसे करना चाहिये?

जिस योगमें एक ही साथ सम्पूर्ण मानवी शक्तियोंका योग परमात्माकी सम्पूर्ण शक्तियोंके साथ होता है वह 'सम्पूर्ण योग' है और वह स्वरूपज्ञान होनेके बाद ही हो सकता है।

यहाँ सहज ही यह प्रश्न पाठक कर सकते हैं कि परमात्माकी और जीवात्माकी शक्तियाँ कौन-सी हैं? गीतामें श्रीभगवान् कहते हैं—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥

(७। ४-५)

पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहंकार यह आठ प्रकारकी अपरा प्रकृति और नवीं जीवरूपी परा प्रकृति है। अर्थात् यह नौ प्रकारकी ईश्वरकी प्रकृति है। क्या यह नौ प्रकारकी प्रकृति जीवके पास नहीं है? क्या पञ्चभूत, मन, बुद्धि, अहंकार तथा जीवनकला मनुष्यके पास नहीं है? है, अवश्य है। इससे यह सिद्ध होता है कि जो नौ शक्तियाँ परमेश्वरके पास हैं, वे ही मनुष्यके पास भी हैं। फिर मनुष्य केवल एक ही शक्तिका योग क्यों करता है? परमात्माकी सम्पूर्ण शक्तियोंके साथ अपनी सम्पूर्ण शक्तियोंका योग क्यों नहीं करता? विचार करनेपर यह मालूम होता है कि मनुष्य ऐसा अवश्य कर सकता है। तब इस तरहका 'सम्पूर्ण योग' कैसे किया जाय, इसीका अब विचार करें।

साधकको पहले यह विचार करना चाहिये कि ईश्वरकी प्रकृतिमें जो नौ तत्त्व हैं, वे ही हमारे अन्दर भी हैं। परमेश्वरकी प्रकृति इस समूचे विश्वमें पूर्णतया व्याप्त है, कोई स्थान उससे रिक्त नहीं। इसी कारण ईश्वरको 'सर्व', 'विश्व' कहते हैं। (विश्वं विष्णुः। पुरुष एवेदं सर्वम्।) जब परमेश्वर 'सर्व' है तब यह सब रूप उसीका रूप हुआ, जिसके अन्दर साधक भी हैं। इस तरह साधकको अपने-आपको महासागरके अन्दरके एक जलबिन्दुके समान समझना चाहिये। जो तत्त्व सम्पूर्ण महासागरमें है वही एक जलबिन्दुमें भी है। इसी तरह जो नौ तत्त्व ईश-प्रकृतिमें हैं, वे ही साधककी प्रकृतिमें भी हैं और ईश्वरकी महती प्रकृतिमें साधककी अल्प प्रकृति सम्मिलित है। महासागर प्रभु है और साधक उसीका एक बिन्दुरूप। इस भावनामें साधकको स्थिर होना चाहिये। और यह विचार करके देखना चाहिये कि अपने पृथ्वी-तत्त्वके साथ ईश्वरकी प्रकृतिका पृथ्वी-तत्त्व मिला है या नहीं, गन्धसे पृथ्वी-तत्त्वका ज्ञान होता है। क्या कोई ऐसा स्थान है जहाँ गन्ध न हो? अपने शरीरमें गन्धवती पृथ्वी है, वैसे ही सम्पूर्ण विश्वमें भी है। क्या अपने शरीरकी गन्धवती पृथ्वी विश्वरूपी ब्रह्माण्डकी ईशप्रकृतिसे पृथक् है? पृथक् कहाँसे हो सकती है? गन्धमें गन्ध मिला हुआ है। इसी तरह अपने शरीरके जल, तेज, वायु, आकाश आदि तत्त्वोंके साथ विश्वप्रकृतिके ये तत्त्व कैसे मिले हुए हैं, इसका अनुभव करें। विवेकपूर्वक यह निश्चय करना चाहिये और इसका अनुभव करना चाहिये कि ईशके विश्वव्यापक शरीरसे मेरा शरीर पृथक् नहीं है। जैसे कपड़ेमें सूत्रका भाग है वैसे ही उस प्रभुमें मैं हूँ। न मैं उससे पृथक् हूँ और न वह मुझसे पृथक् है।

जबतक मनमें ऐसा निश्चय न हो जाय तबतक बार-बार विचार करके ऐसा अनुभव करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। और यह बात जाननी चाहिये कि किस तरह अपनी प्रकृति ईश्वरकी प्रकृतिके साथ मिली हुई है। जब यह अनुभूति होगी तभी यह ज्ञान प्राप्त होगा कि अपनी प्रकृतिका सम्पूर्ण योग

परमात्म-प्रकृतिके साथ सदा-सर्वदा है ही । सम्पूर्ण योगके अभ्यासका यह प्रथम पाठ है ।

इस योगमें यह भावना कि, 'मैं प्रभुके साथ सर्वदा संयुक्त हूँ' सदा जाग्रत् रहनी चाहिये । 'मैं अलग हूँ और वह अलग है'—यह भाव यहाँ है ही नहीं । अपनी सब शक्तियाँ उसके साथ नित्य सम्बद्ध हैं । यही अनुभव करना यहाँका अनुष्ठान है ।

इसके आगेका दूसरा पाठ यह है कि क्या ये पञ्चमहाभूत थक् सत्ताधारी हैं अथवा एक ही सत्तत्त्वके ये पाँच गुण ारी पाँचों इन्द्रियोंको पाँच अनुभव दिला रहे हैं ?

पाँच अन्धे हाथी देखने गये । एकने जाकर पाँवका र्श किया तो उसको हाथी स्तम्भ-जैसा प्रतीत हुआ, सरेको कान स्पर्श करनेपर सूपके समान मालूम हुआ । इसी पाँचों अन्धोंने हाथीका वर्णन पाँच प्रकारसे किया । अनुभव ऐसा ही था, अवश्य ही अनुभव अपूर्ण था । शा हमारी इन्द्रियोंकी है । एक सत्तत्त्वके साथ जब काम करती है तब उसे उसका रूप दीखता है और कान कार्य करता है तो उसे शब्द सुनायी देता है । पृथक् अनुभव आँख, कान, नाक, जिह्वा और त्वचाकी नेजी आन्तरिक घटनाके कारण होता है । वस्तुतः जिसके गुण अनुभवमें आते हैं, वह तत्त्व एक ही है । उस तत्त्वमें यक्-पृथक् भाव नहीं है । जैसे आमका पीला रंग आँख खती है, उसका स्पर्श हाथ करता है, उसका स्वाद जिह्वा लेती है, उसका शब्द कान सुनता है और उसकी गन्ध नाक लेती है, पर आम तो एक ही है, वैसे ही मूल सत्तत्त्व एक ही है, किन्तु उसका सम्बन्ध ज्ञानेन्द्रियोंसे होनेपर, पृथक् गुण अनुभूत होते हैं । एक ही सत्तत्त्वके अनेक गुण प्रतीत होते हैं ।

इस तरह विचारद्वारा एक तत्त्वका अभ्यास करना चाहिये । पहले अभ्याससे यह ज्ञान हुआ कि अपनी प्रकृतिके पञ्चतत्त्वोंके साथ ईश-प्रकृतिके पञ्चतत्त्व मिले हैं । इस अभ्याससे यह अनुभव प्राप्त हुआ है कि जीव और शिवमें एक ही तत्त्व है और वह सब परस्पर मिला हुआ है, उसमें पार्थक्य बिल्कुल नहीं है । यह 'सम्पूर्ण योग' का दूसरा पाठ है ।

पञ्चतत्त्वोंका एकीकरण इस तरह प्रत्यक्ष अनुभवमें आ सकता है । यह केवल कल्पनाकी बात नहीं है । पाठक विचार करें और अपने शरीरके पञ्चतत्त्व विश्वव्यापी पञ्चतत्त्वोंके साथ मिले हुए हैं, इसको अनुभव करें अथवा जिस एक तत्त्वके पाँच गुण पाँच इन्द्रियोंद्वारा प्रतीत होते हैं, वह एक तत्त्व जैसा अपने शरीरमें है वैसा ही सम्पूर्ण विश्वमें व्याप्त है, इस बातको विचार करके जान लें । यह जानते ही अपनी सम्पूर्ण शक्तियोंका सम्पूर्ण योग विश्व-व्यापक शक्तियोंके साथ हो जाता है और 'नेह नानास्ति किञ्चन' का अनुभव होता है । यही अखण्ड एकताका अनुभव है ।

पाठक कहेंगे कि यह तो प्राकृतिक तत्त्वोंकी एकता है । सच है । पर पहले यही एकता मनमें स्थिर होनी चाहिये । क्योंकि प्रकृतिमें बड़ी विभिन्नता है । यदि यह प्राकृतिक विभिन्नता हट जाय तो मानसिक, बौद्धिक और आत्मिक एकता समझनेमें कठिनाई न होगी ।

जब पञ्चमहाभूतोंका योग हो गया तब उसके बाद मनका विचार करना चाहिये । मन क्या करता है ? मन मनन करता है और सर्वत्र 'सत्ता, भान और प्रियता' का अनुभव करता है । साधक यदि विचार करके देखेंगे तो उन्हें पता लगेगा कि मनद्वारा तीन प्रकारके अनुभव होते हैं—(१) 'यह सब है', (२) 'यह मुझे प्रतीत होता है', और (३) 'यह मुझे प्रिय है ।' इन्हीं अनुभवोंका संक्षिप्त नाम है—'सत्-चित्-आनन्द' । अस्ति-भाति-प्रियत्व भी इनको कहते हैं । देखनेवाला अपने अतिरिक्त सम्पूर्ण जगत्में ये तीन अनुभव करता है । यदि साधक अपने साथ सम्पूर्ण विश्वमें ये तीन अनुभव लेनेका यत्न करेगा तो इस तरह भी उसका 'सम्पूर्ण योग' सिद्ध होगा ।

इस सम्पूर्ण विश्वका मैं एक अंग हूँ और मेरे साथ जो यह सम्पूर्ण विश्व है, वह है, वह प्रतीत होता है और वह प्रिय है । ऐसा अनुभव होनेपर मनका विश्वव्यापक मनके साथ सम्पूर्ण योग हो जायगा । पार्थक्यका ज्ञान करानेवाला मन भी इस तरह विश्वरूपके साथ एक हो जायगा ।

प्रथम पञ्चज्ञानेन्द्रियोंके द्वारा पञ्चभूतोंका ज्ञान हुआ, वह अब जाता रहा और एक ही वस्तुके तीन पहलुओंका ज्ञान हुआ । जो वस्तु (अस्ति) है, वही (भाति) प्रतीत होती है और वही (प्रिय) प्रेमरूप है । अणु-रेणुको इन तीन भावोंमें देखिये, उसमें अपने-आपको मिलाकर अपना पृथक्त्व हटानेका प्रयत्न कीजिये । इस तरहसे

अभ्याससे यह ज्ञान उत्पन्न होगा कि सब वस्तु एक ही है। यह सम्पूर्ण योगका तीसरा पाठ है। इसमे पञ्चतत्त्व हट जाते हैं और केवल तीन भाव ही रह जाते हैं। सम्भवतः ऐसा भी अनुभव होने लगता है कि ये एक ही वस्तुके तीन भाव हैं।

इसके बाद बुद्धि आती है, वह कहती है कि यहॉ न तो पञ्चतत्त्व हैं, न तीन भाव ही हैं, केवल जड और चेतन दो ही वस्तुएँ हैं। विश्वमे कुछ जड और कुछ चेतन दिखायी पड़ता है। ऐसा दीखता भी है और अनुभवमे भी आता है। जो जड है वह चेतन नहीं है और जो चेतन है वह जड नहीं है। अतएव बुद्धिद्वारा केवल ये दो पदार्थ निश्चित होते हैं। इन्द्रियोंके सम्बन्धसे हमने पॉच पदार्थ निश्चित किये थे, मनके द्वारा तीन किये थे, अब बुद्धिके द्वारा केवल दो ही निश्चित होते हैं—जड और चेतन। विश्वमें जड भी है, चेतन भी। साधकमे शरीर जड है और जीव चेतन। अतएव जो जड-चेतन विश्वभरमे हैं वे ही साधकमें भी हैं। ऐसा विचारकर साधकको अपना जडभाग विश्वके जडके साथ और अपना चेतन विश्वव्यापक चेतनके साथ मिला देना चाहिये। अब हम किस रूपमे अलग रहे? अपने साथ जो सम्पूर्ण विश्व है उसमें केवल दो ही पदार्थ रह गये हैं—एक जड और एक चेतन। शेष पञ्चमहाभूत, अस्ति-भाति-प्रियत्व अथवा सत्त्व, रज, तम सब उसी जड-चेतनके अन्तर्गत आ गये।

अब साधक अलग कहॉ रहा? वह तो विश्वव्यापी जड-चेतनमे ही मिल चुका है। अब यह प्रश्न उठता है कि क्या जड और चेतन पृथक्-पृथक् है? यहॉ आत्माको साक्षीरूपमे देखना चाहिये। जाग्रतिमे जब यह देखता है तभी उसको ऐसा प्रतीत होता है कि यह जड है या चेतन। और तभी इनका अस्तित्व भी होता है। यदि यह द्रष्टा सो जाय और जागे ही नहीं तो कौन किसको जड कहेगा और कौन किसको चेतन? अतः इस द्रष्टाका ज्ञान ही यह सब होता है, द्रष्टाका स्वरूप ही ज्ञान है जो इस विश्वमे परिणत होता है। फिर द्रष्टासे भिन्न कौन-सा पदार्थ कहॉ रहा? जड और चेतनरूप जो यह भेद है वह इसीके निज रूपका भेद है।

अब साधक इस चतुर्थ पाठके समय स्वय ही सब कुछ बन गया। अब वह यह कहता है कि जब मै देखता हूँ तब यह सब है, नहीं तो नहीं है अर्थात् मुझसे भिन्न कुछ भी नहीं है, मैं ही सब कुछ हूँ, मैं ही सम्पूर्ण हूँ। यह सम्पूर्ण योगका अन्तिम पाठ है। इस समय निम्नलिखित श्रुतिवाक्य ठीक समझमें आ सकता है—

अहमेवाधस्तादहमुपरिष्टादहं पश्चादहं पुरस्तादहं दक्षिणतोऽहमुत्तरतोऽहमेवेद ँ सर्वम् ॥

(छान्दो० ७। २५। १)

'मै ही नीचे, ऊपर, आगे, पीछे, दायीं और बायीं ओर हूँ, और मैं ही यह सब हूँ।' यह 'सम्पूर्ण योग' की सम्पूर्णता है। वेद, उपनिषद् तथा अन्यान्य शास्त्रोंमें यही योग कहा गया है। अन्य सब योग इसी योगके अङ्ग-प्रत्यङ्ग हैं और वे सब अपूर्ण योग हैं। यही सर्वाङ्ग सम्पूर्ण योग है। पाठक इसका मनन करें और पूर्ण बनें। अपूर्णतामें दुःख और पूर्णतामें सुख है। पाठक इस प्रकार सुखको प्राप्त कर सकते हैं।

अमर भये

(लेखक—स्व० योगिवर्य श्रीआनन्दघनजी 'यति')

अब हम अमर भये न मरेंगे।
या कारन मिथ्यात दियो तज क्योंकर देह धरेंगे॥
राग द्वेष जग बन्ध करत हैं इनको नाश करेंगे।
मर्‍यो अनन्त काल ते प्राणी सो हम काल हरेंगे॥
देह विनाशी, हूँ अविनाशी, अपनी गति पकरेंगे।
नाशी जासी, हम थिर वासी, चोखे ह्वै निखरेंगे॥
मर्‍यो अनन्त वार विन समझ्यो, अब सुख-दुख बिसरेंगे।
'आनँदघन' निपट निकट अक्षर दो नहि समरे सो मरेंगे॥

प्रेषक—पन्यासजी महाराज रीविरैण्ड

योगसिद्धिका रहस्य

(प्रेषक—श्रीनागेन्द्रनाथ शर्मा साहित्यालङ्कार, एम० आर० ए० एस०)

(१)

भूतजय तथा अष्टमहासिद्धि

स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद् भूतजयः ।

(पात० ३ । ४४)

इस सूत्रमे अणिमादि अष्टसिद्धियोंका पूर्वरूप भूतजय वर्णित है । ऋषि कहते हैं कि स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय और अर्थवत्त्व इन पॉचमें सयम प्रयोग करनेसे भूतजय होता है । स्थूल अर्थात् नाम-रूप जैसे घट आदि । स्वरूप—स्थूल उपादान जैसे मृत्तिका आदि । सूक्ष्म तन्मात्र—जैसे गन्धादि । अन्वय—प्रकाश, प्रवृत्ति, स्थितिरूप तीन गुण, ये सभी पदार्थोंमे अन्वित हैं । इसीसे तीन गुणों-को अन्वय कहा जाता है । अर्थवत्त्व—प्रयोजनत्व अर्थात् निर्लेप आत्माका भोगापवर्गसाधनरूप लीलाविलास । भूतादिका यही प्रयोजन है । दृश्य वस्तुमात्रके ये ही पॉच रूप हैं । क्रम-क्रमसे इन पॉचमें बार-बार सयमप्रयोग करनेसे भूतजय होता है । भूतोका यथार्थ स्वरूप प्रकाशित होना ही भूतजय है । भूतसमूह परमार्थतः नहीं हैं, उनकी सत्ता नहीं है, इसका प्रत्यक्ष होना ही भूतजय नामक विभूति है ।

स्थूलसे अर्थवत्त्वपर्यन्त पदार्थोंके जो पॉच तरहके रूप प्रदर्शित हुए, धीरभावसे उनके आदिसे अन्ततक प्रत्येकमे सयमप्रयोग करनेसे पृथिव्यादि भूतोका यथार्थ स्वरूप ज्ञात हो सकता है । एक रहस्य यह है कि उक्त पॉच प्रकारके रूपमें प्रथमसे ठीक-ठीकरूपसे सयम प्रयुक्त होनेसे पर-परका आविर्भाव अपने आप ही होता रहता है, उन्हे तलाश करके नहीं लाना पड़ता । मान लीजिये कि एक घट है । उस नामरूपात्मक प्रथम दृश्यमान पदार्थमें सयम-प्रयोग करनेसे ही उसका स्वरूप अर्थात् स्थूलोपादान जो पृथ्वी—क्षिति है वह प्रकाशित होगी ही । तब फिर उस अशमें सयम प्रयोग करनेसे उसके सूक्ष्म स्वरूप गन्ध तन्मात्र स्वरूप-मे उपनीत हुआ जाता है, उसमे सयत होनेसे सत्त्व, रज और तमोगुणरूप त्रिविध स्पन्दनमात्र पाया जाता है । यही पदार्थकी सूक्ष्म अवस्था है, इसीका नाम अन्वय है । त्रिगुणमें पहुँचनेसे तब इसका 'अर्थवत्त्व' प्रतीत होने लगता है । तीन गुण जो स्वरूपके अज्ञानसे उत्पन्न आवरण-विक्षेपात्मक एक प्रकारका लीलाविलासमात्र हैं, यह प्रत्यक्ष होने लगता है । इस प्रकार स्थूलसे कारणपर्यन्त पदार्थोंकी अवस्था प्रत्यक्ष होनेसे फिर भूत या पदार्थ कहनेको कुछ नहीं रहता । भूत प्रत्यक्षरूपसे वर्तमान रहनेपर भी वे परमार्थरूपसे नहीं हैं, यह दृढ विश्वास हो जाता है । तब यह भूतजयनाम्नी विभूति क्या है, समझमे आ सकती है । भूतोंका यथार्थ स्वरूप प्रकाशित होनेसे उनपरसे हेयो-पादेय बुद्धि सदाके लिये दूर हो जाती है । यही यथार्थ भूतजय है । साधारण मनुष्य भौतिक वस्तुओंको परमार्थ वस्तु जानकर उनके सग्रह और रक्षणादिमे पूर्णभावसे आत्मनियोग करते हैं । किन्तु भूतजयी योगी ऐसा कभी नहीं कर सकते, अथवा करते नहीं । जबतक यह ज्ञान नहीं होता कि यह स्वप्नमात्र है, तबतक ही स्वप्नके देखे हुए पदार्थ सत्य जान पड़ते हैं और उनके साथ सयोग-वियोगके कारण चित्तमें क्षोभ उत्पन्न होता रहता है । किन्तु स्वप्न एकदम भङ्ग हो जाय, तब फिर स्वप्नमें देखी वस्तुके नाश या प्राप्तिसे उत्पन्न चित्तविक्षेप नामको भी नहीं रहता, उस योगीको ठीक इसी प्रकार जगत् स्वप्नका स्वरूप जान पडता है, वह समस्त जगत्का आधिपत्य पाकर भी प्रसन्न नहीं होता, और सर्वस्व नाश भी हो जाय तो विचलित नहीं होता । भूतजय होनेसे योगीमें ये लक्षण प्रकट होते हैं । ये विभूतियाँ त्रैवर्गिकोके लिये कल्पितरूपसे सिद्ध होती हैं ।

४४ वें सूत्रका आभास

पृथिव्यादि पॉच भूतोकी पॉच अवस्थाएँ हैं, जिन्हे अवधारण कर सकनेसे महाभूत योगीके अधीन हो जाते हैं अर्थात् योगीके इच्छानुसार भूतोकी क्रिया होती रहती है । स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय और अर्थवत्त्व—इन पॉच भूतभावोंपर योगीको दृष्टि रखना आवश्यक है । जिस-जिस मूर्ति या आकारसे वह दर्शन देते हैं, वही उनका स्थूल भाव है । अर्थात् आपाततः पाषाण, मूर्तिमें परिणत होनेपर भी, जिस कार्यको करनेके लिये उस अवस्थामें आया है वही उसका स्वरूप है, यह स्वरूप और जिस अभिमानशक्तिके ऊपर निर्भर करके

प्रकाशित है वही सूक्ष्म भाव है। जगत्मे उद्देश्य या अभिप्रायरहित कोई पदार्थ नहीं है। जीवका अभिप्राय सहजमे प्रकाशित हो जाता है, जडका उद्देश्य छिपा रहता है। यह उद्देश्य या अभिप्राय ही जडकी सूक्ष्म मूर्ति है। यह उद्देश्य भी निरन्तर परिवर्तनशील है। कारण कि सुखदुःख एव मोहरूप सत्त्व, रज और तमोगुण ये ही उद्देश्यके अवयव हैं। ये तीन गुण ही जडकी मूर्ति गठन करते हुए अभिप्रायभेदसे कार्यमे नियुक्त करते हैं। इस कारण प्रत्येक दशामे तीनों गुणोका अन्वयभाव है, फिर इस परिणाम या भावान्तर होनेके उद्देश्यपर कटाक्ष करनेसे चित्त जब समझे कि परिणामसे भूतोंका अपना कुछ प्रयोजन नहीं है, अग्निको जलानेके लिये ही काष्ठकी चेष्टा है, वह व्यापार काष्ठका अपना कोई उद्देश्य नहीं है, यहाँतक कि अग्निकी सहायता करनेमे काष्ठ अपना शरीरतक खो देता है, उसी प्रकार प्रकृतिदेवी विचित्र क्रिया और रूपके उत्पादनमें चैतन्यस्वरूप पुरुषका आत्मसाक्षात्कार व्यापारमात्र घटाती है, और आप अन्तर्हित हो जाती है। अतएव पञ्चभूत और उनकी तन्मात्राएँ, जो-जो सृष्ट वस्तुएँ दीख पड़ती हैं, उनमेंसे अपने लिये कोई वस्तु नहीं रची है, सब जीवोंके भोगसम्पादनके लिये हैं। जैसे अन्न-व्यञ्जनादि जो वस्तुएँ तैयार होती हैं वे सब मनुष्यके भोजनार्थ हैं। उसी प्रकार जगत् केवल जीवोंके भोगके लिये है, यही भूतग्रामका अर्थवत्त्व है। इन पॉच भावोंमे सयम करनेसे पञ्चभूत योगीके अधीन होते है।

अतएव बाह्य भूतोंपर यदि आधिपत्य हो जाय तो आभ्यन्तरिक भूतग्राम भी योगीके वश हो जाता है, तब वह प्रत्येक पदार्थपर उक्त पाँच अवस्थाओंका समन्वय स्थापन करके सबको अपने वश कर सकता है। चित्त निश्चिन्त और निस्तरङ्गभावसे विश्राम करता था। उसका वह शान्त प्रवाह भङ्ग करते हुए अपनी मूर्तिसे जो अकस्मात् आकर्षण किया, वहीं विषयका स्थूलभाव है। अकस्मात एक आम्रफल देखकर उसका स्थूल भाव समझा। आकार-देखनेसे ही तो सन्तुष्ट नहीं हुआ जाता। यह क्या है? यह कहनेसे प्रश्नका उत्तर मिला—भोज्यकी योग्यता ही आम्रका स्वरूप है। कहाँ था? वृक्षकी चोटीपर हरसाल ही आता है। अतएव आम्रवृक्षके भीतर स्थित उत्पादिका शक्तिविशेष ही आम्र है। आम्र परिणत और सुपक्व होकर जीवका भोज्य होनेके सिवा अपने स्वार्थका उसने कुछ भी परिचय नहीं दिया। इसी भावसे योगी जब समस्त दृष्ट पदार्थोंको देखना सीखेगा तब उसका देखना समाप्त होगा और वस्तु भी उसकी दृष्टिके अनुसार ही गठित होगी।

ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत् तद्धर्मानभिघातश्च ॥४५॥

इस सूत्रमें अणिमादि आठ प्रकारकी विभूतियोंका वर्णन हुआ है। ऋषि कहते हैं कि 'भूतजय' होनेपर अणिमादिका प्रादुर्भाव होता है और कायसम्पत् प्राप्त होती है और उसके धर्मका अनभिघात होता है।

१—अणिमा—अत्यन्त सूक्ष्मत्व, अणुशब्दका अर्थ है सूक्ष्मत्व, आकाशीय भाव। सूक्ष्म और क्षुद्र एक बात नहीं है। साधारणतः परमाणुको क्षुद्रतम अश समझा जाता है, किन्तु दर्शनशास्त्रमें अणुशब्द अधिकाश स्थलमे सूक्ष्म अर्थमे ही प्रयुक्त होता है। इस सूक्ष्मत्वकी जो पराकाष्ठा है उसका नाम है अणिमा, जिससे परे कोई सूक्ष्म वस्तु हो ही नहीं सकती। स्थूल देहकी अपेक्षा इन्द्रियॉ सूक्ष्म हैं। इन्द्रियोसे मन सूक्ष्म है, मनसे बुद्धि सूक्ष्म है और बुद्धिसे भी आत्मा सूक्ष्म है। आत्मा ही सूक्ष्मकी पराकाष्ठा है। अतएव अणिमा कहनेसे केवल परमात्मा ही लक्षित होता है। 'मैं' ही अणिमा हूँ, परम सूक्ष्म मुझमें ही विद्यमान है, अभिन्न सत्तामात्रस्वरूप मैं ही परम सूक्ष्म वस्तु हूँ, इस तरह जो प्रत्यक्ष अनुभूति है, उसीका नाम अणिमा-विभूतिका प्रादुर्भाव है। केवल शास्त्र पढ़ लेने या उपदेश सुनकर समझ लेनेमात्रसे यह विभूति-रहस्य, साधन बिना, हृदयङ्गम करना असम्भव है। आत्ममहत्त्वदर्शनका नाम विभूति है। अणिमादिरूपसे आत्मसत्ताका अनुभव साधकका परम सौभाग्य सूचित करता है। यह मुक्तिकी अति सन्निहित अवस्था है। प्रियतम साधक, तुम कब यहाँ आकर जीवन धन्य करोगे?

२—लघिमा—लघुशब्दका अर्थ है हलका। पक्षीके रोएँ या रुई आदि वस्तुको इसके दृष्टान्तस्वरूपमें दिखाया जा सकता है। यह लघुत्व एक प्रकारका बोधमात्र है। यह जब पराकाष्ठाको प्राप्त होता है अर्थात् जिससे अधिक और कोई लघुविषय हो नहीं सकता, उसका नाम है लघिमा। यह लघिमा सत्तामात्रस्वरूप आत्मामे ही विद्यमान है। मैं ही लघिमा हूँ, परम लघुत्व मुझमे ही नित्य विराजित

है, ऐसा जो प्रत्यक्ष अनुभव है उसीका नाम लघिमा-विभूति है।

३-महिमा—महत्त्वकी जो पराकाष्ठा है, जिससे और महत् कुछ हो नहीं सकता, उसे महिमा कहते हैं। देश और काल महत् वस्तु है, वह भी बुद्धि या महत्तत्त्वके दृश्य—ग्राह्यरूपसे अवस्थित है। अतएव महत्तत्त्व देशकालकी अपेक्षा भी महत्तर है। फिर यह महत्तत्त्व स्वप्रकाशस्वरूप आत्माके प्रकाशसे ही प्रकाशित है, आत्माकी सत्तासे ही सत्तावान् है, अतएव बुद्धि या महत्तत्त्वसे भी आत्मा महत्तम है। महिमा परमात्माका ही अन्य नाम है। देश-कालका जो महत्त्व अर्थात् व्यापकता है वह विजातीय भेदरूपसे गृहीत होती है। बुद्धिका महत्त्व या महत्तत्त्वकी व्यापकता स्वगतभेदरूपसे गृहीत होती है, और अभिन्न सत्तामात्रस्वरूप आत्माका महत्त्व सर्वभेदातीतरूपसे नित्य विद्यमान है। आत्माकी सत्ता विना महत्तत्त्व भी सत्ता प्राप्त नहीं कर सकता; इस कारण परममहत्त्व एकमात्र आत्मामें ही नित्य विद्यमान है। यह परम महत्त्व ही महिमा है, मैं ही वह महिमा हूँ, परम महत्त्व मुझमें ही नित्य विराजता है, इस प्रकार जो प्रत्यक्ष आत्मानुभव है उसीको 'महिमा' विभूतिका आविर्भाव कहा जाता है।

४-प्राप्ति—सर्वथा सब पदार्थोंकी प्राप्ति ही प्राप्ति नामकी विभूति है। मैं सत्तास्वरूप वस्तु हूँ, अतएव जहाँ जो कुछ 'है' रूपसे प्रतीत होता है वह सभी आत्माद्वारा सर्वथा प्राप्त है, इस प्रकार प्रत्यक्ष अनुभवका नाम प्राप्ति है। मैं जबतक सत्तास्फूर्ति प्रदान न करूँ, तबतक कोई वस्तु ही सत्ता प्राप्त नहीं कर सकती, इस सत्य ज्ञानसे वञ्चित रहनेके कारण ही साधारण मनुष्य सदा अनेक प्रकारके अभाव-अभियोगोंको प्रत्यक्ष करते रहते हैं। किन्तु भूतजयी योगी सर्वात्मदर्शनके फलसे इस प्राप्ति नामक विभूतिको पाकर धन्य होते और सब अभाव-अभियोगोंसे ऊपर चले जाते हैं।

५-प्राकाम्य—प्राकाम्य शब्दका अर्थ है—इच्छाका अनभिघात। भूतजयी योगी देखता है कि इच्छा एकमात्र परमेश्वरकी है जो सृष्टि, स्थिति और प्रलयका अधीश्वर है, जो आत्मा है, जो मैं रूपसे प्रकाशित है, वही इच्छारूपिणी महती शक्ति है। यथा—

> या देवी सर्वभूतेषु इच्छारूपेण संस्थिता।
> नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः॥

इस महती इच्छाका सम्यक् अनुवर्तन अर्थात् ईश्वर-प्रणिधान करनेके फलसे जीवभावीय इच्छा कहनेको फिर कुछ भी नहीं रहता। इस अवस्थामें पहुँचनेपर योगी देख पाता है कि उसे प्राकाम्यसिद्धि प्राप्त हुई है। इस अवस्थामें योगीके चित्तमें जो इच्छा उदय होती है वह उस महती इच्छासे भिन्न न होनेके कारण कोई इच्छा अपूर्ण नहीं रहती। छोटी-छोटी इच्छाएँ भी महती इच्छामें मिला दे सकनेसे साधक इस प्राकाम्य या इच्छाकी अनभिघातरूपा विभूति प्राप्त कर सकते हैं।

६-वशित्व—भूत-भौतिक वश्यता ही इसका स्वरूप है। भूत और भौतिकरूपसे जो कुछ प्रकाश हो रहा है वह सब आत्माकी—मेरी सत्तासे सत्तावान् और मेरे प्रकाशसे प्रकाशित है। मैं आश्रय या आधार हूँ और वह सब आश्रित या आधेय है, ऐसी प्रत्यक्ष अनुभूति प्राप्त होना ही वशित्व नामक विभूति है।

७-ईशित्व—स्थूल, सूक्ष्म और कारण, ग्राह्य वस्तुमात्रकी ये तीन तरहकी अवस्थाएँ दीख पड़ती हैं। इन अवस्थाओंको ठीक-ठीकरूपसे सुनिश्चित करनेकी जो सामर्थ्य है उसे ईशित्व कहते हैं। पूर्वोक्त वशित्वविभूतिसे ही इसका भी प्रकाश होता है। मैं ही तो सब स्थूल, सूक्ष्मादिका नियन्ता हूँ। 'मेरे भयसे सूर्य उदय होते हैं, मेरे शासनसे वायु प्रवाहित होती है, मेरे भयसे अग्नि ताप देती है, मैं इस विश्वब्रह्माण्डकी स्थूल, सूक्ष्मादि सब वस्तुओंको भलीभाँति नियमित रखता हूँ,' ऐसे प्रत्यक्ष अनुभवका नाम ईशित्वप्राप्ति है।

८-यत्रकामावसायित्व—कामनाओंका बिल्कुल अन्त हो जानेका नाम 'यत्रकामावसायित्व' है। इसको पूर्णकामत्व भी कहा जाता है। 'पूर्णकामोऽस्मि सर्वतः' मैं पूर्णकाम हुआ हूँ, अब मेरे देखने और पानेको कुछ बाकी नहीं है। मैंने अपने स्वरूपका पता पाया है। इसके बाद और ज्ञातव्य या प्राप्तव्य कुछ नहीं रह सकता। इस अनुभूतिके उदय होनेसे समझा जा सकता है कि योगी 'यत्रकामावसायित्व' विभूति पाकर धन्य हुआ है। केवल आत्मज्ञानसे ही सब कामनाओंका अन्त हो जाता है। भूतजयी योगी अभिन्न सत्तामात्रस्वरूप आत्माका पता पानेसे-इन आठों सिद्धियोंको प्राप्त कर लेते हैं।

इन अणिमादि आठ सिद्धियोंके सम्बन्धमें लोगोंके जैसे सुदृढ संस्कार हो रहे हैं या मौजूद हैं, उन

लोगोंको यह व्याख्या पसन्द नहीं आ सकती, परन्तु भरोसा है कि जो योगीश्वरी 'माँ' हैं वह आप ही प्रत्येकके अन्तर्यामिदेवतारूपसे—गुरुरूपसे उनके चक्षु खोल देंगी, तब वे इस सत्यका पवित्र स्निग्ध प्रकाश पाकर सब संशय और संस्कारोंसे पार चले जायँगे। माँ—आत्मा-ब्रह्म-गुरु! सन्तानकी यह आशा कभी निष्फल हो नहीं सकती। तुम स्वयं ही तो इस हृदयाकाशमें आशारूपसे उदय होकर भविष्यत्‌के उज्ज्वल प्रकाशका उज्ज्वल चित्र सत्यरूपसे दिखा देती हो। धन्य माँ !!!

रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसंपत् ॥ ४६ ॥

इस सूत्रमें पूर्वोक्त कायसम्पत्‌का फल वर्णन करते हैं कि भूतजयी योगीका सुन्दर रूप, मनोहर कान्ति, और अत्यन्त बलवान् वज्रके समान सुदृढ शरीर हो जाता है। (व्यासभाष्य)

स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय और अर्थवत्त्व इन पाँच भूतस्वभावोंमें संयमका उपदेश पहले कहा गया है। उनमेंसे स्थूलभावमें संयम करनेसे अणिमा, लघिमा, महिमा और प्राप्ति ये चार सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। स्वरूपमें संयम करनेसे 'प्राकाम्य', सूक्ष्ममें संयम करनेसे 'वशित्व', अन्वयमें संयम करनेसे 'ईशित्व' और अर्थवत्त्वमें संयम करनेसे 'कामावसायित्व' होता है। इन सिद्धियोंके प्रयोगसे योगी भूत-भौतिक पदार्थोंके ऊपर अपने प्रयोजनानुसार कार्य अवश्य कर सकते हैं किन्तु भगवान्‌के अभिप्रायसे अन्यथा आचरण करनेपर भूतमर्ममें हस्तक्षेप नहीं कर सकते। योगीका प्रयोजन सिद्ध होनेपर भी मूलप्रवाह ईश्वरेच्छासे ही चलता रहता है।

बाह्य भूत वशीभूत होनेसे योगीका रूप, शरीरमें माधुर्य और बल साधारण मनुष्योंकी अपेक्षा अलौकिक जान पड़ता है। वह देहको वज्रकी भाँति कठिन कर सकता है अर्थात् भूतजगत् उसपर अपना प्रभाव कुछ नहीं डाल सकता। जैसा कि दधीचि मुनिकी अस्थिसे वज्र बना था।

४६ वें सूत्रका रहस्य

ऋषि कहते हैं कि रूप, लावण्य, बल और वज्र-संहननत्व ये ही कायसम्पत् हैं। जो सर्वत्र प्रकाशित है तो भी भाषा या विचारद्वारा जिसका स्वरूप निरूपण नहीं किया जाता, उस मूकास्वादनवत् अनिर्वचनीय वस्तुका नाम रूप है। साधारणतः हम जिसको रूप समझते हैं वह रूप नहीं है—आकृति है। आकृति और रूप एक वस्तु नहीं है। रूपका कोई रूप नहीं तो भी सब उसे अनुभव कर सकते हैं, चैतन्य वस्तुका ही दूसरा नाम है रूप। चैतन्य जब जड पदार्थोंके साथ अन्वित होकर प्रकाश पाता है तभी उसका नाम रूप होता है।

२—लावण्य—

मुक्ताफलेषुच्छायायास्तरलत्वमिवान्तरा ।
प्रतिभाति यदङ्गेषु तल्लावण्यमिहोच्यते ॥

प्राचीन विद्वानोंने लावण्यविषयमें इस श्लोकका उल्लेख किया है। साधारण बोलचालमें श्री, सौन्दर्य, चारुता आदि-आदि शब्दोंसे हम जो समझते हैं, लावण्य उससे बहुत बढ़कर वस्तु है। अति कुत्सित वस्तुमें भी कुछ श्री है, यह श्री जहाँ बहुत अधिक प्रकाशित है वहीं लावण्यका प्रकाश है। शिशुके मुखपर, चन्द्रमामें, कमलमें लावण्य पाया जाता है। यह रूप और लावण्य जगत्‌में सर्वत्र पूर्णभावसे अवस्थित है। बुद्धिकी मलिनताके कारण वह अनुभूत नहीं होता। भूतजयी योगीकी बुद्धि निर्मल हो जाती है, इस कारण वह विश्वमय रूप और लावण्यको अनुभव कर सकता है। अजी, आत्मदर्शनकारीके लिये सर्वत्र ही रूप-लावण्यकी मधुरिमा है। आत्मा ही रूप है, आत्मा ही लावण्य है, गुरु-कृपासे ज्ञानचक्षु उन्मीलित होनेपर वह प्रत्यक्ष होता रहता है। साधक! प्रेमिक! तुम ज्ञानसे या अज्ञानसे जिसको सबसे अधिक प्रिय समझते हो, जिसका वियोग तुम क्षणभर भी नहीं सह सकते, उसीका नाम रूप और लावण्य है। जिसके उदयसे मदन मूर्छा पा जाता है, काम-वासना सदाके लिये बुझ जाती है, वही रूप और वही लावण्य है।

केवल यही नहीं, बल और वज्रसंहनन भी उसीमें विद्यमान है अथवा वही बल और वही वज्रसंहनन है। देखो साधक! इस जगत्‌में जो जिसके आश्रित है, वह उसीको बलवान् जानता है। केवल शारीरिक बल नहीं, धनबल, विद्याबल, तपोबल, योगबल आदि जितने प्रकारके बल हैं वे सब परमबल परमात्माके आश्रित हैं। परमात्मसत्तामें और परमात्माके ही प्रकाशसे दृश्य प्रपञ्च सत्तावान् और प्रकाशमय है। अतएव बल कहनेसे केवल आत्माको ही समझिये। उपनिषद् कहता है—

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।

'बलहीन व्यक्ति आत्मप्राप्ति नहीं कर सकता।' इस वाक्यका तात्पर्य यह है कि आत्माके सिवा अन्य कोई आत्माको प्राप्त नहीं कर सकता। वह स्वसंवेद्य वस्तु है, वेत्ता और वेद्य दोनों वही है। लब्ध और लभ्य दोनों वही है, अतएव जबतक बिन्दुमात्र भी अनात्मविश्वास है तबतक साधक बलहीन है। बलहीन किस तरह बलस्वरूप वस्तुको प्राप्त करेगा? निरपेक्ष और अबाधितभावसे अपने सत्ता-प्रकाशकी जो सामर्थ्य है वही बल है। अपना अस्तित्व प्रकाश करनेके लिये किसी दूसरेका मुँह नहीं ताकना पड़ता अथवा दूसरा कोई अपनी सत्ताके प्रकाशमे बाधा भी नहीं डाल सकता। यह जिस सामर्थ्यके प्रभावसे सम्भव है वही बल है। भूतजयी योगी आत्माके इस बलस्वरूपत्वको प्रत्यक्ष कर सकता है। यही विभूति है।

वज्रसंहननत्व—संहनन शब्दका अर्थ है शरीर और स्वरूप। वज्र शब्द भीतिसूचक है। रूप-लावण्यादिकी भाँति भीषणता भी आत्माकी कायसम्पत् है। 'महद्भय वज्रमुद्यतम्', 'भयादस्य तपति सूर्यः' इत्यादि वाक्योंसे श्रुतिने आत्माको भीतिदायक वज्रस्वरूपसे वर्णन किया है। किसीके सिरपर यदि वज्र गिरनेको तैयार हो तो वह जिस तरह सदा सङ्कुचित और भयभीत रहता है, उसे वज्र गिरनेकी आशङ्का रहती है और सर्वतोभावसे आज्ञानुवर्ती रहता है, ठीक उसी तरह इस विश्वके ऊपर, इस अहके ऊपर, इस चतुर्दश भुवनात्मक ब्रह्माण्डके ऊपर महद्भय उद्यत वज्रस्वरूप आत्मा विराजमान है, इसीसे सब नियमपूर्वक अपना-अपना कार्य करते हैं और कर्म-चक्र चलता रहता है। एक तिलमात्र भी अन्यथा करनेका उपाय नहीं है। ज्यों ही कोई इससे पृथक् जरा भी स्वाधीन-रूपसे अपनेको देखनेका विचार करे, त्योंही उसकी विशिष्ट सत्तातक लोप हो जाती है। ऐसा अव्यर्थ शासन है। इसी कारण सत्यदर्शी ऋषियोंने उदात्तस्वरसे कहा है कि 'उसीके भयसे सूर्यदेव प्रतिदिन नियमितभावसे उदित होते रहते हैं, उसीके भयसे पवनदेव सदा सञ्चरण करते हैं, उसीके भयसे अग्निदेव गर्मी देते हैं, उसीके भयसे मृत्युदेव सदा जीव-संहरण-कार्यमे निरत रहते हैं।' भूतजयी योगीको यह सब प्रत्यक्ष गोचर होता है।

ये जो रूप, लावण्य, बल और वज्रसंहननत्व चार कायसम्पद् हैं सो स्वरूपके ऐश्वर्य हैं। 'चैतन्य-स्वरूप मैं ही रूपमय, लावण्यमय, बलवान् और वज्रसंहनन हूँ।' इस तरह प्रत्यक्ष अनुभूति पानेका नाम ही कायसम्पद् विभूतिका आविर्भाव है। अजी! मैं कितना महान् हूँ, यह विश्वराशि मेरी है, यह विश्वमय लावण्य मेरे ही अङ्गकी तरल छाया है, मेरा प्रकाश किसीकी अपेक्षा नहीं करता, न उसमे कोई बाधा डाल सकता है, मेरा स्वरूप वज्रके समान भयदायक और अनभिभवनीय है। ऐसी अनुभूति यदि आती रहे तो साधक समझ ले कि उसकी कायसम्पद् नामक विभूतिका वह प्रकाश है।

'तद्धर्मानभिघात' पद पूर्व सूत्रमे उल्लिखित होनेपर भी यहाँ उसकी कुछ व्याख्या की जाती है। तद्धर्मका अर्थ रूप-लावण्य आदि कायसम्पद् लक्ष्य किया गया है। तद्धर्म अर्थात् रूप, लावण्य, बल और वज्रसंहननरूप धर्मका अनभिघात होता है जिसका कोई विनाश नहीं कर सकता। आत्मा नित्य वस्तु है, इसलिये कायसम्पत् भी नित्य ही विद्यमान रहेगी, किसी अवस्थामें उसका अभिघात नहीं हो सकता। आशङ्का हो सकती है कि आत्मा तो धर्मधर्मिभेदरहित अद्वितीय वस्तु है, तब उसमें धर्म किस तरह सम्भव है? हाँ, सत्य है, आत्मामें न कोई धर्म है न रह सकता है तो भी आत्मस्वरूप-जिज्ञासुजनोंको समझानेके लिये ऐसे भेदबोधक वाक्योंका प्रयोग किया जाता है। वस्तुतः रूप, लावण्य, बल आदि आत्माका स्वरूप ही है। ये विभूतियाँ अपूर्व हैं। इनके आनेसे साधकको इतना आनन्द होता है कि पृथिवी-मे नहीं समाता। साधकके प्रभावको यह विश्व धारण नहीं कर सकता। प्रियतम साधक! आओ, गुरु—ईश्वर-प्रणिधानके मार्गपर आगे बढ़ो, जिससे तुम भी इस विभूतिको पाकर धन्य हो सको।

(२)

इन्द्रियजय तथा मधुप्रतीकसिद्धि

ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रियजयः॥४७॥

इस सूत्रमें इन्द्रियजयरूप विभूतिका वर्णन हुआ है। ऋषि कहते हैं कि ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय और अर्थवत्त्व यह पाँच प्रकार संयम प्रयोग करनेसे इन्द्रियजयत्व-रूप विभूति आविर्भूत होती है। १-ग्रहण (ग्रहण विषय-संस्पर्श) चक्षुः आदि इन्द्रियोंके साथ रूप, रस आदि विषयोंका संस्पर्श। २-स्वरूप (स्वरूप विषयप्रकाशकत्व) इन्द्रियोंद्वारा विषयोंका प्रकाश, सांख्यकी भाषामें इसे

आलोचन-ज्ञान कहते हैं। ३–अस्मिता (दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता योग० २।६)। दृक्शक्ति और दर्शनशक्ति इन दोनोंकी एकात्मता ही अस्मिता है। दृक्शक्ति–पुरुष, आत्मा, और दर्शनशक्ति बुद्धि, इन दोनोंकी जब एकात्मता या तादात्म्य होता है, दोनों एक ही जान पड़ते हैं, तब उसे अस्मिता कहते हैं। सूत्रमें जो 'इव' शब्द है वह इसलिये है कि यह वास्तविक तादात्म्य नहीं है, तादात्म्य-सा जान पड़ता है। आत्मा सदा निर्लेप वस्तु है, उसका कभी बुद्धिके साथ तादात्म्य नहीं हो सकता, तो भी बुद्धिसत्त्व जब अत्यन्त निर्मल होता है तब उसमें प्रतिबिम्बित आत्मस्वरूप अति उज्ज्वलभावसे प्रकाशित होता है, इसी कारण बुद्धिसत्त्व आत्मारूपसे प्रतीयमान होता रहता है। जैसे स्वच्छ काँचकी लालटेन उसके भीतरकी जलती हुई बत्तीसे बिल्कुल पृथक् है, परन्तु दूरसे सारा काँच ही प्रकाशित जान पड़ता है। जलती हुई बत्ती जब पाससे देखते हैं तब अलग जान पड़ती है। इसी प्रकार जबतक बुद्धिका आवरण पूर्णरूपसे भेद न हो तबतक बुद्धिमें ही 'आत्मबोध' होता रहता है, जिस बुद्धिमें यह आत्मबोध हुआ है उसीका नाम अस्मिता है। ४–अन्वय (अन्वयो गुणत्रयः) शब्दका अर्थ है तीन गुण। ५–अर्थवत्त्व (अर्थवत्त्व लीलाशक्तिरनिर्वचनीया) शब्दका अर्थ है अनिर्वचनीया लीलाशक्ति। इन पाँच प्रकारके संयमप्रयोगसे इन्द्रियजय सिद्ध होता है। इन्द्रियोंका सबसे प्रथम जो रूप हमारे अनुभवमें आता है, ऋषिने उसका नाम रक्खा है ग्रहण, विषयको ग्रहण करना ही इन्द्रियका प्रथम रूप है। अभीष्ट विषय समीप होनेसे यदि उसमें किसी प्रकारकी बाधा न पड़े तो इन्द्रियाँ विषयके साथ सम्बन्धयुक्त हो जाती हैं। इस ग्रहणभावको अवलम्बन करके धारणा, ध्यान और समाधिरूप संयमप्रयोग करनेसे इन्द्रियोंके पर-पररूप अपने आप उपस्थित होते रहते हैं। इन्द्रियोंका दूसरा रूप विषयप्रकाशकत्व है। यद्यपि निर्मल बोधसत्त्वके बिना विषयका सर्वांग प्रकाशित नहीं होता तो भी इन्द्रियावच्छिन्न चैतन्य और विषयावच्छिन्न चैतन्यका सम्बन्ध होनेसे ही प्रमातृचैतन्यका आभास आ पहुँचता है और उसके द्वारा विषयका कुछ अंश प्रकाशित होने लगता है। इस प्रकार इन्द्रियोंद्वारा विषयोंका जो आंशिकभावसे प्रकाशित होना है, सूत्रमें इसीको इन्द्रियोंका स्वरूप कहा गया है। संयमकी सहायतामें योगी क्रमसे ग्रहण करते-करते इस स्वरूपमें पहुँच जाता है।

इसके बाद है अस्मिता। इन्द्रियाँ अस्मिताके व्यूहमात्र हैं। 'मुझमें रूप ग्रहण करनेकी शक्ति है' 'मुझमें शब्द-ग्रहणकी शक्ति है' ऐसा जो बोधप्रवाह है उसीको चक्षु आदि इन्द्रियाँ कहते हैं, अतएव इन्द्रियमें संयमप्रयोग करनेसे उसका ग्रहणभाव और स्वरूप क्रमसे अस्मिता-क्षेत्रमें पहुँचा जा सकता है। इसके बाद अन्वय अर्थात् प्रकाश, प्रवृत्ति, स्थितिरूप तीन गुण हैं। अस्मितामें संयत होनेसे उसके कारणस्वरूप तीन गुणोंमें आ पहुँचते हैं। अन्तमें इस अन्वय या तीन गुणोंका भी जो कारण है उसकी ओर लक्ष्य फिराते हैं, तब अर्थवत्त्व पाया जाता है। अर्थात् अविद्या-शक्तिद्वारा कल्पित पुरुषके भोगापवर्गरूप प्रयोजनसाधनके लिये ही जो तीन गुण प्रकाशित हैं वे अनुभवमें आते रहते हैं। इस तरह अनुभवके फलसे बुद्धि अत्यन्त स्वच्छ हो जाती है। तब जो यथार्थ सत्ता है, जिसको कोई रूप अन्यथा नहीं होता, वह चैतन्यस्वरूप वस्तु प्रकाशित होने लगती है। पक्षान्तरमें जिन इन्द्रियोंके आधारसे हम विशेषभावसे आत्मसत्ता अनुभव करते हैं उनकी फिर कोई आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होती। उन्हें पूर्णरूपसे परित्याग कर भी 'हम' अच्छी तरह रह सकते हैं। यह अनुभूति प्राप्त होनेके फलसे इन्द्रियोंकी पारमार्थिक सत्ताविषयक प्रतीति सदाके लिये विलय हो जाती है। इसीका नाम इन्द्रियजय नामक अपूर्व विभूति है। जिन इन्द्रियोंका उच्छेद करते हुए अनेक जन्म बीत गये, जिन इन्द्रियोंकी भोगलालसा निवृत्त करनेकी चेष्टामें अनेक बार जन्म-मरणकी यातनाएँ भोगी गयीं, वे इन्द्रियाँ वास्तविक नहीं हैं, तो क्या अबतक हम मोह या भ्रममें पड़े हुए थे? छायाको भूत मानकर भूतके भयसे व्याकुल थे? अहो! आज कैसा आनन्द है! इन्द्रियाँ कहनेको कुछ भी नहीं हैं। किसी कालमें नहीं थीं। अजी! ऐसी उन इन्द्रियोंके दासत्व-बन्धनसे आज हम सर्वथा मुक्त हैं। इस ज्ञानका उदय होना ही इन्द्रियजय-विभूति है।

प्रियतम साधक! याद रखिये, किसीको भी जीतनेके लिये उससे अधिक बलकी आवश्यकता होती है। जबतक आप इन्द्रियरूप छड़ीका सहारा लेकर आत्मसत्ताका अनुभव करेंगे तबतक आपको इन्द्रियोंके अधीन होकर ही रहना होगा। फिर जब गुरुकृपासे संयम-बल पाकर इन्द्रिय-विरहित आत्मसत्ताको अखण्डभावसे प्रत्यक्ष

कर सकेंगे उसी दिन आपका इन्द्रियजय सिद्ध हो जायगा। किस रीतिसे इन्द्रियजय किया जाता है, यह ऋषिने ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय और अर्थवत्त्वरूप क्रमसे बता दिया। भूतजयकी अपेक्षा इन्द्रियजय कठिन है। भूतजय होनेसे स्थूल देहात्म-बुद्धिका विलय होता है और इन्द्रियजय होनेसे सूक्ष्म देहमे जो आत्मबुद्धि है, वह भी विलीन हो जाती है। स्थूल बात यह है कि भूतजयसे मतलब है ग्राह्यका विलय और इन्द्रियजय कहनेसे ग्रहणका विलय। साधनक्रमसे उन्नत स्तरपर आरोहण करते है। भूतजय किये बिना कोई इन्द्रियजय नहीं कर सकता। जो लोग यह कहते हैं कि एकदम आत्मस्वरूप प्रकाशित होनेसे ही तो भूतजय और इन्द्रियजय सिद्ध हो जायगा, उन्हें यह भी याद रखना चाहिये कि इस योगशास्त्रके बताये हुए मार्गपर चलनेसे ही आत्मस्वरूपका पता मिलता है। प्रत्येक सम्प्रदायके साधक ज्ञात या अज्ञात सारसे इसी मार्गपर चलते हैं।

ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च ॥४८॥

इस सूत्रमे इन्द्रियजयका फल कहा है कि इन्द्रियजय होनेसे—

(१) मनोजवित्व (मनसोऽबाधितविचरणसामर्थ्यमितिभावः। धर्माधर्मादिद्वन्द्वातीतसत्तालाभादेवं भवति) (२) विकरण (कारणरहित आत्मसत्तानुभवः) (३) प्रधानजयश्च (प्रधानस्य लीलाशक्तेरितिभावः) (जयः त्रैकालिकसत्ताहीनतानुभव इत्यर्थः) सत्ता हि नाम सा, या खलु चैतन्यमात्रे व्यवस्थिता, न जडेऽनात्मनि।

मनकी बेरोक-टोक चालकी सामर्थ्यको मनोजवित्व कहते हैं। जबतक आत्मस्वरूपका पता न पाया जाय तबतक मन स्वेच्छापूर्वक नहीं विचर सकता। पाप-पुण्य, सुख-दुःख आदि द्वन्द्व उपस्थित होकर मनके स्वाधीन उल्लासको विनष्ट कर देते हैं। साधक जितने ही मुक्तिसे अधिक सन्निहित होते रहते हैं अर्थात् इन्द्रियरूपबन्धनरहित होकर आत्मसत्तानुभवकी सामर्थ्य प्राप्त करते जाते हैं, उतना ही स्वाधीनताका आस्वाद पाते रहते हैं। पहले विधि-निषेधका विचार करते हुए कार्य करना होता था और अब खुले मैदानमें आकर उतनी भावना और विचार करनेकी आवश्यकता नहीं होती, मन स्वाधीन विचरता रहता है। साधक यह शङ्का न करें कि इन्द्रिययोगी तो उच्छृङ्खल होकर धर्माधर्मविचार किये बिना स्वच्छन्द कार्य करते होंगे। ऐसा कभी नहीं होता। इस क्षेत्रमे पहुँच जानेपर फिर उनसे निन्दित कर्म तो हो ही नहीं सकते, चित्त सम्यक् निर्मल हुए बिना इन क्षेत्रोंमे पहुँचा ही नहीं जा सकता। अस्तु। अतीन्द्रिय वस्तुसे जितना ही समीप होते जाते हैं उतनी ही अधिक स्वाधीनता आती जाती है। मनकी इस स्वाधीन विचरनेकी सामर्थ्यको मनोजवित्व कहते हैं।

विकरणभाव शब्दका अर्थ है करणरहित अवस्था। करण १४ हैं। ५ ज्ञानेन्द्रियाँ, ५ कर्मेन्द्रियाँ और ४ अन्तःकरण (मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार)। इन करणोंसे रहित होकर भी आत्मसत्ता अनुभव करनेकी सामर्थ्यको विकरण भाव कहते हैं। साधारण मनुष्यमे जब यह विकरण अवस्था उपस्थित होती है, तब वह सुषुप्त हो जाता है, फिर वह आत्मसत्ता अनुभव नहीं कर सकता, किन्तु इन्द्रियजयी योगी विकरण होकर भी भावमय-सत्तामय रूपमे अवस्थान कर सकता है। इस सामर्थ्यके प्राप्त होनेसे समझा जाता है कि विकरण विभूतिका आविर्भाव हुआ है।

इसके बाद है प्रधानजय। प्रधान शब्दका अर्थ है प्रकृति। प्रकृति क्या है, यह योगसूत्रके द्वितीय पादमें विस्तारपूर्वक लिखा है। प्रकृति नामसे कुछ है, ऐसी प्रतीतिका लय होना ही प्रकृतिजय है। सत्ता केवल आत्मा (चैतन्यस्वरूप) मे ही विद्यमान है, यह प्रत्यक्ष होनेपर फिर अनित्य वस्तुकी सत्ताका ज्ञान रह ही नहीं सकता। अतएव प्रकृति (तीन गुणोंकी साम्यावस्था) वास्तवमे न है और न रह सकती है।

साधनकी पहली अवस्थासे यही मान लिया जाता है कि पुरुष ही प्रकृतिरूपसे अपना प्रकाश करता है, यही ज्ञान लेकर आगे बढ़ते हैं, फिर जब गुरुकृपासे, अनेक जन्मसञ्चित पुण्यबलसे पुरुषका साक्षात्कार प्राप्त होता है तब समझमे आता है कि पुरुष पुरुष ही है, वह कभी प्रकृति नहीं हुआ और न उसे किसी प्रकृतिकी आवश्यकता ही है। इस प्रकार पारमार्थिकी प्रज्ञाका उदय होनेसे प्रकृतिजय नामक चरम विभूतिका साक्षात्कार प्राप्त होता है। मनुष्यजीवनमे इससे श्रेष्ठ अभ्युदय और कुछ भी नहीं है।

साधक! आपने हर गौरी-मूर्ति देखी है? वराभयहस्ता स्वर्णवर्णा गौरी हरकी गोदमे बैठी है। उस अपूर्व मूर्ति-

का स्मरण करनेसे इस प्रधानजयका चित्र चित्तपटपर फूट उठता है। जीव जबतक शिशु रहता है, विशुद्ध बोधस्वरूप पुरुषको अनुभव नहीं कर सकता, तबतक वह प्रकृति ही उस (जीवरूपी शिव) को ज्ञानस्तन्य पान कराकर अनेक जन्मोंतक परिपुष्ट करती रहती है। जब शिशुत्व दूर हो जाता है, जब जीव (शिव) अपने स्वरूपमें प्रतिष्ठित होता है, तब वह प्रकृति ही उसके वशीभूत हो जाती है अर्थात् क्रोडोपरि विराजमान होकर अपूर्व आनन्दरसका आस्वाद प्रदान करती है। इसीसे हम—'शिवमाता शिवानी च ब्रह्माणी ब्रह्मजननी वैष्णवी विष्णुप्रसूती।' कहकर उनके चरणोंमें प्राणकी पुष्पाञ्जलि देकर धन्य होते हैं।

॥ इति शिवम् ॥

योगकी विभिन्न सिद्धियाँ

(लेखक—वेदान्तभूषण प० श्रीबदरीदासजी पुरोहित)

आजके जडमुखापेक्षी, साधनासिद्धिहीन, विलासविभ्रमरत, मोहावृत भारतको योगकी सिद्धियोंकी बातें 'खं पुष्प' के समान लगें तो इसमें क्या आश्चर्य है! यद्यपि हमारे परमात्मदर्शी पूज्य महर्षियोंने इन सिद्धियोंको तुच्छ समझकर त्याग दिया था और उन्हें अपने आत्मोद्धारके पथमें विघ्नस्वरूप माना था, फिर भी आज जबतक हम उन्हें प्राप्त न कर लें और निरे जबानी जमाखर्चके माफिक यह कह बैठें कि 'सिद्धियाँ विघ्नस्वरूप हैं' तो इससे हमारेमें वह शक्ति, प्रतिष्ठा और स्वतन्त्रता नहीं आ सकती जो हमारे पूर्वजोंमें थी। किसी साधारण वस्तुको त्याग देना या उसे तुच्छ बतला देना सहज है, परन्तु एक अलौकिक शक्ति या सिद्धिको त्याग देना या उसे तुच्छ समझना बहुत बड़ी बात है। आज हम श्रद्धासाधनविहीन मनुष्य जरा-सी भौतिक सिद्धिके लिये तो लालायित हैं परन्तु योगिगणप्राप्त सिद्धियोंको मोहवश अलीक कल्पना मानते हैं, या परमार्थमें बाधक बताकर साधनसे पिण्ड छुड़ाना चाहते हैं। जिन पुरुषोंको पेटभर भोजन मिलना कठिन है, अपने देशमें स्वतन्त्र रहना भी दुष्कर है, उनके सामने योगकी सिद्धियोंकी चर्चा करना हास्यास्पद हो सकता है; किन्तु यदि गम्भीर विचारपूर्वक देखा जाय तो अपनी वंशपरम्परागत शक्तिका स्मरण कराना अनुचित नहीं है।

योगकी विभिन्न सिद्धियोंको प्राप्त करनेके लिये योग क्या है, उसका किस प्रकार अभ्यास किया जाता है, अभ्याससे पूर्ण योगसे कौन-कौन-सी सिद्धियाँ मनुष्यको मिल सकती हैं? इत्यादि प्रश्नोंको हल करना ही इस लेखका उद्देश्य है। उद्देश्यपूर्तिके लिये सर्वप्रथम हमें यह समझ लेना होगा कि 'योग क्या है?' आजकल 'योग' शब्दका रूढार्थ 'प्राणायाम आदि साधनोंसे चित्तवृत्तियों या इन्द्रियोंका निरोध करना अथवा पातञ्जलसूत्रोक्त समाधि या ध्यानयोग' है। कठोपनिषद्की छठी वल्लीके ग्यारहवें मन्त्रमें भी इसी अर्थका प्रयोग हुआ है। जैसे—

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ॥

परन्तु ध्यानमें रखना चाहिये कि योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णकी भगवद्गीतामें यही अर्थ विवक्षित नहीं है। 'योग' शब्द 'युज्' धातुसे बना है जिसका अर्थ 'जोड़, मेल, मिलाप, एकता, एकत्र अवस्थिति' इत्यादि होता है, और ऐसी स्थितिकी प्राप्तिके 'उपाय, साधन, युक्ति या कर्म' को भी 'योग' कहते हैं। ये ही सब अर्थ अमरकोषमें इस तरहसे दिये हुए हैं—

योगः संहननोपायध्यानसङ्गतियुक्तिषु।

फलित ज्योतिषमें कोई ग्रह यदि इष्ट अथवा अनिष्ट हों तो उन ग्रहोंका 'योग' इष्ट या अनिष्ट—अच्छा या बुरा कहलाता है। गीताके 'योगक्षेमम्' पदमें 'योग' शब्दका अर्थ—'अप्राप्त वस्तुको प्राप्त करना है।' श्रीमद्भगवद्गीतामें 'योग' और 'योगी' अथवा योग शब्दसे बने हुए सामासिक शब्द लगभग 'अस्सी बार' आये हैं। उनमें चार-पाँच स्थानोंके सिवा योग शब्दसे 'पातञ्जलयोग'

अर्थ कहीं भी अभिप्रेत नहीं है। सिर्फ 'युक्ति, साधन, कुशलता, उपाय, भगवत्प्राप्ति, जोड़ और मेल' यही अर्थ कुछ हेर-फेरसे सम्पूर्ण भगवद्गीतामें पाये जाते हैं। अनेक प्रकारकी व्यक्त सृष्टि निर्माण करनेकी कुशलता और अद्भुत सामर्थ्यको भी 'योग' कहा गया है और इसी अर्थमें भगवान् श्रीकृष्णको 'योगेश्वर' कहा है। यही अर्थ योगवासिष्ठमें लीला और चूडालाके आख्यानमे लिया गया है। क्रियात्मक 'योग' शब्दका मुख्य या विशेष अर्थ 'विशेष प्रकारकी कुशलता, साधन, युक्ति या उपाय ही' है। भगवान्ने स्पष्ट कहा है कि 'योगः कर्मसु कौशलम्' अर्थात् कर्म करनेकी किसी विशेष प्रकारकी कुशलता, युक्ति, चतुराई अथवा शैलीको योग कहते हैं। 'कर्मसु कौशलम्' का यही अर्थ भगवान् श्रीशङ्कराचार्यने भी किया है कि कर्ममें स्वभावसिद्ध रहनेवाले बन्धनको तोड़नेवाली 'युक्ति' है। यदि सामान्यरूपसे देखा जाय तो एक ही कर्मके करनेके लिये अनेक 'योग' हैं। 'सिद्धि और असिद्धि दोनोंमें समबुद्धि रखनेको 'योग' कहते हैं।' इन सबका तात्पर्य यह है कि 'पापपुण्यसे अलिप्त रहकर कर्म करनेकी जो समत्वबुद्धिरूप विशेष युक्ति है वही कौशल है, और इसी कुशलता या युक्तिसे कर्म करनेको 'योग' कहा है।' उपर्युक्त प्रकारसे 'योग क्या है ?' इस प्रश्नका समुचित उत्तर जब हमारी समझमें आ जाता है तब 'योगाभ्यास' करनेमें हमें अवश्य सफलता मिल सकती है।

भारतवर्षमें यों तो बहुत-से योगी हैं। लाखों प्रकारकी युक्तियों और विशेष प्रणालियोंसे लोग कर्म करते हैं परन्तु भारतका दिनोंदिन अधःपतन ही होता जा रहा है। कोई भी व्यक्ति योगेश्वरकी शक्तिको आंशिक भी प्राप्त नहीं होता। जिस प्रकार भारतीय शास्त्रोंमें योगकी सिद्धियोंका वर्णन है, उसमेंसे दो-चार सिद्धियाँ भी आज हमें प्राप्त नहीं हैं। इसलिये यह बात निर्विवाद मान लेनी पड़ेगी कि हमने 'योगाभ्यास' जिस प्रकार करना चाहिये वैसा नहीं किया। यही कारण है कि आज हमारा देश और हमारा समाज दीन-हीन अवस्थामें पड़ा हुआ परमुखापेक्षी बन गया है। इस दुःखद अवस्थाको हमें हटाना होगा। हमें योगकी विभिन्न सिद्धियाँ प्राप्त करनी चाहिये। शास्त्रोक्त पुरुषार्थ करनेपर हम जो चाहें वही योगके द्वारा प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु दुःख है कि हम भारत-वासियोंके घरमें योगवासिष्ठ, उपनिषद् और योगदर्शनके अलावा श्रीभगवद्गीता-जैसे अनुपम योगशास्त्रके रहनेपर भी आज हम दीन, दुखी और परतन्त्र हैं। ऐसा क्यों है ? उत्तर स्पष्ट है कि हमने योग शब्दका अर्थ समझकर 'योगाभ्यास' को, समबुद्धिसे आसक्ति त्यागकर सिद्धि और असिद्धिमें समान भाव रखके, नहीं किया, उसीका यह परिणाम हमारे सामने है कि हमारे बाप-दादोंकी असंख्य सिद्धियाँ, जो समस्त संसारको चकित करनेवाली थीं, हमें प्राप्त नहीं हुईं। जबतक हमारा 'योगाभ्यास' सफल नहीं होगा तबतक हमें किसी प्रकारका सच्चा सुख नहीं मिलेगा। अतः इसको प्रयत्नपूर्वक, मनसा, वाचा, कर्मणा सदैव करना चाहिये।

सच्चिदानन्दमय, अनादि, अनन्त ब्रह्म सदा एकरूप है, पूर्ण ज्ञानरूप वह सदैव निष्क्रिय और सृष्टिसे अतीत है। न तो उनको किसी प्रकारकी क्रिया स्पर्श कर सकती है और न उनमें कोई क्लेशोंकी सम्भावना है। भूत, भविष्य और वर्तमानमें वह सदा एकरूपसे ही रहते हैं। इच्छा—अनिच्छारूप इच्छासे उन्हींकी इच्छामयी शक्तिसे यह संसार उत्पन्न होता है, वर्तमान रहता है और पुनः उन्हींमें लयको प्राप्त हो जाता है। जब जीवरूपी चैतन्य अविद्यामें फँसकर अपने आपको प्रकृतिवत् मानने लगा तब वही 'कारण शरीर' बन गया, और अन्तःकरण, पञ्चप्राणसहित पञ्चज्ञानेन्द्रिय और पञ्चकर्मेन्द्रिय मिलकर 'सूक्ष्म शरीर' कहाया, और फिर पञ्चीकरण विधानके अनुसार सूक्ष्म पञ्चतत्त्वोंसे उत्पन्न पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश नामक स्थूल पाँच भूतोंके द्वारा 'स्थूल शरीर' उत्पन्न हुआ। यह 'स्थूल शरीर' जीवके देहपातके पश्चात् यहीं पड़ा रहता है; और 'सूक्ष्म शरीर' विशिष्ट जीव ही जन्मान्तर प्राप्त करता है। 'स्थूल शरीर' केवल सूक्ष्म शरीरका विस्तारमात्र है। जीव जो कुछ कर्म करता है, जो कुछ कर्म भोगता है और जो कुछ कर्म भविष्यमें भोगनेके लिये होंगे उनका संस्कार ग्रहण करता है। वह सब 'सूक्ष्म शरीरसे' अन्तःकरणमें ही करता है। इसलिये जबतक अविद्याकी स्थिति है, तबतक जीवरूपी चैतन्य अपने आपको अन्तःकरण माने हुए है। जबतक उसका मानना है तबतक उस अन्तःकरणके काममें उसका फँसना भी रहेगा। और जबतक यह भ्रममूलक सम्बन्ध रहेगा, तबतक नाना सुख-दुःखरूपी कर्मोंमें फँसता हुआ जीव आवागमनरूप चक्रपथमें भ्रमता रहेगा।

योग शब्दका अर्थ जोड़ना है। इससे जीवरूप चैतन्य जो अविद्यामें फँसकर परमात्मा, परब्रह्मसे भिन्न हो रहा है, उसकी इस भिन्नताको दूर करके उसके पहले रूपमें उसको लाकर 'जहाँसे निकला था वहीं पुनः पहुँचा देनेका नाम 'योगाभ्यास' है।' इस प्रकारके जितने साधन जीवको मुक्तिपदमें पहुँचानेके लिये वेदशास्त्रोंमें वर्णन किये गये हैं वे सब चार विभागोंमें विभक्त हैं। (१) मन्त्रयोग, (२) हठयोग, (३) लययोग और (४) राजयोग। शास्त्रोक्त किसी मन्त्रका जप और शास्त्रोक्त किसी रूपका ध्यान करते-करते चित्तवृत्तिनिरोधसे परमपद मोक्षके पथमें अग्रसर होनेका नाम 'मन्त्रयोग' है। शारीरिक क्रियाद्वारा चित्तवृत्तिका निरोध करके मुक्तिपथमें अग्रसर होनेका नाम 'हठयोग' है। षट्चक्रके भेदसे बहिर्मुखी शक्तिको ब्रह्माण्डमें लय करके मुक्तिपथमें अग्रसर होनेका नाम 'लययोग' है। केवल बुद्धिकी सहायतासे ब्रह्माभ्यास या ब्रह्मविचारद्वारा चित्तवृत्तियोंसे उपराम होकर आधिभौतिकताको लीनकर अन्तःवाहकताको प्राप्त करते हुए मोक्षमार्गमें अग्रसर होनेका नाम 'राजयोग' है।

'योगाभ्यास' के क्रियासिद्धांगका सार्वभौम दृष्टिसे योगिराज महर्षि पतञ्जलिकृत 'योगदर्शन'में अच्छे प्रकारसे वर्णन है। यह सकल प्रकारके साधनोंकी सार्वभौम भित्ति है। साधक चाहे किसी प्रकारका हो, चाहे वह मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोगका अधिकारी हो, चाहे वह भक्त हो, चाहे ज्ञानी हो, चाहे भोगी हो, चाहे त्यागी हो, परन्तु 'योगाभ्यास' सब प्रकारके जीवोंके लिये कल्याणप्रद है। ऐसे 'योगाभ्यास' करनेके आठ भेद किये हैं और वे ही योगके आठ अङ्ग हैं। जैसे—'यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।' इनमें यम, नियम, आसन और प्राणायाम ये चारों बहिर्जगत्‌के साधन हैं। और प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये चारों अन्तर्जगत्‌के साधन हैं। इन योगके आठों अङ्गोंका सुकौशलपूर्ण अभ्यास करते-करते साधक शनैः-शनैः अन्तःकरणको निरुद्ध करता हुआ आधिभौतिकताको हटाकर अन्तःवाहकताको पा जानेपर कैवल्य मोक्षको प्राप्त कर लेता है। यही 'योगाभ्यास' करनेका परमोत्तम फल है।

उपर्युक्त प्रकारसे योग क्या है? योगका अभ्यास कैसे किया जाता है? इन प्रश्नोंको जो पुरुष हल कर लेते हैं और 'योगाभ्यास' करके अपने स्थूल देह और अन्तःकरणसे अपना साक्षात् सम्बन्ध हटा लेते हैं वे योगी महात्मा अपने पुरुषार्थके प्रभावसे सभी कुछ कर सकते हैं। वे चाहे जहाँ जा सकते हैं। बिना रोके सर्वत्र भ्रमण करनेके सिवा योगकी विभिन्न सिद्धियोंको प्राप्त करते हैं। योगाभ्याससे सिद्धियोंकी प्राप्ति कैसे होती है? और वे सिद्धियाँ कौन-कौन-सी हैं? इस तृतीय प्रश्नको हल करनेपर हमारे इस लेखका उद्देश्य पूर्ण हो जाता है। हमने पहले बतला दिया है कि बिना स्थूल देहका अध्यास हटाये अन्तःवाहकता अर्थात् अन्तर्जगत्‌में प्रवेश नहीं किया जाता। सूक्ष्मता प्राप्त करनेपर समस्त सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। आधिभौतिकताको विलीन करने और अन्तःवाहकता—सूक्ष्म शरीर—को पानेके लिये योगियोंने एक ऐसा साधन निश्चित किया है कि उस एक साधनसे ही योगकी विचित्र सिद्धियाँ प्राप्त की जाती हैं। सम्पूर्ण सिद्धियोंको देनेवाले साधनका नाम है—'संयम'। जिस योगीने 'संयम' कर लिया उसने सब कुछ पानेकी शक्तिको अपने वश कर लिया, ऐसा कहनेमें कोई अत्युक्ति नहीं है। 'संयम' क्या है? उसके लक्षण बतलाये जाते हैं—धारणा, ध्यान और समाधि इन तीन साधनक्रियाओंसे जब साधक एक ही पदार्थविशेषमें युक्त हो जाता है तब साधककी उस अवस्थाविशेषको 'संयम' कहते हैं। यह 'संयम' क्रिया सविकल्प समाधिमें हुआ करती है। यह 'संयम' साधनकी ही ताकत है कि जिसके द्वारा महर्षिगण त्रिकालदर्शी हुआ करते थे। यह उस 'संयम' साधनकी ही शक्ति है कि जिससे हमारे पूर्वजोंने बिना बाहरी चेष्टाके किये ही केवल 'संयम' से ही नाना शारीरविज्ञान और ज्योतिष आदिके अलौकिक चमत्कारोंका आविष्कार किया था।

'त्रयमेकत्र संयमः' धारणा, ध्यान और समाधि इन तीनोंको एक करनेका नाम 'संयम' है। जब किसी एक विषयमें इन तीनों अङ्गोंका एकत्र समावेश किया जाय, तब यही अवस्था संयमकी हो जाती है। संयमसे सम्बन्ध रखनेवाली जो धारणा और समाधि है उनमें विषयकी धारणा रहती है। ध्येयका ध्यान बना रहता है और फिर भी समाधि की जाती है। ऐसा न हो तो अलौकिक योगसिद्धियाँ कैसे प्राप्त हो सकती हैं? यही कारण है कि यह समाधि द्वैतभावसे पूर्ण होती है। इस गहन विषयको और प्रकारसे भी समझ सकते हैं। 'संयमके जयसे प्रज्ञाका प्रकाश होता है।' जितना-जितना 'संयम' स्थिर होता

जाता है उतनी-उतनी ही पूर्ण ज्ञानमय परमात्माकी कृपासे समाधिविषयिणी दिव्य बुद्धि प्रकाशित होती हुई शेषमें पूर्णताको प्राप्त हो जाती है। समाधिविषयिणी बुद्धिसे तात्पर्य है उस भ्रमहीन बुद्धिसे कि जो योगकी विभिन्न सिद्धियोंमें कार्यकारिणी होती है। अतः 'संयमक्रियाका प्रयोगस्थान' केवल धारणा, ध्यान और समाधि इन्हीं तीन भूमियोंमें है। 'संयमक्रिया' धारणाभूमिमें पहुँचकर विषयकी धारणासे प्रकट होकर 'विषयाकार वृत्तिसे' ध्यानभूमिमें पहुँचकर समाधिभूमिमें जाकर सिद्धिलाभ करती है। यही कारण है कि 'संयम' जीवमें अनन्त ऐसी शक्तियोंको प्रकट कर देता है।

पूर्वोक्त प्रकारसे योगाभ्यास करनेवाले योगी महात्माओं-को जो 'योगकी विभिन्न सिद्धियाँ' प्राप्त होती हैं, अब उनका संक्षिप्त परिचय दिया जाता है। मोक्षरूपी परम सिद्धिकी प्राप्ति निर्बीज समाधिका फल है, परन्तु सब प्रकारकी दिव्य ऐश्वर्यरूपी नाना अपरा सिद्धियाँ सम्प्रज्ञात समाधिसे ही सम्बन्ध रखती हैं।

पहली सिद्धि

व्युत्थान-संस्कारोंका लय होकर जो निरोध-संस्कारोंका प्रकट होना है, तथा निरोधके क्षणमें जो चित्तका धर्मीरूपमें दोनोंके साथ अन्वय है उसे 'निरोध-परिणाम-सिद्धि' कहते हैं। निरोध-संस्कारसे अन्तःकरणकी शान्ति प्रवाहित होती है। नाना विषयोंके संस्कारसे जो अन्तःकरणकी चञ्चलता होती है उस 'सर्वार्थता' का क्षय और एकाग्रता-का उदय ही अन्तःकरणमें समाधिका परिणाम है। तब शान्त-प्रत्यय अर्थात् एकाग्रतापरिणाममें सिद्धिकी इच्छा रखनेवाले योगीका अन्तःकरण तरङ्गरहित जलाशयके समान वृत्तियोंकी सर्वार्थताओंसे रहित होकर शान्त हो जाता है, इसी अवस्थाका नाम 'शान्तप्रत्यय' है, और उदितप्रत्यय, अर्थात् शान्तप्रत्ययके साथ ही सिद्धियोंकी इच्छाजनित वासना बीजके वेगसे सिद्धिके उन्मुख योगीका अन्तःकरण रहता है, इसी अवस्थाका नाम 'उदितप्रत्यय' है। इन दोनों प्रत्ययोंकी समानतारूप चित्तकी जो स्थिति है वही 'एकाग्रतापरिणाम' है। इससे स्थूल, सूक्ष्मभूत और इन्द्रियोंमें भी 'धर्मपरिणाम', 'लक्षणपरिणाम' और 'अवस्थापरिणाम' वर्णित किये गये हैं ऐसा समझना चाहिये। पृथ्वीरूप धर्मीका जो घटरूप विकार है उसको 'धर्मपरिणाम' कहते हैं। घटका जो अनागत लक्षणके त्यागपूर्वक वर्तमान लक्षणवाला हो जाना घटरूप धर्मका 'लक्षणपरिणाम' है; और वर्तमान लक्षणवाले घटका जो नयापन तथा क्षण-क्षणमें पुरातनपन है उसको 'अवस्था-परिणाम' कहते हैं। इन तीनों परिणामोंका इन्द्रियोंमें भी इस प्रकार विचार किया जाता है—जैसे इन्द्रियोंका जो नील-पीतादि विषयोंका ज्ञान है वही उनका 'धर्मपरिणाम' है, नीलादि ज्ञानका जो वर्तमान लक्षणवाला हो जाना है उसीका नाम 'लक्षणपरिणाम' है, वर्तमान दशामें जो स्पष्टपन या अस्पष्टपन है उसका नाम 'अवस्थापरिणाम' है। शान्त—अतीत, उदित—वर्तमान, और अव्यपदेश्य—भविष्यत्, जो धर्म हैं उनमें अनुगत होनेवाला 'धर्मी' है। परिणामोंके भेदमें क्रमोंका भेद कारणरूप है। क्रमके अदल-बदलसे ही परिणामोंका परिवर्तन होता है, जैसे प्रथम मिट्टीके परमाणु होते हैं, पुनः उनसे मिट्टीका पिण्ड बनता है, फिर मिट्टीके पिण्डसे घट बनता है। घट फूटकर कपाल हो जाता है, कपालसे ठीकरे हो जाते हैं, फिर ठीकरे परमाणुमें परिणत होते हुए, मिट्टीके रूपको ही धारण कर लेते हैं। ठीक वैसे ही अन्तःकरणकी पूर्ववृत्ति उत्तर-वृत्तिका पूर्वकारण होती हुई क्रमके अनुसार धर्मान्तर परिणाम करती है। प्रकृतिके सब तरङ्गोंका परिवर्तन और अन्तःकरणमें सुख-दुःख आदि धर्मोंका परिवर्तन ये सब इसी क्रमनियमके ऊपर निर्भर हैं। अतएव धर्म, लक्षण और अवस्था नामक तीनों परिणामोंमें संयम करनेसे योगीको भूत और भविष्यत्का ज्ञान होता है।

दूसरी सिद्धि

शब्द, अर्थ और ज्ञानके एक दूसरेमें मिले रहनेसे संकर अर्थात् घनिष्ठ मेल है, उनके विभागोंमें संयम करने-पर 'सब प्राणियोंकी वाणी' का ज्ञान होता है।

तीसरी सिद्धि

संस्कारोंके प्रत्यक्ष होनेसे योगीको पूर्वजन्मका ज्ञान होता है। जैसे मनुष्यके छायारूप चिह्नको यन्त्रद्वारा धारण करनेकी शक्ति उत्पन्न करके वैज्ञानिकगण फोटोग्राफमें मनुष्यमूर्तिको यथावत् प्रकाशित कर देते हैं वैसे ही संस्कारोंमें संयम करनेसे संस्कारके कारणरूप कर्मोंका यथावत् ज्ञान योगीको हो सकता है।

चौथी सिद्धि

ज्ञानमें संयम करनेपर दूसरेके चित्तका ज्ञान होता है। जिस अन्तःकरणमें जैसा गुणपरिणाम रहता है वैसी ही

उस अन्तःकरणसे सम्बन्धयुक्त ज्ञानकी स्थिति होती है। अतः यदि किसी जीवविशेषके अन्तःकरणका हाल जानना हो तो उसके ज्ञानकी पर्यालोचना करके उस जीवके मनका सब हाल जान सकते हैं।

पाँचवीं सिद्धि

कायागत रूपमें संयम करनेसे उसकी ग्राह्य शक्तिका स्तम्भ हो जाता है; और शक्तिस्तम्भ होनेसे दूसरेके नेत्रके प्रकाशका योगीके शरीरके साथ संयोग नहीं होता, तब योगीके शरीरका अन्तर्धान हो जाता है। जैसे रूपविषयक संयम करनेसे योगीके शरीरके रूपको कोई नहीं देख सकता, उसी प्रकार शब्दादि पाँचोंके विषयमें संयम करनेसे योगीके शरीरके शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धको पासमें रहा हुआ पुरुष भी नहीं जान सकता।

छठी सिद्धि

सोपक्रम—जो कर्म शीघ्र फलदायक हो जाता है उस शीघ्र कार्यकारी कर्मकी अवस्थाका नाम 'सोपक्रम' है, जैसे जलसे भीगे हुए वस्त्रको निचोड़कर सुखा देनेसे वस्त्र शीघ्र सूख जाता है। तथा निरुपक्रम—कर्म-विपाककी मन्दताके कारण विलम्बसे फलदायक कर्मकी अवस्थाका नाम 'निरुपक्रम' है, जैसे बिना निचोड़ा पिण्डीकृत वस्त्र बहुत कालमें सूखता है। इन दो प्रकारके कर्मोंमें जो योगी संयम करता है उसको मृत्युका ज्ञान हो जाता है। अथवा त्रिविध अरिष्टोंसे मृत्युका ज्ञान होता है।

सातवीं सिद्धि

मैत्री, मुदिता, करुणा और उपेक्षा आदिमें संयम करनेसे तत्सम्बन्धी बलकी प्राप्ति होती है। मैत्रीबल, करुणाबल, मुदिताबल और उपेक्षाबलकी प्राप्ति करके योगी पूर्ण मनोबल अर्थात् आत्मबल प्राप्त करता है। जो शक्ति अन्तःकरणको इन्द्रियोंमें गिरने न देकर नियमितरूपसे आत्मस्वरूपकी ओर खींचती रहती है उसीको 'आत्मबल' या तेज कहते हैं।

आठवीं सिद्धि

बलमें संयम करनेसे योगीको हस्तिके बलादि प्राप्त हो सकते हैं। बल दो प्रकारका है—एक आत्मबल, दूसरा शारीरिक बल। प्रकृति विभिन्न होनेसे बलमें स्वतन्त्रता है, जैसे सिंहबल, गजबल, बलशाली खेचर पक्षियोंका बल और बलशाली जलचरोंका बल। जिस प्रकारके बलकी आवश्यकता हो उसी प्रकारके बलशाली जीवोंके बलमें संयम करनेसे योगीको उसी प्रकारके बलकी प्राप्ति हुआ करती है।

नवीं सिद्धि

ज्योतिष्मती प्रकृतिके प्रकाशको सूक्ष्मादि वस्तुओंमें न्यस्त करके उनपर संयम करनेसे योगीको सूक्ष्म, गुप्त और दूरस्थ पदार्थोंका ज्ञान होता है। लययोगी अपने अन्तर्राज्यमें शरीरके द्विदलस्थानमें शुद्ध तेजपूर्ण बिन्दुका दर्शन करता है। वह ज्योतिष्मती प्रवृत्ति बिन्दुरूपसे आविर्भूत होकर जब स्थिर होने लगती है तब यही बिन्दुध्यान-की अवस्था है। उसी बिन्दुके विस्तारसे योगी संयम-शक्तिकी सहायता और ज्योतिष्मती प्रकृतिकी सहयोगितासे अनेक गुप्त विषय और जलमग्न या पृथ्वीगर्भस्थित समस्त द्रव्यसमूहके देखनेमें समर्थ हो सकता है।

दसवीं सिद्धि

सूर्यनारायणमें संयम करनेसे योगीको यथाक्रम स्थूल और सूक्ष्म लोकोंका ज्ञान हो जाता है। स्थूल लोक प्रधानतः यही मृत्युलोक है। और सात स्वर्ग तथा सप्त पाताल ये सूक्ष्म लोक कहलाते हैं। अन्यान्य निकटस्थ ब्रह्माण्डोंका ज्ञानलाभ करना भी सूक्ष्म लोकसे सम्बन्ध-युक्त ज्ञान है।

ग्यारहवीं सिद्धि

चन्द्रमामें संयम करनेसे नक्षत्रव्यूहका ज्ञान होता है। ज्योतिषका सिद्धान्त है कि जितने ग्रह हैं उन सबमें चन्द्र एक राशिपर सबसे बहुत ही कम समयतक रहता है। इससे प्रत्येक ताराव्यूहरूपी राशिकी आकर्षण-विकर्षण शक्तिके साथ चन्द्रका अति घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः उसी शक्तिके अवलम्बनसे नक्षत्रोंका पता लगानेमें चन्द्रकी सहायता सुविधाजनक है।

बारहवीं सिद्धि

ध्रुवमें संयम करनेसे ताराओंकी गतिका पूर्ण ज्ञान होता है। ध्रुवलोक हमारे सौर्य जगत्से इतना दूरवर्ती है कि उस दूरताके कारण हमलोग उसको स्थिर ही देख

रहे हैं। जैसे दूरवर्ती देशमें स्थित किसी अग्निशिखाको उसके स्वभावसे ही चञ्चल होनेपर भी हम एक अचञ्चल ज्योतिर्मय रूपवाली देखते हैं। वैसे ही ध्रुवके चलने-फिरनेपर भी उसके चलनेका हमारे लोकसे कोई सम्बन्ध न रहनेके कारण और परस्परमें अगणित दूरत्व होनेसे हमलोग ध्रुवको अचञ्चल ध्रुव ही निश्चय करते हैं।

तेरहवीं सिद्धि

नाभिचक्रमें संयम करनेपर योगीको शरीरके समुदायका ज्ञान होता है।

शरीरके सात स्थानोंमें सात कमल अर्थात् चक्र हैं; जिनमें छः चक्रोंमें साधन करके सिद्धि प्राप्त होनेपर सातवें चक्रमें पहुँचनेसे मुक्ति प्राप्त होती है। षट्चक्रोंमें-से नाभिके पास स्थित जो तीसरा चक्र है उसमें संयम करनेसे शरीरमें किस प्रकारका पदार्थ किस प्रकारसे है, वात, पित्त और कफ ये तीन दोष किस रीतिसे हैं; चर्म, रुधिर, मांस, नख, हाड़, चर्बी और वीर्य ये सात धातुएँ किस प्रकारसे हैं, नाड़ी आदि कैसी-कैसी हैं; इन सबका ज्ञान हो जाता है।

चौदहवीं सिद्धि

कण्ठके कूपमें संयम करनेसे भूख और प्यास निवृत्त हो जाती हैं। मुखके भीतर उदरमें वायु और आहार आदि जानेके लिये जो कण्ठछिद्र है उसीको 'कण्ठकूप' कहते हैं। यहींपर पाँचवाँ चक्र स्थित है। इसीसे क्षुत्पिपासाकी क्रियाका घनिष्ठ सम्बन्ध है।

पन्द्रहवीं सिद्धि

कूर्मनाड़ीमें संयम करनेसे स्थिरता होती है। पूर्वोक्त कण्ठकूपमें कच्छप आकृतिकी एक नाड़ी है, उसको कूर्मनाड़ी कहते हैं। उस नाड़ीसे शरीरकी गतिका विशेष सम्बन्ध है। इसीसे यहाँ संयम करनेपर शरीर स्थिरताको प्राप्त हो जाता है। जैसे सर्प अथवा गोह अपने-अपने बिलमें जाकर चञ्चलता और क्रूरताको त्याग देते हैं, वैसे ही योगीका मन इस कूर्मनाड़ीमें प्रवेश करते ही अपनी स्वाभाविक चञ्चलताको त्याग कर देता है।

सोलहवीं सिद्धि

कपालकी ज्योतिमें संयम करनेसे योगीको सिद्धगणोंके दर्शन होते हैं। मस्तकके भीतर कपालके नीचे एक छिद्र है उसे ब्रह्मरन्ध्र कहते हैं। उस ब्रह्मरन्ध्रमें मन ले जानेसे एक ज्योतिका प्रकाश नजर आता है, उसमें संयम करनेसे योगीको सिद्ध और महात्माओंके दर्शन होते हैं। जीवकोटिसे उपराम होकर सृष्टिके कल्याणार्थ ऐसी शक्तियोंको धारण करके एक लोकसे लोकान्तरमें विचरण करनेवालोंको ही सिद्ध या महात्मा कहा जाता है जो चतुर्दश भुवनोंमें ही विराजते हैं।

सतरहवीं सिद्धि

प्रातिभमें संयम करनेसे योगीको सम्पूर्ण ज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है।

योगसाधन करते-करते योगियोंको एक तेजोमय तारा ध्यानावस्थामें दिखलायी पड़ता है, उसी तारेका नाम 'प्रातिभ' है। चञ्चलबुद्धि मनुष्य उस तारेका दर्शन नहीं कर सकते। योगीकी बुद्धि जब शुद्ध होकर ठहरने लगती है तभी उस भाग्यवान् योगीको 'प्रातिभ' के दर्शन होते हैं। इसी प्रातिभको स्थिर कर उसमें संयम करनेसे योगी ज्ञान-राज्यकी सब सिद्धियोंको प्राप्त कर सकता है।

अठारहवीं सिद्धि

हृदयमें संयम करनेसे योगीको चित्तका ज्ञान होता है। चतुर्थ चक्रका नाम हृत्कमल है। इससे अन्तःकरणका एक विलक्षण सम्बन्ध है। चित्तमें नये और पुराने सब प्रकारके संस्कार रहते हैं, चित्तके नचानेसे ही मन नाचता है। चित्तका पूर्ण स्वरूप महामायाकी मायासे जीवपर प्रकट नहीं होता है। जब योगी हृत्कमलमें संयम करता है तब वह अपने चित्तका पूर्ण ज्ञाता बन जाता है।

उन्नीसवीं सिद्धि

बुद्धि पुरुषसे अत्यन्त पृथक् है। इन दोनोंके अभिन्न ज्ञानसे भोगकी उत्पत्ति होती है। बुद्धि परार्थ है, उससे भिन्न स्वार्थ है। उसमें अर्थात् अहंकारशून्य चित्प्रतिबिम्बमें संयम करनेसे पुरुषका ज्ञान होता है। बुद्धि-पुरुषका जो परस्पर प्रतिबिम्ब-सम्बन्धसे अभेद ज्ञान है वही पुरुष-निष्ठ भोग कहलाता है। बुद्धि दृश्य होनेसे उसका यह भोग-रूप प्रत्यय परार्थ यानी पुरुषके लिये ही है। इस परार्थसे अन्य जो स्वार्थ प्रत्यय है यानी जो बुद्धिप्रतिबिम्बित चित्सत्ताको अवलम्बन करके चिन्मात्ररूप है उसमें संयम करनेसे योगीको नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव पुरुषका ज्ञान हो जाता है। बुद्धिके मलिनभावसे रहित शुद्धभाव-

मय, जेय अहकारसे शून्य, आत्मज्ञानसे भरी हुई जो चिद्भावकी दशा है उसीको जानकर उसमे जब योगी सयम करता है तब उसको पुरुषके स्वरूपका बोध हो जाता है। इस परा सिद्धिके पानेपर योगीको प्रातिभ, श्रावण, वेदन, आदर्श, आस्वाद और वार्ता नामक षट्सिद्धियों-की प्राप्ति हो जाती है।

षट्सिद्धियोंका फल

'प्रातिभ सिद्धिसे' योगीको अतीत, अनागत, विप्रकृष्ट और सूक्ष्मातिसूक्ष्म पदार्थोंका ज्ञान हो जाता है। 'श्रावण-सिद्धिसे' योगीको दिव्य श्रवणज्ञानकी पूर्णता यानी प्रण-वध्वनिका अनुभव होता है। 'वेदनसिद्धिसे' योगीको दिव्यस्पर्शज्ञानकी पूर्णता होती है। 'आदर्शसिद्धिसे' दिव्य दर्शनकी पूर्णता, 'आस्वादसिद्धिसे' दिव्य रसज्ञानकी पूर्णता, और 'वार्तासिद्धिसे' दिव्य गन्धज्ञानकी पूर्णता स्वतः प्राप्त हो जाती है। ये सब समाधिमें विघ्नकारक हैं, परन्तु व्युत्थानदशाके लिये सिद्धियाँ हैं।

बीसवीं सिद्धि

बन्धनका जो कारण है उसके शिथिल हो जानेसे और सयमद्वारा चित्तकी प्रवेशनिर्गममार्गनाड़ीके ज्ञानसे चित्त दूसरे शरीरमे प्रवेश कर सकता है। चञ्चलताको प्राप्त हुए अस्थिर मनका शरीरमे द्वन्द्व तथा आसक्तिजन्य बन्धन है, समाधिप्राप्तिसे क्रमशः स्थूल शरीरसे सूक्ष्म शरीरका यह बन्धन शिथिल हो जाता है। सयमकी सहायतासे चित्तके गमनागमनमार्गीय नाड़ीज्ञानसे स्वतः सूक्ष्म शरीर-को कहीं पहुँचा देनेका नाम प्रवेशक्रिया है, और पुनः उस सूक्ष्म शरीरको ले आनेका नाम निर्गम-क्रिया है। इन दोनोंका जब योगीको बोध हो जाता है तब योगी जब चाहे तब अपने शरीरसे निकलकर दूसरेके शरीरमें प्रवेश कर सकता है।

इक्कीसवीं सिद्धि

उदानवायुके जीतनेसे जल, कीचड़ और कण्टक आदि पदार्थोंका योगीको स्पर्श नहीं होता और मृत्यु भी वशीभूत हो जाता है। ऊर्ध्वगमनकारी कण्ठसे लेकर सिरतक व्यापक जो वायु है वही 'उदानवायु' कहलाता है। यह ऊर्ध्वगमनकारी होनेसे उसमें सयम करनेवाले योगीका शरीर जल, पङ्क और कण्टक आदिसे नष्ट नहीं होता। उदानवायुसे सब स्नायुओंकी क्रियाएँ नियमित रहती हैं। मस्तिष्कका स्वास्थ्य ठीक रहकर चेतनकी क्रिया बनी रहती है। इसके अतिरिक्त उदानवायुसे प्राणमय कोश-सहित 'सूक्ष्म शरीर' पर आधिपत्य बना रहता है। अतएव उदानवायुके जयसे योगी इच्छानुसार शरीरसे प्राणोत्क्र-मणरूप इच्छामृत्युको प्राप्त कर सकता है। जैसे भीष्म पितामहने उत्तरायण सूर्य आनेपर ही देहत्याग किया था।

बाईसवीं सिद्धि

समानवायुको वश करनेसे योगीका शरीर ज्योतिर्मय हो जाता है। नाभिके चारों ओर दूरतक व्यापक रहकर समताको प्राप्त हुआ जो वायु जीवनी क्रियाको साम्या-वस्थामें रखता है उस वायुको 'समानवायु' कहते हैं। इस शरीरकी समानताका इस वायुसे प्रधान सम्बन्ध है। शारीरिक तेजशक्ति ही जीवनी क्रियाको साम्यावस्थामें रखती है। इसीलिये समानवायुको सयमसे जीत लेनेसे योगी तेजःपुञ्ज हो जाता है।

तेईसवीं सिद्धि

कर्ण-इन्द्रिय और आकाशके आश्रयाश्रयिरूप सम्बन्धमें संयम करनेसे योगी दिव्यश्रवणको प्राप्त होता है। समस्त श्रोत्र और शब्दोंका आधार आकाश है। जबतक कानके साथ आकाशका सम्बन्ध रक्खा जाता है तबतक शब्द सुनायी पड़ते हैं, अन्यथा नहीं। इससे कान और आकाशका जो आश्रयाश्रयिरूप सम्बन्ध है उसमे सयम करनेसे योगी सूक्ष्म-से-सूक्ष्म छिपे हुएसे अति छिपे हुए, दूरवर्ती-से-दूरवर्ती और नानाप्रकारके दिव्य शब्दोंको श्रवण कर सकता है।

चौबीसवीं सिद्धि

शरीर और आकाशके सम्बन्धमे सयम करनेसे और लघु यानी हलकी रुई जैसे पदार्थकी धारणासे आकाशमें गमन हो सकता है। आकाश और शरीरका व्यापक और व्याप्यरूपसे सम्बन्ध है। आकाश सब भूतोंसे हलका है। और सर्वव्यापी है, इसलिये योगी जब आकाश और शरीरके सम्बन्धमे सयम करता है और उस समय लघुताके विचारसे रुई आदि हलके-से-हलके पदार्थोंकी धारणा भी रखता है, तब इस क्रियासे उसमें हलकेपनकी सिद्धि हो जाती है।

पचीसवीं सिद्धि

शरीरसे बाहर जो मनकी स्वाभाविक वृत्ति है उसका नाम 'महाविदेहधारणा' है, उसके द्वारा प्रकाशके आवरणका नाश हो जाता है। स्थूल शरीरसे बाहर शरीरके आश्रयीकी अपेक्षा न रखनेवाली जो मनकी वृत्ति है उसे 'महाविदेह' कहते हैं। उसीसे ही अहंकारका वेग दूर होता है। उस वृत्तिमें जो योगी संयम करता है उससे प्रकाशका ढकना दूर हो जाता है। जबतक शरीरका अहंकार रहता है तबतक मनकी बाह्य वृत्ति रहती है, परन्तु जब शारीरिक अहंकारको त्यागकर स्वतन्त्रभावसे मनकी वृत्ति बाहर रहती है तभी योगीका अन्तःकरण मलरहित और निःसङ्ग रहता है। शरीरसे लगी हुई मनकी जो बाहरी वृत्ति है उसका नाम 'कल्पिता' है। परन्तु शरीरकी अपेक्षा न रखकर देहाध्याससे रहित जो मनकी स्वाभाविकी और निराश्रयी बाहरी वृत्ति है वही अकल्पित है। कल्पितको छोडकर अकल्पित जो महाविदेहवृत्तिका साधन किया जाता है, उसके सिद्ध होनेपर प्रकाशस्वरूप बुद्धिका पूर्ण विकास हो जाता है। तब अहंकारसे उत्पन्न हुए क्लेश, कर्म और कर्मफल, इनके सम्बन्धसे साधक मुक्त हो जाता है। तथा रज-तमका आवरण हट जाता है जिससे योगी अपने अन्तःकरणको यथेच्छ ले जानेकी सिद्धिको प्राप्त करता है।

छब्बीसवीं सिद्धि

'पञ्चतत्त्वोंकी स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय और अर्थवत्त्व ये पाँच अवस्थाविशेष हैं, इनमें संयम करनेसे भूतोंपर जयलाभ होता है।' भूतोंकी 'स्थूल-अवस्था' वह है जो दृष्टिगोचर हुआ करती है। 'स्वरूपावस्था' वह है—जो स्थूलमें गुणरूपसे अदृष्ट हो। जैसे तेजमें उष्णता है। 'सूक्ष्मावस्था' तन्मात्राओंकी है। 'अन्वयावस्था' व्यापक सत्त्व, रज और तमोगुणकी है। और पञ्चम 'अर्थवत्त्वावस्था' फलदायक होती है। जब योगी पञ्चभूतोंकी इन अवस्थाओंमें संयमद्वारा उनको जय कर लेता है तब प्रकृति अपने-आप उस योगीके अधीन हो जाती है। जैसे गौ अपने-आप ही बच्चेको दूध पिलाया करती है वैसे ही पञ्चभूतके जयसे प्रकृति वशीभूत हो जानेपर वह प्रकृति माता अपने-आप ही उस योगीकी सेवामें तत्पर हो जाती है।

अष्ट सिद्धियाँ

'भूतजयानन्तर अणिमादि 'अष्ट सिद्धि', सिद्धियोंका प्रकाश, शरीरसम्बन्धी सब सम्पत्तियोंकी प्राप्ति और शरीरके रूपादि धर्मोंका अनभिघात होता है।' अणिमा, लघिमा, महिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, वशित्व और ईशित्व—ये ही 'अष्ट सिद्धियाँ' हैं। जब योगी इच्छा करते ही अपने शरीरको सूक्ष्म अणुसे भी सूक्ष्मतर कर लेता है तब उसे 'अणिमासिद्धि' कहते हैं। 'लघिमासिद्धि'—उसको कहते हैं कि जब योगी इच्छा करते ही अपने स्थूल शरीरको हलकेसे भी हलका कर सके और आकाशके अवलम्बनसे जहाँ चाहे वहीं जा सके। 'महिमासिद्धि' वह है कि जब योगी इच्छा करते ही अपने शरीरको चाहे जितना बढ़ा सके। 'गरिमासिद्धि' वह कहलाती है कि जब योगी इच्छा करते ही अपने शरीरको चाहे जितना भारी-से-भारी कर सके। 'प्राप्तिसिद्धि' वह कहाती है कि जब योगी इच्छा करते ही एक लोकसे लोकान्तरमें यानी किसी ग्रह, उपग्रह, सूर्य या किसी महासूर्यमें जहाँ चाहे वहीं पहुँच सके। 'प्राकाम्यसिद्धि' वह है कि जब योगी जिस किसी पदार्थकी इच्छा करे तभी वह पदार्थ उसको प्राप्त हो जाय, अर्थात् त्रिलोकमें उसको अप्राप्त कोई भी पदार्थ न रहे। 'वशित्वसिद्धि' वह कहाती है कि जिससे योगीके वशमें समस्त पञ्चभूत और सम्पूर्ण भौतिक पदार्थ आ जाते हैं। और वह जैसे चाहता है वैसे ही पञ्चभूतोंसे काम ले सकता है। वह स्वयं किसीके भी वशमें नहीं होता। 'ईशित्वसिद्धि' उसको कहते हैं कि जब योगी भूत और भौतिक पदार्थोंकी उत्पत्ति, स्थिति और लय करनेकी शक्तिको प्राप्त हो जाता है, यदि वह नवीन सृष्टिको करना चाहे तो वह भी आंशिकरूपसे कर सकता है। ये ही अष्ट सिद्धि हैं। इन सिद्धियोंके साथ-साथ योगीको रूप, लावण्य, बल और वज्रतुल्य दृढता ये सब कायसम्पत्तियाँ मिल जाती हैं। रूप और लावण्य उसे कहते हैं कि यह स्थूल शरीर ऐसी दिव्य सुन्दरताको धारण करे कि तब उस शरीरके रूपकी माधुर्यतासे सब प्रकारके दर्शक ही मोहित हो जायँ। चाहे दर्शक देवता हो चाहे मानव, चाहे पशु और जीव हो, सब उसकी मूर्तिको देखते ही मोहित हो जायँ। प्रकृति ही जिसके वशीभूत हो जाती है उसके बलकी तुलना किससे हो सकती है? सब शस्त्रोंसे महातीव्र वज्रकी तरह उसका शरीर दृढ़ हो जाता है।

सत्ताईसवीं सिद्धि

'ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय और अर्थवत्त्व नामक इन्द्रियोंकी पाँच वृत्तियोंमें संयम करनेसे इन्द्रियोंका जय

होता है।' सामान्य और विशेषरूपसे शब्दादि जितने विषय हैं वे सब बाहरी विषय ग्राह्य कहलाते हैं, उन ग्रहण करनेयोग्य विषयोंमें जो इन्द्रियोंकी वृत्ति जाती है उस वृत्तिको 'ग्रहण' कहते हैं। किसी रीतिसे बिना विचारे विषय जब अकस्मात् गृहीत हो जाते हैं, तब मनका उसमें प्रथम विचार ही 'स्वरूपवृत्ति' है। उस अवस्थामें जो अहङ्कारका सम्बन्ध रहता है, वह अहङ्कारमिश्रित भाव ही 'अस्मितावृत्ति' कहा जाता है। फिर बुद्धिद्वारा उस स्वरूपके विचारको यानी जब बुद्धि सत्यासत्य, सामान्य और विशेष-का विचार करने लगती है तब उस वृत्तिको 'अन्वय' कहते हैं। नाना विषयोंको प्रकाश करनेवाली, स्थितिशील, अहङ्कारके साथ सब इन्द्रियोंमें व्यापक, बहकी हुई जो वृत्ति है वही पञ्चम 'अर्थवत्त्ववृत्ति' कहलाती है। इन इन्द्रियोंकी पाँचों वृत्तियोंमें संयम करके इन्हें अपने अधीन कर लेनेसे इन्द्रियगणका पूर्ण जय होता है।

इन्द्रियजयका फल

'इन्द्रियजयके अनन्तर मनोजवित्व, विकरणभाव और प्रधानजयकी सिद्धियाँ योगीको स्वतः प्राप्त हो जाती हैं।' मनकी गतिके समान शरीरकी उत्तम गतिकी प्राप्तिको 'मनोजवित्व' कहते हैं, अर्थात् मनकी तरह शीघ्र ही अनेक योजनव्यवहित देशमें गमन करनेकी शरीरमें सामर्थ्य होनेका नाम मनोजवित्व है। शरीरके सम्बन्धको त्यागकर जो इन्द्रियोंकी वृत्तिका प्राप्त करना है उसे 'विकरणभाव' कहते हैं, अर्थात् जिस देश, काल या विषयोंमें अभिलाषा हो, शरीरके बिना ही चक्षुरादि इन्द्रियोंसे गति प्राप्त होनेका नाम 'विकरणभाव' है। प्रकृतिके विकारोंके मूल कारणको जय करनेका नाम 'प्रधानजयत्व' है जिससे सर्वव्यशित्व प्राप्त होता है। ये सिद्धियाँ स्वतः मिलती हैं।

अट्ठाईसवीं सिद्धि

'बुद्धि और पुरुषमें पार्थक्य-ज्ञानसम्पन्न योगीको सर्वभावाधिष्ठातृत्व और सर्वज्ञातृत्व प्राप्त होता है।' जब अन्तःकरणकी ऐसी निर्मल अवस्था होती है तब अपने-आप परमात्माका शुद्ध प्रकाश उसमें प्रकाशित होने लगता है, जिससे योगीको बुद्धिरूप दृश्य और पुरुषरूप द्रष्टामें जो तात्त्विक भेद है वह स्पष्ट अनुभव होने लगता है, और ऐसी परिस्थितिमें योगी अखिल भावोंका स्वामी और सकल विषयोंका ज्ञाता बन जाता है।

उनतीसवीं सिद्धि

जितने कालमें एक परमाणु पलटा खाता है उसको क्षण कहते हैं और उसके अवच्छिन्न प्रवाहको क्रम कहते हैं। उनमें संयम करनेसे विवेक यानी अनुभवसिद्ध ज्ञान उत्पन्न होता है। भौतिक पदार्थके सूक्ष्मातिसूक्ष्म भागको 'परमाणु' कहते हैं। जिस कालसे कम भागमें काल विभक्त न हो सके, उस सूक्ष्मातिसूक्ष्म काल-भागको 'क्षण' कहते हैं। उन परमाणुओंकी गति अर्थात् प्रवाहका जो रूप है उसको 'क्रम' कहते हैं। क्रम क्षणसे ही जाना जाता है। भूत क्षणका परिणाम वर्तमान क्षण है। वर्तमान क्षणका परिणाम भविष्यत् क्षण होगा। इस प्रकार समस्त ब्रह्माण्डोंकी सृष्टिक्रिया एक ही क्षणका परिणाम है। इस योगबुद्धिसे क्षण और क्रममें संयम करके उनका साक्षात् ज्ञानलाभ करनेसे अभ्रान्त और पूर्ण ज्ञानकी प्राप्ति होती है। तब योगी जिस विषयको देखता है उसका ही यथार्थ पूर्णरूप देख लेता है। यही योगीकी त्रिकालदर्शी अवस्था है।

परासिद्धि

'उपर्युक्त अपरा सिद्धियोंकी प्राप्तिके अनन्तर योगीको विवेकख्यातिजनित वैराग्यके कारण दोषोंके बीज-नाश हो जानेपर 'कैवल्यकी प्राप्ति' होती है।' सिद्धियाँ दो प्रकारकी हैं, एक परा और अन्य अपरा। विषयसम्बन्धीय सब प्रकारकी उत्तम, मध्यम और अधम सिद्धियाँ 'अपरा सिद्धि' कहलाती हैं। ये सिद्धियाँ मुमुक्षु योगीके लिये हेय हैं। इनके सिवा जो स्वस्वरूप अनुभवके उपयोगी सिद्धियाँ हैं वे योगिराजके लिये उपादेय 'परा सिद्धियाँ' हैं।

पाठकगण! लेख-विस्तारसे 'योगकी विभिन्न सिद्धियों' का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। यदि आजकलका भारत इन सिद्धियोंमेंसे एकको भी भलीभाँति प्राप्त कर ले तो हमारी दीनहीन दशा दूर हो जाय और हम पुनः अपने पूर्वजोंके समान सदैव सुखी और स्वतन्त्र हो सकें। अतएव योग क्या है? योगाभ्यास किस प्रकारसे करना चाहिये? और योगकी विभिन्न सिद्धियाँ किस प्रकार प्राप्त हो सकती हैं? इत्यादि प्रश्नोंका समीचीन उत्तर आपके सामने है। हमारी प्रार्थना है कि 'कल्याण'के प्रेमी पाठक इस लेखसे उत्साहित होकर योगाभ्यास करके अपना, अपने देश और समाजका अवश्य ही अभ्युत्थान करें।

हिन्दू और बौद्ध-धर्ममें सिद्धियोंका स्थान

(लेखक—डा० एफ० ऑटो श्राडर, पी-एच० डी०, विद्यासागर, कील विश्वविद्यालय, जर्मनी)

सिद्धियोंकी सचाईको भारतवासी अति प्राचीन कालसे मानते आये हैं। परन्तु वैज्ञानिक पद्धतिसे उनके निरूपणकी अथवा उनके वर्गीकरण-की चेष्टा भारतीय वाङ्मयमें उसी समयसे मिलती है जिस समय इस देशमें उन दार्शनिक सिद्धान्तोंका विकास हुआ जिनका क्रियात्मक भाग योगशास्त्रके रूपमें उपलब्ध होता है अथवा जिनके क्रियात्मक भागका एक अंश योगशास्त्रके नामसे प्रसिद्ध हुआ। इन दार्शनिक सिद्धान्तोंमें केवल सांख्ययोग-नामसे प्रसिद्ध शास्त्र ही शामिल नहीं है जिसका यह सयुक्त नाम इस बातको सूचित करता है कि उसमें सिद्धान्त और क्रिया दोनोंका समावेश है—अपितु बौद्ध एवं जैनदर्शन भी सम्मिलित हैं। इतना ही नहीं, हमारी यह धारणा भी युक्तिविरुद्ध नहीं मालूम होती कि उस प्राचीन युगमें किसी भी दार्शनिक सिद्धान्तके प्रचलित होनेकी तबतक आशा नहीं हो सकती थी जबतक उसमें जगत्की उत्पत्ति आदिका विचार (सांख्य) न किया गया हो और साथ ही जिसमें मानसिक शक्तियोंके विकास-की कोई प्रक्रिया (योग) न बतायी गयी हो। हाँ, पीछे जाकर अवश्य ये दोनों भाग किसी अंशमें एक दूसरेसे अलग हो गये, जिसका कारण था उस समयके विद्वानोंकी किसी एक विषयको लेकर उसका स्वतन्त्ररूपसे विवेचन करनेकी प्रवृत्ति, यद्यपि फिर भी ये दोनों सर्वथा स्वतन्त्र नहीं हो गये और दोनोंमें परस्पर आदान-प्रदान बराबर जारी रहा, उदाहरणतः, पातञ्जलदर्शनमें केवल योगका ही निरूपण करनेकी प्रतिज्ञा की गयी है, किन्तु उसका दार्शनिक आधार सांख्य ही है, और वेदान्तसूत्रके 'एतेन योगः प्रत्युक्तः' (वे० सू० २। १। ३) इस सूत्रमें जो योगका निराकरण किया गया है वह केवल उसके उपर्युक्त दार्शनिक आधारका ही आंशिकरूपसे खण्डन है, न कि योगकी प्रक्रियाका। उसका तो अन्य दर्शनोंकी भाँति वेदान्तने भी समर्थन किया है।

पातञ्जलयोग तथा बौद्धमतमें योगके उस भागका जिसका सम्बन्ध सिद्धियोंसे है क्या स्थान है, इसी बातका विचार नीचेकी पंक्तियोंमें संक्षेपरूपसे किया जायगा, योगसूत्रमें दो जगह, अर्थात् 'विभूतिपाद' नामक तीसरे पादके सैंतीसवें और पचासवें सूत्रोंमें सिद्धियोंका गुणदोषनिरूपण किया गया है। सैंतीसवाँ सूत्र इस प्रकार है—

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः।

अर्थात् ये (सिद्धियाँ) समाधिमें विघ्नरूप हैं और व्युत्थान (जाग्रत्) अवस्थामें सिद्धियाँ हैं। इस सूत्रके पूर्वार्धमें सिद्धियोंकी जो विघ्नरूपसे हेयता बतायी गयी है उसके सम्बन्धमें यदि किसीको कुछ शङ्का हो तो उसका पचासवें सूत्रसे निराकरण हो जाता है, जो इस प्रकार है—

तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्।

अर्थात् इन (सिद्धियों) से भी वैराग्य कर लेनेपर (मन हटा लेनेपर) दोषोंका बीज नाश होकर कैवल्य (मुक्ति) की प्राप्ति हो जाती है। तात्पर्य यह है कि सिद्ध योगी अपनी इन अलौकिक शक्तियोंका उपयोग करना तो दूर रहा, उनकी ओर आँख उठाकर ताकेगा भी नहीं, क्योंकि वह इस बातको जानता है कि वे उसके लिये सहायक न होकर उलटा उसके पतनका कारण हो सकती हैं, क्योंकि यह उन्हींको परम लक्ष्य मानकर सन्तोष कर बैठता है, जैसा कि श्रीसदाशिवेन्द्र सरस्वती अपने 'योगसुधाकर' नामक ग्रन्थमें लिखते हैं—

यदि तत्रापेक्षा स्यात् तदा मोक्षाद् भ्रष्टः कथं कृतकृत्यतामियात्।

परन्तु इसपर यह शङ्का होती है कि उपर्युक्त सूत्रके उत्तरार्धमें जो सिद्धियोंकी प्रशंसा की गयी है उसका क्या अर्थ है? उसका अर्थ यह तो हो नहीं सकता कि जो योगी नहीं हैं उन्हींने सिद्धियोंकी इस प्रकार प्रशंसा की है, अपितु इसका अर्थ तो यह होना चाहिये कि वे योगियोंके लिये भी समाधिसिद्धिमें, उसके सिद्ध न होनेतक किसी-न-किसी रूपमें सहायक होती हैं। यहाँपर यह प्रश्न होता है कि साधन-मार्गपर चलनेवाले योगीको किस भूमिकापर पहुँचनेपर ये सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। विभूतिपाद-के अन्तिम सूत्रकी व्याख्यामें भाष्यकार महर्षि व्यास इन

सिद्धियों (ऐश्वर्य) को 'समाधिज' अर्थात् समाधिसे उत्पन्न हुई बतलाते हैं। निश्चय ही यह समाधि वह समाधि नहीं है जिसका उल्लेख उपर्युक्त सूत्र (३।३७) मे आया है, क्योंकि यदि ये सिद्धियाँ उसी समाधिसे उत्पन्न होनेवाली हों जिसके मार्गमे ये विघ्नरूप है तो वे केवल उसका आनुषङ्गिक फल ही मानी जायँगी जिनका परिणाम अशुभके सिवा शुभ कभी हो नहीं सकता। वास्तवमे तो योगशास्त्रमे व्यवहृत 'समाधि' शब्दका अर्थ बहुत व्यापक है और उसके कम-से-कम दो विशिष्ट अर्थ है, जैसा कि 'सम्प्रज्ञात समाधि' और 'असम्प्रज्ञात समाधि' इन दो समस्त पदोंसे प्रतीत होता है। इसी प्रकार 'व्युत्थान' शब्दका अर्थ भी बिल्कुल असन्दिग्ध नहीं है। योगी जब ऊपर उठता हुआ क्रमशः उच्चतर स्थितिको प्राप्त होता है जो पहलेकी अपेक्षा उत्तरोत्तर आवरणशून्य होती जाती है, तो आगेकी उच्चतर स्थितिकी दृष्टिमें प्राक्तन स्थिति व्युत्थान अवस्था ही है। अतः असम्प्रज्ञात समाधिकी अपेक्षा सम्प्रज्ञात समाधिमे मनकी व्युत्थित अवस्था ही रहती है और इसलिये उपर्युक्त सूत्रमें 'व्युत्थान' शब्द एक प्रकारसे सम्प्रज्ञात समाधिका ही बोध कराता है। कहनेका तात्पर्य यह है कि इस सम्प्रज्ञात समाधिमे उपर्युक्त सिद्धियोका विकास होता है और उनसे आगे बढ़नेमे सहायता मिलती है। सिद्धियोकी उत्पत्तिका स्थान-निर्णय करनेमे हमारे लिये कदाचित् इससे अधिक सचाईके निकट पहुँचना सम्भव नही होगा। यह प्रसिद्ध ही है कि निम्न श्रेणीकी अर्थात् सम्प्रज्ञात समाधिकी (सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार और निर्विचार, इस प्रकार) चार भूमिकाएँ हैं, परन्तु जहाँतक मुझे मालूम है, किसी भी ग्रन्थमे इनमेंसे किसी एकको सिद्धियोकी उत्पत्तिमें विशिष्ट कारण नहीं माना गया है। और सिद्धियाँ अनेक हैं, इससे ऐसी बात सम्भव भी नहीं मालूम होती। इन सिद्धियोंको साधक चारो भूमिकाओमेसे होता हुआ अथवा यों कहिये कि तीसरी और चौथी भूमिकामे एक-एक करके प्राप्त करता है (और कदाचित् सारी सिद्धियाँ प्रत्येक साधकके अन्दर प्रकट भी नहीं होतीं, क्योकि सभी योगी समान शक्तिवाले नहीं होते)। अब अन्तिम प्रश्न यह रह जाता है कि सिद्धियोंसे योगीको जिस सहायताका प्राप्त होना माना गया है वह सहायता किस प्रकारकी होती है, उसका स्वरुप क्या है? इस प्रश्नका उत्तर योगसूत्रके किसी सूत्रमे नहीं मिलता। हाँ, व्यासजीने अपने भाष्यकी उस पक्तिमें जिसका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं यह लिखा है कि ज्ञानकी ही भाँति समाधिजन्य ऐश्वर्य (अर्थात् सिद्धियाँ) भी सत्त्वशुद्धि (अर्थात् अन्तःकरणकी शुद्धि) का कारण होता है। इससे अधिक वे कुछ नहीं कहते और वाचस्पति मिश्र भी इस विषयपर कुछ अधिक प्रकाश नहीं डालते। ऐसी दशामें, आकाशगमन-जैसी सिद्धिसे किस प्रकार अन्तःकरणकी शुद्धि होती है इस बातका पता लगानेके लिये हमारे पास अनुमानके सिवा कोई दूसरा उपाय नहीं रह जाता। कदाचित् हम यह कह सकते हैं कि उपर्युक्त सिद्धियोंके प्राप्त हो जानेपर योगीको ऐसा अनुभव होने लगता है कि मैं प्रकृतिसे मुक्त हो गया अथवा मैंने प्रकृतिपर जय प्राप्त कर ली (देखिये योगसूत्र ३।४८) और इस प्रकार उसका देहाभिमान कम हो जाता है। परन्तु उनसे मुख्य लाभ तो हमारी समझसे साधकको यह होता है कि वे उसके लिये एक सनदका काम देती हैं जिसके द्वारा उसकी प्रगतिका पता लगता है और उसे अपने साधनमे आगे बढ़नेके लिये प्रोत्साहन मिलता है। अन्तमे ये बातें ध्यानमे रखनेकी हैं कि (१) कैवल्यकी प्राप्तिके लिये सिद्धियोंकी आवश्यकता नहीं है (देखिये योगसूत्र ३।५५ का भाष्य), और (२) वे योगाभ्याससे ही मिलती हों यह बात नहीं है, किन्तु कम-से-कम उनमेंसे कुछ तो जन्मसिद्ध भी हो सकती हैं अथवा ओषधिप्रयोग, मन्त्रबल अथवा तपोबलसे भी प्राप्त हो सकती है (देखिये यो० सू० ४।१)। अतः सभी सिद्धिप्राप्त पुरुष महात्मा ही हों यह आवश्यक नहीं है, बल्कि उनमेंसे कुछ धूर्त भी हो सकते हैं।

अब हमलोग प्राचीन बौद्ध योगकी ओर एक दृष्टि डालें जो पातञ्जलयोगसे बहुत कुछ मिलता-जुलता है। भगवान् बुद्धने, जो निःसन्देह एक महान् योगी थे, समाधि और सिद्धि दोनोका ही उपदेश दिया है। परन्तु सिद्धियोंका उल्लेख न तो उनकी 'महाबोधि' के ही वर्णनमे मिलता है और न उनके परिनिर्वाणके प्रसगमे, और इन दोनों स्थितियोंके सम्बन्धमें यह वर्णन मिलता है कि समाधिकी उच्चतम अवस्थासे ही इनकी सिद्धि हुई थी। इस बातकी ओर लक्ष्य कराना इसलिये आवश्यक हो गया है कि कतिपय यूरोपीय विद्वानोंने अभी थोड़े ही दिन हुए यह मत प्रकट किया है कि बौद्ध योगमे उच्चतम समाधि अर्थात् बौद्धोके चतुर्थ ध्यानके आधारपर ही सिद्धियोका विकास होता है। वे लोग

अपने इस मतकी पुष्टिमे 'सामन्नफल सुत्त' नामक एक ग्रन्थ-का प्रमाण देते हैं जिसमे चारो ध्यानोंकी सिद्धिको सिद्धियोंकी प्राप्तिके साधनोंकी अपेक्षा नीचा बतलाया गया है और यह भी लिखा है कि इन ध्यानोंके सिद्ध हो जानेके अनन्तर सिद्धियोंकी प्राप्तिके लिये साधन होता है तथा इन्हींके साथ कतिपय अन्य विभूतियों एव अनुभूतियोकी प्राप्तिके लिये साधन होता है और तब जाकर 'दुःखके पवित्र तत्त्व'का पूर्ण ज्ञान होता है। परन्तु परलोकवासी प्रोफेसर ऑटो फ्रैंके (Otto Franke) ने यह सिद्ध किया है कि इस ग्रन्थके अन्दर जो कुछ है वह जहाँ-तहाँसे सग्रहीतकर भद्दी तरहसे एक जगह रख दिया गया है। यह संग्रह भगवान् बुद्धके निर्वाणके पश्चात् किसी ऐसे समयमें किया गया होगा जब प्राचीन योगपद्धतिका यथार्थ ज्ञान बहुत कम लोगोंमें रह गया था। (जिस प्रकार यह आजकल उन देशोमे जहाँ पाली ग्रन्थोमें निरुपित बौद्धमतका प्रचार है केवल ग्रन्थोंमे ही रह गया है।) उपर्युक्त सिद्धान्तका ध्यानोके मूल सिद्धान्तके साथ विरोध आता है, इसी प्रकार एक सिद्धान्त और भी इसके विरुद्ध मिलता है जो निःसन्देह पहलेकी अपेक्षा अर्वाचीन होनेके साथ-ही-साथ उतना असङ्गत भी नहीं है। यह यह है कि आठ प्रकारके जो विमोक्ष कहे गये हैं उनमेंसे उच्चतर कोटिके विमोक्षोंसे कतिपय ऐसे लोकोकी प्राप्ति होती है जो ध्यानोंके द्वारा प्राप्त होनेवाले लोकोंसे ऊँचे हैं। पालीभाषाके धर्मग्रन्थोंमें इस बातके प्रचुर प्रमाण मिलते हैं कि बौद्धधर्मके मूल सिद्धान्तोंमे उच्चतम कोटिके ध्यानकी अपेक्षा सिद्धियोंका स्थान किसी प्रकारसे भी ऊँचा नहीं माना गया है। वहाँ उन्हें निर्वाणलाभके लिये आवश्यक नहीं समझा गया है। उनके सम्बन्धमे तो केवल यही माना गया है कि जो थोड़े-से लोग प्रकृतिसे विषयलोलुप होते हैं उन्हे योगाभ्यासके आनुषङ्गिक फल-रूपमे ये सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। सिद्धिप्राप्त पुरुषोंमे (अथवा, यों कह सकते हैं कि उन लोगोमे जिन्हे कतिपय सिद्धियाँ प्राप्त थीं) देवदत्त-जैसा अधम अधिकारी भी था जो भगवान् बुद्धका चचेरा भाई और शिष्य था और जिसने अपने गुरुको मारनेकी कई बार चेष्टा की थी। फिर, यह भी स्पष्ट है कि सिद्धियोंके प्रति भगवान् बुद्धकी आदरबुद्धि नहीं थी। अवश्य ही वे महामोग्गल्लन नामक अपने शिष्यको 'इद्धि' (सं. ऋद्धि=सिद्धि) प्राप्त पुरुषोंमें अग्रगण्य, अनिरुद्धको दूरदृष्टिसम्पन्न पुरुषोंमें श्रेष्ठ एवं पन्थकको बहुकायनिर्माणमे प्रमुख कहकर उनकी प्रशंसा किया करते थे, किन्तु पिण्डोल भरद्वाजकी इन्होंने इस बातके लिये बड़ी भर्त्सना की कि वह किसी गृहस्थके कहनेपर हवामे उड़ गया था। स्वयं उन्हें लोग बार-बार कहते कि आप कम-से-कम अपने धर्मका विस्तार करनेके लिये ही अपनी सिद्धियोका प्रयोग कीजिये, किन्तु वे सदा ही उनका विरोध किया करते थे। उनकी दलील यही होती थी कि लोगोको अपना अनुयायी बनानेका यह एक जघन्य उपाय है और ऐसा करनेसे लोगोंको यह सन्देह हो सकता है कि ये किसी सामान्य जादू अथवा 'जन्तर-मन्तर'का प्रयोग करते हैं। विनय नामक आचारग्रन्थमे भिक्खुओंके लिये यह एक आज्ञा भी है कि वे गृहस्थोंके सामने अपनी सिद्धियोंका प्रदर्शन न करें, और दूसरा नियम यह है कि कोई धार्मिक अनुष्ठान (जिसमें चार भिक्खुओंकी आवश्यकता हो) उस सूरतमे विधिहीन माना जायगा यदि उनमेसे एक भी भिक्खु अपनी सिद्धिके बलसे भूमिसे ऊपर उठ गया हो। ऐसी दशामें यदि इसी वर्गके ग्रन्थोंमें हमें इस प्रकारके आख्यान भी मिलें कि भगवान् बुद्धका एक समय किसी काले नागके साथ मन्त्र-युद्ध हुआ था, अथवा उन्होंने (सागत नामक) अपने अनुचर भिक्खुसे कहा कि तुम राज्याधिकारी पुरुषोंकी सभामे जाओ और अपनी सिद्धियाँ दिखलाकर उन्हे चकित करो, अथवा आर्य पिलिन्दवच्छने महाराज बिम्बिसारके महलको सोनेका बना दिया, तो हमें इस बातके समझनेमे अधिक बुद्धिका प्रयोग करनेकी आवश्यकता नहीं पड़ेगी कि इस प्रकारके आख्यान निरे कपोलकल्पित हैं। बढ़ते-बढ़ते महायानसम्प्रदायमे तो चमत्कारोंका इतना प्राचुर्य हो गया कि यह निश्चय करना कठिन हो जाता है कि उनमेंसे कौन-से चमत्कार सिद्धियो-के बलपर दिखाये जाते थे और कौन-से निरे ऐन्द्रजालिक-प्रयोग होते थे। इस युगमें बौद्धमतका इतना अधःपतन हुआ कि महात्माका अर्थ ही चमत्कार दिखलानेवाला हो गया और उस कालके साहित्यमें हमे स्थान-स्थानपर इस प्रकारके वाक्य मिलते हैं कि अमुक सिद्ध पुरुषने चमत्कारोंके बलपर अनेकों शिष्य बनाये।

योग-विज्ञान

(लेखक—श्रीताराचन्द्रजी पाँडथा)

ग कहते हैं मिलनेको । आत्मिक जगत्में इसके दो स्वरूप हैं—(१) आत्माका अनात्मीय पदार्थोंसे सम्बन्ध और (२) आत्माका आत्मामें लीन होना । अनात्मिक वस्तुएँ अनेक हैं, परस्परमें विषमता-को लिये हुई हैं, परिवर्तनशील हैं और आत्मासे विजातीय हैं । उनमें लीन होनेकी इच्छाका परिणाम सतत अतृप्ति और दुःख है—वस्तुतः उनमें लीनता हो ही नहीं सकती । अतः आत्माका आत्मामें लीन होना ही वास्तविक योग है । यह स्वाभाविक और चिरस्थायी है । इसके दो अङ्ग हैं—विजातीय पदार्थोंसे वियोग करना अर्थात् अनात्मीय पदार्थोंसे रुचि हटाना, और आत्मासे योग करना । जिन उपायोंसे यह सिद्ध होता है उन्हें भी, अन्नम प्राणकी तरहसे कारणमें कार्यका उपचार करके, योग कहते हैं । असलमें ये उपाय सिर्फ कारण ही नहीं हैं बल्कि अल्पाधिक अंशोंमें आत्मामें आत्माकी तल्लीनताकी अवस्थाकी अभिव्यक्ति भी हैं—अर्थात् सचमुच योग हैं, क्योंकि आत्मा धर्मसे भिन्न नहीं है ।

योगके लिये आत्मा और अनात्माका भेद, प्रकृति अर्थात् कर्मका आत्माके प्रति आकर्षण (आश्रव) और उससे सम्बन्ध, नवीन कर्म-सम्बन्धका निरोध (संवर) तथा पूर्वबद्ध कर्मोंकी निर्जरा होकर आत्यन्तिक मुक्तिकी उपलब्धि, इन विषयोंका ठीक तथा प्रतीतियुक्त ज्ञान होना आवश्यक है ।

देहधारी प्राणियोंमें जो विषमताएँ और जो सुख-ज्ञान-शक्ति आदिकी अल्पता और स्वस्वरूपभ्रान्ति आदि दिखायी पड़ते हैं वे आत्माके निजी स्वभाव नहीं हैं, क्योंकि उनकी अल्पाधिकता होती रहती है तथा उनका आत्यन्तिक अभाव भी सम्भव है । अतः आत्माके ये भाव किसी अनात्मीय पदार्थके निमित्तसे हैं । यह पदार्थ कर्म है । जीवके वर्तमान कर्मोंके फलोंको भविष्यमें भोगनेसे भी कर्मकी सिद्धि होती है, क्योंकि कर्म और उसके फलके समयमें अन्तर रहनेसे, कार्यकारणकी दृष्टिसे, कोई ऐसा तत्काल कर्मजन्य कार्य मानना पड़ता है जो कि समयपर फलोत्पत्ति कर सके ।

आत्माका देहसे सम्बन्ध होना, आत्माके मानसिक भावों और इच्छाओंका भौतिक पदार्थोंपर प्रभाव पड़ना, यथा क्रोधसे आँखें लाल हो जाना, आदिसे सूचित होता है कि उनका कारण भी भौतिक (पुद्गल) है, क्योंकि कारणके अनुरूप कार्य होता है ।

तप्त लोहेका गोला जिस तरह जलमें चारों ओरसे जल-को खींचता है उसी तरह मन, वचन, कायकी शुभ या अशुभ क्रियाओंसे आत्मामें परिस्पन्दन—हलन-चलन होनेसे एक विशेष जातिके सूक्ष्म पुद्गल परमाणु कर्मरूप होकर आत्माकी ओर आकर्षित होते हैं, और क्रोधादि कषाय भावोंसे फलदानशक्ति तथा स्थितियुक्त होकर आत्माके साथ सम्बद्ध हो जाते हैं । ये कर्म दो प्रकारके होते हैं, घातिया और अघातिया । घातिया कर्म चार तरहके होते हैं—ज्ञानका आवरण करनेवाले, दर्शनका आवरण करनेवाले, आत्माको मोहनेवाले अर्थात् उसको आत्मश्रद्धान और स्वरूपाचरणसे बेभान कर देनेवाले, और दान, लाभ, भोगोपभोग और शक्तिमें विघ्न करनेवाले । अघातिया कर्म भी चार तरहके होते हैं, और उनके कार्य आयु (उम्र), शरीर, गोत्र और सुख-दुःखकी वेदना हैं । सामान्यतः तीव्र कषायोंसे शुभ कर्मोंकी फलदान-शक्ति और स्थिति कम और अशुभ कर्मोंकी अधिक होती है, और मन्द कषायका फल इसके विपरीत होता है । कुछ कालतक अनुदयरूप रहकर ये कर्म उदयमें आते हैं, अर्थात् अपना फल देने लगते हैं, और स्थिति पूरी होनेपर झड़ जाते हैं । फल भोगनेके समय आत्मा कषायभावसे फिर नये कर्म बाँध लेता है । तपस्या आदिके जरिये कर्म अपने समयसे पहले भी उदयमें आकर फल दे देते हैं । कई पूर्वबद्ध कर्मोंमें वर्तमान क्रियाओंसे भी परिवर्तन हो जाता है । क्योंकि कर्म भिन्न-भिन्न स्थितियोंके होते हैं, अतः प्रत्येक क्षण कषायसहित आत्माके साथ नवीन कर्म बँधते रहते हैं, बहुत-से पूर्वकर्म उदय होकर झड़ते रहते हैं, और बहुत-से

पूर्वकर्म फल देनेका समय न आनेके कारण सत्तारूपमें सम्बद्ध रहते हैं। इस तरह आत्मा और कर्मका यह सम्बन्ध प्रवाहरूपसे अनादि है, परन्तु प्रत्येक कर्मबन्ध सादि और सान्त है। आत्मज्ञान पाकर कषायोंको नष्ट कर देनेसे नवीन कर्मबन्ध न होनेपर और पुरातन कर्मोंके, समय पाकर या तपस्यासे, असमयमें ही झड़ जानेपर आत्मा सदाकालके लिये कर्मोंसे मुक्ति पा जाता है, और निज स्वाभाविक, स्वाधीन, पूर्ण आनन्द, ज्ञान, शक्ति आदिको भोगने लगता है। इसीको स्वस्वरूपमें लीन होना कहते हैं।

ऊपर वर्णित ज्ञानावरणादि पुद्गल कर्म द्रव्य-कर्म हैं। उनके निमित्तसे आत्माके जो अज्ञान, मोह, राग, द्वेषादि भाव होते हैं वे भाव-कर्म हैं।

मनुष्यसे निम्नकोटिके प्राणी कर्मोंके और तज्जनित वासनाओंके अधीन रहते हैं। परन्तु मनुष्यादि उत्तम जीवोंके कर्म और कषाय अपेक्षाकृत मन्द रहते हैं। उनमें विवेकशक्ति रहती है, और वे इच्छाओंके सर्वथा वशमें नहीं होते हैं। इसलिये वे उपदेशादिका निमित्त पाकर उपयोग और साधनासे अपने कषायोंको और स्वस्वरूपविसरणको नष्ट या मन्द कर सकते हैं, और इस तरह मुक्ति या मुक्ति-मार्गके अधिकारी होते हैं।

आत्माके साथ कर्मका सम्बन्ध मिथ्यात्व (अर्थात् स्वस्वरूपभ्रान्ति) असयम, वासना और मन-वचन-कायकी क्रियासे होता है। अतः इन कारणोंको दूर करनेसे नवीन कर्मबन्ध होना रुकता है। इनमेंसे मन-वचन-कायकी क्रियाका पूर्ण निरोध तो प्रायः देहसे मुक्ति पानेतक नहीं हो सकता है, क्योंकि सूक्ष्म क्रियाएँ तो अनिच्छापूर्वक होती ही रहती हैं। इन क्रियाओंके द्वारा कर्मोंका आगमन होनेपर भी विना राग-द्वेष-मोहके उनका सम्बन्ध आत्मासे नहीं होता। अतः निरी क्रियाएँ बन्धका कारण भी नहीं हैं। इसलिये इनका यथाशक्य निरोध करना चाहिये, और प्रयोजनीय क्रियाओंको यत्नाचारपूर्वक आसक्ति, कषाय और हिंसासे बचते हुए करना चाहिये।

कर्म-बन्धको रोकनेके उपाय बन्धके कारणोंसे विपरीत गुण हैं। यथा—प्रतीतिसहित स्वस्वरूपका सम्यक् ज्ञान (आत्मज्ञानी अन्तर्मुखी हो जाता है, और कर्म-फल भोगते हुए भी उसकी वासनाएँ मन्द हो जाती हैं तथा प्रतिक्षण अधिक-अधिक मन्द होती जाती हैं); मन-वचन-कायकी क्रियाओंका निग्रह, यत्नाचारपूर्वक प्रयोजनीय क्रियाओंको करना, क्षमा, मार्दव आदि दश सामान्य धर्मोंका पालन, मैत्री, मुदिता, करुणा, उपेक्षाकी चार भावनाएँ भाना, संसारकी अनित्यता और दुःखरूपता, मृत्युकी प्रबलता, देहकी भिन्नता और अपवित्रता, अपने-अपने कर्मोंके फलोंको भोगनेमें अकेलापना, कर्मोंका और लोकका स्वरूप, धर्मकी महिमा और दुर्लभता, इनका बार-बार चिन्तन, अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पञ्चमहाव्रतोंका पालन, वीतराग आत्माका आदरसहित चिन्तन, दुष्ट सङ्गतिका त्याग, क्षुधा-पिपासा आदि शारीरिक दुःखों और राग, द्वेष, अपमान, अलाभ, संशय, काम, क्रोध, मद आदि मानसिक दुःखोंको समतासे सह लेना और उनके निमित्त कारणोंसे चलायमान नहीं होना, समता धारण करना और स्वस्वरूपके समान आचरण करना आदि।

तप भी कर्मबन्ध रोकनेका एक बहुत बड़ा उपाय है। यह पूर्वसञ्चित कर्मोंको भी अपने समयसे पहले झड़ा देता है। यह बाह्य और अभ्यन्तर-भेदसे दो प्रकारका है। शक्त्यनुसार उपवास करना, एक वक्त भोजन, युक्ताहार, युक्ताहारमें भी घर, पदार्थ आदिकी सीमा बाँधना, रसोंका त्याग, एकान्तसेवन और विधिपूर्वक समताभावसे कायक्लेश करना—ये बाह्य तप हैं। प्रायश्चित्त, साधुओं और गुरुओंकी सेवा और विनय, ज्ञानाभ्यास, बाह्य पदार्थोंका और तत्सम्बन्धी ममता और वासनाका त्याग, चित्तशुद्धि और ध्यान—ये अन्तरङ्ग तप हैं। इनमें ध्यान सर्वश्रेष्ठ है। ध्यानके बिना आत्मसिद्धि नहीं होती है। अन्य सब साधन ध्यानकी ही सिद्धिके लिये हैं। ध्यानी ही सच्चा योगी है। परमात्मावस्था भी तो एक तरहकी ध्यानावस्था ही है।

चित्तवृत्तिको अन्य सब क्रियाओं और पदार्थोंसे हटाकर एक पदार्थमें लगाना, इस एकाग्रचिन्तानिरोधको ध्यान कहते हैं। उत्तम संहननवाले बलवान् शरीरधारीके ही यह ध्यान थोड़े-से कालतक हो सकता है। यह दो तरहका है—संसारसम्बन्धी और मोक्षसम्बन्धी। प्रथमके दो भेद हैं—इष्टवियोग अनिष्टसंयोग और पीड़ा, इनके होनेपर व्याकुल होकर इनके दूर होनेका चिन्तन करते रहना तथा भार्या विषयभोगका विचार करते रहना, यह आर्तध्यान है जो तिर्यक् गतिको ले जाता है। हिंसा, झूठ, चोरी और विषयभोग, इनमें आनन्द मानना और इनका ही विचार करते रहना, यह

रौद्र ध्यान है और इसका फल नरक है। ये हेय हैं। इनको त्यागकर धर्म-ध्यानका आश्रय लेना चाहिये। तत्त्व-ज्ञानका चिन्तन, दयाभावका या पापसे मुक्ति पानेका चिन्तन, कर्म-स्वरूपका चिन्तन और तीन लोकके स्वरूपका और लोकमें आत्माके परिभ्रमणका—जन्म-मरणका—चिन्तन, ये चार भेद धर्म-ध्यानके हैं। पिण्डस्थ (शरीरस्थ निज आत्माका ध्यान), पदस्थ (मन्त्राक्षरोंका ध्यान), रूपस्थ (शरीरसहित परमैश्वर्ययुक्त सर्वज्ञ वीतरागी आत्माका ध्यान) और रूपातीत (अरूपी, देहमुक्त, सच्चिदानन्दमय आत्माका ध्यान), ये चार ध्यान धर्म-ध्यानके चतुर्थ भेद लोकसंस्थान-ध्यानके अन्तर्गत है। पिण्डस्थ ध्यानके अन्तर्गत पाँच धारणाएँ हैं—पार्थिवी, आग्नेयी, मारुती, वारुणी और तात्त्विक। इन धारणाओंमें क्रमशः पृथ्वीपर, सागरके बीच, सुमेरुपर, निजात्माको शान्त और तेजस्वीरूपमें विचारकर, निज कर्मोंका अग्निसे भस्म हो जाना, हवासे उड़ जाना, जलसे धुल जाना विचार करके अन्तमें कर्ममलरहित निज शुद्ध स्वरूपका विचार होता है।

बुरे विचारों तथा वासनाओंको दूर करनेके लिये भिन्न-भिन्न रुचिवालोंके लिये ऊपर लिखे उपाय कितने उपयोगी हैं यह मनोविज्ञानसे परिचित पाठकोंसे छिपा नहीं रह सकता। कोई आत्मस्वरूपका चिन्तन कर सकते हैं तो कोई साकार सशरीर ईश्वरका और कोई अशरीर ब्रह्मका। कइयोंको संसारकी निःसारतासे वैराग्य होता है तो कइयोंको पापके दुःखरूप होनेसे अथवा जन्म-मरणकी भीतिसे। कर्मफलके चिन्तनसे पापसे भीति होती है और सुख-दुःखका असली कारण जानकर क्रोधादि नष्ट होकर समताभाव आता है। जो भौतिक ऐश्वर्य और सौन्दर्यके प्रेमी हैं वे उत्कृष्ट भौतिक ऐश्वर्य और सौन्दर्ययुक्त सशरीर पूर्णात्माका चिन्तन कर शनैः-शनैः आत्माके प्रेमी बनते हैं। कई क्रोधादिका उनके विरोधी-भाव क्षमादिसे नाश करते हैं। पार्थिवी आदि धारणाएँ एक तरहका गहरा स्वयं सूचन (Self-suggestion) है। ज्ञानाभ्यास, ध्यान आदिके तीन कार्य होते हैं—(१) चित्त-वृत्तिके एक ही क्रियामें अकषायभावमें होनेसे तथा अन्य क्रियाओंके निरोधसे नवीन बन्धका अभाव। (२) उस समय उदय होनेवाले कर्मोंके फलोंकी ओर उपयोग न होनेसे उनका बिना कषायभाव उत्तेजित किये झड़ जाना। (३) ज्ञानादिके जरिये पुरातन वासनाओंके संस्कारोंको निर्बल कर देना। संक्षेपमें, जितने अंशमें त्याग और शान्ति है उतने ही अंशमें बन्ध नहीं होता है।

योगका अभ्यास करते समय तपस्या, संयम, ध्यान, अहिंसा, अचौर्य, मैत्री आदिकी भावना आदिके फलसे, कर्मोंके अल्पाधिक क्षयोपशम होनेपर कई अद्भुत शक्तियाँ अल्पाधिक अंशोंमें प्रकट होती हैं। ये कुछ तो ज्ञान-सम्बन्धी होती हैं, यथा—अद्भुत बुद्धि, अद्भुत स्मृति-शक्ति, अद्भुत इन्द्रिय-शक्ति, देशकालकी सीमाको लिये भूत, भविष्य, वर्तमानकालके दूरस्थ और समीपस्थ पौद्गलिक पदार्थोंको जानना तथा स्व और परके पूर्व और आगामी जन्मोंको जानना (अवधिज्ञान), मनपर्ययज्ञान अर्थात् दूसरेके मनमें रहे हुए पदार्थोंको जानना आदि, कुछ तप और संयमसम्बन्धी होती हैं, यथा कठोर तप करनेकी शक्ति, शरीरको तनिक भी निर्बल किये बिना दीर्घकालीन और अनेक उपवास कर सकना, जल, थल, आकाशमें और वनस्पति आदिपर बिना किसी जीवको बाधा पहुँचाये विहार कर सकना आदि, तथा कुछ शरीरसम्बन्धी और अन्य तरहकी होती हैं, यथा सर्वौषधि ऋद्धि (दृष्टि या वचनसे, या शरीरके स्पर्शसे, या शरीरके मल या स्वेदसे, अथवा शरीर-संस्पर्शी रज, पवन आदिसे असाध्य भी रोग, विष आदिका दूर हो जाना), बल ऋद्धि (अपार शारीरिक, मानसिक और वाचनिक बल, बिना थके हुए एक मुहूर्तके भीतर समस्त शास्त्रोंका चिन्तन या उच्चारण कर सकना आदि), रस ऋद्धि (क्रुद्ध होनेपर दृष्टि या वचनसे दूसरेको विषाभिभूत करके मार सकना, कर-स्पर्शसे नीरस आहारका भी स्वादिष्ट रससयुक्त हो जाना अथवा वचनसे ही दूसरोंको अमृत-भोजन किये-जैसा तृप्त कर देना आदि), अक्षीणमहानसर्द्धि (योगीको जिस पात्रसे या जिस वस्तुका आहार दिया जाय वह अत्यल्प होनेपर भी उससे या उसको चाहे जितने प्राणियोंको खिला देनेपर भी उस दिनके लिये उसका अक्षय होना), विक्रिया ऋद्धि जो दो तरहकी होती है, पृथक् (अपने शरीरके सिवा दूसरे शरीरादि बना सकना) और अपृथक् (अपने शरीरको ही अनेक आकाररूप बना सकना और उसको अति भारी, अति हलका, अति सूक्ष्म, सुमेरुसे भी अति महान्, अति दीर्घ, अति छोटा आदि कर सकना, भूमिपर बैठे-बैठे मेरुके शिखरको या सूर्यको छू सकना, अन्तर्धान हो सकना, पहाड़में भी आकाशके समान

गमनागमन कर सकना, जलमें थलके समान और थलमें जलके समान सञ्चार कर सकना, सर्ववशीकरण आदि)। क्षेत्र ऋद्धि (योगीके ठहरनेका स्थान जरा-सा होनेपर भी उसमें अपरिमित मनुष्योंका सुखसे समा सकना), आहारक शरीर (तीर्थ-दर्शनके लिये या सन्देहके निवारणार्थ अति दूरस्थ उत्कृष्ट ज्ञानी—केवली या श्रुतकेवली—के पास जानेके लिये मुनिके मस्तकसे रसादि धातुरहित, एक हाथ प्रमाण, चन्द्रिका-समान श्वेत शरीर निकलना), तीव्र शुभ परिणामोंसे उत्पन्न हुआ तैजस शरीर जो बारह योजनतकके प्रदेशमें दुर्भिक्ष, महामारी आदिको दूर करता है, और तीव्र अशुभ रौद्र परिणामोंसे उत्पन्न हुआ अशुभ तैजस शरीर जो बारह योजनतकके प्रदेशके सर्व वनस्पति, प्राणी आदिको भस्म कर अन्तमे मुनिके भी शरीरको भस्म कर देता है। विद्या-देवताओं या मन्त्र-देवताओंकी अधीनता या कृपासे भी अनेक सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं।

योगीकी अद्भुत शक्तियाँ प्रकृतिके नियमोंके विरुद्ध नहीं होतीं। प्रत्येक पदार्थके अनन्त गुण हैं, परन्तु साधारण मनुष्योंका ज्ञान अत्यल्प है। जब पदार्थोंके ज्ञात गुणोंसे विचित्र कोई घटना हो जाती है तो लोग उसे अप्राकृतिक कहने लगते हैं। वस्तुतः कोई कार्य या घटना अप्राकृतिक (Unnatural या Supernatural) हो ही नहीं सकती। आधुनिक वैज्ञानिक भी इसे मानते हैं कि हमारे विचार और चारित्र्यका प्रभाव हमारे शरीर तथा बाहरी पदार्थोंपर भी पड़ता है।

योगकी विभूतियोंमेंसे बहुत-सी तो आत्मज्ञानी योगीको ही प्राप्त होती हैं, और कुछ अज्ञानियोंको भी तप, संयम आदिसे मिल जाती हैं। जो आत्मज्ञानसे रहित हैं या मोह-विमूढ हैं वे इनसे मोहित होकर तपसे भ्रष्ट हो जाते हैं, और इन शक्तियोंका सांसारिक अर्थोंके लिये उपयोग करने लगते हैं, जिसके फलस्वरूप वे आत्मोन्नतिमें बाधा डालकर, आत्माको पतितकर, कर्म-बन्धसे इन शक्तियोंको ही नहीं खो देते हैं बल्कि नरकादि दुर्गतियोंके भी अधिकारी हो जाते हैं और जन्म-मरणके चक्रमें फँसे रहते हैं। परन्तु जो आत्मवेत्ता होते हैं, जिनको आत्माकी पूर्ण और अनन्त शक्तिमें श्रद्धा है वे इन्हें पराधीन, अपूर्ण, अस्थिर और पूर्ण आत्मशक्तिका एक किरणमात्र समझकर इनसे निरपेक्ष रहते हैं और आत्माकी पूर्णोपलब्धिके लिये अग्रसर होते रहते हैं।

धर्म-ध्यानके साधनसे शुक्ल-ध्यानकी सामर्थ्य होती है। शुक्ल-ध्यान मोक्षका साक्षात् कारण है। इसमें तल्लीनता होती है—ध्यान, ध्याता और ध्येयका भेद मिट जाता है। इसके चार भेद हैं—पृथक्त्ववितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्म-क्रियाप्रतिपाति, और व्युपरत क्रियानिवृत्ति। प्रथममें वितर्क और विचार दोनों होता है, और यह मन, वचन, काय इन तीनों क्रियावालेके हो सकता है। दूसरा वितर्कसहित पर विचाररहित होता है, और यह एक क्रियावालेके ही हो सकता है। तीसरेमें सिर्फ सूक्ष्म देहक्रिया रहती है और चौथा सर्वथा क्रियारहित होता है। अन्तिम दो ध्यान तो जीवन्मुक्त सर्वज्ञ (अरहन्त) के ही हो सकते हैं, और प्रथम दो ध्यान उत्तम शरीर-संहननवाला सम्पूर्ण शब्द-ब्रह्मका ज्ञाता (श्रुतकेवली) योगी ही कर सकता है। ऐसा योगी शुक्ल-ध्यानके प्रथम दो भेदोंसे आत्मामें लीन होकर मोहनीय कर्मको और ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी और अन्तराय इन तीन शेष घातिया कर्मोंको विनष्ट कर देता है। उनके नष्ट होते ही विशुद्ध स्वस्वरूप उपलब्धि, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति और अनन्त आनन्दकी पूर्ण अभिव्यक्ति होती है। तब आत्मा आत्माके ही जरिये, बिना किसी इन्द्रिय या मनकी सहायताके, बिना तर्क या अनुमानके, लोकालोकके सर्व पदार्थोंको उनके अनन्त धर्मों और उनकी त्रिकालीन सर्व अवस्थाओंसहित, युगपत् और सदा हस्तामलकवत् स्पष्ट देखने और जानने लगता है। अगर आयु-कर्मके शेष रहनेसे वह आत्मा इस शरीरमें रहे तो वह सर्वथा निःस्पृह होकर आत्मलीन होता हुआ, सिर्फ अपने अनन्त ज्ञानादि गुणोंको ही भोगता हुआ रहता है। इसीको जीवन्मुक्तावस्था, कैवल्यावस्था या अरहन्तावस्था कहते हैं। यही रूपस्थ ध्यानका ध्येय है। वह आत्मा क्षुधा, तृषा, रोग, चिन्ता, श्रान्ति (थकावट), निद्रा, स्वेद, राग, द्वेष, मोह, इच्छा, कषाय, विस्मय, शोक, भय, मद, ग्लानि, जन्म, जरा, मृत्यु आदि दोषोंसे रहित रहता है। उसकी देह धातु-उपधातुरहित, मलरहित, छाया-रहित, अति सुन्दर हो जाती है। उसके नख, केश नहीं बढते हैं और उसकी पलकें नहीं झपकती हैं। वह कवलाहार नहीं करता है। जहाँ वह रहता है वहाँ सदा प्रकाश रहता है और उस स्थानमें रहनेवाले प्राणियोंको

भूख, प्यास, शोक, वैर, भय नहीं सताते हैं। वहाँ सब ऋतुओंके फल-फूल एक साथ उत्पन्न होते हैं। आकाश, दिशाएँ और भूमि निर्मल रहती हैं और सुगन्धयुत, मन्द, सुखद पवन बहता है। उसके आस-पास चारों दिशाओंमें सौ-सौ योजनतक दुर्भिक्ष, महामारी आदि उपद्रव नहीं होते हैं। समस्त विद्याओंका स्वामीपना, सब सुरासुरों और इन्द्र-नरेन्द्रोंसे पूजितपना, चारों दिशाओंमें मुख दीखना, अदया और उपसर्गका अभाव अर्थात् न किसीको बाधा देना और न किसीसे बाधित होना, आकाशमें गमन और उस समय चरणतले देवोंके द्वारा कमलोंका बिछाया जाना, देवनिर्मित अति मनोज्ञ और विस्तीर्ण सभामन्दिरमें दर्शनमात्रसे अभिमानको हरनेवाला मानस्तम्भ, और शोकको हरनेवाला अशोक वृक्ष, दर्शकके कई जन्म-जन्मान्तरोंको दिखानेवाला भामण्डल, रत्नमय सिंहासन, तीन छत्र, यक्षोंसे डुलाये गये चँवर, दुन्दुभि, पुष्पवृष्टि और जयध्वनि इन देवकृत अष्ट प्रतिहार्योंका होना तथा वहाँपर सर्वभाषारूप परिणत होनेवाली अनक्षरी दिव्य ध्वनिका, बिना इच्छाके और बिना ओठोंके हिलाये, सर्वज्ञके तनसे निकलना और उसके द्वारा प्राणियोंके सम्पूर्ण वाङ्मय ज्ञानका बोध होना आदि अनेक बाह्य विभूतियाँ उस जीवन्मुक्तके होती हैं (कइयोंके दिव्य ध्वनि नहीं भी होती है, अतः सभामन्दिर आदि भी नहीं होते हैं)।

आयु-कर्मकी समाप्तिके समय जीवन्मुक्तके शुक्लध्यानके अन्तिम दो ध्यान क्रमशः बिना किसी यत्नके स्वतः ही होते हैं। उनसे अवशेष अघातिया कर्म भी दूर होकर, सर्वदेह और सर्वकर्मसे मुक्त आत्मा सिद्धावस्थाको प्राप्त होती है जिसमें कि वह मनरहित, वचनरहित, कायरहित और समस्त अनात्मीय पदार्थोंके सम्बन्धसे रहित होकर निज अनन्त ज्ञान, आनन्दादि अनन्त धर्मोंको सदाकाल भोगती रहती है—स्वस्वरूप हो रहती है।*

शिवयोग

(लेखक—पण्डितवर्य श्रीकाशीनाथजी शास्त्री, मैसूर)

योगशास्त्रके प्रवर्तक पतञ्जलि महर्षिजीने 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' इस सूत्रमें चित्तवृत्तिके निरोधको ही योग कहा है। चित्तवृत्तिके निरोध करनेमें साधनीभूत जो योग है वे पाँच प्रकारके हैं—मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग, राजयोग और शिवयोग।

एकाक्षरं द्व्यक्षरं वा षडक्षरमथापि वा।
अष्टाक्षरं वा मोक्षाय मन्त्रयोगी जपेत् सदा॥

'एकाक्षरात्मक 'ॐ' मन्त्रको, अथवा द्व्यक्षरात्मक 'हंसः' अथवा 'सोऽहम्' मन्त्रको, अथवा षडक्षरात्मक 'ॐ नमः शिवाय' मन्त्रको, अथवा अष्टाक्षरात्मक 'ॐ ह्रां ह्रीं नमः शिवाय' मन्त्रको मन्त्रक्रमके अनुसार मोक्षप्राप्तिके लिये जपना मन्त्रयोग कहाता है।'

यस्य चित्तं निजध्येये मनसा मरुता सह।
लीनं भवति नादे वा लययोगी स एव हि॥

'चित्तका अपनी ध्येय मूर्तिमें अथवा प्राणायामसे अभिव्यक्त नादमें मन और मारुतके साथ लय होना लययोग कहाता है।'

भवेदष्टाङ्गमार्गेण मुद्राकरणबन्धनैः।
तथा केवलकुम्भे वा हठयोगी वशानिलः॥

'यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि-नामसे प्रसिद्ध जो अष्टाङ्गयोग है उसके द्वारा, अथवा महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, उड्डियान, मूलबन्ध, जालन्धरबन्ध, विपरीतकरणी, वज्रोली, और शक्तिचालन आदि दस प्रकारके बन्धसमूहोंसे, अथवा धौति, बस्ति, नेति, त्राटक, नौलि और कपालभाति इन षट् कर्मोंसे, अथवा रेचक, पूरक प्राणायामोंको छोड़कर केवल कुम्भक प्राणायामसे वायुको वशमें कर लेना हठयोग कहाता है।'

त्रिषु लक्ष्येषु यो ब्रह्मसाक्षात्कारं गमिष्यति।
ज्ञाने वाथ मनोवृत्तिरहितो राजयोगवित्॥

'जो मनुष्य बाह्य लक्ष्य, मध्य लक्ष्य, अन्तर्लक्ष्यादिसे अथवा अमनस्कज्ञान (अन्तर्मुद्राज्ञान) से आत्मसाक्षात्कार कर लेता है उसीको मनोव्यापाररहित 'राजयोगी' कहते

* इस लेखके अधिकांशमें जैनधर्मके अनुसार प्रतिपादन किया गया है।

है।' और इस प्रकारके अभ्यासको ही राजयोग कहते हैं। एव निर्दिष्ट चार प्रकारके योगोंमें राजयोग ही सबसे श्रेष्ठ है।

न भेदः शिवयोगस्य राजयोगस्य तत्त्वतः।
शिवार्थिनां तथाप्येवमुक्तो बुद्धेः प्रवृद्धये॥

'राजयोग और शिवयोगमे पारमार्थिक दृष्टिसे कोई भेद नहीं है। तथापि परशिवब्रह्मके साक्षात्कार चाहनेवाले मुमुक्षुओंकी ज्ञानवृद्धिके लिये 'शिवयोग' का प्रतिपादन किया गया है।'

प्रतिपाद्यस्तयोर्भेदस्तथा शिवरतात्मनाम्।
तस्मान्मनीषिभिर्ग्राह्य. शिवयोगस्तु केवलम्॥

'राजयोग और शिवयोग इन दोनोंमे क्या भेद है, इस विषयको शिवप्रेमियोंके लिये बतलाना आवश्यक है। मुमुक्षुजनोंको चाहिये कि वे इसको समझकर शिवयोगका ही अङ्गीकार करें।' गुणत्रयसाक्षात्कार ही तारकत्रय है, प्रकृतिमे मनको लय करना ही अमनस्कता है। इस बातको अच्छी तरहसे जानकर पुरुषसाक्षात्कारके लिये प्रयत्न करना ही राजयोग है, यह पातञ्जलयोगशास्त्रमें कहा गया है। परन्तु शिवागमोंमें शिवभक्तिके आधारभूत महाकुण्डलिनीजन्य तारकत्रयके साक्षात्कारद्वारा उस शक्तिमे वृत्तिज्ञानको लय करके सर्वतोमुखव्याप्त शिवतत्त्वाभिव्यक्तिको ही 'शिवयोग' कहा गया है।

ज्ञान शिवमयं भक्ति· शैवी ध्यानं शिवात्मकम्।
शैवव्रतं शिवार्चेति शिवयोगो हि पञ्चधा॥

'इस शिवयोगके शिवज्ञान, शिवभक्ति, शिवध्यान, शिवव्रत और शिवपूजा नामसे पाँच प्रकार हैं।' शिवपूजामे शिवज्ञानादिका अन्तर्भाव होनेके कारण प्रधानतया शिवपूजाको ही शिवयोग कहते हैं।

शिवार्चनविहीनो यः पशुरेव न सशय.।
स तु संसारचक्रेऽस्मिन्नजस्रं परिवर्तते॥

'जो मनुष्य शिवपूजारूप शिवयोगसे विमुख रहता है वह निश्चय ही पशु कहलाता है और वह ससारचक्रमें जननमरणादिकोंसे परिभ्रमण करता रहता है।'

अन्तर्योगो बहिर्योगो द्विविधं तच्छिवार्चनम्।
मुख्या चाभ्यन्तरी पूजा सा च बाह्यार्चनोदिता॥

'शिवपूजाके दो प्रकार हैं एक अन्त·पूजा और दूसरी बहिःपूजा। इन दोनोंमें अन्तःपूजा ही मुख्य है। वह अन्तःपूजा बाह्यलिङ्गपूजासे ही उत्पन्न होती है।' बाह्य इष्टलिङ्गपूजा किये विना अन्तर्लिङ्गपूजा सिद्ध नहीं हो सकती, इसलिये इष्टलिङ्गपूजा ही अन्तर्लिङ्गपूजाका मुख्य साधन है।

त्रिनेत्रं त्रिगुणाधारं त्रिमलक्षयकारणम्।
सर्वमङ्गलया देव्या निजवामाङ्गशोभितम्॥
परं शिवं हृदि ध्यात्वा निश्चलीभूतमानसः।
यजेदाभ्यन्तरद्रव्यैरवधानेन तद्यथा॥
शमाम्बुपरिषेचनं सकलपूर्णभावाम्बरं
त्रिशक्तिगुणसंयुतं विहितयज्ञसूत्रं तथा।
स्वसंविदनुलेपनं समधिकानुकम्पाक्षतान्
शिवाय विनिवेद्यैव प्रकटभक्तिपुष्पाणि च॥
धूपमान्तरचतुष्टयेन तद्दीपमिन्द्रियगुणोत्करेण तु।
कल्पयेच्च सुखदुःखवर्जित जीवरूपमुपहारमान्तरे॥
रजस्तमःसत्त्वगुणत्रयाख्यतम्बूलकं प्राणनमस्कृतिं च।
इत्येवमाभ्यन्तरमुख्यपूजाद्रव्याणि सम्पाद्य शङ्कराय॥

'त्रिनेत्री, त्रिगुणाधार, आणवादि मलत्रयको नाश करनेवाले और अपने वामभागमें उमादेवीसे शोभायमान ऐसे शिव परमात्माका हृदयकमलमे एकाग्रचित्तसे ध्यान करते हुए आभ्यन्तर उपचारोसे उनकी पूजा करनी चाहिये। आभ्यन्तर उपचारोंका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—शान्ति ही अभिषेकजल, विश्वव्यापकताभाव ही वस्त्र, इच्छाज्ञानक्रियात्मक शक्तित्रय ही यज्ञोपवीत, स्वस्वरूपज्ञान ही गन्धानुलेपन, अत्यधिक दया ही अक्षता, परिशुद्ध भक्ति ही पुष्प, मनोबुद्धिअहकारपरमान्तःकरणचतुष्टय ही धूप, इन्द्रियगुणोत्कर ही दीप, सुखदुःखरहित आत्मस्वरूप ही नैवेद्य, सत्त्वरजस्तमोगुणत्रय ही ताम्बूल और प्राण ही नमस्कार है। इस प्रकार आभ्यन्तरोपचारोसे शिव परमात्माका पूजन करना चाहिये।'

शिवयोगसाधकोंको शिवयोग ही साध्य है, और हठयोग तो साधनमात्र है। हठयोग बाह्य और आन्तर अष्टाङ्गोंसे युक्त है। वीरशैवोंको आन्तर अष्टाङ्गात्मक हठयोगद्वारा शिवयोगका साधन करना चाहिये।

यमनियमगुणैश्च स्वात्मशुद्धिं विधाय
स्ववशविविधपीठैरेव भूत्वा स्थिरात्मा।
असुनियमजलेन स्नापयेदिष्टलिङ्ग
प्रकटितचतुरङ्गं बाह्यमेतद्विधानम्॥

शम्भोरथेन्द्रियनिवर्तनमेव गन्धो
ध्यानं प्रसूननिचयो दृढधारणा सा।
धूपः समाधिरथशुद्धमहोपहारं
आभ्यन्तराख्यचतुरङ्गविधानमेतत् ॥
एवमष्टाङ्गयोगेन सदान्तःपद्मसद्मनि।
पूजयेत्परमं देवं किं बाह्यैर्दैवपूजनैः ॥

'यम-नियमोंके सम्बन्धी चौबीस गुणोंसे आत्मशुद्धि करना, और अपने वशीभूत पद्मादि आसनोंसे देहको स्थिर करना और प्राणायामरूपी जलसे दिव्य लिङ्गका अभिषेक करना, इसीको बाह्य चतुरङ्ग कहते हैं। शिवजीके नेत्रादि इन्द्रियोंका विषयनिवृत्तिरूप प्रत्याहार ही गन्ध है, उस इन्द्रियनिवृत्तिसे अन्तर्मुख हुए मनमें जो शिवध्यान किया जाता है वही पुष्प है, उन्हीं शिवजीको दृढताके साथ धारण करना ही धारणा है, और जाताजातरूप समाधि ही नैवेद्य है। इसीको आभ्यन्तर चतुरङ्ग कहते हैं। शिवयोगी लोग इस प्रकार अष्टाङ्गयोगका साधन करते हुए अपने हृदयकमलमें शिव परमात्माका पूजन करें।'

वीरशैवमतमें 'भक्त, महेश, प्रसादी, प्राणलिङ्गी, शरण, ऐक्य नामसे प्रसिद्ध जो पट्स्थल हैं' वे ही शिवयोगके मुख्याङ्ग हैं। यम-नियमादि अष्टाङ्गोंका भी पट्स्थलोंमें ही समावेश होता है।

यमेन नियमेनैव मन्ये भक्त इति स्वयम्।
स्थिरासनसमायुक्तो महेश्वरपदान्वितः ॥
चराचरलयस्थानं लिङ्गमाकाशसंज्ञकम्।
प्राणे तद्व्योम्नि संलीने प्राणलिङ्गी भवेत् पुमान् ॥
प्रत्याहारेण संयुक्तः प्रसादीति न संशयः।
ध्यानधारणसम्पन्नः शरणस्थलवान् सुधीः ॥
लिङ्गैक्ययोऽद्वैतभावात्मा निश्चलैकसमाधिना।
एवमष्टाङ्गयोगेन वीरशैवो भवेन्नरः ॥

'यम-नियमोंसे जो युक्त है उसीको 'भक्त' कहते हैं। आसनसे जो युक्त है उसको 'महेश्वर' कहते हैं। चराचर प्रपञ्चका जिस लिङ्गमें लय होता है उस लिङ्गको 'आकाश' कहते हैं, ऐसे आकाशमें जो मनुष्य अपने प्राणको लय करता है उसीको 'प्राणलिङ्गी' कहते हैं। प्रत्याहारसे जो युक्त है उसको 'प्रसादी' कहते हैं। शिव परमात्माके ध्यान-धारणादिसे जो युक्त है उसीको 'शरण' कहते हैं। समाधिमें जिसका मन स्थिर हुआ है और जिसको अद्वैतभाव उत्पन्न हुआ है उसीको 'ऐक्य' कहते हैं। इस प्रकार अष्टाङ्गरूपी पट्स्थलोंका आचरण करनेवाला सज्जन ही 'वीरशैव' होता है।' लिङ्गपुराणके प्रमाणोंसे भी इसी विषयका बोध होता है—

कीटो भ्रमरयोगेन भ्रमरो भवति ध्रुवम्।
मानवः शिवयोगेन शिवो भवति केवलम् ॥

'भ्रमरके योगसे कीड़ा जैसे प्रत्यक्ष भ्रमर ही होता है उसी प्रकार मानव भी शिवयोगसे केवल शिव ही हो जाता है।' यही शिवयोगका रहस्य है। अस्तु।

सत्यमार्गप्रविष्टाना कल्याणं मङ्गलं शुभम्।

प्रेमयोगी

प्रेम सरित तट बसे विरह धूनी तन तावे।
आशाकी कोपीन भाव रँग रँगी चढ़ावे ॥
भस्म रागकी मले कमंडल शून्य बनाकर।
ले विचारका दंड भावना भीख जमाकर ॥
उच्छ्वास अश्रु तड़पन क्रिया, जिसका प्राणायाम हो।
निज हृदय तोड़ तन तजे जो, वह योगी 'घनश्याम' हो ॥

—रघुवीरशरण जौहरी

पाशुपतयोगका प्रारम्भिक इतिहास

(लेखक—श्री वी० आर० रामचन्द्र दीक्षितार एम० ए०)

मालूम होता है कि प्राचीन कालमें परिव्राजक साधुओंका एक ऐसा समुदाय था जो योगी कहलाते थे और जो किसी एक स्थानपर टिककर नहीं रहते थे। ये लोग जितेन्द्रिय होते थे और सदा योगेश्वर भगवान्के चरणकमलोंके ध्यानमें रत रहा करते थे तथा इस नश्वर एवं मिथ्या सांसारिक जीवनके बन्धनसे मुक्त होनेकी खोजमें रहते थे।

इस प्रकारके परिव्राजक मुनि इस देशकी स्थायी सम्पत्ति रहे हैं। यवन यात्री मेगस्थनीजसे लेकर, जो ईसामसीहसे चार सौ वर्ष पूर्व यहाँ आया था, जितने विदेशी यात्री और अभ्यागत इस प्राचीन देशमें आये उन सभीने इस प्रकारके योगियोंकी बातें लिखी हैं और आज भी ऐसे लोगोंसे हम अपरिचित नहीं हैं। गत चार-पाँच सौ वर्षोंमें जो यात्री यहाँ आये उनके वृत्तान्त*को देखते हुए ऐसा मालूम होता है कि ये योगी भिन्न-भिन्न वर्णों और जातियोंके होते थे।

सिन्धुप्रदेशमें पुरातत्त्ववेत्ताओंको जो कुछ ध्वंसावशेष प्राप्त हुए हैं उनको देखनेसे यह पता लगता है कि ईसवी सन्से ३००० वर्ष पूर्व तथा उससे भी पहले भारतवर्षमें योगका किसी-न-किसी रूपमें अवश्य प्रचार था। इन ध्वंसावशेषोंमें कुछ खण्डित पत्थरकी मूर्तियाँ भी हैं 'जिनका मस्तक, ग्रीवा और धड बिल्कुल सीधा है और जिनके अर्धनिमीलित नेत्र नासिकाके अग्रभागपर स्थिर हैं।' और योगाभ्यास करनेवालोंके बैठनेका यही ढंग शास्त्रोंमें वर्णित है, (देखिये R Chanda Memoirs of Archæological Survey of India, No 41, pp 33-34) वायुपुराणके पाशुपतयोगविषयक अध्यायोंमें इस प्रकारका जो वर्णन मिलता है उसका उपर्युक्त वर्णनसे मिलान करनेसे इस निर्णयपर पहुँचना अनिवार्य हो जाता है कि प्रागैतिहासिक युगमें तथा ऐतिहासिक युगके प्रारम्भमें सिन्धुप्रदेशमें जो योगी रहते थे उनकी योगसाधना ही पाशुपतयोगका प्रारम्भिक रूप था। क्योंकि वायुपुराणमें लिखा है कि पाशुपतयोगका अभ्यास करनेवाला छाती तानकर बैठे, मस्तक और ग्रीवाको बिल्कुल सीधा रक्खे और नेत्रोंको अर्धनिमीलित कर दृष्टिको नासिकाके अग्रभागपर स्थिर करे, अन्य दिशाओंमें न जाने दे (देखिये वायुपुराण ११। १५-१६)। इससे योगसम्प्रदायकी प्राचीनता भलीभाँति सिद्ध होती है। यद्यपि इस सम्बन्धमें कुछ अनुमान करना साहसका काम है तथापि हमारी ऐसी धारणा होती है कि ऋग्वेदसंहिता और यजुर्वेदके संकलनके बीचके कालमें ही यह योगसम्प्रदाय प्रवर्तित हुआ होगा। क्योंकि यजुर्वेदमें जटिल कर्म-कलापका वर्णन मिलता है और कर्मकाण्डपर विशेष जोर दिया गया है। इस कर्मवादके सिद्धान्तका इतनी तेजीके साथ प्रभाव बढ़ा कि इतिहास-पुराणके युगमें हमें इस प्रकारके वाक्य मिलने लगे कि कर्म ही सब कुछ है। और योगसाधना भी उसीकी सफल होती है जो शास्त्रोक्त विधिसे कर्मका अनुष्ठान करता है।

योगकी परिपाटी तथा उसके सिद्धान्त निःसन्देह आर्य-सभ्यताके चिह्न हैं और सिन्धुप्रदेशकी सभ्यताके प्रवर्तक द्राविड नहीं अपितु आर्य ही थे, इस सिद्धान्तकी पुष्टिमें अन्य प्रमाणोंके साथ-साथ यह भी एक प्रमाण है। परन्तु यहाँ हमें इस विवादमें तो पडना नहीं है। यहाँ तो केवल इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि अधिक पहले नहीं तो कम-से-कम भारतीय इतिहासके ताम्रयुगमें सिन्धुप्रदेशमें इस आर्य परिपाटीका प्रचार रहा। यह तो एक संयोगकी बात है कि वायुपुराणमें भी पाशुपतयोगकी प्राचीनताके प्रमाण मिलते हैं। वायुपुराणकाल जो कुछ भी हो (इस प्रसंगमें देखिये लेखकका "Some Aspects of the *Vayupurāna*" शीर्षक निबन्ध जो मद्रास विश्वविद्यालय-के मुखपत्रके सन् १९३३ के ग्यारहवें खण्डमें प्रकाशित हुआ है) उसके पाशुपतयोगविषयक दश अध्यायोंमें योगके एक प्राचीन सम्प्रदायका वर्णन है। उक्त ग्रन्थके

* देखिये पद्मनाभ मेननरचित 'केरलदेशका इतिहास' खण्ड ३, पृ० ६४०–१।

(११, १४ और १५) तीन अध्यायोंमें तो केवल पाशुपत-योगकी साधना और परिपाटीका ही वर्णन है और इनके अतिरिक्त भी कई अध्याय ऐसे हैं जो योगके मूल सम्प्रदाय-का अध्ययन करनेवालोंके लिये बहुत कामके हैं। इनमें योगोपसर्गों (योगके विघ्नो), योगैश्वर्यों (योगलभ्य सिद्धियों), शौचाचारलक्षण (योगक्रिया) आदिका वर्णन है। एक अध्याय माहेश्वरावतारयोगविषयक है जिसमें महेश्वर अथवा योगेश्वरके २८ अवतारोंका वर्णन है। प्रत्येक कल्पमें एक अवतार माना गया है। इसके अनन्तर उक्त ग्रन्थमें अष्टाङ्गयोगका वर्णन है। आठ अङ्गोंके नाम ये हैं—आसन (बैठनेकी शैली), प्राणारोध (प्राणवायुको रोकना), प्रतिहार (इन्द्रियोंसे विषयोंका ग्रहण न करना), धारणा (चित्तको एकाग्र करना), ध्यान (किसी वस्तुका निरन्तर चिन्तन करना), समाधि (परमात्मामें वृत्तिको स्थिर करना), यम (प्रधान कर्तव्य) और नियम (गौण-कर्म)। भगवान् पतञ्जलिने अपने योगसूत्रोंमें इन अङ्गोंके जो लक्षण बताये हैं यह वर्णन भी उन्हींके अनुसार है (देखिये यो० सू० २। २९)। ईसामसीहसे ४०० वर्ष पुराना एक तामिलभाषाका व्याकरण है जिसे 'तोलकाप्पियम्' कहते हैं, उसमें भी इनका उल्लेख आता है। आगे चलकर, जैसा कि मैत्र्युपनिषद्के देखनेसे मालूम होता है, अष्टाङ्ग-योगके दो अङ्गों, यम और नियमको निकाल दिया गया। फलतः अष्टाङ्गयोग षडङ्ग ही रह गया।

मानों यह प्रमाणित करनेके लिये कि इस पुराणका मूल बहुत प्राचीन है, वायुपुराणमें गृहस्थोंके कुछ धर्म बताये हैं। योगीलोग अनेक वेष धारणकर देशमें सर्वत्र विचरते रहते हैं। जब कभी वे किसी गृहस्थके यहाँ आवें गृहस्थका यह धर्म है कि वह उनका हृदयसे स्वागत करे और अपनी कल्याणवृद्धिके लिये उनकी यथायोग्य सेवा-पूजा करे। दूसरी बात यह कही गयी है—जो पहलीकी अपेक्षा विलक्षण है—कि श्राद्धपक्षमें भी गृहस्थ जहाँतक हो सके इन्हीं योगियोंको ढूँढ़कर लावे और भोजन करावे, ऐसा करनेसे पितृगण पूर्ण सन्तुष्ट होते हैं। श्राद्धके दिन एक योगीको भोजन कराना हजार ब्राह्मणों अथवा ब्रह्मचारियोंको भोजन करानेके तुल्य कहा गया है। पुराण-के इस वचनको पढ़कर आश्चर्य होता है। स्मृतिग्रन्थोंमें ब्रह्मचारियों तथा यतियोंको भोजन करानेका स्पष्ट निषेध किया गया है। श्राद्धके अवसरपर केवल गृहस्थको भोजन करानेका विधान है। अतः यह पुराण उस प्राचीन कालका लक्ष्य कराता है जब श्राद्धके दिन योगियोंको भोजन कराना महान् लाभ समझा जाता था। यह प्रथा किस कालमें प्रचलित थी और कब इसका लोप हुआ, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता।

ऊपरके वर्णनसे एक बात स्पष्ट हो जाती है। हम भारतके प्रागैतिहासिककालकी जहाँतक खोज लगा सके हैं, हमें शिव, योगेश्वर अथवा महेश्वरकी उपासना ही सबसे प्राचीन मालूम होती है। अतएव योगके प्रारम्भिक स्वरूपमें इस उपासनाका गहरा समावेश था। हमें तो ऐसा मालूम होता है कि पाशुपतयोग ही सबसे प्राचीन योगसाधना थी, और प्राणायामका यथाविधि अभ्यास ही इस योगका स्वरूप है। ब्राह्मणलोग जो आज भी त्रिकालसन्ध्योपासन करते हैं उसमें इस पाशुपतयोगका कुछ अंग सुरक्षित है। इस योगका आरम्भ उस समय प्राणायामके आधारपर ही हुआ और समयकी प्रगतिके साथ उसका शाखा-प्रशाखा-रूपमें विस्तार होता गया। इन शाखा-प्रशाखाओंसे हमारा इस समय कोई प्रयोजन नहीं है, क्योंकि प्रस्तुत निबन्धका विषय केवल पाशुपतयोगका प्रारम्भिक इतिहास है, आगे चलकर इस पाशुपतयोगका स्वरूप कुछ बदल गया, आचार्य शङ्करने अपने प्रसिद्ध शारीरकभाष्यमें पाशुपतमत-का जो खण्डन किया है उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है।

योगशास्त्रके कुछ दार्शनिक सिद्धान्त

(लेखक—स्वामीजी श्रीनित्यानन्दजी भारती)

योगशास्त्रका विषय इतना आवश्यक और उपादेय है कि अनादिकालसे ऋषि-मुनिलोग इसपर ध्यान देते और योगका अनुष्ठान करते चले आ रहे हैं। श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहास और सामान्य संस्कृत साहित्यमें ही नहीं किन्तु न्याय, वैशेषिक, सांख्य और वेदान्तदर्शनतकमे योगका महत्त्व स्वीकार किया गया है। बहुत-सी उपनिषदोमे भी योगके सम्बन्धमें उत्तमोत्तम विचार प्रकट किये गये है। यही कारण है कि गीता इस विषयमे सबसे आगे बढ़ गयी है—उसका कोई अध्याय ऐसा नहीं जिसमें योगके किसी-न-किसी सिद्धान्तका वर्णन न किया गया हो। यही कारण है कि भगवान् श्रीकृष्णकी गीता योगशास्त्रकी मानी हुई पुस्तक है और श्रीकृष्णजी महायोगेश्वर प्रसिद्ध हैं।

योगदर्शन महर्षि पतञ्जलिके योगसूत्रोंका दूसरा नाम है। इस दर्शनके सिद्धान्त इतने शुद्ध और निर्मल हैं कि प्रत्येक आस्तिक दर्शनमे किसी-न-किसी प्रकार इनपर विचार किया गया है। कारण यह है कि योगशास्त्रमें महर्षि पतञ्जलिने आत्मसाक्षात्कार और उसके उपायोंपर ऐसा सुन्दर लेख लिखा है कि दर्शनशास्त्रके बहुत-से रहस्य करामलकवत् सर्वथा निरावरण हो गये हैं। यह योगशास्त्र ही है जिसका अक्षरशः अनुकरण करके जैन और बौद्ध-सम्प्रदायोंमें अभ्यास तथा वैराग्यके स्तम्भ खड़े कर लिये गये हैं और आस्तिक दर्शनोंका सामना किया गया है। यह योगशास्त्र ही है जिसके यम-नियमादि अष्टाङ्गयोग नास्तिकोंको भी ऐसे ही मूल्यवान् प्रतीत होते हैं जैसे आस्तिकोंको। योगशास्त्रके सर्वप्रिय होनेमें यह एक विचित्र प्रकारकी विशेषता है।

वेदान्तदर्शनके रचयिता महर्षि व्यास तो योगदर्शनके इतने प्रशंसक थे कि उन्होंने पतञ्जलिके सूत्रोंपर स्वय दिल लगाकर योगभाष्य लिखा है और योगके सम्बन्धमें बहुत-से बहुमूल्य विचार प्रकट किये हैं। इस छोटे-से लेखमें हमारी इच्छा है कि व्यासप्रदर्शित व्याख्यानकी सहायतासे योगशास्त्रके दार्शनिक सिद्धान्तोंकी यत्किञ्चित् विवेचना करें और यह विचारें कि दर्शनशास्त्रकी कठिन समस्याओंको योगशास्त्रमें किस प्रकार सुलझाकर सरल किया गया है।

यद्यपि चित्तवृत्तिके निरोधके उपाय तथा समाधिके प्रकार और नाना प्रकारकी योग-विभूतियोंका वैज्ञानिक व्याख्यान योगशास्त्रमे विस्तारपूर्वक किया गया है तथापि मोक्षविषयक उपेक्षा न करते हुए 'मनोविज्ञान' के कई गूढ रहस्योंपर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। इस निबन्धमें हम जिज्ञासु विचारकोंको योगशास्त्रके दो-एक दार्शनिक सिद्धान्तोंसे परिचित करानेमें प्रवृत्त होते हैं। आशा है, जो लोग योगशास्त्रको दर्शनशास्त्र नहीं मानते उनके विचारोंमें इससे परिवर्तन हो सकेगा।

चित्त और जगत्का सम्बन्ध

चिरकालसे दार्शनिक विद्वानोंके सामने यह जटिल समस्या उपस्थित रही है कि जगत् और जगत्के पदार्थ चित्तके अन्दरसे निकलते हैं अथवा चित्तसे भिन्न इनकी बाहर स्वतन्त्र सत्ता है। बौद्ध विद्वानोंने बहुत ऊहापोह करनेके अनन्तर दृष्टि-सृष्टिवादका सिद्धान्त स्थिर किया है और यह घोषणा की है कि जगत् और जगत्के पदार्थ चित्तके अन्दरसे निकलते हैं—इनकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। कई एक मनोविज्ञान (Psychology) के पाश्चात्य विद्वानोंका भी ऐसा ही सिद्धान्त है। न केवल यही बल्कि दृष्टिसृष्टिवादको वेदान्तियोंने भी स्वीकार किया है और योगवासिष्ठ आदि ग्रन्थोंमे तो बलपूर्वक सिद्ध करके यह प्रतिपादन किया है कि जगत् मनसे ही निकला है और मनमें ही लीन होता है। दृष्टिसृष्टिवादीका कथन है कि जगत्के पदार्थ ज्ञानके समय ही प्रतीत होते हैं ज्ञानके पहले या पीछे नहीं, इसलिये जगत् ज्ञानसमकालीन होनेके कारण ज्ञानसे भिन्न नहीं है। विज्ञानवादी बौद्ध—'धर्मकीर्ति' ने अपने विचारकी पुष्टिमें डङ्केकी चोट कहा है—

सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः।
भेदश्च भ्रान्तिविज्ञानैर्दृश्येतेन्दाविवाद्वये॥

अर्थात् 'नील और नीलज्ञान सहोपलम्भनियमके कारण परस्पर भिन्न नहीं हैं। यदि नील वस्तु, नीलज्ञानसे अतिरिक्त प्रतीत होती है तो यह भ्रान्तिमात्र है जैसे एक ही चन्द्रमा भ्रान्तिसे दो चन्द्रमा मालूम पड़ते हैं।' तात्पर्य यह है कि जैसे एक चन्द्रमा दूसरे चन्द्रमासे पृथक् नहीं किन्तु वही है और नील वस्तु उसी समय प्रतीत होती है जब नीलविषयक ज्ञान हो—ज्ञानकालके अतिरिक्त उसका सद्भाव प्रतीत नहीं होता। इसी प्रकार जगत्के पदार्थ ज्ञानकालमें ही प्रकाशित होनेसे ज्ञानसे भिन्न नहीं हैं। किसी भी वस्तुकी उपलब्धि ज्ञानके समय ही होती है बिना ज्ञानके नहीं—यही ज्ञान और वस्तुका सहोपलम्भ-नियम है।

परन्तु बौद्ध विद्वान्का यह कथन ठीक सिद्ध नहीं होता क्योंकि नियत सहोपलम्भवाले सभी पदार्थ परस्पर अभिन्न—एक नहीं होते। जैसे प्रभा और नील-पीतादि पदार्थ। प्रकाशके होनेपर ही नील-पीतादि पदार्थोंकी प्रतीति होती है, अन्धकारमें नहीं। परन्तु इस सहोपलब्धिमात्रसे यदि कहा जाय कि प्रभा और नील-पीतादि पदार्थ एक ही हैं—भिन्न-भिन्न नहीं, तो सर्वथा अनुभवविरुद्ध होगा क्योंकि नील-पीतादि पदार्थोंके उठाने, धरने और टूटने-फूटनेसे प्रभा नहीं टूटती-फूटती। यदि नील घट और दीपकका प्रकाश परस्पर अभिन्न होते तो घटमें जल डालनेसे प्रभा बुझ जाती।

धर्मकीर्ति दूसरी युक्ति देता है कि—

नान्योऽनुभाव्यो बुद्ध्यास्ति तस्य नानुभवो परः।
ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात् स्वयं सैव प्रकाशते॥

अर्थात् बुद्धि अथवा ज्ञानसे कोई अनुभाव्य पदार्थ भिन्न नहीं है, ग्राहकसे भिन्न कोई ग्राह्य नहीं है—केवल बुद्धि (ज्ञान) स्वयं प्रकाश कर रही है। जिस ज्ञानसे जो पदार्थ जाना जाता अर्थात् ग्रहण किया जाता है वह ग्राहक ज्ञानसे पृथक् नहीं होता। जैसे आत्मा ज्ञानसे जाना जाता है और आत्मा ज्ञानमें पृथक् भिन्न सत्ता नहीं रखता किन्तु ज्ञानस्वरूप ही है। इसी प्रकार ज्ञान सब पदार्थोंका ग्राहक है और सब पदार्थ ज्ञानसे ही ग्रहण किये जानेसे ग्राह्य है अतः यह ग्राह्य जगत् ग्राहक ज्ञानसे भिन्न नहीं है। स्वप्नके पदार्थोंका विज्ञानवेद्य मनोग्राह्य होना सभीको अनुभव होता है—जागनेपर उनका अस्तित्व नहीं रहता इसीलिये उनको मिथ्या कहते हैं। बौद्ध विद्वान् इसी विज्ञानवेद्यत्व हेतुसे जाग्रत्के बाह्य जगत्को स्वप्नके आन्तर जगत्के समान मिथ्या मानता है।

शोक है कि बौद्धोंका यह सिद्धान्त भी वेदान्तके एक-देशी कई व्याख्याता विद्वानोंने अपना लिया है। इस स्थान-पर यदि हम ब्रह्मसूत्र और शांकरभाष्यकी सहायतासे काम लें तो बौद्धों और वेदान्तियोंको विचार करनेका बहुत उत्तम सुयोग प्राप्त हो सकता है। देखिये वेदान्तसूत्र—

वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्। (२।२।२९)

शांकरभाष्य—**यदुक्तं बाह्यार्थोपलापिना स्वप्नादिप्रत्ययवज्जागरितगोचरा अपि स्तम्भादिप्रत्यया विनैव बाह्येनार्थेन भवेयुः प्रत्ययत्वाविशेषात्—इति, तत् प्रतिवक्तव्यम्। अत्रोच्यते—न स्वप्नादिप्रत्ययवज्जागरितप्रत्यया भवितुमर्हन्ति। कस्मात्? वैधर्म्यात्!—वैधर्म्यं हि भवति स्वप्नजागरितयोः। किं पुनर्वैधर्म्यम्? बाधाबाधाविति ब्रूमः—बाध्यते हि स्वप्नोपलब्धं वस्तु, प्रतिबुद्धस्य मिथ्या मयोपलब्धो महाजनसमागम इति, न ह्यस्ति मम महाजनसमागमो निद्राग्लानं तु मे मनो बभूव तेनैषा भ्रान्तिरुद्बभूवेति। एवं मायादिष्वपि भवति यथायथं बाधः। नैवं जागरितोपलब्धं वस्तु स्तम्भादिकं कस्याञ्चिदप्यवस्थायां बाध्यते, अपि च स्मृतिरेषा यत्स्वप्नदर्शनम्, उपलब्धिस्तु जागरितदर्शनम्''''''''इत्यादि।**

'बाह्य पदार्थोंका अभाव माननेवालेने जो यह कहा है कि—'जागरितके स्तम्भादि पदार्थोंका ज्ञान भी स्वप्नके पदार्थोंके ज्ञानके समान बिना बाह्य पदार्थोंके ही है, ज्ञान होनेके कारण। इसका खण्डन करो।' सो इसका उत्तर यह है कि जागरितके ज्ञान स्वप्नादिके ज्ञानके समान नहीं हो सकते। क्यों? वैधर्म्य होनेसे!—स्वप्न और जागरितका परस्पर अत्यन्त भेद है। क्या वैधर्म्य है? बाध और अबाध हम कहते हैं। सुनो, स्वप्नमें प्रतीत होने-वाली वस्तुका जागरितमें बाध हो जाता है—जागनेपर कहता है कि मैंने जो स्वप्नमें महाजनका समागम देखा है यह मिथ्या ही था क्योंकि यदि सच ही मुझे इष्टमित्रादि मिले होते तो जागनेपर भी रहते, वास्तवमें बात यह है कि निद्रादोषके कारण मेरा मन ठिकाने नहीं था इसीलिये यह भ्रान्ति उत्पन्न हुई। इसी प्रकार जैसे स्वप्नके पदार्थों-का बाध देखा गया है वैसे मायादिके पदार्थोंका भी बाध होता है, परन्तु जागरितमें उपलब्ध होनेवाले स्तम्भादि

पदार्थ तो किसी भी अवस्थामें बाधको प्राप्त नहीं होते। न केवल यही किन्तु स्वप्न और जागरितमें एक और भी वैधर्म्य है—स्वप्नका देखना तो स्मृतिमात्र है और जागरितमें पदार्थोंका दर्शन उपलब्धि है। प्रत्येकको स्वयं अनुभव होता है कि स्मृति और उपलब्धिमें महान् अन्तर है—स्मृतिमें पदार्थ नहीं होता और उपलब्धिमें पदार्थ उपस्थित होता है। जैसे प्रिय पुत्रका स्मरण करता हूँ अर्थात् पुत्र इस समय मेरे पास नहीं है उसको प्राप्त करना चाहता हूँ। ऐसी अवस्थामें यह नहीं कहा जा सकता कि जागरितके बाह्य पदार्थ स्वप्नके समान मिथ्या हैं। विचारशील विद्वानोंको अपने अनुभवका तो विरोध नहीं करना चाहिये।'—इत्यादि।

भगवच्छंकराचार्यने इसी भाष्यके अन्तमें कहा है कि स्वप्नके साधर्म्यसे जागरितके पदार्थोंको मिथ्या कहना ऐसा ही हास्यास्पद है जैसा कि अग्निको जलके साधर्म्यसे शीत कहना।

साधर्म्यमात्रसे दो पदार्थोंको एक समझना और उनके परस्पर वैधर्म्यपर दृष्टि न डालना दर्शनशास्त्रमें बड़ी भयंकर भूल मानी गयी है। इसीलिये वैशेषिक दर्शनमें तत्त्वज्ञानके लिये साधर्म्य-वैधर्म्य दोनोंका ज्ञान होना आवश्यक माना गया है। शांकरभाष्यके अनुसार जागरित और स्वप्नके पदार्थों तथा ज्ञानोंमें पदार्थत्व और ज्ञानत्व साधर्म्य होनेपर भी उनके परस्पर विरुद्ध धर्मोंकी उपेक्षा नहीं की गयी। इसीलिये भगवत्पादोंने ठीक ही कहा है कि स्वप्नके पदार्थ बाधित हैं, जागरित पदार्थोंका किसी भी अवस्थामें बाध नहीं होता, स्वप्नके पदार्थ स्मृतिरूप हैं, जागरित पदार्थ उपलब्धिरूप हैं, जागरित पदार्थोंकी स्वतन्त्र सत्ता है, स्वप्नके पदार्थ ज्ञानके अधीन कल्पित हैं।

जिस प्रकार शङ्करभगवान्ने 'धर्मकीर्ति' के सिद्धान्तका व्याससूत्रोंके भाष्यमें विद्वत्तापूर्ण उत्तर दिया है उसी प्रकार योगमें भी खुला विचार किया गया है। बौद्ध विद्वान् कहते हैं कि संसार मनःकल्पित है, चित्तने ही इसकी रचना की है। महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—

वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्थाः।

(योग० ४। १५)

यदि जगत् मनःकल्पित है तो यह बतलाओ कि एक ही वस्तुमें अनेक ज्ञानोंका क्या कारण है?—एक ही स्त्रीमें कामी पुरुषको प्रेम होता है, शत्रुको द्वेष होता है, विमूढको विषाद होता है और ज्ञानीको वैराग्य होता है। एक ही कर्मको धर्मात्मा सुखकारक समझता है, पापी दुःखदायक मानता है, विमूढ उपेक्षायोग्य कहता है इत्यादि। वास्तवमें ज्ञानका मार्ग और है और वस्तुका मार्ग और है—दोनोंमें महान् अन्तर है, ज्ञान और पदार्थ एक नहीं है। यदि जगत्के पदार्थ ज्ञान अथवा मनसे कल्पित होते तो एक वस्तुमें अनेक प्रकारके ज्ञान न होते। इसपर यह भी ज्ञातव्य है कि वे एक मनके कल्पित हैं या अनेक मनोंके कल्पित हैं। एक मन (ज्ञान) से तो यह अनेक पदार्थोंसे भरा संसार उत्पन्न हो नहीं सकता क्योंकि परिच्छिन्न मन महान् जगत्को कैसे रच सकता है और न कोई मन ही ऐसा है जिसके अन्दरसे लाखों मन परिमाणवाले पर्वतादि उत्पन्न हो सकें। यदि हम रेलगाड़ीको दौड़ते हुए देखें तो बौद्धदृष्टिसे इसका यह तात्पर्य होगा कि रेलगाड़ी हमारे मनसे निकली—रेलके सैकड़ों यात्री, उनके ट्रंक, बिस्तरे, सामान तथा अन्य पदार्थ उस क्षणभरमें हमारे अन्दरसे पटरीपर आ पड़े और शृङ्खलाबद्ध होकर सामने आ गये तथा थोड़ी देर पश्चात् जब गाड़ी हमारी आँखोंसे ओझल हो गयी तो सारे डब्बे, यात्री, उनके सामान हमारे मनःकोटरमें प्रविष्ट हो गये। जिन लोगोंने कारखानोंमें लोहेके इञ्जिन, गाड़ियाँ आदि बनाया, गार्ड, ड्राइवर, यात्री, उनके परिवारको उत्पन्न करने तथा शिक्षित करनेमें वर्षों लगा दिया उनका वह सब व्यर्थ और झूठा और यह क्षणभरके देखनेवाले, अपने मनको इस दृश्यका रचयिता कहनेवाले महाशय सच्चे—यह बात मानना किसी लौकिक या परीक्षकको समुचित नहीं मालूम होगा।

दूसरा दोष यह है कि एक चित्तकी कल्पित की हुई वस्तुको दूसरा चित्त कभी नहीं देख सकता। जैसे देवदत्तके मनने जो स्वप्नदृश्य कल्पित किया उस स्वप्नके दृश्यको यज्ञदत्त या विष्णुमित्रादि कोई अन्य व्यक्ति नहीं देख सकता। यदि यह बाह्य जगत् किसी एक चित्तका कल्पित होता तो दूसरे चित्तोंसे कदापि दृश्य न होता, परन्तु इस जगत्को संसारके सभी लोग देखते हैं, इसलिये भी वस्तु और ज्ञान भिन्न-भिन्न हैं तथा मनसे जगत् उत्पन्न नहीं होता और जागरितके पदार्थ स्वप्नके समान नहीं हैं।

यदि कहा जाय कि अनेक ज्ञानों (चित्तों) ने जगत्‌की कल्पना की है तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि अनेक चित्तोंसे एक वस्तुकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि अनेक कर्मकर्ता लोगोंसे गृह, मन्दिरके समान माना जाय तो एक ही वस्तुके अनेक भागोंको अनेक चित्तोंसे रचित मानना होगा परन्तु यह अनुभवविरुद्ध है। एक वृक्षको पचास लोगोंने देखा तो एक भागको किसीने रचा, दूसरे भागको किसीने, अन्य भागोंको अन्योंने— यह मानना प्रमाणशून्य है।

दृष्टिसृष्टिवादीका मत है कि ज्ञान समकालीन ही पदार्थ है, ज्ञानके पूर्व तथा उत्तर क्षणोंमें उनका भाव नहीं रहता; महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—

न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात्।
(योग० ४। १६)

अर्थात् वस्तु किसी एक चित्तके अधीन नहीं है, क्योंकि जिस समय वस्तु उस चित्त (ज्ञान) के अधीन न होगी, तब क्या नष्ट होगी?

जिस कालमें चित्तका वस्तुके साथ सम्बन्ध नहीं है अथवा सम्बन्ध निवृत्त हो चुका है या उस वस्तुसे भिन्न किसी अन्य वस्तुको विषय कर रहा है या एकाग्रताको प्राप्त है—उस कालमें जगत्‌का या जगत्‌के पदार्थोंका क्या नाश हो जायगा? गङ्गाविषयक ज्ञानके अभावसे गङ्गाका अभाव मानना, पर्वतविषयक ज्ञानके अभावसे पर्वतका अभाव मानना तथा रात्रिकालमें सूर्यविषयक ज्ञानके अभावसे सूर्यका अभाव मानना—सर्वथा प्रमाण-शून्य है। जब घटको देखा तो घट उत्पन्न हो गया और जब घटसे दृष्टि हटायी तो घट नष्ट हो गया, नगरपर दृष्टि पड़ी तो नगर उत्पन्न हो गया और दृष्टि हटी तो नगर नष्ट हो गया—इस सिद्धान्तके युक्तियुक्त होनेमें कोई प्रमाण नहीं है। इसीलिये महर्षि गौतमने न्यायदर्शनमें कहा है—

प्रमाणानुपपत्त्युपपत्तिभ्याम्।

यदि विज्ञानसे अतिरिक्त पदार्थोंकी सत्ता नहीं मानते तो बतलाओ इस सिद्धान्तकी सिद्धि किस प्रमाणसे करते हो? यदि कहो कि विज्ञानसे अतिरिक्त कुछ भी नहीं है इसलिये हमारे पास कोई प्रमाण नहीं तो आपका सिद्धान्त प्रमाणशून्य होनेसे विद्वानोंने उपादेय नहीं हो सकता। यदि कहो कि प्रमाण है तो विज्ञानसे अतिरिक्त पदार्थ सिद्ध होनेसे आपकी प्रतिज्ञाहानि हो गयी। दूसरी बात यह है कि प्रमाणको माननेसे प्रमेयकी सत्ता माननी अनिवार्य हो जायगी। इसलिये प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे जानने योग्य घटपटादि बाह्य पदार्थोंकी विज्ञानसे अतिरिक्त सत्ता है।

उपर्युक्त योगसूत्रपर महर्षि व्यासजी भाष्य करते हुए कहते हैं—

ये चास्यानुपस्थिता भागास्ते चास्य न स्युरेवं नास्ति पृष्ठमित्युदरमपि न गृह्येत, तस्मात्स्वतन्त्रोऽर्थः सर्वपुरुष-साधारणः। (योगभाष्य)

जब हम किसी वस्तुको देखते हैं तो उसके सम्पूर्ण भागोंको एक कालमें कदापि नहीं देख सकते। घटका उपरिभाग, निम्नभाग, मध्यभाग, पृष्ठभाग आदि एकदम नहीं देख सकते। तो जिस भागको देखते हैं क्या उस भागसे भिन्न अन्य भाग नहीं हैं? यदि घटपृष्ठको देखें तो दृष्टिसृष्टिवादीके मतमें उस घटका उदर, निम्नभाग तथा अन्य भाग नहीं मानने होंगे। परन्तु ऐसा नहीं है, इसलिये विज्ञानसे अतिरिक्त कालमें घटपटादि पदार्थोंकी स्वतन्त्र सत्ता है और इसको सर्वसाधारण अनुभव करते हैं। और जो सर्वजनोंके अनुभवका विषय हो उसका निरादर करना उचित नहीं है।

यदि विज्ञानसे बाह्य पदार्थोंको भिन्न न माना जाय तो घटको देखनेसे पटज्ञान और पटको देखनेसे नदीज्ञान क्यों नहीं होता? घटज्ञान, पटज्ञान, नदीज्ञान, मनुष्यज्ञान, पशुज्ञान आदि अनेक ज्ञानोंका कारण बतलाना होगा। बिना कारणके कार्य नहीं होता—इसलिये विज्ञानसे अतिरिक्त घटपटादि पदार्थ हैं जिनके साथ सम्बन्ध होनेसे घटादिविषयक ज्ञान उत्पन्न होते हैं। घटपटादिकी पृथक् सत्ता है, जब घटके साथ मनका योग हुआ तो घटज्ञानकी उत्पत्ति हुई—घटकी नहीं, जब पटके साथ योग हुआ तो पटज्ञानकी उत्पत्ति हुई—पटकी नहीं।

यदि ज्ञानमात्रसे भूतभौतिक सृष्टिकी उत्पत्ति मानी जाय तो ज्ञानके कल्पित मोदकोंसे रस-वीर्य-विपाकादि भी होने चाहिये तब वास्तविक मोदकोंकी क्या आवश्यकता होगी। ऐसे व्यक्ति 'मनोराज्यके शेखचिल्ली' को वास्तविक भोजनादि बाह्य पदार्थोंके बिना ही तृप्ति आदि होनी चाहिये, परन्तु होती कदापि नहीं। इसलिये न तो बाह्य

पदार्थोंका अभाव ही है और न मनसे बाह्य जगत्‌की उत्पत्ति हुई है किन्तु बाह्य जगत् और उसके घटपटादि पदार्थ स्वप्रतिष्ठ—स्वतन्त्र हैं। जिन जिज्ञासु सज्जनोंको अधिक विचारकी आवश्यकता हो वे उपर्युक्त सूत्रोंपर व्यासभाष्य तथा वाचस्पतिटीका और शाङ्करभाष्य* का स्वाध्याय करें।

(२) मोक्षका स्वरूप

दार्शनिक जगत्‌में मोक्षके विषयमें भी बहुत कुछ विचार हुआ है। मोक्षका स्वरूपनिर्णय करनेमें तो कई लोगोंके सिद्धान्त परस्पर विलक्षण प्रतीत होते हैं। कारण यह है कि सब लोगोंने भिन्न-भिन्न प्रकारसे विचार किया है।

मोक्षके स्वरूप और उपायादिपर भिन्न-भिन्न दृष्टियोंकी आलोचना करनेसे पूर्व यदि हम मोक्ष शब्दके अर्थपर ध्यान दें तो हमारा विचार है कि इस विषयके बहुत-से प्रश्नोंका स्वयमेव समाधान हो जायगा।

मोक्ष और मुक्ति इन दोनों शब्दोंका अर्थ है—छुटकारा। किससे छुटकारा? जिससे छूटना चाहते हैं उससे। वह है—दुःख। दुःख तथा बन्धन पर्याय कह दिये जायँ तो कुछ अनुचित न होगा। मोक्षका शब्दार्थ निकल आया—दुःखोंसे छूट जाना।

महर्षि गौतम न्यायदर्शनमें इसी युक्तिसे मोक्षपर विचार करते हैं। उनका सूत्र बिल्कुल स्पष्ट है—

तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः। (१।१।२२)

अर्थात् दुःखकी अत्यन्त निवृत्ति होना ही मोक्ष है। मोक्षके लिये न्यायमें 'अपवर्ग' शब्दका प्रयोग किया गया है जो कि सर्वथा युक्तियुक्त है क्योंकि जैसे मोक्ष अथवा मुक्तिका अर्थ छुटकारा है वैसे ही अपवर्गका अर्थ भी छुटकारा है; इसीलिये मोक्षका पर्याय अपवर्ग—दुःखकी अत्यन्त निवृत्तिका सूचक है। वेदान्ती कहता है कि यह लक्षण ठीक नहीं क्योंकि श्रुतियोंमें मोक्षके विषयमें कहा गया है—'अत्र ब्रह्म समश्नुते' यहाँ ब्रह्मानन्दका उपभोग करता है। इसलिये ऐसा लक्षण करो कि दुःखात्यन्त-निवृत्तिपूर्वक जहाँ ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति है, वह मोक्ष है। नैयायिक कहता है कि दुःखनिवृत्ति पुरुषार्थसाध्य है, आनन्दप्राप्ति यत्नसाध्य नहीं, वह तो आत्माको स्वभावतः प्राप्त होगी, इसलिये वह लक्षण नहीं—जैसे मलिन वस्त्रका मलदोष दूर करना कष्टसाध्य है परन्तु मैल निकाल डालनेपर शुद्धता स्वतः प्राप्त हो जाती है—सफेदीके लिये अन्य पुरुषार्थ अपेक्षित नहीं होता। जैसे मैल दूर करनेके लिये साबुन, सोडा, गरम जल आदि अपेक्षित हैं वैसे शुक्लताके लिये किसी वस्तुकी अपेक्षा नहीं होती, किन्तु मैल दूर होते ही शुक्लता प्रकाशित हो जाती है। ऐसे ही दुःखनिवृत्ति होते ही आनन्दप्राप्ति हो जाती है। यथा बृहदारण्यक श्रुति—'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये'—इसको दुःखोंसे छूटनेकी देर है फिर तो सम्पत्ति है। विचार किया जाय तो इसमें विवादका लेशमात्र भी अवकाश नहीं है परन्तु दार्शनिक विद्वानोंने पक्ष-विपक्षकी कुक्षिमें घुसकर एक दूसरेको बहुत कुछ सुना डाला है।

महर्षि पतञ्जलिने मोक्षके लिये 'कैवल्य' शब्दका निर्धारण किया है। 'कैवल्य' का शब्दार्थ है 'केवल वही होना' अर्थात् आत्मा अपने आपमें हो और किसीके साथ उसका सम्बन्ध न हो। यद्यपि मोक्ष शब्दके अर्थके साथ जितना साक्षात् सम्बन्ध 'अपवर्ग' का है उतना कैवल्यका नहीं है तथापि भावार्थ जैसा 'कैवल्य' से व्यक्त होता है वैसा न तो मोक्ष शब्दसे और न 'अपवर्ग' से ही। मोक्ष और अपवर्ग दुःख-निवृत्तिपर ध्यान आकर्षित करते हैं और 'कैवल्य' दुःखनिवृत्तिके अनन्तर अवस्थाविशेषपर।

बौद्ध लोगोंने मोक्षके लिये 'निर्वाण' शब्दको चुना है। यद्यपि दुःखनिवृत्ति और 'निर्वाण' पर्याय कहे जाने चाहिये तथापि बौद्धसिद्धान्त इसका घोर विरोधी है। शून्यवादी माध्यमिक कहता है कि निर्वाणका अर्थ है—'बुझ जाना'। अर्थात् जैसे दीपशिखा बुझ जाती है ऐसे ही ज्ञानज्योतिका बुझ जाना। यही शून्यवादके शून्यसिद्धान्तका शून्यरहस्य या शून्यसार है। परन्तु 'शून्य' हो जाना तो किसीको भी अभीष्ट नहीं है—तब ऐसे मोक्ष (?) के लिये कौन यत्न करेगा—दुःखोंसे निवृत्त होना प्रत्येक व्यक्तिको अभीष्ट है, अपने स्वरूपमें स्थिति भी बहुमूल्य सम्पत्ति है, परन्तु अपनेको बुझा देना अथवा उच्छेद या नाश कर डालना उन्मत्तके बिना और किसीको अच्छा नहीं लग सकता। शोक है कि बौद्ध विद्वानोंने विचारवान् होकर भी ऐसी भयङ्कर भूल पाल-पालकर सँभाल रखी है कि जो अत्यन्त

---

* वेदान्तसूत्र अ० २ पा० २ सूत्र २८—३२

हानिकारक है। महर्षि गोतमने बड़े प्रेमसे समझाया था कि शून्यवाद छोड़ दो,* परन्तु इन लोगोंने समुचित ध्यान नहीं दिया। महर्षि कपिलने भी—'अपवादमात्रमबुद्धानाम्।' (साख्यदर्शन १।४५) इत्यादि सूत्रोंमें बहुत कुछ प्रयत्न किया, परन्तु ये माईके लाल नहीं समझे। अन्ततोगत्वा शङ्कर भगवान् आये। शङ्कराचार्यने कहा, यदि 'शून्य' ही परम-तत्त्व है तो उस शून्यको या शून्य अवस्थाको कोई अनुभव भी करता है या नहीं। यदि अनुभव करनेवाला है, तो वह शून्यसे भिन्न भावपदार्थ सिद्ध हो गया। यदि कहो शून्य-को अनुभव करनेवाला शून्य ही है तो यह वदतोव्याघात है—जैसे कोई कहे कि 'मैं नहीं हूँ' इससे भी उसका शून्य होना सिद्ध नहीं होता। यदि कहा जाय कि शून्यका कोई साक्षी नहीं है, तो इस प्रमाणशून्य शून्यकी सत्ता कैसे सिद्ध करोगे। यदि कहो कि 'शून्य' अभावात्मक है, उससे भिन्न कोई भावपदार्थ नहीं है जो शून्यका अनुभव करे, तो यह बताओ कि घटादि पदार्थोंके भावाभाव किसी चेतन भावपदार्थके ज्ञानाधीन क्यों हैं—वस्तुका भाव हो या अभाव, परन्तु उसके जाननेवाले साक्षीका भाव ही मानना होगा क्योंकि कोई पदार्थ साक्षीशून्य नहीं हो सकता—यदि साक्षी हो तो शून्य नहीं हो सकता। भगवती मैत्रेयी-को ब्रह्मर्षि याज्ञवल्क्यने यही बात सन्यास लेते समय उपदेश की थी। ऋषिने कहा था—'अविनाशी वारेऽयमात्मा-नुच्छित्तिधर्मा'—देवि, यह साक्षी आत्मा अविनाशी है, इसका उच्छेद कभी नहीं होता।

जैन लोग आत्माको शरीरपरिमाण—हस्तीका आत्मा हस्तीशरीर जितना लंबा-चौड़ा, घोड़ेका आत्मा घोड़ेके शरीर जितना और पिपीलिकाका आत्मा उसके अपने शरीर जितना मानते हैं। शरीरपरिमाण माननेसे सकोच-विकास-वाला मानना होगा और जो पदार्थ सङ्कोच-विकासवाला होता है वह रबरके समान सावयव होता है। सावयवके लिये घटके समान परिणामी होना आवश्यक है। अतः जैनदर्शनमें भी आत्मोच्छेद दोष उपस्थित है।

महर्षि पतञ्जलि इन सब बातोंपर विचार करके इस परिणामपर पहुँचे हैं कि आत्मा परिणामशून्य है और चेतन है तथा आत्माकी अपने स्वरूपमें स्थिति ही मोक्ष है। सूत्र यह है—

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूप-प्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति। (योग० ४।३४)

'पुरुषको भोग तथा अपवर्ग दिलानेके कार्यसे निवृत्त होकर मन और बुद्धिका जो अपने कारणमें लीन हो जाना है उसका नाम कैवल्य है, अथवा यों समझो कि चेतनशक्तिका अपने स्वरूपमें प्रतिष्ठित होना।'

कार्य-गुणोंका अपने-अपने कारण-गुणोंमें लीन हो जाना, यथा—व्युत्थान निरोध संस्कारोंका मनमें, मनका अस्मितामें, अस्मिताका बुद्धिमें, बुद्धिका अव्यक्त प्रकृतिमें लीन हो जाना इसलिये कैवल्य है कि आत्मा (पुरुष) को भोग देनेके लिये प्रवृत्त हुई प्रकृति जब गुणोंको कार्यरूपमें परिणत करती है तो गुणोंमें उत्तरोत्तर कारणकार्यभाव उत्पन्न होकर कार्यक्षमता हो जाती है और जब ये गुण अपवर्ग दिलानेको प्रवृत्त होते हैं तो क्रमानुसार अपने-अपने कारणमें लीन होते जाते हैं—इस भावको इसलिये 'कैवल्य' कहा गया है कि ऐसा होनेसे ही पुरुषके भोग समाप्त होते और कालान्तरमें मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार-का आत्मासे सम्बन्ध नहीं रहता। इनका सम्बन्ध ही बन्धन है—जब इनसे सम्बन्ध नहीं रहा तो वही कैवल्य है। उस अवस्थामें, जब कि गुण तो अपने-अपने कारणमें लीन होते-होते प्रकृतिमें लीन हो गये—गुणोंके भोक्ता अर्थात् बुद्धिको भोग्य और अपनेको भोक्ता माननेवाले सवृत्तिक मनके अधिष्ठाता पुरुषका क्या होता है? क्या वह नष्ट हो जाता है या लुप्त हो जाता है अथवा कुछ और बन जाता है? महर्षि कहते हैं कि वह नष्ट नहीं होता, उसका परिणाम नहीं होता, वह चेतन है, उसकी चेतनशक्तिका विपरिलोप नहीं होता—वह सदा रहनेवाली अलौकिक सत्ता है, उसकी उस समय अपने स्वरूपमें स्थिति होती है। जैसे दीपक अपने आपको भी प्रकाशित करता है और अपने सामने आये हुए घटपटादि पदार्थोंको भी प्रकाशित करता है। यदि घटपटादि पदार्थ न हों तो उनके अभावको ही प्रकाशित करता है। इसी प्रकार मन-बुद्धिमें पड़े हुए प्रतिबिम्बको भी आत्मा प्रकाशित करता है और जब मन-बुद्धि नहीं होते तब भी प्रकाश ही करता है। मन-बुद्धिके बिना जो आत्माका प्रकाशित होना है, यही आत्माकी स्वरूपमें अवस्थिति है—यही उसका कैवल्य अर्थात् केवल निर्गुण होना है। इसीको मोक्ष कहते हैं। इस विषयमें श्रुतिकी भी सहायता है। छान्दोग्योपनिषद् ७।२४।१ में

* देखो न्यायदर्शन ४।१।३८,४०

महर्षि सनत्कुमारने नारदको उत्तर दिया है—'स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति ? स्वे महिम्नीति।'—तब वह किसमें प्रतिष्ठित होता है ? अपनी महिमामें अर्थात् अपने स्वरूपमें।

मोक्षमें आनन्दप्राप्ति या ब्रह्माकारताके सम्बन्धमें योगसूत्रोंमें कुछ नहीं कहा गया। कारण यह है कि सुख-दुःखकी अनुभूति अन्तःकरणके द्वारा ही होती है और अन्तःकरणके साथ सम्बन्ध होना तथा उसके धर्मोंका अपने (आत्मा) को धर्मी मानना ही मिथ्या ज्ञान है। इधर सर्वशास्त्रसम्मत सिद्धान्त है कि मिथ्याज्ञानके रहते मोक्ष नहीं हो सकता। तब मोक्षमें आनन्द किस करणसे भोगा जायगा ? विना करणके भोग असम्भव है और विना भोगके आनन्दकी सिद्धि कठिन है। यदि कहा जाय कि उसका स्वरूप ही आनन्द है, तो फिर भोग या प्राप्ति कैसी ? यह स्वरूपस्थिति ही हुई। कहा जा सकता है कि चेतनरूपता या चितिशक्तिकी स्वरूपस्थिति भी तो सन्देहभरी है—चेतनताको किस करणसे अनुभव करता है, क्योंकि अन्तःकरण तो वहाँ है नहीं। बात यह है कि करणके द्वारा अपनेसे भिन्न पदार्थोंका अनुभव होता है—अपने स्वरूपके लिये—अपनी सत्ताके ज्ञानके लिये किसी करणकी आवश्यकता नहीं है जैसा कि बृहदारण्यकोपनिषद्में कहा है—

येनेदꣳसर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्‌ … विज्ञातारमरे केन विजानीयात्। (४।५।१५)

अर्थात् 'जिस (आत्मस्वरूप) से सबको जानता है उस (आत्मस्वरूप) को किस (करण) से जाने, अरे जाननेवालेको किससे जाने !' इसीलिये महर्षि पतञ्जलिने विना किसी करण या करणकी क्रियाके आत्माकी स्वरूपस्थितिको कैवल्य मोक्ष माना है। यह करणशून्य तथा करणक्रियाशून्य 'केवल चेतनरूपसे स्थिति' किसी अन्य अवस्था या लक्षणकी अपेक्षा नहीं रखती क्योंकि 'दुःखात्यन्तनिवृत्ति' और 'आनन्दावाप्ति' का इस कैवल्यस्थितिमें ही अन्तर्भाव हो जाता है।

विषय और करणसे शून्य आत्मस्थिति (कैवल्य) को मोक्ष मानना कई एक विद्वानोंको रुचिकर प्रतीत नहीं होता। वे कहते हैं कि शिलाके समान जडभावको प्राप्त हो जाना किसी विद्वान्‌को अभीष्ट नहीं है, इसलिये कैवल्यपद किसी कामका नहीं है। परन्तु विचार किया जाय तो दीपकवत् प्रकाशरूप स्थितिको शिला-समान समझना विद्वत्तासे बहुत ही इधरकी बात मालूम पड़ती है। आत्माको स्वतःप्रकाश ज्योतिःस्वरूप माननेवालेपर यह निकम्मा आक्षेप करना कि वह शिलाके समान परप्रकाश्य जडरूप मानता है, सर्वथा उपेक्षणीय है। 'केवल प्रकाशरूप निर्गुण चेतनस्थिति' को पतञ्जलिका मनःकल्पित सिद्धान्त नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह सिद्धान्त जहाँ युक्तियुक्त है वहाँ श्रुतिसम्मत भी है।

आत्माको सच्चिदानन्दस्वरूप मानना, समझानेके लिये तो उपयुक्त हो सकता है, परन्तु यदि इसपर आग्रह करके सिद्धान्त मान लिया जाय तो वेदान्तीके साथ इस विषयमें योगशास्त्रीका मतभेद हो जाना अनिवार्य है। योगी कह सकता है कि चित्स्वरूप और सच्चिदानन्दस्वरूपका एक अर्थ नहीं है क्योंकि सच्चिदानन्दस्वरूपका अर्थ है—सत्स्वरूप, चित्स्वरूप और आनन्दस्वरूप होना। एक ही वस्तु तीन स्वरूपोंवाली नहीं हो सकती—ऐसा तो हो सकता है कि एक तो उसका स्वरूप हो और शेष उसके धर्म हों। 'जो सत् होता है वह चेतन भी होता है'—इस व्याप्तिको कोई विद्वान् स्वीकार करनेके लिये उद्यत नहीं हो सकता क्योंकि घटपटादि जड पदार्थ सत् (अस्तित्व रखते) हैं परन्तु चेतन नहीं है। यदि घटपटादिको चेतन माना जाय तो घटपटादिको फोड़नेवालेको हत्याका अपराधी मानना होगा इत्यादि। इसी युक्तिसे सत्ता रखनेवाले पदार्थ आनन्दरूप नहीं कहे जा सकते। अतः यही मानना होगा कि आत्मा चित्स्वरूप है और सत्ता तथा आनन्द उसके धर्म (गुण) हैं। क्योंकि 'जो चेतन होता है वह सत् होता है' इस व्याप्तिका खण्डन नहीं हो सकता। यदि कोई खण्डन करनेको अग्रसर हो तो उसे ऐसा चेतन दिखाना होगा जो असत् हो—परन्तु यह सर्वथा असम्भव है कि कोई चेतन तो हो और सत्ता न रखता हो। वेदान्तीके लिये कठिनता यह है कि वह आत्माको गुण-गुणी या धर्म-धर्मी-सम्बन्धसे युक्त मानना अद्वैत सिद्धान्तकी हानि मानता है क्योंकि निर्गुण श्रुति उसके ऐसा माननेमें भारी व्याकोपको प्राप्त हो जाती है। यह ठीक है, परन्तु जो श्रुति गुणगुणीभावका निषेध कर रही है वह गला फाड़-फाड़कर यह भी चिल्ला रही है कि 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च'—साक्षी आत्मा

चैतन्यस्वरूप है, वह केवल है और उसके साथ किसी भी गुणका सम्बन्ध नहीं है। यदि सच्चिदानन्दस्वरूप होना ही श्रुतिको अभीष्ट होता तो 'चेता' (चिद्रूप) न कहती। श्रुति आत्माको चैतन्यस्वरूप कहकर अन्य किसी भी (आनन्दादि) गुणका वर्णन नहीं करती बल्कि 'केवल' कह रही है, इससे सिद्ध है कि आत्माका वास्तविक स्वरूप 'केवल चैतन्य' ही है, उसके साथ आनन्दादि नहीं। यदि कहा जाय कि आत्माको आनन्दस्वरूप मान लिया जाय तो आनन्दविधायक वचनोंकी सङ्गति भी लग जायगी और जो आनन्दस्वरूप होता है वह चेतन अवश्य होता है और जो चेतन होता है वह सत् भी अवश्य होता है—यह व्याप्ति भी चरितार्थ हो जायगी तो यह कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि यदि ऐसा मानना श्रुतिको अभीष्ट होता तो 'साक्षी चेता' और केवल तथा निर्गुण न कहती किन्तु 'आनन्दस्वरूप ही है' ऐसा कहती, परन्तु ऐसा तो श्रुतिने कहा नहीं। इसलिये निर्विशेष निर्धर्मक चेतनकी जो स्वरूपस्थिति है वही मोक्ष है। आनन्दादिपरक श्रुतियाँ इसी स्वरूपस्थितिकी महिमाका व्याख्यान हैं और कुछ नहीं।

संक्षेपमें योगी पतञ्जलिका सिद्धान्त यह है कि 'दुःखोंकी अत्यन्त निवृत्ति' रूप मोक्षको अनुभव करनेवाला कोई चेतन अपेक्षित है जो दुःखाभावरूप जड नहीं हो सकता किन्तु दुःखाभावका साक्षी—अभावका द्रष्टा चेतन ही हो सकता है। इसलिये नैयायिकका अपवर्ग बिना 'चेतनस्वरूपमें स्थिति' के माने कदापि सिद्ध नहीं हो सकता। और यदि आनन्दप्राप्तिको भावपदार्थ माना जाय—दुःखाभावका दूसरा नाममात्र न माना जाय तो इस आनन्दको भी कोई भोगनेवाला होना चाहिये, क्योंकि बिना चेतनके कोई भोग्य भोगा नहीं जा सकता। ऐसी अवस्थामें भोगके लिये किसी करण (मन, इन्द्रियादि) की आवश्यकता माननी होगी परन्तु वेदान्ती ऐसा नहीं मान सकता क्योंकि इससे आत्मासे भिन्न आनन्दरूप कोई भावपदार्थ सिद्ध होता है जो अद्वैत सिद्धान्तके विरुद्ध है तथा मोक्षका आनन्द नाशवान् मानना पड़ता है। तब यही कहना होगा कि आत्माके चैतन्यस्वरूपसे भिन्न कोई आनन्द पदार्थ नहीं है—इससे भी निर्गुण चेतनस्वरूपमें स्थिति ही 'मोक्ष' सिद्ध हुई। इसलिये चाहे नैयायिक हो या वेदान्ती हो, योगप्रतिपादित कैवल्यकी उपेक्षा नहीं कर सकता।

(३) चित्त और आत्माका भेद

बहुत लोगोंका विचार है कि चित्त या बुद्धि ही जानती और कर्म करती है, उससे भिन्न कोई और आत्मा नहीं है। इस सिद्धान्तके माननेवाले बौद्ध हैं। योगशास्त्रमें इस विषयपर भी विचार किया गया है। महर्षि पतञ्जलि कहते हैं कि चित्त 'आत्मा' नहीं है और न केवल चित्तसे काम ही चल सकता है। चित्त या बुद्धिसे भिन्न आत्माकी पृथक् सत्ता है। यथा—

सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात्।
(योग० ४। १८)

'चित्तकी वृत्तियाँ पुरुषको सदा ही ज्ञात हैं, क्योंकि पुरुष अपरिणामी होता हुआ चित्तके परिणामोंका साक्षी तथा प्रभु है।'

तात्पर्य यह है कि चित्त अथवा बुद्धिमें परिणाम होते हैं, आत्मामें परिणाम नहीं होता। चित्त ज्ञेय है, आत्मा ज्ञाता है। आत्मा स्वामी है, चित्त उसके अधीन है।

चित्तकी वृत्तियाँ ही चित्तके परिणाम हैं। वृत्तियाँ सदा एक समान कभी नहीं रहतीं—घट-सम्बन्धसे घटाकार, पट-सम्बन्धसे पटाकार, गृह-सम्बन्धसे गृहाकार होती रहती हैं—यही चित्तका परिणाम है। परिणाम तीन प्रकारका है—धर्मपरिणाम, लक्षणपरिणाम और अवस्था-परिणाम। जैसे घट-पटादि पदार्थोंमें धर्म, लक्षण और अवस्थापरिणाम होते हैं—मृत्तिकाके चूर्णका पिण्ड बनता है, पिण्डका घट बनता है, फिर घट क्रमशः पुराना होता जाता है। वैसे ही चित्तमें भी परिणाम होता है। एक परिणामके अनन्तर दूसरा परिणाम होता है, दूसरेके अनन्तर तीसरा। इस प्रकार चित्त परिणामी पदार्थ है। परिणामी पदार्थ जड होता हुआ अनित्य होता है इसलिये चित्त जड और अनित्य है। अनित्य वस्तु घट-पटादिके समान किसी ज्ञाताकी अपेक्षा करती है, अतः चित्त ज्ञेय है तथा आत्मा उसका ज्ञाता है। चित्तमें चाहे कोई परिणाम हो, चित्त उस परिणामका कभी द्रष्टा या ज्ञाता नहीं हो सकता। बौद्ध क्षणिक विज्ञानवादी हैं ही, अतः यह सिद्ध करना कि चित्त परिणामी है, एक प्रकारसे अनावश्यक ही है। आशय यह है कि जिस चित्तमें परिणाम होता है, उसकी प्रत्येक

अवस्था (सवृत्तिक मनके परिणाम) को आत्मा इसलिये जानता है कि चित्तका वह स्वामी है और स्वामी अपने भृत्यपर अवश्य शासन करता है। यदि आत्माको परिणामी माना जाय तो उसके परिणामोंका साक्षी कोई और चेतन मानना होगा, वह भी परिणामी माना जाय तो उसका साक्षी कोई और मानना होगा। अतः इस अनवस्थासे बचनेके लिये एक ही अपरिणामी नित्य साक्षी मानना आवश्यक है।

बौद्ध विद्वान् कहता है कि निःसन्देह चित्त परिणामी है, परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि उससे भिन्न किसी अपरिणामी चेतनको चित्तका स्वामी माना जाय। चित्तसे भिन्न इसलिये चेतनकी आवश्यकता कही जाती है कि चित्त जड है और जडके लिये किसी चेतन प्रकाशकका होना अनिवार्य है। हम (बौद्ध) कहते हैं कि जड होते हुए भी प्रकाशक हो सकता है। जैसे अग्नि घटादिको प्रकाशित करती है और स्वयं भी प्रकाशित होती है, इसी प्रकार चित्त भी स्वयप्रकाश है अर्थात् विषयका भी प्रकाशक है और वृत्तियोंका भी। अतः चित्तसे भिन्न आत्मा माननेकी आवश्यकता नहीं है। परन्तु महर्षि पतञ्जलि कहते हैं कि चित्तको स्वप्रकाश मानना ठीक नहीं है। यथा—

न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात्। (योग० ४। १९)

अर्थात् 'चित्त दृश्य है इसलिये चित्तको स्वप्रकाश नहीं कह सकते।' जो दृश्य होता है वह घटादिके समान परप्रकाश्य होता है। चित्त भी दृश्य है, अतः वह भी परसे प्रकाशित है—स्वतः प्रकाशशील नहीं है। अग्नि यद्यपि प्रकाशशील है तथापि उसका प्रकाश जड है—अग्नि नहीं जानता कि मैं प्रकाश कर रहा हूँ या मेरे प्रकाशसे घटपटादि पदार्थ प्रकाशित हो रहे हैं अथवा मेरे प्रकाशमें अमुक-अमुक कार्य हो रहे हैं, यही अग्निकी दृश्यता अर्थात् जडता है। इसलिये इससे भी यही सिद्ध होता है कि चित्त जडपरिणामी है।

वास्तवमें जिस प्रकार घटपटादिके लिये जैसे अग्निके प्रकाशकी आवश्यकता है, उसी प्रकार अग्निके ज्ञानके लिये यद्यपि अन्य अग्निकी अपेक्षा नहीं; तथापि दृश्य होनेसे किसी द्रष्टाकी तो आवश्यकता बनी ही रहेगी, क्योंकि अग्निमें ज्ञान नहीं है।

आत्माकी चित्तसे पृथक् सत्ता सिद्ध करनेके लिये और दर्शनोंमें भी विचार किया गया है और विलक्षण युक्तियोंसे आत्माकी सिद्धि की गयी है। इस छोटे-से निबन्धमें सब बातोंका उल्लेख करना बहुत ही कठिन कार्य है। अतः लेखके आकार-प्रकारपर विचार करते हुए यही उचित प्रतीत होता है कि लेखनीको विराम दिया जाय।

विरले योगी

(लेखक—स्व० योगिवर्य महात्मा श्रीचिदानन्दजी यति)

अवधु निरपक्ष विरला कोई, देख्या जग बहु जोई—
सम रस भाव भला चित जाके थाप उथापन होई।
अविनाशीके घरकी बाताँ जानेंगे नर सोई। अवधु०
राव रंकमें भेद न जाने कनक उपल सम लेखे।
नारि नागिनीको नहिं परिचय ते शिवमन्दिर देखे। अवधु०
निन्दा-स्तुति श्रवण सुणीने हर्ष शोक नवी आणे।
ते जगमें योगीसर पूरा नित चढ़ते गुण ठाणे। अवधु०
चन्द्र समान सौम्यता जाकी सागर जेम गँभीरा।
अप्रमत्त भारंड परें नित सुर गिरि सम शुचि धीरा। अवधु०
पंकज नाम धराय पंक सुं रहत कमल जिम न्यारा।
'चिदानन्द' ऐसा जन उत्तम सो साहेबका प्यारा। अवधु०

पातञ्जल योगदर्शनकी प्राचीनता

(लेखक—श्रीमद्योगाचार्य श्रीमन्मौक्तिकनाथजी नैरञ्जन)

दर्शनशास्त्रका प्रादुर्भाव कैसे हुआ ? कब हुआ ? और कहाँसे हुआ ? इत्यादि प्रश्नोके उत्तर तो बड़े-बड़े दार्शनिकोंकी प्रतिभाको भी अगम्य-से है । हाँ, हमारा यावन्मात्र अध्यवसाय है—'श्रुति, स्मृति, पुराण और इतिहासादि सद्ग्रन्थोमे जो-जो अध्यात्मविचार विद्यमान हैं उन्हीं सदुपदेशोंकी मीमांसा दर्शनशास्त्रोंमें समीचीनतया सगृहीत है ।' दर्शनशास्त्रोके विशेष महत्त्वका कारण यह है कि उनमें पदार्थविवेचन और अध्यात्मरहस्य साङ्गोपाङ्ग तथा सविस्तर विवर्णित रहते हैं । साथ ही इनकी रचनाचातुरी भी चतुरचित्तको चमत्कृत करनेवाली होती है । जिस प्रमेयकी सिद्धिमे सैकड़ों ग्रन्थ गीत ही गाया करते हैं, दर्शनशास्त्रका एक नन्हा-सा सूत्र भी चट्से उसकी सिद्धि कर दिखाता है । अतएव 'गागरमें सागर' की कहावत दर्शनशास्त्रमें ही अक्षरशः चरितार्थ होती है ।

दर्शनोंकी रचनाशैली

दर्शनशास्त्रोंका श्रीगणेश 'अथ' शब्दसे और उसकी चरम सीमा 'इति' शब्दसे होती है । परन्तु यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त नहीं है । कई दर्शन ऐसे भी हैं जिनकी स्वतन्त्रतामें 'अथ' और 'इति' कुछ भी बाधा नहीं डाल सकते । तथा अनेक दर्शन ऐसे भी है जिन्होने 'इति' शब्दका काम आम्रेडितसे अर्थात् द्विरुक्तिसे ही सिद्ध कर लिया है ।

गद्य-पद्यकी अपेक्षा दर्शनशास्त्रोंकी मूर्ति प्रायः छोटे-बड़े विविध सूत्रोंसे लपेटी रहती है । अतः इन सूत्रोंपर न तो कोई कवि ही कटाक्ष कर सकता है और न छन्दःशास्त्र ही इनपर अपने दण्डकोंका दबाव डाल सकता है । अतएव दर्शनशास्त्रका छोटे-से-छोटा सूत्र भी सर्वदा स्वतन्त्र-स्वच्छन्दरूपसे बड़े-बड़े अखाड़ोंमें भी अकड़ा ही करता है ।

दर्शनशास्त्रोंकी गणना तथा प्राग्भवीय इतिवृत्त अनुमान-प्रमाणके आधारपर ही निर्भर है । हाँ, अनुमानका लिङ्ग प्रायः उद्भूतरूपमें होना चाहिये, क्योंकि अनुमानका लिङ्गज्ञान ही आधार है । माधवाचार्यने सर्वदर्शनसग्रहमे जिन चार्वाकादि सोलह दर्शनोका सग्रह किया है उन्हींमें पाणिनिदर्शन भी गुँथा हुआ है । जब हमारी दृष्टि पाणिनिके सूत्रोंपर पड़ती है तो—

'लोपः शाकल्यस्य' (८।३।१९)
'अवङ् स्फोटायनस्य' (६।१।१२३)
'ऋतो भारद्वाजस्य' (७।२।६३)
'ई ३ चाक्रवर्मणस्य' (६।१।१३०)
'लङः शाकटायनस्यैव' (३।४।१११)
'वा सुप्यापिशले' (६।१।९२)
'तृतीयादिषु भाषितपुंस्क पुंवद्गालवस्य' (७।१।७४)

इत्यादि विविध सूत्रोंमें शाकल्य, स्फोटायन, भारद्वाज, चाक्रवर्मण, शाकटायन, आपिशलि, गालव तथा भागुरि, इन्द्र, चन्द्र, अमर, जैनेन्द्रादि महावैयाकरणोंके नाम और व्याकरणसम्बन्धी तत्-तत् सिद्धान्त स्पष्टतया देखे जाते है । इसी प्रकार सांख्यदर्शनमें भी—

अविवेकनिमित्तो वा पञ्चशिख । (६।६८)
लिङ्गशरीरनिमित्तक इति सनन्दनाचार्य । (६।६९)

इत्यादि विविध आचार्योंके नाम उल्लिखित मिलते हैं । वेदान्तदर्शनमे भी—

'बादरायण' (१।३।२६)
'बादरि' (१।२।३०)
'जैमिनि' (१।२।२८)
'आश्मरथ्य' (१।२।२९)
'औडुलोमि' (१।४।२१)
'काशकृत्स्न' (१।४।२२)

इत्यादि दार्शनिक महर्षि योगियोंके नाम तथा तत्सम्बन्धी सिद्धान्त विजृम्भमाण दिखायी देते हैं । अतः स्पष्ट है कि पाणिनिसे पूर्व भी शाकल्यादि विविध दर्शन केवल एक शब्दशास्त्रकी ही पुष्टिपर विद्यमान थे । तथा कपिलदेवसे प्रथम या तत्समयमे ही पञ्चशिख या सनन्दनाचार्यादिकोंके दर्शन केवल सांख्यशास्त्रके सम्बन्धमें ही रचे गये होंगे । एव वेदान्ततत्त्वका गहन सिद्धान्तभाण्डार भी पूर्वोक्त बादरायणादि परमयोगियोंकी देखरेखमे भरपूर

रहता होगा। परन्तु शोक है कि उन दर्शनोंके अभावसे आज एक अति साधारण बालक भी चट्से कह उठता है कि, 'अजी ! आप क्या कहते हैं, अमुक-अमुक दर्शन तो प्राचीन हैं ही नहीं !' अस्तु ।

दर्शनशास्त्रकी गणनापद्धति निर्धारित न होनेपर भी आज षड्दर्शनोंकी कुरसी अव्वल है। इन्हीं छः दर्शनोंमें पातञ्जलदर्शनका नाम गुँथा हुआ है। इसीको योगदर्शन या पातञ्जलसूत्र भी कहते हैं। कुछ लोगोंका कथन है कि 'कलियुगके प्रारम्भसे प्रथम ही योगशास्त्रका प्रचार लोप हो गया था। यदि ऐसा न होता तो श्रीकृष्णभगवान् ऐसा क्यों कहते—

स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप ॥
(गीता ४। २)

अब रहे पातञ्जलसूत्र, इनमें तो आकाशकी पाताल ही ठूसी हुई है। वेदादि सच्छास्त्र भी साक्षी नहीं देते कि पातञ्जलका सिद्धान्त सर्वथा मान्यतम है।' बस, इन्हीं वितर्कों और कुतर्कोंका समाधान करना इस लेखका प्रधान उद्देश्य है।

पातञ्जलकी प्राचीनतामें इतर दर्शनोंके प्रमाण

इस विषयमें केवल षड्दर्शनोंका ही विलोडन करना है। क्योंकि योगमार्गका भाण्डार इतना विराट् है कि वेदोंसे लेकर साधारण-से-साधारण कथा-कहानियोंमें भी उसके अनूल्य रत्नोंकी गणना ही नहीं हो सकती। फिर उन रत्नोंका उद्धरणरूपसे संग्रह किया जाय तो महाभारतसे भी चतुर्गुण विस्तृत 'योगरत्नमहासागर' का पोथा बन सकता है। यदि ईश्वरेच्छा बलीयसी होती रहेगी तो वेदादि शास्त्रोंके तत्त्वयोगरत्नके नमूने 'कल्याण' के उपकण्ठमें समर्पण किये जायँगे।

इन षड्दर्शनोंमें श्रीकपिलभगवान्का सांख्यदर्शन प्राचीन माना जाता है, इस विषयकी पुष्टिमें, 'ऋषिं प्रसूतं कपिलम्' (श्वेता० ५। २) इत्यादि श्रुति ही शिरोधार्य समझी जाती है। तथा महाभारतमें भी—

ज्ञानं च लोके यदिहास्ति किञ्चित्
सांख्यागतं तच्च महन्महात्मन् ।
(महा० शान्ति० ३०१। १०९)

अर्थात् इस संसारमें विभिन्न प्रकारके सम्पूर्ण ज्ञान शास्त्रोंसे ही प्राप्त हुए हैं। 'सांख्यदर्शन' का रहस्य है पुरुष-प्रकृतिका ज्ञान। अर्थात् पुरुष आत्मा वा क्षेत्रज्ञ कर्तृत्व-भोक्तृत्वादित्रिगुणव्यतिरिक्त साक्षी चैतन्य चिद्घन है, और त्रिगुणात्मिका जडरूपा प्रकृति यानी प्रधान अर्थात् मूल प्रकृति पुरुषसन्निधिमात्रसे ही लोहचुम्बकन्यायसे चैतन्यताको प्राप्त होकर महदादिक्रमसे चराचर संसारका विसर्ग करती है। पुरुष जबतक प्रकृतिके गुणोंमें बँधा हुआ है, दुखी है, जब योगाङ्गानुष्ठानसे अपने स्वरूपका वास्तविक ज्ञान हासिल कर लेता है, तब सब बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है। पुरुष-प्रकृतिके स्वरूपका सच्चा ज्ञान ही सांख्यशास्त्रकी मूलभित्तिका है। अतएव केचित् कलाकलापी महाशयोंका अपलाप है कि कपिल भगवान् तो निरीश्वरवादी निरे नास्तिक थे, क्योंकि आपने पुरुष-प्रकृतिके ज्ञानमात्रसे ही कृतकृत्यता मान ली है। पर वास्तवमें श्रीकपिलभगवान् निरीश्वरवादी या नास्तिक तो नहीं थे। क्योंकि 'ईदृगीश्वरसिद्धिः सिद्धा' (सां० द० ३। ५७) 'इस प्रकारके ईश्वरकी सिद्ध सिद्ध है' की छाप उनके दर्शनमें समुल्लसित है ही। अर्थात् सन्निधिमात्रसे प्रकृति और पुरुषका प्रेरक तथा संसारसर्ग-विसर्गका निमित्त कारण ईश्वरकी सिद्धि सिद्ध है। कुलालके सदृश गारेका ढेर लगाकर थापा-थापी करना ईश्वरका काम नहीं है।

पातञ्जलदर्शन और सांख्यदर्शन

पातञ्जलका सूत्र है—'वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः।' (पात० सू० १। ५) 'चित्तकी वृत्तियाँ क्लिष्ट और अक्लिष्ट पाँच प्रकारकी होती हैं।' सांख्यदर्शनमें भी यही सूत्र अक्षरशः पाया जाता है। पतञ्जलिने चित्तवृत्ति-निरोधोपाय 'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।' (पात० सू० १। १२) 'अभ्यास और वैराग्यसे वृत्तिनिरोध होता है' लिखा है। कपिलजीने भी इसी सूत्रको व्यत्यय कर—'वैराग्यादभ्यासाच्च' (३। ३६) 'वैराग्य और अभ्याससे होता है' लिखा है। पतञ्जलिने 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' (१। ३) 'तब द्रष्टाका स्वरूपमें अवस्थान होता है' इस सूत्रसे आत्माका वास्तविक स्वरूप दरसाया है। कपिलने भी 'तन्निवृत्तावुपशान्तोपरागः स्वस्थः।' (२। ३४) 'उसके निवृत्त और शान्तरज होनेपर वह स्वस्थ होता है' लिखकर पूर्वोक्त तत्त्वको ही स्पष्ट किया है। व्युत्थान अवस्थामें भी आत्माका स्वरूप 'वृत्तिसारूप्यमितरत्र' 'अन्यत्र वृत्तिसदृश रूप रहता है।'

(पात० सू० १ । ४) 'कुसुमवच्च मणिः' (सां० सू० २ । ३५) 'कुसुमके समान जैसे मणि।' इन दोनों सूत्रोंसे स्पष्ट हो जाता है। कपिलके 'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः' (१ । ६१) 'सत्त्व, रज और तम इन तीनोंकी साम्यावस्था ही प्रकृति है।' इत्यादि सूत्रमें संसारकी उत्पत्तिके साथ-साथ पुरुषके भोग और मोक्षका कारण भी प्रकृतिको माना है। इस रहस्यको पतञ्जलिने भी 'प्रकाशक्रियास्थितिशील भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्' (२ । १८) 'प्रकाश, क्रिया और स्थिति दृश्यका स्वभाव है। भूत और इन्द्रिय उसके स्वरूप हैं और भोग और अपवर्ग उसके प्रयोजन हैं।' इस सूत्रसे सिद्ध किया है। पतञ्जलिका सिद्धान्त है कि कर्तृत्व-भोक्तृत्व धर्म आत्माके नहीं हैं, सर्वदा शुद्धस्वरूप भी आत्मा बुद्धिवृत्तिका अनुसरण कर सुख-दुःखादि-धर्मवान् देखा जाता है। कपिलका भी यही सिद्धान्त है। क्रमशः—

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः। (यो० सू० २ । २०)
उपरागात् कर्तृत्वं चित्सान्निध्यात्। (सा० सू० १ । १६५)

योगदर्शनकी विवेचना है कि अविद्याग्रन्थिका जबतक सर्वतोभावेन तिरोभाव नहीं होता, तबतक कैसा भी योगाभ्यासी मुमुक्षु क्यों न हो, संसाररूपी नाट्यशालामें पुनः-पुनः जन्म लेकर जात्यायुर्भोगात्मक सिनेमा टॉकीके सीन (दृश्य) उसे देखने ही पड़ेंगे। यही भाव सांख्यदर्शनका भी है। क्रमशः—

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः। (यो० सू० २ । १३)

'मूलके रहते हुए उन कर्मोंका विपाक जन्म, आयु और भोग है।'

संस्कारलेशतस्तत्सिद्धिः।

'संस्कारलेशसे उनकी सिद्धि होती है।' इन्हीं सिद्धान्तोंकी साम्यताका ज्वलन्त उपदेश श्रीकृष्णभगवान्‌ने बड़े मधुर शब्दोंमें दिया है—

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
(गीता ५ । ४)

सांख्य और योग पृथक् हैं ऐसा मूर्ख कहते हैं, पण्डित नहीं। खैर, यह तो हुई श्रीभगवान्‌की करुणावृष्टि। परन्तु आश्चर्य यह है कि सांख्यदर्शनके सिंहद्वारपर ही एक वीरभद्र महाराज ऐसा दृढ़ खूँटा गाड़कर बैठे हैं कि बार-बार हिलानेपर भी जरा-सा टस-से-मस नहीं होते। प्रथम तो उनके दर्शनसे कुछ घबराहट-सी हो गयी थी, परन्तु कुछ परिचय होनेपर हमें प्रसाद मिला कि योगदर्शन सांख्यदर्शनसे बहुत प्राचीन है। उन वीरभद्र महाराजका यह परिचय है कि—

न वयं षट्पदार्थवादिनो वैशेषिकादिवत्। (सा० सू० १।२५)

'हम वैशेषिकादि शास्त्रोंकी भाँति षट्पदार्थवादी नहीं हैं।' इनका दृढ़तर अध्यवसाय है कि कपिलके सांख्यदर्शनसे कणादका वैशेषिक दर्शन प्राचीन है। इसलिये प्रथम इनका विचार हो ले।

पातञ्जलदर्शन और वैशेषिक दर्शन

यद्यपि वैशेषिक दर्शनका प्रतिपाद्य विषय द्रव्यगुणकर्मादि छः पदार्थोंकी विवेचना है, तथापि मोक्षमार्ग-व्यासङ्गमें तो कणादको भी पातञ्जलसूत्रोंका आश्रय लेकर धीमी-धीमी चालसे चलना पड़ता है। पातञ्जलमें मोक्षका लक्षण—'तदभावात् संयोगाभावो हानम्, तद्दृशेः कैवल्यम्।' (२ । २५) लिखा है। इसीकी पूरी-पूरी नकल कणादके वैशेषिक दर्शन—'तदभावे संयोगाभावोऽप्रादुर्भावश्च मोक्षः।' (५ । २ । १८) 'उसके अभावमें संयोगका अभाव और पुनः उत्पन्न न होना ही मोक्ष है।' में देखी जाती है। पूर्वोक्त सूत्रके भावार्थके साथ-साथ अक्षरोंकी साम्यावस्था भी सम्यक् उद्भूत हो है। कणादको अष्टाङ्गयोगानुष्ठानजन्य मोक्ष अभिमत है, अतएव आपने मोक्षमार्गकी प्रक्रिया—'आत्मकर्मसु मोक्षो व्याख्यातः।' (६ । २ । १६) लिखी है। चन्द्रकान्त इस सूत्रका भाष्य—'आत्मकर्मसु=यमनियमादिषु सत्सु मोक्षो व्याख्यातः' ऐसा करते हैं। पातञ्जलके—'क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः।' (२ । १२) के आधारपर ही—'दृष्टादृष्टप्रयोजनानां दृष्टाभावे प्रयोजनमभ्युदयाय।' इस कणादके सूत्रकी सृष्टि हुई। योगसूत्रोंके सदृश कणादसूत्रोंकी चरम सीमा भी 'इति' शब्दसे उल्लिखित ही है। अतः दार्शनिकोंका निरर्गल निश्चय है कि पातञ्जलसूत्रोंका विकास कणादके सूत्रोंसे बहुत प्राचीनतम कालका है।

पातञ्जलदर्शन और न्यायदर्शन

जब हम गौतमके न्यायदर्शनका निरीक्षण करते हैं तो उसमें भी अष्टाङ्गयोग बिना गति नहीं। यद्यपि वैशेषिकके सदृश गौतमका प्रतिपाद्य विषय 'प्रमाण-प्रमेयादि' सोलह पदार्थोंके विवेचनपर ही निर्भर है, तथापि मोक्ष-

घामकी पद्धति तो उसे भी अष्टाङ्गयोगकी ही माननी पड़ी। गौतमका सिद्धान्त है कि बाधालक्षण दुःखके अत्यन्ताभावका नाम अपवर्ग यानी मोक्ष है। यही बात 'बाधनालक्षणं दुःखमिति' (१।१।२१) 'दुःख बाधास्वरूप है।' 'तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः' (१।१।२२) 'उससे अत्यन्त विमोक्षका नाम अपवर्ग है' इन सूत्रोंसे स्पष्ट की गयी है। दुःखोंकी निवृत्तिका उपाय भी—'तदर्थं यमनियमाभ्यामात्मसंस्कारो योगाच्चाध्यात्मविध्युपायैः' —लिखा है। योगाभ्यासोपयोगी स्थानका निर्णय भी—'अरण्यगुहापुलिनादिषु योगाभ्यासोपदेशः' (४। २।४२) 'अरण्य, गुहा, नदीतट आदि स्थानोंमें योगाभ्यास करनेका उपदेश है' निर्धारित कर दिया है। समाधिसाधनाके विना ब्रह्मतत्त्वकी अभिव्यक्ति होती ही नहीं, इस सर्वतन्त्रसिद्धान्तकी सर्वोपादेयताका वर्णन भी—'समाधिविशेषाभ्यासात्' (४।२।३८) 'समाधिविशेषके अभ्याससे' से सुस्पष्ट कर दिया है। अतः दार्शनिक तार्किकोंका अभ्रान्त सिद्धान्त है कि गौतमका न्यायदर्शन पातञ्जलदर्शनसे सर्वथा अर्वाचीन है। अब रहे पूर्वमीमांसा यानी जैमिनिप्रणीत मीमांसादर्शन। वह तो याज्ञिक कर्मकलापको ही अष्टाङ्गयोगका साधन बतलाते हैं। आपका विश्वास है कि 'याज्ञिक कर्मकलापकी कसौटीसे बार-बार मनमन्दिरको उत्कर्षण करनेपर योगैकगम्य सच्चिदानन्द परमात्मा कभी-न-कभी अवश्य दर्शन देंगे ही। बस, छुट्टी पायी। अब हम इस छोटी-सी बातके लिये श्रीमान् महर्षि जैमिनिजीको खामखा तकलीफ देना नहीं चाहते।

पातञ्जलदर्शन और वेदान्तदर्शन

हाँ, अब हम पूर्वमीमांसाके छोटे भैयाके मेहमान बनते हैं। कहनेको तो आप पूर्वमीमांसाके छोटे भैया हैं, पर आप अपने सद्गुणोंसे संसारभरमें बड़े-से-बड़े समझे जाते हैं। आप बड़े छैलछबीले, चटकीले, रँगीले तो हैं ही, साथ ही आप मनमोहिनी विद्याके जादूगर भी हैं। अतएव आज सम्पूर्ण मानवसंसार आपके नामकी ही मनोहर मुरली बजा रहा है। आपका शुभ नाम है—वेदान्तदर्शन, व्याससूत्र, उत्तरमीमांसा और शारीरकशास्त्र। वेदान्तदर्शनके देखते ही—'एतेन योगः प्रत्युक्तः' (२।१।३) 'इससे योगका प्रतिवाद हो जाता है।' यह प्रश्न उपस्थित होता है। जिन महानुभावोंने योग-मार्गके महत्त्वका श्रवणतक नहीं किया वे यह कहा करते हैं कि पूर्वोक्त सूत्रसे योगका खण्डन होता है। परन्तु एवंविध सूत्रोंकी एकवाक्यता है ही टेढ़ी खीर।

अपरा विद्या और परा विद्या

मैं प्रथम ही निवेदन कर चुका हूँ कि योगमार्गके महत्त्वकी पराकाष्ठा सर्वसाधारणको अगम्य है। अनादिकालसे आजतक योगमार्गकी अनेक ऐसी टेढ़ी-मेढ़ी बटेदार पद्धतियाँ चली आ रही हैं कि जिनके द्वारपर बूढ़े वेदभगवान्‌को भी चुपकेसे बैठकर दिन काटने पड़ते हैं। वेद क्या वस्तु है? योगिराजोंके अनुभवात्मक ज्ञानकी लघीयसी मात्रा। फिर भी अपरा विद्याके क्लासमें ही उनको स्थान मिला। मुण्डक उपनिषद्‌के प्रारम्भमें ही एक कथा है कि—शौनक नामक ऋषिने योगेश्वर अङ्गिराके पास जाकर प्रार्थना की कि हे भगवन्! वह कौन-सी विद्या है जिसके ज्ञानसे सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो? अङ्गिरा उपदेश देते हैं कि—ब्रह्मवेत्ता योगेश्वर दो विद्याओंका वर्णन करते हैं—(१) परा और (२) अपरा। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिषादि विद्या तो इहलौकिक सुखसाधक होनेसे अपरा यानी ऐहलौकिकी कहलाती है। और जिस विद्यासे अक्षर, अव्यय, अविनाशी पूर्णब्रह्म परमेश्वरका साक्षात् होता है उसका नाम परा विद्या है (मुण्डक० १३–५)। इसी प्रकारकी कथा नारद और सनत्कुमारजीके प्रसङ्गसे छान्दोग्यउपनिषद्‌के सप्तम अध्यायके प्रारम्भमें समुल्लसित है।

योगसम्प्रदायका सिद्धान्त

अतएव अवधूत मत्स्येन्द्र-गोरक्षादि महासिद्ध योगविद्याकी अपेक्षा कर्ममयी वेदविद्याको न्यग्भूत ही समझते हैं। क्योंकि वेदविद्यामें त्रैगुण्य प्रपञ्च ही तो है। योगेश्वर श्रीकृष्णभगवान् 'त्रैगुण्यविषया वेदाः'—(गीता २।४५) कहकर त्रैगुण्यप्रपञ्चमय वेदोंकी कैसी अवहेलना करते हैं यह तो विद्वत्समाज मान ही रहा है। यही सही, वेद ही मान्यतम हैं, तो क्या वेद-शब्द योगका वाचक नहीं है? मैं तो स्पष्टरूपमें प्रार्थना करता हूँ कि वेदोंके विकाससे प्रथम ही योगविद्या तरुण हो चुकी थी। या यों कह सकते हैं कि योगविद्याके गर्भसे ही वेदविद्याका जन्म हुआ। मुण्डकोपनिषद्‌के प्रारम्भमें ही लिखा है कि—

ॐ ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता ।

'देवताओंमें प्रथम ब्रह्मा हुए जो विश्वके कर्ता और भुवनके गोप्ता हैं।' ठीक है, परन्तु जब विश्वरचनाकी आवश्यकता पड़ी तो श्रीहिरण्यगर्भजीके पास विश्वरचना-सामग्री तो थी ही नहीं, आप मन-ही-मन चिन्ता करने लगे। तब योगैकगम्य योगात्मा दयालु पूर्णब्रह्मका आदेश-प्रसाद मिला कि—

स चिन्तयन्द्व्यक्षरमेकदाम्भ-
स्युपाशृणोद् द्विर्गदितं वचो विभुः ।
स्पर्शेषु यत्षोडशमेकविंशं
निष्किञ्चनानां नृप यद्धनं विदुः ॥
(श्रीमद्भा० २ । ९ । ६)

अर्थात् उन ब्रह्माजीने ऐसा विचार करते हुए एक दिन (प्रलयकालके) जलमें दो अक्षरोंवाले एक शब्दका दो बार उच्चारण सुना। उनमेंसे पहला वर्ण तो स्पर्शवर्णोंमें (क से लेकर प तक) पन्द्रहवाँ अर्थात् त था और दूसरा इक्कीसवाँ अर्थात् प था। (जिनको मिला देनेसे 'तप' ऐसा शब्द बन जाता है) और जिसे अकिञ्चन पुरुषोंका धन कहते हैं।

अब तो विभु महाराजको 'तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्' (१ । १ । ९) की वाटिकामें दूरसे ही स्पर्श-कल्पद्रुम दिखायी पड़ा। फिर क्या था जरा-सा हिलाते ही स्पर्शोंमेंसे षोडश (त) और फिर एकविंशतिसंख्या (प) यानी 'तप' के प्रादुर्भावके साथ ही संसारका भी प्रादुर्भाव व्यक्त हो गया। कहिये तपकी कितनी महिमा है। जिस तपने इतने बड़े ब्रह्माण्डकी रचना कर डाली, योगदर्शनमें उसकी गणना अति साधारणरूपसे नियमोंमें पायी जाती है। अध्यात्मरसरसिक योगिराज क्या— 'ना वेदविन्मनुते तं बृहन्तम्' (तै० ब्रा० ३ । १२ । ९ । ७) 'वेदको नहीं जाननेवाला उस बृहत् परमात्माको नहीं जानता।' 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' (बृ० ३ । ९ । २६) 'उस उपनिषद्वेद्य पुरुषके बारेमें मैं प्रश्न करता हूँ।' इत्यादि रहस्यका अनुमोदन नहीं करते ? करते हैं, परन्तु उनका पक्का सिद्धान्त यही है कि—

राम राम सब कहत हैं, ठग ठाकुर अरु चोर ।
जिनको योगीजन भजें, वह राम कछु और ॥

वेदान्तसूत्रके कर्ता 'योगविद्याके महत्त्वसे खूब परिचित थे फिर भी 'एतेन योगः प्रत्युक्तः' की प्रतिज्ञा आपको शिरोधार्य है। इसके भाष्यकार श्रीशङ्कराचार्यजी योगमहत्त्वोपपत्तिजनक अनेक श्रुतिप्रमाण देकर कहते हैं कि हमें इस विषयमें तो कुछ आपत्ति नहीं; परन्तु सांख्यस्मृतिके सदृश योगस्मृति भी ईश्वरसत्ताके बिना ही केवल प्रकृति-पुरुषद्वारा ही संसारका आविर्भाव मानती है, अतः सांख्यस्मृतिके सदृश ही 'सङ्गदोषन्याय' से योगस्मृतिका भी निराकरण हो सकता है। तथास्तु। परन्तु योगस्मृतिसे यदि पातञ्जलयोगदर्शनका अध्याहार कर लिया हो तो हम स्पष्ट शब्दोंसे स्तुति करेंगे कि शारीरकसूत्रकी स्मृति ही स्तब्ध हो गयी। प्रायः वेदान्त-दर्शन भी तो स्मृति है, न कि श्रुति। इसीका नाम 'गजनिमीलिका' है।

पातञ्जलदर्शन सेश्वर है, अतः आपका उपदेश है कि प्रकृति तो जड है ही, अतः सहत्यरूपा होनेसे स्वयं परार्था भी है। रहे पुरुष, यद्यपि वे चिद्घन हैं तथापि अनेक जन्मोद्भव सुखदुःखात्मक कर्मोंके अकाट्य निगड़ोंसे ऐसे निगडित हैं कि पाशुपतदर्शनमें उन्हींकी पशुसंज्ञा मानी गयी है। इन पुरुषोंसे जो विशेष शक्तिमान् अर्थात् पुरुषोत्तम है वही इस जगत्का नियन्ता—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ।
(१ । २४)

—'अविद्यादि पञ्चक्लेश, कर्म, उनके विपाक (सुख-दु:ख) और आशय (वासना) से अस्पृष्ट पुरुषविशेष ईश्वर है।'—दयालु प्रभु हैं। इस बातकी शहादत श्रीकृष्णभगवान् आप ही देते हैं—

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥
(गीता १५ । १८)

—'क्योंकि मैं क्षरसे परे हूँ और अक्षरकी अपेक्षा उत्तम हूँ, इसीसे लोक और वेद दोनोंमें मैं पुरुषोत्तम नामसे विख्यात हूँ।' वेदमें भी यही उपपत्ति है—

स विश्वकृद्विश्वविदात्मयोनि-
र्ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद् यः ।
प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः
संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः ॥
(यजु—श्वेता० ६ । १६)

अर्थात् 'वह (परमात्मा) विश्वका कर्ता, विश्वका वेत्ता, स्वयम्भू, ज्ञाता, कालका भी काल, गुणवान्, सर्वज्ञ, प्रकृति और पुरुषका स्वामी, गुणोंका ईश और संसारके मोक्ष, स्थिति और बन्धका हेतु है।' सूर्यको दीपक दिखाना तो अपना ही अपमान करना है। जो पदार्थ सर्वशिरोधार्य है, वहाँ लिङ्गव्ययादिका अडङ्गा अकाण्डताण्डव ही तो है। आखिरको हमें—

गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः।
(उत्तररामचरित ४।११)

'गुणवान् पुरुषोंके अन्दर उनके गुण ही पूजाके पात्र हैं, उनका लिङ्ग (चिह्न) और अवस्था इसमें कारण नहीं है।' भवभूति कविके इस इशारेपर चलना ही पड़ेगा। वेदान्तदर्शनने अपने प्रयत्नोंमें कुछ बाकी नहीं छोड़ा, परन्तु आखिर—घट्टकुटीरप्रभातक* इस न्यायके ही विश्रामभवनमें आश्रय मिला।

वेदान्तस्मृतियोगाङ्गोंके आसन-ध्यानादिका महत्त्व

आसीनः सम्भवात्। (४।१।७)

'आसनपर बैठकर उपासना करे, क्योंकि तभी उपासना हो सकती है।'

ध्यानाच्च। (४।१।८)

'ध्यान भी तभी हो सकता है।'

अचलत्वं चापेक्ष्य। (४।१।९)

'ध्यान अचलत्वकी अपेक्षा रखता है।'

स्मरन्ति च। (४।१।१०)

'स्मृतियोंमें भी ऐसा ही कहा गया है।'

यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात्। (४।१।११)

'जहाँ एकाग्रता हो वहीं उपासना करनी चाहिये, अन्य कोई विशेष बात नहीं है।'

आ प्रायणात् तत्रापि हि दृष्टम्। (४।१।१२)

'उपासना भी मृत्युपर्यन्त करनी चाहिये।'

—इत्यादि मधुर शब्दोंसे प्रतिपादन कर ही रही थी कि अकस्मात् वास्कलि नाम मुमुक्षु ऋषि योगेश्वर श्रीवाध्वके योगाश्रममें ब्रह्मजिज्ञासार्थ पधारे। और प्रार्थना की कि—'हे प्रभो! उस योगैकगम्य सच्चिदानन्द परब्रह्मका क्या स्वरूप है?' बाध्व महाराज चुपचाप बैठे रहे। जब बार-बार वास्कलि पूर्वोक्त जिज्ञासापर ही डटे रहे तो बाध्व महाराज कुछ मुस्कुराकर बोले कि 'अरे वास्कले! तेरे प्रश्नोंका उत्तर तो मैं साथ-ही-साथ देता रहा, तेरी समझमें न आवे तो मैं क्या करूँ!' आखिर आपने यह उपदेश दिया—

उपशान्तोऽयमात्मा[1]।

बात भी ठीक है। क्रियात्मक अष्टाङ्गयोगसाधनाके बिना वेदान्तपरिभाषाके अक्षरोंमें ब्रह्म कभी नहीं मिलेंगे। नृसिंहाचार्यके वेदान्तडिण्डिमके सदृश हम भी—(१) 'प्रज्ञानं ब्रह्म' (ऋग्वेदीय ऐतरेयोपनिषद्)—'ब्रह्म प्रज्ञानस्वरूप है'। (२) 'अहं ब्रह्मास्मि' (यजुर्वेदीय बृहदारण्यक० १।४।१०)—'मैं ब्रह्म हूँ'। (३) 'तत्त्वमसि' (सामवेदीय छान्दोग्य० ६।८।७)—'वह आत्मा तू ही है'। (४) 'अयमात्मा ब्रह्म'—(अथर्ववेदीय मुण्डक०)—'यह आत्मा ही ब्रह्म है' इत्यादि मन्त्रोंका दिन रात पाठ किया करते हैं, परन्तु इन शब्दोंकी ध्वनि दशवें द्वारके त्रिकुटी-महलमें (जो सच्चिदानन्दका आमोदयोगमठ है) कभी नहीं सुन पड़ती। 'ज्ञानं भारः क्रियां विना' 'क्रियाके बिना ज्ञान भाररूप है'। अविद्या-ग्रन्थिका नाश तो समाधिद्वारा ही हो सकता है, अन्यथा नहीं। वेदान्तदर्शनके भाष्यकार श्रीशङ्कराचार्य अपने अनुभवीय समाधिका वर्णन क्या मधुरतासे करते हैं—

समाधिनानेन समस्तवासना
ग्रन्थेर्विनाशोऽखिलकर्मनाशः।
अन्तर्बहिः सर्वत एव सर्वदा
स्वरूपविस्फूर्तिरयत्नतः स्यात्॥
(विवेकचूडामणि ३६४)

'इस समाधिसे समस्त वासनारूप ग्रन्थिका विनाश और अखिल कर्मोंका नाश होकर भीतर, बाहर, सर्वत्र एवं सर्वदा बिना यत्न किये ही स्वरूपकी विस्फूर्ति होने लगती है।'

निर्विकल्पकसमाधिना स्फुटं
ब्रह्मतत्त्वमवगम्यते ध्रुवम्।
नान्यथा चलतया मनोगतेः
प्रत्ययान्तरविमिश्रितं भवेत्॥
(विवेकचूडामणि ३६५)

---

* कुछ व्यापारी माल लेकर एक स्थानसे दूसरे स्थानको जा रहे थे। रास्तेमें घट्टकुटीर यानी चुंगीघरसे बचनेके लिये वे रातभर इधर-उधर भटकते रहे। भटकते-भटकते प्रातःकाल ठीक चुंगीघरके सामने आ पहुँचे। जिससे बचना चाहते थे उसीसे सामना हुआ। इसीको कहते हैं—'घट्टकुटीरप्रभातन्याय'।

[1] वेदान्तदर्शन (३।२।१७) सूत्रका शांकर-भाष्य देखो।

'निर्विकल्प समाधिसे निश्चय ही ब्रह्मतत्त्वका स्फुट ज्ञान हो जाता है, अन्यथा नहीं। क्योंकि अन्य अवस्थाओंमें मनोवृत्तिके चञ्चल होनेसे वह ज्ञान अन्य प्रतीतियोंसे मिश्रित रहता है।'

फिर व्युत्थान अवस्थामें भी उस योगिराजको चराचर जगत्‌में—

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण, अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतम् ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्। (मुण्डक० २।२।११)

'यह अमृतस्वरूप ब्रह्म ही आगे है, ब्रह्म ही पीछे है, ब्रह्म ही दक्षिणमें और ब्रह्म ही उत्तरमें है, तथा ऊपर और नीचे भी ब्रह्म ही फैला हुआ है। यह सारा विश्व ही ब्रह्म है और ब्रह्म सबसे श्रेष्ठ भी है।'

—यही परमानन्द मिलता ही रहता है। वेदोंमें इस प्रकारकी समाधिके सहस्रों लक्षण विद्यमान हैं। भला जो निखिलतन्त्रचूडामणि-योगसमाधिभास्कर हैं उसके आगे तीन अक्षरके 'प्रयुक्तः'—सैंहिकेय (राहु) की कियती मात्रा है?

पातञ्जलदर्शन और भक्तिदर्शन

लोकमान्य श्रीबालगङ्गाधर महोदयने गीतारहस्यके परिशिष्ट प्रकरणके दूसरे भागमें थासन साहब तथा ज्ञानेश्वर महाराजके सिद्धान्तानुकूल 'गीताका विकास पातञ्जलसूत्रसे ही हुआ है' यह मानते हुए भी यह कहा है कि 'पातञ्जलसूत्रकी अपेक्षा शाण्डिल्य ऋषिका भक्तिदर्शन अति प्राचीन है' इत्यादि। परन्तु जब हम भक्तिदर्शनका दर्शन करते हैं तो यह धारणा हो जाती है कि पातञ्जलसूत्रका विकास भी श्रीशाण्डिल्यऋषिजीके अवतारसे भी बहुत प्राचीन है। शाण्डिल्यऋषि भक्तिमीमांसाका श्रीगणेश कर 'सा परानुरक्तिरीश्वरे' (१।१।२) 'ईश्वरमें परम अनुरागका नाम ही भक्ति है।' यह एक ही कदम आगे रख पाये थे कि योगदर्शनकी लाल-लाल आँखें दिखायी पड़ीं, और आपको भविष्यचिन्ता चकित करने लगी। बस, इसी चिन्ताके चिकित्सार्थ आपसे 'हेया रागत्वादिति चेन्नोत्तमास्पदत्वात् सङ्गवत्' (१।२।२१) 'यदि कहो, रागरूप होनेसे यह हेय है, तो ऐसा ठीक नहीं, क्योंकि (उत्तम पुरुषोंके) सङ्गके समान उत्तम (पुरुषोत्तम)-विषयक होनेसे वह श्रेष्ठ ही है।'—इस सूत्रका आविर्भाव हुआ। चिन्ताका मूल कारण भी श्रवण कीजियेगा—

'राग' शब्द अनेकार्थ होनेपर भी पातञ्जलदर्शनमें उसकी गणना अविद्यादि पञ्चक्लेशोंमें ही की गयी है। रागका पर्याय रक्ति शब्द भी है, इन्हीं शब्दोंके प्रथम उपसर्गोंका समावेश करनेपर—अनुराग, सुराग, विराग, अनुरक्ति, विरक्ति, परानुरक्ति इत्यादि अनेक पर्याय शब्द सिद्ध हो सकते हैं। इसी रक्ति शब्दके पूर्व 'परा और 'अनु' उपसर्गके मेलसे 'सा परानुरक्तिरीश्वरे' की सृष्टि तो हो गयी, परन्तु—'अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः (पञ्च) क्लेशाः' (पात० सू० २।३) 'अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश ये पाँच क्लेश हैं।' इस पातञ्जलसूत्रसे थरथराकर ही ऋषिजी महाराजको 'हेया रागत्वाद्—(१।२।२१) इत्यादि सूत्र लिखना पड़ा। योगसूत्र राग वा रक्ति शब्दका गोलार्थ करता है—योगपरिपन्थी पदार्थोंमें ममत्वका अनध्यारोप या यों कहिये कि विषयासक्तिसे सर्वदा उदासीन रहना। हाँ, योगसूत्रने राग और रक्ति शब्दोंमें शृङ्गाररसकी भावना समझकर पूर्वोक्त शब्दोंके स्थानमें 'प्रणिधान' शब्दको ही सर्वोपरि माना है। अतएव 'समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्' (२।४५)-'ईश्वरप्रणिधानसे समाधिसिद्धि होती है।' यह सिद्धान्त स्थिर किया है। फिर इस छोटी-सी समस्याके आगे शाण्डिल्य महाराज घबडा उठे। दार्शनिक महोदयवर्य! कहिये, लोकमान्य तिलकजीका सिद्धान्त सर्वतन्त्र है या प्रतितन्त्र?

पातञ्जलसूत्रोंके भाष्य आदि और हिरण्यगर्भ

यों तो श्रीमहर्षि वेदव्यासप्रणीत व्यासभाष्यकी विभिन्न अवतरणिकाओंसे स्पष्ट अनुमान होता है कि व्यासभाष्यसे पहले भी योगदर्शनपर भाष्यादि थे, परन्तु वर्तमानमें इन योगसूत्रोंपर जो-जो भाष्यादि हैं उनकी तालिका इस प्रकार है—

श्रीवेदव्यासप्रणीत	व्यासभाष्य
विज्ञानभिक्षुरचित	योगवार्तिक
मिश्र वाचस्पतिकृत	व्यासभाष्यव्याख्या
भोजदेवप्रणीत	राजमार्तण्ड
नागेश भट्टकृत	योगसूत्रवृत्ति
भावागणेशकृत	सूत्रवृत्ति
प० आनन्दकृत	योगचन्द्रिका
उदयङ्करकृत	यो० सू० वृत्ति
क्षेमानन्द दीक्षितकृत	नवयोगकल्लोलवृत्ति
ज्ञानानन्दकृत	यो० सू० वृत्ति
नारायणकृत	गूढार्थदीपिका
भयदेवकृत	अभिनवभाष्य
,,	योगसूत्रटिप्पण

महादेवकृत	यो० सू० वृत्ति
रामानन्दकृत	मणिप्रभा
रामानुजकृत	यो० सू० भाष्य
वृन्दावन शुक्लकृत	यो० सू० वृत्ति
शिवशङ्करकृत	,, ,,
सदाशिवकृत	,, ,,
राघवानन्दकृत	पातञ्जलरहस्य
राधानन्दकृत	पातञ्जलरहस्यप्रकाश
उमापति मिश्रकृत	यो० सू० वृत्ति
स्वा० हरिप्रसादकृत	यो० सू० वैदिकवृत्ति

इन सब भाष्यादिकारोंका एक मत है कि पातञ्जलयोगदर्शनका विकास हैरण्यगर्भशास्त्रसे ही हुआ है। इन भाष्यादिकारोंने निश्चय किया है कि योगसूत्र 'अथ योगानुशासनम्' (अब योगका उपदेश दिया जाता है।) से पतञ्जलि महाराजका योगसूत्रमें साक्षात् शासन न होनेपर अनुशासन ही है। तथा—

हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्य पुरातन।

'हिरण्यगर्भ ही योगके वक्ता है, इनसे पुरातन और कोई वक्ता नहीं है।' इस योगियाज्ञवल्क्यस्मृतिके प्रबल प्रमाणसे योगशास्त्रके विधाता श्रीहिरण्यगर्भ महाराज ही हैं। तथैवास्तु। परन्तु जिस प्रकार इतर दर्शनकारोंके इतिहास पुराणादिमें उपलब्ध हैं, श्रीहिरण्यगर्भजीका कोई भी इतिहास पुराणादिमे नहीं मिलता, न इस विषयमें किसी महानुभावने कोई कष्ट उठाया और किसीको जरूरत भी क्या थी कि बहिरङ्ग परीक्षाके पीछे-पीछे फिरे! परन्तु कुछ शास्त्रोंका समाकलन करनेपर हमें यह तो आपका पता मिला कि,

साख्यस्य वक्ता कपिलः परमर्षिः स उच्यते।
हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्य पुरातन॥

(महाभा० १२। ३४९। ६५)

'सांख्यके वक्ता कपिलाचार्य परमर्षि कहलाते हैं और योगके वक्ता हिरण्यगर्भ हैं, जिनसे पुराना और कोई इस शास्त्रका वक्ता नहीं है।' आगे चलकर इस प्रकार योगका रहस्य दर्शाया है कि—

हिरण्यगर्भो द्युतिमान् य एष च्छन्दसि स्तुतः।
योगैः सम्पूज्यते नित्य स च लोके विभुः स्मृतः॥

(महाभा० १२। ३४२। ९६)

'यह द्युतिमान् हिरण्यगर्भ वही हैं जिनकी वेदमें स्तुति की गयी है। इनकी योगीलोग नित्य पूजा करते हैं और समाजमें इन्हें विभु कहते हैं।' और देखिये—

हिरण्यगर्भो भगवानेष बुद्धिरिति स्मृत।
महानिति च योगेषु विरञ्चिरिति चाप्यज॥

'इन हिरण्यगर्भ भगवान्‌को (समष्टि) बुद्धि कहते हैं, इन्हींको योगीलोग महान् तथा विरञ्चि और अज (अजन्मा) भी कहते हैं।'

अपि च—

इदं हि योगेश्वर योगनैपुणं
हिरण्यगर्भो भगवान् जगाद यत्।

(श्रीमद्भा० ५। १९। १३)

'हे योगेश्वर! यह योगकौशल वही है जिसे भगवान् हिरण्यगर्भने कहा था।'

हिरण्यगर्भो जगदन्तरात्मा...

(अद्भुतरामायण १५। ६)

'हिरण्यगर्भ जगत्‌के अन्तरात्मा हैं।'

हिरण्यगर्भः सर्गेऽस्मिन् प्रादुर्भूतश्चतुर्मुख।

(वायु० ४। ७८)

'इस सर्गमे हिरण्यगर्भ चतुर्मुखरूपसे प्रकट हुए।' इन पद्योका भावार्थ यह है—

वेदोंने जिसकी स्तुति की, जो योगिजनोंसे पूजित है, वेदोमें जो विभु, विरञ्चि, अज, चतुर्मुख तथा जगदन्तरात्मा इत्यादि विशेषणोंसे उपश्लोकित हुए हैं। बस, उन्हींकी—'महानिति च योगेषु' है। इसकी टीका करते हुए श्रीनीलकण्ठजी फरमाते हैं—

योगेषु एष महानिति प्रथमं कार्यम्।

अर्थात् हिरण्यगर्भ महाराजकी यही 'महान् इति' है कि आपने वेदोंसे भी प्रथम योगविद्या याने परा विद्याका प्रादुर्भाव किया। जिन हिरण्यगर्भ भगवान्‌का छन्द यानी वेदमें—

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे
भूतस्य जात पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां
कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

(ऋ० १०। १२१। १)

'हिरण्यगर्भ ही पहले उत्पन्न हुए जो समस्त भूतोंके एक पति थे। उन्होंने इस पृथिवी और स्वर्गलोकको धारण किया। उन अनिर्वचनीय देवकी हम पूजा करते हैं।'

—इस प्रकार स्तुति की गयी है, बस, इन्हीं हिरण्यगर्भ महाराजके हैरण्यगर्भसूत्रोंका योगदर्शनमें अनुशासनकर 'अथ योगानुशासनम्' से योगदर्शनका प्रादुर्भाव हुआ है। अतः यह निर्विवाद है कि पातञ्जलयोगदर्शनसे प्राचीन कोई भी दर्शन समाजमें है ही नहीं।

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

ग्रन्थिभेद

(लेखक—विद्यालङ्कार प० श्रीशिवनारायणजी शर्मा)

ब्रह्मग्रन्थिभेद

शृण्वन्तु विश्वेऽमृतस्य पुत्राः ।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥

प्रथम यह जानना चाहिये कि ये ग्रन्थियाँ हैं क्या चीज ?

ये आगामी, सञ्चित और प्रारब्ध तीन प्रकारके कर्म हैं । आगामी कर्मोंका नाम उपनिषद्में ब्रह्मग्रन्थि, चण्डी-में मधुकैटभ और तन्त्रमें कुलकुण्डलिनी है । विराट् मन-प्राण और ज्ञान ये ही ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर हैं । उनको पानेके लिये जीवभाववाले मन, प्राण और ज्ञानकी खोज करना आवश्यक है । जिस प्रकार पृथ्वीके भीतर छिपा हुआ जलप्रवाह पानेके लिये आँगनमें कूप खोदना होता है, उसी प्रकार विराट् समष्टिको पानेके लिये अपने भीतर सदा अनुभूत होनेवाली व्यष्टिसत्ताका आश्रय लेना होता है ।

फिर सद्गुरुके आश्रय और उपदेशानुसार पहले मनुजत्वसे मनुत्व प्राप्त करना और जगत्की प्रत्येक वस्तुमें सत्यप्रतिष्ठा कर सबको गुरु समझनेकी दृढ भावना करनी चाहिये । 'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्' यह मन्त्र चैतन्य हो जानेसे जीव मनुजत्वकी सङ्कीर्णतारूप सीमासे बाहर निकलनेको व्याकुल होता है । भगवान् मनु मनुष्य-जातिके पिता और ब्रह्मा पितामह हैं । मनु ही ब्रह्माकी प्रथम सृष्टि हैं । जब मनुष्य साधनबलसे 'मनुत्व' प्राप्त कर लेता है, तभी वह 'भर्गो देवस्य धीमहि' कहता हुआ अमृत-मय अनन्त ज्योतिकी लहरमें निमग्न होकर तन्मय हो जाता है । जब आप 'तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये' कहते हुए, सूर्यमें सत्यप्रतिष्ठा कर सत्यदर्शी ऋषियोंकी भाँति महापुरुषकी आभासतरङ्गमें सवेदित होंगे, जब आप 'योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि'—कहते हुए वैदिक युगके ऋषियोंकी भाँति सूर्यमें सत्य और प्राणप्रतिष्ठ होकर जीव-भाव बिल्कुल भूल जायँगे, तब मनुत्वके अधिकारी होंगे । साधक यह न समझें कि ऐसा होना आपके लिये असम्भव है । सत्यदर्शी ऋषि ऐसा अव्यय सरल मार्ग आविष्कार कर गये हैं कि उसपर धीरे-धीरे सहजभावसे आगे बढ़ते जानेपर मनुष्यमात्र इसे प्राप्त कर सकते हैं ।

मनुत्व प्राप्त होनेसे अणिमा, महिमा आदि अष्ट सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं और घृणा, लज्जा आदि अष्ट पाश-बन्धनोंसे जीव मुक्त हो जाता है । प्रथम मनुजत्वसे मनुत्व और फिर मनुत्वसे ब्रह्मत्व, ये तीन अवस्थाएँ क्रमशः सद्गुरु-कृपासे साधकके सम्मुख अपने आप आती जाती हैं । जीव यह समझने लगता है कि मनुरूप पिताकी गोदमें मैं निर्भय आनन्दपूर्वक नग्न सरल शिशुकी भाँति बैठा हुआ हूँ । मैं चाहे कितना ही क्षुद्र, दीन, अविश्वासी और श्रद्धाहीन हूँ परन्तु पिताकी गोदमें बैठा हूँ । जब हर घड़ी यही अनुभव करता रहता है तब मर्त्यलोकमें रहकर भी वह अमरताके आस्वादमें मुग्ध रहता है और साधारण जनोंके लिये जो जगत् सदा दुःखमय है उसीको वह आनन्दमयरूपसे भोगता हुआ अनिर्वचनीय शान्ति पाता है, 'स शान्तिमधि-गच्छति' ।

मनुष्योंकी उत्पत्ति, स्थिति और लय 'मनु' के इशारे-पर ही निर्भर हैं, वह प्रत्येक मनुष्यके सूक्ष्म और कारण देह तथा मनके भाव प्रत्यक्ष अनुभव कर सकता है । हमारे हृदयपटलपर जन्मजन्मान्तरके सञ्चित भावसंस्कार अङ्कित हैं, वे हमारे अनुभवमें नहीं आते, परन्तु जब हम मनुत्व प्राप्तकर मन्वन्तरके अधिपति होंगे तब अपने तथा दूसरोंके संस्कार, पाप, पुण्य, जन्म, जाति, आयु, भोग इत्यादि सब प्रत्यक्ष अनुभव कर सकेंगे । मनुत्वका ही आंशिक फल प्राप्त कर लेनेवाले साधु अपने दर्शनार्थियोंके विचार बिना कहे ही जान लेते और बतला देते हैं ।

मनुत्वका कुछ अंश प्राप्त कर लेनेपर साधक सद्गुरु-से दीक्षित होनेपर अपनी इच्छाशक्तिद्वारा मनकी गति उलट देते हैं । मनके दो मुख हैं, एक नीचेकी ओर दूसरा ऊपरकी ओर । नीचेका मुख प्रवृत्तिकी ओर स्वभावतः प्रवाहित रहता है और ऊपरका बन्द रहता है । कुछ दिन सद्गुरुका सत्सङ्ग प्राप्त होने और उनकी कृपा होनेपर ऊर्ध्वमुख निवृत्तिमार्ग प्रवाहित होने लगता है, अधोमुख सूक्ष्म हो जाता है । जिसको मनुत्वपर कुछ अधिकार प्राप्त हो चुका है वही सद्गुरु और सत्सङ्ग करानेका अधिकारी है ।

बोधमय क्षेत्रमें पहुँच हो जानेपर ब्रह्मग्रन्थि शिथिल हो जाती है। साधक जीव जब अन्तःशरीरमे प्रवेश करता है तब देखता है कि अन्नमयसे आनन्दमय कोषतक पाँचों कोष धर्मसंस्कारोंसे परिच्छिन्न हैं। शास्त्रीय विधि-निषेध आत्मज्ञानप्राप्तिमे प्रथम सहायक अवश्य होते हैं, परन्तु फिर वे बन्धनरूप हो पड़ते है। इतना जान लेनेपर भी उनकी उपेक्षा करनेका साहस नहीं होता। जबतक जीव आत्म-स्नेहमें मुग्ध नहीं होता तबतक वैध कर्मोंके संस्कार उसे बहुत ही सताते हैं, इस कारण वे नित्यानन्दके विघातक प्रबल शत्रु हैं।

स्थूल वृत्तियाँ मनुष्यकी साधारण शत्रु हैं और सूक्ष्म वृत्तियाँ प्रबल शत्रु हैं। काम-क्रोधादि वृत्तियाँ आत्मराज्य-प्राप्तिमें उतनी विघ्नकारक नहीं हैं जितनी सूक्ष्म वृत्तियाँ (संस्कार) बाधक हैं। इनके हाथसे छूटना अत्यन्त दुरूह है। यहींपर जीवको विषादयोग होता है, इसके बाद फिर साधकको विषादयुक्त नहीं होना पड़ता।

गीताके कुरुक्षेत्रमे आत्मीय ज्ञानसे विमूढ युद्धविमुख अर्जुनके विषादयोगकी यहीं समाप्ति थी। गीताका युद्ध साधकप्रवर अर्जुनके अन्नमय क्षेत्रमें और विषाद मनोमय क्षेत्रमे था, एवं चण्डीमे वर्णित मन्त्रिविद्रोह और राजा सुरथके प्राणोंमें जो विषाद उपस्थित हुआ था वह विज्ञान-मय क्षेत्रमें होनेके कारण उससे सूक्ष्म (उच्चस्तरका) था।

सांसारिक साधारण दुःख और साधनजगत्के दुःखों-का अन्तर साधक ही जान सकते हैं, जैसे विरहाग्निका सन्ताप विरहिणी अनुभव कर सकती है, विरहकी अग्निसे जब स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीर भस्मीभूत हो चुके तब कहीं उस प्रेमविभोर जीवका परमप्रिय तत्त्वसे तादात्म्य हुआ। विन्दुमें सिन्धु समा गया। यह आनन्द वियोगी जाने या योगी ? अत्यन्त विरहासक्ति ही प्रेमकी सबसे ऊँची अवस्था है। विरह एक प्रकारका पुट है। इसके बिना प्रेमका रंग चढ़ता ही नहीं। साधिका देवी सहजोबाईने कहा है—

प्रेमदिवाने जे भये, कहें अटपटे बैन।
कबहुँक मुख हाँसी छुटै, कबहुँक टपकत नैन॥

जीव जब भगवत्प्रेम करने लगता है तब अनुभवमें आता है कि 'अरे! संस्कारोंने तो मेरा आनन्दमय कोष, नित्यशुद्धबुद्धत्व और स्वामित्व सब हर लिया। ये संस्कार ही मेरे मन्त्री थे। ये बड़े दुष्ट हैं। क्या देहराज्यमें, क्या मनोराज्यमें, क्या आनन्दके केन्द्रमें कहीं तिलभर भी मेरी प्रभुता नहीं रही है ? क्योंकि देह मेरी इच्छा विना रुग्ण हो जाती है, वृद्ध होती है, मन मेरी इच्छा विना विषयोंकी ओर दौड़ता रहता है, ज्ञान मेरी ज्ञेय वस्तुओंको प्रकाशित नहीं करता, रहा आनन्द सो उसका तो तलाश करनेपर भी कहीं पता नहीं लगता। यद्यपि ये सब मेरे ही हैं तथापि विपक्षी हैं। अरे, मेरी इच्छासे तो एक बूँद रक्त भी चलायमान नहीं होता, ये सब मेरी आत्मराज्यप्राप्तिके प्रतिकूल खड़े हैं।' इससे उसे अत्यन्त विषाद होता है, यह विषाद बाहरसे नहीं दीख सकता। फिर विशेषता यह कि इस विषादकी अवस्थाको प्राप्त हुआ जीव महाभाग्यवान् कहा जाता है, परन्तु साधारण असाधक जन उस पीड़ाको क्या समझेंगे!

कबहूँ बाँझ न जानही तन प्रसूतकी पीर।

अथवा—

कबहूँ भेक न जानई, अमल कमलकी बास।

चण्डीमें सुरथका सर्वस्व दुष्ट मन्त्रियोंने हरण कर लिया, वह महाभाग भी है और दुःखी भी है, ये दो विपरीत भाव एक साथ क्यों और कैसे ? कारण, ऐसा हुए विना उसे मेधस् ऋषिका सत्सङ्ग न मिलता, और न वह मनुत्वको प्राप्त होता। इससे वह महाभाग है, और जीवभाव और जीवत्वकी ग्रन्थियाँ उस समय उसे अत्यन्त दुःखमय जान पड़ती हैं, यह दुःख है।

अस्तु, जबतक आत्म (मातृ) दर्शन नहीं होता, तबतक यथार्थ ग्रन्थिभेद नहीं होता। विषादयोगके बाहरी लक्षण गीतामें कहे गये हैं—

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम्।
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति॥
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते।
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात् त्वक् चैव परिदह्यते॥

ये विषादके चिह्न साधकप्रवर अर्जुनके स्थूल देह अन्नमय कोषमे प्रकट हुए थे, परन्तु सुरथका विषाद सूक्ष्म और कारणदेहमें अवतरित होनेके कारण उसका बाहर विशेष लक्षण कुछ प्रकट नहीं हुआ। प्रजाविद्रोह या भावविरोधिता विज्ञानमय कोषमें, और मन्त्रियोंका विरोध या धार्मिक संस्कारोंकी परिच्छिन्नता आनन्दमय कोषमें अनुभव होते हैं। ज्ञानका अधिकार जिसका जितना उच्च है उसका विषाद भी उतना ही सूक्ष्म और

उच्छ्वासका होता है। बालक मिट्टीका खिलौना टूट जानेसे रोता है परन्तु समझदार विद्वान् पुरुष युवा पुत्रकी मृत्युपर भी अधीर नहीं दीख पड़ता, तो क्या उसे दुःख होता ही नहीं, अवश्य होता है, परन्तु अन्तःकरणके उच्छ्वासमें होता है।

साधक जब अपना चित्त बाह्य विषयोंसे रोकता और व्याकुल होता है तब स्नेहमयी माँ उसे एक सरल मार्गपर ले जाती है। कारण, पहले तो साधक संयम, योग, ध्यान, सिद्धि, शक्ति आदिको चाहता था, परन्तु जब अनेक बार विफलमनोरथ हुआ, तब यथार्थ आत्मा (माँ) की खोज उसके प्राणमें उदित हुई, तब वह 'एकाकी हयमारुह्य जगाम गहनं वनम्' इन्द्रियरूपी अश्वपर सवार होकर विषयारण्यमें ही आत्मानुसन्धान करने लगा, तब उसने क्या देखा—

स तत्राश्रममद्राक्षीद् द्विजवर्यस्य मेधसः।

यही बुद्धियोगकी प्राप्ति है—

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

अहा! गीतामें मोक्षफलदायक कल्पवृक्षके जो बीज बोये गये थे उन्होंने चण्डीमें पत्र, पुष्प और सरस फलरूपमें परिणत होकर साधकोंको कृतार्थ कर दिया और करते हैं।

जीव जब अन्तर्राज्यमें रत्ती-रत्ती ढूँढनेपर भी आत्माका पता नहीं पाता, तब विवश हो फिर इन्द्रियग्राह्य विषयोंके समीप आता है। पहले तो वह इन विषयोंको नाशवान् और मिथ्या कहकर विषवत् त्यागकर अन्तर्राज्यमें प्रविष्ट हुआ था, अब लौटकर फिर उसी विषयारण्यमें प्रवेश करता है, परन्तु इसमें भेद यह होता है कि पूर्व केवल विषय समझकर विषय भोगता था और अब आत्मानुसन्धानके निमित्तसे भोगता है। पहले-पहल प्रत्येक विषयमें 'सत्य' कल्पना करते-करते ही आत्मानुसन्धान जागरित होने लगता है। कारण कि प्रथम साधक विचारता है कि विषय तो यथार्थ आत्मा नहीं है, विषय क्षुद्र हैं, आत्मा अनन्त है, विषय भावोंकी घनीभूत अवस्था है, आत्मा भावातीत है, विषय अज्ञान-मात्र है, आत्मा ज्ञानमय है। इस कारण विषयोंमें विचर-कर क्या अत्यन्त तद्विपरीत विरुद्ध आत्माका पता मिलना सम्भव है? परन्तु क्या किया जाय, अन्तर्राज्यमें जब आत्माका पता न मिला तब बहिःराज्यमें तलाश करनेमें हानि ही क्या है? ऐसा करते-करते कुछ दिनोंके बाद यहींसे आत्मप्राप्तिका श्रीगणेश होने लगता है।

चाहे कोई भी पदार्थ आपके सामने आवे, इन्द्रियरूप अश्व अपनी इच्छासे चलकर किसी भी पदार्थके सामने खड़ा कर दे, उसीको आप 'सत्य' 'आत्मा' मानकर ग्रहण कीजिये। चक्षु कोई रूप लाकर सामने उपस्थित करे उसे आप आत्मा 'माँ' का रूप समझिये, कानसे कुछ भी शब्द सुने, उसे 'माँ' के कण्ठका शब्द मानिये, गन्धको आत्माके अङ्गका सौरभ समझिये, रसनासे जो विचित्र रस अनुभव करे उन्हें 'रसो वै सः' कहकर अमृतायमान होइये, कोमल स्पर्शसे रोमाञ्चित हों तो स्नेहमयी माँ—आत्माका करस्पर्श समझिये, इस प्रकार आठों प्रहर जो कुछ भी करें उसे यही समझें कि, 'यत्करोमि जगन्मातस्तदेव तव पूजनम्' यह रोम-रोमसे अनुभव कीजिये, केवल मुखसे कहनेसे यथार्थ फल न होगा। साधक! अबतक आप भाव, विषय और संस्कारोंके विरुद्ध युद्धकर क्षतविक्षत हुए हैं, अब उनके अनुकूल चलिये, परन्तु उनमें आत्म-संवेदनसे बार-बार संवेदित होते रहिये। अनेक जन्म-जन्मान्तरसे 'जगद्भाव' का अभ्यास हो रहा है, आप जगद्भावमें ही मोहित रहे हैं। अब आप जो कुछ करें, जो कुछ देखें, समझें वह सब छद्मवेशधारिणी माँकी ही मूर्ति है, यह आपकी बुद्धिमें सदा विकसित होता रहे, यही बुद्धियोग है। 'योगः कर्मसु कौशलम्' है। यही मोक्षमार्गपर ले जानेवाला योगपथ है। समस्त दर्शन, वेद, शास्त्र यही एक बात कहते हैं। 'ईशा वास्यमिदꣳ सर्वम्' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'। भगवान् सर्वव्यापी हैं, इस बातको तो प्रायः सभी मनुष्य कहते हैं; परन्तु इसे व्यवहारमें लानेवाले, तत्त्वतः जाननेवाले कोई-कोई ही हैं, 'कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः'। इस साधनके लिये कोई नयी बात सीखनी-सिखानी नहीं, जानना-सुनना भी कुछ शेष नहीं, जो कुछ सीखा-सुना-पढ़ा है, उसे कार्यरूपमें परिणत करनामात्र है। 'इल्म बिना अमलके किस कामका'। यह बुद्धियोग ही चित्तकी चञ्चलता दूर करनेका अमोघ अस्त्र है। आपका मन कहेगा, सामने यह वृक्ष है, तब आपकी बुद्धि जोर देकर कहे कि नहीं, यह वृक्षरूपमें माँ है। पहले-पहल ये बातें व्याजरूप ही जान पड़ती हैं। हमारा अविश्वासी मन इन बातोंको स्वीकार नहीं करना चाहता कि इस दीखनेवाले जगत्के रूपमें भगवान् ही सर्वत्र विराजमान हैं। परन्तु मनकी चतुराईसे, इन्द्रियोंकी

धूर्ततासे, आप धोखा न खाइये। बुद्धिबलसे सर्वत्र 'सत्य-प्रतिष्ठा' कीजिये, तब आप इसके मधुमय परिणामको देख सकेंगे। गीतामें कहा है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥
सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥

(६। २९-३१)

आपको भगवान्‌की जो मूर्ति प्रिय हो, सबको उसी रूपमें देखिये और उसके साथ ठीक ऐसा ही वर्ताव कीजिये मानो सचमुच (इष्ट) देव ही मिल गये। ऐसा करते-करते आप यथार्थ भक्तिपर पहुँच जायँगे।

'भक्ति बिना थोथे सभी जोग जग्य आचार'

देखिये भगवान् वस्तुतः दुर्लभ नहीं, अति सुलभ हैं, अणोरणीयान् महतो महीयान् हैं। परन्तु उसके चाहनेवाले दुर्लभ हैं—

चलन चलन सब कोइ कहे पहुँचे विरला कोय।

अरे! पलक बन्दकर खोलनेमें तो देर भी लगती है, कुछ चेष्टा भी करनी पडती है। पर भगवान्‌को पानेमें न चेष्टा करनी पडे, न देर लगे, वह तो 'सबहिं सुलभ सब देस' है, वह कहाँ नहीं है, पर हमें उसकी चाह ही नहीं है।

आँखोंमें तू है जिसके दिलमें खयाल तेरा।
मुश्किल नहीं है उसको होना विसाल तेरा॥
दिलका मेरे शिवाला सब मन्दिरोंसे आला।
देखा करूँ मैं इसमें हरदम जमाल तेरा॥
दोनों जहाँन देकर वापिस किये सुदामा।
क्योंकर कहूँ न होगा पूरा सवाल तेरा॥
प्रह्लादकी तरह जो सच्ची है प्रीति तेरी।
किसकी है मौत आई छूवे जो बाल तेरा॥
करुणासे मुझको अपनी शादान रख जहाँमें।
फूले फले हुआ है तुझको निहाल तेरा॥
लीला तेरी न जानी नारदसे देवताने।
'आनन्द' चीज क्या है जाने जो हाल तेरा॥

यदि सबसे निकट कोई वस्तु है तो आत्मा—भगवान् है। परन्तु उसमें विश्वास दुर्लभ है, जो कुछ आयोजन-प्रयोजन-साधन और कठिनाई है वह इस विश्वासके दृढ करनेमें ही है। दृढ विश्वास होते ही साधक वि-श्वास, विगत श्वास 'सहज कुम्भक' हो जाता है, यही योगका सार है। श्वास भी अपने नहीं रहते, खुदी दूर हो जाती है।

मथित्वा चतुरो वेदान् सर्वशास्त्राणि चैव हि।
सारस्तु योगिभिः पीतस्तक्रमश्नन्ति पण्डिताः॥
आलोच्य चतुरो वेदान् सर्वशास्त्राणि सर्वदा।
योऽहं ब्रह्म न जानाति दर्वी पाकरसं यथा॥
यथा खरश्चन्दनभारवाही
भारस्य वेत्ता न तु चन्दनस्य।
तथैव शास्त्राणि बहून्यधीत्य
सारं न जानन् खरवद् वहेत्सः॥

(उत्तरगीता)

अस्तु, बुद्धियोगका कौशल (रहस्य) न जाननेके कारण ही लोग श्वास रोककर स्वयं चित्त स्थिर करनेकी चेष्टा करते हैं, परन्तु उसे (आत्माको) पाते नहीं। कारण, वे आत्माको चाहते नहीं हैं, वे तपस्वी होनेको तपस्या करते हैं, साधु बननेके लिये साधना करते हैं और जैसा चाहते हैं वैसे ही बन जाते हैं, क्योंकि भगवान् वाञ्छाकल्पतरु हैं।

छान्दोग्यमें कहा है, 'मनो ब्रह्म इत्युपासीत्'—मनकी ब्रह्मरूपसे उपासना करना ही सत्यप्रतिष्ठा है, क्योंकि जगत् मनका भाव है, जगत्‌की उपासना ही मनकी उपासना है। बुद्धि (महत्तत्त्व) में चैतन्यका सबसे प्रथम प्रकाश होता है, समानधर्मवाले पदार्थ जैसे दूध और जल आपसमें सुगमतासे मिल जाते हैं। मनसे परे बुद्धि और बुद्धिसे परे आत्मा है। इस कारण अपने निकटतम सूक्ष्म अंश बुद्धिद्वारा ही वह शीघ्र मिल सकता है। इन्द्रियाँ मनसे रुकती हैं, मन बुद्धिसे रुकता है, इस कारण पहले बुद्धि स्थिर होनी चाहिये। बुद्धियोगका गुण बडा विचित्र है। इसका जरा-सा भी अनुष्ठान महान् भयसे त्राण कर देता है। भगवान् कहते हैं—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥

(गीता २। ४०)

इस बुद्धियोगकी सहायतासे साधकके हृदयमें एक अपूर्व स्निग्ध चिदाकाश प्रकाशित होता है। उसके दर्शनमात्रसे प्राण अमृतरसमें निमग्न हो जाते हैं। अविश्वासी

चञ्चल मन स्थिर होकर उस निर्मल सत्य ज्योतिमे मुग्ध हो जाता है, हृदयका सारा सन्ताप मिट जाता है। प्रथम यह चिदाकाश कुछ मलिन, अस्थिर और अल्पक्षण स्थायी होता है, फिर सत्य-प्रतिष्ठामें अभ्यास बढ़नेपर क्रमशः निर्मल, श्वेत, देरतक ठहरता और इच्छामात्रसे दिखायी देने लगता है। इसीका नाम अरण्यमे राजा सुरथको मेधस् मुनिका प्रशान्त श्वापदाकीर्ण मुनि-शिष्योपशोभित आश्रम-दर्शन होना है।

मेधस्=मेधा, स्मृति शक्ति पाना। इससे मोह नष्ट होता है।

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।

यही बुद्धिका विकास गीताकी समाप्ति और चण्डीका आरम्भ है, बुद्धिमय क्षेत्र ही मेधस्का आश्रम है, यही ब्रह्मज्ञानप्रवेशका तोरणद्वार है। यहाँपर पहुँचना ही साधनमे एण्ट्रेन्स पास होना है। सुषुम्णाप्रवाह प्रकाशित होनेपर इस स्थानपर सहजमे पहुँच सकते हैं, तन्त्रमें इसको कुल-कुण्डलिनी-जागरण कहा जाता है। इसका साक्षात्कार होनेपर जीवकी ब्रह्मग्रन्थि शिथिल हो जाती है।

प्राचीन समयमे ऐसे ऋषि-मुनियोंसे भारत अधिक गौरवान्वित था, वे गृही हैं या सन्यासी, आश्रमी है या दण्डी, कुछ कहनेमें नहीं आता था। उनके स्त्री, पुत्र, धान्य, पशु सब कुछ था तो भी वे निर्मम थे, कुछ भी न था, वे सदा विश्वका कल्याण करनेमें लीन रहते थे। वर्तमानमें भी ऐसे सन्तोंका अभाव नहीं है। परन्तु उनका सत्सङ्ग सर्व-साधारणको प्राप्त होना-न होना भगवत्कृपापर निर्भर है, ससारमे किसी वस्तुका रूपान्तर भले ही हो जाय पर अभाव नहीं होता। अस्तु,

बुद्धिमय क्षेत्रमे पहुँचनेपर साधकके विरुद्ध भाव स्थिर हो जाते हैं, उनमे चञ्चलता नहीं रहती, काम, क्रोधादि हिंसक जन्तु सताना भूल जाते हैं। साधन-जगत्में जबतक अनुमान और अप्रत्यक्ष रहे, तबतक समझना चाहिये कि अभी यथार्थ साधन-पथपर एक कदम भी आगे नहीं चले हैं। साधनमें जब पग-पगपर कुछ-न-कुछ प्रत्यक्ष होता रहेगा, तभी साधना सरस और मधुर होगी। मन्त्रचैतन्य इसमे परम सहायक होता है। जीवमात्र साधक हैं, कर्ममात्र साधन हैं, प्रकृति गुरु है, गुरुप इष्टदेव—लक्ष्य है। साधना सजीव होनेसे सिद्धि अवश्य होगी, साधनमे जातिभेद या साम्प्रदायिक भेद नहीं है, अधिकारी (पात्र) होना आवश्यक है।

उस बुद्धिमय ज्योतिमे साधक आरम्भमें अधिक देरतक नहीं ठहर सकते, शीघ्र ही देहबुद्धिमें उतर आते हैं। कारण कि नीचेकी ओर मन (भर बोझा) बँध रहा है, यह मन भगवान्के चरणोंमे अर्पण कर देनेपर ही जीवत्वका अन्त होता है। और वह प्रकाश ठहरने लगता है तथा समाधिसे भेंट होती है। जो भक्तिधनसे धनवान्, गुरुकृपासे ज्ञानवान्, सत्यप्रतिष्ठाकी शक्तिसे वीर्यवान् और चिन्मय ज्योतिसे प्रकाशमान हैं उन्हींके कुलमें समाधिका आविर्भाव (जन्म) होता है।

आत्मा—ब्रह्मके दर्शनका उपाय है उसके दर्शनकी इच्छाका होना। ब्रह्म, सर्वत्र प्रकाशित रहनेपर भी जीवकी दर्शन करनेकी इच्छा हुए बिना, दृष्टिगोचर नहीं होता, जैसे अपनी आँखोंसे सबको देख सकते हैं पर अपनी आँख नहीं दीखती। जीवकी ब्रह्मदर्शनकी इच्छा होनेपर प्रथम वह सद्गुरुरूपसे दर्शन देता है। सद्गुरु प्राप्त होनेपर साधक अपना देह, मन, प्राण सर्वस्व श्रीगुरुचरणोंमें अर्पण करनेको उद्यत होता है, क्रमसे गुरु ही उसका 'मैं' हो जाता है। जीवभावीय कर्तृत्वबोध उसका शिथिल हो जाता है। सत्-असत् चाहे कोई भी कर्म क्यो न हो, उसमे यह धारणा नहीं रहती कि 'मैं करता हूँ।' वह अपनेको द्रष्टामात्र समझने लगता है। यह समझता है कि—

केनापि देवेन हृदि स्थितेन
यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि।

शरीर यन्त्र है, आत्मा यन्त्री है। इसी ज्ञानसे उसके लौकिक कार्य होते रहते हैं। उनमे अनुराग या विद्वेष नहीं रहता। इसी कारण वे भविष्यत् कर्मके बीजरूप (बन्धन) में परिणत नहीं होते। इधर सांसारिक कर्मोंमें जितनी आसक्ति कम होती रहती है उधर उतनी हृदयस्थ गुरुपर साधककी आसक्ति बढती जाती है, और उसमें वह मुग्ध होता रहता है। फिर क्रमसे उसमें आत्म-समर्पण कर साधक निश्चिन्त हो जाता है और समझ सकता है कि 'गुरु, आत्मा, माँ' एकहीके नाम हैं। वही अन्तरमे रहकर सब अनुष्ठान पूर्ण करा लेते हैं। साधकको अपनी अहंबुद्धिसे कोई विशेष पुरुषार्थ नहीं करना पड़ता, बल्कि किसी अलङ्घ्य नियमके द्वारा समस्त कार्य क्रमशः अपने-आप सिद्ध हो जाते हैं। यह ग्रन्थि-

भेद करनेके लिये जब जैसा अध्यवसाय करना आवश्यक होता है, 'माँ' उसी भावसे आत्मप्रकाश करती है। यही साधन-जगत्‌का यथार्थ क्रम या सोपान है।

ब्रह्मग्रन्थिभेद सत्यप्रतिष्ठा है, विष्णुग्रन्थिभेद प्राणप्रतिष्ठा है और रुद्रग्रन्थिभेद आनन्दप्रतिष्ठा है। जब सत्य और प्राणप्रतिष्ठा हो जाती है तब आनन्दप्रतिष्ठा अपने आप हो जाती है, केवल आत्मा—माँके होनेका विश्वास घनीभूत होनेसे ही जीवभावीय कर्तृत्व शिथिल हो जाता है और आगामी कर्मोंका फल ध्वस हो जाता है, इसीको ब्रह्मग्रन्थि-भेद या मधुकैटभ-वध कहते हैं। यह प्रतिष्ठित होनेसे जीवत्वकी एक जड़ कट गयी, या समुद्रकी एक लहर ऊपर होकर निकल गयी। योगदर्शनमे है—

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्। (२। ३६)

सत्य वह है जो इन्द्रिय और मानस ग्राह्यरूपसे प्रकाशित हो रहा है। इस सत्यमें सशय-विपर्ययरहित स्थिति हो तब क्रियाफलाश्रयत्व होता है। क्रिया शब्दका अर्थ है शास्त्र-विहित दैव-पैत्र्य कर्म और काय-मनोव्यापाररूप व्यावहारिक कर्म। इन्हीं कर्मोंका यथायोग्य फलाश्रयत्व होता है, सब क्रियाओंका फल केवल सत्यप्रतिष्ठ व्यक्तिका ही आश्रय करता है, जो सत्यप्रतिष्ठ नहीं है वह व्यावहारिक कर्मका भी पूर्णफल प्राप्त नहीं कर सकता, न उसको आत्मज्ञान हो सकता है। शास्त्रीय कर्मोंपर वर्तमानकालमें जन-साधारणकी अश्रद्धा होनेका कारण सत्यप्रतिष्ठाका न होना ही है। आजकल प्रायः मनुष्य सत्यसे विमुख हो गये हैं, जगत्‌को जड समझ लिया है, कर्मको जडरूपसे देखते हैं, चैतन्यरूप द्रष्टाकी धारणा भी नहीं कर सकते। इसी कारण शास्त्रोक्त कर्म प्राणहीन अनुष्ठानमात्रमें समाप्त हो जाते हैं। ज्ञानरूप अमृतफल पानेके लिये ही कर्मक्षेत्र (देह) मे निवास और अनेक प्रकारके कर्म किये जाते हैं। किन्तु हाय! केवल सत्यप्रतिष्ठाके विना सब कर्म निष्फल हो जाते हैं। प्रियतम साधक! यदि आप यथार्थ सुखी होना चाहते हैं तो सत्यप्रतिष्ठाका अवश्य अनुशीलन करें।

२-विष्णुग्रन्थिभेद, महिषासुर-वध या प्राणप्रतिष्ठा

जानन्तु विश्वे अमृतस्य सत्ता

ब्रह्मग्रन्थिभेद होनेसे मधुकैटभ-वध या आगामि कर्मोंका बीज नष्ट हो गया। साधक अब नित्य नयी-नयी आशा-आकाक्षा लेकर कर्ममें प्रवृत्त न हों। कर्मक्षेत्र (शरीर) में रहनेसे बाध्य होकर कर्म तो किये ही जायँगे, क्योंकि—

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।

परन्तु अब अनासक्त होकर कर्म करने पड़ेगे। उनकी सफलता और निष्फलतामें हर्ष-शोक न हो। विज्ञान-मय गुरु मेधस्‌की कृपासे ज्ञाननेत्र जैसे-जैसे खुलते जाते हैं वैसा ही क्रमसे अज्ञानान्धकार दूर होता जाता है।

साधक! पहले 'स्त्री-पुत्रादि' गृहस्थके बन्धनको ही परमात्मप्राप्तिमें बन्धन समझते थे और उनका साथ छोड़ना चाहते थे। परन्तु अब गुरुने अनुभव करा दिया कि ये बन्धन नहीं हैं, बल्कि तुम्हारे सूक्ष्म शरीरमें अन्तः-करणके सस्कार ही यथार्थ बन्धन हैं, जो अनेक जन्मसे साथ चले आ रहे हैं। ससार तुम्हारे भीतर ही है, तुम किसी भी एकान्त स्थान वा पर्वतकन्दरामें क्यों न चले जाओ, पर ये संस्कार साथ ही रहेंगे; जब साधक भलीभाँति यह अनुभव कर ससारका मूलोत्पाटन करना चाहता है तब सत्यप्रतिष्ठा-के फल और सद्‌गुरुकृपासे सोती हुई प्राणशक्ति जाग्रत् होकर आगामि कर्मोंके बीजरूप मधुकैटभका प्रथम निधन करती है। विष्णुकर्णमलोद्भूतौ मधुकैटभौ।

साधनक्षेत्रमें प्राणका नाम है 'विष्णु'। विष्णुका और एक विशेषण है प्रभु, अर्थात् स्वाधीन, जो स्वतन्त्ररूपसे इच्छाशक्ति चला सके। जब जगत् नहीं रहता तब जगद्-व्यापी प्राण 'शेषमास्तीर्य' अर्थात् भविष्य जगत्‌के बीजों-को शय्यारूप कल्पितकर 'अधःकृत' अपनेमे लीनकर योगनिद्रा लेते हैं। 'योग' का अर्थ है परमात्ममिलनभाव। उस समय जगद्भाव सुप्त रहनेके कारण व्यवहारमे वह निद्रातुल्य है, योग सिद्ध होनेपर जगद्भावमे सुप्तभाव होगा ही, इस दशामें विष्णुकी फिर स्वतन्त्रता नहीं रहती, योग-निद्रास्वरूपिणी मातृसत्ता विद्यमान रहती है।

विष्णुकर्णका अर्थ है व्यापक चिदाकाश (विष्णु—व्यापक, आकाश शब्दगुणात्मक है, शब्द कानसे ही सुनायी देता है।), मलका अर्थ है आवरक—आवरण करनेवाला, जो निर्मल शुभ्र चिदाकाशको आवरण करे वह मधुकैटभ है। मधुका अर्थ है आनन्द, कैटभका अर्थ है बहुत्व।

कीटवद् भाति इति कीटभः, तस्य भाव इति कैटभ.।

छोटे-छोटे कीड़ोंके समूहकी तरह सञ्चित कर्मबीज एक साथ अनेक भावोंको दरसाते हैं, अतएव अनेकताका

बीज ही कैटभ है। जब मधुकैटभ मारे गये तब मानो संसारमहामहीरुहकी एक जड कट गयी, परन्तु अभी दो जडें बडी दृढतासे जमी हुई हैं, वे सहजमें नहीं उखडतीं। सञ्चित कर्म जो तुमने बहुत्व चाहा था वह तो जमा है, चित्तक्षेत्रमें उनका कोष भरा हुआ है, उनका नाश हुए बिना—महिषासुर-वध हुए बिना—भूमासुखकी प्राप्तिकी आशा नहीं। परन्तु भय नहीं, मैं तुम्हारी 'माँ' हूँ, मैंने गुरुरूपसे प्रकाश किया है, मैं स्वयं खड्गपाणि होकर समराङ्गणमें अवतीर्ण हो तुम्हारे सब सञ्चित संस्कार विलय कर दूँगी, तुम केवल मेरी गोदमें बैठे तमाशा—लीला देखते रहो। जब तुमने भयके कारण आर्त होकर मुझे 'माँ' कहकर पुकारा है, जब तुम मेरे महाप्राणमें प्राण मिलाकर व्याकुल भावसे देख रहे हो, तब निर्भय रहो, मैं तुम्हारे सब बन्धन काटकर अपने अङ्गमें मिला लूँगी। तुम्हें कुछ भी नहीं करना होगा, तुम सुख-दुःखमें निर्विकार आनन्दमय नग्न सरल शिशुकी भाँति मेरी स्नेहमय गोदमें द्रष्टारूपसे अवस्थान करो।

जीव अनेक जन्ममें अनेक प्रकारके वैध कर्मोंके अनुष्ठान, योग, तपस्या या भक्ति-ज्ञानके अनुशीलनसे परमात्म-विषयक संस्कार सञ्चित करता है, वे ही देवता हैं। अर्थात् मन-बुद्धि-इन्द्रियोंकी जो परमात्ममुखी गति या मिलन-प्रयास है उसीका नाम देवशक्ति है और विषयाभिमुखी लालसा ही असुर है अथवा गीतोक्त दैवासुर-सम्पत्तिको देवासुर समझिये। यह देवासुर-संग्राम जीव-देहमें सदा ही चला करता है। यह सूक्ष्म और कारणमें और स्थूल संग्राम कथा-वार्तामें सुना ही होगा। तीनों ही सत्य हैं।

अस्तु, रजोगुण महिषासुर है, 'क्रोधश्च महिष इत्यात्' यहाँपर क्रोधरूप महिषका, देवीके प्रति, बलि देना कहा है, परन्तु—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।

क्रोध रजोगुणसे ही उत्पन्न है। कामना और वासनाएँ रजोगुणके ही स्थूल विकासमात्र हैं। महिषासुर इनका अधिपति है। रजोगुणके अन्तर्मुखी विकाससमूह देवता हैं। इनके अधिपति (जो नव द्वारवाले देहरूप पुरको ध्वंसकर अर्थात् इन्द्रियबोध विलयकर देहत्रयातीत, अवस्थात्रयातीत, गुणत्रयातीत, परमात्मसत्ता, मातृअङ्कमें मिलनेका प्रयास है वही) पुरन्दर हैं। अभय, सत्त्वसंशुद्धि, दान, दम, तितिक्षा आदि देवभाव इनके आज्ञानुवर्ती हैं।

एक तरफ भोगकी लालसा-वासना, दूसरी ओर मोक्षका आकर्षण। यह संग्राम परमाणुमात्रमें हर समय चला करता है। परन्तु जीव जब मनुष्य-शरीरमें पहुँचता है तब आत्मबोध होनेपर विज्ञानमय कोषमें साधकोंके अनुभवमें आता है, तभी उसका मनुष्य-जीवन सफल होता है। साधक! देखते हो, तुम्हारे सञ्चित संस्कार आसुरी शक्ति-बलसे तुम्हें पराजित करते हैं (अपवर्गमें पहुँचनेकी तुम्हारी राहको रोकते हैं)। जब ऐसा विचार करनेमें कई जन्ममें सौ वर्ष पूरे हो जायँगे तब यह संग्राम अपने आप समाप्त हो जायगा—'पूर्णमब्दशतं पुरा।' हमारा वर्तमान जीवन यथार्थ जीवन कहने योग्य नहीं है। कारण कि जीवन वह है जो गति-शक्तिवाला हो, जिसमें हम उन्नति करें, देवासुर-संग्राम अनुभव करते हुए जिसकी समाप्ति हो। जिसने मनुष्य-जीवन-व्यापी देवासुर-संग्राम, रासलीला या रामलीलाका अन्तरमें अनुभव नहीं किया, उसका जीवन व्यर्थ गया!

'वृथा गतं तस्य नरस्य जीवितम्!'
'यत्रैव जायते तत्रैव म्रियते!'

इस साधन-समरमें पहले देवताओंकी हार हुई, देवशक्ति और असुरशक्ति दोनों ही मनके भाव हैं। नाभि या मणिपूरचक्रसे नीचे असुरोंका क्षेत्र है और इससे ऊपर देवक्षेत्र है। नाभि-कमलसे ब्रह्माकी उत्पत्ति है, मनका जो अंश परमात्माभिमुखी हुआ है वह पद्मयोनि है, उसे आगेकर देवता (इन्द्रियाधिष्ठित चैतन्य) विष्णु और शिवके शरणापन्न हुए। विष्णु प्राणशक्ति हैं, इनका स्थान हृदयपद्म है। शिव ज्ञानशक्ति हैं, इनका स्थान ललाट या आज्ञाचक्र है) [सद्गुरु हृदय-कमलसे साधन आरम्भ कराते हैं अर्थात् पहले विष्णुकी आराधना कराकर धीरे-धीरे ललाट कमलतक पहुँचाते हैं, जीवका निवास साधनसे पूर्व मूलाधार या पृथ्वी-चक्रमें होता है, इसके ऊपर स्वाधिष्ठान (जलचक्र), फिर मणिपूर (अग्निचक्र), इन तीनके ऊपर हृदय-कमलतक बड़ी ऊँची सीढ़ियाँ हैं, समर्थ गुरु शिशु-साधकको गोदीमें ले अपने हाथसे चौथी सीढ़ीपर बिठा देते हैं। इससे ऊपरकी सीढ़ियाँ कम ऊँची और चौड़ी हैं। इस कारण उनपरसे फिसलनेका डर नहीं होता, तो भी सद्गुरु अपने चतुर्भुजरूपसे साथ या देखते रहते हैं। सन्तोंकी दिव्य दृष्टि पहाड़में भी नहीं रुक सकती। वह

एक्स-रेजसे अनेक गुण तीव्र होती है। रेज रक्तमांसके पारतक ही दिखा सकता है, हड्डीके अन्दर उसकी गति नहीं]

मन (ब्रह्मा) ने यह समझ लिया कि प्राण और ज्ञानकी सत्ता बिना मेरी सत्ता है ही नहीं, यही शरणागति है। जीव जबतक अहंताको जोरसे पकड़े रहता है तबतक उसका अभिमानसे उठा हुआ सिर किसी प्रकार झुकना नहीं चाहता और न तबतक शरणागतभाव आता है। शरणागत हुए या आत्मनिवेदन किये बिना साधनका आरम्भ और आगे बढ़ना हो नहीं सकता।

इन्द्रियोंकी सहायतासे जो ज्ञान होता है उसकी पहुँच बुद्धितक है। इससे आगे वैषयिक प्रकाश नहीं। इसी कारण बौद्ध-ज्ञानको लयका देवता कहा जाता है।

मन (ब्रह्मा) ने, आजतक जो-जो वृत्तियाँ उदय होती रहीं उन सबको, बुद्धिके प्रकाशसे प्रकाशित कर प्राण-को भेंट किया; परन्तु आज मन ही उसे असुरोंका अत्याचार बतला रहा है। इधर मधुकैटभवध (ब्रह्म-ग्रन्थि-भेद) के समयसे प्राण (विष्णु) की भी निद्रा भङ्ग हो गयी है, ज्ञान-शक्ति भी विज्ञानमय गुरुरूपसे प्रकाश कर रही है। जीव! अब तुम भी इधर-उधर भटकना छोड़कर अपने अन्तःस्थित ज्ञानमय गुरु-चरणकी शरण लो। वे साक्षात् हरि हैं।

> तृणादपि सुनीचेन तरोरिव सहिष्णुना।
> अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः॥

ऐसे बनकर, रोते हुए कहो, प्राणमय गुरो! इन असुरों-की पीड़ासे बचाइये, ये मुझे आपके समीपतक नहीं पहुँचने देते। दया कर, इन सञ्चित कर्मोंके विपरीत आकर्षणसे रक्षा कीजिये। आप ही मेरे—

> गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।

—सब कुछ हैं। मेरी जड़ता दूर कीजिये। (जड़ता रहना ही असुरोंका अत्याचार है।)

देखो जीव! चैतन्य ही तुम्हारा स्वरूप है, तुम्हारी इन्द्रियाँ चैतन्यके ही प्रवाहमात्र हैं, जहाँ चैतन्य है वहीं अमृत है, किन्तु तुम असुरोंद्वारा ऐसे हतसर्वस्व हो रहे हो कि अमृतमें रहते हुए भी आनन्दामृतकी एक बूँदको तरसते हो। इस असुरके अत्याचारका अनुभव तो करो! 'यो वै भूमा तत् सुखम्, नाल्पे सुखमस्ति'। सुख ही स्वर्ग है (सु+अज+वट्)। अपने प्राणको ब्रह्म—आत्मा 'माँ' समझकर आदर करो, प्रत्येक पदार्थको प्राणरूप अनुभव करो, तब तुम्हारे सब अभावोंका रोना सदाके लिये बन्द हो जायगा, 'माँ' राजराजेश्वरीमूर्तिसे हृदयमें प्रकाशित होगी। अपने अभीष्ट देवताके दर्शन पाकर तुम धन्य हो सकोगे। तुम्हारी 'विष्णुग्रन्थि' खुल जायगी। इस प्राणको 'माँ' समझ लेनेसे फिर प्राणका पता नहीं पाया जाता। तुमने तो अपने नवद्वार बन्द कर रक्खे हैं, माँको प्राण-भिक्षा देना नहीं चाहते। इसीसे तो 'माँ' ने गोपालमूर्तिसे वृन्दावनमें अवतीर्ण होकर माखन (प्राण) चोरी की थी। वह वृन्दावन क्या है? बुद्धिक्षेत्र ही वृन्दावन है, इसी स्थानमें जीवात्मा-परमात्माका मिलन होता है, इसीमें रासलीला होती है, यही जीवन्मुक्तका आनन्दनिकेतन है। रसरूप आत्मा; इन्द्रियशक्तिरूपिणी गोपियोंसे परिवेष्टित आराधिता जीवप्रकृति राधाके साथ रसिकशिरोमणि 'आत्मारामोऽप्यरीरमत्' श्रीकृष्ण आत्माराम होकर भी रमण करते हैं। शैवोंकी भाषामें यही कैलास है। यहींपर विज्ञानमय महेश्वर, माहेश्वरी पराप्रकृतिके साथ विहार करते हैं। यहींपर 'सर्वमापोमय जगत्' जड़भावका अभाव है, केवल 'चिन्मय' है। यहींपर विषयसम्पर्कजन्य आनन्द और बहुत्वका अन्त होता है। एक सन्तका गान यहाँ याद आ गया—

> हमारे वृंदावन उर और।
> माया काल तहाँ नहिं व्यापै जहाँ रसिक सिरमौर॥
> छूट जायँ सब असत वासना मनकी दौरादौर।
> गोविंद रसिक लखायो श्रीगुरु अनल अलौकिक ठौर॥

साधक! तुम अपने प्राणको जबतक विश्वप्राणरूपसे न समझ सकोगे, तबतक विष्णुग्रन्थिभेद न होगा। तुम्हारे जीवभावीय संस्कार हैं, वे प्राणमें अवस्थित हैं, उन्हें तुमने सङ्कीर्ण कर रक्खा है। इसीने तुम्हारी विष्णु (प्राण) ग्रन्थि खुलती नहीं। परमेश्वरी माँको—आत्माके मुखपर जीवत्वकी स्याही लगा, कङ्गालिनी बनाकर देहरूप जीर्ण कुटीरमें छिपा रक्खा है; उससे अपने अभाव अभियोगोंका प्रतीकार होता हुआ न देखकर व्यङ्ग वचन कहते हो, हम तुच्छ हैं दीन हैं, दरिद्र हैं, परन्तु क्या कभी तुमने उस माँकी सूरतपर भी निगाह डाली है? वह सर्वेश्वरी होकर भी तुम्हारे अभावोंको पूर्ण करते-करते दरिद्रा हो गयी; परन्तु तुम्हारे अभाव दूर न हुए दिन-दिन बढ़ते ही जा रहे हैं, वह जार-जार रोती हुई कष्ट सहती हुई तुम्हारा मुँह ताकती है, कि अपनी दशा विचारकर आत्मरूप प्राणसे

जो व्यथा सहती है उसका विचार करनेसे वज्रहृदय भी टुकड़े-टुकड़े हुआ जाता होगा कि राजराजेश्वरीकी सन्तानकी यह दुर्दशा !

जीवकी उच्छृङ्खल कामनाएँ पूर्ण करते-करते माँ ! आज तुम भिखारिणी हो रही हो, तुमने अपना सर्वस्व दे डाला है, परन्तु हम ऐसे कुपुत्र हैं कि तुम्हारी इस दशाका उलटा तिरस्कार करते हैं, हम कब मनुष्य होंगे ? कब अपनेको माँकी सन्तान समझ सकेंगे ? क्षमा करो माँ, हम अकृतज्ञ, अधम, शिशु पुत्रोंका यह अज्ञानकृत अपराध क्षमा करो—

कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति ॥

अब हम लज्जाके मारे कुछ कहने-विचारनेयोग्य नहीं हैं, इस असुरसे बचाओ ।

सुनो जीव ! तुम्हारी यह कल्पित भाव-दीनता देखकर माँ तुम्हें आशीर्वाद, नहीं नहीं, वर देनेको तैयार हुई है, उसे ग्रहण करो, तुम्हारे सब अभाव दूर होंगे ।

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥
(गीता ६ । २२)

विक्षेप-आवरणादि असुरवृत्तियाँ प्राणप्रतिष्ठा होनेपर प्राणमय हो गयीं, भेदज्ञान दूर हो गया, सञ्चित संस्कार दग्ध बीजवत् हो गये, प्राणमय ग्रन्थि खुल गयी, अब सञ्चित संस्कारोंका फल भोगे बिना ही जीव माँकी गोदमें आरोहण कर सकेंगे, विष्णुग्रन्थिभेदका यही विशेष फल है । अब समझमें आ गया कि 'माँ-गुरु' के प्राण ही हमारे प्राणरूपसे प्रकाशित हैं । विषयमात्र ही मानो प्राणकी मूर्ति हैं, अब यह देख पाया है । अब विषयोंपर जो ममता, अनुराग या विद्वेष था, वह भी दूर हो गया । तुम प्राण या चैतन्यपर प्रतिष्ठित हुए हो । संसारवृक्षकी दूसरी जड भी कट गयी । रजोगुणरूप महिषासुरका वध हुआ, सञ्चित कर्म दग्ध हो गये । परन्तु सबसे मजबूत प्रारब्धभोगरूप मोटी जड अभी शेष रही है, यह रुद्रग्रन्थिभेद होनेपर माँ—समर्थ गुरुकी कृपासे एक ही शरीरसे अनेक जन्मोंका फल भोग कराकर स्वयं काट देगी ।

रुद्रग्रन्थिभेद—शुम्भवध या आनन्दप्रतिष्ठा

पश्यन्तु सर्वे अमृतस्वरूप
गच्छन्तु सर्वे अमृत निधानम् ।

अब हम रुद्रग्रन्थिके समीप होते हैं, यद्यपि 'प्रारब्धकर्मणां भोगादेव क्षयः' श्रुतिमें कहा है, तथापि भगवान् श्रीकृष्णजीका उपदेश लक्ष्य भेदकर और भी आगे बढता है—'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते' । प्रारब्ध जीवरूप वृक्षका अन्तिम बन्धन है । माँकी कृपासे यह कटते ही अज्ञान-अन्धकार बिल्कुल दूर हो जायगा, जीवका जो यथार्थ स्वरूप है वह प्रकाशित होने लगेगा । सुरथ ! तुम आत्मसमर्पणयोगकी सहायतासे मुक्तिसागरमें कूद पड़े हो, दो लहरें तुम्हारे ऊपर होकर निकल गयीं । स्थूल और सूक्ष्म शरीरपर जो अभिमान था वह दूर हो गया । अब इस समरके लिये कुछ अस्त्र आवश्यक हैं उन्हें दृढतापूर्वक काममें लाना होगा—(१) 'जीवो ब्रह्मैव नापरः' इसपर दृढ विश्वास प्रथम अस्त्र है । (२) बुद्धितत्त्वमें अवस्थानकर स्वयप्रकाशित चितिशक्तिकी ओर बार-बार लक्ष्य करनेका अभ्यास, यह दूसरा अस्त्र है । (३) युक्तिकी सहायतासे दृढ करना कि इन दृश्य पदार्थोंमें व्यावहारिक सत्ता है, पारमार्थिक सत्ता नहीं, यह तीसरा अस्त्र है । (४) शास्त्रीय प्रमाणोंकी सहायतासे 'तत्त्वमसि' 'एकमेवाद्वितीयम्' 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादिकी सहायतासे अद्वयस्वरूप परिग्रह करनेका प्रयास करना, यह चौथा अस्त्र है । (५) माँकी विशिष्ट कृपा पानेके लिये कातर प्रार्थना आदिसे अन्ततक कृपा रखनेकी प्रार्थना करना । कृपा ही शरणागतभावका अवश्यम्भावी फल है । आत्मप्राप्तिके पक्षमें आत्मकृपा ही प्रधान अवलम्बन है, कृपा प्राप्त होनेसे सब अनायास प्राप्त हो जाता है । ये व्युत्क्रमसे फल देते हैं । सबसे पहले माँकी कृपाका अनुभव होता है, फिर विश्वास दृढ होता है, फिर शास्त्रवाक्यका अर्थ प्रतीत होता है, फिर युक्ति या विचारकी सामर्थ्य उत्पन्न होती है । अन्तमें अनुभूतिको लक्ष्यकर अभिन्नस्वरूपमें प्रतिष्ठित होनेकी योग्यता होती है ।

यह योग्यता होते ही तीसरी लहर कारण शरीरका अभिमान भी दूर हो जायगा और तुम आनन्दमें प्रतिष्ठ होओगे, रुद्रग्रन्थिभेद हो जायगा । आओ साधक ! आओ जीव ! एक स्वरसे माँको प्रणाम कर आगे बढ़ें और जिसने इस दुर्जय असुरकी पीड़ासे परित्राणकर अपने स्नेहमय वक्षपर रखकर आनन्दमय मन्दिरमें पहुँचाया है, उसके चरणोंपर प्रणत हों । प्रणाम करनेके सिवा और हम क्या सेवा-पूजा कर सकते हैं ? हमारा है क्या, सब कुछ उसीका

रूप है। अपना आत्माभिमान-बोध माँके चरणोंमें देना ही प्रणाम है। जिसका प्रणाम जितना सत्य, सरलतामय और निष्कपट है वह उतना ही शीघ्र और सहजमे अपना अभीष्ट प्राप्त कर शान्तचित्त होता है।

आनन्दमय सन्तान! तुम सत्यके आनन्दमय आह्वानसे प्रबुद्ध हुए हो, प्राणके अमृतमय स्पर्शसे शरीरमें रोमाञ्च हुआ है, अब मेरी आनन्दमय सत्ताको प्रत्यक्ष करो, देखो, मैं आनन्दमय, मधुमय, अमृत, अभय और नित्यमुक्त हूँ। निरवच्छिन्न आनन्द ही मेरा स्वरूप है। श्रुति कहती है, 'आनन्द ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चन,' 'सत्यं ज्ञानमानन्दं ब्रह्म'। यद्यपि आनन्दका थोड़ा-बहुत अनुभव प्राणिमात्रको है, जगत्‌में काम्य वस्तु प्राप्त होनेपर कुछ आनन्दभाव सबके हृदयमे उत्पन्न हो जाता है, तथापि वह विषयेन्द्रियसंयोगजन्य आनन्द है। यदि कदाचित् तुम्हें समर्थ गुरु कृपा कर एक ऐसी अवस्थामें ले जायँ कि जहाँ किसी प्रकारका विषयसंस्पर्श नहीं, कुछ चिन्ता नहीं, कुछ भावना नहीं, त्याग नहीं, ग्रहण नहीं, दर्शन-श्रवणादि व्यापार नहीं बल्कि केवल आनन्द-ही-आनन्द है तो उस अवस्थाको ही 'माँ—आत्मा' का स्वरूप समझ लो। और धीरभावसे आगे बढ़ो। आनन्द एक प्रकारका भाव या ज्ञान है। उसमें सजातीय, विजातीय और स्वगतभेद नहीं है, अङ्गाङ्गीभाव, भोक्तृभोग्यादिभाव भी नहीं है, वह केवल विशुद्ध आनन्द है। इसीको श्रुतिने 'एकमेवाद्वितीयम्' कहा है। इस आनन्दका ही दूसरा नाम रस या प्रेम है। यहाँ प्रेम-प्रेमी और प्रिय तथा रसिक, रस और रस्य, ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेयकी कुछ विभिन्नता नहीं है। केवल प्रेमरस है। इसे भाषामें क्या कहे, कैसे समझावें, यह तो भाषासे बाहर है। परन्तु समझने-समझानेकी चेष्टा सदासे चली आयी है और चलेगी। अतएव पूज्य आत्मदेवका स्मरणकर यथाशक्ति लिखनेका साहस करते हैं, पाठकगण! क्षमा करें। श्रुतिने उसे—

'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'
'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' 'अस्थूलमनण्वह्रस्वम्'

इत्यादि नेति-नेति मुखसे 'माँ—आत्मा' का निर्गुण रूप समझानेकी बहुत चेष्टा की है।

इस निर्गुण निरञ्जन स्वरूपके ऊपर आत्मा (माँ) का दो प्रकारका महत्त्व प्रकाशित होता है—एक ईश्वरत्व, दूसरा जीवत्व। आनन्दसे ही इन भूतोंकी उत्पत्ति है, आनन्दमें ही उनका अवस्थान और आनन्द ही प्रलय-स्थान है। निर्गुणका अर्थ है अभिन्न गुण। ब्रह्मकी यह विशेषता है कि इसे जो जैसा कहे वह ठीक वैसा ही है। क्योंकि प्रकाश-अन्धकार, ज्ञान-अज्ञान, विद्या-अविद्या, सगुण-निर्गुण, सुख-दुःख इत्यादि परस्पर अत्यन्त विरुद्ध धर्म भी तो एक साथ ब्रह्ममें ही मौजूद हैं, तो भी उसके निरञ्जन स्वरूपमे कुछ व्याघात नहीं होता। केवल आनन्द-स्वरूप ब्रह्म अपना निरञ्जन स्वरूप सर्वथा अखण्ड रखते हुए भी एक साथ ईश्वर और जीवरूपसे प्रकट हो सकता है। यही ब्रह्मका ब्रह्मत्व है। वह सत्, चित् और आनन्द है, यही प्रथम स्पन्दनमें सत् या सत्त्वगुण, द्वितीय स्पन्दनमें चित् या रजोगुण—आनन्दकी अनुभवशक्ति और तृतीय स्पन्दनमें आनन्द या तमोगुण अनुभाव्य—भोग्यभाव प्रकाशित होता है। उसका नाम 'आत्मा' 'माँ' कुछ भी रख लीजिये। यह ज्ञानस्वरूप परमात्मा परम प्रेमास्पद है, जिसकी प्रीति साधनके लिये जीवत्वका बन्धन अनादि-कालसे लादे आ रहे हैं, जिसकी रक्षाके लिये 'आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्' सब पृथिवी त्यागना कहा है। पृथिवी मूलाधार कमल है, इसको त्यागकर उन्नत हुए बिना आत्म-राज्यमें पहुँच नहीं हो सकती। यह आत्मा कितना घन आनन्दस्वरूप है, क्या मुखसे उसका वर्णन किया जा सकता है?

तात्पर्य यह है कि हजार बार सगुण होनेपर भी उसकी निर्गुणतामें कुछ विकार नहीं होता, जैसे हजार आभूषण नाना प्रकारके बना लेनेपर भी सुवर्णका सुवर्णत्व नष्ट नहीं होता। ब्रह्ममें गुणातीत और गुणमय ये दोनों भाव साथ ही विद्यमान हैं। जब आनन्दमय आत्मा आप अपनेको बहुधा विभाजित कर भोग करता है तब वह ईश्वर है और जब उस समष्टि ईश्वरानन्दको व्यष्टिरूपसे भोगता है तब वही जीव है। जैसे समुद्रका जल, जलकी लहरें और जलकी बूँदे इनमें कुछ भेद नहीं है, इसी प्रकार केवलानन्दमयी, सर्वकारिणी, ईश्वरानन्दमयी और फिर सर्वरूपिणी जीवानन्दमयी 'माँ' है।

साधक! अब विचार कीजिये कि धीरे-धीरे आप कहाँ आ पहुँचे। अब आपकी देहका प्रत्येक परमाणु आनन्दके सिवा और कुछ भी नहीं है। आनन्द ही आपका निमित्त, आनन्द ही उपादान, आनन्द ही स्वरूप है।

आपके चारों ओर आनन्द-ही-आनन्द है। जड़ पत्थरतक सभी आपके पारिवारिक जन, आनन्दमय घन सत्ता हैं।

अजी, आप आनन्दसमुद्रमें मग्न हो, दिन-रात आनन्दकी सेवा करते हो और फिर भी नेत्रहीनको भाँति खोजते हो कि 'आनन्द कहाँ है?' एक बार माँकी ओर देखो तो सही, फिर आपको कहीं भी आनन्दका अभाव न रहेगा। यह ससार आनन्दमय भासने लगेगा और आपकी जगद्भोगकी वासनाएँ बिल्कुल अन्तर्हित हो जायँगी।

या देवी सर्वभूतेषु शक्तिरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः॥

इस प्रकार विष्णुमाया, निद्रा, क्षुधा, तृष्णा, क्षान्ति, जाति, लज्जा, शान्ति, श्रद्धा, कान्ति, लक्ष्मी, वृत्ति, स्मृति, दया, तुष्टि, मातृ और भ्रान्ति आदि सब आत्मा—माँके ही रूप तो हैं, सबको प्रणाम। जब इतना दृढ विश्वास हो जाता है, तब साधक नृपनन्दन कहलानेका अधिकारी होता है।

ऋषिरुवाच—

एवं स्तवादियुक्तानां देवानां तत्र पार्वती।
स्नातुमभ्याययौ तोये जाह्नव्या नृपनन्दन ॥३७॥

यहाँ साधकका चित्त आर्द्र होकर प्रेमाश्रु निकलने लगते हैं, यही गङ्गाजल है, इसमे स्नान करनेको 'माँ' आती है। सन्तानके परम पवित्र प्रेमाश्रु बिना 'उमा' का स्नान-अभिषेक नहीं होता। त्रितापसन्तापसन्तप्त सन्तानके आकुल आर्तनादसे विक्षोभित मातृवक्षको शीतल-शान्त करनेके लिये निष्कपट प्रेमाश्रुओंकी ही आवश्यकता है। अर्थात् साधक देखते हैं कि यह परिदृश्यमान विश्व केवल जड़ पदार्थ नहीं है, आनन्दमयी माँकी मूर्ति है—

सोऽब्रवीत् तान् सुरान् सुभ्रूर्भवद्भिः स्तूयतेऽत्र का।

सरल अबोध बालिकाकी भाँति 'उमा' शिवा सन्तानको व्याकुल देख पूछती है, अरे! क्या हुआ? तुम किसकी स्तुति करते हो? यहाँ अस्मितारूप शुम्भ दैत्यका निधन होगा। अन्नमयादि पञ्च कोशोंसे प्रकट होनेके कारण 'कौशीतकी' नाम पड़ा है—

कौशीतकीति समस्तेषु ततो लोकेषु गीयते।

एक बार अद्वयतत्त्वका साक्षात्कार प्राप्त हो जानेपर साधककी भेदभ्रान्ति, बन्धनभय, मृत्युभय दूर होकर अभय हो जाता है। उसके बाद जबतक स्थूल देह रहती है, तबतक साधक प्रारब्ध संस्कार क्षय करता और अन्तमें कैवल्य मोक्ष प्राप्त करता है। प्रबल प्रारब्ध रहनेतक शुम्भ-वध या रुद्रग्रन्थिभेद (यथार्थ अद्वैततत्त्वप्रकाश) नहीं होता। यहाँतक तो साधकका ममता-क्षय (निशुम्भ-वध) हुआ। जबतक साधक यथार्थ अहंके दर्शन नहीं कर सकता, तबतक उसका मिथ्या अहं दूर नहीं होता, 'मैं—माँ' के दर्शन होते ही ब्रह्मवित् पुरुष निरहङ्कार हो जाते हैं। सच्चे सन्तका लक्षण निरहङ्कार होना ही है।

अब अस्मिता (शुम्भ) और दुर्गा (प्रतिबिम्ब और बिम्ब) का दारुण युद्ध होता है। कारण, अस्मिताकी सत्तासे ही सब लोकोंकी सत्ता है, अस्मिता न रहे तो सर्व कहनेको कुछ रहता ही नहीं। असुर भी अस्मिताके ही भिन्न-भिन्न स्फुरणमात्र हैं।

साधक एक दिन गीताके अन्तमे श्रीसमर्थ गुरुकी अपूर्व वाणी 'मामेकं शरणं व्रज' सुनकर मुग्ध हुए थे, अपने 'मैं' को उनके चरणोंमें अर्पण किया था। इतने दिन बाद उसकी सार्थकता अनुभवमें आयी है, जब माँने आत्मसत्तामें मिला लिया है, अब कहो—

धन्योऽहं कृतकृत्योऽहं सफलं जीवनं मम।
धन्योऽहं धन्योऽहं ब्रह्मानन्दं विभाति मे॥

शुम्भ देवीके शूलसे आहत और गतप्राण होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा। प्रबल प्रारब्धसस्कार क्षीण होनेपर आत्मप्रकाश होता है। इसीको साधनकी भाषामें रुद्रग्रन्थिभेद कहते हैं। इस जगत्, देह आदिकी प्रतीति ही रुद्रग्रन्थि है। जगत्की सत्ता त्रिकालमें नहीं है, एक अद्वितीय आत्मा नित्य विराजमान है, आत्मा नित्य शुद्ध निरञ्जन है। उसपर जो अत्यन्त अनुराग है वही अहैतुकी भक्ति है।

अस्मिता नष्ट होनेपर सर्वत्र प्रसन्नता दीख पड़ती है, आत्मप्राप्तिके बाद साधकके शब्द मधुर उच्चारित होते हैं, कण्ठमें आकर्षणभाव आ जाता है। रोग-शोकमें भी यह स्वरूपानन्द विच्युत नहीं होता। यह आनन्द ही सांख्यका पुरुष, वेदान्तका ब्रह्म, उपनिषद्की आत्मा, गीताका श्रीकृष्ण, देवीमाहात्म्यकी चण्डिका और साधककी 'माँ—उमा' है। एक बार कहिये।

'सच्चिदानन्दरूपोऽहं नित्यमुक्तस्वभाववान्।'

'तथा चात्मविद् संसारं तीर्त्वा ब्रह्मानन्दमिहैव प्राप्नोति ।'

तनुं त्यजतु काश्यां वा श्वपचस्य गृहेऽथवा ।
ज्ञानसम्प्राप्तिसमये मुक्तोऽसौ विगताशयः ॥
खलाः काले काले निशि निशितमोहैकमिहिका
गता लोके लोके विषयशतचौराः सुचतुराः ।
प्रवृत्ताः प्रोद्युक्ता दिशि दिशि विवेकैकहरणे
रणे शक्तास्तेषां क इव विदुषः प्रोक्ष्य सुभटाः ॥

उपसंहार

वत्स सुरथ ! तुमने और समाधि वैश्यने कहा था कि हम ज्ञानी हैं, जानते हैं, तो भी यह मोह हमें क्यों होता है ? इस मोहके छूटनेका उपाय जो गीतामें कहा वही यहाँ भी कहते हैं—

तामुपैहि महाराज शरणं परमेश्वरीम् ।
आराधिता सैव नृणां भोगस्वर्गापवर्गदा ॥

माँकी आराधना करनेसे पहले वह ब्रह्मग्रन्थिभेद करेगी, उससे विषयासक्ति दूर होगी, तब पार्थिव भोग अपने-आप आकर उपस्थित होंगे, यही माँका प्रथम दान है । दूसरी मूर्तिसे विष्णुग्रन्थिभेद करेगी, उसके फलसे विश्वमय प्रियतम प्राणसत्ताके दर्शन कर तुम स्वर्ग-सुख-भोगके अधिकारी होगे और तीसरी मूर्तिसे वह रुद्रग्रन्थि भेदकर तुम्हें विशुद्धबोधस्वरूप (आत्मज्ञान) मे उपनीत करेगी, तब तुम मोक्ष प्राप्त करोगे ।

तीन स्थानों (मनोमय, प्राणमय और विज्ञानमय क्षेत्र)में उपासना करनेसे प्रसन्न होकर जगद्धात्री माँके चण्डिका-रूपसे आविर्भूत होनेपर साधकका तीनों ग्रन्थिभेद हो जाता है । सुरथ और समाधिकी उपासनाप्रणाली क्रमशः साधन-समरकी रीति अथवा योगकर्मका कौशल है ।

सुरथ जीवात्मा है, आत्म-राज्यसे विच्युत हुआ है, वह इन्द्रियवृत्तियोंपर आधिपत्य चाहता है जिससे विषयेन्द्रियद्वारा पीड़ित न हो, और समाधि वैश्य (आत्म-राज्यमे प्रवेश करनेवाले साधक) ने अहं-ममत्वरूप ससारासक्ति-विनाशक आत्मज्ञानके लिये प्रार्थना की है । माँके दर्शन होते ही मन विना रोक-टोकके भोग चाहता है और प्राण आत्मामें तन्मय होना चाहते हैं, इस प्रकार साधकको भोग और मोक्ष दोनों ही प्राप्त होते है । माँने श्रीकृष्णरूपसे गीतामें कहा था—

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥
(८ । १६)

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥
मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥
(८ । १४-१५)

'न स पुनरावर्तते'

इत्थं यदा यदा बाधा दानवोत्था भविष्यति ।
तदा तदावतीर्याहं करिष्याम्यरिसंक्षयम् ॥

इस प्रकार साधकोंकी सब बाधाएँ दूरकर माँ उन्हें अपनेमें लीन कर लेती है, तब सारा जगत् ब्रह्ममय दीखने लगता है—

सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखमाप्नुयात् ॥

सांख्ययोग

(लेखक—स्व० महाराज साहब चतुरसिंहजीरचित)

(मेवाड़ी भाषामें)

दीखे सो दीखी नहीं, अण देखी देखाण । राईमें पर्वत छिपै, उद्या अलख पिछाण ॥
रात पड्याँ उगे रवी, दने न दिखे भाण । अस्या रात दिन वे जठे, उद्या अलख पिछाण ॥
देखूँ देखूँ छोड़ने, देखूँ देखूँ ठाण । ईं दीखूँ रो दीखणों, उद्या अलख पिछाण ॥
लेखण पै कागद लखे, अखर खुले असमान । उण आखर रे आलखे, उद्या अलख पिछाण ॥
कागद कीड़ी रे जस्यो, वी मे वेद कुरान । वी में अक्षर एक नी, उद्या अलख पिछाण ॥
नारी नारीने जणें, पण नर सू अणजाण । जाण वियां पै नी जणे, उद्या अलख पिछाण ॥
मुरदा मोजाँ घर करे, जिंदा जले मसाण । अस्या नगर रो नाथ है, उद्या अलख पिछाण ॥
सुलटी ने उलटी करे, उलटी सुलटी आण । उलटी सुलटी माँय ने, उद्या अलख पिछाण ॥
सांख्य योगरो सार है, यो गीता रो ज्ञान । उपनिषदाँ रो अरथ है, उद्या अलख पिछाण ॥

प्रेषक—जगदीश

ब्रह्मचर्य और योग

(लेखक—ॐ 'श्रीविश्वात्मा')

योगका महत्त्व और उसकी कठिनाइयाँ
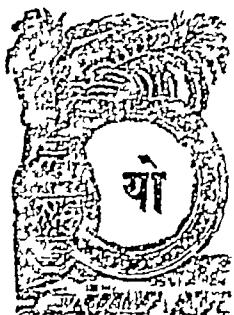
योग भारतवर्षकी बहुत ही प्राचीन सम्पत्ति है। यह भारतवर्षके गौरव एवं मानकी वस्तु है। इसका प्रभाव धर्म और सम्प्रदायमात्रपर पड़ा है। भारतीय शास्त्रोंमें योग-पर बड़ी-बड़ी रोचक, मनोहर एवं विचित्र कथाएँ लिखी हुई हैं। योगके सम्बन्धमें यहाँ वृद्धोक्ति और किंवदन्तियोंकी भी कमी नहीं है। यौगिक तत्त्वोंपर भारतवर्षमें स्वतन्त्र ग्रन्थ भी बहुत लिखे गये हैं, जिनमें पातञ्जल योगदर्शन जैसा उत्तम दर्शन है जो भारतीय प्रधान छः दर्शन-शास्त्रोंमेंसे एक दर्शनशास्त्र है। दार्शनिक विचार कितने ऊँचे, पवित्र और रहस्यमय होते हैं इसको कोई भी बुद्धिमान् पुरुष मान सकता है। दार्शनिक तत्त्व होनेसे ही योगकी गहनता, महत्ता, दिव्यताका पता लग जाता है कि योग कितनी कठिन समस्याका नाम है। इस योगकी महान् सिद्धिके लिये हमारे पूर्वजोंने हजारों वर्षोंतक कितने ही प्रयत्न कितनी ही संख्याओंमें किये हैं जिसपर भी उनमेंसे कोई एक ही योगकी परम सिद्धिको प्राप्त कर सका है। इस विषयपर बातचीत करते हुए 'ॐ' से एक महात्माने कहा था कि 'गुब्बे' (एक प्रकारके सट्टे वा जुए) में तो सौ अङ्कोंमेंसे निन्नानवे अङ्क हारके एवं एक अङ्क जीतका होता है। परन्तु योगमें तो हजार अङ्कोंमेंसे नौ सौ निन्नानवे अङ्क हारके और एक अङ्क जीतका है। यद्यपि यह वाक्य व्यङ्ग शब्दोंमें योगपर कुछ आक्षेप-सा मालूम होता है परन्तु है यह बिल्कुल सत्य, जो गीता अ० ७ श्लो० ३ में बड़े ही सुघरे शब्दोंमें कहा गया है—

> मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
> यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

'प्रयत्नशील हजारों पुरुषोंमेंसे कोई एक पुरुष ही योगकी सिद्धि (यथार्थ मार्ग) को प्राप्त किया करता है और उस यथार्थगामी हजारों सिद्धोंमेंसे कोई एक ही मेरे तत्त्वको जाना करता है।' इस श्लोकमें 'सिद्धये' और 'मां वेत्ति तत्त्वतः' शब्द योगके रहस्य और तत्त्वको बतला रहे हैं। प्रथम शब्द योगके कपाट खोलनेकी कुञ्जी है तो दूसरा शब्द योगकी गुप्त गुहामें रक्खे हुए दिव्य ईश्वर-रत्नको दिखानेवाला चक्षु है। 'सिद्धये' शब्दके आगे 'मां वेत्ति तत्त्वतः' आनेसे पता लगता है कि यहाँ योगके उसी मार्गका नाम सिद्धि कहा जाता है जिससे साधक ईश्वरके तत्त्वको भली प्रकारसे जान जाया करता है। असत्यसे दृष्टिको हटाकर सत्यपर जमा देना ही योगका सच्चा अर्थ है अर्थात् असद्विचारदृष्टिको हटाना ही योगकी यथार्थ सिद्धि और सत्यपर विचारदृष्टिको जमा देना ही भगवान्‌को तत्त्वसे जान लेना है। जो साधक इस अर्थको समझकर योगमें लगता है वही योगके तत्त्वको प्राप्त किया करता है, अन्य सब मार्गमें ही पड़े रह जाते हैं। जैसे कुछ साधक थोड़े दिन साधना करके अपनी व्यग्रता एवं चञ्चलताके कारण साधनको ही छोड़ दिया करते हैं तो दूसरे कुछ अपनी अनियमितताके कारण रोगी होकर जीवन बिताया करते हैं। कुछ हठी दुराग्रही रोगी हो जानेपर भी मनमाने साधनमें लगे रहा करते हैं। ऐसे दुराग्रही साधकोंकी चिकित्सा मृत्यु-मुखके सिवा कुछ भी नहीं होती। यदि कोई साधक इन सब कठिनाइयोंसे पार हो भी गया तो वह भौतिक सिद्धियोंके फेरमें पड़ जाया करता है। उपर्युक्त तीनों विघ्नोंसे सताये हुए असिद्ध साधकोंका साधनसञ्चय दूसरे जन्म-में काम आ जाया करता है, क्योंकि वे अपने विघ्नोंके लिये पश्चात्तापरूपी प्रायश्चित्त करते रहते हैं। परन्तु सिद्धियोंका खोया हुआ साधक तो अपना सर्वस्व खोकर ही यहाँसे प्रस्थान किया करता है। जहाँ तीनोंको अपने विघ्नोंके लिये पश्चात्ताप हुआ करता है वहाँ इसको अपनी सफल सिद्धियोंपर प्रसन्नता बढ़ती रहा करती है। यह अपना सर्वस्व लुटाकर भी बधाई बाँटनेवालेके सदृश है।

उपर्युक्त सब विघ्न-बाधाओं एवं पापोंसे बचकर साधना करनेवाले साधकका ही 'सिद्धये' शब्दसे निर्देश किया गया है—वही सिद्ध साधक मेरे तत्त्वोंको जाना करता है, यही भगवान्‌के उपर्युक्त वाक्यका अभिप्राय है। इस भगवान्‌को देखने, पकड़ने, पानेवाली सिद्धिको वही साधक प्राप्त कर सकता है जो 'संसार सत्य है' की भावनाको मिटाकर योगमें लगा करते हैं। जो संसारको सत्य मानकर

उसकी पुष्टि (भोगप्राप्ति) के लिये योगमें लगा करते हैं उन्हींको उपर्युक्त व्यग्रता, अनियमितता, दुराग्रह आदि दोष, विघ्न तथा सिद्धि आदि पाप सताया करते हैं। सच तो यह है कि भोगोंके लिये योगमें लगना रोग और मृत्युको पाना और भोगवासनाको भस्म करनेके लिये योगमें लगना भगवान्‌को पा जाना है। यही योगसाधनका मूल मन्त्र वा सिद्धान्तबिन्दु है।

ब्रह्मचर्य

ॐ जिस योगकी महत्ता, दिव्यता, गहनता तथा कठिनता, कठोरता और क्रूरताको ऊपर कहा गया है, जिसके अनुसार चलकर साधक ईश्वरकी ज्योतिमें भी समा सकता है और मृत्युका कलेवा भी बन सकता है, उस योगको यदि आप साध्य बनाना चाहते हैं तो सर्वप्रथम आप ब्रह्मचर्यका पालन कीजिये। ब्रह्मचर्यके बिना योगकी सफलताका अङ्कुर वैसे ही नहीं उगा करता जैसे जलके बिना बीज। ब्रह्मचर्यके बिना योग वैसा ही है जैसे प्रकाशके बिना सूर्य और प्राणके बिना प्राणी। ब्रह्मचर्यकी निष्ठाके बिना योगको छूना अपनी मौतको आप बुलाना है। अतः योगके जिज्ञासुका ब्रह्मचारी होना उतना ही आवश्यक है जितना कि जीवनके इच्छुकको प्राणी (प्राणवाला) होना आवश्यक है। ब्रह्मचर्यव्रतसे युक्त साधकके प्राण स्वभावसे ही स्थिर रहा करते हैं। यही बात योगशास्त्रमें भी कही गयी है कि 'स्थिरे बिन्दौ स्थिरः प्राणः' वीर्यके स्थिर हो जानेसे ही प्राण भी स्थिर हो जाया करते हैं। इस सिद्धान्तके पोषक वाक्य योगशास्त्रमें सैकड़ों ही मिलते हैं। जैसे—

सिद्धे बिन्दौ महादेवि किं न सिध्यति भूतले।

हे पार्वति! बिन्दुके सिद्ध हो जानेपर ऐसी कौन-सी सिद्धि है जो साधकको प्राप्त न हो सके? पातञ्जलयोग-दर्शनमें भी कहा है 'ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः'। ब्रह्मचर्यकी निष्ठासे वीर्य 'बिन्दु' की स्थिरता, ऊर्ध्वगति-का लाभ प्राप्त होता है। हठयोगप्रदीपिकामें कहा है कि—

ऊर्ध्वरेता भवेद्यावत् तावत् कालभयं कुतः।

जबतक साधक बिन्दुको ऊर्ध्वगामी रखता है तबतक उसको काल-मृत्यु-प्राणक्षयका भय नहीं है। अथर्ववेदमें भी कहा है कि—

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत।

ब्रह्मचर्यरूप तपसे देवोंने मृत्युको मार डाला। शिव-संहितामें महादेव कहते हैं—

मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्।

बिन्दुका पतन ही मृत्यु और बिन्दुका धारण—स्थिरता ही जीवन है। आगे फिर कहा है कि, 'अहं बिन्दुः शिवो बिन्दुः' मैं बिन्दु हूँ, शिव ही बिन्दु है। आगे फिर पार्वतीसे कहते हैं कि, हे पार्वति! मैं बिन्दुजयसे ही शिव-पदको प्राप्त कर सका हूँ। इस बिन्दुके धारणसे ही तो ॐ का ॐकार ईशत्वको प्राप्त हो गया है। उसके मस्थे-परसे बिन्दुको हटाकर देखिये कि वह फिर भी ॐ रहता है या नहीं। वह बिन्दु हटते ही ईशत्वसे च्युत हो जाता है। बिन्दु धारण ही उसको ईशत्वपद दिये हुए है। अस्तु, जब योगके जन्मदाता मुख्याचार्य शिवको शिवत्व ही बिन्दु धारणसे प्राप्त हुआ है, जब योगके प्रदाता ईश्वरके प्रथम नाम ॐके ओमत्वका कारण भी बिन्दु धारण ही है तो फिर साधारण ब्रह्मचर्यहीन पुरुष योगसिद्धि शिवत्वको प्राप्त हो सकेगा, यह बात असम्भवसे भी दुस्तर है। दुस्तर ही नहीं अपितु अपनी मौतको निमन्त्रण देना है। उपर्युक्त विवेचनसे आपको दो बातोंका पता लगेगा। एक, ब्रह्मचर्य बिना योगका साधन करना अपनेको रोग और मौतके मुखमें भेज देना है और दूसरे, मरनेवाले मिथ्यात्वसे छूटना शिवत्वको प्राप्त करना है। यही योग शब्दका सच्चा तत्त्वार्थ है। ॐ के मतानुसार इस अर्थको लेकर योगसाधनमें लगनेवाला साधक ही योगमार्गकी कठिनाइयोंसे पार पहुँचा करता है।

आप ऊपर यह तो समझ ही चुके हैं कि ब्रह्मचर्य-से हीन साधक योगमार्गमें सफलता नहीं पा सकता है। ब्रह्मचर्य ही योग-सफलताकी कुञ्जी है। यही नहीं, अपितु ब्रह्मचर्य ही विश्वमात्रकी सफलताओंका बीज है। फिर यह सफलता चाहे भौतिक हो या आध्यात्मिक। यही कारण है कि हमारे पूर्वजोंने मनुष्य-निर्माणकी अवस्थाका नाम ही ब्रह्मचर्य रक्खा है। इस अवस्थाको पूर्णरूपसे निभानेवाला पुरुष सफलताका भण्डार ही हुआ करता है। इस तत्त्वका पता हमको ब्रह्मचर्य शब्दका अर्थ समझनेसे ही लग जाता है।

ब्रह्मचर्य शब्दका तत्त्वार्थ

ब्रह्मचर्यका शब्दार्थ समझना बहुत कठिन है। बहुतसे लोग ब्रह्मचर्यका अर्थ आजन्म क्वाँरा रहना या जटा-

जूट आदि भेष बनाकर फिरना मात्र ही मान लेते हैं। सचमुच ब्रह्मचर्यका इतना अर्थ लेना ब्रह्मचर्यकी हत्या करना है। ब्रह्मचर्यका सम्बन्ध न तो कुँवारपनसे है और न किसी वेष-भूषासे ही है। स्थूलार्थमें ब्रह्मचर्यका अर्थ वीर्य-निरोध या काम-दमनसे ही है। परन्तु इतना समझनेसे भी ब्रह्मचर्यका अर्थ पूरा नहीं होता। ब्रह्मचर्यका पूरा अर्थ होता है वीर्यको रोकना, वेद ज्ञानको पाना, सत्-चित्-आनन्द ब्रह्ममें समाना। वीर्य एक दिव्य तेजका नाम है। जैसे कि शतपथ ब्राह्मणमें कहा है, 'वीर्यं वै भर्गः' वीर्य ही तेज, आभा, प्रकाश है। इस वीर्यरूप ब्रह्मके दीपनसे ही ब्रह्म-वेदके तत्त्वज्ञानका दर्शन और वेदतत्त्वके ब्रह्म दीपकसे सत्-चित्-आनन्द ब्रह्मका साक्षात्कार हुआ करता है। यह ब्रह्मत्रयसङ्गम ही ब्रह्मचर्यका पूरा तत्त्वार्थ है। इस ब्रह्म-त्रिवेणीका स्नाता पुरुष ही योगका सच्चा अधिकारी हुआ करता है।

ब्रह्मचर्यकी श्रेणी

हमारे शास्त्रोंमें वीर्यके बीजत्व, वीरत्व, ओजस्, बल, तेज, शुक्र, पवित्रता, रेत, रेतस्, कान्ति, बिन्दु, भर्गादि नाम कहे हैं और वीर्यको ही सृष्टिका उत्पादक, पालक, संहारक भी कहा है। परन्तु योगशास्त्रमें वीर्यको ब्रह्म-बिन्दु—ब्रह्मबीजतक कहा गया है। महादेवने योगशास्त्रमें कहा है कि 'अहं बिन्दु रजः शक्तिः' मैं (महादेव) बिन्दु वीर्य हूँ और रज शक्ति (पार्वती) है। योगशास्त्रमें कहा है कि साधकके नाभिस्थानमें रज और मस्तकके मध्य केन्द्रमें वीर्य बिन्दु रहा करता है। रजका सिन्दूर वर्ण और वीर्यका श्वेत वर्ण है। रजरूप पार्वतीको नाभिसे उठाकर मस्तकमें मिला देना ही योगसिद्धिका सफल रहस्य है। इस कथनमें बहुत बारीक वैज्ञानिक तत्त्व छिपा हुआ है। ब्रह्मचर्यका ब्रह्म शब्द भी वीर्य और ब्रह्मके अभेद्य सम्बन्धको बता रहा है। इस अभेद्य सम्बन्धको अभेद्य रखनेवाला साधक ही प्रथम श्रेणीका ब्रह्मचारी होता है। इस ब्रह्मचारीका अहंबिन्दु अपने स्वभावसिद्ध स्वरूप ब्रह्ममें ही स्थिर रहा करता है अर्थात् ऐसे ब्रह्मचारियों-को यह भी मालूम नहीं होता कि हमारे वीर्य तन्तुओंमें संसारसे सम्बन्ध रखनेवाला कोई वीर्यरूप पदार्थ है या नहीं। उसका ब्रह्मबिन्दु सब तरहके कम्पनोंसे रहित सदा स्थिर रहा करता है।

दूसरी श्रेणीके ब्रह्मचर्यवाले साधकके ब्रह्मबिन्दुमें कम्पन तो अवश्य उठा करता है परन्तु वह अपने कठोर संयम, बल और भीष्म-प्रतिज्ञाद्वारा ब्रह्मबिन्दुके उन कम्पनोंको ब्रह्मबिन्दुकी ओर ही ढकेल दिया करता है। यह भूमिका साधकके लिये बहुत ही कठिन कसौटीकी है।

तीसरी श्रेणीके ब्रह्मचर्यवाले ब्रह्मचारी (साधक) के ब्रह्म-बिन्दुमें जो सृजन-कम्पन उठा करते हैं, उन्हें वह ईश्वरका सृष्टि-सृजन-आदेश समझकर सन्तान-उत्पत्तिमें बदल दिया करता है। वह इस सृजनके ध्येयसे ही गृहकार्यमें प्रवृत्त हुआ करता है। वह ब्रह्मकी उस ब्रह्मबिन्दुमें होनेवाली 'एकोऽहं बहु स्याम्' की सांकेतिक सूक्ष्मान्तर दिव्य वाणीको सुना करता है जो उसको कहती है कि चल, तू भी मेरे बहुत होनेके कार्यमें सम्मिलित हो जा। ईश्वरीय आज्ञाका पालक और विषयासक्तिसे रहित होनेसे यह साधक भी ब्रह्मचारी ही होता है। ऐसे साधकोंके सृजन-कार्यमें ईश्वरीय सृजन-प्रेरणा ही कार्य करती है।

प्राकृतिक धक्केके सिवा साधकका उससे कुछ भी नहीं बनता-बिगड़ता। इस प्राकृतिक धक्केको पशु-पक्षी आदि अभीतक खूब अच्छी तरहसे समझते हैं। वे बारहों मास स्त्री-पुरुषकी भावनासे रहित होकर विचरा करते हैं, जब उनको यह ईश्वरीय प्राकृतिक संकेत मिलता है तभी वे स्त्री-पुरुषमें बदल जाया करते हैं। इस प्राकृतिक संकेत-का वैज्ञानिक बोध ही पशु-पक्षी आदिमें वन्ध्यात्वके अभावका कारण है, धन्य हैं इन पशु-पक्षी आदिको जो अभीतक उस सृजन-विज्ञान ऋतुकालके रहस्यको समझते हैं। जो साधक इस ईश्वरीय संकेतको पाकर अनासक्त भाव और निष्काम बुद्धिसे सावधान हुए शास्त्रानुकूल सृजनकार्य किया करते हैं वे ब्रह्मचारी ही नहीं अपितु ईश्वरके आज्ञापालक ही हुआ करते हैं। उनका यह कार्य वैसा ही हुआ करता है जैसा कि कोई पुरुष इधरसे वस्तु लेकर उधर दे दिया करता है। ऐसे साधकोंके कामको ही तो भगवान् गीतामें अपना स्वरूप बताते हैं, जैसे कि 'प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः' 'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।' (सृजन धर्मके अनुसार सन्तान बनानेवाला काम मैं ही हूँ)। उपर्युक्त तीनों ब्रह्मचारी ब्रह्मके उपासक हैं। प्रथम ब्रह्मलीन, ब्रह्मस्थित, ब्रह्मरूप कहा जाता है। दूसरा योगी होता है, और तीसरा भगवान्‌का परम प्रिय भक्त कहा जाता है। ईश्वर भारतमें ऐसे ब्रह्मचारियोंको जन्म दे जिससे कि योगको पुनर्जीवन मिल सके। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

नादानुसन्धान

(लेखक—स्वामीजी श्रीएकरसानन्दजी सरस्वती महाराज)

योग कहते हैं चित्तकी वृत्तियोंके निरोधको। इस निरोधकी स्पष्टता कठोपनिषद्में नीचेके मन्त्रोंमे कही है—

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्॥
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ॥

'जिस कालमें योगाभ्यासके बलसे पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, छठा मन और सातवीं बुद्धि लयभावको प्राप्त हो जाती है, उसको परम गति कहते हैं। मोक्ष, मुक्ति, कैवल्य, ब्राह्मीस्थिति, निर्वाण और अमनस्क-स्वरूप प्रतिष्ठा भी इसीको कहते हैं।' यही बात योगशास्त्रके प्रवर्त्तक भगवान् शिवजीने शिवसंहितामें कही है—

निरालम्बं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्।
वृत्तिहीनं मनः कृत्वा पूर्णरूपं स्वयं भवेत्॥

'जिस कालमें सविकल्प समाधिके साधनसे, निर्विकल्प समाधि सिद्ध हो जाती है, मन दृश्यका चिन्तन छोड़कर वृत्तिरहित हो जाता है, उस कालमें साधक स्वयं पूर्णरूप हो जाता है।' यानी 'उपाधिविलयात्विष्णो'—के अनुसार, अज्ञानकी कार्यरूप वृत्ति ब्रह्ममें लीन हो जाती है और साधक ब्रह्मपदको प्राप्त हो जाता है। जीव-ब्रह्मका स्वरूपसे तो अभेद है, परन्तु उपाधिकृत भेद है, योगाभ्यासके बलसे उस उपाधिका लय कर लेनेपर जीवात्मा ब्रह्मपदको प्राप्त हो जाता है।' यही बात दक्षिणामूर्तिजीने वेदान्तडिण्डिममे कही है—

न जीवब्रह्मणोर्भेदः स्फूर्तिरूपेण विद्यते स्फूर्तिभेदेन मानम्, न जीवब्रह्मणोर्भेदः प्रियरूपेण विद्यते प्रियभेदेन मानम्।

'जीव-ब्रह्मका स्फुरणरूपी वृत्तिसे भेद है, स्वरूपसे भेद नहीं। चेतनमें अविद्याकी जो उपाधि, जगत्की सत्यता, स्वरूपका विस्मरण, दृश्यमे आसक्ति है, यही जीवदशा है।' भगवान् शङ्कराचार्यजीने मनके लयका सर्वोत्तम साधन नादानुसन्धान, अपने 'योगतारावली' ग्रन्थमें, नीचेके श्लोकोंमें बताया है—

सदा शिवोक्तानि सपादलक्ष-
लयावधानानि वसन्ति लोके।
नादानुसन्धानसमाधिमेकं
मन्यामहे मान्यतमं लयानाम्॥
नादानुसन्धान नमोऽस्तु तुभ्यं
त्वां मन्महे तत्त्वपदं लयानाम्।
भवत्प्रसादात् पवनेन साकं
विलीयते विष्णुपदे मनो मे॥
सर्वचिन्तां परित्यज्य सावधानेन चेतसा।
नाद एवानुसन्धेयो योगसाम्राज्यमिच्छता॥

'योगशास्त्रके प्रवर्तक भगवान् शिवजीने मनके लय होनेके सवा लक्ष साधन बतलाये हैं, उन सबमे नादानुसन्धान सुलभ और श्रेष्ठ है। हे नादानुसन्धान! आपको नमस्कार है, आप परम पदमें स्थित कराते हैं, आपके ही प्रसादसे मेरा प्राणवायु और मन ये दोनों विष्णुके परमपदमें लय हो जायँगे। योगसाम्राज्यमें स्थित होनेकी इच्छा हो तो सब चिन्ताओंको त्यागकर सावधान हो एकाग्र मनसे अनहद नादोंको सुनो।' शुक योगेन्द्रके शिष्य श्रीचरणदासजीने भी अनहद नादोंकी महिमा नीचेके शब्दोंमे गायी है—

अनहदके सम और ना फल बरन्यो नहिं जाय।
पटतर कछु न दे सकूँ सब कुछ है वा माँय॥
पाँच थके आनँद बढे अरु मन ही बस होय।
शुकदेव कही चरनदाससे आप अपन जाय खोय॥
नाडिनमें सुषुम्ना बडी सो अनहदकी मात।
कुंभकमें केवल बडा वह वाहीका तात॥
मुद्रा बडी जो खेचरी वाकी बहिनी जान।
अनहद-सा बाजा नहीं और न या सम ध्यान॥
सेवकसे स्वामी होवे सुने जो अनहद नाद।
जीव ब्रह्म होय जाय हें पावे अपनी आद॥
खिडकी खोली नादकी मिला ब्रह्मनें जाय।
दसों नादके लाभकी महिमा कही न जाय॥

शिवसंहितामें भी मनको लय करनेमें उत्तमोत्तम साधन नाद ही कहा है। जैसे—

नासनं सिद्धसदृशं न कुम्भकसमं बलम्।
न खेचरीसमा मुद्रा न नादसदृशो लयः॥

'सिद्धासनके तुल्य कोई लाभदायक आसन नहीं, केवल कुम्भकके तुल्य कोई बल नहीं, खेचरी मुद्राकी बराबरी करनेवाली और मुद्रा नहीं, मनको लय करनेवाले साधनोंमें, अनहद नादकी तुलना करनेवाला और कोई साधन नहीं।' मनको लय करनेके अनेक साधन हैं, परन्तु उनमें नादानुसन्धान ही उत्तमोत्तम है।

अनहद नादके प्रकट करनेका गुप्त साधन

हर एक मनुष्यकी देहमें लगभग साढे तीन कोटि रोम हैं। जब साधक साढे तीन कोटि परमात्माके नामका जप सद्गुरुमार्गसे कर लेता है तब अनहद नाद प्रकट हो जाता है। यह तो जिनकी वायुकी प्रकृति हो, उनके लिये है, और जिनकी पित्त प्रकृति होती है, उनकी तो नाडियाँ जल्दी शुद्ध होनेसे सवा कोटि जप सद्गुरुमार्गसे करनेसे ही नाद प्रकट हो जाता है। नाद दस प्रकारका है, अभ्यास करते-करते जब दसवाँ नाद, जो बादलकी गर्जनाके तुल्य है, प्रकट हो तब नौ नादोंको छोड़कर दसवाँ नाद ही सुनते रहना चाहिये, दसवे नादकी पक्व अवस्थामें प्राणवायु और मन ये दोनो ही लय हो जायँगे। मन-पवनका लय होनेपर शेषमें ब्रह्मपद ही है। ब्रह्मनाडी जो सुषुम्ना है, उसके भीतर प्राणवायुका प्रवेश होनेपर नादका प्रकट होना आरम्भ होता है, शनैः-शनैः अनहदको सुरतके बलसे दक्षिण कानसे सुनते जाना चाहिये। अभ्यासकी पक्व अवस्थामें फल यह होगा कि कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत होकर ब्रह्मज्ञान भी करा देगी। अन्तमें कुण्डलिनी शक्ति भी ब्रह्ममें लय हो जायगी। जीवदशा नष्ट होकर ब्रह्मपद प्राप्त होगा। कुण्डलिनी जागकर ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि और रुद्रग्रन्थिको भेद करके अनेक प्रकारके चमत्कार दिखाती है। जबतक कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत नहीं होती, तबतक मनुष्योंका ज्ञान भ्रमात्मक और संशययुक्त ही रहता है। अनुभवरहित शास्त्रीय ज्ञान नक्शेकी बम्बईके तुल्य है, और कुण्डलिनी जागरणके बादका अनुभवी ज्ञान ऐसा है जैसे किसीने आठ महीने घूम-घूमकर बम्बईकी गली-गली देखी हो। इसी कारणसे चतुर साधकोंको चाहिये कि योगानुभवी सद्गुरुकी शरण लेकर कुण्डलिनी जाग्रत करें, इसके जागनेपर ब्रह्मका सम्यक् ज्ञान करामलकवत् होकर मुक्ति प्राप्त होगी। दृश्यरूपी भ्रम, दृश्यके देखते रहनेपर भी दुःखदायी न रहेगा।

त्रिबन्ध

नीचे लिखे हुए हठयोगके साधन बहुत ही लाभदायक हैं। इन साधनोंसे शरीरकी नीरोगता, भजनमें निर्विघ्नता, प्राण-अपानकी समता, बिन्दुजय इत्यादि अनेक लाभ होते हैं। हठयोगके चौरासी आसनोंमें सिद्धासन और पद्मासन मुख्य हैं, सिद्धासनकी पक्व अवस्थामें अपान प्राणमें मिल जायगा, योनिके पीडनसे अग्नि दीप्त होगी, स्वप्नदोष तो कभी होगा ही नहीं, तीनों बन्ध इस आसनमें लगाने ही पड़ते हैं, इससे बन्धोंका अभ्यास भी हो जायगा। सिद्धासनके समय मूल बन्ध और खेचरी मुद्रा करनेसे अपानवायु प्राणवायुमें मिल जायगा। बद्ध पद्मासनसे सब रोगोंका नाश और बहत्तर हजार नाडियोंका मल साफ हो जायगा। प्राणायाम और तीन बन्धोंसे यह लाभ है—

प्राणायामेन युक्तेन सर्वरोगक्षयो भवेत्।
अयुक्ताभ्यासयोगेन सर्वरोगस्य सम्भवः॥
प्राणायामैर्दहेद्दोषान्धारणाभिश्च किल्बिषम्।
प्रत्याहारेण संसर्गान् ध्यानेनानीश्वरान्गुणान्॥
समाधिना निर्लिप्तं च मुक्तिरेव न संशयः।
दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्॥
न बहिः प्राण आयाति देहस्य मरणं कुतः।
केवले कुम्भके सिद्धे किं न सिद्ध्यति भूतले॥

गुरुगम्य प्राणायाम करनेसे सब रोग नष्ट होते हैं। प्राणायाममें गलती होनेसे सब रोगोंके होनेकी सम्भावना है। प्राणायामके सम्यक् होनेसे, और वात, पित्त, कफ समतामें रहनेसे शरीर नीरोग रहता है। कुम्भकमें मन मलरहित हो जाता है। धारणासे पापोंका नाश होता है, प्रत्याहारसे इन्द्रियोंका जो विषयोंसे संसर्ग है, वह छूट जाता है। ध्यानसे परमात्माका ज्ञान होता है, समाधिसे निर्लिप्त केवली भावरूप मुक्तिको प्राप्त हो जाता है। जैसे सोना अग्निमें तपानेसे मैलको छोड़कर शुद्ध हो जाता है, वैसे ही प्राणायामरूपी वायुनिरोधसे इन्द्रियाँ प्रमादरूपी अवगुण छोड़कर शुद्ध हो जाती हैं। जिस योगीका प्राण

बहिर्गमन ही नहीं करता उसकी मृत्यु कैसी ? जिस योगी-का केवल कुम्भक सिद्ध हो गया, उसको कुछ भी दुर्लभ नहीं है । मराठी भाषाके योगग्रन्थमें एकनाथजीने लिखा है—

प्राणवायूचें धारण तेंचि स्वच्छंद मृत्यूचें लक्षण ।

'जिस योगीने प्राणवायु अपने वशमें करके केवल कुम्भककी सिद्धि कर ली है, उसकी इच्छामृत्यु होती है ।' देह रक्खे या न रक्खे, यह उसकी इच्छाके अधीन है । जैसे भीष्मपितामहने अपनी देहको दक्षिणायनमें न त्यागकर, अपने इच्छानुसार उत्तरायणमें त्यागा । यह प्राणविद्याकी महिमा है । जहाँतक प्राणवायु कुम्भकसे निरुद्ध है, वहाँतक मन भी वृत्तिरहित है, और दृष्टि भी भ्रकुटीमें अचल है । ऐसी अवस्थामें कालका भय नहीं है । चरणदासजीने इसी प्राणायामकी महिमा नीचे लिखे शब्दोंमें कही है—

प्राणायाम बड़ा तप भाई । प्राणायाम सम बल नहीं कोई ॥
प्राणवायुकूँ यह वस लावे । मनकूँ निश्चल कर ठहरावे ॥
आयुर्दाको यही बढावे । तनमें रोग रहन नहिं पावे ॥
मोक्षमार्गको यह पहुँचावे । चरनदास शुकदेव सुनावे ॥

प्राणायाम करते समय पूरकमें मूलबन्ध, कुम्भकमें जालन्धरबन्ध और रेचकमें उड्डियानबन्ध करना ही चाहिये । ये तीनों बन्ध गुरुसे ही सीखने चाहिये । लेख-परसे या पुस्तकोंमें देखकर करनेसे हानिकी सम्भावना है । बन्धोंसे ये लाभ हैं—

अपानप्राणयोरैक्यात् क्षयो मूत्रपुरीषयोः ।
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात् ॥
बद्धं मूलबिलं येन तेन विघ्नो विदारित॰ ।
अजरामरमाप्नोति यथा पञ्चमुखो हर॰ ॥

मूलबंध गुण ऐसा होई । वायु अधोगति जाय न कोई ॥
ऊर्ध्वरेता यासूँ सधे, दिन दिन आयु सवाई बढे ॥
योग माहीं यह है प्रधान । बूढी देह पलट होय जवान ॥
जठराग्नि बाढे अधिकाय । जो चाहै तौ बहुते खाय ॥
यासों कारज सब बनि आवे । रोग रक्तके सभी नसावे ॥
योगी पहिले यह आराधे । अपान वायुको नीके साधे ॥

'मूलबन्ध और खेचरीमुद्राके अभ्याससे अपान प्राणमें जाकर मिल जाता है, अग्निकी दीप्तिसे मल-मूत्र अल्प होता है, मूलबन्धके सतत अभ्याससे वृद्ध भी जवान-तुल्य हो जाता है । जिस साधकने मूलबन्ध पक्का कर लिया, उसके सब विघ्न मिट जाते हैं, और जैसे पञ्चमुख महादेवजी अजरामर हैं, वैसे ही केवल कुम्भक सिद्धिवाला योगी भी हो जाता है ।' जालन्धरबन्धसे यह लाभ है—

कण्ठसङ्कोचनं कृत्वा चिबुकं हृदये न्यसेत् ।
जालन्धरकृते बन्धे षोडशाधारबन्धनम् ॥
जालन्धरं महामुद्रा मृत्योश्च क्षयकारिणी ।

अपान वायुकूँ ऊपर लावे । प्राण वायु नीचे ले जावे ॥
जो पै यह साधन बनि आवे । योगी वृद्ध होन नहिं पावे ॥

जालन्धरबन्धमें ठोढीको नीचे झुकाकर हृदयके चार अङ्गुल ऊपर दृढ जमावे । इससे सोलह आधारोंका बन्धन होता है, जालन्धरबन्ध और महामुद्रा ये दोनों मृत्युको हटानेवाले हैं । अब उड्डियानबन्धसे लाभ सुनिये—

उदरे पश्चिमं स्थानं नाभेरूर्ध्वं च कारयेत् ।
उड्डीयानो ह्यसौ बन्धो मृत्युमातङ्गकेसरी ॥
अनेनैव विधानेन प्रयाति पवनो लयम् ।
ततो न जायते मृत्युर्जरारोगादिकं तथा ॥

प्राणायाममें रेचकके समय नाभि पीछे खींचकर मेरु-दण्डसे मिलाओ, इससे वायु सुषुम्नामें प्रवेश करेगा, अभ्यास करते-करते अन्तमें ब्रह्मरन्ध्रमें वायुका लय हो जायगा ।

ध्यान

करु मन नंदनँदनको ध्यान ।
यहि अवसर तोहिं फिर न मिलैगो, मेरौ कह्यौ अब मान ॥ १ ॥
घूँघरवारी अलकैं मुखपै, कुण्डल झलकत कान ।
नारायन अलसाने नैना, झूमत रूपनिधान ॥ २ ॥

—श्रीनारायण स्वामी

योग

(योगाचार्य श्रीश्रीमदवधूत श्रीज्ञानानन्ददेवजीके उपदेश)

१–शिवनामामृत व्याकरणके मतसे शिवके साथ जीवकी सन्धि हो सकती है, उसी सन्धिका नाम योग है। उस सन्धिकी अवस्थामे यद्यपि जीव शिवके साथ मिल जाता है, फिर भी दोनोंका पृथक्-पृथक् अस्तित्व रहता है। इस प्रकार सन्धिकी अवस्थामे जीवके अस्तित्वका लोप नहीं होता।

२–योग एक प्रकारकी शक्ति है, जिस शक्तिके प्रभावसे जीवात्मा परमात्माके साथ युक्त होता है। जीवात्मा-परमात्माकी युक्तावस्थाका नाम अध्यात्मयोग है। अध्यात्मयोग अनिर्वचनीय है, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता।

३–जिस शक्तिके प्रभावसे जीव और शिवका योग होता है, उसीको सन्ध्याशक्ति कहते हैं।

४–ब्रह्मसायुज्य निर्वाण भी नहीं है, लय भी नहीं है। सायुज्यका अर्थ है योग। दो विभिन्न चीजोंका परस्पर योग ही दोनोंका ऐक्य नहीं है। जीव-ब्रह्मका योग (सायुज्य) ही जीव-ब्रह्मका ऐक्य नहीं है।

५–लोहारकी भाथीकी आगसे लोहा आग हो जानेपर भी लोहा ही रहता है, वह केवल अन्य अवस्थापन्न लोहा हो जाता है। उसमेसे अग्निके बुझ जानेपर फिर लोहा ही रह जाता है। अग्नि रहनेपर दोनों मिले हुए हैं। इसी प्रकार जीवत्व और शिवत्व एक साथ रह सकते हैं। कभी योगावस्थामें जीवात्मा और परमात्मा एक हो जाते हैं, कभी अयोगावस्थामें दोनों अलग-अलग रहते है। लोहा जलकर जब अग्नि बन जाता है तब जो अवस्था होती है, उसी प्रकारकी अवस्था जीवात्माकी भी परमात्माके साथ योग होनेपर होती है।

६–आत्मा-परमात्मामें जो योग होता है, उसे आत्म-परमात्मयोग कहते हैं। उस योगकी अवस्थामें योगीको बाह्यचैतन्य बिल्कुल नहीं रहता।

७–जीवात्मा और परमात्माका जो ऐक्य है वही वास्तविक योगावस्था है। उस ऐक्यसे जो आनन्द प्राप्त होता है, उसी आनन्दको हम आध्यात्मिक मैथुन कह सकते हैं। उस मैथुनके प्रभावसे परमा शान्ति नाम्नी कन्या उत्पन्न होती है।

८–प्रधानतः दो प्रकारका मुक्तियोग बतलाया गया है—नित्यमुक्तियोग और अनित्यमुक्तियोग। नित्यमुक्तियोग दुर्लभ है, किन्तु अनित्यमुक्तियोग समय-समयपर किसी-किसी महात्माको प्राप्त होता है। परन्तु वह दीर्घकालतक स्थायी नहीं होता।

९–नाना प्रकारके योगके प्रभावसे नाना प्रकारकी घटनाएँ होती हैं। त्रिविध क्रियायोगके द्वारा सृजन, पालन और नाश होता है। योगके बिना कुछ भी नहीं होता।

१०–अधिक जप करनेसे, अधिक ध्यान करनेसे, अधिक हरि-सङ्कीर्तन करनेसे अथवा अधिक हरि-सङ्कीर्तन सुननेसे, अधिक परिमाणमे भगवान्‌के सम्बन्धमें अन्य किसी प्रकारका सङ्गीत गानेसे अथवा सुननेसे, भक्तोंका अधिक सङ्ग करनेसे, भक्तचरित्रका अधिक पर्यालोचन करनेसे, भगवद्भक्तिसम्बन्धी अधिक आलोचना करनेसे, भगवद्भक्ति और प्रेमसम्बन्धी किसी ग्रन्थका पाठ करने अथवा सुननेसे अथवा ज्ञानपूर्ण अनेक बातें सुननेसे मन स्थिर होकर एकाग्र हो जाता है।

११–जो योगकी साधना करते हैं, वे योग-साधक हैं; योगसिद्ध होनेपर साधकको योगी कह सकते हैं।

१२–योगसाधक और योगसिद्ध एक श्रेणीके नहीं हैं। योगसाधक साधना करते-करते योगके कुछ अलौकिक अनुभव प्राप्त करते हैं। परन्तु उन्हे उस समय योग-सम्बन्धी समस्त निगूढ़ तत्त्वोंको हृदयङ्गम करनेकी शक्ति नही होती। सिद्धयोगी योगके सम्बन्धमें सब कुछ जानते हैं। उनमें अलौकिक क्षमता—अद्भुत शक्ति होती है। वह कितनी ही असम्भव बातोंको सम्भव कर सकते हैं। उन्हें अद्भुत योगविभूतियाँ प्राप्त होती हैं।

१३–अत्यन्त ग्रीष्म-कालमे शरीरमे जलन होनेपर यदि सुशीतल जलमे स्नान किया जाय तो उससे शरीर जल नहीं हो जाता, किन्तु वह शीतलताकी शक्तिसे पूर्ण हो जाता है। इसी प्रकार जीवात्माका परमात्माके साथ अध्यात्म-योग होनेपर जीवात्मामें परमात्माकी शक्ति सञ्चारित होती है और वह परमात्मशक्तिसे पूर्ण होकर तन्मय हो जाता है।

१४–भावात्मक सम्बन्ध भी एक प्रकारका योग है। ईश्वरके साथ जिनका ऐसा योग है वे ही धन्य हैं।

१५–जिनका स्वभावतः परब्रह्मके साथ मनोयोग होता है, उनको किसी प्रकारका आसन-अभ्यास करनेकी आवश्यकता नहीं। वह अगको चाहे जैसे रखकर भी समाधिस्थ हो जाते हैं, वही उनका योगासन है।

१६–आत्मज्ञानके कारण जो योग होता है वह कैवल्यका कारण है।

१७–आजकल बहुत से लोग योगी नामसे प्रसिद्ध है, परन्तु वे वास्तविक योगी नहीं हैं। वास्तविक योगीको अतुल ऐश्वर्य और अनुपम विभूति प्राप्त होती है। उन्हे श्वास आदि कोई भी रोग नहीं होता। अग्निमें प्रवेश करनेपर भी अद्भुत सयमके बलसे, अग्नि उन्हें नहीं जलाती, जलमें प्रवेश करनेपर जल उन्हें नहीं डुबाता; तीखे कॉटोके ऊपर चलनेपर भी उनके पैरमें कॉटे नहीं गड़ते, सयमके प्रभावसे अस्त्र-प्रहार होनेपर भी वे घायल नहीं होते। योगी निर्भय होते है। योगी जीवन्मुक्त होते है। क्या किसी योगीके साथ किसी साधारण जीवकी तुलना हो सकती है? योगीकी शक्ति आश्चर्यजनक होती है।

१८–आठों सिद्धियाँ सिद्धयोगीको प्राप्त होती हैं। परमहस श्रीशङ्कराचार्यको भी अष्टसिद्धि प्राप्त थीं। आज-कलके अधिकांश दण्डी परमहस योगको पसन्द नहीं करते, उनमें जो सबसे उत्तम होते हैं, वे वैदिक उपनिषद्, वेदान्त, भगवद्गीता और श्रीशङ्कराचार्य प्रभृति वैदान्तिक महाशयोके वैदिक उपनिषद् और वेदान्तप्रतिपाद्य ग्रन्थ पढ़ते और सुनते हैं और उन्हीं पठित तथा श्रुत विषयोंका विचार करते हैं।

१९–दिव्य कर्मयोगके बिना दिव्य ज्ञानयोग, दिव्य भक्तियोग और दिव्य प्रेमयोग नहीं प्राप्त होता।

२०–कलियुगमें भक्तियोगमें शीघ्र सिद्धि प्राप्त होती है।

२१–स्नान करनेसे जिस प्रकार शरीर सर्वदा शीतल नहीं रहता, उसी प्रकार भक्तिमान् जीवात्मा भी सर्वदा तन्मय होकर नहीं रहता।

२२–योगाभ्यासके लिये शीतकाल ही उत्तम समय है।

२३–हठयोग, राजयोग और राजाधिराजयोगका अभ्यास करते-करते मनोयोग होता है। मनोयोग इस त्रिविध योगका सिद्धफल है।

२४–इन तीन योगोंके सिवा मनोयोग होनेके और-और उपाय भी हैं।

२५–मनका सयम करनेसे मन स्थिर होता है। मनके स्थिर होनेपर इष्टमें मनोयोग होता है।

२६–जिस प्रकार पातञ्जलयोगदर्शनमें पद्मासन आदि किसी आसनका निर्देश नहीं है, उसी प्रकार गीतामे भी किसी आसनका नाम और निर्देश नहीं है। इन दोनो प्रसिद्ध योगशास्त्रोंसे मालूम होता है कि किसी निर्दिष्ट आसनके बिना भी योगका अनुष्ठान हो सकता है।

२७–हठयोग एक प्रकारका व्यायाम है। हठयोगके अन्तर्गत नाना प्रकारके आसन और मुद्राएँ हैं।

२८–सब प्रकारका सोना, बैठना और खड़ा होना एक-एक प्रकारका आसन है।

२९–विविध आसनोंका अभ्यास करते समय गेरुआ कौपीन पहनना चाहिये अथवा नग्न रहना चाहिये।

३०–आसनका अभ्यास अत्यन्त निर्जन स्थानमें करना चाहिये।

३१–शिशु तथा बालक-बालिकाओंके सामने, विशेष-कर युवती स्त्रियोंके सामने किसी प्रकारका योगाभ्यास करना निषिद्ध है। उनके सामने किसी प्रकारका साधन-भजन नहीं करना चाहिये।

३२–वास्तविक योगीके उपदेशानुसार प्राणायामका अभ्यास करनेपर किसी प्रकारका भयङ्कर रोग नहीं होता, उसके द्वारा उन्नति ही होती है, बल्कि उसके द्वारा योगी होनेमें विशेष सहायता मिलती है।

३३–निःश्वास-प्रश्वासके साथ-साथ जीवका स्वभावतः ही सर्वदा रेचक-पूरक होता रहता है। परन्तु योगाभ्यासके समय इस साधारण नियमका उल्लङ्घन करके योगशास्त्रके नियमोंका अवलम्बन करना चाहिये।

३४–कुम्भक स्वाभाविक नहीं होता। योगियोंको उसका अभ्यास करना पड़ता है।

३५–योगदर्शनकी पद्धतिके अनुसार नासिका-रन्ध्रद्वारा शरीरके अन्दर वायु भरनेका नाम पूरक है। शरीरके भीतरकी वायुके रेचन अर्थात् निकालनेका नाम रेचक है। शरीरके अन्दर वायु रोककर धारण करनेका नाम कुम्भक है। कुम्भकमें शरीरके अन्दर वायु रोक देनेपर श्वास-

प्रश्वास भी बन्द हो जाता है। रेचक, पूरक और कुम्भक प्राणायामके प्रधान तीन अङ्ग हैं। प्राणायामके साथ-साथ ध्यान किया जाता है।

३६–प्रगाढ भगवच्चिन्तनको ध्यान कहते हैं।

३७–ध्यान दो प्रकारका है—साकारका ध्यान और निराकारका ध्यान। साकारके रूपका और निराकारके स्वरूप और गुणका ध्यान किया जाता है।

३८–साधनात्मक ध्यानानन्दके परे स्वाभाविक ध्यानानन्द है, और उसके भी बाद स्वाभाविक योगानन्द है। वह योगानन्द किसी-किसी योगीको समय-विशेषपर प्राप्त होता है और किसी-किसीको स्वाभाविक तौरपर नित्य लाभ होता ही है।

३९–राजयोग प्राणायाम है। प्राणायामके अन्तर्गत रेचक, पूरक और कुम्भक हैं। इन तीनोंकी साधना उत्तम रूपसे पूरी हो जानेपर त्राटककी आवश्यकता है।

४०–त्राटकका अभ्यास करनेके लिये सबसे पहले कुछ समयतक दीपशिखाकी ओर एकटक देखना चाहिये। सफेद पत्थर अथवा स्फटिकके शिवलिङ्गके अग्रभागको भी देखनेकी पद्धति है। इस प्रकार साधन करनेसे क्रमशः जब दृष्टि स्थिर होने लगे तब एकाग्रताके साथ नासापुटको देखना चाहिये। जब नासापुटपर अनायास दृष्टि स्थिर होने लगे तब भ्रूमध्यमें दृष्टि जमानी चाहिये। भ्रूमध्यको देखते-देखते दिव्यदृष्टि प्राप्त होती है। दिव्यदृष्टिके फलस्वरूप नेत्रोंकी ज्योति बढ़ती है। चाक्षुषी ज्योति बढ़नेपर कुछ भी अदृश्य नहीं रह जाता।

४१–अच्छी तरह त्राटकका अभ्यास हो जानेपर पहले आँखें बन्द करके ध्यानका अभ्यास करना चाहिये। यह अभ्यास हो जानेपर फिर खुली आँखोंसे ध्यान करना चाहिये। इस प्रकार ध्यानकी साधना करनेपर ध्यान-सिद्धि प्राप्त होती है। इसी सिद्धिका दूसरा नाम ध्यान-योग है।

४२–जैसे धर्मसम्बन्धी ग्रन्थोंके अतिरिक्त अन्यान्य ग्रन्थोंका अध्ययन करके भी तुम विद्वान् हो सकते हो। फिर पीछे उस उपार्जित विद्याके द्वारा कितनी ही धर्मसम्बन्धी पुस्तकोंकी रचना कर सकते हो। वैसे ही किसी जड मूर्ति या किसी कल्पित मूर्तिका ध्यान करते-करते ध्यान सिद्ध हो जानेपर उसके द्वारा सच्चिदानन्दका भी ध्यान हो सकता है।

४३–यदि किसीका पुत्र विदेशमें हो और बहुत दिनोंसे उसका समाचार न मिला हो तो उसको जैसे स्वभावतः ही चिन्ता होती है, अभ्यास करके वह चिन्ता नहीं की जाती, उसी तरह भगवान्‌के प्रति प्रेम होनेपर उनके विरह-में स्वभावतः ही चिन्ता उत्पन्न होती है। यह चिन्ता साधनात्मिका नहीं होती। उस चिन्ताको ही ध्यान कहा जा सकता है।

४४–पहले चित्तकी शुद्धि हुए बिना, चित्त निर्विकार हुए बिना समाधि नहीं हो सकती।

४५–चित्तशुद्धि होनेपर चित्त निर्विकार होता है। चित्त निर्विकार होनेपर शुद्ध भक्ति होती है। शुद्ध भक्तिके होनेपर यम, नियम, आसन, मुद्रा और प्राणायामके बिना भी समाधि हो सकती है।

४६–मन स्थिर होनेपर एकाग्रता होती है। एकाग्रता होनेपर समाधि होती है।

४७–सविकल्प समाधिमें केवल कण्ठश्वास और नाभि-श्वास रहता है। सविकल्प समाधिमें स्थित पुरुषकी नाडी मुमूर्षु व्यक्तिकी नाडीके सदृश हो जाती है। इस समाधि-अवस्थामें शरीरके जलने अथवा अन्य प्रकारसे विशेष कष्ट पहुँचनेपर अन्तःकरणमें उसका बोध होता है।

४८–खिलौनेका हाथी नामसे और बनावटसे हाथी होता है, परन्तु वास्तविक हाथी नहीं होता। उसी प्रकार निद्रा ही योगनिद्रा नहीं है। दोनोंमें बहुत बड़ा भेद है।

४९–समाधि-अवस्थाका एक नाम योगनिद्रा है।

५०–चक्षुस्थिरका अभ्यास करनेपर चक्षु स्थिर होता है। मरनेपर चक्षु स्थिर होता है। परन्तु अभ्यास करके क्या मरा जाता है? अथवा मरनेपर जो चक्षु स्थिर होता है वह क्या चक्षुका स्थिर होना है? अभ्यास करनेपर तुम्हें समाधि होगी? समाधि तो मृत्युके समान स्वाभाविक है। नींद क्या अभ्यासकी चीज है? वह तो स्वभावतः होती है। योगनिद्रा भी स्वभावतः होती है।

५१–जो योगी पूर्णरूपसे चैतन्यहीन हो जाता है, जिस योगीको इतना भी बोध नहीं रहता कि 'मैं हूँ', वही योगी योगनिद्रित है। उस योगीमें सब गुण और क्रियाशक्ति वर्तमान रहनेपर भी वह पूर्णरूपसे निर्गुण और निष्क्रिय है।

५२—निद्रावस्थामें 'मैं हूँ' इसका बोध न रहनेपर भी 'मैं' रहता है। मृत्यु होनेपर भी 'मैं हूँ' इसका बोध न रहनेपर 'मैं' रहता है। परन्तु योगनिद्रामें 'मैं' नहीं रहता। योगनिद्रा भङ्ग होनेपर 'मैं हूँ' ऐसा बोध होता है।

५३—चाहनेपर जिस तरह नींद नहीं आ जाती, उसी तरह चाहते ही समाधि नहीं लग जाती। नींद जिस तरह स्वभावतः आती है, उसी तरह समाधि भी स्वभावतः होती है। निद्रा अभ्याससे नहीं होती। आँख बन्द करनेसे ही निद्रावस्थाकी प्राप्ति नहीं होती। इसी तरह किसी प्रकारका आसन लगाकर आँख बन्द कर लेनेसे ही समाधिस्थ नहीं हुआ जाता।

५४—समाधिस्थ पुरुष मृत व्यक्तिकी तरह सुस्थिर, जड़की तरह अचल होता है।

५५—समाधिमें ब्रह्मके साथ मनोयोग होनेपर श्वास-प्रश्वासतक बन्द हो जाता है। उस समय रेचक, पूरक दोनों नहीं होते। इस प्रकारकी समाधिके जीवनमें योगीकी एक प्रकारसे मृत्यु हो जाती है और ब्रह्मसे उसके मनका वियोग होनेपर पुनः श्वास-प्रश्वास चलने लगता है, पुनः रेचक-पूरक होने लगता है। इस प्रकारकी समाधिकी स्थिति ब्रह्मकृपाका एक आश्चर्यजनक प्रमाण है।

५६—बधिर तो बहुत-से लोग होते हैं, किन्तु दिव्य बधिर कितने लोग हो सकते हैं? इसी तरह दिव्य अन्धे भी कितने लोग हो सकते हैं? समाधिस्थ पुरुषके अतिरिक्त दिव्य बधिर और दिव्य अन्ध दूसरा कोई नहीं है। लकवा मार जानेपर किसी-किसी मनुष्यका शरीर सुन्न हो जाता है; इसी तरह समाधिस्थ पुरुषका शरीर भी सुन्न और अवश हो जाता है, उनके इस प्रकारके शरीरको कोई स्पर्श करे तो उन्हें उस स्पर्शका बोध नहीं होता। उनको शरीरकी इस अवस्थाके कारण किसी प्रकारके कष्टका भी अनुभव नहीं होता। वह इस अवस्थामें सुख-दुःख आदि सब अवस्थाओंसे अतीत हो जाते हैं।

५७—समाधिस्थ होनेपर समस्त इन्द्रियोंकी शक्ति निष्क्रिय हो जाती है। वह पुरुष उस अवस्थामें निश्चल और निष्क्रिय हो जाता है, जीवन्मृत हो जाता है।

५८—जिनको निर्विकल्प समाधि होती है, उनके लिये आहारके विषयमें कोई विधि-निषेध नहीं रहता। उनको किसी प्रकारका आसन और मुद्रा नहीं करनी पड़ती। वह प्राणायाम अथवा ध्यान भी नहीं करते। वह सदानन्द, जीवन्मुक्त पुरुष हैं।

५९—निर्विकल्प समाधि होनेपर कण्ठश्वास और नाभिश्वासतक बन्द हो जाता है। यहाँतक कि उस अवस्थामें हाथकी नाडी भी स्थिर हो जाती है। मृत व्यक्तिके शरीरकी तरह सब अङ्ग ठण्डे हो जाते हैं। उसी अवस्थाको वास्तविक विदेह कैवल्यावस्था कहा जा सकता है। वह अवस्था जिनकी जब होती है, वह उस समय देहस्थ होनेपर भी देहस्थ नहीं हैं। उस अवस्थामें देहमें रहनेपर भी देहके साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं रहता। उस अवस्थामें उनकी देह जला देनेपर अथवा टुकड़े-टुकड़े करनेपर भी उनको कोई कष्ट मालूम नहीं होता।

(प्रेषक—श्रीउपेन्द्रचन्द्र दत्त)

विश्व-कल्याण-योग

(लेखक—श्रीअनन्तशङ्करजी कोल्हटकर बी० ए०)

'योगीश्वर याज्ञवल्क्यम्' कहकर जिनका अनुसरण ब्रह्मयज्ञके समय हम करते हैं, उन मुनि याज्ञवल्क्यका आदेश है—

अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्।

मानवमात्रका परम धर्म यही है कि योगसाधनसे आत्म-दर्शन करे। श्रुति माता भी कहती है—'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः।' परन्तु, परम कठिन योग-साधनका अनुष्ठान करना तथा सिद्धियोंके मोहसे अपने-आपको बचाकर, अन्तिम सफलता प्राप्त करना बड़ा ही दुस्तर है!

हमारा एकमात्र सहारा इसमें—भगवत्-शरणागति है। परमात्मा कहीं दूर तो नहीं हैं! हमारे हृन्मन्दिरमें ही विराजते हैं। सरलचित्तसे उन्हें पुकारो। उन्हींके बताये पथसे चलो।

मन और इन्द्रियोंका संयम करो। आत्म-तत्त्व एक ही है—ऐसी समबुद्धि धरो। भूतमात्रके हित-साधनमें प्रयत्नशील रहो और निश्चय रक्खो, तुम मुझे ही प्राप्त होगे। यही विश्व-कल्याण-योग है।

श्रीमच्छङ्कराचार्य और योग

(लेखक—श्रीसुब्रह्मण्य शर्मा)

श्रीमत् शङ्कराचार्यके वेदान्त-सिद्धान्तमें योगका कहाँ क्या उपयोग है, इस विषयमें विद्वानोंमें गहरा मतभेद है। कुछ लोगोंका यह ख्याल है कि योग तो श्रीशङ्करकी वेदान्त-प्रणालीका प्राण ही है, और कुछ इसके सर्वथा विपरीत यह समझते हैं कि योग या योगकी गुप्त बातोंसे आचार्यका कोई वास्ता ही नहीं है। इन दो मतोंमें उत्तर-दक्षिण ध्रुवोंका-सा अन्तर है। पर सच्ची बात यह मालूम होती है कि इस अन्तरके मध्यमें कहींपर सत्य छिपा हुआ है। इस लेखमें उसीको दिखानेका यत्न किया जायगा। और यह प्रयत्न प्रस्थानत्रयपर आचार्यके जो भाष्य हैं उन्हींके आधारपर होगा।

श्रीशाङ्कर अद्वैतमें योग देखनेवाले बार-बार यह कहा करते हैं कि अद्वैतकी सिद्धि बिना निर्विकल्प समाधिके हो ही नहीं सकती। विवेकचूडामणि-जैसे प्रकरण-ग्रन्थोंसे जो कि आचार्यकृत बताये जाते हैं, वे अपने मतकी पुष्टि करते हैं। इसके विरुद्ध अन्य प्रकरण-ग्रन्थोंसे प्रमाण दिये जा सकते हैं पर उसका विचार छोड़ दें तो भी प्रस्थानत्रयके भाष्योंसे ही यह बात पूर्णरूपसे प्रमाणित होती है कि आचार्य अपने इस तर्कसिद्ध और अखण्डनीय सिद्धान्तको कहीं भी छोड़नेको तैयार नहीं हैं कि आत्मा और अनात्माके 'इतरेतराध्यास' से उत्पन्न हुआ बन्ध ज्ञानसे ही छूटता है, और किसी भी उपायसे नहीं। बृहदारण्यकभाष्यसे हम नीचे एक अवतरण देते हैं जिससे बात आप ही खुल जायगी। प्रसङ्ग है 'आत्मन्येवोपासीत' आदि वाक्य 'अपूर्वविधि' बतलाते हैं या क्या है, इसकी चर्चाका। यहाँ श्रीमत् शङ्कराचार्य कहते हैं—

न च 'आत्मन्येवोपासीत' इत्यपूर्वविधिः। कस्मात् ? आत्मस्वरूपकथनानात्मप्रतिषेधवाक्यजनितविज्ञानव्यतिरेकेणार्थान्तरस्य कर्तव्यस्य मानसस्य बाह्यस्य वाभावात्।

अर्थात् 'यह अपूर्वविधि नहीं है, क्योंकि वाक्यसे आत्मविज्ञान होने और अनात्माका निरास होनेपर कुछ भी मानस या बाह्य कर्म नहीं रह जाता।' इस सिद्धान्तके विरोध-पक्षकी सब बातोंको काटकर आचार्य योगपक्षसे आनेवाली शङ्काकी खबर लेते हैं और उसका इस प्रकार समाधान करते हैं—

'निरोधस्तर्ह्यर्थान्तरमिति चेत्। चित्तवृत्तिनिरोधस्य वेदवाक्यजनितात्मविज्ञानादर्थान्तरत्वात्। तन्त्रान्तरेषु च कर्तव्यतयावगतत्वाद्विधेयत्वमिति चेत्, न, मोक्षसाधनत्वेनानवगमात्। न हि वेदान्तेषु ब्रह्मात्मविज्ञानादन्यत्परमपुरुषार्थसाधनत्वेनावगम्यते। 'आत्मानमेवावेत्तस्मात्तत्सर्वमभवत्,' 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' 'आचार्यवान् पुरुषो वेद' 'तस्य तावदेव चिरम्' 'अभयं हि वै ब्रह्म भवति य एवं वेद' इत्येवमादिश्रुतिशतेभ्यः।'

अर्थात् यह कहा जा सकता है कि निरोध तो इस ज्ञानसे भिन्न उपाय है। पर चित्तवृत्तिनिरोध वह आत्मज्ञान नहीं है जो वेदवाक्यसे होता है। यह चित्तवृत्तिनिरोध अन्य तन्त्रोंमें भी बताया है (जैसे सांख्य और योगमें)। इसलिये यहाँ भी उसका विधान हो सकता है, ऐसा प्रश्न हो तो यही उत्तर है कि ऐसा नहीं हो सकता। वेदान्त-श्रुतिमें ब्रह्मात्मज्ञानसे अन्यत् और कोई परम पुरुषार्थ-साधन नहीं बताया है। 'वह अपने आपको जानता था इसलिये उससे सब कुछ हुआ।' 'ब्रह्मविद् ही परम पदको पाता है।' 'जो परब्रह्मको निश्चयसे जानता है वह ब्रह्म ही हो जाता है,' 'जो आचार्यवान् होता है वह उसे जानता है,' 'तभीतक उसे प्रतीक्षा करनी होती है,' 'जो यह जानता है वह निर्भय ब्रह्म होता है' इत्यादि शत-शत श्रुतिवाक्योंसे यह सिद्ध है। (बृहदारण्यक० १।४।७)

यह अवतरण स्फटिक-सा स्वच्छ है। इससे यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य आत्मज्ञान और मुक्तिके बीचमें और कोई तीसरी चीज न आने देंगे।

तथापि योग या ध्यानका महत्त्व भी आचार्यके शिक्षा-सम्प्रदायमें कम नहीं है। जो लोग शुष्क बौद्धिक खेलको ही मुक्तिका एकमात्र द्वार समझे बैठे हैं उन्हें आचार्यपादसे उतनी ही निराशा होगी जितनी कि उन लोगोंको जो योगके स्तुति-स्तोत्र गाते फिरते हैं। आत्मज्ञान ही मुक्तिका प्रत्यक्ष साधन है, चित्तवृत्तिनिरोधरूप योगको आचार्य

आत्मज्ञानका-सा महत्त्व नहीं प्रदान करते, इतनी ही बात है, अन्यथा मनःसंयमरूप प्रारम्भिक साधनके तौरपर उसको भी आचार्य उपयोगी बतलाते हैं। इस विषयमें आचार्य इस प्रकार कथन करते हैं—

(१) **योगोऽप्यणिमाद्यैश्वर्यप्राप्तिफलः स्मर्यमाणो न शक्यते साहसमात्रेण प्रत्याख्यातुम्। श्रुतिश्च योगमाहात्म्यं प्रख्यापयति।**

अर्थात् योग भी जैसा कि स्मृतिने कहा है, अणिमादि ऐश्वर्यका देनेवाला है, इसलिये यह कहकर कि यह कुछ नहीं है, इसका तिरस्कार नहीं किया जा सकता। श्रुतिने भी योगकी महिमा गायी है। (ब्रह्मसूत्र-भाष्य १। ३। ३३)

(२) **'येन त्वंशेन न विरुद्ध्यते तेनेष्टमेव सांख्ययोगस्मृत्योः सावकाशत्वम्'**

अर्थात् जितने अंशमें सांख्ययोगस्मृतियोंका वेदान्तसे विरोध नहीं है उतने अंशमें उनका ग्रहण इष्ट है। (ब्रह्मसूत्र-भाष्य २। १। ३)

(३) **सम्यग्दर्शननिष्ठानां संन्यासिना सद्योमुक्तिरुक्ता।... अथेदानीं ध्यानयोगं सम्यग्दर्शनस्यान्तरङ्गं वक्ष्यामीति तस्य सूत्रस्थानीयान् श्लोकानुपदिशति स्म।**

अर्थात् सम्यग्दर्शननिष्ठ जो संन्यासी हैं उनके लिये सद्यो-(तत्काल) मुक्ति कही गयी। अब सम्यग्दर्शनके साधनरूप ध्यानयोगका विवरण करते हुए सूत्रस्थानीय श्लोक उपदेशसे कहते हैं। (भगवद्गीताभाष्य ५। २७)

अब माण्डूक्य-कारिकाके भाष्यसे एक अवतरण और देते हैं जिससे आचार्यका मत इस विषयमें और भी स्पष्ट हो जायगा, एक तरहसे रहस्य ही खुल जायगा—

येषां पुनः ब्रह्मस्वरूपव्यतिरेकेण रज्जुसर्पवत्कल्पितमेव मन इन्द्रियादि च न परमार्थतो विद्यते तेषां ब्रह्मस्वरूपाणामभयं मोक्षाख्या चाक्षया शान्तिः स्वभावत एव सिद्धा नान्यायत्ता नोपचारः कथञ्चनेत्यवोचाम। ये त्वतोऽन्ये योगिनो मार्गगा हीनमध्यमदृष्टयो मनोऽन्यदात्मव्यतिरिक्तमात्मसम्बन्धि पश्यन्ति तेषामात्मसत्यानुबोधरहितानां मनसो निग्रहायत्तमभयं सर्वेषां योगिनाम्। किं च दुःखक्षयोऽपि। न ह्यात्मसम्बन्धिनि मनसि प्रचलिते दुःखक्षयोऽस्त्यविवेकिनाम्। किं चात्मप्रबोधोऽपि मनोनिग्रहायत्त एव तथाक्षयापि मोक्षाख्या शान्तिस्तेषां मनोनिग्रहायत्तैव।

'जिनके मन, इन्द्रियादि रज्जु-सर्पवत् केवल कल्पित हैं, परमार्थतः ब्रह्मस्वरूपके अतिरिक्त हैं ही नहीं, जो ब्रह्मस्वरूप हो गये हैं उनके लिये अभय और मोक्ष नामकी अक्षय शान्ति एक ऐसी स्थिति है जो उनका स्वभाव ही है, उसके लिये उन्हें अन्य किसी सहारेकी आवश्यकता नहीं और इसलिये हमने कहा कि उन्हें बन्धनसे मुक्त होनेके लिये कुछ भी नहीं करना है। परन्तु जो इनसे भिन्न, योगी हैं और आत्मानुसन्धानके मार्गपर चल रहे हैं, जो हीन मध्यम दृष्टिसे मनको आत्मासे अलग आत्माका सम्बन्धी जानते हैं, ऐसे आत्मसत्यके अनुबोधसे रहित सब योगियोंका अभय मनोनिग्रहके ही अधीन है। उनका दुःखक्षय भी मनोनिरोधपर ही अवलम्बित है। आत्माका सम्बन्धी (और आत्मासे अलग) ऐसा जो मन है उसके क्षुब्ध होनेसे जो दुःख होता है उस अविवेकियोंके दुःखका (मनोनिग्रहके बिना) क्षय नहीं हो सकता। इसी प्रकार इनकी अक्षया शान्ति भी जिसे मुक्ति कहते हैं, मनोनिग्रहपर ही अवलम्बित है।'

अब यह बात स्पष्ट हो गयी होगी कि आचार्यने मुमुक्षुओंकी तीन कक्षाएँ की हैं। पहली कक्षा उन लोगोंकी है जिन्हें योग या अन्य किसी भी साधनाके सहारेकी आवश्यकता नहीं, क्योंकि उनका अन्तःकरण शुद्ध निर्मल सत्त्व है और उन्हें गुरुद्वारा उपदिष्ट होते ही अद्वितीय ब्रह्मका बोध हो जाता है। मध्यम और हीन दृष्टिवाले जो साधक हैं और जिनकी संख्या ही अधिक होती है उनके लिये योग और कर्मयोग भी नितान्त आवश्यक हैं और योगमें जो मनोनिग्रहका अभ्यासक्रम है वह उनके लिये अनिवार्य है। आचार्यके भिन्न-भिन्न भाष्योंमें, विशेषकर श्रीमद्भगवद्गीताके भाष्यमें इतस्ततः योगकी जो बातें मिलती हैं उन्हें तो हमारे ही जैसे सामान्य मुमुक्षुओंके लिये श्रीआचार्यचरणोंने दया करके कहा है, क्योंकि हम लोग परम ज्ञानके उस उच्चतम शिखरतक दुर्लभ परमहंसोंके समान उड़कर जा नहीं सकते और इसलिये हमें तो कर्मयोग और भक्तियोगके मार्गमें ही क्रमशः ऊपर उठना होगा, तब किसी दीर्घकालके बाद ब्रह्मनिष्ठके उस महाप्रासादका प्रवेशद्वार भी कभी मिलेगा।

बौद्धधर्ममें योग

(लेखक—डा० श्रीविनयतोष भट्टाचार्य, एम०ए०, पी-एच० डी०)

साधारण बोलचालमें तथा शास्त्रीय भाषामे भी 'योग' शब्दका अर्थ मेल अथवा सम्बन्ध जोडना है। पारिभाषिक भाषामें योग उस दर्शन-शास्त्रको कहते हैं जिसका ध्येय है जीवात्मा या व्यष्टि चेतनका परमात्मा या समष्टिचेतनके साथ, अथवा यों कहिये कि जीवका ईश्वरके साथ, सम्बन्ध स्थापित करना। बौद्धग्रन्थोंमें 'जीवात्मा' और 'परमात्मा' शब्दका प्रयोग नहीं हुआ है, उनके स्थानमें 'बोधिचित्त' और 'शून्य' शब्द व्यवहृत हुए हैं। बौद्धशास्त्रमें 'बोधिचित्त' एक प्रकारसे जीवात्मा अथवा व्यष्टि चेतनका ही वाचक है और 'शून्य' परमात्मा अथवा समष्टि चेतनका पर्याय है जिसमें 'शून्य', 'विज्ञान' और 'महासुख' ये तीन गुण माने गये हैं।

योग एक विशुद्ध रहस्यमय शास्त्र है जिसका आधार केवल निजी अनुभव है और भारतवर्षमें अति प्राचीन कालसे लोग यह मानते आये हैं कि सिद्धिप्राप्ति अथवा मोक्षलाभका योग एक बलवान् साधन है। जो लोग तर्ककी कसौटीसे इस बातको परीक्षा करना चाहते हैं कि योग-शास्त्रमें वर्णित सिद्धियोंमेंसे कोई-सी भी योगके द्वारा प्राप्त हो सकती है या नहीं अथवा उसके द्वारा जीवात्मा-का परमात्माके साथ सम्बन्ध स्थापित हो सकता है या नहीं, उन्हें सम्भवतः निराश ही होना पड़ेगा। क्योंकि तर्कके द्वारा विश्वके रहस्योंके एक सूक्ष्मतम अंशका ही उद्घाटन हो सकता है और यह शास्त्र अलौकिक है, अतः तर्ककी यहाँतक पहुँच नहीं है। कदाचित् ऐतिहासिक युगके पूर्वसे ही भारतीय जिज्ञासुओंका तर्कसे समाधान नहीं हो सका और इसीलिये यह देखनेमें आता है कि उन्होंने सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि एव अलौकिक साधनोंसे प्रकृतिके रहस्योंके भीतर प्रवेश करनेकी चेष्टा की है जिससे वे तर्कके द्वारा नहीं, अपितु अपने निजी अनुभवके सहारे उनका पता लगा सकें। उनकी दृष्टिमें रहस्यवाद तर्ककी परिधिको लाँघ जाता है।

भगवान् बुद्धके जीवनकालमें योगका सिक्का जम चुका था। लोग इस बातकी परवा न करके कि दार्शनिक गुत्थियोंको सन्तोषप्रद रीतिसे सुलझानेका कोई और मार्ग भी है या नहीं, योगका साधन किया करते थे।

उदाहरणतः हम देखते हैं कि स्वयं बुद्ध भगवान् घर छोड़कर बोधगयाके निर्जन वनमें जाते हैं और वहाँ 'आस्फानक समाधि' का अभ्यास करते हुए शरीरको इस प्रकार कसते हैं कि उनका आहार घटते-घटते चावलके एक दानेपर पहुँच जाता है। उन्हें बोध भी हुआ, किन्तु वह किस साधनसे हुआ, उनकी ऐकान्तिक तपोनिष्ठासे अथवा तपस्याके साधनको छोड़ देनेसे ? यह विचारणीय है। भगवान् बुद्धके प्रसङ्गमें तो, जो ईसामसीहसे लगभग ६०० वर्ष पूर्व हुए थे, यही कहना पड़ेगा कि तर्कको नीचा देखना पड़ा और रहस्यवादकी विजय हुई। बुद्धने अपने युगके सभी प्रसिद्ध तार्किकों एवं दार्शनिकोंके सामने अपनी शङ्काएँ रक्खीं, किन्तु किसीके उत्तरोंसे उनका समाधान नहीं हुआ। उन्हें तो आत्मनिरीक्षण एवं तपश्चर्यासे ही सिद्धि प्राप्ति हुई और इसीका उन्होंने उपदेश दिया।

इसमें कोई आश्चर्य नहीं है कि बहुत-से जिज्ञासुओं और श्रद्धालु पुरुषोंने बुद्धके उदाहरणसे उत्साहित होकर उन्हीं साधनोंको करना प्रारम्भ कर दिया जिनसे बुद्धको सिद्धि प्राप्त हुई थी। उस समयके इतिहाससे यह पता चलता है कि भगवान् बुद्धके कतिपय शिष्योंने उन्हीं साधनोंका सम्यक् प्रकारसे अनुष्ठान कर अनेक सिद्धियाँ प्राप्त कीं जिनसे उनके जीवनकालमें ही उनकी बड़ी ख्याति हो गयी। आधुनिक विद्वानोंका मत है कि योग-सूत्रोंके प्रणेता महर्षि पतञ्जलि शुङ्गवंशीय महाराज पुष्यमित्र-के समसामयिक थे जिनका काल ईसवी सन्की दूसरी शताब्दी माना जाता है। उनका यह मत शङ्कासे शून्य नहीं है, क्योंकि यह आवश्यक नहीं है कि व्याकरण महाभाष्यकार पतञ्जलि और योगसूत्रोंके प्रणेता एक ही व्यक्ति रहे हों। जब पतञ्जलिने ही पहले-पहल इस शास्त्रको सूत्रबद्ध किया और यदि वे बुद्धके परवर्ती थे तो फिर बुद्ध-को योगका ज्ञान कैसे हुआ और कैसे उन्होंने अपने युगके

अच्छे-से-अच्छे तार्किकोंसे उनका समाधान न हो सकनेपर उस योगका अभ्यास किया ?

जब बहुत-से जिज्ञासु, श्रद्धालु एवं विशिष्ट पुरुष किसी साधनामें प्रवृत्त होते हैं तो उनका यह आवश्यक कर्तव्य हो जाता है कि वे एक दूसरेके अनुभवोंका मिलान करें और इस प्रकार उन साधनाओंको शास्त्रका रूप दें। यह काम महर्षि पतञ्जलिके हिस्से पड़ा था (चाहे वे जो कोई रहे हों) जिन्होंने योगसूत्रमें योगशास्त्रकी उपयोगिताको सिद्ध करनेके लिये अनेक प्रमाण दिये और सिद्धि प्राप्त करनेके क्रियासाध्य उपाय बतलाये। उन्होंने स्पष्ट शब्दोंमें यह प्रतिज्ञा की है कि योगपद्धतिकी सहायतासे साधक लोग कल्पनातीत सिद्धियोंको प्राप्त कर सकते हैं, और मोक्षलाभ भी कर सकते हैं जिससे सारे दुःखोंकी निवृत्ति हो जाती है और संसारके बन्धनसे सदाके लिये छुटकारा मिल जाता है।

बौद्धधर्मने योगके सिद्धान्तोंको चुपचाप ग्रहण तो कर लिया, परन्तु उनका प्रचार जैसा ईसवी सन्‌की तीसरी शताब्दीमें हुआ वैसा उससे पहले नहीं हुआ। किन्तु बौद्ध लोग निश्चेष्ट होकर नहीं बैठ रहे। उनका एक ऐसा दल था जो छिपकर राजयोग एवं हठयोग दोनों प्रकारके योगोंकी साधना किया करता था और उन लोगोंने अपने सामूहिक अनुभवकी सहायतासे उन साधनाओंको शास्त्रका रूप देकर एक ऐसी पद्धतिका निर्माण किया जो पातञ्जलयोगपद्धतिसे बहुत कुछ मिलती है, बल्कि यों कहना चाहिये कि दोनोंमें बहुत कम अन्तर है। (राज) योग और हठयोगकी मूलभित्तिपर तन्त्रोंका निर्माण हुआ और तन्त्रोंकी सहायतासे यह शास्त्र सर्वाङ्गपूर्ण बन गया।

बौद्धोंकी (राज) योग एवं हठयोगसम्बन्धी साधनाओं एवं क्रियाओंका स्पष्ट दिग्दर्शन हमें पहले पहल 'गुह्यसमाज' नामक तन्त्रसे मिलता है और यह ग्रन्थ मेरे अनुमानसे ईसवी सन्‌की तीसरी शताब्दीका लिखा हुआ है जिसके लिये मेरे पास अनेक प्रमाण हैं। यह ग्रन्थ गायकवाड़ प्राच्य ग्रन्थमाला (Gaekwad's Oriental Series) का ५३ वाँ पुष्प है और जो लोग यह जानना चाहते हैं कि मेरे पास उसे तीसरी शताब्दीका लिखा हुआ माननेके लिये क्या प्रमाण है उनसे मेरा अनुरोध है कि वे उक्त ग्रन्थके साथ जोड़े हुए विस्तृत ग्रन्थपरिचयको ध्यानपूर्वक पढ़ें।

उक्त ग्रन्थका अठारहवाँ अध्याय इस दृष्टिसे बड़े महत्त्वका है कि उससे हमें बौद्धधर्ममें प्रचलित योग-साधनाओंका तथा उनके उद्देश्य एवं प्रयोजनका वास्तविक परिचय मिलता है। इस अध्यायमें केवल उन पारिभाषिक शब्दोंकी व्याख्या की गयी है जिनका बौद्धतन्त्रोंमें बहुत अधिक प्रयोग हुआ है। 'उपाय' शब्दकी व्याख्या करते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं कि उपायके सेवा, उपसाधन, साधन एवं महासाधन ये चार भेद हैं। इनमेंसे सेवाके सामान्य सेवा और उत्तम सेवा इस प्रकार दो अवान्तर भेद बताये गये हैं। सामान्य सेवाका दूसरा नाम वज्रचतुष्टय और उत्तम सेवाको 'ज्ञान सुधा' कहा गया है। किसी देवताविशेषके साक्षात्कारकी चतुर्विध प्रक्रियाका नाम वज्रचतुष्टय है और उनका क्रम नीचे लिखे अनुसार है—(१) शून्यताप्रत्यय, (२) शून्यताका बीजमन्त्रके रूपमें परिणाम, (३) बीजमन्त्रका देवताके आकारका बन जाना और (४) देवताका विग्रहरूपमें प्रकट होना।

उत्तम सेवाका स्वरूप बताते हुए गुह्यसमाजकार कहते हैं कि इस सेवामें सिद्धि प्राप्त करनेके लिये षडङ्ग-योगका साधन करना चाहिये। योगके इन छः अङ्गोंके नाम उसी ग्रन्थमें इस प्रकार उल्लिखित हैं—(१) प्रत्याहार, (२) ध्यान, (३) प्राणायाम, (४) धारणा, (५) अनुस्मृति और (६) समाधि।

प्रत्याहार उस क्रियाका नाम है जिसके द्वारा इन्द्रियोंका निग्रह किया जाता है। पाँच ध्यानी बुद्धोंके द्वारा पाँच इष्ट विषयोंपर मनको स्थिर करनेका नाम ध्यान है। इसका अर्थ सम्भवतः सत्ता (Being) के पाँच अवयवों अर्थात् रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञानपर, जो पाँच ध्यानी बुद्धोंद्वारा अधिष्ठित हैं, मनको एकाग्र करना है। इस ध्यानके पाँच अवान्तर भेद बताये गये हैं जिनके नाम हैं वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और एकाग्रता।

योगका तीसरा अङ्ग है प्राणायाम। गुह्यसमाजके अनुसार प्राणवायुके निरोधका नाम ही प्राणायाम है और इस प्राणवायुको पञ्चभूतात्मक अथवा पञ्चविध ज्ञानका स्वरूप माना गया है। इनकी नासिकाके अग्रभागपर स्थित एक पिण्डके रूपमें भावना की जाती है और फिर उनका पञ्चवर्णज्योतिको प्रसारित करनेवाले एक रत्नके रूपमें ध्यान किया जाता है।

चौथे अङ्गका नाम धारणा है जिसमे उपासकको अपने इष्टमन्त्रका हृदयकमलमे ध्यान करना होता है। धारणासे इन्द्रियोंका निग्रह भी होता है, उनकी पुनः एक रत्नके रूपमें भावना की जाती है और उसे प्राणविन्दुपर स्थापित किया जाता है। धारणाका श्रद्धापूर्वक दीर्घकालतक अभ्यास करनेपर 'निमित्त' अथवा चमत्कारपूर्ण चिह्न दृष्टिगोचर होने लगते है। ये पाँच प्रकारके होते हैं। प्रारम्भिक अवस्थामे मरीचिका (मृगतृष्णा) का चिह्न चित्ताकाशके सामने प्रकट होता है। दूसरी भूमिकामे धुएँका चिह्न और तीसरीमे जुगुनुओंका चिह्न व्यक्त होता है, इसके बाद तुरन्त ही चौथा चिह्न प्रकाशका नजर आता है और अन्तमें निरभ्र गगनके सदृश स्थिर प्रकाशका चिह्न दिखायी देता है।

गुह्यसमाजके अनुसार बौद्धयोगका पाँचवाँ अङ्ग अनुस्मृति है। अनुस्मृति उस पदार्थके अनवच्छिन्न ध्यानको कहते हैं जिसके निमित्त योगसाधनाका प्रारम्भ किया गया है। अनुस्मृतिका चिरकालतक अभ्यास करनेसे प्रतिभास (revelation) की उत्पत्ति होती है। 'प्रज्ञा' और 'उपाय' इन दो तत्त्वोके सयोगसे सृष्टिमें स्थित समस्त पदार्थ एक पिण्डके रूपमें अभिव्यक्त होते हैं। उस एक पिण्डके समस्त बाह्य प्रपञ्चका ध्यान करनेसे समाधिरूप अलौकिक ज्ञानकी अविलम्ब उपलब्धि हो जाती है।

गुह्यसमाजतन्त्रके अठारहवें अध्यायमे आगे चलकर उपसाधनोंकी व्याख्या की गयी है। उस प्रसङ्गमें यह लिखा है कि उपसाधनका साध्य देवताका साक्षात्कार है और साथ ही यह भी लिखा है कि उपसाधनोंका अभ्यास लगातार छः महीनेतक करना चाहिये और उसमे खान-पान तथा अन्य इच्छित पदार्थोंके सम्बन्धमें किसी बन्धनकी आवश्यकता नहीं है। यदि इस अवधिके भीतर उसे देवताका साक्षात्कार न हो तो साधकको चाहिये कि वह उसी अनुष्ठानको तीन बार करे। यदि इसपर भी देवता योगीके सामने प्रकट न हो और उसे बोधिलाभ न हो तब उसे अपने ध्येयकी प्राप्तिके लिये हठयोगका अभ्यास प्रारम्भ कर देना चाहिये और इससे उसे अवश्य ही सर्वज्ञता प्राप्त होगी।

इस अवसरपर यह कौतूहलपूर्ण प्रश्न सामने आता है कि तन्त्र और हठयोगमे परस्पर क्या सम्बन्ध है। ऊपर कही हुई बातोंसे यही समझमें आता है कि गुह्यसमाजकारने हठयोगको देवताके साक्षात्कारका अन्तिम उपाय बताया है—जब अन्य किसी उपायसे ऐसा न हो सके तभी इसका अभ्यास करनेको कहा गया है। इससे यह बात स्पष्टरूपसे ध्यानमें आ जाती है कि तान्त्रिक उपसाधनका आधार हठयोग है और उत्तम सेवाका आलम्बन राजयोग है। इस प्रकार तन्त्रको राजयोग और हठयोगसे पृथक् करना कठिन है। गुह्यसमाजमे इस बातको खूब स्पष्ट कर दिया गया है कि तान्त्रिक साधना करनेके लिये यह आवश्यक है कि साधक पहले (राज) योग एव हठयोगके रहस्योंसे परिचित हो ले। अथवा, दूसरे शब्दोंमे यों कह सकते हैं कि तन्त्रशास्त्रके रहस्योमे प्रवेशकर उन्हे समझनेकी चेष्टा करनेके पूर्व साधकको चाहिये कि वह पहले (राज) योग और हठयोगमें निष्णात हो जाय। इन सब बातोंसे हम इस परिणामपर पहुँचते हैं कि जो लोग अदीक्षितोंको अथवा प्रारम्भिक साधकोंको मन्त्रसाधनाका उपदेश देते है अथवा जो स्वय योगमें निष्णात हुए विना ही इस साधनाको करने लग जाते हैं वे सर्वथा भूलमे हैं और शास्त्रीय रहस्यसे अपरिचित हैं।

इस बातको लोग भलीभाँति जानते हैं कि हठयोगविद्यामें पारंगत होनेके लिये बहुत समय अपेक्षित है। हठयोगके अभ्याससे मनुष्य ऐसे अनेकों कार्य कर सकता है जो साधारण मनुष्योंके लिये शक्य नहीं है। उदाहरणतः हठयोगी जब चाहे तब श्वासको निरोध कर सकता है तथा रक्तकी गतिको बन्द कर सकता है। वह कई दिनोतक ही नहीं, कई महीनोंतक पृथ्वीके अन्दर समाधिस्थ होकर रह सकता है। कई हठयोगी अपनी अँतड़ियाँतक बाहर निकाल लेते हैं। परन्तु एक सिद्ध हठयोगीने, जिनसे मिलनेका मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ था, मुझे स्वय यह कहा कि हठयोगियोंको असाधारण शारीरिक शक्तियाँ अवश्य प्राप्त हो जाती हैं, किन्तु विना तान्त्रिक साधना अथवा राजयोगका अभ्यास किये उन्हें मानसिक अथवा आध्यात्मिक शक्तियाँ प्राप्त नहीं हो सकतीं। इससे यह बात सिद्ध हो जाती है कि तान्त्रिक साधना उन्हीं लोगोंके लिये अभिप्रेत है जो हठयोगके द्वारा प्राप्तव्य ध्येयसे आगे बढ़ना चाहते है। किन्तु जब साधकको तान्त्रिक साधनासे वाञ्छित सिद्धि प्राप्त होती न दीखे तो उसे समझ लेना चाहिये कि उसके स्थूल शरीरमें इतने विकार भरे पड़े हैं कि उन्हें हठयोगके द्वारा ही दूर करना होगा।

तन्त्रका प्रमुख अङ्ग 'साधन' अर्थात् वह क्रिया है जिसके द्वारा उपासक अपने इष्टदेवका दर्शन करनेके लिये उद्युक्त होता है, जिस इष्टदेवसे उसे वाञ्छित सिद्धि प्राप्त होती है। साधक किसी एकान्त स्थानमें जाकर 'साधन' नामक तान्त्रिक ग्रन्थोंमें निर्दिष्ट विधिके अनुसार कुछ कालतक अपने इष्टदेवका ध्यान करता है। इस प्रकारके २१२ साधन-ग्रन्थोंका एक संग्रह आलोचनात्मक पद्धतिसे सम्पादित होकर 'गायकवाड़ प्राच्यग्रन्थमाला' में प्रकाशित हुआ है। इन साधन-ग्रन्थोंमें उन आचार्योंने जो पहले उन-उन देवताओंका कष्टसाध्य एवं अनुमानतः दोषयुक्त पद्धतिसे साक्षात्कार कर चुके थे, सरल-से-सरल एवं निर्भ्रान्त उपाय बताये हैं जिनके द्वारा साधक बिना भूल किये उसी ध्येयको सहजहीमें प्राप्त कर सकता है। इन ग्रन्थोंके रचयिताओंका उन गोपनीय साधनोंके प्रकाश करनेमें जिनसे उन्हें सिद्धि प्राप्त हुई थी कोई निजी स्वार्थ नहीं था। उन्होंने केवल मानवसमाजके हितकी दृष्टिसे अथवा एक ऐसी विद्याको अमर बनानेके उद्देश्यसे ही ऐसा किया जिसके सम्बन्धमें उनकी यह धारणा थी कि इसे समुचित रीतिसे लेखबद्ध नहीं करेंगे तो उसका लोप ही हो जायगा।

जब साधक साधन-ग्रन्थोंमें बतायी हुई किसी विधिके अनुसार, अतिशय श्रद्धापूर्वक एवं सुदीर्घकालतक शून्यका ध्यान करता है तब उसका इष्टदेव उसके सामने झलक दिखाने लगता है। सर्वप्रथम उस देवताका बीजमन्त्र उसके मनोगोचर होता है जिसका वह साक्षात्कार करने चला है। वह बीजमन्त्र शीघ्र ही एक अस्पष्ट-सा आकार धारण कर लेता है और आगे चलकर, जब साधना पूर्ण होनेको होती है उस समय देवताकी अमित सुषमायुक्त तेजोमय मूर्ति विविध वर्णके मनोमोहक वस्त्र धारण किये तथा ठीक उसी प्रकारकी आकृति तथा शस्त्रास्त्रसे सुसज्जित होकर जैसा उस देवताके ध्यानमें वर्णन होता है उसके मानसिक नेत्रोंके सामने आविर्भूत होती है। इस देवताका एक बार साक्षात्कार हो जानेपर वह उपासकको कभी नहीं छोड़ता, बल्कि बार-बार उसपर कृपावृष्टि करता रहता है और उसे अधिकाधिक सिद्धियाँ प्रदान करता रहता है। ये सिद्धियाँ उसे उस देवताके साक्षात्कार-के फलरूपमें मिलती हैं; परन्तु उस साक्षात्कारलाभके लिये केवल तान्त्रिक साधनासे ही काम नहीं चलता, अपितु उपासकके लिये यह आवश्यक है कि वह राजयोग एवं हठयोगका भी ज्ञान एवं सिद्धि प्राप्त करे।

बौद्धयोगके परिशीलनके लिये आजीवन अध्ययन करनेकी आवश्यकता है। क्योंकि वह समुद्रकी भाँति अगाध है। प्रस्तुत निबन्धमें इस विषयको निःशेष करना मेरा उद्देश्य नहीं है, क्योंकि ऐसा करना मेरे लिये शरीरसे भी सम्भव नहीं है। मैंने इस योगकी कुछ दिशाओंका दिग्दर्शनमात्र कराया है और कुछ ऐसी बातोंपर विशेष लक्ष्य कराया है जिनके विषयमें बौद्ध और वैदिक योगमें खासा मतभेद है और जहाँ इन दोनों पद्धतियोंका समन्वय कर देनेसे महान् फलसिद्धि हो सकती है।

अन्तमें मैं पाठक एवं समीक्षक महोदयोंको पुनः स्मरण दिलाना चाहता हूँ कि योगमार्ग एक रहस्यमार्ग है, इसके परिणामोंको निजी अनुभवकी कसौटीपर कसना होता है। योग चाहे वह बौद्धयोग हो अथवा वैदिकयोग, एक ऐसा विषय है जो मानवतर्ककी पहुँचके बाहर है।

शुद्धस्वरूप

मन तुम लागहु सुद्ध सरूपे ॥ टेक ॥
तन मन धन न्यौछावरि वारो वेगि तजो भव कूपे ॥ १ ॥
सतगुरु कृपा तहाँ लै लावो जहाँ छाँह नहिं धूपे ॥ २ ॥
पढ़्या करम ध्यान सों फटको जोग जुगति करि सूपे ॥ ३ ॥
निर्मल भयो ज्ञान उँजियारो गूँग भयो लखि चूपे ॥ ४ ॥
भीखा दिव्य दृष्टि सों देखत सोहै बोलन मूँ पे ॥ ५ ॥

—भीखा साहब

बौद्धधर्ममें तन्त्रयोग

(लेखक—श्रीभगवतीप्रसादसिंहजी एम० ए० डिप्टी-कलेक्टर)

विद्वानोंका मत है कि महात्मा गौतमबुद्धके समयमे वैदिक यज्ञ-यागादि, पशुवलि तथा सकाम पुरश्चरणोंकी इतनी भरमार हो गयी थी कि साधारण जनता त्रस्त-सी होकर एक सरल तथा निष्काम धर्मके लिये उत्कण्ठित हो रही थी। इसी सामयिक उत्कण्ठा-को लेकर और करुणायुक्त सेवाभावसे प्रेरित होकर शाक्य-सिंहने बौद्धधर्मका प्रचार किया। उनके इस नवीन धर्ममें कोई भी साधारण व्यक्ति भिक्षु अथवा भिक्षुणीरूपसे दीक्षित हो सकता था। किन्तु बौद्धधर्ममे जो आचार-विचारसम्बन्धी किञ्चित् कठोर नियम बनाये गये थे वे परिपक्व बुद्धिवाले ज्ञानवान् सन्यासी-तुल्य व्यक्तिके लिये विशेषरूपसे उपयुक्त थे न कि अशिक्षित जनता तथा स्त्रीसमाजके लिये। प्राचीनतम बौद्धधर्ममें भक्तिभावना तथा उपासनाके लिये प्रायः कोई स्थान नहीं रक्खा गया। इन्हीं त्रुटियोंके कारण सिद्धार्थके निर्वाणके अनन्तर ही बौद्धजनतामें मतभेद प्रारम्भ हो गया। और इसी मत-भेदको यथासम्भव दूर करनेके लिये सुप्रसिद्ध चार बौद्ध-सगीतियों अथवा महासभाओंका[1] आयोजन किया गया।

महात्मा बुद्धका निर्वाण ईसवी पूर्व सन् ४८३ में माना जाता है। इसके छः वर्ष बाद ई० पू० सन् ४७७ में महाकाश्यप, उपालि, आनन्द आदि पॉच सौ भिक्षुओंने राजगृहमे प्रथम महासभा की। इस सगीतिमें बुद्धके विनय तथा धर्मसम्बन्धी सिद्धान्त सग्रह किये गये। और कुछ कालके लिये मतभेदकी शान्ति की गयी। परन्तु सौ वर्षोंमें इस विरोधभावने इतना जोर पकड़ा कि ई० पू० सन् ३७७ में दूसरी महासभा करनी पड़ी। इस सभामें बुद्धके उपदेशों तथा सिद्धान्तोंकी पुनरावृत्ति की गयी। किन्तु सम्पूर्ण सङ्घ इनको माननेके लिये तैयार न था। अतः विपक्षियोंने अलग अपनी सभा की। इसी समयसे मतभेद बराबर बढ़ता ही गया और कालान्तरमें बौद्ध-धर्ममे अठारह निकाय अथवा समुदाय पैदा हो गये।

सम्राट् अशोकके समयमें भिक्षुसङ्घमें आलस्य तथा दुराचारने अपना अड्डा जमा लिया था। इसी कारण मूल उपदेश तथा सिद्धान्तोंको माननेवाले (स्थविरवादी) बौद्धोंने ई० पू० सन् २४२ मे तृतीय सगीति की। इस बार इन पुराने बौद्धोंमें भी मतभेद हो गया और विपक्षी दलने अपनी सगीति अलग नालन्दामें की। इन विपक्षियोंको सर्वास्तिवादी कहते हैं और इन्हींके कारण कालान्तरमें नालन्दाकी इतनी सुप्रसिद्धि हुई।

उपर्युक्त तृतीय संगीतिके लगभग पचहत्तर वर्ष बाद मौर्य-साम्राज्यका अन्त होकर वैदिक मतानुयायी शुङ्गवशका राज्य प्रारम्भ हुआ। इसी शुङ्गवंशके प्रथम राजा पुष्यमित्रने दो अश्वमेध-यज्ञ किये। इस समय बौद्धोंपर अनेक अत्याचार होने लगे। अतः स्थविरवादी तो भागकर सॉंची चले गये और सर्वास्तिवादी मथुरा आ गये। मथुरामें सर्वास्तिवादियोंने अपने ग्रन्थ सस्कृत-भाषामें करा डाले, क्योंकि मूल बौद्धग्रन्थ पालीमें थे।

पचास-साठ वर्षोंमें मथुराकी काबुलवाली सड़कपर[1] स्थित होनेके कारण सर्वास्तिवादका प्रचार गान्धार (वर्तमान कन्धार) तक पहुँचा और सम्राट् कनिष्क भी उसके अनुयायी हो गये। इन्हीं कनिष्कके राजत्व-कालमें चतुर्थ सगीति जालन्धरमें हुई। इसके उपरान्त सर्वास्तिवादियोंमें वैभाषिक तथा सौत्रान्तिक दो सम्प्रदाय हो गये।

बौद्धधर्ममें निर्वाण अथवा मोक्षके तीन मार्ग बतलाये गये हैं। जो केवल स्वयं मुक्त होना चाहता है वह अर्हत् कहलाता है। जो कुछ और लोगोंकी मुक्तिके लिये भी परिश्रम करता है वह प्रत्येक-बुद्ध कहलाता है। और जो जगत्के मोक्षकी चेष्टा करते हुए निर्वाणपद प्राप्त करता है वह बोधिसत्त्व कहलाता है। ये तीनों मार्ग क्रमशः अर्हत्-यान, प्रत्येकबुद्धयान तथा बोधिसत्वयान कहलाते हैं।

---

१. इन चार महासभाओंके विस्तृत विवरणके लिये प० जनार्दन भट्टकृत 'बौद्धकालीन भारत' पृ० ३६६—३७० देखिये।

१. देखिये 'सरस्वती' जून १९२९ पृ० ६७८—६८४ (प्राचीन भारतकी सड़कें)।

अबतक मतभेद होते हुए भी सभी बौद्धनिकाय (सम्प्रदाय) इन तीनों मार्गोंको मानते थे और अधिकतर प्रवृत्ति त्याग तथा वैराग्यपर निर्भर होनेके कारण अर्हत्-यानकी ओर ही थी।

परन्तु कनिष्कके सामयिक महापण्डित अश्वघोष जो प्रसिद्ध कवि तथा दार्शनिक थे, उन्होंने एक नया मत सम्पादित किया कि बौद्धोंके लिये केवल बोधिसत्वयान ही सर्वश्रेष्ठ है। यहींसे महायानकी नींव पड़ी। इसका वर्णन आगे किया जायगा।

अश्वघोषके शिष्य सुप्रसिद्ध रासायनिक तथा बौद्ध-दार्शनिक नागार्जुन थे। इनके विषयमें अनेक आश्चर्य-जनक किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। कहा जाता है कि योगाभ्याससे इन्होंने बड़ी-बड़ी सिद्धियाँ प्राप्त कर ली थीं और इसी कारण इन्हें सिद्धनागार्जुनके नामसे पुकारा जाता था। इनके पूर्वके वैद्यकशास्त्रमें केवल सुश्रुत तथा चरकके ही ग्रन्थ मिलते हैं। हाँ, यदि योगसूत्रकार तथा महाभाष्य-कार महर्षि पतञ्जलिको लौहशास्त्रकार भी मान लें तो उनका नाम भी नागार्जुनसे पूर्व ही आता है।

नागार्जुनके विषयमें कहा जाता है कि उन्होंने रासायनिक ज्ञानसे लोहवेध (लोहेको सोना बनाने) मे सफलता प्राप्त की थी और रासायनिक समासोंसे ऐसे-ऐसे रसादिकी सृष्टि की थी कि जिनके कारण मनुष्य अमर-सा हो जाता है। स्वय नागार्जुनकी आयु ६०० वर्ष[2] कही जाती है। इस विषयमें यह मानना पड़ेगा कि आधुनिक पाश्चात्य वैद्यकशास्त्र सुवर्ण, पारद, अभ्रक तथा गन्धकके अनेकानेक प्रयोगोंसे अनभिज्ञ है। 'समराङ्गणसूत्रधार'[3] नामक बड़ौदेसे प्रकाशित प्राचीन ग्रन्थमें तो यहाँतक लिखा है कि पूर्वकालके वायुयान पारदसे चलते थे। नागार्जुनविषयक इन बातोंसे स्पष्ट है कि यूरोपीय इतिहास-के मध्ययुग (Middle Ages 100—1500 A D) में जो किमियागीरों (Alchemists)[1] का प्रयत्न Elixir of Life (अमृत) तथा Philosopher's Stone (पारस-पत्थर) के लिये बतलाया जाता है उसका मूल स्रोत भारत ही है।

नागार्जुनने अश्वघोषके बोधिसत्वयानसम्बन्धी सिद्धान्तको मानकर पूर्वप्रचलित 'प्रज्ञापारमिता' नामक दर्शनग्रन्थके आधारपर माध्यमिक अथवा शून्यवादी बौद्ध-सम्प्रदायकी सृष्टि की। कुछ विद्वानोंका मत है कि इसी शून्यवादका सुसंस्कृत रूपान्तर शङ्कराचार्यजीका मायावाद है। इसके अतिरिक्त मैत्रेयके योगाचारसम्प्रदायका भी विशेष प्रचार हुआ। ये ही दोनों मत (माध्यमिक तथा योगा-चारसम्प्रदाय) महायानके नामसे प्रसिद्ध है। महायान बौद्धधर्मका प्रचार तिब्बत, मङ्गोलिया, चीन तथा जापानमें अबतक पाया जाता है। वैभाषिक तथा सौत्रान्तिक सम्प्रदाय हीनयानके नामसे पुकारे जाते हैं और हीनयानका प्रचार सीलोन, ब्रह्मा तथा श्याममें है। हीनयानके ग्रन्थ पाली भाषामें हैं और महायानके संस्कृतमें।

स्वय गौतमबुद्धने भी ध्यानयोग (राजयोग) द्वारा बोधिवृक्षके नीचे ज्ञान प्राप्त किया था। बौद्ध 'ब्रह्मजालसुत्त' तथा 'आटानटीय सुत्त' में भी इस विषयका कुछ वर्णन मिलता है। अतः कोई आश्चर्यकी बात नहीं कि नागार्जुन-जैसे सिद्ध योगीका बौद्धधर्मसे सम्बन्ध होनेपर और माध्यमिक तथा योगाचारसम्प्रदायोंके प्रादुर्भूत होनेपर बौद्ध महायानसम्प्रदायमे मन्त्रयोग क्यों न प्रचलित हो। और वास्तवमे हुआ भी ऐसा ही, क्योंकि थोड़े ही समयके अनन्तर महायानके अन्तर्गत मन्त्रयानका प्रचार हुआ जो उग्र रूप धारणकर वर्तमान वज्रयानमें परिणत हो गया।

पतञ्जलिकृत योगदर्शनका सूत्र है—'योगश्चित्तवृत्ति-निरोधः' और इतने उथल-पुथलके बाद बौद्ध भिक्षुओंके लिये चित्तवृत्तिनिरोधकी परम आवश्यकता थी। अतः उनके लिये मन्त्रयोग ही उपयुक्त प्रतीत हुआ। आगे चलकर उपर्युक्त दर्शनके चतुर्थ पादमें कहा है—

जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः।

इनमेंसे जन्मपर किसीका वश नहीं। वह केवल

---

१ देखिये जयचन्द्र विद्यालङ्कारकृत 'भारतीय इतिहास-की रूपरेखा' भाग २ पृ० ९२४—९२६ और उन्हींका 'भारतीय वाङ्मयके अमररत्न' पृ० ३२—३५।

२. 'गङ्गा'का 'पुरातत्त्वाङ्क' पृ० २१८।

३. श्रीभोजदेवकृत 'समराङ्गणसूत्रधार' २ भाग Gaekwad Oriental Series, Baroda

१ इन Alchemists के विषयमें अधिक ज्ञानके लिये देखिये 'Alchemy Ancient and Modern' by Redgrove, William Rider and Son, London (1922)

बौद्धधर्ममें तन्त्रयोग

(लेखक—श्रीभगवतीप्रसादसिंहजी एम० ए० डिप्टी-कलेक्टर)
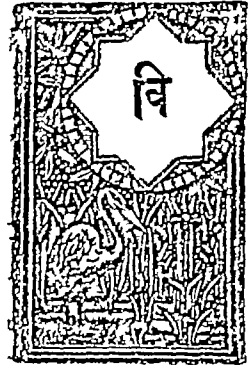
द्वानोंका मत है कि महात्मा गौतमबुद्धके समयमें वैदिक यज्ञ-यागादि, पशुबलि तथा सकाम पुरश्चरणोंकी इतनी भरमार हो गयी थी कि साधारण जनता त्रस्त-सी होकर एक सरल तथा निष्काम धर्मके लिये उत्कण्ठित हो रही थी। इसी सामयिक उत्कण्ठाको लेकर और करुणायुक्त सेवाभावसे प्रेरित होकर शाक्यसिंहने बौद्धधर्मका प्रचार किया। उनके इस नवीन धर्ममें कोई भी साधारण व्यक्ति भिक्षु अथवा भिक्षुणीरूपसे दीक्षित हो सकता था। किन्तु बौद्धधर्ममें जो आचार-विचारसम्बन्धी किञ्चित् कठोर नियम बनाये गये थे वे परिपक्व बुद्धिवाले ज्ञानवान् सन्यासी-तुल्य व्यक्तिके लिये विशेषरूपसे उपयुक्त थे न कि अशिक्षित जनता तथा स्त्रीसमाजके लिये। प्राचीनतम बौद्धधर्ममें भक्तिभावना तथा उपासनाके लिये प्रायः कोई स्थान नहीं रक्खा गया। इन्हीं त्रुटियोंके कारण सिद्धार्थके निर्वाणके अनन्तर ही बौद्धजनतामें मतभेद प्रारम्भ हो गया। और इसी मतभेदको यथासम्भव दूर करनेके लिये सुप्रसिद्ध चार बौद्ध-संगीतियों अथवा महासभाओंका[1] आयोजन किया गया।

महात्मा बुद्धका निर्वाण ईसवी पूर्व सन् ४८३ में माना जाता है। इसके छः वर्ष बाद ई० पू० सन् ४७७ में महाकाश्यप, उपालि, आनन्द आदि पाँच सौ भिक्षुओंने राजगृहमें प्रथम महासभा की। इस संगीतिमें बुद्धके विनय तथा धर्मसम्बन्धी सिद्धान्त संग्रह किये गये। और कुछ कालके लिये मतभेदकी शान्ति की गयी। परन्तु सौ वर्षोंमें इस विरोधभावने इतना ज़ोर पकड़ा कि ई० पू० सन् ३७७ में दूसरी महासभा करनी पड़ी। इस सभामें बुद्धके उपदेशों तथा सिद्धान्तोंकी पुनरावृत्ति की गयी। किन्तु सम्पूर्ण सङ्घ इनको माननेके लिये तैयार न था। अतः विपक्षियोंने अलग अपनी सभा की। इसी समयसे मतभेद बराबर बढ़ता ही गया और कालान्तरमें बौद्ध-धर्ममें अठारह निकाय अथवा समुदाय पैदा हो गये।

सम्राट् अशोकके समयमें भिक्षुसङ्घमें आलस्य तथा दुराचारने अपना अड्डा जमा लिया था। इसी कारण मूल उपदेश तथा सिद्धान्तोंको माननेवाले (स्थविरवादी) बौद्धोंने ई० पू० सन् २४२ में तृतीय संगीति की। इस बार इन पुराने बौद्धोंमें भी मतभेद हो गया और विपक्षी दलने अपनी संगीति अलग नालन्दामें की। इन विपक्षियोंको सर्वास्तिवादी कहते हैं और इन्हींके कारण कालान्तरमें नालन्दाकी इतनी सुप्रसिद्धि हुई।

उपर्युक्त तृतीय संगीतिके लगभग पचहत्तर वर्ष बाद मौर्य-साम्राज्यका अन्त होकर वैदिक मतानुयायी शुङ्गवंशका राज्य प्रारम्भ हुआ। इसी शुङ्गवंशके प्रथम राजा पुष्यमित्रने दो अश्वमेध-यज्ञ किये। इस समय बौद्धोंपर अनेक अत्याचार होने लगे। अतः स्थविरवादी तो भागकर साँची चले गये और सर्वास्तिवादी मथुरा आ गये। मथुरामें सर्वास्तिवादियोंने अपने ग्रन्थ संस्कृत-भाषामें करा डाले, क्योंकि मूल बौद्धग्रन्थ पालीमें थे।

पचास-साठ वर्षोंमें मथुराकी काबुलवाली सड़कपर[1] स्थित होनेके कारण सर्वास्तिवादका प्रचार गान्धार (वर्तमान कन्धार) तक पहुँचा और सम्राट् कनिष्क भी उसके अनुयायी हो गये। इन्हीं कनिष्कके राजत्व-कालमें चतुर्थ संगीति जालन्धरमें हुई। इसके उपरान्त सर्वास्तिवादियोंमें वैभाषिक तथा सौत्रान्तिक दो सम्प्रदाय हो गये।

बौद्धधर्ममें निर्वाण अथवा मोक्षके तीन मार्ग बतलाये गये हैं। जो केवल स्वयं मुक्त होना चाहता है वह अर्हत् कहलाता है। जो कुछ और लोगोंकी मुक्तिके लिये भी परिश्रम करता है वह प्रत्येक-बुद्ध कहलाता है। और जो जगत्के मोक्षकी चेष्टा करते हुए निर्वाणपद प्राप्त करता है वह बोधिसत्व कहलाता है। ये तीनों मार्ग क्रमशः अर्हत्-यान, प्रत्येकबुद्धयान तथा बोधिसत्वयान कहलाते हैं।

---

१. इन चार महासभाओंके विस्तृत विवरणके लिये प० जनार्दन भट्टकृत 'बौद्धकालीन भारत' पृ० ३६६—३७० देखिये।

१ देखिये 'सरस्वती' जून १९२९ पृ० ६७८—६८४ (प्राचीन भारतकी सड़कें)।

अबतक मतभेद होते हुए भी सभी बौद्धनिकाय (सम्प्रदाय) इन तीनों मार्गोंको मानते थे और अधिकतर प्रवृत्ति त्याग तथा वैराग्यपर निर्भर होनेके कारण अर्हत्-यानकी ओर ही थी।

परन्तु कनिष्कके सामयिक महापण्डित अश्वघोष जो प्रसिद्ध कवि तथा दार्शनिक थे, उन्होंने एक नया मत सम्पादित किया कि बौद्धोंके लिये केवल बोधिसत्वयान ही सर्वश्रेष्ठ है। यहींसे महायानकी नींव पड़ी। इसका वर्णन आगे किया जायगा।

अश्वघोषके शिष्य सुप्रसिद्ध रासायनिक तथा बौद्ध-दार्शनिक नागार्जुन थे। इनके विषयमे अनेक आश्चर्य-जनक किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। कहा जाता है कि योगाभ्याससे इन्होंने बड़ी-बड़ी सिद्धियाँ प्राप्त कर ली थीं और इसी कारण इन्हें सिद्धनागार्जुनके नामसे पुकारा जाता था। इनके पूर्वके वैद्यकशास्त्रमें केवल सुश्रुत तथा चरकके ही ग्रन्थ मिलते हैं। हाँ, यदि योगसूत्रकार तथा महाभाष्य-कार महर्षि पतञ्जलिको लौहशास्त्रकार भी मान लें तो उनका नाम भी नागार्जुनसे पूर्व ही आता है।

नागार्जुनके विषयमें कहा जाता है कि उन्होंने रासायनिक ज्ञानसे लोहवेध (लोहेको सोना बनाने) में सफलता प्राप्त की थी और रासायनिक समासोसे ऐसे-ऐसे रसादिकी सृष्टि की थी कि जिनके कारण मनुष्य अमर-सा हो जाता है। स्वयं नागार्जुनकी आयु ६०० वर्ष[२] कही जाती है। इस विषयमें यह मानना पड़ेगा कि आधुनिक पाश्चात्य वैद्यकशास्त्र सुवर्ण, पारद, अभ्रक तथा गन्धकके अनेकानेक प्रयोगोंसे अनभिज्ञ है। 'समराङ्गणसूत्रधार'[३] नामक बड़ौदेसे प्रकाशित प्राचीन ग्रन्थमें तो यहाँतक लिखा है कि पूर्वकालके वायुयान पारदसे चलते थे। नागार्जुनविषयक इन बातोंसे स्पष्ट है कि यूरोपीय इतिहास-के मध्ययुग (Middle Ages 100—1500 A D) में जो किमियागीरों (Alchemists)[१] का प्रयत्न Elixir of Life (अमृत) तथा Philosopher's Stone (पारस-पत्थर) के लिये बतलाया जाता है उसका मूल स्रोत भारत ही है।

नागार्जुनने अश्वघोषके बोधिसत्वयानसम्बन्धी सिद्धान्तको मानकर पूर्वप्रचलित 'प्रज्ञापारमिता' नामक दर्शनग्रन्थके आधारपर माध्यमिक अथवा शून्यवादी बौद्ध-सम्प्रदायकी सृष्टि की। कुछ विद्वानोंका मत है कि इसी शून्यवादका सुसंस्कृत रूपान्तर शङ्कराचार्यजीका मायावाद है। इसके अतिरिक्त मैत्रेयके योगाचारसम्प्रदायका भी विशेष प्रचार हुआ। ये ही दोनों मत (माध्यमिक तथा योगा-चारसम्प्रदाय) महायानके नामसे प्रसिद्ध हैं। महायान बौद्धधर्मका प्रचार तिब्बत, मङ्गोलिया, चीन तथा जापानमें अबतक पाया जाता है। वैभाषिक तथा सौत्रान्तिक सम्प्रदाय हीनयानके नामसे पुकारे जाते हैं और हीनयानका प्रचार सीलोन, ब्रह्मा तथा श्याममें है। हीनयानके ग्रन्थ पाली भाषामें हैं और महायानके संस्कृतमें।

स्वयं गौतमबुद्धने भी ध्यानयोग (राजयोग) द्वारा बोधिवृक्षके नीचे ज्ञान प्राप्त किया था। बौद्ध 'ब्रह्मजालसुत्त' तथा 'आटानटीय सुत्त' मे भी इस विषयका कुछ वर्णन मिलता है। अतः कोई आश्चर्यकी बात नहीं कि नागार्जुन-जैसे सिद्ध योगीका बौद्धधर्मसे सम्बन्ध होनेपर और माध्यमिक तथा योगाचारसम्प्रदायोंके प्रादुर्भूत होनेपर बौद्ध महायानसम्प्रदायमे मन्त्रयोग क्यों न प्रचलित हो। और वास्तवमें हुआ भी ऐसा ही, क्योंकि थोड़े ही समयके अनन्तर महायानके अन्तर्गत मन्त्रयानका प्रचार हुआ जो उग्र रूप धारणकर वर्तमान वज्रयानमें परिणत हो गया।

पतञ्जलिकृत योगदर्शनका सूत्र है—'योगश्चित्तवृत्ति-निरोधः' और इतने उथल-पुथलके बाद बौद्ध भिक्षुओंके लिये चित्तवृत्तिनिरोधकी परम आवश्यकता थी। अतः उनके लिये मन्त्रयोग ही उपयुक्त प्रतीत हुआ। आगे चलकर उपर्युक्त दर्शनके चतुर्थ पादमें कहा है—

जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः।

इनमेंसे जन्मपर किसीका वश नहीं। वह केवल

---

१. देखिये जयचन्द्र विद्यालङ्कारकृत 'भारतीय इतिहास-की रूपरेखा' भाग २ पृ० ९२४—९२६ और उन्हींका 'भारतीय वाङ्मयके अमररत्न' पृ० ३२—३५।

२. 'गङ्गा'का 'पुरातत्त्वाङ्क' पृ० २१८।

३. श्रीभोजदेवकृत 'समराङ्गणसूत्रधार.' २ भाग Gaekwad Oriental Series, Baroda

१ इन Alchemists के विषयमें अधिक ज्ञानके लिये देखिये 'Alchemy Ancient and Modern' by Redgrove, William Rider and Son, London (1922)

कर्मानुसार ही होता है और ओषधियोद्वारा सिद्धि प्राप्त करना केवल नागार्जुन-जैसे सिद्धोंहीके वशमे था। अतः जनसाधारणके लिये तृतीय उपाय मन्त्रका ही अवलम्बन सुलभ प्रतीत हुआ। मन्त्रयोगमें अक्षरोंके अधिष्ठाता देवताओंका ध्यान एक आवश्यक अङ्ग है। इसी कारण बौद्धधर्ममें इसी समयसे मूर्तियोंका बनाया जाना प्रारम्भ हुआ और वज्रसत्व, रत्नसम्भव, अमिताभ, अमोघसिद्धि तथा वैरोचन नामक पाँच ध्यानी बुद्धों, मञ्जुश्री, अवलोकितेश्वर, वज्रपाणि, आकाशगर्भ, क्षितिगर्भ, मैत्रेय, समन्तभद्र इत्यादि बोधिसत्वोंकी कल्पना प्रारम्भ हुई। इनके अतिरिक्त हिन्दुओंकी दश महाविद्याएँ तथा अनेकानेक अन्य देवी-देवता भी छद्मरूपसे बौद्धधर्ममें ले लिये गये। बौद्धोंकी प्रधान देवी तारा हैं।

उपर्युक्त विषयपर बौद्धसाहित्यमें अनेकानेक ग्रन्थ मिलते हैं पर विद्वानोंके मतमें इनमेंसे मुख्य ग्रन्थ[2] 'मञ्जुश्री मूलकल्प' 'गुह्यसमाज तन्त्र' 'साधनमाला' 'श्रीचक्रसंवर' 'सद्धर्मपुण्डरीक' तथा 'सुखावतीव्यूहसूत्र' इत्यादि हैं जो सब छप गये हैं। इनके अध्ययनसे बौद्धधर्मके मन्त्रयोग, साधनक्रम तथा अन्य उपक्रम और उनके साधना-भेद मालूम हो सकते हैं। इस छोटे-से लेखमें इन सबका सूक्ष्म विवरण भी देना असम्भव है। हालमें काशी-विद्यापीठद्वारा प्रकाशित बुद्धघोष (ईसाकी पाँचवीं शताब्दि) कृत् 'शमथयान अर्थात् समाधि' को देखनेसे तो प्रतीत होता है कि अनेक स्थलोंमे पतञ्जलिके योगदर्शनकी पूरी-की-पूरी नकल कर ली गयी है।

१ मन्त्रशास्त्रके विषयमें अधिक जानकारीके लिये देखिये। Woodroffe कृत "Garland of Letters", Ganesh & Co, Madras (1922).

२ 'मञ्जुश्रीमूलकल्प' (Trivandrum Sanskrit Series), 'गुह्यसमाज तन्त्र और साधनमाला' (Gaekwad Oriental Series), 'श्रीचक्रसंवर' (Tantrik Texts Vol VII Edited by Arthur Avalon, Thacker Spink & Co, Calcutta), 'सद्धर्मपुण्डरीक' (Sacred Books of the East Vol 12), 'सुखावती व्यूह' (Anecdota Oxoniensia Aryan Series Vol II इसमें बौद्धस्वर्गकी कल्पना है) 'सुखावती' पर एक बड़ा सुन्दर लेख आचार्य नरेन्द्रदेवने 'माधुरी' अक्टूबर १९२५ पृ० ४७१—४७६ (सुखावतीमार्ग) में लिखा है।

'गुह्यसमाजतन्त्र' के विषयमें कल्याणके पाठक 'शिवाङ्क' के 'देवताका स्वरूप क्या है ?' शीर्षक लेख (पृष्ठ तीन-सौ एकहत्तर—तीन सौ तिहत्तर) में सूक्ष्म विवरण पायेंगे। और 'श्रीचक्रसंवर' की भूमिकाका सार 'शक्तिअङ्क' (पृ० पाँच सौ चौआलीस—पाँच सौ सैंतालीस) में 'बौद्ध और जैनधर्ममें शक्ति-उपासना' शीर्षक लेखमें दिया गया है। 'श्रीचक्रसंवर' के कुछ अंशका अंग्रेजी अनुवाद Arthur Avalon सम्पादित Tantrik Texts के Volume VII में मिलेगा। उसके अध्ययनसे बौद्धमन्त्रयोगके महत्त्व तथा गाम्भीर्यका कुछ-कुछ आभास मिल सकेगा।

'गुह्यसमाजतन्त्र' में लिखा है कि जहाँ मन्त्रयोगकी गति न हो वहाँ तन्त्रोंका आधार लेना पड़ता है। इसी कारण मन्त्रयानमें तन्त्रयानका समावेश होना अवश्यम्भावी था। तन्त्रोंकी साधनविधि तथा वाम और दक्षिणमार्गके विषय गुह्य तथा रहस्यमय हैं। वाममार्गके[1] बीभत्स्य प्रतीत होनेवाले कृत्योंका यथार्थ मर्म उस मार्गका साधक ही जान सकता है। अनभिज्ञ दर्शक उनको देखकर तन्त्रोंको गर्ह्य बतलाने लगता है और अनभिज्ञ साधक उनका विपरीत प्रयोग करके नरकका भागी होता है और पतित हो जाता है। बौद्धमन्त्र-योगाचारमें वाममार्गका विशेष प्रयोग होने लगा था और अब भी होता है। अतः अनभिज्ञ जनतामें उसका प्रवेश होते ही अनर्थ होने लगा और भारतसे बौद्धधर्मके लोप होनेका यह एक मुख्य कारण हुआ। इस विषयमें अन्यत्र प्रकाशित 'चौरासी सिद्ध तथा नाथसम्प्रदाय' शीर्षक लेख देखिये। उपर्युक्त मन्त्र-तन्त्रयानको ही वज्रयान कहते हैं।

बौद्धोंका मुख्य मन्त्र है 'ॐ मणिपद्मे हुम्' जिससे सम्पूर्ण तिब्बत रात-दिन गूँज रहा है। कुछ विद्वानोंका विचार है कि मणिपद्मसे कुण्डलिनीयोगके मणिपूरक-चक्रका निर्देश है[2] और इस चक्रके देवता रुद्रका ध्यान

१ इस विषयपर एक बड़ा ही सुन्दर लेख Woodroffe कृत 'Shakti and Shakta' (Ganesh & Co Madras, third edn 1929) पृ० ५५३—६०७ (Pancha-Sattva the Secret Ritual) में मिलेगा।

२. देखिये 'सरस्वती' फरवरी १९२७ पृ० २४८—२५१ (बौद्धधर्मपर हिन्दू-धर्मकी छाप)।

बौद्धलोग अवलोकितेश्वर (अक्षोभ्य भैरव) रूपसे करते हैं । बौद्धोंके मन्त्र सस्कृतमे होते हैं और उनकी उपचार-विधि हिन्दुओंके तान्त्रिक प्रयोगोंसे बिल्कुल मिलती है ।

नागार्जुनका स्थान श्रीशैल कहा जाता है जो मद्रासके समीप है । सम्भव है, द्वितीय ज्योतिर्लिङ्गवाला श्रीशैल ही नागार्जुनके सिद्धिका केन्द्र हो । सस्कृत ग्रन्थोमें भी (उदाहरणार्थ 'हर्षचरित' 'मालतीमाधव') इस स्थानका एक तान्त्रिक केन्द्र होना पाया जाता है ।[1]

नालन्दाका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है । कहा जाता है कि सम्राट् अशोकने यहाँ एक बौद्धविश्वविद्यालय स्थापित किया । कुछ दिनो नागार्जुनने भी इस स्थानपर वास किया था । अतः सम्भव है कि उसी समयसे यहाँ तारादेवीकी तान्त्रिक उपासनाका प्रारम्भ हुआ हो । ईसाकी आठवीं शताब्दीमे किसी कारण इस विश्वविद्यालयका पतन हो गया । तबसे समीपस्थ भागलपुरके पासवाले विक्रमशिला-विश्वविद्यालयकी[3] ख्याति बढ़ गयी । विक्रमशिलाके विश्वविद्यालय तथा उदन्तपुरीके पुस्तकालयके जन्मदाता बगालके पालवशीय राजा थे । वे बौद्ध थे, अतः इनकी छत्रछायामे विक्रमशिला-वज्रयानकी साधनाका केन्द्र बन गया । इस विश्वविद्यालयके मध्यमे अवलोकितेश्वरका मन्दिर था और इस मन्दिरके चारो ओर तिरपन तान्त्रिक देवी-देवताओंके छोटे-छोटे मन्दिर थे । यहीसे वज्रयानका प्रवेश तिब्बतमे हुआ । इस विद्यालयमे अनेकानेक प्रकाण्ड बौद्ध तान्त्रिक हो गये हैं और सुप्रसिद्ध चौरासी सिद्धोंमेसे भी अनेकोका इस संस्थासे सम्बन्ध था ।

यहाँके लङ्काजयभद्रने ही उपर्युक्त 'श्रीचक्रसवर' नामक तन्त्र ग्रन्थ लिखा था जिसका उल्लेख बार-बार चौरासी सिद्धोंकी 'बानियों' में आता है । लीलाबज नामक आचार्यने अपने मन्त्रबलसे तुर्कोंके प्रथम आक्रमणको निष्फल कर दिया था । आचार्य कमलरक्षितने अपने योगबलसे पाँच सौ तुर्कोंको मार भगाया था । कहते हैं कि इन्होंने तुर्कसेनापर पूर्णकुम्भ फेंका जिसके कारण तुर्क लोग खून उगलते हुए जान लेकर भागे[5] । सन् १२०२ ई० में बख्तियार खिलजीने इस स्थानको लूटकर यहाँके विशाल ग्रन्थसंग्रहको जला डाला ।

विक्रमशिलाके ध्वंसके बाद बौद्ध तान्त्रिकोंका भारतसे लोप ही हो गया । उनमेंसे बहुतेरे तो तलवारके घाट उतारे गये, कुछ भागकर सीलोनकी ओर चले गये, और अधिकांश उत्तरकी ओर नेपाल तथा तिब्बतके अगम्य देशोंमें भाग गये । जो कुछ बौद्ध-तन्त्रका अवशेष भारतमे रहा वह आज भी मिथिलामें पाया जाता है, क्योंकि विक्रमशिलाके बाद ही नदिया तथा मिथिलाके विद्याकेन्द्रोंका उदय हुआ ।

इस समय वज्रयानका मुख्य गढ महाचीन (तिब्बत) है । तिब्बतमें बौद्धधर्मका प्रवेश[6] ईसाकी आठवीं शताब्दिके प्रारम्भमे हुआ । उसके पहले इस देशमे 'बोन' धर्म[7] प्रचलित था जो वैदिक शैवसम्प्रदायका विकृत रूप था । 'बोन' धर्मका मुख्य स्थान कैलाश पर्वत था और देशकी असाधारण प्राकृतिक स्थितिके कारण 'बोन' धर्ममे जादू-टोना इत्यादि बहुत बढ गया था अर्थात् तमःप्रधान देवोंकी सकाम उपासनाका प्राधान्य था । नालन्दाके महापण्डितोकी ख्याति सुनकर तिब्बतसम्राट्ने वहाँके आचार्य शान्तरक्षित (ई० सन् ६५०—७५०) को अपने देशमें बौद्धधर्मके प्रचारके लिये आमन्त्रित किया । आचार्य तिब्बत गये किन्तु उनके पहुँचते ही अनेक प्राकृतिक उपद्रव उठ खड़े हुए । अतः उनके परामर्शसे राजाने पद्मसम्भव नामक एक तान्त्रिकको भारतसे बुलवाया । इन्होंने अपने योगबलसे देशके सभी उग्र देवी-देवताओंको शान्त किया । वर्तमान तिब्बतीय लामाधर्म इन्हीं पद्मसम्भवकी मूल कृति है[8] । तिब्बतवाले इन्हे लामारिन्-

१ देखिये 'शिवाक' पृ० ५४९-५५० (श्रीमल्लिकार्जुन)

२. विस्तृत विवरणके लिये देखिये उपर्युक्त 'बौद्धकालीन भारत' पृ० ३७५—३७९ ।

३ देखिये 'सरस्वती' दिसम्बर १९१५ पृ० ३३९—३४१ (विक्रमशिलाका विश्वविद्यालय) ।

४ देखिये प० विश्वेश्वरनाथ रेउकृत 'भारतके प्राचीन राजवंश' (प्रथम भाग) पृ० १८१—१९७ ।

५ देखिये नोट नम्बर ३ वाला लेख ।

६. देखिये राहुल साकृत्यायनकृत 'तिब्बतमें सवा वर्ष' पृ० १८७—२२३ ।

७ देखिये 'Modern Review' August 1934 (Article on 'Home of Tantricism')

८ देखिये 'माधुरी' जून १९२६ पृ० ५७८—५८६ (विराट् भारत)

पोन्चे कहते हैं और भर्तृहरि तथा आल्हाकी तरह इनको अमर मानते हैं। आज भी घर-घर इनका चित्र पाया जाता है। आचार्य शान्तरक्षितने उदन्तपुरीके विहार-के नमूनेका एक विहार तिब्बतमें सम्-ये नामक स्थानमें बनवाया जो अब भी मौजूद है।

इसके ३०० वर्ष बाद दीपंकर श्रीज्ञान (ई० सन् ९८२-१०५४) नामक विक्रमशिलाके प्रकाण्ड तान्त्रिक आचार्य तिब्बतमें बुलाये गये क्योंकि बीचमें बौद्धधर्म शिथिल हो चला था। इन्होंने अनेकानेक भारतीय ग्रन्थोंका तिब्बती भाषामें अनुवाद कराया। ये अनुवाद अबतक विद्यमान हैं। भारतके मूल ग्रन्थ धर्मान्ध यवनोंके हाथ कभीके भस्म हो चुके।

स्वयं तिब्बतमें जे-चुन् मिल-रे-पा[1] नामक एक उत्कृष्ट तान्त्रिक (ई० सन् १०४०-११२३) हो गये हैं और उनके निर्दिष्ट मार्गका अनुसरण करते हुए अब भी सैकड़ों बौद्ध मान्त्रिक तथा तान्त्रिक एकान्त गुफाओंमें बीस-बीस क्या चालीस-चालीस वर्षतक एकान्तवास तथा तान्त्रिक साधनाएँ करते हैं। इनकी गुफाओंमें प्रविष्ट होनेपर द्वार सदाके लिये अथवा नियमित वर्षोंके लिये बन्द कर दिया जाता है और केवल एक छिद्रसे भोजन पहुँचानेका प्रबन्ध रहता है। न तो भीतर प्रकाश पहुँचता है न एकान्तवासी किसीसे भोजनके छिद्रद्वारा भाषण करता है[2]। मिल रे-पाका एकान्तवासस्थान लप-चीमें था। वहीं अब भी विशेषकर उपर्युक्त प्रकारसे एकान्तवास करते हुए अनेकानेक सिद्ध मिलेंगे। सन् १९२१ वाले एवरेस्ट आरोहणवाले दलको लप-चीमें ३०० या ४०० एकान्तवासी मिले थे[3]। और अपनी (Trans Himalaya) नामक पुस्तकके ३५ वें परिच्छेदमें Dr Sven Hedin (जिन्होंने सन् १९०६-७ में तिब्बतकी यात्रा की थी) इसी प्रकार-के एक एकान्तवासीका कल्पनायुक्त वर्णन किया है। ऐसे ही अनेक स्थान तिब्बतमें हैं। इनमें एक मुख्य स्थान ताशी लामाका निवासस्थान शीगर्ची है।

तिब्बतका राज्यतन्त्र ही लामा सिद्धोंके हाथमें है[1]। प्रधान शासक दलाई लामा कहे जाते हैं। उनके बाद शीगर्चीके ताशी लामाका स्थान है। देशभरमें प्रधान अधिकारी लामा ही हैं। इनमें अनेक पाखण्डी तथा दुराचारी भी हैं किन्तु इनके संरक्षणमें विस्मयकारी वज्रयान अथवा लामा-धर्म अब भी पूर्ववत् अक्षुण्ण चला आता है। देशभरमें अनेकानेक मठ विद्यमान हैं जहाँ प्राचीन प्रणालीसे शिक्षा दी जाती है और जिनमें लाखों लामा लोग (गृहस्थ इन मठोंमें भर्ती नहीं हो सकते) अब भी 'ॐ मणिपद्मे हुम्' के गम्भीर नादसे उस ज्योतिको जाग्रत् रख रहे हैं। इन लामाओंके हाथमें एक चरखी-सा यन्त्र होता है जिसमें कागजोंपर लिखे हुए हजारों 'ॐ मणिपद्मे हुम्' होते हैं। लामा लोग बराबर इस चरखीको घुमाया करते हैं और इससे निरन्तर मन्त्रजपका पुण्य माना जाता है। स्थान-स्थानपर यह मन्त्र पत्थरोंपर अथवा कपड़ोंके टुकड़ोंपर[2] लिखा मिलता है। संक्षेपमें यही वज्रयानकी गायत्री है।

यह तो हुई तिब्बतकी स्थिति। अब और उत्तरमें मङ्गोलियामें बढ़ जाइये तो यही क्रम और घोररूपमें मिलेगा। कारण यह कि प्राकृतिक स्थितिके कारण मङ्गोलिया आधुनिक सभ्यताके लिये तिब्बतकी अपेक्षा अधिक अगम्य है। याद रहे कि तिब्बतमें विदेशियों (जिनमें भारतीयोंकी भी गणना है) के प्रवेशके लिये कठोर निषेध अबतक चले जाते हैं।

गत महायुद्धके बाद रूसमें जो राज्यविप्लव हुआ उसमें बोलशेविकोंके हाथसे बचनेके लिये Count Ossendowsky नामक सज्जन मङ्गोलिया होते हुए तिब्बतकी ओर भागे। इस निर्वासनकालका विवरण उन्होंने 'Beasts, Men, and Gods'[3] नामक पुस्तकमें दिया है।

---

१. देखिये राहुल साङ्कृत्यायनकृत 'तिब्बतमें बौद्धधर्म' पृ० २८ (श्रीशिवप्रसादजी गुप्त, काशी)।

२. देखिये 'Trans-Himalaya' by Sven Hedin (vol II) Pp 1-12 (Macmillan & co, 1909 'Colonial Library' Edition)

३ देखिये 'सरस्वती' नवम्बर १९२२ पृ० २७७ (मौंट एवरेस्टका आरोहण)।

१. देखिये एकाई कावागुचीकृत 'तिब्बतमें तीन वर्ष' पृ० ३०१—३२२ (हिन्दी पुस्तक एजेंसी, कलकत्ता)।

२. इनको 'मानी' कहते हैं।

३. Beasts Men and Gods by F Ossendowsky Edward Arnold & Co, London (17 th edition 1923) See pages 87, 96, 113-121, 177—181, 218-219, 257—262, 264-265, 287—316

जोगपेनका किला

मेघाच्छादित गुरला मान्धाता
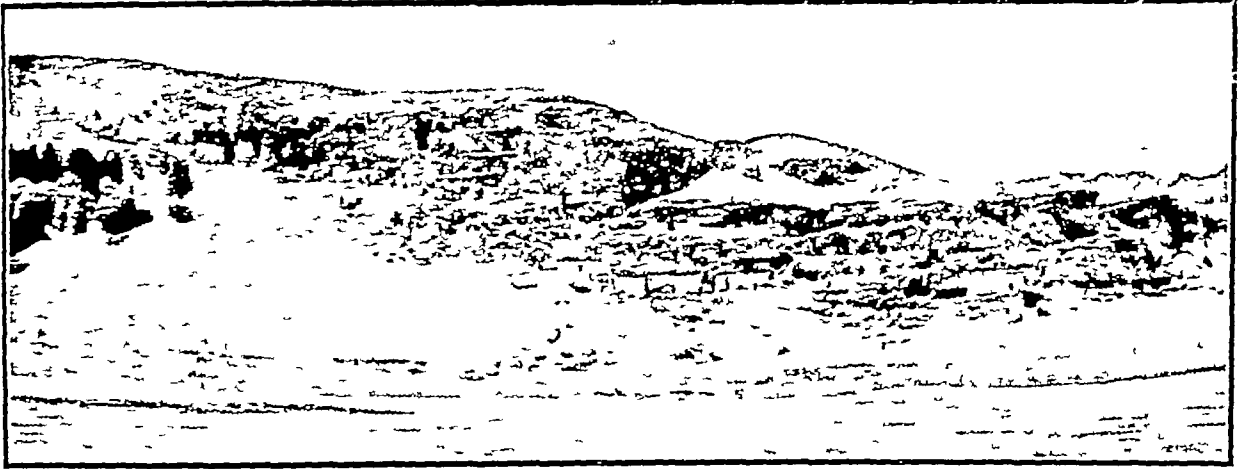
तकलकोटके राजमार्गका दृश्य

गुफागृह तथा पहाड़को काटकर बनाये हुए भवन बीच-बीचमे दिखायी देते है।
नदीमें अनेकों नर-नारी स्नान करते हैं।
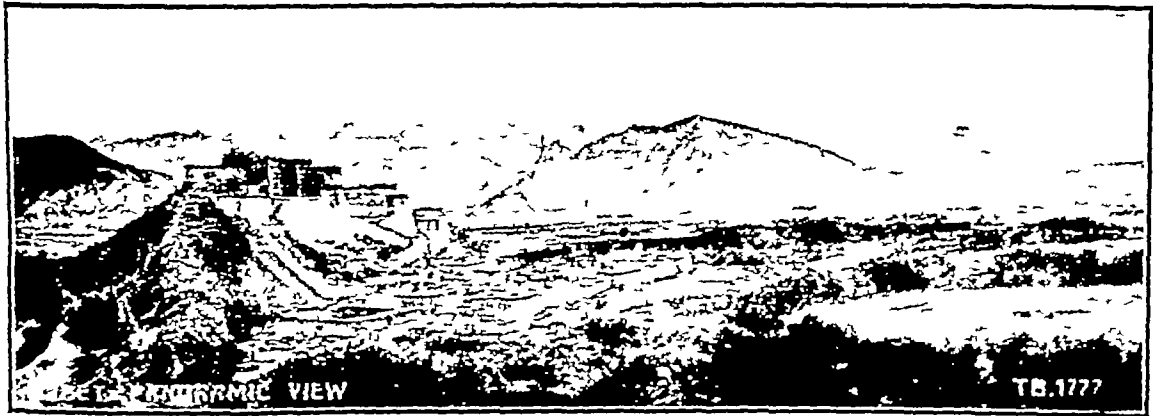
तिव्वतका विहंगम दृश्य
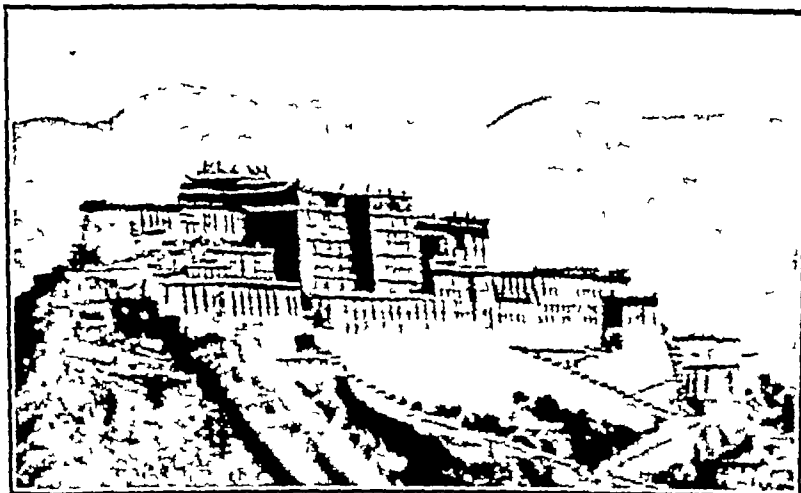
दलाईलामाका पोटाला राजमहल

ॐ मणिपद्मे हुं

लामा मन्त्रजपकी चर्खी घुमा रहे हैं

इस पुस्तकको देखनेसे वज्रयानकी अलौकिक शक्तियोंका कुछ अनुमान किया जा सकता है। हड्डियोंको अग्निमे तपाकर उनसे 'अरिष्ट' (योगदर्शन पा० ३ सू० २१) का ज्ञान प्राप्त करना, रक्तसे, ऑतोंसे अथवा Black Stone (काले पत्थर) से भविष्यका पता लगाना, व्योमविहरण, मूर्तियोंसे प्रश्नोत्तर पाना तथा विना अग्निके दीपकोंका अपने आप जल उठना इत्यादि अनेक चमत्कारोंका इस पुस्तकमे उल्लेख है। उर्गा नामक स्थानमें 'प्रत्यक्ष बुद्ध' (Living Bogdo) नामक महापुरोहित रहते हैं। जिस समय उनमें देवावेश होता है उस समय उनके चेहरेके चारों ओर प्रभामण्डल (Nimbus) दीख पड़ता है। एक मन्दिरमें इस ग्रन्थके लेखकको थोड़ी देरके लिये अपने सुदूरस्थित गृहका दृश्य दीख पड़ा। दूसरे स्थानपर एक लामाने एक पुरुषको मार डाला पर थोड़ी ही देरमें वह मृत व्यक्ति ज्यों-का-त्यों पुनर्जीवित हो गया, इत्यादि। इन वातोंको योगदर्शनके तृतीय पादके साथ देखिये तब ज्ञात होगा कि केवल जादू-टोना कह देनेसे शङ्कासमाधान नहीं होता। इन चमत्कारोंको करनेकी शक्ति आयी कहाँसे ? केवल मन्त्र और तन्त्रप्रक्रियाओंसे। हाँ, कहीं-कहीं अज्ञातरूपेण जन्मसिद्ध प्रयासे अथवा विशिष्ट जड़ी-बूटियोंके प्रयोगसे इन शक्तियोंकी प्राप्ति हो जाती है, क्योंकि महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—

जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः।

वैशाख-पूर्णिमाको तिब्बतमें 'बुद्धोत्सव'[1] मनाया जाता है। इसी तिथिको महात्मा बुद्धका जन्म हुआ था और इसीको निर्वाण। आश्चर्यकी बात है कि इसी दिन इनको बोध भी हुआ था। उत्तरीय तिब्बतमें इस तिथिको रात्रिके समय एक चबूतरेपर बड़े-बड़े बौद्ध सिद्धांचार्य प्रतिवर्ष एकत्रित होकर बुद्धका आवाहन करते हैं। कहा जाता है कि बुद्धदेव प्रकट होकर आशीर्वाद देते हैं और पुनः अन्तर्हित हो जाते हैं।

कुण्डलिनीसम्बन्धी लेखमें मैं लिख ही चुका हूँ कि महायानीय जितनी बुद्धप्रतिमाएँ मिलेंगी उनमेंसे अधिकांश (पॉचवीं शताब्दिके बादवाली) में बुद्ध धुँघराले बालवाले कनफटे योगीके रूपमे दिखलाये गये होंगे। ये घुँघराले केश सहस्रारचक्रके द्योतक हैं।

कहा जाता है कि सुप्रसिद्ध महाराणा जङ्गबहादुरके गुरु शंखेलामाने उन्हें वज्रोली मुद्राका अभ्यास कराया था।

हिमालयप्रान्त वैदिकमतानुयायी योगियोंका भी स्थान माना गया है। भर्तृहरि तथा आल्हा[2] अमर माने गये हैं और यह साधारण किंवदन्ती है कि वे हिमालयमें तपस्या कर रहे हैं।

अमीवर्षा

अमृत धारा देखिये पारब्रह्म वरिखन्त।
तेजपुञ्ज झिलिमिलि झरै, को साधूजन पीवन्त॥
रसहीमें रस वरिखिहै, धारा कोटि अनन्त।
तहँ मन निहचल राखिये, दादू सदा वसन्त॥
घन वादल विनि वरिखिहै, नीझर निरमल धार।
दादू भींजै आतमा, को साधू पीवनहार॥
ऐसा अचरज देखिया, विन वादल वरिखै मेह।
तहँ चित चातग ह्वै रहा, दादू अधिक सनेह॥

'दादूजी'

१. देखिये 'योगी' (पटना) का 'बुद्धाङ्क' पृ० २९—३२ (महात्मा बुद्ध और वैशाख-पूर्णिमा)।
२. देखिये 'कल्याण' पौष १९९० पृ० ९७४—९७७ (महोवा और उसके देवस्थान)।

जैनधर्ममें योगविद्या

(लेखक—मुनि श्रीहिमांशुविजयजी न्यायसाहित्यतीर्थ)

भारतके वैदिक, बौद्ध और जैन मुख्य दर्शन हैं। ये तीनो आत्मा, पुण्य-पाप, परलोक और मोक्ष इन तत्त्वोको मानते हैं, इसीलिये ये आस्तिकदर्शन हैं। प्रस्तुत लेखमें हम जैनदृष्टिसे योगके विषयमे कुछ लिखेगे।

'योग' शब्द 'युज्' धातुसे बना है। सस्कृतमे 'युज्'[2] धातु दो हैं। एकका अर्थ है जोड़ना और दूसरेका है 'समाधि'। इनमेसे 'जोड़ने' के अर्थवाले 'युज्' धातुको जैनाचार्योंने प्रस्तुत योगार्थमें स्वीकार किया है।

मोक्षेण योजनादेव योगो ह्यत्र निरुच्यते।

(श्रीयशोविजयकृता 'द्वात्रिंशिका' १०। १)

'मुक्खेण जोयणाओ जोगो'

(श्रीहरिभद्रसूरिकृता 'योगविंशका' १)

अर्थात् जिन-जिन साधनोसे आत्माकी शुद्धि और मोक्षका योग होता है उन सब साधनोंको योग कह सकते हैं।

पातञ्जलयोगदर्शनमें योगका लक्षण 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' कहा है। इसी लक्षणको उपाध्याय यशोविजयजीने इस प्रकार और भी विशद किया है—

समितिगुप्तिधारणं धर्मव्यापारत्वमेव योगत्वम्।

(पातञ्जलयोगदर्शनवृत्ति)

यतः समितिगुप्तीनां प्रपञ्चो योग उत्तमः।

(योगभेदद्वात्रिंशिका ३०)

अर्थात् मन, वचन, शरीरादिको सयत करनेवाला धर्मव्यापार ही योग है, क्योकि यही आत्माको उसके साध्य मोक्षके साथ जोड़ता है।

योगका शुद्ध अंग

इस प्रकार सामान्यतः सभी धार्मिक अनुष्ठान योगके अङ्ग हैं, तथापि विशेषरूपसे तो मोक्षप्राप्तिके समीपतमवर्त्ति पूर्वकालका ध्यान ही अव्यवहित उत्कृष्ट योग है। आचार्य भगवान् श्रीहरिभद्र सूरिने 'योगदृष्टिसमुच्चय' में कहा है—

अतस्तु योगो योगानां योगः पर उदाहृतः।
मोक्षयोजनभावेन सर्वसंन्यासलक्षणः ॥११॥

केवल उन ज्ञानी योगियोको जिन्हें जीवन्मुक्त कहते हैं, मोक्षस्थिति प्राप्त करनेके पूर्व मन, वाणी और शरीरकी समस्त क्रियाओंका निरोध[3] (सक्षय) करना पड़ता है, सभी बाह्य पदार्थोंका त्याग अर्थात् सर्वसन्यास करना पड़ता है। मोक्ष प्राप्त करनेमे जब अ इ उ ऋ ऌ पञ्चह्रस्वाक्षरउच्चारप्रमित काल शेष रहता है उस समयका जो शुक्ल ध्यान है वही सच्चा मोक्षसाधन अर्थात् योग है। इस अवस्थामे स्थित योगी ही सच्चा शुद्ध योगी है।[5] उसके सङ्कल्प-विकल्प विलीन हो जाते हैं। उसके विचारोंका रज, तम या सत्त्वगुणसे भी स्पर्श नहीं होता। अति अल्प समयमें ही शुक्ल ध्यानके द्वारा वह मुक्त हो जाता है। मुक्तको ही सिद्ध कहते हैं। यहाँ सम्पूर्ण कृतकृत्यता हो जाती है।

योगकी विशेष व्याख्या

जैन आगमोंमें योगका अर्थ मुख्यतया 'ध्यान' लिखा है। ध्यान मूलतः चार प्रकारका है—१ आर्त्त, २ रौद्र, ३ धर्म और ४ शुक्ल। इनमें आदिके दो ध्यान तम और रजोगुणविशिष्ट होनेके कारण योगमें अनुपयुक्त और प्रत्यूहकारी हैं। धर्मध्यान और शुक्लध्यान योगोपयोगी हैं। इनमें भी शुक्लध्यान अत्यन्त परिशुद्ध और अव्यवहित

---

१ देखिये सिद्ध हेमचन्द्र-व्याकरण लघुवृत्ति पृ० ४८४ हमारी सम्पादित आवृत्ति।

२. 'युजृपी योगे' गण ७ वॉं। 'युजि च समाधौ' गण ४ ...।

३ तत्रानिवृत्तिशब्दान्त समुच्छिन्नक्रियात्मकम्।
चतुर्थं भवति ध्यानमयोगिपरमेष्ठिन ॥१०५॥
समुच्छिन्ना क्रिया यत्र सूक्ष्मयोगात्मिकापि च।
समुच्छिन्नक्रिय प्रोक्त तद्द्वार मुक्तिवेश्मन ॥१०६॥
(गुणस्थान क्रमारोह)

४ अथायोगिगुणस्थाने तिष्ठतोऽस्य जिनेशितु।
लघुपञ्चाक्षरोच्चारप्रमितैव स्थितिर्भवेत् ॥१०४॥

५ मन, वाणी और शरीरकी वृत्तियोंको भी जैनपरिभाषामें 'योग' कहते हैं—'कायवाङ्मन कर्मयोग' (तत्त्वार्थसूत्र ६। १) इसी अर्थसे पराकोटिको प्राप्त शुद्ध योगीको 'अयोगी' कहा है। 'अयोगो योगाना योग पर उदाहृत' यह भी इसी दृष्टिसे कहा गया है।

मोक्षसाधन है। इसके द्वारा दुःखरूप काष्ठके सहस्रों अरण्य क्षणमात्रमें सर्वथा भस्म हो जाते हैं। इस विषयमें समाधि-शतक, ध्यानशतक, ध्यानविचार, ध्यानदीपिका, आवश्यक निर्युक्ति, अध्यात्मकल्पद्रुमटीका प्रभृति अनेक ग्रन्थ हैं।

त्रिविध योग

किसी भी वस्तुकी प्राप्तिके लिये उसपर अटल श्रद्धा होनी चाहिये। योगके लिये जो-जो कुछ आवश्यक है उसपर तथा जो पूर्णयोगी हैं उनपर परीक्षापूर्वक श्रद्धा रखना योगका आवश्यक अङ्ग है। इसको जैनदर्शनमें 'सम्यग्दर्शन' कहते हैं—'तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शनम्।' (तत्त्वार्थसूत्र १-२)। केवल विश्वास रखकर बैठ रहनेसे कुछ नहीं होता। विश्वासके साथ सम्प्रदायका रहस्य-ज्ञान भी परिपूर्ण रीतिसे होना चाहिये। इसको सम्यक्श्रुत होना कहते हैं। विश्वास और ज्ञान तो है, पर यदि चरित्र-शुद्धि नहीं है—राग-द्वेष-मोहादिसे आत्मा व्याप्त है तो करोड़ों वर्षोंमें भी मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिये 'सम्यक् चरित्र' होना चाहिये। यह ज्ञानदर्शनचरित्रात्मक 'त्रिविध योग' है। इसके पालनसे योग परिपुष्ट होता है और आत्माका आध्यात्मिक उत्कर्ष होता जाता है। योगकी पूर्णता ही मोक्षप्राप्ति कराती है। वैदिकदर्शनोंमें जैसे ब्रह्मसूत्र, गौतमसूत्र, कणादसूत्र आदि मौलिक ग्रन्थ हैं वैसे ही जैनदर्शनमें उमास्वातिकृत 'तत्त्वार्थाधिगमसूत्र' है, उसका प्रथम सूत्र इसी त्रिविध योगके विषयमें है—'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।' इसी सूत्रपर आगे सम्पूर्ण ग्रन्थ है जिसे 'मोक्षशास्त्र' भी कहते हैं।

चौदह गुणस्थान

जब आत्मा विकासकी दिशामें प्रयाण करता है तबसे मोक्ष प्राप्त होनेकी अवस्थातककी योग्यताके चौदह गुण जैन-आगमोंमें बताये हैं—(१) मिथ्यात्व, (२) सास्वादन, (३) मिश्र, (४) सम्यग्दर्शन, (५) देशविरति, (६) प्रमत्तश्रमणत्व, (७) अप्रमत्तश्रमणत्व, (८) अपूर्व-करण, (९) अनिवृत्ति, (१०) सूक्ष्म लोभ, (११) उपशान्तमोह, (१२) क्षीणमोह, (१३) सयोगी केवली और (१४) अयोगी केवली। पातञ्जलयोगकी आठ भूमिकाओंमें प्रथम भूमिका यम है। इस 'यम' से भी पूर्व सूक्ष्मरीत्या योगकी जो भूमिकाएँ होती हैं वे भी इन चौदह गुणस्थानोंमेंसे पूर्वके चार गुणस्थानोंमें परिगणित हुई हैं। 'गुणस्थानक्रमारोह' तथा कर्मग्रन्थ, कर्मप्रकृति, गोमटसार आदि ग्रन्थोंमें इस विषयका सूक्ष्म विवेचन है।

अष्ट दृष्टि

आचार्य हरिभद्र सूरिने योगकी आठ दृष्टियाँ बतायी हैं—

मित्रा तारा बला दीप्रा स्थिरा कान्ता प्रभा परा।
नामानि योगदृष्टीनां.................... ॥

पातञ्जलयोगके जो आठ अङ्ग हैं उनसे इन दृष्टियों-का सादृश्य है।

पञ्चविध योग

अर्वाचीन जैन न्याय-योग-साहित्यके अग्रणी उपाध्याय श्रीयशोविजयजीने पाँच प्रकारका एक अवान्तर योग भी बताया है—

अध्यात्मं भावनाध्यानं समता वृत्तिसंक्षयः।
योगः पञ्चविधः प्रोक्तः योगमार्गविशारदैः॥

(योगभेदद्वात्रिंशिका)

योगभेदद्वात्रिंशिकाके अतिरिक्त 'जैनदृष्टियोग' नामक गुजराती ग्रन्थमें भी इन पाँचों भेदोंका विशद विवेचन है।

त्रिविध योग

एक त्रिविध योग और है जो श्रीहरिभद्रयशोविजय आदिके ग्रन्थोंमें मिलता है—

इच्छां शास्त्रं च सामर्थ्यमाश्रित्य त्रिविधोऽप्ययम्।
गीयते योगशास्त्रज्ञैर्निर्व्याजं यो विधीयते॥

अष्टविध योग

महर्षि पतञ्जलि योगविद्याके महाप्राज्ञ आचार्य हुए। उन्होंने योगदर्शनमें योगके अङ्ग, लक्षण, परिभाषा, प्रकारादि जो कहे हैं उन्हें अनेक धर्मोंके विद्वानोंने माना और अपनाया है। पीछेके योगसाहित्यपर उन्हींके सूत्रोंकी गहरी छाप लगी हुई है। जैनाचार्योंने भी, अपनी संस्कृतिके अनुकूल, योगसूत्रोक्त नाम, भेद, स्वरूप आदि ग्रहण किये हैं, इसे कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता। आचार्य श्रीहेमचन्द्र सूरिकृत योगशास्त्रमें पातञ्जलयोग-दर्शनके यम-नियमादि अङ्गोंको ही क्रमसे गृहस्थधर्म, साधु-धर्म आदि कहा है। श्रीयशोविजयजीने भी आठ अङ्गोंका उल्लेख किया है। जैन योगी आनन्दघनजीने भी अपने पदोंमें आठों अङ्गोंका वर्णन किया है।

प्राणायाम

पतञ्जलि प्रभृति योगाचार्योंने प्राणायामको योगका चौथा आवश्यक अङ्ग माना है। परन्तु जैनाचार्योंने

इसे आवश्यक नहीं माना है। श्रीहेमचन्द्र प्रभृति विद्वानोंने तो इसका निषेध भी किया है—

तन्नाप्नोति मनः स्वास्थ्यं प्राणायामैः कदर्थितम्।
प्राणस्यायमने पीडा तस्यां स्याच्चित्तविप्लवः॥

(हैमयोगशास्त्र)

प्राणायाम हठयोग है और हठयोगको जैनाचार्योंने योगमार्गमें अनावश्यक माना है। हरिभद्र सूरिने कहा है—'ध्यानमें बलात्कारसे श्वासोच्छ्वासका निरोध न करना चाहिये'। 'पातञ्जलयोगसूत्रकी वृत्ति' में 'प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य' (योगसूत्र १।३४) इस सूत्रकी व्याख्या करते हुए श्रीयशोविजयजी लिखते हैं—

अनैकान्तिकमेतत्। प्रसह्य ताभ्यां मनोव्याकुलीभावात्। 'ऊसासं ण णिरुं भइ'। (आवश्यकनिर्युक्ति)

'इत्यादिपारमर्षेण तन्निषेधाच्च।'

तात्पर्य, किसी साधकको इससे लाभ हो तो वह प्राणायाम करे, इसमें कोई निषेध नहीं है। परन्तु सबके लिये प्राणायामको आवश्यक अङ्ग जैन विद्वान् नहीं मानते।

त्रिविध आत्मा

यों तो चैतन्यादि गुणोपेतत्वेन आत्मा एक ही लक्षणका है, परन्तु तद्गत भावोंके तारतम्यसे जैन विद्वानोंने तीन प्रकारका आत्मा माना है—(१) बहिरात्मा, (२) अन्तरात्मा और (३) परमात्मा। तीनोंके लक्षण इस प्रकार हैं—

आत्मबुद्धिः शरीरादौ यस्य स्यादात्मविभ्रमात्।
बहिरात्मा स विज्ञेयो मोहनिद्रास्तचेतनः॥
बहिर्भावानतिक्रम्य यस्यात्मन्यात्मनिश्चयः।
सोऽन्तरात्मा मतस्तज्ज्ञैर्विभ्रमध्वान्तभास्करैः॥
निर्लेपो निष्कलः शुद्धो निष्पन्नोऽत्यन्तनिर्वृतः।
निर्विकल्पश्च शुद्धात्मा परमात्मेति वर्णितः॥

शरीर-धनादि बाह्य पदार्थोंमें मूढ होकर उन्हींमें जो आत्मबुद्धि धारण करता है वह रजस्तमोगुणी बहिरात्मा है। आत्मामें ही जो आत्मभाव धारण करता और यम-नियमादिको समझता और करता है वह अन्तरात्मा है। मोहादि कर्ममलोंको सर्वथा धोकर जो मुक्तपदको प्राप्त होता है वह परमात्मा है।

उसी परमात्मपदको प्राप्त करनेका साधन योग कहाता है। योगके अभ्यासी मुमुक्षु योगधर्म जानकर उस परमपदकी ओर चलेंगे, यही आशा करके यह लेख पूरा करता हूँ।

ज़रथोस्ती धर्ममें तीन मार्ग

(लेखक—श्री एरच जहाँगीर तारापोरवाला बी० ए०, पी-एच० टी० बार-एट-ला)

ईश्वरप्राप्तिके लिये सभी धर्मोंमें तीन मार्ग दिखलाये गये हैं—ज्ञान, भक्ति और कर्म। इन तीनों योगोंके साधनसे मुक्ति मिलती है ऐसा शास्त्रोंका वचन है। हिन्दूशास्त्रोंमें इन तीनोंका बहुत स्पष्ट और सविस्तर वर्णन है, दूसरे धर्मोंमें भी न्यूनाधिकरूपसे ये तीनों स्पष्ट प्राप्त होते हैं। कदाचित् 'योग' शब्दके अभावके कारण हमलोग सरलतापूर्वक यह बात न समझ सकें परन्तु मूल वस्तु तो यही है कि मुक्तिका मार्ग तीन प्रकारका है और प्रत्येक व्यक्तिके स्वभावके अनुसार इन तीनोंमेंसे एक उसके अनुकूल होता है।

हमारे ज़रथोस्ती धर्ममें भी इन तीनों मार्गोंका उल्लेख है। अभाग्यवश ज़रथोस्ती धार्मिक साहित्य लगभग समूल नष्ट हो चुका है और इसी कारण जो कुछ थोड़ा-बहुत साहित्य आज उपलब्ध है उसमें यह बात इतनी सरलतासे नहीं प्राप्त हो सकती है तो भी मननपूर्वक अध्ययन करनेसे और दूसरे धर्मोंके साथ तुलना करनेसे यह मूल सत्य प्राप्त हो सकता है। हमारे अवस्ता-साहित्यकी इक्कीस पुस्तकें थीं, उनमेंसे केवल दो ही पुस्तकें पूरी बची हैं, दूसरी चारमेंसे इधर-उधरके कुछ अंश प्राप्त होते हैं। जो पुस्तकें पूरी कहलाती हैं उनमें भी कई स्थानोंपर मूलसे इतना अधिक परिवर्तन हो गया है कि उन स्थानोंका अर्थ करना कठिन ही नहीं बल्कि असम्भव-सा हो जाता है। परन्तु सौभाग्यवश मूलस्थापक जगद्गुरु ऋषि ज़रथुस्त्रके मूल श्लोक अभीतक सुरक्षित हैं और वे ही हमारे धर्मकी भित्तिस्वरूप माने जाते हैं। कोई भी ग्रन्थ न रहकर केवल ये श्लोक ही रह जाते तो भी आज ज़रथुस्त्रधर्मका अस्तित्व रह

सकता था। वे मूल श्लोक जरथुस्त्रकी 'गाथा' के नामसे विख्यात हैं और पाँच विभागोंमें बँटे हुए हैं। उन पाँचोंमेंसे प्रथम गाथा सर्वश्रेष्ठ गिनी जाती है और उसका नाम अहुन वइति गाथा है। सम्पूर्ण गाथाके २३८ श्लोकोंमेंसे इस प्रथम गाथामें १०० श्लोक आ गये हैं। इस 'अहुन वइति गाथा' नामका मूल अहुन-वर (अहुन-वइर्य) शब्द है जो हमारे धर्मका मूल मन्त्र माना जाता है और जिसके लिये हमारे शास्त्रोंमें कहा गया है कि सृष्टि पैदा करनेसे पूर्व स्वय ईश्वरने इसका उच्चारण किया था और इसीमेंसे सृष्टि उत्पन्न हुई है। जरथुस्त्रकी अहुन वइति गाथाको इस अहुन-वइर्यकी टीका समझें तो कोई भूल नहीं है।

दूसरी बातोंको अलग रखकर यदि केवल अहुनवरके गूढ अर्थका मनन किया जाय तो इसीमेंसे योगके तीनों मार्ग निकल आते हैं। इन तीनों मार्गोंको पीछेसे गाथामें विशेष विस्तारसे समझाया गया है। अहुनवरका रहस्य बहुत ही गहन है और उसका ज्यों-ज्यों मनन किया जाता है त्यों-ही त्यों उसका अधिकाधिक आध्यात्मिक रहस्य प्रकट होता रहता है। और इसी कारणवश हमारे शास्त्रोंमें कहा गया है कि 'अहुनम्-वइरीम् तनूम् पाइति' अर्थात् अहुन-वइर्य तनका (आत्माका) रक्षण करता है।

अहुनवरके अनेक अनुवाद हो चुके हैं। इसपर प्राचीन अवस्ता साहित्यमें भी एक टीका लिखी हुई है। इसके अतिरिक्त सासानी कालमें* इस मन्त्रका पहेलवी भाषामें अनुवाद हुआ था, उसमें इस मन्त्रमे समाये हुए तीन नामोंकी ओर सङ्केत किया गया है। ये तीन नाम 'अमर-पवित्र-शक्ति' (अमेषा-स्पेन्ता) के हैं और ये ही हमारे तीनों मार्गोंका सूचन करते हैं।

सर्वप्रथम हम 'अहुनवर' इस मन्त्रको देखें और उसका अनुवाद करें। इस मन्त्रमे तीन पक्तियाँ हैं जो प्रत्येक एक-एक वाक्य है और प्रत्येकमें एक महान् सत्य समाहित है।

(१) यथा अहू वइर्या अथा रतुश् अषात्-चिद् ह चा।

(२) वङ्हेउश् दज्दा मनङ्हो श्योथननाम् अङ्हेउश् मज्दाइ।

(३) क्षथ्रमे-चा अहुराइ आ यिम् द्रिगुव्यो ददद् वास्तारेम्॥

* ई० स० २२८—६५१ तक

अनुवाद—

(१) जैसे राजा सर्वोपरि (है) उसी प्रकार ऋषि (भी) अपने अषके कारण (हैं)।

(२) वोहु-मनोका पुरस्कार जीवनके प्रभुके कार्य करनेवालोंको (मिलता है)।

(३) ईश्वरका क्षथ्र उसको (मिलता है) जो लाचारोंका रक्षक बनता है।

(१) प्रथम सत्य यह है कि राजा अथवा इस स्थूल भुवनका जो अधिपति है उसके ही समान उतना ही महान् ऋषि भी गिना जाय। दूसरे शब्दोंमें कहें तो जिस प्रकार राजाका बड़प्पन इस खाकी जहान्में है, इसी प्रकार ऋषिका बड़प्पन आत्मिक जगत्पर है। किस कारणसे ऐसा है? केवल अष के ही कारण। अब इस अषको हमलोग जरा गम्भीरतापूर्वक समझें। हम जरथोस्तियोंमें बोलचालमें 'अषोई' शब्दका व्यवहार होता है और उसका अर्थ साधारणतः पवित्रता होता है। परन्तु एक बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि ज्यों-ज्यों हम प्राचीन समयकी ओर लक्ष्य करते हुए इसके अर्थको देखते जाते हैं त्यों-ही-त्यों वह अधिकाधिक गहरा होता जाता है। वास्तवमें इसका अर्थ अत्यन्त ही गहन है। अवस्ताका यह 'अष' शब्द वेदका 'ऋत' शब्द है। यह बात भाषाशास्त्रसे सिद्ध हो चुकी है*। जिस प्रकार ऋत शब्दका वेदमें प्रयोग हुआ है उसी प्रकार हमारे शास्त्रोंमें अष का उपयोग हुआ है। जिस प्रकार देवता ऋतके अधिपति माने जाते हैं, उसी प्रकार हमारे यज़द (देवता) 'अषके सरदार' हैं। ईश्वरको प्राप्त करनेका एकमात्र मार्ग है 'अष हे पन्ताओ' (ऋतस्य पन्थाः)। एक स्थानपर स्पष्ट लिखा हुआ है कि 'सर्वोत्तम अषकी सहायतासे, सर्वश्रेष्ठ अषकी सहायतासे, हे ईश्वर, हम तुझको देखें, तेरे पास पहुँचें, तेरे साथ मिल जायँ। यह अष (ऋत) ज़रथुस्त्रके धर्मका मूल आधार है और इस ऋतको जो समझता है उसको हमारे यहाँ रतु (ऋषि) के नामसे कहते हैं। यह ज्ञान-मार्ग है। रतु अर्थात् सम्पूर्ण ज्ञानप्राप्त पुरुष। और ऐसे 'रतुओंके रतु' जगद्गुरु जरथुस्त्र हैं। जिस प्रकार गीतामें कहा गया है कि 'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते'

* 'अष' का एक रूप 'अर्त' भी है। वह 'ऋत' के साथ मिलता है, यह तो स्पष्ट ही है।

उसी प्रकार यह अपका मार्ग (ज्ञानमार्ग) हमारे धर्मका मार्ग है ।

(२) परन्तु भक्ति विना केवल ज्ञान मनुष्यको अहङ्कारके गड्ढेमें ढकेल देता है और इसलिये उस अहङ्कारको जीतनेके लिये प्रेम-भक्तिकी आवश्यकता है । उस भक्तिका एक स्वरूप (या सर्वोत्तम स्वरूप) सम्पूर्ण कर्म ईश्वरके प्रति समर्पण करना है ।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥

(गीता ९ । २६)

इसी प्रकार अहुनवरमें भी कहा गया है कि मनुष्यको 'जीवनके प्रभुका कार्य करनेवाला' बनना चाहिये और ऐसा करनेसे वोहु-मनो (अच्छे मन) का पुरस्कार उसे प्राप्त होता है । वोहु-मनो (अच्छा मन) मनकी विशुद्धि प्रदर्शित करता है । मनमेंसे अहङ्कार (मैं-तूँका भाव) दूर करनेके लिये वोहु-मनो प्रकट होता है और उसके होनेपर सब जीवोंके प्रति प्रेम उद्भव होता है । वोहु-मनो प्रेमशक्ति प्रकट करता है और वह प्रेम केवल मनुष्योंके लिये ही नहीं प्रत्युत सारे जीवोंके लिये है । वोहु-मनो प्राणीमात्रके अधिष्ठाता हैं, खास करके गौ—पशु-रक्षा उनका प्रधान कर्तव्य माना जाता है ।

(३) उपर्युक्त दोनों मार्ग तो मनुष्यकी अपनी सिद्धिके काम आते हैं । ज्ञान तथा भक्ति दोनों साधनोंसे मनुष्य अपना जीवन सार्थक कर सकता है परन्तु फिर भी पूर्ण मोक्ष तो उसे नहीं प्राप्त होता । पूर्ण मोक्षकी प्राप्तिके लिये तो ईश्वर (अहुरमजद) का सम्पूर्ण प्रभाव प्राप्त करना चाहिये । उसकी समानता प्राप्त करनी चाहिये । इसके लिये अहुरमजदका क्षथ्र (क्षत्र) साधन करना चाहिये । यह साधना गरीब, लाचारोंका रक्षक बननेसे प्राप्त होती है । इसमें कर्ममार्ग स्पष्ट दिखायी देता है । हमारा धर्म इस मार्गपर विशेष जोर देता है और आज भी जरथोस्ती लोग (पारसी जाति) कर्म-योगमें आगे बढ़े हुए दिखायी देते हैं ।

इस प्रकार ईश्वरप्राप्तिके तीनों मार्ग—ज्ञान, भक्ति और कर्मका समानतापूर्वक साधन करनेसे ही मनुष्य मोक्षका अधिकारी बनता है । ऐसी अहुनवरकी शिक्षा है । इसी कारणसे यह मन्त्र परम पवित्र माना जाता है । ईश्वरने सृष्टिरचनासे पूर्व ही यह मन्त्र उच्चारण किया ऐसा कहा जाता है अर्थात् इन नियमोंके आधारपर सृष्टिकी उत्पत्ति हुई और उसकी प्रगतिके लिये ये ही तीनों मार्ग नियत हुए ।

एक जगह ऐसा लिखा है कि यदि कोई मनुष्य अहुनवरके मन्त्रका शुद्ध उच्चारण करके पाठ करे और उसका भावार्थ सम्पूर्णरूपसे समझे तो उसे दूसरे सब मन्त्रोंके पाठ करनेके समान ही पुण्यप्राप्ति हो । जिस प्रकारकी त्रिविध योगसाधना इस मन्त्रमें समाहित है उसे देखते हुए इस कथनमें जरा भी अतिशयोक्ति नहीं है ।

जागो !

मौत महा उत्कंठ चढ़े नहिं सूझत अन्ध अभागहु रे ।
चित चेतु गँवार विकार तजो जब खेत पड़े कित भागहु रे ॥
जिन बुंद विकार सुधार कियो तन ज्ञान दियो पगु ता गहु रे ।
'धरनी' अपने अपने पहरे उठि जागहु जागहु जागहु रे ॥

—धरनीदास

ईसाई-धर्ममें योगका स्थान

(लेखक—रेवरेण्ड एड्विन ग्रीन्ज)
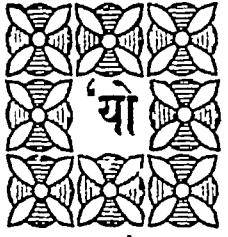
'योग' शब्दका प्रचलित अर्थ ईश्वरके साथ एकता प्राप्त करना ही नहीं है, जो इसका मूल अर्थ है, अपितु उससे उन साधनोंका भी बोध होता है जो उक्त ध्येयकी प्राप्तिमें उपयोगी माने जाते हैं।

सम्भवतः 'योग' शब्दका यह दूसरा एवं लाक्षणिक अर्थ पहलेकी अपेक्षा अधिक विचारकी अपेक्षा रखता है, किन्तु पहले अर्थके सम्बन्धमें हम जिस निर्णयपर पहुँचेंगे उसका अवश्य ही दूसरे अर्थके सम्बन्धमें स्थिर किये हुए हमारे विचारोंपर बहुत अधिक प्रभाव पड़ेगा। परमात्माके साथ एकता करनेके कई अर्थ हो सकते हैं और विचारकके मनमें परमात्माका जो स्वरूप होगा उसीके अनुसार उसकी एकताका स्वरूप भी होगा।

कुछ लोगोंके मतमें 'एकता' का अर्थ लीन हो जाना है अर्थात् वह अवस्था जिसमें अपना कोई भिन्नत्व रह ही नहीं जाता, वह उस परमात्माका ही एक अङ्ग बन जाता है जिसमें वह लीन हो जाता है—वह परमात्मासे अभिन्न ही नहीं हो जाता बल्कि उसके साथ ऐसा घुल-मिल जाता है कि फिर उसका पृथक् अस्तित्व ढूँढ़नेपर भी ध्यानमें नहीं आता। इसे हम एकताकी पराकाष्ठा कह सकते हैं। इससे नीचे उतरकर लोगोंने एकताकी कई श्रेणियाँ मानी हैं। परन्तु कदाचित् उन सभी श्रेणियोंमें योग करनेवालेकी पृथक् सत्ता किसी-न-किसी अंशमें अवश्य रह जाती है—वहाँ एकताका स्वरूप अभिन्नता न होकर अविसंवाद अथवा मेल ही होता है। एकताका अर्थ है परमात्माके साथ एकमन हो जाना—परमात्माके सङ्कल्पके साथ अपने सङ्कल्पको मिला देना। साधक परमात्माकी प्रभुता और सुहृदताको समझकर अपनी दृष्टिको बदलनेकी, अपने भावको परिवर्तित करनेकी तथा अपनी निजी कल्पनाओं और जनसमाजकी युक्तियों और योजनाओंको परित्यागकर, जिनका साधारण जनता अनुगमन करती है, परमात्माके सङ्कल्पों और अभिसन्धिका अनुसरण करनेकी चेष्टा करता है। हम परमात्माके सङ्कल्पोंके अनुसरण करनेकी बात हेतुपूर्वक कह रहे हैं, न केवल किसी मत-विशेषका उपन्यास कर रहे हैं, न किसी ऐसे सिद्धान्त-वाक्यको दोहरा रहे हैं जिसका अर्थ तो हम न जानते हों और केवल इसलिये ठीक समझते हों कि वह भगवद्वाक्य है। एकताका अर्थ है परमात्माके प्रति इस प्रकार प्रेम-पूर्वक आत्मसमर्पण करना कि जिससे हमारा चित्त उनकी दिव्य ज्योतिसे जगमगा उठे, हम हृदयसे वही चाहें जो उन्हें प्रिय हो और प्रतिदिन, नहीं-नहीं हर घड़ी, अपना आचरण एवं व्यवहार ऐसा प्रशस्त एवं परिष्कृत बनानेकी चेष्टा करें कि जिससे मनुष्यका मनुष्यके साथ कैसा बर्ताव होना चाहिये इसका ईश्वरीय आदर्श हमारे सामने मूर्तिमान् होकर खड़ा हो जाय।

एक सच्चे ईसाईका अपने भगवान्के साथ किस प्रकारका सम्बन्ध होना चाहिये इस विषयमें ईसामसीहके उपदेशोंका स्थूल आशय स्पष्ट ही है। स्वयं उनका अपने परमपिताके साथ जो सम्बन्ध है उसमें कई बातें बिल्कुल निराली हैं जिनके कारण उस सम्बन्धके स्वरूप और लक्षणोंके निर्देश करनेमें बड़ी कठिनाईका सामना करना पड़ता है। जहाँ हमारे प्रभुने 'मैं और मेरे पिता एक ही हैं' ("I and my Father are one") इस प्रकारके वाक्य कहे हैं वहाँ तो यह कठिनाई और भी सुस्पष्ट हो जाती है, एक तरफ तो उनका सम्बन्ध हमें इतना घनिष्ठ प्रतीत होता है कि उसे समझानेके लिये हमें मानव-जगत्में कोई उदाहरण ढूँढ़नेपर भी नहीं मिलता। किन्हीं दो मनुष्योंमें मन और हृदयकी कैसी ही एकता, अभिन्नता क्यों न हो, वह उसकी तुलनामें नहीं ठहर सकती। दूसरी ओर हम उपर्युक्त वाक्यका अद्वैतपरक अर्थ भी नहीं कर सकते क्योंकि उस हालतमें 'मैं और मेरे पिता' इस प्रकारका द्वैत नहीं रह सकता। यह एक ऐसा सम्बन्ध है जिसका निर्देश हो सकता है अर्थात् अद्वैत नहीं है, दोनोंमें घनिष्ठ संयोग है, किन्तु सर्वथा अभेद नहीं। यदि हम इतनी ही बात पाठकोंके सामने उत्तरके रूपमें रक्खें तो वह कदाचित् अपूर्ण समझी जायगी और उससे सबका समाधान न हो सकेगा। हमने तो केवल इस बातको समझनेकी कोशिश की है कि हमारे सामने एक ऐसी पहेली है जिसको बूझना हमारे लिये कठिन है, नहीं-नहीं, हमारी बुद्धिकी सीमाके

वाहर है, किन्तु फिर भी उसे हम एक महान् तथ्यके रूपमें अनुभव करते हैं। यह तथ्य हमारी बुद्धिके लिये अगम्य होनेपर भी हमारे समस्त चैतन्यांशको इस निश्चयसे आपूरित कर देता है कि वह रहस्य एक सत्य तत्त्व है, केवल हमारे मन-की कल्पना नहीं है। अब रही परमात्माके साथ हमारे सम्बन्ध-की बात, सो इस विषयमें ईसामसीहका सिद्धान्त सुतरां स्पष्ट है। बाइबिलमें एक वाक्य भी ऐसा नहीं मिलेगा जिसमें अस्पष्ट रूपसे भी यह सकेत किया गया हो कि ईसाइयोंका ध्येय परमात्मामें मिल जाना है। बाईबिलमें एकताका जो वर्णन मिलता है उसका अर्थ है परमात्माकी इच्छाको जीवनका सञ्चालक एवं पथप्रदर्शक मानना, अपने आपको ईश्वरके मन तथा अभिसन्धिमें मिला देना और मनमें इस बातका निश्चय रखना कि मनुष्यका परम ध्येय यही है, और उसीमें आनन्दित होना। महात्मा पॉलके पत्रोंमें हमें इस प्रकारके वाक्य मिलते हैं जिनका भाव है—मैं जीता हूँ पर अब मैं नहीं, मेरे अन्दर ईसामसीह जीते हैं। (I live and yet no longer I, but Christ liveth in me) परन्तु इस प्रकारके वाक्यका सम्भवतः कोई भी इससे अधिक अर्थ नहीं लगावेगा कि यह कहनेवाला पुरुष ईसामसीहको अपना गुरु मानकर उनकी 'सर्वतोभावेन वश्यता' स्वीकार करता है, अपनेको ईसामसीहके सञ्चालनमें रखकर उन्हींसे शक्तिसञ्चार, योगक्षेम एव अनुग्रहकी आशा रखता है। उसीके आगे ये शब्द मिलते हैं—'और अब जो जीवन इस शरीरमें है वह उन्हीं ईश-पुत्रमें विश्वासका जीवन है जिन्होंने मुझे प्यार किया और मेरे लिये अपने आपको दे दिया।'

'(and that life which I now live in the flesh I live in faith, the faith which is in the Son of God, who loved me and gave Himself for)'

रहस्यवादियों (mystics) में कुछ लोग अवश्य ऐसे मिलते हैं जो परमात्मामें लीन हो जानेको ही ईसाई-जीवनका एकमात्र परमपुरुषार्थ मानते हैं। परन्तु यह सिद्धान्त अपवादस्वरूप ही है, बहुसख्यक ईसाई स्त्री-पुरुषोंके साधारण विचार इस प्रकारके नहीं हैं। एक ईसाईके जीवनकी चरितार्थता परमात्माके साथ एक हो जानेमें नहीं है, बल्कि उनके साथ पूर्ण साहचर्यमें है।

हमारे आलोच्य विषयका दूसरा अश है वे साधन जिनके द्वारा ईश्वरका साहचर्य प्राप्त हो सके। इस सम्बन्धमें लोगोंने समय-समयपर कई तरहके विचार प्रकट किये हैं, परन्तु इस विषयमें कोई ऐसा सिद्धान्त सामने नहीं रक्खा जा सकता जो सर्वमान्य हो।

अधिक ध्यान देने योग्य बात तो यह है कि बाइबिलमें हमारे प्रभुका जो जीवनवृत्तान्त तथा उपदेशोंका सग्रह है उसमें ऐसी किसी बातका उल्लेख बहुत ही कम है जिसका योगसम्बन्धी साधनाओंसे निकट सम्बन्ध हो। उपदेशकार्य आरम्भ करते समय ईसामसीहने चालीस दिनका उपवास किया था, ऐसा वर्णन मिलता है, किन्तु उन्होंने इस तपको किसी साधनके रूपमें किया हो ऐसा नहीं मालूम होता, बल्कि कुछ समयतक वह अकेले जङ्गलमें रहे थे और वहाँ वह अपने भावी उपदेशकार्यको सोचनेमे इतने तल्लीन हुए कि उन्हें खाने-पीनेकी सुध भी न रही। एकाध जगह अवश्य 'प्रार्थना और उपवास' का उल्लेख आता है, और ऐसा भी वर्णन मिलता है कि प्रभु कभी-कभी एकान्तमें बैठकर प्रार्थना तथा ध्यानके लिये समय निकाला करते थे, परन्तु साधारण तौरपर हमारे प्रभुके जीवनमें तथा उनके उपदेशोंमें योग-साधना-की आवश्यकताके सम्बन्धमे एक भी प्रमाण नहीं मिलता। ऐसा प्रतीत होता है कि वह सादा एवं साधारण मनुष्यों-का-सा जीवन व्यतीत करते थे तथा सामान्य कोटिके स्त्री-पुरुषोंसे निःसङ्कोच होकर मिलते थे, यहाँतक कि उन्हें सामाजिक उत्सवोंमें भी सम्मिलित होनेमें किसी प्रकारका सङ्कोच नहीं होता था। उनकी दृष्टिमें ध्यान कोई बाह्यसाधन नहीं है, अपितु मनकी वृत्तिको अनवरतरूपसे भगवान्की ओर लगानेका नाम है जिससे कि जीवनमें अव्यक्त जगत्के सनातन सत्य तत्त्वोंकी सन्निधिका अनुभव होने लगे। 'वसुन्धरा भगवान्की है और भगवान्की साङ्गता है।' भगवान्ने मनुष्यके ही उपयोग एवं भोगके लिये सारे भौतिक पदार्थोंकी रचना की है। इसलिये उनका परित्याग करनेकी आवश्यकता नहीं है, आवश्यकता है केवल इस बातको ध्यानमें रखनेकी कि कहीं ये पदार्थ हमारे सिरपर सवार होकर हमें अपने अधीन एव वशवर्ती न कर लें, हमें अपना गुलाम न बना लें। मनुष्यको चाहिये कि वह वस्तुओंका यथार्थ मूल्य ऑकना, उनके गुणदोषों-का विवेचन करना सीखे, आध्यात्मिक एव सनातन तत्त्वोंका आधिभौतिक एव जागतिक तत्त्वोंके द्वारा पराभव न होने दे। प्रार्थना, निर्भरता, वश्यता, (ईश्वर एवं मनुष्यमात्रके प्रति) प्रेम, ये ही योगसाधनाएँ हैं जिन्हें

ईसामसीहने परमात्माके अधिकाधिक साहचर्यमें सहायक बताया है ।

प्रभु ईसामसीहके कालसे लेकर अबतक ईसाइयोंने जिन-जिन योगसाधनाओंका अभ्यास किया है उनकी कथा बहुत लम्बी-चौड़ी और वैचित्र्यपूर्ण है । ईसवी सन्‌की प्रारम्भिक शताब्दियोंमें उपवासादि कठोर व्रतचर्याओंको कई लोग बहुत उपयोगी मानते थे और उसके बाद भी भिन्न-भिन्न युगोंमें कुछ सम्प्रदायोंकी ऐसी ही धारणा रही है । परन्तु इस प्रकारकी धारणा अधिकसंख्यक ईसाइयोंमें न तो सर्वमान्य ही रही है, न सामान्य ही । ईसाइयोंको बराबर चेतावनी दी जाती रही है कि वे भोगविलासकी ओर अग्रसर न हों, इन्द्रियोंके दास न बनें । उन्हें यह भी शिक्षा दी जाती रही है कि वे अपनी सम्पत्ति और अपनी सारी शक्तियोंको परमात्माकी सौंपी हुई पवित्र धरोहर समझें, उनका विवेकपूर्वक उपयोग करें और उदारतापूर्वक उनका दूसरोंको भी उपभोग एवं उपयोग करने दें । उनको इस सम्बन्धमें सतर्क रहनेका उपदेश दिया जाता रहा है कि भौतिक सुख उनकी आध्यात्मिक दृष्टिको आवृत न कर दें, वे लोग इस जगत्‌को सराय-सा समझकर उसमें मुसाफिरोंकी तरह रहें, तथा इस बातको सदा स्मरण रक्खें कि हमारा वास्तविक और सनातन घर आगे है, किन्तु साथ-ही-साथ जो ईश्वरप्रदत्त वस्तुएँ हमें रास्तेमें पड़ी हुई मिलें उनका धर्माविरुद्ध उपभोग भी करते रहें ।

कदाचित् योगका सर्वसुलभ रूप उपवास है । रोमन कैथॉलिक तथा प्रॉटेस्टण्ट दोनों मतोंके अनेक अनुयायी उपवासको बहुत अधिक उपयोगी मानते हैं और खास-खास अवसरोंपर अवश्य उपोषित रहते हैं । कुछ लोग ऐसे हैं जो नियमितरूपसे उपवास तो नहीं रखते, किन्तु उसे आत्मोन्नतिका एक वास्तवमें उपयोगी साधन अवश्य स्वीकार करते हैं । वे यह समझते हैं कि ऐसे समयमें जब भौतिक सुखोंकी आत्मापर विजय होती दीखती है, उपवाससे मनुष्यको बड़ा साहस एवं बल मिलता है । इस वर्गके लोग उपवासको प्रायश्चित्तके रूपमें न देखकर आत्मोन्नतिका एक उपकारी साधन मानते हैं और यह समझते हैं कि उपवास जीवनमें आत्माके प्रभुत्वका द्योतक है और इस बातको भी सूचित करता है कि हम भौतिक जगत्‌के आधिपत्यको स्वीकार करनेके लिये तैयार नहीं हैं ।

इन पंक्तियोंका लेखक इस बातको जानता है कि ईसाइयोंमें बहुत लोग ऐसे हैं जिनकी यह धारणा है कि ईसाईधर्ममें योगका महत्त्व जितना वह समझता है उसकी अपेक्षा कहीं अधिक है । वे ऐसा मानते हैं तो मानें । लेखक उनके इस भावका आदर करता है और यदि इस प्रकारकी साधनाओंका महत्त्व उनके अनुभवमें आया है तो उनकी बातका वह खण्डन भी नहीं करता, बल्कि उनके अनुभवकी सत्यताको स्वीकार करनेमें भी उसे कोई आपत्ति नहीं है । ईसाईधर्मका क्षेत्र बहुत व्यापक है, उसके अन्दर ईसाईजीवनकी अभिव्यक्तिके भिन्न-भिन्न स्वरूपों तथा भिन्न-भिन्न प्रकारके अनुभवोंके लिये गुंजाइश है । सबसे मुख्य बात तो है ईश्वरके सम्बन्धमें क्रमशः अधिकाधिक जानना और उन्हें जानकर उनसे प्रीति करना, उनपर भरोसा करना और उनकी इच्छाके अनुकूल आचरण करना । ईश्वरको जाननेका उपाय है ईसामसीहकी शरणमें आना और उन्हींको एकमात्र गति मानना और प्रार्थना, निर्भरता और वश्यताके द्वारा जीवनकी पूर्णताको प्राप्त करना ।

कबीरका योग

(लेखक—श्रीक्षितिमोहन सेन, शान्तिनिकेतन)

योग और क्षेम इन दो शब्दोंको युक्त कर एक साथ व्यवहार करनेकी प्रथा हमारे देशमें प्रचलित है (गीता ९ । २२)। शङ्कराचार्य योगको अप्राप्तकी प्राप्ति और क्षेमको उसकी रक्षा बताते हैं । श्रीधरस्वामी भी यही बात कहते हैं ।

अत्यन्त प्राचीन कालसे ही मनुष्यने योगके मर्मको अनुभव किया है । जिस मोहन-जो-दरोको पण्डितोंने आर्योंके आगमनका भी पूर्ववर्ती बताया है उसमें भी सुन्दर-सुन्दर योगियोंकी मूर्तियाँ पायी गयी हैं । उन मूर्तियोंको देखते ही जान पड़ता है कि ये योगियोंकी मूर्तियाँ हैं जो किसी-न-किसी योगसाधनाको सूचित करती हैं ।

असीम अनन्त विश्वतत्त्वसे ही मनुष्यका उद्भव हुआ है । विश्व-सागरमेंसे अपना व्यक्तित्व लेकर मनुष्य एक लहरकी नाईं प्रकट हुआ है । इसीलिये यह विश्वतत्त्व निरन्तर नानाभावसे उसे आकृष्ट कर रहा है । उसका जीवात्मा भी सर्वदा विश्वात्माके साथ युक्त होना चाहता है । यह व्याकुलता ही योगका मूल है ।

इस योगकी हम दो प्रकारसे उपलब्धि कर सकते हैं—भावोंसे या क्रियासे । हमारे देशके साधकोंने इन दोनों प्रकारके योगोंके वैचित्र्यकी नाना रूपसे प्रार्थनाएँ की हैं ।

मिलनका एक मूलमन्त्र यह है कि जो लोग मिलेंगे उनमें परस्पर साधर्म्य होना चाहिये । समजातीय होनेसे भी मिलन होता है, जैसे जलके साथ जलका, और परस्पर परिपूरक (complementary) होनेसे भी योग होता है, जैसे शिवके साथ शक्तिका । इस प्रकारकी परिपूरकताके क्षेत्रमें एक दूसरेके लिये व्याकुल आकांक्षा रहती है, इसीलिये ऐसा योग एक साधनामात्र न होकर एक अनुपम रस-वस्तु हो उठता है ।

मनुष्य और विश्व—विश्वात्मामें जो योग है उसमें समजातीयता और परिपूरकता दोनों ही भाव हैं । विश्वदेह और मानवदेहमें जो योग है वह समजातीयताका ही योग है, यद्यपि उसमें कुछ परिमाणगत भेद भी है । विश्वात्मा और मानवात्मामें जो योग है वह परस्पर परिपूरक है । यद्यपि दोनों ही कुछ हदतक एक ही नियम मानकर चलते हैं तथापि जीवात्मा सीमाबद्ध है, विश्वात्मा या परमात्मा असीम । अथवा इस भेदके कारण ही दोनोंके योगमें इतनी प्रबल आकाक्षा और व्याकुलताका रस वर्तमान है ।

विश्व और मानव दोनोंमें ही एक साधर्म्य है । दोनों ही एक-एक सम्पूर्ण जगत् हैं । इसीलिये ग्रीक दार्शनिकोंने विश्वको (Macrocosm) या विराट् जगत् कहा है, और मानवको (microcosm) या क्षुद्र जगत् कहा है । नव प्लेटोनिक (नौ-अफलातूनी) दार्शनिकोंने दार्शनिकभावसे इसकी नाना प्रकारसे आलोचना की है । फिर भी इसके रसरूपका अनुभव किया गया है भारतवर्षकी और सूफियोंकी साधनामें, भक्तों और कवियोंकी वाणीमें ।

नौ-अफलातूनियोंने ही केवल विश्व और मानवमें यह साधर्म्य नहीं दिखाया । उपनिषदोंमें देखते हैं,—'इस विश्व आकाशमें जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष हैं, वही हमारे आत्मामें भी तेजोमय अमृतमय पुरुष हैं ।' (बृहदारण्यक० २ । ५, १० । १४) तभीसे यह भाव और दोनोंके बीचकी मिलन-व्याकुलता ही भारतवर्षके सभी भक्त और साधक कवियोंकी प्राण-वस्तु रही है ।

इसीका क्रियासाध्य (Practical) रूप मोहन-जो-दरोकी मूर्तियोंमें दिखायी पड़ता है । वहाँका साहित्य तो हमलोगोंको मिला नहीं, मिली हैं सिर्फ कुछ मूर्तियाँ । मूर्तिमें idea अर्थात् भीतरकी मर्मकथा तो रक्खी नहीं जा सकती, इसीलिये वहाँकी भीतरी बात हम नहीं पा सके, पा सके हैं बाहरी योगचेष्टाका रूप ।

यह योगचेष्टा भी इस देशमें कम प्राचीन नहीं है । खूब सम्भव है, यह वेद-पूर्व सभ्यताकी एक विशेष सम्पत्ति हो । पहले-पहल वैदिक आर्यलोग इसके प्रभावमें नहीं आये, पर बादमें उन्हें इससे प्रभावित होना पड़ा था, इसे आर्यचिन्तासे दूर नहीं रक्खा जा सका । परवर्ती भारतीय साहित्य तो इडा, पिङ्गला, चक्र, कमल, कोश, नवद्वार, मूलाधार, सहस्रार प्रभृति तत्त्वोंसे भरा पड़ा है । अथर्ववेदमें भी इसका कुछ-कुछ आदि आभास मिलता है ।

अष्टा चक्रा नवद्वारा देवानां पुरयोध्या ।
तस्यां हिरण्मयः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ॥

(अथर्वसंहिता ८ । २ । ३१)

अष्टचक्र और नवद्वारसे युक्त है यह अजेय देवपुरी, यहींपर जो हिरण्मयकोश आवृत है वही स्वर्ग है।

तस्मिन् हिरण्मये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः॥

(अथर्व० १०।२।३२)

त्रि-अरयुक्त त्रिप्रतिष्ठित उस हिरण्मय कोशमें जो आत्मयुक्त यक्ष (पूज्य अपूर्व पुरुष) विराजमान है, उसे ब्रह्मविद् लोग ही जानते है।

इस स्थानपर परवर्ती योगशास्त्रकी अनेक बातें देख पड़ती हैं। इसके बाद एक और अपूर्व मन्त्र है—इसमें उस अन्तःस्थित अधिष्ठान पुरुषकी बात और भी चमत्कार-पूर्ण ढगसे वर्णित है—

पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः॥

तीनों गुणोंसे आवृत, नवद्वारोंवाला यह कमल है। उसमें वास करता है वही यक्ष (पूज्य अपूर्व पुरुष), उसे ब्रह्मविद् लोग ही जानते हैं। इसीमें योगशास्त्रकी सबसे बड़ी बात है।

इडा-पिङ्गला, शिव-शक्ति, चन्द्र-सूर्य, ज्ञान-प्रेय प्रभृतिके मिलनसे होकर नाना आकारों और नाना प्रतीकोंमें वियुक्त मानव और विश्वात्माके मिलनकी ही चेष्टा होती आयी है। एक मूलाधारसे वियुक्त होकर दो धाराएँ हुई हैं, उन्हें फिरसे एक वेणीमें मिलाना होगा। अधोधारा षट्चक्र वेध करके ऊपर ऊर्ध्वलोकमें जायगी।

वह्निपुराण-क्रियायोगसार, विष्णुपुराण (षष्ठ अंश सप्तम अध्याय), सौर पुराण (बारहवाँ अध्याय), ब्रह्मवैवर्त (कृष्णखण्ड), गरुडपुराण (चौदहवाँ अध्याय, उनचासवाँ अध्याय) और भागवतमें नाना भाँतिसे इस विषयका वर्णन है। देहके शुभाशुभ सम्बन्धके साथ भी उसके सम्बन्धकी बात लिङ्गपुराण (नवाँ अध्याय), मार्कण्डेयपुराण (पैंतीसवाँ अध्याय) आदिमें लिखी है। योगका भाव-पक्ष भी गीतामें बहुत प्रकारसे बहुत तरहकी भाषाओंमें व्यक्त हुआ है। इस दृष्टिसे योगवासिष्ठ बड़ा मूल्यवान् ग्रन्थ है। तन्त्रों और शैवागमोंमें, यहाँतक कि उत्तरकालीन बौद्धग्रन्थोंमें भी योगका बहुत कुछ सन्धान पाया जाता है।

इसके बाद योगी और सिद्धाचार्योंके निकट आना पड़ता है। ये सब तो योगमतके ही ग्रन्थ हैं। गोरक्ष-संहितामें अथसे इतितक क्रियासिद्ध योगकी ही बात है। मेरे अपने अध्ययनका विषय मध्ययुगके सन्तोंकी वाणी है। इस युगमें भी सैकड़ों भक्तोंकी वाणियोंमें योगकी बात नाना भावोंसे वर्णित हुई है। इनमेंसे केवल कबीरकी ही बात यदि ली जाय, तो कबीरका साहित्य भी तो एक समुद्र है।

कबीरकी आध्यात्मिक क्षुधा और आकांक्षा विश्वग्रासी है। वह कुछ भी छोड़ना नहीं चाहते, इसीलिये वह ग्रहणशील हैं, वर्जनशील नहीं। इसीलिये उन्होंने हिन्दू, मुसलमान, सूफी, वैष्णव, योगी प्रभृति सब साधनाओंको जोरसे पकड रक्खा है। फिर भी उन मतोंकी सङ्कीर्ण साम्प्रदायिकता कबीरके साथ मेल नहीं खाती। इसीलिये कबीर इन सबको ही अपने ढगसे अपना सके हैं। उनके क्रिया-काण्ड, उनकी साधना और उनकी सज्ञाओंको भी कबीरने अपने विशेष भावसे व्यक्त किया है। कबीर भक्त हैं, प्रेमिक हैं, योगी हैं, मानवरससे भरपूर हैं, मैत्री, युक्ति आदिसे परिपूर्ण हैं। इस तरह उन्होंने जिन मतवादोंको ग्रहण किया है उनमेंसे प्रत्येक कुछ हदतक उनका गृहीत है, कुछ हदतक अपनी विशेष व्याख्यासे उन्होंने अपने समान कर लिया है, कुछ हदतक परित्यक्त है और किसी हदतक उनके कठोर आघातोंसे आहत है। कबीरके योगमतवादके सम्बन्धमें भी यही बात कही जा सकती है। उन्होंने कुछ अशोंमें उसे मान लिया है, कुछ अशोंतक विशेष भावसे आत्मसात् कर लिया है, कुछ अशोंतक छोड दिया है और फिर किसी-किसी अंशपर कठोर प्रहार भी किया है। कबीर-साहित्यकी आलोचना करते समय एक बात विशेषरूपसे मनमें उठा करती है। यह साहित्य तो बहुधा विचित्र है और नाना सम्प्रदायोंद्वारा सग्रह किया गया है। फिर कौन-सी वाणीका आश्रय करके आलोचना की जाय? योगमतकी आलोचनाके इस प्रसङ्गमें मैंने काशीकी नागरी-प्रचारिणी-सभाके सस्करणका ही आश्रय लिया है।

कबीरके अनेक पदोंको देखकर ऐसा जान पड़ता है कि ठीक पूर्ववर्ती योगियोंकी, यहाँतक कि कभी-कभी हू-ब-हू वे ही बातें पढ़ रहे हैं। जैसे—

'प्रथमे गगनकी पुहमी प्रथम प्रभु प्रथमे पवन कि पाणी ।'

(पदावली १६४)

कबीरकी प्रश्नोत्तरी और प्रहेलिकाएँ बिल्कुल प्राचीन योगियोंके समान हैं । इसीलिये इन प्रहेलिकाओंको 'गोरखधन्धा' कहते हैं । कबीरका निम्नलिखित पद भी योगी-पदोंके ही समान है—

सुंनिमंडलमें घर किया जैसैं रहै सिचाना ।
उलटि पवन कहाँ राखिये कोइ मरम विचारै ॥
साधे तीर पतालकूं, फिरि गगनहिं मारै ।

ठीक इसी प्रकारका एक और पद परिशिष्ट (२०७)में है।

मूल दुआरै बध्या बधु । रवि ऊपर गहि राख्या चंदु ॥
पच्छम द्वारै सूरज तपै । मेर डंड सिर ऊपर बसै ॥
....

खिड़की ऊपर दसवा द्वार । कहि कबीर ताका अंत न पार ॥

योगके सम्बन्धमें भी कबीरके वैचित्र्यका अन्त नहीं । वह पवन उलटकर षट्चक्रभेद करके शून्य गगनमें समाहित होना चाहते हैं ।

उलटे पवन षट्चक्र बेधा मेरडंट सर पूरा ।
गगन गरजि मन सूँनि समाँनाँ बाजे अनहद तूरा ॥

(पद ७)

कभी कहते हैं, 'मनको ही उलटकर उसमें भरना होगा ।'...... ... . पवन उलटकर षट्चक्र वेध करके 'शून्य सुरति' में ही 'लय' लगाना होगा—

मन रे मनहीं उलटि समाँनाँ ।
....
उलटे पवन चक्र षट् बेधा सूँनि सुरति लै लागी ॥

इत्यादि (पद ८)

कभी वह द्वादश कूपसे वनमालीके समान नीरधारा ऊपरकी ओर उलटकर सुषुम्णाका कूल पूर्ण कर देना चाहते हैं—यह धारा दस दिशाओंमें ही फुलवारी पावेगी ।

द्वादश कुआँ एक वनमाली उलटा नीर चलावै ।
सहजि सुषमना कूल भरावै दह दिसि बाड़ी पावै ॥

(पद २१४)

कभी-कभी ईंधन जलाकर जिस प्रकार भट्टीसे सुरा चुआ लेते हैं, उसी प्रकार अन्तरके महारसको गगनमें चुआकर उसी सुरामें मत्त होना चाहते हैं । परन्तु आश्चर्य यह है कि इस गगनरसको उन्होंने भक्तके समान 'रामरस' बना लिया है । उनके योग और भक्तिसम्बन्धी मत इसी प्रकार युक्त हैं । इसी रामरसमें मतवाला होना ही कबीरकी एकान्तवासना है ।

गगन साल चुए मेरी भाठी । सचि महारस तन भया काठी ।
वाकौ कहिये सहज मतवारा । पीवत रामरस ज्ञान विचारा ॥
.. ..

(परिशिष्ट पद ५८)

'चन्द्र और सूर्य ये दोनों ज्योतिके स्वरूप हैं । इसी ज्योतिके अन्तरमें अनुपम ब्रह्म विराजमान हैं । ऐ ज्ञानी, यहींपर ब्रह्म-विचार करो—

चंद सुरज दुइ जोति सरूप । जोति अन्तरि ब्रह्म अनूप ॥
करु रे ज्ञानी ब्रह्म विचारू । (इत्यादि परिशिष्ट पद ६७)

कभी-कभी कबीरने योगीके भेषको रूपककी भाँति ग्रहण करके, सुरति-निरति आदिद्वारा सजाया है ।

अवधू जोगी जगथे न्यारा ।
मुद्रा निरति सुरति करि सींगी नाद न खंडै धारा ॥

(पद ६९)

निरति मुद्रा और सुरति सिंगासे सज्जित होकर वह योगी जगत्में 'चेतन-चौकी' पर बैठकर उस मधुर महारसको पान करता है, जिस महारसको इस अन्तरकी भट्टीमें चुआया गया है । वहाँ बैठकर वह दुनियाकी ओर ताकता भी नहीं—

बसै गगनमें दुनी न देखै, चेतनि चौकी बैठा ।
चढ़ि अकास आसन नहिं छाड़ै, पीवै महारस मीठा ॥

(पद ६९)

गगनभट्टी चुआकर जिस अमृतरसका निर्झर झरा करता है, उसे ही पान करना होगा । रसमें ही झरा करता है वह रस ।

गगन ही माँठी सींगी करि चूँगी कनक कलस एक पावा ।
तहुआँ चवै अमृत रस नीझर रसहीमें रस च्वावा ॥

(पद १५३)

यहींपर मनको मत्त कर देनेवाला 'रामरसायन' पान करना होगा । दुनियामें सब भ्रमकी साधनामें भूले हैं—
....

यह दुनिया कॉइ भरम भुलानी ।
मैं राम रसाइन माता ॥ (वही पद)

गगनमण्डलमें घर करना होगा । क्योकि यहीं सदा अमृत झरा करता है, सदानन्द उपजता है; वङ्कनालका रस पान करना होता है—

अवधू गगनमडल घर कीजै ।
अमृत झरै सदा सुख उपजै वकनालि रस पीवै ॥
इत्यादि (पद ७०)

कभी-कभी कबीर अधोधाराको ऊर्ध्वमें उठानेके लिये जिन सब आयोजनोंकी ज़रूरत है उन्हें रूपकके रूपमें सजाकर लय, पवन, मन, सत्य, सुरति प्रभृतिकी सहायतासे सहज ही उस धारामें चलाना चाहते हैं—

ल्यौकी सेज पौनका ढीकूँ मन मटकाज बनाया ।
सतकी पाटि सुरतिका चाठा सहज नीर मुक लाया ॥
(पद २१४)

कभी कबीरका यह योगसम्बन्धी सारा आयोजन रूपकके समान ही है । यद्यपि वह कहते हैं—'हे अवधूत ! मेरा मन मत्त हो गया है, उन्मनिपर चढकर मनने उस महारसको मग्न होकर पान किया है, इसीलिये त्रिभुवन दीप्त हो गया है, उज्ज्वल हो गया है—

अवधू मेरा मन मतिवारा ।
उन्मनि चढ्या मगन रस पीवै त्रिभुवन भया उजियारा ।
. ...
(पद ७२)

किन्तु इस महारसको चुआनेके लिये उन्होंने ज्ञानको किया है गुड़ और ध्यानको किया है महुआ । मन धाराको भट्ठी बनाया है—

गुड करि ज्ञान ध्यान करि महुआ भाठी मन धारा ।
(परिशिष्ट पद ६२, एवं पद ७२)

इससे भी अधिक रूपक १५५ नम्बरके पदमें है—
एक बूँद भरि देइ रामरस ज्यूँ भरि देइ कलाली ।
काया कलाली लाहनि करिहूँ गुरु शवद गुड़ कीन्हाँ ।
काम क्रोध मोह मद मछर काटि काटि कस दीन्हाँ ॥
इत्यादि (पद १५५)

योगियोंका काम ही है, सारङ्गी बजाकर गानके सुरमें सबके चित्तको जागरित करना । यह बात भी कबीर रूपकसे दिखाना चाहते हैं—वह योगी इस तनुयन्त्रको बजाता है । इसीलिये धर्मके दण्डमें, सत्यकी खूँटीमें, तत्त्वकी ताँत बाँधकर यह यन्त्र रचा गया है । मनके निश्चल आसनपर बैठकर रसनासे जपो उस रसको । इस प्रकार ससारका आवागमन छूट जाता है ।

जोगिया तनकौ जन्त्र बजाइ, ज्यूँ तेरा आवागमन मिटाइ ॥
तन करि ताँति धर्म करि डाँडी, सतकी सारि लगाइ ।
मन करि निहचल आँसन निहचल, रसनाँ रस उपजाइ ॥
(पद २०८)

यहाँके पद २०४, २०५, २०९, २१० और २११ मे नानाभावसे योगको अध्यात्मसाधनाके अर्थमे प्रयोग किया गया है ।

उन दिनो एक तरफ तो थी प्रवल मुसलमानी साधना और दूसरी ओर थी योगियोकी योग-साधना । कबीरने दोनोंको ही स्वीकार किया है,पर अपने रास्तेसे । मुसलमान-धर्मपर उन्होंने कम आघात नहीं किया (देखिये—साचकौ अङ्ग ५—९ इत्यादि) योगियोंके ढोंगपर भी उन्होंने कठोर रूपसे आघात किया है । 'जोगी पड़े कि जोग कहै घर दूर है' इत्यादि कबीरके ही तीव्र कशाघात हैं । मन-ही-मन शायद उन्होने समझा था कि आघात करनेसे कोई लाभ नहीं, इसीलिये उन सारी बातोंको रूपकके द्वारा व्याख्या कर आत्मसात् कर लेना चाहा है ।

मुसलमानके लिये उनका कहना था कि मनको कर लो मक्का और देहीको करो किवला । इस काया-मसजिदमें ही तो दस दरवाजे हैं, वहीं जाकर बाँग दिया करो—

मन करि मक्का किवला करि देहीं । बोलनहार परम गुरु एही ॥
कहु रे मुल्ला बाँग निवाज । एकै मसीति दसै दरवाज ॥
(परि० पद १५७)

उन दिनोके साधारण लोक-प्रचलित योगमतवादी योगियोंके प्रति भी उनका प्रहार मामूली नहीं है । जोगी दण्ड, मुद्रा, कन्था प्रभृति लेकर भ्रमका भेख धरे घूमा करते हैं । अरे पागल ! आसन और पवन दूर कर दे और कपट छोड़कर नित्य हरिको भज । जिसे तू चाहता है वह स्वय त्रिभुवनको भोग रहे हैं, फिर संसारमें तुम्हारी इस योग-साधनाका अर्थ क्या है ?

डंडा मुद्रा खिंथा आधारी । भ्रमके भाइ भवै भेखधारी ॥
आसन पवन दूरि करि बवरे । छोडि कपट नित हरि भज बवरे ॥

जिहि तू जाचहि सो त्रिभुवनभोगी। कहि कबीर कैसो जग जोगी॥

फिर इसी योगीको समझाकर वह अपनालेते हैं—'पागल! मनकी मैल छोड़ दे। सिङ्गा, मुद्रा वगैरह दिखाकर लोगोको ठगनेसे क्या लाभ है? विभूति लगानेसे ही क्या होता है?'

आसन पवन किये दिढ़ रहु रे। मनका मैलु छाँडि दे बौरे॥
क्या सिंगी मुद्रा चमकायें। क्या विभूति सब अंग लगायें॥
(पद ३५५)

इसके वाद रूपक दिखाकर वह योगीके मतको आत्मसात् ही कर लेना चाहते हैं। 'वही तो योगी है, जिसकी मुद्रा है मनमें, अपनी साधनामें वह रात-दिन जगा रहता है। मनमें ही है उसका आसन और मनमें ही है उसकी स्थिति। मनमें ही उसका जप-तप है, मनमें ही वातचीत है। मनमें ही है उसका खप्पर, मनमे ही सिङ्गा, वहींपर वह अनाहत नाद भी वजाता है। पञ्चको दग्ध करके ही वह विभूति वनाता है। कबीर कहते हैं, वही तो जीतेगा लङ्का'—

सो जोगी जाके मनमैं मुद्रा। रात दिवस ना करइ निद्रा॥
मनमें आसन मनमं रहनॉ। मनका जप तप मनसूँ कहनाँ॥
मनमें खपरा मनमं सींगी। अनहद वेन वजावै रगी॥
पच पर जारि भसम करि मूका। कहै कबीर सो लहसै लका॥
(पद २०६)

कबीरने उसीको सच्चा योगी वताया है जो लोक-प्रचलित योगीपनके अतीत है। अर्थात् सारे सकीर्ण विधि-विधानोंसे मुक्त साधक ही कबीरका चिर-आकांक्षित साधक है। ऐसे साधकका न तो कोई दल होता है और न कोई सम्प्रदाय। दल वॉधते ही नाना मिथ्या आवर्जना अधिकार जमा लेती हैं। इसीलिये उनका कहना है 'वावा! जिस योगीका न मेला है और न तीर्थ, वही एक शब्दहीन योगी है। उसके पास झोली नहीं, पत्र नहीं, विभूति नहीं, वटुआ भी नहीं, वही अनाहत वेन वजाता है'—

वावा जोगी एक अकेला। जाके तीरथ वरत न मेला॥
झोली पत्र विभूति न वटवा। अनहद वेन वजावै॥
इत्यादि (पद २०७)

ऐसा ही योगी तो 'मनका मानुष' है। इसे वाहर पाया कैसे जाय? इस योगीका मर्म जो समझता है वही राममे रमता है। त्रिभुवन उसे उपलब्ध होता है। प्रकट कन्थामें छिपा हुआ है वह गुप्त आधारी। उसमें जो मूर्ति है वही तो इस जीवनका प्रिय है। प्रभु निकट ही हैं, लोग उन्हे दूर खोजा करते हें। ज्ञानगुहामे भर लो सींगा। कबीर कहते हैं कि जो भक्त प्रतिक्षण अमृत-वल्लीका रस पान करता है वही युग-युग जीता है।

जो जोगियाकी जुगति वूझै। राम रमैं ताको त्रिभुवन सूझै॥
परगट कथा गुपुत अधारी। तामैं मूरति जीवनि प्यारी॥
है प्रभु नेरैं खोजैं दूरी। ग्यॉनगुफामें सींगी पूरी॥
अमरवेलिको छिन छिन पीवै। कहैं कबीर सो जुग जुग जीवै॥
(पद २०५)

सचमुच ही जो योगी है उसकी साधना विश्वब्रह्माण्ड-को लेकर है। वह एक मुट्ठी भीखके लिये घर छोड़कर नहीं निकलता। कबीर कहते हैं कि वही योगी तो असल योगी है जो नवखण्ड पृथिवीको भिक्षामे मॉग लेता है। ज्ञान ही उसका कन्था है। ध्यानकी सुईसे 'शब्द' के तागेसे वह उसकी रचना करता है। पञ्चतत्त्वके सन्धानमें वह निकल पड़ता है गुरुके रास्ते। कायाकी धुनी रमाकर वह दृष्टि-अग्नि जला रखता है 'दया है उसकी खड़ाऊँ—सव योगोंका सार राम-नाम' ही उसकी काया है, वही उसका प्राण है। जिसने जीवनमें उनकी कृपा पायी है वही सत्यकी घोषणा कर जाता है—

. . . .

नव खडकी प्रथमी मॉगे सो जोगी जगसारा।
खिंथा ग्यान ध्यान करि सूई सबद ताग मथि घालै।
पचतत्वकी करि मिरगानी गुरुके मारग चालै।
दया फाहुरी काया करि धूई दृष्टिकी अग्नि जलावै।

सब जोग तम राम नाम है जिसका पिंड पराना।
कहु कबीर जे किरपा धारै देइ सचा निसाना॥
(परि० पद १४६)

'वही तो जोगी है जिसका सहज भाव है, अखण्ड प्रेमकी भिक्षा ही जिसका उपजीव्य है। अनाहत शब्द ही जिसका सिङ्गानाद है। जिसके न तो काम-क्रोध हैं और न विषयवाद' इत्यादि—

सो जोगी जाके सहज भाइ। अकल प्रीतिकी भीख खाइ॥
सवद अनाहद सींगी नाद। काम क्रोध विषिया न वाद॥
इत्यादि (पद ३७७)

ऐसा आत्मानन्द योगी ही महारस पान करके अमृत-रस सम्भोग करता है—

आतमा अनन्दी जोगी। पीवै महारस अमृत भोगी॥
इत्यादि (पद २०४)

योगकी यह परिपूर्ण दृष्टि जब आती है तो फिर संसारके इस मिट्टीके घरमें मन नहीं रहना चाहता। उस समय श्रीहरिके साथ युक्त होकर रहनेकी ही व्याकुलता दिखायी देती है—

इब न रहूँ माटीके घरमैं। इब मैं जाइ रहूँ मिलि हरिमैं॥
इत्यादि (पद ७७३)

सारे योगका मूलगत अर्थ और उसकी अन्तिम परिणति भगवान्‌के साथ प्रेम-मिलनमें है। जिस कबीरने सर्व धर्मोंका समन्वय करना चाहा है, उनसे क्या हम किसी साम्प्रदायिक साधनाकी आशा कर सकते हैं? कबीरकी महादृष्टिमें सभी साधनाएँ एकत्र हुई हैं। बाघ और बकरीको एक घाट वही पानी पिला सकता है जिसमें सामर्थ्य है। कबीरकी साधनाका माहात्म्य तभी समझमें आता है जब हम हिन्दू और मुसलमान साधनाको एकत्र सङ्गत देखते हैं। उन्होंने योग और भक्तिको परस्परसे आसक्त किया है। यह बात, किन्तु, ठीक, है कि कबीरके निकट ज्ञान, कर्म, योग, भक्ति सभी साधनाएँ नदियोंके समान हैं। सब साधनाओंका अवसान हुआ है भगवत्प्रेमके समुद्रमें।

स्वामिनारायणसम्प्रदायमें योग

(लेखक—दार्शनिकपञ्चाननषड्दर्शनाचार्य, सांख्ययोगतीर्थ, नव्यन्यायाचार्य, पण्डित श्रीकृष्णवल्लभाचार्य स्वामिनारायण)

स्वामिनारायणजी संसारमें योगरीतिसे ही धर्मोपदेश देते थे, स्वयं योग करते थे और शरणागतोंको सिखाते थे। अष्टाङ्गयोगकी प्रणाली प्रधानरूपसे आपको स्वीकृत थी। उन्होंने अपने अनेक शिष्योंको योगी बनाया और उनका कल्याण किया। श्रीवैष्णवाचार्य नारद, व्यास, रामानुज आदिकी रीतिसे परम भागवतधर्मका प्रचार कर गये। उनके उपदेशोंमें स्थान-स्थानपर अष्टाङ्ग-योगके साथ-साथ भक्तिको प्रधान स्थान मिला है। श्रीस्वामिनारायणसम्प्रदायके 'शिक्षापत्री' नामक ग्रन्थमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह इन पाँच यमोंको तथा शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान इन पाँच नियमोंको पालनेका विधान अति-नियोगपूर्वक किया गया है। उनके समयसे बराबर यम-नियमोंकी प्रणाली चली आती है, और वर्तमान समयमें भी उनके आश्रित लोग उनकी आज्ञाके उल्लङ्घनको अधोगतिप्रद समझकर उनके आज्ञानुसार बराबर यम-नियमादिपर ध्यान रखकर सब क्रियाएँ आचरणमें लाते हैं।

यम तथा नियमकी आज्ञाएँ

अहिंसा—

कस्यापि प्राणिनो हिंसा नैव कार्यात्र मामकैः।
सूक्ष्मयूकामत्कुणादेरपि बुद्ध्या कदाचन॥११॥
देवतापितृयागार्थमप्यजादेश्च हिंसनम्।
न कर्तव्यमहिंसैव धर्मः प्रोक्तोऽस्ति यन्महान्॥१२॥

'हमारे आश्रित जन किसी भी जीव प्राणीकी हिंसा कभी न करें और जान-बूझकर छोटे जूँ, खटमल, मच्छर आदिको न मारें। देवता, पितृ, याग इनके लिये बकरा आदिकी हिंसा कभी न करें, क्योंकि अहिंसा ही परम धर्म है।'

सत्य—

मिथ्यापवादः कस्मिंश्चिदपि स्वार्थस्य सिद्धये।
नारोप्यो नापशब्दाश्च भाषणीयाः कदाचन॥२०॥

'अपने स्वार्थकी सिद्धिके लिये कभी मिथ्या न बोलना, मिथ्या आरोप न करना और अपशब्द भी न बोलना।'

अस्तेय—

स्तेनकर्म न कर्तव्यं धर्मार्थमपि केनचित्।
सस्वामिकाष्ठपुष्पादि न ग्राह्यं तदनाज्ञया॥१७॥

'धर्मकार्यके लिये भी हमारा कोई भी आश्रित चोरीका कार्य न करे और मालिकका काष्ठ, पुष्प आदि जो हो

उनको उसके मालिककी आज्ञा विना न ले' इत्यादि ।

ब्रह्मचारी—

नैष्ठिकव्रतवन्तो ये वर्णिनो मदुपाश्रयाः ।
तैः स्पृश्या न स्त्रियो भाष्या न न वीक्ष्याश्च ता धिया १७५
तासां वार्ता न कर्तव्या न श्रव्याश्च कदाचन ।
तत्पादचारस्थानेषु न च स्नानादिकाः क्रियाः ॥१७६॥
न स्त्रीप्रतिकृतिः कार्या न स्पृश्यं योषितोऽंशुकम् ।
न वीक्ष्यं मैथुनपरं प्राणिमात्रं च तैर्धिया ॥१७७॥

'नैष्ठिक व्रतके ब्रह्मचारी लोग स्त्रियोंको स्पर्श न करें, उनसे भाषण न करें, उनको न देखें, उनकी बातें न करें, न सुनें, उनके आने-जानेके स्थानोंपर स्नानादि न करें, स्त्रीका चित्र न बनावें, स्त्रीके वस्त्रोंको स्पर्श न करें, मैथुनासक्त प्राणीको न देखें' इत्यादि ।

अपरिग्रह—

न द्रव्यसंग्रहः कार्यः कारणीयो न केनचित् ॥१८९॥

'द्रव्यादिका सग्रह कभी न करें, न करावें ।'

शौच—

कायिक, वाचिक, मानसिक बहुत प्रकारके शौच शिक्षापत्री तथा अन्य धर्मग्रन्थोंमे निर्दिष्ट किये हैं ।

सन्तोष—

भाव्यं शमदमक्षान्तिसन्तोषादिगुणान्वितैः ॥८९॥

'सदा शम, दम, क्षमा, सन्तोष आदि गुणोंसे युक्त हो ।'

तप—

उपवासदिने त्याज्या दिवा निद्रा प्रयत्नतः ॥८०॥

'उपवासके दिन दिनमें निद्रा न लेना ।' (रात्रिको जागरण करना तथा तप्तकृच्छ्रचान्द्रायणादि कायिक, वाचिकादि भेदोंसे बहुत प्रकार शिक्षापत्री टीका तथा भाष्यमें वर्णन किये गये हैं ।)

स्वाध्याय—

संस्कृतप्राकृतग्रन्थाभ्यासश्चापि यथामति ॥६५॥
अभ्यासो वेदशास्त्राणां कार्यश्च गुरुसेवनम् ॥१८५॥

'यथामति सस्कृत प्राकृत ग्रन्थोंका तथा वेदशास्त्रोंका अभ्यास करना, गुरुकी सेवा करना ।'

ईश्वरप्रणिधान—

भक्तैरेतैस्तु कृष्णायानर्पितं वार्यपि क्वचित् ।
न पेय नैव भक्ष्यं च पत्रकन्दफलाद्यपि ॥६०॥

'भगवद्भक्तोंको चाहिये कि भगवान्‌को समर्पण किये विना जल भी कभी न पीयें, और पत्र, फल, फूल भी अर्पण किये विना अपने उपयोगमें न लें ।'

इन श्लोकोंकी टीकामें सम्पूर्ण विधियाँ बतायी हैं । ये सब विशेषरूपसे सम्प्रदायमें प्रचलित हैं । यम-नियमोंके योगदर्शनमें जो फल हैं वे सब भगवान् श्रीस्वामिनारायणने अनेक स्थलोंमे चमत्काररूपमें बताये हैं । उनका वर्णन साम्प्रदायिक ग्रन्थोंमे है ।

आसन, प्राणायाम, प्रत्याहारको भगवान् स्वामिनारायण स्वय करते थे और शिष्योंको सिखाते थे । उस समयसे गुरुपरम्परासे आसनादि अभीतक अनेक व्यक्तियों में प्रचलित हैं । विशेषरूपसे ध्यान, धारणा और समाधिपर ही निर्भर होकर स्वामिनारायणसम्प्रदायकी जड़ ससारमें फैल गयी । भगवान् श्रीस्वामिनारायण स्वय जन्मसिद्ध योगनिधि थे । उनको योगरीति सीखनी नहीं पड़ी । आप छप्पिया नगरमे ब्राह्मणकुलमें धर्मदेव तथा भक्तिमातासे सवत् १८३७ के चैत्रशुक्ल नवमीके दिन जन्मग्रहण करके जन्मसे ही अलौकिक चमत्कार दिखाने लगे ।

श्रीस्वामिनारायण भगवान् जन्मसिद्ध योगी थे, इसलिये गुरूपदेशके विना भी वह यम-नियम बराबर पालते थे, यम-नियमोंके फलोंके चमत्कार भी उनकी जीवनीमें प्रसिद्ध हैं । चौरासी (८४) से ऊपर आसन करते थे, उनके प्रदर्शनकी यहाँ कोई आवश्यकता नहीं । धौति, बस्ति, नेति, त्राटक, नौलि, कपालभाति इन क्रियाओंको करते थे तथा सन्तोंको सिखाते थे । रेचक, पूरक, कुम्भकादि प्राणायाम करते थे, और कुम्भकप्राणायामको दीर्घकालतक करके आकाशमार्गमें उठ जाते तथा क्षणमात्रमें देशान्तरमें चले जाते थे । कुम्भकप्राणायामके भेद—सूर्यभेदन, उज्जायी, सीत्करी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा, प्लाविनी आदि तथा महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, उड्डियान, मूलबन्ध, जालन्धरबन्ध आदि करते थे । ये सब क्रियाएँ श्रीस्वामिनारायण भगवान्‌ने जन्मसिद्ध महायोगी श्रीगोपालानन्द स्वामीको विशेषरूपसे बतायी थीं । धारणा, ध्यान और समाधिमें सिद्ध थे और लक्षावधि मनुष्योंको ध्यानमें बैठाकर नाडी-प्राण खींचकर समाधि कराते थे । मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञाचक्र, सच्चिदानन्दसहस्रारको वेधते थे ।

वे अपने यौगिक ऐश्वर्यप्रतापसे असंख्य प्राणियोंका कल्याण करते थे । अपनी जीवनलीलामें अगणित बड़े-बड़े

आश्चर्यजनक ऐश्वर्यचमत्कार उन्होंने दिखाये हैं। वे सब 'श्रीहरिलीलाकल्पतरु' 'सत्संगिभूषण' और 'सत्संगिजीवन' आदि साम्प्रदायिक ग्रन्थोंमें वर्णित हैं। सत्संगिजीवनके पञ्चम प्रकरणमें अध्याय ५६ से ६५ तक श्रीस्वामिनारायण भगवदुपदिष्ट अष्टांगयोग ही निरूपित है। उन्होंने उत्तरावस्थामें कठिन साधनोंकी ओर ध्यान कम करके धारणा, ध्यान और समाधि इन्हीं तीनोंका प्रचार अधिक किया और इनसे ही कोट्यवधि मनुष्योंको भगवद्भक्तिमें जोड़ा। बहुत-से सरल उपाय भी 'वचनामृतों'में बताये हैं—

सभामें श्रीस्वामिनारायण भगवान्ने ध्यानकी एक ऐसी युक्ति बतायी कि जिस ध्यानसे बड़े-बड़े भी सिद्धदशाको पा गये। उस ध्यानके समान अन्य कोई ध्यान नहीं है। जैसे कोई चमत्कारी मन्त्र अथवा ओषधिमें स्वाभाविक चमत्कार रहता है, वैसे ही इस ध्यानमें स्वाभाविक चमत्कार है जिससे साधक सिद्धदशाको पा जाते हैं। साधक अपने दक्षिण नेत्रमें सूर्यका ध्यान करे और वाम नेत्रमें चन्द्रका ध्यान करे, इस प्रकार ध्यान करते-करते सूर्य और चन्द्र जैसे आकाशमें हैं वैसे ही जब नेत्रमें भी दीखने लगें, तब दक्षिण नेत्र तपने लगेगा और वाम नेत्र शीतल होने लगेगा। उसके बाद सूर्यकी धारणा वाम नेत्रमें करना और चन्द्रकी धारणा दक्षिण नेत्रमें करना। इस प्रकार धारणा करके सूर्य और चन्द्रको अन्तर्दृष्टि करके हृदयाकाशमें देखते रहना और द्रष्टा जो जीव है, उसके स्वरूपको भी देखना, और जीवके स्वरूपमें परमात्माका ध्यान करना। उसके बाद ध्याताका जो वासनायुक्त लिङ्गदेह है वह चक्रके समान आकाशमें घूमता हुआ भासने लगेगा। पश्चात् ध्यान करते-करते उसको भगवान्के विश्वरूपका दर्शन होता है, उसमें चौदह लोकोंकी रचना दिखायी पड़ती है तथा समग्र ब्रह्माण्डादि पदार्थ दिखायी पड़ते हैं। पश्चात् अणिमादि सिद्धियाँ भी उसको प्राप्त होती हैं, और सूर्यचन्द्रकी किरणें जहाँतक पहुँचती है वहाँतक उस ध्याताकी दृष्टि पहुँचती है। सिद्धियाँ मिलनेपर भी भगवद्भक्त होनेके कारणसे साधक उन सिद्धियोंको ग्रहण नहीं करता, केवल परमेश्वरका ध्यान ही करता है। तब वह ध्याता नारद, सनकादि, शुकदेवजीके समान चरम सिद्धदशाको पाता है। भगवद्भक्तको यह ध्यान सिद्ध होता है और तात्कालिक सिद्धदशा प्राप्त करनेका यह उत्तम उपाय है।

(अमदावादवचनामृत १)

आत्मनिष्ठा तथा भगवान्का माहात्म्य-ज्ञान इन दोनोंमे जितनी न्यूनता रहे उतनी ही पूर्णकामभावमें भी न्यूनता रहती है। एक हरिभक्तको समाधि हुई, उसमे उसको अतिशय तेज दिखायी दिया, तेजको देख वह चिल्लाने लगा और कहने लगा कि मैं जलता हूँ। तब उस भक्तको यह समझाया गया कि तुम्हारा स्वरूप तो अच्छेद्य अभेद्य आत्मा है, देह नहीं है और फिर उसको कहा कि इस गणपतिके स्थानमें चार दलोंका कमल है, वहाँ जाकर अपने स्वरूपको देखो, समाधिवाला जब गणपतिके स्थानमें जाता है तब वहाँ नाद सुननेमें आता है तथा प्रकाश दीखता है, और उससे परब्रह्मके स्थानमें जाता है तब नाद भी खूब सुनायी देता है और तेज भी अतिशय दीखता है। उसके बाद जब विष्णुके स्थानमें जाता है तब अतिशय नाद सुनता है और तेज भी अधिक दीखता है, इस प्रकार जैसे-जैसे श्रेष्ठ-श्रेष्ठ स्थानमें जाता है वैसे-वैसे नाद ज्यादा सुनता है और ज्यादा-ज्यादा प्रकाश भी दीखता है। कभी-कभी भयङ्कर कड़कड़ाहटके शब्द होते हैं। उस समय चाहे कितना ही धीरजवान् हो तो भी धैर्य छूटने लगता है इसलिये देहको आत्मासे भिन्न समझना चाहिये। इस प्रकारकी समाधिके दो भेद हैं—एक तो प्राणायाम करनेसे प्राणका निरोध होता है उसके साथ चित्तका भी निरोध होता है और दूसरा उपाय यह है कि चित्तके निरोधसे प्राणका निरोध होता है—'जब सब स्थानोंसे वृत्ति हटाकर एक भगवान्में जोड़ी जाय, और सब स्थानोंसे वासना मिटाकर एक भगवान्में वासना दृढ़ हो जाय, तब भगवत्स्वरूपसे वह वृत्ति किसीके हटाये भी नहीं हटती। चित्त भगवान्का ही चिन्तन करे, मन भगवान्का ही सङ्कल्प करे, बुद्धि भगवान्के स्वरूपका ही निश्चय करे, 'अहङ्कार—मैं आत्मा हूँ, भगवान्का भक्त हूँ' इत्यादि अभिमान करे। प्राणसे जो चित्तका निरोध होता है वह अष्टाङ्गयोगसे होता है। अष्टाङ्गयोग साधन है, उसका फल निर्विकल्प समाधि है। केवल भगवान्के स्वरूपमें प्रणिधानसे चित्तवृत्तिका निरोध होनेपर अष्टाङ्गयोग बिना साधनासे भी सिद्ध हो जाता है' इत्यादि।

(गढपुर-मध्यप्रकरण, वचनामृत—२६)

सांख्ययोगके और भी बहुत-से प्रकार बताये हैं। इस प्रणालीसे श्रीस्वामिनारायण भगवानने अनेक भक्तोंको योगमार्गका उपदेश देकर उनका कल्याण किया।

श्रीस्वामिनारायणकी परम करुणासे उनके समयमें अनेक भक्तजन दिव्य भावको प्राप्त करके बड़े-बड़े चमत्कार बताते थे, वे क्षणमात्रमें दूर देशान्तरमें चले जाते थे, अदृश्य हो जाते थे इत्यादि। ऐसे चमत्कारवाले बहुत-से योगिजन स्वामिनारायण भगवान्‌के साथ विचरते थे।

श्रीस्वामिनारायणसम्प्रदायमे सद्गुरु श्रीगोपालानन्द-स्वामी जन्मसिद्ध योगी थे और भगवान् श्रीस्वामिनारायणकी आज्ञानुसार अष्टाङ्गयोग सिद्ध करके अन्योंको सिखाते थे। वह 'ईडर' देशमें 'भीलोडा' जिलेमें 'पाडाटोडला' गाँवमें 'मोतिराम' नामके 'माध्यन्दिनी' शाखाके शुक्ल यजुर्वेदी औदीच्यसहस्र ब्राह्मण थे, उनकी पत्नी 'जीवीबा' देवी महासती थीं, उनके घर सवत् १८३७ में माघ शुक्ल अष्टमी सोमवारके दिन पुत्रका जन्म हुआ, उनका नाम खुशाल भट्ट रक्खा गया। आठवें वर्षमें यज्ञोपवीत लेकर खुशाल भट्टने 'शेहेडाई' नगरमें वेदवेदांगादि यावच्छास्त्रोंका अध्ययन किया। इनका जीवन भी यौगिक चमत्कारोंसे पूर्ण था।

श्रीस्वामिनारायण भगवान्‌की शरणमें बहुत कालपर्यन्त रहकर खुशाल भट्टने भागवती दीक्षा ली। एक समय काठियावाड़में एक स्थलपर भूतोंका उपद्रव बहुत था। उसको दूर करनेके लिये महायोगी श्रीगोपालानन्द स्वामीको 'सारङ्गपुर' नगरके 'वाघाखाचर' दरबारने बुलाया। स्वामीने जाकर जल छिड़ककर भूतोंको मोक्ष दिया। उसके बाद विनती करनेसे 'सारङ्गपुर' मे सवत् १९०६ में मन्दिर बनवाकर उसमें हनूमान्‌जीकी प्रतिष्ठा की, प्रतिष्ठाकी आरतीके समयमें योगिराज गोपालानन्द स्वामीने हाथमें काठकी छड़ी लेकर उसको हनूमान्‌जीके चरणोंमें छुआ दिया, उसी समय हनूमान्‌जीकी दिव्य रमणीय पाषाणमय मूर्ति थर-थर काँपने लगी। उस मूर्तिमें साक्षात् हनूमान्‌जीने दिव्यरूपमें प्रकट होकर सबको दर्शन देकर कृतार्थ किया, उस मूर्तिका बड़ा प्रताप है। वर्तमान समयमें भी गुजरात, काठियावाड़, कच्छ, दक्षिण आदि देशोंमें सहस्रों मनुष्य उस मूर्तिका प्रताप जानते हैं। अस्तु।

भगवद्भक्तिके साथ साथ ध्यान, धारणा, समाधि करनेवाले और भी अनेकों सिद्धयोगी सन्तजन श्रीस्वामिनारायण भगवान्‌की सेवामें रहते थे। जूनागढ़में श्रीगुणातीतानन्द स्वामी थे, वे क्षणमात्रमें अदृश्य होकर देशान्तरमें प्रकट होते थे। वैसे ही व्यापकानन्द स्वामी परकाय-प्रवेश करते थे। सच्चिदानन्द स्वामी समाधि लगाते थे। और सन्तदासजी कुम्भक करके आकाशमार्गमें चलते थे। महानुभावानन्द स्वामी, विज्ञानदासजी तथा वासुदेवानन्द स्वामी, स्वरूपानन्द स्वामी आदि दिव्यदृष्टिवाले, भगवान्‌की मूर्तिको धारनेवाले तथा दिव्य ऐश्वर्यवाले योगी थे।

भगवान् श्रीस्वामिनारायणका उपदेश यही था कि कर्मयोग, ज्ञानयोग, सांख्ययोग, अष्टाङ्गयोग आदि बहुत प्रकारके योगोंमेंसे किसी भी योगको सिद्ध करके भगवत्प्राप्ति करनी चाहिये। यदि भगवत्प्राप्ति नहीं हुई तो सब प्रयत्न निष्फल हैं। इस उद्देश्यके अनुसार श्रीस्वामिनारायण भगवान्‌के समयसे चलाया हुआ भक्तियोग ही सब योगोंमें प्रधान माना गया है, और सब योगोंके फल एक भक्तियोगके फलसे चरितार्थ हो जाते हैं। भक्तियोगवालेको अन्य योगोंकी आवश्यकता नहीं रहती। वर्तमान समयमें समग्र स्वाश्रित जनतामे भक्तियोगको प्रधानरूपसे स्थान मिलता है। भगवान्मे प्रेम-पराकाष्ठाको भक्ति कहते हैं। मुमुक्षुजन विषयोंसे विरक्त होकर अपने रक्षणके लिये वात्सल्यादि गुणसागर पुरुषोत्तम नारायणके समीप जाकर—'हे भगवन्! तुम्हारी प्राप्तिके साधनरूप तुम ही हो'—इस प्रकार महाविश्वासपूर्वक याचना करे, यही प्रपत्ति और शरणागति कहाती है। इस प्रपत्तिमें भगवान्‌की प्रसन्नतासे प्रारब्धका भी नाश हो जाता है—

साध्यभक्तिस्तु सा हन्त्री प्रारब्धस्यापि भूयसी।

(न्यायसिद्धाञ्जन)

भक्तजन भगवान्‌के शरणमें रहकर प्रेमभक्तिमें यहाँतक लीन हो जाते हैं कि उस समय न तो उनको शरीरका भान रहता है, न इन्द्रियोंका या अन्तःकरणका विषयाभिज्ञान रहता है। सब वृत्तियाँ भगवान्‌में लग जाती हैं, नेत्रोंसे प्रेमाश्रु बहने लगते हैं। प्रेमसे अहो! अहो! पुकारता हुआ भक्त सदा पुलकित रहता है, उसके शरीरको कोई मारे, काटे, जला डाले, धूल लपेटे, कीचड़ लगावे, चाहे कुछ भी करे, उस प्रेममग्न भक्तको उससे कुछ नहीं होता। उसकी वृत्तियाँ दिव्य मूर्तिमे लीन हो जाती हैं, जिससे तनु भी दिव्यभावको पा जाती है। पृथिवी, जल आदि उसे आवरण नहीं करते। ऐसी स्थितिके बाद स्वेच्छानुसार तत्काल या दीर्घकाल होनेपर ऐसे भक्त शरीर त्यागकर ब्रह्मलोकमें भगवान्‌की शरणमें जाकर परम मुक्तिको पाते हैं। ऐसी ब्रह्मदशाके लिये श्रीस्वामिनारायण भगवान्‌ने तथा उनके ब्रह्मनिष्ठ भक्तजनोंने बहुत-से ग्रन्थोंमें उपदेशद्वारा सरल मार्ग बताये हैं—

व्यर्थः कालो न नेतव्यो भक्तिं भगवतो विना।

(शिक्षापत्री)

महायोग

(लेखक—श्रीरमणमहर्षिके एक भक्त)

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदꣳ सर्वं विदितम् । (बृहदारण्यक० २।४।५)

'हे मैत्रेयी ! आत्मा ही देखने, सुनने, मनन और निदिध्यास करनेयोग्य है, जिसे देखने, सुनने, समझने और अनुभव करनेसे सब कुछ जाना जाता है।'

श्रुति है—

अयमात्मा ब्रह्म ।

'यह आत्मा ब्रह्म है ।'

तैत्तिरीय उपनिषद्में ब्रह्मको 'तटस्थ लक्षण' से इस प्रकार बतलाते हैं—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, तद्विजिज्ञासस्व, तद्ब्रह्मेति ।

अर्थात् सृष्टि, स्थिति और लय तीनोंका कारण ब्रह्म है। स्वरूपलक्षणसे इस प्रकार बतलाते हैं—

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ।

'ब्रह्म सत्य है, ज्ञानस्वरूप है और अनन्त है।' और—

सत्तामात्रैकप्रकाशकं प्रकाशम्, हृत्पुण्डरीकम्...... न तेजो न तमः ।

'एकमात्र सत्ता है, सबको प्रकाशित करनेवाला प्रकाश है, हृत्पद्म है, न शुक्ल है न कृष्ण है।'

फिर भी ब्रह्मको मन-वाणीके परे ही कहा है—

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।

'जहाँसे मनसहित वाणियाँ खाली हाथ लौट आती हैं।' वास्तविक ज्ञान अनुभवसे ही प्राप्त होता है। उसी अनुभवके लिये श्रवण, मनन, निदिध्यासन करनेको कहा है। अथवा—

तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व, तपो ब्रह्मेति ।

तपसे उस ब्रह्मको अनुभव करो, तप ही ब्रह्म है।

मनसश्चेन्द्रियाणां च ह्यैकाग्र्यं तपः ।

'मन और इन्द्रियोंकी एकाग्रता तप है।' यही अभिप्राय पतञ्जलिके 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' का है। तप है—

बाह्यान्तःकरणसमाधानम् ।

'इन्द्रियों और अन्तःकरणका समाधान।' यही बात इसमें भी है—'तमक्रतुः पश्यति' पूर्ण समाहित स्थितिमें ब्रह्मको देखता है। दोनों बातें एक ही हैं। पर तपमें एक बात और है—तप शोषण है, जो बात 'नेति-नेति' में है। तप, योग और निदिध्यासन तीनोंका इस प्रकार सामञ्जस्य हुआ है और तीनों एक हुए हैं।

यदि यह सत्य है कि 'मैं ब्रह्म हूँ (अहं ब्रह्मास्मि)', यदि 'यह जो कुछ है आत्मा है और आत्मा ही सत्य है और वही आत्मा है और वही तुम हो (एतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि),' यदि आत्मा नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्त है, 'नित्य सिद्ध' है और 'एक' है तो यह क्या बात है कि हम दुखी होते हैं और परमानन्द और अमृतत्व, आद्यकैवल्यसे वियुक्त हो जाते हैं ! यह वियोग आखिर किससे किसका हुआ है ? यही अनुसन्धानका प्रस्थान-बिन्दु है और महायोग इसीका उत्तर देता है। आत्मा तो दो नहीं हो सकते, आत्मा अकेला है और एक ही है—

यस्मिन्सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥
(ईशोपनिषद् ७)

'जिसमें सब भूत आत्मा ही हो जाते हैं, वहाँ उस एकत्वके देखनेवाले ज्ञानीके लिये मोह और शोक क्या है ?'

आत्मा विभु होनेसे सर्वत्र व्याप्त है और सब कुछ वही है। अभी जो पृथग्विध नाना भाव देख पड़ते हैं यह विपरीत ज्ञानसे देख पड़ते हैं। यथार्थ ज्ञान होनेसे एक ही अव्ययभाव देख पड़ेगा।

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भू-
स्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् ।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष-
दावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥
(कठ० २।१।१)

स्वयम्भू (परमात्मा) ने बहिर्मुख इन्द्रियोंको निर्माण किया। इस अपने अन्तरात्माको कोई नहीं देख पाता। पर कोई धीर पुरुष अमृतत्वका इच्छुक होकर अन्तर्दृष्टि

साधकर प्रत्यगात्माको देख लेता है अर्थात् अन्तर्मुख होनेसे ही अन्तर्यामीका बोध होता है।

निदिध्यासनका जो वास्तविक अभिप्राय और कार्य है वह महायोगमें उत्तम रीतिसे दर्शित हुआ है। महायोगका जो साध्य है वही उसका साधन है। साधकको केवल इतना ही करना पडता है कि वह अपने विचारोंके प्रवाह-को रोककर इस मूल विचारपर आ जाय कि 'मैं कौन हूँ (कोऽहम्)?' यह मूल विचार उसे हृच्चक्रमें ले जाकर छोड़ देगा, फिर उसे वहीं आसन जमाकर बैठ जाना है, वहीं उसकी निजगृहस्थिति और सनातन आत्मसत्ता है।

परन्तु यदि इस मायापटलको कुछ और ही समझा जाय और इसमें अनेक प्रकार और स्तर देखे जायँ तो निदिध्यासन भी तत्तत्प्रकार और स्तरके अनुसार हो जायगा। महायोगका रास्ता तो सीधा और साफ है। पर अधिकारभेदके अनुसार जो अन्य साधनाएँ हैं वे कठिन और कष्टसाध्य हैं। निदिध्यासनके अनेक प्रकार प्रचलित हैं जिनमेंसे निदिध्यासनका एक विशिष्ट पञ्चविध प्रकार यह है—

(१) महायोग—अर्थात् उस अन्तर्यामी सदात्मा—प्रत्यगात्मामें स्थित होना, जो आदिमें—सृष्टिके मूलमें, अन्तमें—संहारके मूलमें और मध्यमें ज्ञान और अज्ञानके मूलमें रहता है।

(२) मन्त्रयोग—अर्थात् स्वरोंके मूलको आत्मामें ढूँढ़ना।

(३) स्पर्शयोग—कुण्डलिनीको जगाकर सुषुम्नाद्वारा सहस्रारमें लेना।

(४) भावयोग—भावोंका ध्यान करना, जैसे—

भूः पादौ यस्य नाभिर्वियदसुरनिलश्चन्द्रसूर्यौ च नेत्रे... इत्यादि।

(५) अभावयोग—परात्पर ब्रह्मका ध्यान।

महायोग यों समझनेमें बड़ा सरल मालूम होता है, पर समझमें आकर भी यह जल्दी समझमें नहीं आता और इसका आचरण करना तो कठिन ही है। हाँ, यदि साधकके पीछे भगवद्दयाका बल हो तो कुछ भी कठिन नहीं है। ऐसे साधकको उत्तम गुरु मिल जाते हैं और सब काम बन जाता है।

परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो
  निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छे-
  त्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥
तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्य-
  क्प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय।
येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं
  प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्॥

(मुण्डक० १।२।१२-१३)

'कर्मसे प्राप्त होनेवाले लोकोंको अच्छी तरहसे देखने-पर ब्राह्मणको यह वैराग्य हो आया कि कर्मसे अकृतरूप ब्रह्मकी प्राप्ति नहीं होती। इसलिये उस ब्रह्मको जाननेके लिये वह समित्पाणि होकर ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रिय गुरुके पास गया। उस विद्वान् (गुरु) ने उस पास बैठे हुए सम्यक् प्रशान्तचित्त और समयुक्त (ब्राह्मण) से तत्त्वतः वह ब्रह्मविद्या कही जिससे सत्य अक्षर पुरुष जाना जाता है।' इसी रीतिसे प्राप्त ज्ञान अमोघ होता है, अन्य प्रकारसे उतना नहीं।

न नरेणावरेण प्रोक्त एष
  सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः।
अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्ति
  अणीयान् ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात्॥

(कठ० १।२।८)

'कोई अनधिकारी पुरुष इसको कहे तो उससे यह सुविज्ञेय (अच्छी तरह जाननेयोग्य) नहीं है। कारण, बहुत प्रकारसे इसका चिन्तन होता है। बिना किसी दूसरेके कहे भी इसमें गति नहीं है, क्योंकि यह अणुप्रमाणसे भी सूक्ष्म और इसलिये अतर्क्य है।'

नैषा तर्केण मतिरापनेया
  प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ॥

(१।२।९)

'यह (आत्म-) मति तर्कसे नहीं मिलती। हे प्रेष्ठ! दूसरेके द्वारा कही जानेपर ही यह अच्छी तरह जानी जाती है।'

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
  न मेधया न बहुना श्रुतेन॥

(१।२।२३)

'यह आत्मा व्याख्यानोंसे, मेधासे या बहुश्रुत होनेसे ही नहीं मिलता।' भगवद्दया ही इसके मिलनेमें मुख्य

कारण है। 'धातुःप्रसादात्' भगवान्‌के प्रसादसे ही यह ज्ञान प्राप्त होता है।

यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूꣳ स्वाम् ॥

'यह आत्मा ही जिसको वरण करता है उसीको यह प्राप्त होता है। उसका यह आत्मा अपनी (आत्म-) तनु उसके सामने प्रकट करता है।'

ऐसी भगवद्दया साधु-सन्तों और ऋषि-महर्षियोंसे ही प्राप्त होती है और तब यह ज्ञान साधकके अन्तःकरणमें प्रविष्ट होकर ठहरता है।

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

(श्वेताश्वतर०)

'भगवान्‌में जिसकी पराभक्ति है, जैसी भगवान्‌में वैसी ही गुरुमें है उस महात्मापर ये कथित अर्थ प्रकट होते हैं।'

सच्चे श्रद्धालु जिज्ञासुको गुरु वाक्यद्वारा उपदेश करते हैं और अपनी मौन और प्रसन्न मुद्रासे प्रसाद प्रदान करते हैं। मौनकी वाणी इतनी सच्ची होती है कि वह अनसुनी नहीं हो सकती और उससे बरसनेवाली करुणाकी शोभा तो अनिर्वचनीय ही है। इस सम्पूर्ण उपदेशका सार एक श्लोकमें इस प्रकार है—

हृदयकुहरमध्ये केवलं ब्रह्ममात्रं
ह्यहमहमिति साक्षादात्मरूपेण भाति।
हृदि विश मनसा स्वं चिन्वता मज्जता वा
पवनचलनरोधादात्मनिष्ठो भव त्वम्॥

(श्रीरमणगीता)

'हृदयकी गुफाके भीतर केवलमात्र ब्रह्म ही है जो 'अहम् अहम्' (मैं, मैं) इस साक्षात् आत्मरूपसे प्रकाशित होता है। इस हृदयमें मनसे प्रवेश करो, अपने आपको ढूँढ़ो या गहरेमें गोता लगाओ या प्राणनिरोध करके आत्मामें स्थित हो जाओ।' ॐ तत्सत्

श्रीअरविन्दका योग

जीवनरूप कलाका एक योग

(लेखक—श्रीनलिनीकान्त गुप्त, पाण्डीचेरी)

(१)

श्रीअरविन्दने जब कहा कि 'हमारा योग हमारे लिये नहीं, प्रत्युत मनुष्य-जातिके लिये है' तब बहुतोंके घबराये हुए प्राण स्वस्थ हुए, क्योंकि उन्हें अब यह आशा हुई कि श्रीअरविन्द-जैसे महान् पुरुष संसारके लेखे सर्वथा नहीं से नहीं हो गये हैं, कुछ तो बचे हैं, नहीं तो (उनकी समझसे) डर तो यह था कि हिन्दुस्थानमें जैसे अन्य अनगिनती सन्यासी बराबरसे ही होते आये हैं वैसे ही यह भी एक और हुए जिनसे न देशका कोई लाभ, न मनुष्यजातिका कोई उपकार!—देश और मनुष्य-जातिको जाने दीजिये, उनका अपना ही कोई उपकार होता हो सो भी नहीं देखनेमें आता! लोगोंने तो यह समझा था कि श्रीअरविन्दका योग एक आधुनिक चीज है और उसका लक्ष्य है मनुष्यजातिकी सेवा। उनकी आत्मस्थिति और आत्मसाधनाका सार तत्त्व चाहे मनुष्य-जातिकी सेवा न हो, पर उसका फल, कम-से-कम, मनुष्य-जातिकी सेवा तो है ही। इन लोगोंके विचारसे श्रीअरविन्द-का योग कोई ऐसा कौशल था जिससे कुछ ऐसी अदृष्ट शक्तियोंका पता लगे और उनसे काम लिया जाय जो कि मनुष्य-जीवनको अच्छा करने और उसका दुःख दूर करनेमें केवल बौद्धिक और वैज्ञानिक पद्धतियोंसे अधिक काम कर जायँ।

श्रीअरविन्दने यह देखा कि हमने जो कुछ कहा उसका मतलब तो ये लोग कुछ और ही लगा रहे हैं और असल चीजको ही भुला रहे हैं। इसलिये उन्होंने अपने शब्द बदल दिये और यह कहा कि 'हमारा योग मनुष्यजातिके लिये नहीं बल्कि परमात्माके लिये है।' पर यह मालूम होता है कि श्रीअरविन्दकी यह बात लोगोंको अच्छी नहीं लगी, उन्होंने इसे पैंतरा बदलना समझा और उदास हो गये; क्योंकि अब तो यह आशा बिल्कुल ही जाती रही

कि श्रीअरविन्द देश या ससारका काम करनेके लिये कभी लौटेंगे। अब तो यह समझा जाने लगा कि श्रीअरविन्द सांसारिक पदार्थोंकी मायासे बिल्कुल अलग 'वेदान्त' मे डूब गये हैं और ससारके लिये वैसे शुष्क और नीरस हो गये हैं जैसा कि अक्षर ब्रह्म।

(२)

श्रीअरविन्दकी साधनाके लक्ष्यका ठीक-ठीक अनुमान करना हो तो यह अच्छा होगा कि हम उनके दिये हुए दोनों वचनोको एक करके यह कहे कि उनका उद्योग मनुष्यजातिमे भगवान्‌को पाना और प्रकट करना है। यही सेवा है जो वह मनुष्यजातिकी करना चाहते हैं— अर्थात मनुष्यजातिमे भगवान्‌को अभिव्यक्त और मूर्तिमान् करना। मनुष्य-जीवनका केवल दुःख दूर करना ही नहीं, बल्कि उसका सर्वथा परिवर्तन और रूपान्तर कराना, मनुष्य-जीवनको दिव्य बनाना ही उनका लक्ष्य है।

यहाँ भी सावधान रहना होगा, अन्यथा अनेक प्रकारके भ्रम हो सकते हैं। मनुष्य-जीवनको दिव्यत्व प्राप्त करानेका यह कोई खास मतलब नहीं है कि सारी मनुष्यजाति ही बदल जायगी और सब मनुष्य देवता हो जायँगे। इसका मतलब है विकास अर्थात् पृथ्वीपर श्रेष्ठ जातिके मनुष्योंका प्रकट होना, ठीक वैसे ही जैसे पशुयोनिसे ही विकास होते-होते मनुष्य उत्पन्न हुआ जिसका यह मतलब तो नहीं होता कि सारी पशु-जाति ही मनुष्यजाति हो गयी—हुआ इतना ही कि पशु-जातिके रहते हुए पशु-जातिमेंसे ही विकासक्रममें मनुष्यजाति उत्पन्न हुई। और अब यह होनेको है कि मनुष्य-जातिके रहते हुए मनुष्यजातिसे श्रेष्ठतर मनुष्यजाति उत्पन्न होगी।

यह जो कुछ होनेको है, इसके विषयमें श्रीअरविन्द कहते है कि यह केवल हो सकनेकी बात नहीं है, होनेवाली है—इसका होना अनिवार्य ध्रुव सत्य है। यहाँ यह बात स्मरण रहे कि जिस शक्तिके द्वारा यह कार्य होगा और अभी इस समय हो रहा है वह कोई वैयक्तिक मानवशक्ति नहीं है, चाहे कोई मानवशक्ति कितनी ही बड़ी क्यों न हो, बल्कि वह शक्ति है स्वय सर्वशक्तिमान् श्रीभगवान्‌की— श्रीभगवान् ही स्वय उस कार्यमें लगे हैं और इसीलिये वह कार्य होनेवाला है।

श्रीअरविन्द-योगकी गूढ़ताका यही असली भेद है। श्रेष्ठतर अर्थात् दिव्य मनुष्योंका उत्पन्न होना चाहे कितना ही अद्भुत और आश्चर्यजनक-सा प्रतीत होता हो, पर बात कि यह बात अब नित्यके व्यवहारमें आ चुकी है क्योंकि यह काम किसी मनुष्यके द्वारा नहीं हो रहा है बल्कि स्वय भगवान् अपनी पराशक्ति, परम ज्ञान और परम प्रेमके साथ इस कामको कर रहे हैं। श्रीअरविन्द-योगकी साधनाका सम्पूर्ण रहस्य ही यही है कि सामान्य मानवप्रकृति–स्वभावमें भगवान् उतर आवें—मानव-प्रकृतिको शुद्ध करें, उसे दिव्य बनावें और उसमें निवास करें। साधकको और कुछ नहीं करना है, केवल शान्त और मौन होकर शान्तिसे भगवत्प्राप्तिके लिये उत्कण्ठ होना, भगवन्मुख होना, भगवदनुकूल होना और भगवद्दयाप्रवाहको ग्रहण करना है, उसे स्वय कुछ भी करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है, न कुछ उसे करना ही चाहिये बल्कि उसके मार्गदर्शक और प्रभु भगवान् ही उसके लिये सब कुछ करते हैं, और भगवान् जो कुछ करते हैं उसके वह केवल अनुकूल होता है। अन्य सब योगमार्ग अथवा पारमार्थिक पन्थ जो पूर्वकालमे हुए, उनका लक्ष्य देहात्मभावका उत्थान होकर आत्मभावको प्राप्त होना और उसीमें मिलकर लय हो जाना रहा है। मनुष्यके प्राणमय कोषमे और मानवप्रकृतिके नित्य व्यवहारमें भगवान्‌का अवतरण हो और वहाँ उनका आसन जमे यह बात उनके विचारमें नहीं थी और यदि किसी अंशमें थी भी तो यह उनकी साधना और सिद्धिका मुख्य लक्ष्य नहीं था। और फिर जिस अवतरणकी बात यहाँ कही जा रही है वह किसी प्रकारके दैवी या भागवत चैतन्यकी बात नहीं है, क्योंकि भगवच्चैतन्यके अनेक प्रकार हैं, यहाँ अवतरणसे अभिप्राय है अपनी शक्तिके साथ भगवान्‌के निज चैतन्यका अवतरण। कारण, भगवान्‌के निज चैतन्यके अवतरणके द्वारा ही इस युगका विकासात्मक रूपान्तर साधित हो रहा है।

इस अवतरणका यथार्थ स्वरूप क्या है, वह कैसे होता है, उसका कार्यक्षेत्र कौन-सा है, और उससे क्या-क्या होगा इत्यादि बातोंका ब्योरा मुझे यहाँ देना है। कारण, यह जो कुछ है, भगवदवतरण है। भगवज्ज्योति पहले बुद्धिमें आती है और वहाँ अपना शुद्धिकार्य आरम्भ करती है—यद्यपि सदा-सर्वदा ही सबसे पहले हृदयके अन्तस्तलमें ही भगवत्सत्ताका अनुभव होता है और वहींसे भगवत्कार्यके होनेमें अनुकूलता मिलती है और फिर बुद्धिके ऊपर कार्यारम्भ होता है, बुद्धिके ऊपर इसलिये कि बुद्धि ही सामान्य मनुष्यभावकी पराकाष्ठा है और भगवज्ज्योतिके प्रकाशके जो प्रवाह आते है उन्हे बुद्धि ही अधिक सुगमता और तत्परतासे ग्रहण करती है। बुद्धिसे यह प्रकाश छनकर चित्तकी नानाविध वृत्तियों और

वासनाओं तथा जीवनकर्मों और प्राणकर्मोंके स्थूल जगत्‌में आता है; अन्तमें यह प्रकाश भौतिक देहके जड और तमसाच्छन्न जगत्‌में आता है, क्योंकि जड शरीरको भी तो प्रकाशमय करके परम ज्योतिका ही आकार और प्रतीक बनाना है। मानवजीवन वह प्रासाद है जिसमें कितने ही कोठे और कितने ही खण्ड हैं और इस प्रासादके परम कुशल स्थपति और प्रभु स्वयं दयामय भगवान् हैं जो इस प्रासादको भगवत्सत्यकी परमानन्दलीला और परम सौन्दर्यकी अभिव्यक्तिके साँचेमें ढालनेके लिये ही दयाभावसे अवतरित हुआ करते हैं। पर यह बात ऐसी है कि इसे वही मनुष्य और भी अच्छी तरहसे सोच समझ सकता है जो इस मार्गके रहस्यद्वारके अन्दर आ गया हो और दीक्षाके मुख्य अग साध चुका हो।

दूसरी बात जो साधारण मनुष्यके मनको बेचैन कर देती है वह यह है कि यह सब आखिर कब होगा—अभी या एक सहस्र संवत्सरके बाद या किसी ऐसे भविष्यकालमे जिसकी गणना देववर्षोंसे की जाय? अथवा वह समय इतना दूर हो सकता है जैसा कि दूरत्व-सादृश्यके लिये एक सज्जनने सूचित किया है कि जितना कि सूर्यके ताप-रहित होकर ठण्डे हो जानेका समय। कार्यकी महत्ता और प्रचण्डताको देखते हुए यदि यह कहा जाय कि इसके लिये अनन्त काल हमारे सामने है तो कुछ भी अनुचित न होगा, और एकाध शत संवत्सर या सहस्र सवत्सर भी इतने बड़े कामके लिये कोई चीज नहीं है, कारण, यह कार्य तो अतीतके असंख्य सहस्र सवत्सरोंके सञ्चितको मिटाकर एक बहुत दूर आगे बढा हुआ भविष्य निर्माण करना है। तथापि जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, यह कार्य भगवान्‌का अपना कार्य है और योगका अर्थ भी कार्य करनेकी वह एकायनीभूत सश्लिष्ट अवगुण्ठित पद्धति है जिससे वर्षोंमें होनेवाला काम एक मिनटमे हो जाय, इसलिये यह आशा की जा सकती है कि जिस कार्यकी यहाँ बात है वह कार्य होनेमें विलम्बकी अपेक्षा शीघ्रता ही अधिक है। यह जो कुछ होना है यहीं होना है और अभी होना है—इसी पार्थिव जीवनकी इस पृथिवीपर और अभी इसी जीवनमें, इसी देहके रहते हुए—फिर कभी या और कहीं नहीं। आखिर इसमें निश्चितरूपसे कितना समय लगेगा, इसका ठीक-ठीक उत्तर तो कई बातोंपर निर्भर करता है पर इसमें दस-बीस वर्ष इधर उधर हो जाना कोई बात नहीं है।

यह जो कार्य होगा सो कितना व्यापक होगा, यह कोई विचारकी मुख्य बात नहीं है। कारण, विस्तार या फैलाव कोई चीज नहीं है, चीज तो चीज ही है। वह थोड़ी भी हो अर्थात् उसका क्षेत्र छोटा ही क्यों न हो, तो भी, कम-से-कम आरम्भके लिये, यह बहुत है यदि वह असली चीज है—

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।

अब यदि कोई यह पूछ बैठे कि जो कुछ तुम कह रहे हो उसका प्रमाण क्या है, इस बातका क्या आश्वासन है कि यह भी एक प्रकारके मृगजलका पीछा करना नहीं है? तो इसका उत्तर तो यही है कि चीनीकी मिठास चीनी जीभपर रखनेसे ही मालूम हो सकती है।

(३)

अब अन्तमे इस लेखके नामकरणके सम्बन्धमें एक बात कहनी है, क्योंकि लोग पूछ सकते हैं कि क्या अध्यात्म-जीवन भी कोई कला है, आप इसे कलाओंकी पक्तिमें कैसे बैठाते हैं?

एक विशेष दृष्टिसे, अर्थात् पदार्थमात्रकी वास्तविक अन्तस्सत्ताकी दृष्टिसे, अध्यात्मजीवन कम-से-कम सब कलाओंका मूल तो है ही, चाहे उसे सबसे श्रेष्ठ कला कहनेमें किसीको कोई सकोच भले ही होता हो। पदार्थ-मात्रके अन्तःस्वरूपको व्यक्त कर देना ही कलामात्रका हेतु है और पदार्थमात्रका अन्तःस्वरूप यथार्थमें उसकी अन्तरात्मसत्ता है। इसलिये अध्यात्मजीवन अर्थात् आत्मा-परमात्माके साथ चैतन्ययुक्त सम्बन्ध-स्थापनका अभ्यास कलाओंकी पावन पक्तिमें अग्रपूजाका मान ही पाने योग्य है। फिर अध्यात्मजीवन सबसे श्रेष्ठ और सबसे कठिन कला है, क्योंकि यह जीवनकी ही कला है। जीवनको ऐसा परम सुन्दर और दर्शनीय बना देना कि जिसके अग-अगमें निर्मलता और पवित्रता झलकती हो, जिसकी छन्दोमय गति प्रमादरहित हो, रोम-रोममें जिसके शक्ति सञ्चरित हो रही हो, कान्ति जिसकी शुभ्रा ज्योतिसे सुरञ्जित हुई और गात्र जिसके आनन्दसे स्फुरित और उत्फुल्ल हो रहे हों—तात्पर्य, जीवनको ऐसा बनाना कि वह भगवान्‌की प्रतिमा हो, अध्यात्मजीवनका सबसे ऊँचा लक्ष्य है। इस दृष्टिसे देखा जाय तो श्रीअरविन्द जिस अध्यात्मजीवनकी साधना करते हैं वह कला-सृष्टिकी सबसे बड़ी चीज है।

श्रीअरविन्दका पूर्णयोग

(लेखक—श्रीअनिलवरण राय)

कम हो गयी है । जीव-जगत्में जैसे क्रमविकास होता है वैसे ही धर्मसाधना, अध्यात्मसाधनाके जगत्में भी एक क्रमविकास, क्रमविवर्तनकी धारा चलती है, यह बात आजकल प्रायः सभी लोग मानने लगे हैं । भारतमें इस साधनाका विकास किस प्रकारसे होता आया है, इसका पर्यालोचन करनेसे सम्भवतः श्रीअरविन्दकी शिक्षाका मर्म समझना अपेक्षाकृत सहज हो सकता है ।

भारतमें अध्यात्मसाधनाका मूल सूत्र हाथमें आ गया था वेद और उपनिषद्के युगमें । वैदिक ऋषियोंने इस दृश्य जगत्के पीछे देवलोकको देखा था । देवताओंके साथ आदान-प्रदानका सम्बन्ध स्थापित करके मनुष्यका जीवन दिव्य रूपमें परिणत किया जा सकता है और यही मानव-जीवनका वास्तविक लक्ष्य है—इसी सत्यके अवलम्बन करके भारतीय शिक्षा-दीक्षा और भारतीय साधनाका आरम्भ हुआ । इस सत्यकी दो दिशाएँ हैं—पहली दिशा यह है कि मनुष्य इस समय जिस रूपमें जीवन-यापन कर रहा है, यह दुःख, द्वन्द्व, अशान्ति और मृत्युसे पूर्ण है, उससे अर्थात् 'मृत्युसंसारसागरात्' ऊपर उठना होगा । पर उठकर कहाँ जाना होगा ? मनुष्य जिस भगवान्से आया है, जिसके अन्दर ही वह रहता है, जिससे मनसा वियुक्त होनेके कारण अनेक दुःखों और क्लेशों-को भोग रहा है, उसीके साथ ज्ञानपूर्वक युक्त होना होगा—उसकी ज्योति, शक्ति और आनन्दके अन्दर चिर प्रतिष्ठित होना होगा । पहली बातके लिये चाहिये सांसारिक जीवनके प्रति तीव्र वैराग्य; दूसरीके लिये चाहिये भगवान्की उपासना । और ये दोनों ही परस्पर सापेक्ष हैं, एकके द्वारा दूसरेको सहायता मिलती है । वैदिक युगमें इस साधनाके दो अङ्ग थे, ज्ञान और कर्म । क्रमशः ये दोनों अङ्ग दो साधन-पथोंके रूपमें परिणत हो गये । किसीके मतसे ज्ञानके द्वारा ही मनुष्य अपने लक्ष्यपर पहुँच सकता है और कर्म तो मनुष्यको सांसारिक जीवनमें बाँध रखता है । किसीके मतसे कर्मके द्वारा ही मनुष्य परमार्थ लाभ कर सकता है । गीतामें इन दोनों पथोंमें भेद दिखाया गया है—

ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥

वेदके युगसे आगे चलकर अध्यात्मसाधनामें एक और विशेषता उपस्थित हो गयी। वैदिक ऋषियोंने चाहा था इस मानवजीवनको ही दिव्य रूपमें रूपान्तरित कर देना। किन्तु परवर्ती युगमें साधना-का लक्ष्य यह नहीं रहा। मानव-जीवन—संसार—दुःख-मय है, इससे किसी प्रकार बाहर निकलकर आत्माके अन्दर मोक्ष या निर्वाण लाभ करना ही साधनाका लक्ष्य बना। गीतामें इन सब विरोधी मतों और पन्थोंमें एक प्रकारका अपूर्व समन्वय किया गया है। गीतामें कहा है, ज्ञान और कर्म विरोधी मार्ग नहीं हैं। पक्षी जिस प्रकार उड़नेके लिये दोनों पङ्खोंकी सहायता ग्रहण करता है, मनुष्य भी उसी प्रकार एक ही कालमें ज्ञान और कर्मके समुच्चयके द्वारा लक्ष्यकी ओर द्रुत गतिसे अग्रसर होता है। किन्तु गीतामें यह दिखाया गया है कि भगवद्भक्तिमें ही ज्ञान और कर्मकी पूर्णता होती है। कर्म, ज्ञान, भक्ति—इन तीनोंका समन्वय जिस साधनामें है, गीताके मतसे वही सिद्धि-प्राप्तिका उत्कृष्ट पथ है। गीता यह और कहती है कि मोक्ष-प्राप्तिके लिये मनुष्यको यह जीवन, यह देह छोड़कर कहीं जाना नहीं होगा, मृत्युके पूर्व, 'इहैव'—इसी शरीरमें मनुष्य भगवान्‌के साथ पूर्णरूपेण युक्त होकर उनका साधर्म्य प्राप्त कर सकता है। उस समय वह चाहे जहाँ रहे और चाहे जो करे, उसके पतनकी फिर कोई आशङ्का नहीं रहती—

सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते।

परन्तु भगवान्‌के साथ साधर्म्य प्राप्त करनेके रहस्यका विस्तार गीतामें नहीं किया गया है—उसका केवल सङ्केतमात्र है। उस समय लोगोंका झुकाव उपनिषद् और दर्शन-शास्त्रोंकी शिक्षाके फलस्वरूप संसार-त्याग, जीवन-त्याग, कर्म-त्यागकी ओर था, गीताने उसका प्रतिवाद करके जीवन और कर्मकी महिमाका प्रचार किया। अर्जुनने मोहके वश होकर कर्मका त्याग करके सन्यासका अवलम्बन करना चाहा था, उनका तीव्र भाषामें तिरस्कार करके ही गीतामें श्रीकृष्णकी शिक्षाका आरम्भ हुआ है। श्रीकृष्णने समझा दिया कि भीतरकी वासना, कामना, आसक्तिका त्याग ही वास्तविक वैराग्य और संन्यास है, इस कारण जीवन, कर्म, संसारके त्यागकी कोई आवश्यकता नहीं। किन्तु पहले बौद्धधर्मके प्रभावमें और पीछे आचार्य शङ्कर-द्वारा आपामर जनसाधारणके अन्दर बड़े जोरोंसे माया-वादका प्रचार हो जानेके कारण गीताकी यह शिक्षा भारतवासियोंके जीवनमें अपने प्रभावका पूर्ण विस्तार न कर सकी। अवश्य ही भारतके जातीय जीवनके गठनमें शङ्कराचार्यके उपकारका मूल्य बहुत अधिक है। बौद्ध-धर्मके प्रभावसे जिस समय भारतवासियोंकी आस्था वेद और उपनिषदोंपरसे उठ रही थी, उस समय आचार्य शङ्करने उसका प्रतिरोध किया, भारतीय शिक्षा-दीक्षाकी मूल धाराकी रक्षा की और हिन्दूसमाज, हिन्दूधर्म जो अनेक भेदों और विवादोंसे विच्छिन्न हो गया था उसको उन्होंने सब मतों और उपासनाओंमें ऐक्य दिखाकर उस आसन्न-ध्वससे बचाया, भारतके साधनागत ऐक्यको पुनः प्रतिष्ठित किया और उसके आगे बढ़नेका पथ परिष्कृत कर दिया। परन्तु बौद्ध-प्रभावको दूर करनेपर भी वह प्रभाव कुछ-न-कुछ रह ही गया। बौद्ध जिस शिक्षाका प्रचार करते थे, शङ्करके वेदोपनिषद् गीताके भाष्योंसे उसी शिक्षाका प्रचार हुआ—यह ससार माया है, मिथ्या है, इस संसारसे दूर हटकर आत्माके अन्दर, ब्रह्मके अन्दर लीन होना ही परम पुरुषार्थ है और इसके लिये ज्ञान ही श्रेष्ठ साधना है। यही शङ्करकी शिक्षाका मूल तत्त्व है और इसमें और बौद्धोंकी शिक्षामें मूलतः विशेष कोई अन्तर नहीं है। भारतवासियोंके जीवनपर शङ्करकी शिक्षाका प्रभाव बहुत अधिक पड़ा, फिर भी सबने उनका मत नहीं ग्रहण किया। अनेक साधक महापुरुषोंने ज्ञानकी अपेक्षा भक्तिको ही साधनाके रूपमें श्रेष्ठ स्थान प्रदान किया। इस भक्तिमार्ग-का चरम विकास हम देखते हैं श्रीचैतन्यमें। वैष्णव कविका गान है—

यदि गौराग ना हत कि मेने हइत
केमने धरित दे रे ?
श्रीराधार महिमा रससिंधु सीमा
जगते जानात के रे ?

किन्तु यह जो भक्तिकी साधना है, इसका भी लक्ष्य है सांसारिक जीवनका परित्यागकर ससारसे ऊपर गोलोक अथवा वैकुण्ठमें जाकर श्रीभगवान्‌के साथ संयुक्त होना। प्राचीन कालसे भारतमें जो ये तीन प्रकारकी साधनाएं चली आ रही हैं—कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—इन तीनोंका लक्ष्य दुःखमय सांसारिक जीवनसे ऊपर उठकर ब्रह्ममें लीन होना अथवा भगवान्‌के साथ युक्त होना है। किन्तु इस पृथ्वीपर मानव-जीवनके अन्दर रहकर ही

भगवान्‌के साथ साधर्म्य प्राप्त करनेका जो उपदेश हम गीताके अन्दर पाते हैं, अद्यावधि वह कहीं भी परिस्फुटित नहीं हुआ। इस विषयमे कुछ प्रयत्न हुआ था तान्त्रिक साधनामे। अध्यात्मजीवन प्राप्त करनेमें जो-जो बातें बाधक समझी जाती हैं, उन्हींका व्यवहार साधनामें सहायकरूपसे करके जीवनको दिव्यरूपमें पलट देनेका जो आदर्श तान्त्रिकसाधनामें दिखायी पड़ा था, वह व्यभिचार और दुरुपयोगके कारण भारतके जातीय जीवनपर बहुत अधिक प्रभाव न डाल सका, यद्यपि इसके सारतत्त्वने बहुत कुछ अशमे बङ्गालकी शक्तिपूजाके अन्दर स्थान प्राप्त किया है।

भारतमे युग-युगमे इस प्रकार नाना प्रकारकी साधन-पद्धतियोंका अनुसरण किया गया है। जगत्‌में अध्यात्मसाधना-की ऐसी कोई धारा नहीं दिखायी पड़ती, जिसकी चरम परीक्षा इस भारतभूमिमे न हुई हो। इस प्रकार भारतमें अध्यात्मसाधनाका ऐसा उत्तम क्षेत्र और वायुमण्डल बन गया है कि पृथ्वीके और किसी स्थानमे ऐसा नहीं दिखायी पड़ता। परन्तु सब अध्यात्मसाधनाओंका मूल लक्ष्य ससारत्याग, जीवनत्यागकी ओर होनेसे ऐहिक जीवनमें भारतकी बड़ी क्षति हुई, जीवनसग्राममें भारत अन्यान्य जातियोंसे बहुत पीछे पड़ गया, और इसी कारणसे भारतकी अध्यात्मसाधनापरसे बहुत लोगोंकी श्रद्धा ही उठ गयी। जिस समय भारत पाश्चात्य-जातिके ससर्गमें आया, पाश्चात्य-जातिने अपनी असीम कर्मशक्ति और वसुन्धराका भोग करनेकी दुर्निवार आकांक्षाके बलसे भारतपर अपना आधिपत्य स्थापित किया, उस समय भारतके बहुत-से लोग उसी आदर्शकी ओर झुक पड़े, और सब विषयोंमें पाश्चात्य जडवादी सभ्यताका अनुसरण करनेके आग्रहके कारण आत्मविस्मृत हो गये। भारतके लिये वह बड़े ही सङ्कटका युग था—राजनीतिक-क्षेत्रमें भारत पराधीन था, अध्यात्मसाधनाके क्षेत्रपर भी नाना प्रकारसे ग्लानि छायी हुई थी, बाह्याचार और प्रचलित रूढियोंको ही लोगोंने धर्म और आध्यात्मिकताकी सीमा मानकर अन्धभावसे पकड़ रक्खा था। इससे जीवनके सब क्षेत्रोंमें अधःपतन और मृत्युके लक्षण दिखायी पड़ते थे और दूसरी ओर पाश्चात्य-जातिका तीव्र जीवन्त आदर्श चमक रहा था। उस आदर्शकी ओर झुक पड़नेके कारण जिस समय अपना स्वधर्म छोड़ने और परधर्म ग्रहण करनेका आग्रह इस देशमे बढ़ रहा था, उसी सन्धिक्षणमें परमहस श्रीरामकृष्ण आविर्भूत हुए। उन्होंने अपने जीवनमे सब प्रकारकी साधन-पद्धतियोंकी सत्यता प्रत्यक्ष करके यह दिखा दिया कि भारतकी अध्यात्मसाधना मिथ्या, धोखेबाजी या कपट नहीं है, इसके अन्दर असीम शक्ति निहित है, इसीके द्वारा मनुष्य अपने जीवनको सार्थक कर सकता है। पाश्चात्य रगकी बाढ़में भारत जिस समय डूबा हुआ था, उसी समयमे श्रीरामकृष्णके प्रिय शिष्य स्वामी विवेकानन्द भारतका रग लेकर पाश्चात्य-सभ्यताके मर्मस्थलमें जा धमके। बहुत कालके बाद पुनः भारतकी विजय-यात्रा आरम्भ हुई। यह जो स्वामी विवेकानन्दने प्रत्याक्रमणसे पाश्चात्य-सभ्यताके आक्रमणका उत्तर दिया, उसी दिनसे भारतके नवयुगका सूत्रपात हुआ, भारत पुनः अपनी वास्तविक शक्तिकी खोजमे प्रवृत्त हुआ, भारतकी अध्यात्म-साधना नवीन गौरवके साथ ससारवासियोंके सामने उद्भासित हुई।

श्रीरामकृष्णने यह दिखाया कि ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग, यहाँतक कि ईसाई-धर्म, मुसलमान-धर्म आदि सब साधनाओं और सब धर्मोंमे सत्य है, मूलतः इनके अन्दर कोई भी विरोध नहीं। जितने मत हैं उतने मार्ग हैं—सब मार्गोंसे उसी एक गन्तव्य स्थानपर पहुँचा जाता है। श्रीरामकृष्णने सब साधनाओंका मूलगत ऐक्य दिखा दिया, पर उस ऐक्यके आधारपर अवलम्बित, सब साधनाओं-की मूल शक्तिका आश्रय करनेवाला जो सर्वयोगसमन्वय-साधन है, वह श्रीअरविन्दकी साधनामे परिस्फुटित हुआ है। और इसमें केवल साधन-पद्धतिका ही नहीं, अध्यात्म साधनाका जो लक्ष्य है, उसका भी पूर्ण समन्वय साधित हुआ है। मनुष्य अभी जैसा जीवन व्यतीत करता है, उसको छोड़कर ऊपर उठना होगा। इसका अर्थ यह नहीं कि मानव-जीवन, मानवजन्मका ही त्याग करके निस्पन्द, निश्चल ब्रह्मके अन्दर लीन होना होगा। यह ससार मिथ्या, माया है, 'भगवान्‌की भूल' है—ऐसा तो श्रीअरविन्द नहीं कहते। मनुष्यके अन्दर जो देवत्व निहित है, उसको देह, प्राण, मनमें पूर्ण विकसित करना होगा, मानवजीवनको दिव्य जीवनमें रूपान्तरित करना होगा, जरा, व्याधि, मृत्युको जीतकर अमृतत्व लाभ करना होगा, यही मानवजन्मका प्रकृत अर्थ है और यही सब अध्यात्मसाधनाओंका वास्तविक लक्ष्य है। किन्तु मनुष्य जबतक मनके स्तरमें ही अटका है तबतक उसका यह रूपान्तर सम्भव नहीं। उच्च जीवन

मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है, उसे कुछ कर्तव्य शेष नहीं रहता, जीवन्मुक्तदशामें विचरने लगा—फिर बाकी क्या रहा। 'मद्भक्तियुक्तो भुवन पुनाति'—उसकी कौन कहे, वह तो विश्वको पावन करने लगा, अब उसके दर्शन और परमात्माके दर्शनमें अन्तर नहीं रहा—'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' वह ब्रह्मतुल्य हो गया।

तस्मादन्तर्दृष्ट्या तारक एवानुसन्धेयः।

(अद्वय० श्रुति)

इसलिये विज्ञजनोंको आत्मदृष्टिद्वारा तारकयोगका ही अनुसन्धान करना चाहिये, इस प्रकार श्रुति आज्ञा प्रदान करती है। इस बातका अनुमोदन स्मृति भी मुक्तकण्ठसे करती है। यथा—

गुरुर्विश्वेश्वरः साक्षात् तारकं ब्रह्म निश्चितम्।

इस तारकज्ञानके प्रदान करनेवाले गुरुको साक्षात् ईश्वरस्वरूप समझना चाहिये और तारकज्ञानयोग निश्चय ब्रह्मस्वरूप है। जो तारकयोग प्रदान कर अन्यको भी अपने समान शक्तिसम्पन्न बना देता है वह ईश्वरस्वरूप तो है ही, इसमें सन्देह क्या! महर्षि पतञ्जलि भी अपने योगदर्शनके एक सूत्रमें 'तारकयोग' की अपूर्वता और विशेषता स्वीकार करते हैं। यथा—

तारकं सर्वविषयं सर्वथा विषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम्। (योग० ३। ५४)

'विवेकद्वारा प्राप्त किया गया 'तारकयोगज्ञान' बिना क्रम सब विषयोंको प्रकाशित करता है' अर्थात् जैसे अन्य विद्या या योग क्रमशः धीरे-धीरे प्राप्त होते हैं, ऐसा तारक नहीं। यह तो एक कालावच्छेदेन अतीत अनागत समस्त प्रपञ्चका प्रकाशक होते हुए ब्रह्मसाक्षात्कार करानेवाला है। इसलिये इसे तारक नामसे पुकारते हैं। इस योगज्ञानके संस्थापक श्रीदेवचन्द्रजी महाराज हैं। जो एक दिव्य शक्तिसम्पन्न योगिराज थे। सम्भवतः विकराल कलिकालकवलित प्राणियोंको योगविषयमें असमर्थ देखकर परमात्माने देवचन्द्र व्यक्तिविशेषद्वारा इसे प्रकट कराया होगा, ऐसा प्रतीत होता है। इनके पश्चात् इस तारकयोगबलका विशेष प्रचार इनके शिष्य स्वामी प्राणनाथजीने किया है। यही प्राणनाथ प्रभु बुन्देलखण्ड-केशरी वीर छत्रशालके धर्मगुरु थे। आपने इसी योगबलसे वीर छत्रशालको हीरोंकी खान प्रदान की है। इसी योगबलसे आपने जहरीली नदीको पान करने योग्य बनाया। यह नदी आज भी पन्नामें विद्यमान है। इनके अनेक शिष्य हुए हैं। आज भी इसके अनुयायी लगभग पाँच लाखकी सख्यामे विद्यमान हैं जो परनामी कहे जाते हैं।

यह योग क्या है और इसे कैसे प्राप्त किया जा सकता है, यह द्रष्टव्य है। तारकयोग एक मन्त्रविशेषद्वारा प्राप्त ज्ञानको कहते हैं जिसमे ब्रह्मसाक्षात्कारका भेद बताया गया है। इसे परा ब्रह्मविद्या भी कहते हैं। इसका मुख्य साधन प्रेम है। जहाँतक सच्चा प्रेम उत्पन्न नहीं होता वहाँतक तारकयोग सिद्ध नहीं होता। इसका बल प्रेम बिना प्रकट नहीं होता। अन्य क्रियाओंद्वारा सहायता मिलती है परन्तु इसका प्राण तो प्रेम ही है। प्रेमपुट लगते ही तारकज्ञान अपूर्व योगको प्राप्त हो जाता है। प्रेममें दबाव न सही किन्तु आकर्षण है। भयङ्करता नहीं किन्तु तल्लीनता है; अभिमान नहीं किन्तु अपनापन है, निराशता नहीं अपितु विश्वास है। अतएव 'तारकयोग' प्राप्त करनेके लिये प्रधान साधनभूत प्रेम ही माना गया है। प्रेमद्वारा इसे प्राप्त करते विलम्ब नहीं, किन्तु होना चाहिये सच्चा प्रेम। इस योगमें एक अपूर्व विशेषता यह है कि इसका सम्यक् ज्ञान होते ही मनुष्य पद्मपलाशवत् निर्लिप्त होकर निर्भय विचरने लग जाता है। और सच्चिदानन्दके ज्ञानका अनुभवी होकर किसी प्रकारके विक्षेपको प्राप्त नहीं होता—

इतहीं बैठे घर जागे धाम। पूरन मनोरथ हुए सब काम॥

इस विनश्वर विश्वमें बैठा हुआ भी वह अपनेको ब्रह्मधाममे मानता है और पूर्णकाम होकर जन्ममरणके बन्धनसे मुक्त हो जाता है।

ऋजु-योग

(लेखक—श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी)

भक्त्या पुमाञ्जातविराग ऐन्द्रियाद्-
दृष्टश्रुतान्मद्रचनानुचिन्तया ।
चित्तस्य यत्तो ग्रहणे योगयुक्तो
यतिष्यते ऋजुभिर्योगमार्गैः ॥*

(श्रीमद्भाग० ३ । २५ । २६)

संसारमें आसक्त हुआ मन जिसके द्वारा परमात्मामें जोड़ा जाय उसीका नाम योग है । अतः प्रभु-प्राप्तिके जितने साधन हैं सभी योग हैं । राजयोग, हठयोग, सुरतिशब्दयोग, कर्मयोग, क्रियायोग, सांख्ययोग आदि अनेकों योग हैं । जो जिस योगका अधिकारी होता है, उसके लिये वही योग उपयुक्त भी होता है । एक भक्तियोग ही ऐसा है जिसमें सबके लिये गुंजाइश है । भक्तियोग या भक्तिमार्गमें किसीके लिये मनाही नहीं, वह राजपथ है । अन्धा भी आँखें बन्द करके सहज ही चला जा सकता है, किन्तु उसके लिये भी एक योग्यताकी आवश्यकता है—

कथं विना रोमहर्षं द्रवता चेतसा विना ।
विनानन्दाश्रुकलया ·· ···· ·· ···· ··· ॥

जिसका हृदय स्वाभाविक ही मुलायम न हो, जिसे भगवत्-गुण-श्रवण-स्मरणसे रोमाञ्च न होते हों, जिसकी आँखें आनन्दाश्रु न बहाती हों, वह भक्तिका यथार्थ अधिकारी नहीं । इसीलिये भक्तिके दो भेद हैं—स्वाभाविकी और वैधी । जैसे प्यासा बिना पानीके रह ही न सके, जैसे अग्नि लगी देखकर स्वाभाविक ही मनुष्य उससे दूर भागता है, ऐसे ही विषयोंसे स्वाभाविक विराग होकर प्रभुप्राप्तिकी स्वाभाविक इच्छा होना स्वाभाविकी भक्ति है । और शास्त्रोंमें भक्तिका माहात्म्य सुनकर भक्ति करना यह वैधी भक्ति है । किन्तु हमारी इन झूठी आँखोंमें न तो कभी आनन्दाश्रु ही आते हैं, न यह वज्र-जैसा हृदय ही पसीजता है, फिर हम-ऐसे मूढ़मति पुरुषोंके लिये भी कोई मार्ग है क्या ? शास्त्रकारोंने हम-जैसे अल्पज्ञ पुरुषोंके लिये भी उपाय बताये हैं । भक्तिमार्ग बड़ा विशद है । उसके श्रवण, कीर्तन, स्मरण, वन्दन, पादसेवन, सख्य, दास्य, अर्चन और आत्मनिवेदन ये नौ अङ्ग हैं । दास्य, सख्य, वात्सल्य, शान्त और मधुर—ये पाँच भाव हैं । और भी अनेकों अनुभाव-विभावोंसे भक्तिमार्ग सुविस्तृत है । इसी भक्ति-सागरको मथकर इसका अल्पीभाव बनाकर हम सर्वसाधारण लोगोंके लिये मनीषियोंने ऋजु-योग-जैसे मार्ग बताये हैं । ऋजु-योग भक्तियोगके ही अन्तर्गत है । इसमें मृदुता और सरलता ही एक आवश्यक वस्तु है । हमारे जीवनमें पग-पगपर बनावट है । यह बनावट किसी तरहसे मिट जाय तो वह प्यारे प्रभु अपने-आप ही हमें हृदयसे चिपटा लें । छोटा निष्कपट सरल शिशु कभी किसीसे यह नहीं कहता कि तुम मुझसे प्यार करो । किन्तु उसकी सरलता, मृदुता और निष्कपट चेष्टाको देखकर चित्त बिना प्यार किये रह ही नहीं सकता । यदि इसी तरह हमारे जीवनमेंसे यह दुनियावी कपट-छल निकल जायँ तो भगवान् प्रेम करनेको विवश हो जायँगे । कपट-छल ही उन्हें अच्छा नहीं लगता—

निरमल मन जन सो मोहिं पावा । मोहिं कपट-छल छिद्र न भावा ॥

किन्तु कपट-छल जीवनमेंसे जाय कैसे ? वह ऋजु-योगके ही द्वारा सुगमता और सरलतासे जा सकता है । ऋजु-योगकी नींव श्रद्धाके ऊपर है । पूरी न हो, स्वाभाविकी न हो, थोड़ी ही सही, सुनकर ही सही, हठपूर्वक ही हो, शास्त्रवाक्योंमें और गुरुवाक्योंमें श्रद्धा होनी चाहिये । थोड़ी भी श्रद्धा होनेसे इस मार्गमें आनेपर धीरे-धीरे श्रद्धा स्वतः ही बढ जाती है । जो वेद, शास्त्र और गुरुवाक्योंकी निन्दा करता है, उन्हें ढोंग समझता है वह तो इधर आवेगा ही नहीं । यदि अणुमात्र श्रद्धासे या वैसे ही शुरू कर देनेपर जो बढ़ता है, वह तो बढ़ता ही जाता है 'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ।'

ऋजु-योगके चार अङ्ग हैं—सत्सङ्ग, भगवत्कथा-श्रवण, कीर्तन और जप । इन चारोंके ही द्वारा मनुष्य परमपद-

---

* भगवत्-कथा-श्रवणसे मनुष्यको भक्ति उत्पन्न होती है, भक्ति हो जानेपर देखे हुए और स्वर्गादि सुने हुए जितने इन्द्रिय-जन्य सुख हैं, उनमें वैराग्य उत्पन्न हो जाता है । ऐसा योगयुक्त पुरुष आत्मसाधनके उद्योगमें तत्पर होकर ऋजु-योग-मार्गोंसे प्रभु-प्राप्तिके लिये यत्न करता रहता है ।

तक पहुँच सकता है। इन्हींका नाम ऋजु-योग है, इसमें सभी श्रेणीके स्त्री-पुरुषोंका अधिकार है। सभी इस सरल सुगम संक्षिप्त मार्गसे अपने गन्तव्य मार्गतक पहुँच सकते हैं। बहुत संक्षेपमें इन चारोंपर यहाँ विचार कर लीजिये—

१. सत्सङ्ग—ऋजु-योगकी सर्वप्रथम सीढ़ी है सत्सङ्ग। भगवान् कपिलने अपनी माता देवहूतिको ऋजु-योगका उपदेश देते हुए आरम्भमें ही कहा है—

सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदो
भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि
श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति ॥

अन्तःकरणको और बाह्य करणोंको आनन्दित करनेवाली कमनीय कथाएँ साधु पुरुषोंके सत्सङ्गमें ही सुननेको मिल सकती हैं। उन कथाओंके श्रवणसे अति शीघ्र ही परमार्थ-स्वरूप प्रभुकी प्राप्तिके विषयमें प्रथम श्रद्धा होती है, श्रद्धा होनेपर रति होती है और रति होनेपर भक्ति प्राप्त होती है। सत्सङ्गके बिना इस मार्गमें जाना ही नहीं हो सकता। सत्सङ्गतिकी महिमा तो शास्त्रोंमें भरी पड़ी है, किन्तु विचारणीय यह है कि हम मन्दमतियोंको यह निर्णय कैसे हो कि यह साधु हैं। आजकल बहुत-से असाधु साधुवेषमें घूमते हैं। यद्यपि शास्त्रोंमें तितिक्षु, करुणायुक्त, सर्वप्राणियोंके मित्र, निर्वैर, शान्त, निरन्तर भक्ति करनेवाले, वीतरागी, गृहत्यागी, भगवत्कथा सुननेवाले आदि बहुत-से गुण साधुओंके बताये हैं, किन्तु हम साधारण लोगोंमें इतनी बुद्धि कहाँ कि जो इन गुणोंकी परीक्षा कर सकें। इसलिये साधुकी मोटी पहचान यही है कि जो हर समय भगवत्-भजन, भगवत्-कथा-श्रवण और भगवन्नाम-जपमें लगा रहता हो। जिसका कोई भी समय व्यर्थकी बातोंमें—गप-शपमें न जाय। जो अपने शरीरके सुखोंके लिये चिन्ता न करता हो, यदि उसे कोई चिन्ता हो भी तो वह दूसरोंके दुःखोंकी चिन्ता हो। उसे साधु समझना चाहिये। श्रीमद्भागवतमें एक जगह लिखा है—

तप्यन्ते लोकतापेन साधवः प्रायशो जनाः।
परमाराधनं तद्धि पुरुषस्याखिलात्मनः ॥

समदर्शी साधु लोगोंके दुःखोंको देखकर दुखी होते हैं। इस अखिल ब्रह्माण्डमें व्याप्त उस अखिलेश्वर जनतारूपी जनार्दनकी सेवा करनेके निमित्त दुःख भोगना ही उनकी परम आराधना है। जिनकी सभी चेष्टाएँ प्रेमपूर्ण हों और जिनके शारीरिक काम यदि हों भी तो वे परोपकारके लिये हों। बस, उन्हींको साधु समझकर उनकी सङ्गतिमें रहना चाहिये। साधु दूसरोंकी निन्दा न करेगा, न दूसरोंके दोषोंका ही वर्णन करेगा, उसकी सभी क्रियाएँ प्रेममयी होगी और वह दूसरोंके गुणोको ग्रहण करनेमे सर्वदा तत्पर रहेगा। राजर्षि भर्तृहरिने सन्तकी कैसी सुन्दर सर्वांगीण व्याख्या की है, वे कहते हैं—

मनसि वचसि काये प्रेमपीयूषपूर्णा-
स्त्रिभुवनमुपकारश्रेणिभिः प्रीणयन्तः।
परगुणपरमाणून् पर्वतीकृत्य नित्यं
निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः ॥

जिनका मन प्रेमपीयूषसे परिप्लावित हो, जिनकी वाणी प्रेममयी मधुमयी हो, जिनका शरीरके अङ्ग-प्रत्यङ्गोंकी चेष्टाओंसे प्रेम प्रकट होता हो और जो अपने उपकारोंकी बाढ़से त्रिभुवनको बहाते-से रहते हो तथा दूसरोंके अणुमात्र गुणको पर्वतके समान बनाकर अपने हृदयमें विकसित करते रहते हों ऐसे सन्त इस धराधामपर कितने हैं? यदि सौभाग्यसे ऐसे सन्त मिल जायँ और ढूँढ़नेपर मिल ही जाते हैं तो उनका सङ्ग निरन्तर करना चाहिये।

२. भगवत्कथाश्रवण—दूसरी सीढ़ी है भगवत्कथा-श्रवणकी। इच्छापूर्वक, अनिच्छापूर्वक जैसे भी बने वैसे ही कथा सुननी चाहिये। भगवत्कथाश्रवणका व्यसन लग जाना चाहिये। अफीम-जैसी कड़वी चीजको स्वादसे, स्वेच्छासे पहले-ही-पहले कोई नहीं खाता। खाते-खाते जब आदत पड़ जाती है, तब फिर बिना उसके रहा ही नहीं जाता। वैसे ही भगवत्कथा हमारे शरीरकी खूराक बन जाय। यह कभी मत सोचो कि बिना मनके कथा सुननेसे क्या लाभ? स्कूल-कालेजोंके अधिकांश छात्र बिना मनके ही पढ़ने जाते हैं। यदि उन्हें घरवालोंका, फेल होनेका और जुर्मानेका भय न हो तो महीनेमें बहुत कम दिनों वे अपनी इच्छासे पढ़ने जायँ। वहाँ जानेपर भी सबका मन अध्यापककी व्याख्यापर या पाठपर ही लगा रहता हो सो भी बात नहीं। प्रायः सभी कानोंसे व्याख्यान सुनते हैं। मनसे मित्र, दोस्त, सिनेमा, सभा और शतरजकी बातें सोचते रहते हैं। फिर भी वे पास हो जाते हैं और इसी बेमनके श्रवणसे बी० ए०, एम० ए० बन जाते हैं। इसी बातको लक्ष्य करके भगवान् कपिल कह रहे हैं—

नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचिन्
मत्पादसेवाभिरता मदीहाः ।
येऽन्योन्यतो भागवताः प्रसज्य
सभाजयन्ते मम पौरुषाणि ॥

'जिन्होंने सब कार्य मेरे ही अर्पण कर दिये हैं और जिन्हें मेरे ही पानेकी इच्छा है वे मुझसे एकात्म होनेकी अर्थात् मोक्षकी भी इच्छा नहीं करते, क्योंकि वे तो मेरे पाद-पद्मोंकी सेवामें सलग्न हैं । वे परस्परमें बैठकर हठ-पूर्वक भी—मन न लगता हो तो भी—एक दूसरेको आपसमें मेरे गुणोंको सुनाते रहते हैं और सुनते रहते हैं ।'

भगवत्-कथाओंमें सुनते-सुनते रस आने लगता है । छोटा बच्चा पहले बेमनसे—माताके हठपूर्वक खिलानेपर अन्न खाता है, खाते-खाते अभ्यास हो जाता है । फिर रुचि भी बढ़ने लगती है तदनन्तर वह उसमें ऐसा तल्लीन हो जाता है कि बिना अन्न खाये उसे चैन ही नहीं पड़ता । जी तड़फड़ाने लगता है । इसी प्रकार हठपूर्वक कथा सुनते-सुनते सुननेका अभ्यास होगा फिर रुचि भी बढ़ने लगेगी । अन्तमें तो उसमें तल्लीन हो जाओगे । कथा सुने बिना कल ही न पड़ेगी । यह दूसरा अंग है ।

३ कीर्तन—तीसरी सीढ़ी है भगवन्नामकीर्तन । जैसे बने तैसे गाकर, रोकर, जोर-जोरसे, धीरे-धीरे, सबके साथ मिल-कर, अकेलेमें, बैठकर, खड़े होकर, तालस्वरसे, बिना तालके, गा-गाकर अथवा बाजोंके तालस्वरके सहित भगवन्नामोंका और भगवत्-गुणोंका कीर्तन करना चाहिये । वैसे तो कीर्तन सभी युगोंमें सर्वश्रेष्ठ साधन है, किन्तु कलियुगमें तो कीर्तनके सिवा कोई गति ही नहीं । भगवान् व्यासदेव कहते हैं—

कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत् ।

अर्थात् केवल श्रीकृष्णकीर्तनसे ही मनुष्य इस घोर कलिकालमें परमपदको प्राप्त कर सकता है । कीर्तनके विषयमें विशेष बतानेकी आवश्यकता नहीं । शास्त्रोंमें इसकी अनन्त महिमा है ।

४ जप—ऋजुयोगकी चौथी सीढ़ी है जप । जप वेदमन्त्रों-का तथा पौराणिक मन्त्रोंका भी होता है । उनकी शास्त्रों-में अनेक विधियाँ हैं । विधिपूर्वक करनेसे उनका प्रत्यक्ष फल मिलता है । इसीलिये महादेवजीने जोर देकर पार्वती-जीसे तीन बार कहा है—

जपात् सिद्धिर्जपात् सिद्धिर्जपात् सिद्धिर्वरानने ।

'हे वरानने ! मैं तीन बार प्रतिज्ञा करके कहता हूँ जपसे सिद्धि होती है, होती है, होती है ।'

किन्तु वैदिक मन्त्रोंके जपकी विधिको द्विजेतर मनुष्य नहीं कर सकते । द्विजोंमें भी पढ़े-लिखे और संस्कृत पुरुष ही कर सकते हैं किन्तु भगवन्नामजपमें किसी प्रकारकी विधि नहीं । यह जप तो सब विधिनिषेधोंसे परे है । चाहे जो हो, स्त्री, शूद्र, अन्त्यज, चाण्डाल कोई हो, किसी भी अवस्थामें हो, किसी भी देशमें कहीं हो, हर समय इसका जप कर जाता है । और श्रद्धापूर्वक भगवन्नाम-जपसे वही फल मिल जाता है जो अन्य वैदिक मन्त्रोंसे मिलता है । इससे सरल कोई मार्ग ही नहीं ।

इस प्रकार ऋजुयोगके ये चार अङ्ग हैं । यदि आप राजयोग नहीं कर सकते, हठयोगके लायक आपका शरीर नहीं है, यदि आप प्राणोंको दसवें द्वारमें ले जाकर समाधि नहीं लगा सकते, यदि आप भगवत्-विग्रहकी षोडशोपचार-रीतिसे पूजा करनेमें भी असमर्थ हैं तो आप मनसे, बेमनसे जैसे भी बने, भगवान्के नामोंका जप कीजिये । श्रीरामायण, भागवत और महाभारतकी कथा सुनिये, साधु पुरुषोंका सङ्ग कीजिये और भगवन्नाम तथा गुणोंका कीर्तन कीजिये । आप सभी योगियोंसे बढ़ जायँगे, आप उस निर्वाणपदको भी पार कर जायँगे । शास्त्रोंमें इसे ऋजुयोग, सक्षिप्तयोग, सरलयोग या मृदुयोग कहा है ।

यह बात नहीं कि ये चारों अङ्ग ही हों और बिना चारोंके किये सिद्धिलाभ होती ही न हो । ये चारों स्वतन्त्र भी हैं । केवल कथा ही श्रवण करते रहें और कुछ भी मत करें, निरन्तर भगवल्लीलाओंका श्रवण और उनका मनन करते रहें आप परमपदको प्राप्त कर लेंगे । और किसी भी साधनकी जरूरत नहीं । महाराज परीक्षित इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं । केवलमात्र कथाश्रवणसे ही वे सर्वसगविनिर्मुक्त हो गये ।

केवलमात्र सत्संग ही करते रहें, साधु पुरुषोंकी सेवा करें, उनके वचनामृतोंको सुनें, उनकी सब प्रकारसे शुश्रूषा करें, आपको परमयोगियोंसे भी ऊँची पदवी प्राप्त हो जायगी । बहुत-से यातुधान, खग, मृग, स्त्री, शूद्र केवल-मात्र सत्सङ्गके सहारे ही इस ससाररूपी घोर सागरको बात-की-बातमें तर गये । केवल सत्सङ्ग ही सभी साधनोंका फल दे देता है ।

अन्तर्बहिर्यदि हरिस्तपसा ततः किम् ।
नान्तर्बहिर्यदि हरिस्तपसा ततः किम् ॥
(श्रीनारदपाञ्चरात्र)

'भगवान्‌की आराधना होती है तो तपसे क्या होगा ? और यदि भगवान्‌की आराधना नहीं होती है तो तपसे क्या होगा ? यदि अन्दर-बाहर हरि विराज रहे है तो तपका क्या काम ? और श्रीहरि यदि अन्दर भी नहीं, बाहर भी नहीं तो तपसे क्या होगा ?'

वैधी भक्ति (नवधा भक्ति)

विधिसाध्यमाना वैधी सोपानरूपा ।
(अ० दै० मी० सूत्र ११)

'विधिसे साधन होनेवाली भक्तिको 'वैधी' कहते है, वह सोपानरूपमें है ।'

नवधा भक्तिके अङ्ग

(१) श्रवण

यथाग्निः सुसमृद्धार्चिः करोत्येधांसि भस्मसात् ।
तथा तद्विषया भक्तिः करोत्येनांसि कृत्स्नशः ॥
प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेण स्वानां भावसरोरुहम् ।
धुनोति शमलं कृष्णः सलिलस्य यथा शरद् ॥
(स्मृति)

'जैसे प्रज्वलित अग्नि ढेर-के-ढेर काष्ठको भस्म कर देती है, उसी प्रकार भगवान्‌की भक्ति साधकके पापसमूहको समूल निर्मूल कर देती है । भगवान्‌का मधुर-मधुर नाम कर्ण-कुहरमें प्रवेश करते ही हृदयका समस्त पाप दूर कर देता है जैसे शरद् ऋतु जलका गँदलापन दूर कर देता है ।'

(२) कीर्तन

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदयेऽपि वा ।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद ॥

'वैकुण्ठमे चाहे मैं न रहूँ, अथवा योगियोंके हृदयमें भी मेरा पता न लगे, पर जहाँ मेरे भक्त मेरे गुणोंका गान करते है वहाँ तो मैं रहता ही हूँ ।'

(३) स्मरण

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥
(गीता ८ । १४)

'जो अनन्यचित्त होकर नित्य मेरा सतत स्मरण करता है, हे अर्जुन ! मैं उस नित्ययुक्त योगीके लिये सुलभ हूँ ।'

(४) पादसेवन, (५) अर्चन, (६) वन्दन

यत्पादसेवाभिरुचिस्तपस्विना-
मशेषजन्मोपचितं मलं धियः ।
सद्यः क्षिणोत्यन्वहमेधती सती
यथा पदाङ्गुष्ठविनिःसृता सरित् ॥

'जिस चरणसे निकलकर पुण्यसलिला श्रीगङ्गाजी समस्त संसारको पवित्र करती है, उस चरणकमलकी सेवा करनेसे अनन्त जन्मोंकी सञ्चित चित्तकी मलिनता तुरन्त नष्ट हो जाती है ।'

(७) दास्य, (८) सख्य, (९) आत्मनिवेदन

इन तीन अङ्गोंकी परिसमाप्ति 'रागात्मिका' भक्तिमे होती है । इनका स्वरूप इस प्रकार है—

स वै मनः कृष्णपदारविन्दयो-
र्वचांसि वैकुण्ठगुणानुवर्णने ।
करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादिषु
श्रुतिं चकाराच्युतसत्कथोदये ॥
मुकुन्दलिङ्गालयदर्शने दृशौ
तद्भृत्यगात्रस्पर्शेऽङ्गसङ्गमम् ।
घ्राणं च तत्पादसरोजसौरभे
श्रीमत्तुलस्या रसनां तदर्पिते ॥
पादौ हरेः क्षेत्रपदानुसर्पणे
शिरो हृषीकेशपदाभिवन्दने ।
कामं च दास्ये न तु कामकाम्यया
यथोत्तमश्लोकजनाश्रया रतिः ॥
(श्रीमद्भा० ९ । ४ । १८—२०)

'आत्मनिवेदनभक्तिकी अवस्थामें मन भगवान्‌के चरणकमलोंमें, वचन उनके गुणगानमें, हाथ मन्दिरादि मार्जन करनेमे, कर्ण उनकी सत्कथा श्रवण करनेमें, नेत्र उनकी मूर्ति देखनेमें, अङ्ग उनके भक्तोंके शरीर स्पर्श करनेमें, घ्राण उनके चरणसरोजके सुगन्धमें, जिह्वा उनके प्रसादके रस लेनेमें, चरण उनके तीर्थोंकी यात्रामें, मस्तक उनके चरणोंमें प्रणाम करनेमें और सकल कामना उनके दासत्वमें समर्पित होती है ।'

रागात्मिका भक्तिकी अवस्था

रसानुभाविकानन्दशान्तिदा रागात्मिका ।
(अ० दै० मी० सूत्र १२)

'रस अनुभव करानेवाली, आनन्द और शान्ति देनेवाली भक्तिको 'रागात्मिका' कहते हैं ।'

रसानुभव और आनन्दकी दशा

वाग् गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं
रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च ।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च
मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति ॥
(श्रीमद्भा० ११ । १४ । २४)

एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या
जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः ।
हसत्यथो रोदिति रौति गाय-
त्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः ॥
(श्रीमद्भा० ११ । २ । ४०)

क्वचिद्रुदन्त्यच्युतचिन्तया क्वचिद्
हसन्ति नन्दन्ति वदन्त्यलौकिकाः ।
नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यजं
भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः ॥
(श्रीमद्भा० ११ । ३ । ३२)

'रागात्मिका भक्तिके लाभ करनेपर भक्तको लोकलज्जा, लोकभय आदि किसी बातका विचार नहीं रहता । वह कभी निर्लज्ज होकर उच्च हास करता है, कभी उन्मादग्रसित (पागल) का-सा नृत्य करता है, कभी उच्च स्वरसे गाता हुआ सर्वत्र भ्रमण करता है, कभी रोता है, कभी भगवान्के आनन्दामृतको पान करके निस्तब्ध होता है, कभी आत्मामें एकान्त रति प्राप्तकर जगत्को भूल जाया करता है ।' रागात्मिका भक्तिकी यह अपूर्व महिमा है ।

रागात्मिका भक्तिकी परा शान्तिकी दशा

भक्तिं हरौ भगवति प्रवहन्नजस्र-
मानन्दबाष्पकलया मुहुरर्द्यमानः ।
विक्लिद्यमानहृदयः पुलकाचिताङ्गो
नात्मानमस्मरदसाविति मुक्तलिङ्गः ॥
इत्यच्युताङ्घ्रिं भजतोऽनुवृत्त्या
भक्तिर्विरक्तिर्भगवत्प्रबोधः ।
भवन्ति वै भागवतस्य राजन्
ततः परां शान्तिमुपैति साक्षात् ॥
(श्रीमद्भा० स्कन्ध ११)

'रागात्मिका भक्तिके उदय होनेसे साधकका चित्त पुलकित हो जाता है, आँखोंसे आनन्दाश्रुधारा प्रवाहित होती है और सकल साधनोंके फलस्वरूप परम पवित्र शान्ति उस भक्तशिरोमणि बड़भागी भक्तको प्राप्त हो जाती है ।'

परा भक्तिकी अवस्था

स्वरूपज्ञानापरपर्याया सा ।
(अ० दै० मी० सूत्र १९)

परा भक्ति, स्वरूपज्ञान दोनों एक ही हैं । परा भक्ति, स्वरूपज्ञान, निर्विकल्प समाधि, परवैराग्य सबकी एक ही स्थिति है—कोई भेद नहीं है । इसी स्थितिमें भक्त निखिल ब्रह्माण्ड—समस्त चराचर जगत्को भगवान्मय देखता है ।

'तत्त्वमसि,' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादि महावाक्यों-की चरितार्थता इसी दशामें होती है ।

सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः ।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः ॥
(श्रीमद्भागवत)

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥
(गीता ६ । २९)

'परा भक्तिकी दशा प्राप्त होनेसे भक्त भागवतोत्तम कहलाते हैं । जो सकल जगत्में भगवान्को और भगवान्में ही सकल चराचर जगत्को देखते हैं वे ही सर्वोत्तम भागवत हैं ।'

चार प्रकारके भक्तोंमें केवल 'ज्ञानी भक्त' ही परा भक्तिका अधिकारी हो सकता है ।

मन्त्रयोगका दूसरा अंग

शुद्धि

शुद्धि दो प्रकारकी है—बाहरकी शुद्धि और अन्तरकी शुद्धि ।

बहिर्शुद्धिमें—(१) शरीरकी शुद्धि
(२) स्थानकी शुद्धि
(३) दिशाकी शुद्धि

आन्तर्शुद्धिमें—(१) मनकी शुद्धि । यह मन्त्रयोगमें परमावश्यक है ।

(१) शरीरकी शुद्धि—स्नानसे होती है । स्नान सात प्रकारका है—

(१) मान्त्रस्नान—'गङ्गे च यमुने च'—इत्यादि मन्त्र-से जल लेकर स्नान करनेसे होता है ।

(२) भौमस्नान—गमछेसे अङ्ग पोछनेसे ।
(३) आग्नेय—भस्म लगानेसे ।
(४) वायव्य—गोरज स्पर्श करनेसे ।
(५) दिव्य—सूर्यदर्शनके होते हुए वर्षामें स्नान करनेसे ।
(६) वारुण्य—जलमे गोता लगाकर स्नान करनेसे तालाव-नदी इत्यादिमें ।
(७) मानस—श्रीभगवान्‌के रूपका मनमे ध्यान करनेसे ।

(२) स्थानकी शुद्धि—गोमयसे अथवा वरगद, पीपल, अशोक, विल्व, ऑवलेके वृक्ष (पञ्चवटी) के नीचे वैठकर साधना-पूजा करनेसे होती है ।

(३) दिशाकी शुद्धि—दिनमे पूर्वमुख या उत्तरमुख वैठकर और रात्रिमें उत्तरमुख वैठकर पूजा करनेसे होती है ।

(४) अन्त शुद्धि—मनकी शुद्धि दैवी सम्पत्तिके अभ्याससे होती है । अर्थात् इन्द्रियसंयम, भयशून्यता, चित्तप्रसन्नता, दान, यज्ञ, वेदपाठ, वेदसम्मत शास्त्रपाठ, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, लोभका त्याग, अहङ्कार, कुकर्मका त्याग, चञ्चलताका त्याग, चित्तकी शान्ति, अविरोध, धैर्य, शौच, क्षमा इत्यादि भावोंके अभ्याससे होती है ।

शुद्धिका फल—वाहरकी शुद्धिसे आरोग्य, आत्मप्रसाद और इष्टदेवकी कृपा प्राप्त होती है । मनकी शुद्धिसे इष्टदेवका दर्शन होता है और समाधि प्राप्त होती है ।

मन्त्रयोगका तीसरा अङ्ग

आसन

मन्त्रयोगके साधनमे स्वस्तिकासन और पद्मासन, इन्हीं दो आसनोंका उल्लेख है । आसनकी आज्ञा श्रीगीताजीके छठे अध्यायमें इस प्रकार है—

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥
तत्रैकाग्रं मन' कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥
सम कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्पर. ॥

(११-१४)

'पवित्र स्थानपर स्थिर आसन लगावे, न वहुत ऊँचा न वहुत नीचा । पहले कुशका आसन, उसपर मृगचर्म, उसपर वस्त्र । चित्त और इन्द्रियोंको वशमे करके, एकाग्र मनसे आसनपर वैठकर, शरीर, पीठ, मस्तक, गर्दनको समदेशमे अचल रखकर, इधर-उधर न देखे, नासिकाके अग्रभागमें दृष्टि जमाकर शान्तचित्त, जितेन्द्रिय, निर्भय, ब्रह्मचर्यका पालन करता हुआ मेरा ध्यान करे ।'

श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्ध, अध्याय १४ में भी इसी आसनका वर्णन है ।

शुद्ध आसनका फल—श्रीभगवान्‌का सान्निध्य प्राप्त होना ।

मन्त्रयोगका चौथा अङ्ग

पञ्चाङ्गसेवन

अपने-अपने इष्टदेव और सम्प्रदायके अनुसार गीता, सहस्रनाम, स्तव, कवच, हृदयका पाठ प्रतिदिन करनेसे योगी पापरहित होकर योगसिद्धिको प्राप्त होता है ।

मन्त्रयोगका पाँचवाँ अङ्ग

आचार

सात्त्विक साधकके लिये दिव्याचार, राजसिक साधकके लिये दक्षिणाचार और तामसिकके लिये वामाचार होता है । वामाचार केवल शक्ति-उपासनामें ही देखा जाता है । पर वामाचारमे उन्नतिके वदले गिर जानेका सर्वदा भय है । इसके साधनको तलवारकी धारपर चलना कहा गया है । इसी वामाचारके वढ़नेसे वङ्गालमें अत्यन्त हानि हुई और वड़ा दुराचार फैला, जिसे देखकर, कहते हैं कि, स्वय श्रीकृष्ण भगवान्‌को दुराचारका नाश करके शुद्ध प्रेमके प्रचारार्थ श्रीगौराङ्ग महाप्रभुके रूपमें अवतरित होना पड़ा ।

मन्त्रयोगका छठा अङ्ग

धारणा (Concentration)

धारणा दो प्रकारकी है—(१) वहिर्धारणा, (२) आन्तर धारणा ।

वाहरके पदार्थोंमें मूर्ति, विग्रह, चित्र आदिमे धारणा करनेको वहिर्धारणा कहते हैं ।

अन्तर्जगत्‌के विषयोंमे धारणा आन्तर धारणा कही जाती है ।

फल—धारणाकी सहायतासे दिव्यदेशमें इष्टदेवका आविर्भाव होता है । इष्टदेव विग्रह, चित्र इत्यादिसे प्रकट होकर साधकसे वार्तालाप करते हैं और मनोवाञ्छित वर देते हैं ।

'भक्तमाल' इत्यादि ग्रन्थोंमें और पूज्यपाद श्रीरामकृष्ण परमहंस प्रभृति महात्माओंके जीवनमें ऐसी अनेक घटनाओंका वर्णन है।

मन्त्रयोगका सातवाँ अङ्ग

दिव्यदेशसेवन

दिव्यदेश सोलह हैं। धारणाकी सिद्धि होनेपर भक्ति, आचार, प्राणसंयम, जपसिद्धि, देवतासान्निध्य, आचार, दिव्यदेशादिमें दैवी शक्तिका आविर्भाव और इष्टदेव-दर्शन दिव्यदेशमें होता है।

मन्त्रयोगका आठवाँ अङ्ग

प्राणक्रिया

प्राणायाम—चित्तवृत्तिसंयम, आरोग्य, मनकी एकाग्रता और ध्यानकी सहायताके लिये प्राणायामका विधान है। प्राणायामके साथ करन्यास, अङ्गन्यास, मातृकान्यास, ऋष्यादिन्यासका भी विधान मिलता है।

श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धमें ध्यानयोगके वर्णनमें भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने श्रीमुखसे १० प्राणायाम प्रातः, १० प्राणायाम मध्याह्न और १० प्राणायाम सन्ध्याकालमें करनेकी आज्ञा दी है। इससे नाडीकी शुद्धता और शरीरकी नीरोगता सिद्ध होती है।

सहितप्राणायामकी विधि मन्त्रयोगमें सहायक है। सहितप्राणायाम पूरक, कुम्भक, रेचककी मन्त्रके साथ साधना करनेसे होता है।

मन्त्रयोगका नवाँ अङ्ग

मुद्रा

अपने-अपने इष्टदेव और सम्प्रदायके लिये पृथक्-पृथक् मुद्राओंका वर्णन है। मुद्रा-प्रदर्शन करनेसे इष्टदेव प्रसन्न होते हैं।

इष्टदेव	मुद्रा
श्रीराम	धनुष, बाण आदि।
श्रीकृष्ण	वेणु, कदम्बफल आदि।
श्रीविष्णु	शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म, श्रीवत्स, कौस्तुभ, वनमाला, ज्ञान, बिल्व, गरुड, नारसिंही, वाराही, हायग्रीवी, धनुष, बाण, परशु, जगन्मोहनिका, कामनामिका।
श्रीमहादेव	त्रिशूल, माला, वर, अभय, मृग, खट्वाङ्ग, कपाल, डमरू इत्यादि।
श्रीगणेश	दन्त, पाश, अङ्कुश, विघ्न, परशु, लड्डुक आदि।
श्रीसूर्य	पद्ममुद्रा।
श्रीदुर्गादेवी	पाश, अङ्कुश, वर, अभय, खड्ग, चर्म, धनुष, शर, मूसल आदि।

इसी प्रकार श्रीलक्ष्मी, अग्निदेव, श्यामादेवी, तारादेवी, त्रिपुरसुन्दरी इत्यादि देव-देवियोंकी पृथक्-पृथक् मुद्राओंका वर्णन है।

मन्त्रयोगका दसवाँ अङ्ग

तर्पण

अपने-अपने इष्टदेवका तर्पण करके अन्य देव-देवियों, ऋषि और पितृगणोंका तर्पण करना चाहिये। तर्पणसे इष्टदेव और अन्य देव-देवियोंकी तृप्ति होती है। पृथक्-पृथक् काम्य-कर्मोंमें तर्पणकी सामग्री भी पृथक्-पृथक् है।

मन्त्रयोगका ग्यारहवाँ अङ्ग

हवन

हवनसे निखिल सिद्धियाँ लाभ होती हैं। नित्य होमसे इष्टदेव प्रसन्न होते हैं और सब देव-देवियोंकी तृप्ति होती है।

पहले १६ आहुति मूलमन्त्रसे अपने इष्टदेवके लिये देकर तत्पश्चात् अन्य देव-देवियोंको अपने इष्टदेवके अङ्गीभूत जानकर उनके लिये हवन करना चाहिये।

मन्त्रयोगका बारहवाँ अङ्ग

बलि

बलिसे इष्टदेवकी प्रसन्नता और विघ्नोंकी शान्ति होती है। आत्मबलिद्वारा अहङ्कारका नाश होकर साधक कृतकृत्य हो जाता है। यह सर्वश्रेष्ठ है। काम क्रोधादि रिपुओंकी बलि द्वितीयस्थानीय है। उत्तम फलोंकी बलि भी इष्टदेवको देनी चाहिये। अपने-अपने सम्प्रदायके अनुकूल इष्टदेवको हिंसारहित बलि समर्पण करके अन्य देवों और पितरोंको बलि दे, तत्पश्चात् भूतों, कुत्तों, श्वपचों, पक्षियोंको भी बलि दे अर्थात् उन्हें खानेको दे।

मन्त्रयोगका तेरहवाँ अङ्ग

याग

याग दो प्रकारका है—

(१) अन्तर्याग (मानसिक पूजा)

(२) बहिर्याग

बहिर्यागसे अन्तर्याग श्रेष्ठ है।

इष्टदेवकी पूजा करनेके लिये पञ्चोपचार, दशोपचार, षोडशोपचार और एकविंशति उपचारका वर्णन

है, जो मानसिक पूजा और बहिर्पूजा दोनोंमें होता है।

पञ्चोपचार—गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य।

दशोपचार—पाद्य, अर्घ्य, स्नान, मधुपर्क, आचमन, गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य।

षोडशोपचार—आवाहन, पाद्य, अर्घ्य, स्नान, वस्त्र, उपवीत, भूषण, गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, आचमन, ताम्बूल, आरति, प्रणाम।

एकविंशति उपचार—आवाहन, स्वागत, आसन, स्थापन, पाद्य, अर्घ्य, स्नान, वस्त्र, उपवीत, भूषण, गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, आचमन, ताम्बूल, माल्य, आरति, नमस्कार, विसर्जन।

श्रीरामोपासकके लिये श्रीअगस्त्यसहिता अध्याय ३३में, मानसिक पूजाके लिये इकतीस उपचारोंका वर्णन है। वह अवश्य दर्शनीय है।

एकत्रिंशत् उपचार—ध्यान, आवाहन, रत्नसिंहासनप्रदान, सन्निधान, सम्मुखीकरण, प्रार्थना, अर्घ्य, मधुपर्क, प्रसन्नकरण, आचमन, पञ्चामृत, स्नान, वस्त्र, यज्ञोपवीत, भूषण, गन्ध, चन्दन, तुलसी पुष्प, अङ्गपूजा, धूप, दीप, नैवेद्य, आचमन, फलदान, ताम्बूल, राजोपचार, नीराजन, स्तुति, हृदयमें आसन, प्रार्थना।

यागका फल—यागकी साधनासे साधकको अखण्ड फलकी प्राप्ति होती है और अन्तमें वह साधक कैवल्य लाभ करता है।

उपयाग

ब्रह्मयाग और जीवयागको उपयाग कहते हैं।

वेद, स्मृति, पुराणोंका पाठ ब्रह्मयाग, और ब्राह्मण, अतिथि और समस्त जीवधारियोंके कल्याणके लिये भोजन, वसन, जल आदि देना जीवयाग है। यह भी साधकको अवश्य करना चाहिये।

उपयागका फल—ब्रह्मयाग और जीवयागसे साधक इस लोकमें और परलोकमें अनन्त कल्याण प्राप्त करते हैं।

मन्त्रयोगका चौदहवाँ अङ्ग

जप

जप तीन प्रकारका है—

(१) वाचिक—जो दूसरेको सुनायी दे।

(२) उपांशु—जो केवल साधकको सुनायी दे।

(३) मानस—जो साधकको भी सुनायी न दे।

वाचिकसे उपांशु (जिह्वाजप) शतगुण और उपांशुसे मानसजप शतगुण श्रेष्ठ है। अति शीघ्रता या अधिक विलम्बसे जप नहीं करना चाहिये। शीघ्रतासे जप करनेसे धनक्षय, विलम्बसे जप करनेसे रोग होता है। अतएव मध्यम वृत्तिसे जप करे।

मन्त्रजपसे हृदयकी ग्रन्थि खुल जाती है और समस्त अवयव प्रबुद्ध होते हैं—

जपात्सिद्धिर्जपात् सिद्धिर्जपात् सिद्धिर्न संशयः।

जपके लिये अपने-अपने सम्प्रदाय और इष्टदेवके अनुकूल मालाका पृथक्-पृथक् वर्णन है।

तुलसीमाला—अक्षय फल देनेवाली, श्रीविष्णुभक्तिको देनेवाली है।

रुद्राक्षमाला—शिवभाव और शिवलोक देनेवाली है। कितने तन्त्रशास्त्रोंका मत है कि रुद्राक्षमाला पञ्च सम्प्रदायके साधकके लिये हितकर है।

तुलसी-माहात्म्य श्रीअगस्त्यसहिता अध्याय ६ मे, और रुद्राक्ष-माहात्म्य रुद्राक्षजाबालोपनिषद्में विशेषरूपसे वर्णित है।

मन्त्रयोगका पन्द्रहवाँ अङ्ग

ध्यान

अपने-अपने इष्टदेवके रूपको मनसे देखनेको ध्यान कहते हैं। ध्यानसे ही बन्ध और ध्यानसे ही मोक्ष होता है। आत्मा केवल ध्यानसे ही वश हो सकता है, आत्माके वश करनेका दूसरा उपाय नहीं है।

ध्यानसे समाधिकी प्राप्ति होती है।

मन्त्रयोगका सोलहवाँ अङ्ग

समाधि

मन्त्रसिद्धिके साथ देवतामें मन लय होनेसे जब मन, मन्त्र और देवताका स्वतन्त्र बोध नहीं रहता, तीनों एक-दूसरेमें लय हो जाते हैं, तभी ध्याता, ध्यान, ध्येयरूपी त्रिपुटीका लय हो जाता है। इसी अवस्थामें आनन्दाश्रु, रोमाञ्च आदि लक्षणोंका विकास होकर, मन लयको प्राप्त करता है और समाधिका उदय होता है।

समाधि-प्राप्त साधक कृतकृत्य हो जाता है।

मन्त्र

मन्त्रयोगके आचार्य—देवर्षि नारद, महर्षि अङ्गिरा, कश्यप, वसिष्ठ,

मन्त्रयोगका लक्ष्य—श्री

मन्त्रयोग

मन्त्र

, भरद्वाज, गर्ग, शाण्डिल्य, वाल्मीकि, भृगु, बृहस्पति, शुक्र इत्यादि ।

ब्रह्मका साक्षात् दर्शन ।

६ अङ्ग

सप्त ज्ञानभूमिका

(लेखक—श्रीहरिलाल भोगीलाल त्रिवेदी वैद्य)

सृष्टि, स्थिति और संहारशक्तिके अधिष्ठाता, परम सेव्य, ज्ञेय, ध्येय, परमकारुणिक सद्गुरु परमात्मा श्रीमन्नरसिंहाचार्यजीको इस शुभ चिन्तनके प्रारम्भमें सप्रेम प्रणति समर्पण करता हूँ।

प्राचीन कालमें अनेकों महर्षियोंने अध्यात्मबलको प्राप्तकर, परम प्राप्तव्य वस्तुको लाभकर जिस सर्वोत्कृष्ट स्थितिके भोक्ता बननेका सौभाग्य प्राप्त किया था, उस स्थितिको पानेके लिये प्रयत्नशील होनेकी जिसके हृदयमें उत्कट इच्छा जाग्रत हुई है उसी मनुष्यमें मनुष्यत्व है। अन्यथा केवल मनुष्य-देहधारण करनेसे ही वास्तविक मनुष्यत्व नहीं आता। परन्तु परम दयामय देवेशने मनुष्यको जो-जो उत्तम साधन प्रदान किये हैं उन साधनोंकी सर्वोत्तम शुद्धि करते हुए मनुष्यत्वकी अपेक्षा अत्यन्त श्रेष्ठ गुणयुक्त देवत्व और उससे भी उच्चतम ईशत्वको प्राप्त करनेके लिये प्रयत्न करनेवाला वीर साधक ही मनुष्य नाम पानेके योग्य है।

इस जगत्का प्रत्येक अणु—सजीव या निर्जीव प्रतिक्षण उत्तरोत्तर शुद्ध होकर विकासमार्गमें गतिशील हो रहा है। इसीके अनुसार मानव प्राणीके भीतर भी अन्तिम सर्वोत्कृष्ट स्थिति—मुक्तिस्थिति—प्राप्त करनेकी अभिलाषा ज्ञात या अज्ञातभावसे रहती ही है। श्रुति भगवती कहती है—'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'। इससे यह सिद्ध है कि ज्ञान प्राप्त हुए बिना मोक्षाभिलाषीकी मुक्त होनेकी आशा निरर्थक है। वह ज्ञान क्या है, यह जानना चाहिये। इस जगत्में दीखनेवाली प्रत्येक लौकिक विद्या दुःखोंकी आत्यन्तिकी निवृत्ति और सुखकी परावधिकी प्राप्ति करवानेमें सर्वथा असमर्थ है। यह बात बुद्धिमानोंके लिये सुस्पष्ट है। तब वह ऐसी कौन-सी विद्या है जिसके द्वारा मनुष्य कर्तव्य, ज्ञातव्य और प्राप्तव्यकी परमोत्तम सिद्धिको साधकर कृतकृत्य हो सकता है? इस विश्वमें आविष्कृत तथा अन्वेषित समस्त विद्याओंमें केवल ब्रह्मविद्या ही सर्वोपरि है, और उसीकी सहायतासे मनुष्य मनुष्यत्वसे देवत्व और देवत्वसे आगे जाकर ईशत्वमें स्थित हो सकता है।

यथार्थत उन्नतिपथमें शीघ्र अग्रसर होनेकी इच्छा करनेवाले व्यक्तिको अपने स्थूल, सूक्ष्म, कारण और महाकारण—इस देहचतुष्टय, तथा मन, चित्त, बुद्धि और अहंकार इस अन्तःकरण-चतुष्टयको शुद्ध करना परमावश्यक है। शुद्धि होनेपर ही सत्य वस्तुका यथार्थ ज्ञान हो सकता है और सत्य ज्ञान होनेपर ही कर्तव्यकी परावधि प्राप्त होती है। जबतक यह स्थिति प्राप्त नहीं होती तबतक बार-बार इस दृश्यप्रपञ्चमें प्रवेशकर नाना प्रकारके अनुभव करने पड़ते हैं अर्थात् तबतक जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्ति नहीं मिलती। जो महापुरुष मुमुक्षुपदमें स्थित हैं और जिनके अन्दर तीव्र मोक्ष-अभिलाषका उद्भव हुआ है, उनके लिये परम पूज्य महर्षियोंके पवित्र चरण-चिह्नोंका अनुसरण करना और उनकी आज्ञाके अनुसार कर्तव्य कर्मोंको सम्पन्न करनेके लिये कटिबद्ध होना बहुत ही आवश्यक है।

मोक्षप्राप्तिके उपयोगी दो मार्ग हैं—योगविद्या और वेदान्तशास्त्र। श्रीयोगवासिष्ठ महारामायणमें स्पष्ट लिखा है—

> द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य योगो ज्ञानं च राघव।
> योगस्तद्वृत्तिरोधो हि ज्ञानं सम्यगवेक्षणम्॥
> असाध्यः कस्यचियोगो कस्यचिद् ज्ञाननिश्चयः।
> प्रकारौ द्वौ ततो देवो जगाद परमेश्वरः॥

करोड़ों वर्षोंमें तय होनेयोग्य लम्बा रास्ता किस प्रकार सहज हो सकता है यह बतलाना योगका कार्य है। जिनको मुक्त होनेकी तीव्र इच्छा है उनको नजदीकका मार्ग बताना योगका उद्देश्य है। जिस मार्गसे चलनेपर बहुत ही थोड़े समयमें परमपद प्राप्त होता है अर्थात् सामान्य मनुष्यको जिस वस्तुकी प्राप्तिमें करोड़ों वर्ष लगाने पड़ते हैं उस वस्तुकी प्राप्ति एक ही जन्ममें सिद्ध महात्मा कर सकते हैं, वही मार्ग योगमार्ग है। आत्मतत्त्वकी अनन्त अपार शक्तियोंका अटूट धारावद्ध प्रवाह बहा देनेका प्रधान मार्ग ही योगप्रणाली है। परम तत्त्वके चैतन्यसागरमेंसे अनन्त सामर्थ्य प्राप्त करनेकी कला ही योगविद्या है। इस कलाको हस्तगत करनेपर इस विश्वमें कुछ भी दुर्लभ नहीं रहता, और इसी कारणसे योगतत्त्वविद् महापुरुष कहते हैं कि योगविद्या ही सब विद्याओंकी परम अवधि है।

तत्त्वनिश्चय—तत्त्वका सत्य ज्ञान प्राप्त करनेके लिये मनुष्यको श्रीसद्गुरुका आश्रय लेना अनिवार्य है। क्योंकि

वेदान्तशास्त्रके सिद्धान्तको सत्यरूपमे केवल सद्गुरु ही समझा सकते हैं, उनकी सहायताके विना केवल मिथ्या भ्रान्तिमें पड़कर मनुष्य अवनतिको प्राप्त हो सकता है। इसी कारण दीर्घदर्शी तत्त्वज्ञानसम्पन्न शास्त्रकारोंने भी आज्ञा दी है—

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्।—(मुण्डकोपनिषद्)

इस सूत्रके समर्थनमे परमपूज्य आचार्यचूडामणि श्रीशङ्करभगवान् भी कहते हैं—

गुरुमेवाचार्यं शमदमादिसम्पन्नमभिगच्छेत्। शास्त्रज्ञोऽपि स्वातन्त्र्येण ब्रह्मज्ञानान्वेषणं न कुर्यात् ।

'शमदमादिसम्पन्न गुरुके समीप जाना चाहिये। शास्त्रका ज्ञान होनेपर भी ब्रह्मज्ञानकी मनमानी खोज नहीं करनी चाहिये। लौकिक विद्याकी सिद्धिके लिये ही जब गुरुकी आवश्यकता पड़ती है तब ब्रह्मविद्याकी सिद्धिके लिये तो सद्गुरुकी निरतिशय आवश्यकता है, यह सुस्पष्ट है। क्योंकि जिसको जिस वस्तुका अधिकार प्राप्त होता है, उसीके लिये वह प्राप्त हुआ पदार्थ हितकारक होता है। अनधिकारी वेदान्तज्ञानके मार्मिक रहस्यपूर्ण हेतुको नहीं समझ सकता, इसीलिये ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये सद्गुरुकी आवश्यकता हमारे सारे शास्त्र मुक्तकण्ठसे स्वीकार करते हैं।

जब वेदान्तप्रदेशमें विचरण करनेका समय आता है तब ब्रह्मज्ञान, तत्त्वज्ञान आदि शब्दोसे ज्ञानको समझाना सहज होता है। ज्ञान और उस ज्ञानसे विभूषित महापुरुषोंकी अन्तर्बाह्य स्थितिके स्वरूपको समझनेमें सरलता हो, इसीलिये ज्ञानकी सात भूमिकाओंका वर्णन किया गया है।

इस विश्वमें सातका अङ्क बड़े ही महत्त्वका है। Alchemy ने कहा है कि 'सातकी संख्या बड़ी ही चमत्कारिक है।' हिब्रू लोग इस संख्याके द्वारा शपथ खाते हैं। सगीतविद्यामें भी स्वरसप्तककी व्यवस्था है। ज्योतिःशास्त्र और आयुर्वेद आदिमें भी सप्ताङ्कका महत्त्व विराजमान है। पृथ्वीकी धातुएँ सात हैं, उपधातु भी सात हैं, मनुष्यदेहमें भी सात धातु हैं, और सात उपधातु हैं। चर्मके परत भी सात हैं, अग्निकी कलाएँ भी सात हैं, और उसमें रहनेवाले आशय भी सात हैं। सप्ताहके दिन भी सात हैं, जगत्की लौकिक शिक्षाकी पद्धतियाँ भी सात हैं और अज्ञानकी भूमिकाएँ भी सात हैं। इसी प्रकार ज्ञानकी भी सात भूमिकाएँ हैं। जैसे जगत्मे चौथी नीतिसे ही महत्त्वका यथार्थ प्रारम्भ होता है उसी प्रकार इनमें चौथी भूमिकामें ही ज्ञानकी यथार्थ उत्पत्ति होती है। इस प्रकार 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' इस सूत्रके अनुसार वेदान्तविज्ञान सर्वत्र ओतप्रोत है। वे सात भूमिकाएँ ये हैं—

भूमयः सप्त तद्वत्स्युर्ज्ञानस्योक्ता महर्षिभिः।
शुभेच्छा ननु तत्राद्या ज्ञानभूमिः प्रकीर्तिता।
विचारणा द्वितीया तु तृतीया तनुमानसा॥
सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी स्यादसंसक्तिश्च पञ्चमी।
पदार्थाभावनी षष्ठी सप्तमी चाथ तुर्यगा॥

(वेदान्तसिद्धान्तादर्श १९०—१९२)

महर्षियोंने ज्ञानकी सात भूमिकाएँ कही हैं—पहली शुभेच्छा, दूसरी विचारणा, तीसरी तनुमानसा, चौथी सत्त्वापत्ति, पाँचवीं असंसक्ति, छठी पदार्थाभावनी और सातवीं तुर्यगा।

१–शुभेच्छा–**नित्यानित्यवस्तुविवेकादिपुरःसरा फलपर्यवसायिनी मोक्षेच्छा शुभेच्छा।**

'नित्यानित्यवस्तुविवेक-वैराग्यादिके द्वारा सिद्ध हुई फलमें पर्यवसित होनेवाली मोक्षकी इच्छा अर्थात् विविदिषा, मुमुक्षुता, मोक्षके लिये आतुर इच्छा ही शुभेच्छा है।'

२–विचारणा–**गुरुमुपसृत्य वेदान्तवाक्यविचारात्मकश्रवणमननात्मिका वृत्तिः सुविचारणा।**

'श्रीसद्गुरुके समीप वेदान्तवाक्यके श्रवण-मनन करनेवाली जो अन्तःकरणकी वृत्ति है वह सुविचारणा कहलाती है।'

३–तनुमानसा–**निदिध्यासनाभ्यासेन मनस एकाग्रतया सूक्ष्मवस्तुग्रहणयोग्यता तनुमानसा।**

'निदिध्यासन (ध्यान और उपासनाके अभ्यास) से मानसिक एकाग्रता प्राप्त होती है, उसके द्वारा जो सूक्ष्म वस्तुके ग्रहण करनेकी सामर्थ्य (योग्यता) प्राप्त होती है उसे तनुमानसा कहते हैं।'

ये तीन भूमिकाएँ जाग्रत् भूमिकाएँ कहलाती हैं। क्योंकि इनमें जीव और ब्रह्मका भेद स्पष्ट ज्ञात होता है। इनमें स्थित व्यक्ति साधक माना जाता है, ज्ञानी नहीं। क्योंकि—

एतस्मिन्नवस्थात्रये ज्ञानोत्पादनयोग्यतामात्रं संपद्यते न च ज्ञानमुत्पद्यते।

इन तीनों अवस्थाओंमें तत्त्वज्ञानके प्राप्तिकी योग्यता प्राप्त होती है, ब्रह्मज्ञान नहीं प्राप्त होता; अर्थात् इन तीन भूमिकाओंमें विचरता हुआ पुरुष ब्रह्ममें अभेद भावको प्राप्त नहीं होता। परन्तु ज्ञानकी प्राप्तिके लिये इनकी पहले अत्यन्त आवश्यकता होनेके कारण इनकी गणना अज्ञानकी भूमिकामें न होकर ज्ञानकी भूमिकामें ही होती है।

ज्ञानभूमिकात्वं तु ज्ञानेतरकर्माद्यनधिकारित्वे सति ज्ञानस्यैवाधिकारित्वात्।

इन तीन भूमिकाओंमें स्थित पुरुष ज्ञानसे इतर कर्मादिका अधिकारी नहीं होता, प्रत्युत केवल ज्ञान—तत्त्वज्ञानका ही अधिकारी होता है।

४–सत्त्वापत्ति–**निर्विकल्पब्रह्मात्मैक्यसाक्षात्कारः सत्त्वापत्तिः।**

संशयविपर्ययरहित ब्रह्म और आत्माके तादात्म्य अर्थात् ब्रह्मस्वरूपैकात्मत्वका अपरोक्ष अनुभव ही सत्त्वापत्ति नामकी चतुर्थ भूमिका है। यह सिद्धावस्था है। इस भूमिकामें स्थित महापुरुषको 'ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या'का वास्तविक अनुभव हो जाता है। यद्यपि इस दशाको प्राप्त पुरुषको जगत्‌का भान होता है और शरीर तथा अन्तःकरणद्वारा सभी क्रियाएँ सावधानीके साथ होती हैं, तथापि मायावश जीव जिस जगत्‌को सत्यस्वरूप देखता है, उस जगत्‌के मिथ्यात्वका उसे यथार्थ अनुभव हो गया है। यह भूमिका स्वप्न कहलाती है।

५–असंसक्ति–**सविकल्पकसमाध्यभ्यासेन निरुद्धे मनसि निर्विकल्पकसमाध्यवस्थासंसक्तिः।**

सविकल्प समाधिके अभ्यासके द्वारा मानसिक वृत्तियोंके निरोधसे जो निर्विकल्पक समाधिकी अवस्था होती है, वही असंसक्ति कहलाती है। इसे सुषुप्तिभूमिका भी कहते हैं, क्योंकि इस भूमिकामें सुषुप्ति-अवस्थाके समान ब्रह्मसे अभेदभाव प्राप्त हो जाता है। यह जगत्प्रपञ्चको भूला रहता है, परन्तु समयपर स्वयं ही उठता है और किसीके पूछनेपर उपदेश करता है तथा देहनिर्वाहकी क्रिया भी करता है।

अस्यामवस्थाया योगी स्वयमेव व्युत्तिष्ठते।

६–पदार्थाभावनी–**असंसक्तिभूमिकाभ्यासपाटवाच्चिरं प्रपञ्चापरिस्फूर्त्यवस्था पदार्थाभावनी।**

असंसक्ति नामक पाँचवीं भूमिकाके परिपाकसे प्राप्त पटुताके कारण दीर्घकालतक प्रपञ्चके स्फुरणका अभाव पदार्थाभावनी भूमिका कहलाती है। पाँचवीं भूमिकामें विश्वप्रपञ्चका विस्मरण अल्पकालतक ही रहता है और छठी भूमिकामें यह स्थिति दीर्घकालपर्यन्त रह सकती है। इन दोनों भूमिकाओंमें केवल समयका ही भेद होता है। इस भूमिकाको गाढ़ सुषुप्तिके नामसे पुकारते हैं। इस भूमिकामें स्थित महापुरुष देहनिर्वाहादि क्रिया भी स्वतः व्युत्थित दशामें आकर नहीं करता, परन्तु—

अस्यामवस्थायां परप्रयत्नेन योगी व्युत्तिष्ठते।

अर्थात् अन्यके द्वारा व्युत्थान पाकर वह क्रिया करता है। दूसरा कोई मुँहमें ग्रास दे देता है तो दाँत और जीभसे खानेकी क्रिया हो जाती है। इत्यादि।

७–तुरीया–तुर्यगा–**ब्रह्मध्यानावस्थस्य पुनः पदार्थान्तरापरिस्फूर्तिस्तुरीया।**

ब्रह्मचिन्तनमें निमग्न इस महापुरुषको पुनः किसी भी समय किसी भी अन्य पदार्थकी परिस्फूर्तिका न होना, यही ज्ञानकी सप्तम भूमिका तुरीया कहलाती है। इस स्थितिको प्राप्त महात्मा स्वेच्छापूर्वक या परेच्छापूर्वक व्युत्थानको प्राप्त ही नहीं होता, केवल एक ही स्थिति—ब्रह्मीभूत स्थितिमें ही सदा रमण करता है।

अस्यामवस्थायां योगी न स्वतो नापि परकीयप्रयत्नेन व्युत्तिष्ठते केवलं ब्रह्मीभूत एव भवति।

इस प्रकार ज्ञानकी सात भूमिकाओंमें प्रथम तीन भूमिकाएँ ज्ञानकी प्राप्तिके लिये योग्यता प्राप्त करनेके निमित्त बनायी गयी हैं। चौथीसे सातवीं भूमिकातक ज्ञानकी दशा है और यह उत्तरोत्तर उन्नत दशाकी भूमिका है। चतुर्थ भूमिकामें ही तत्त्वज्ञानका यथार्थ प्रादुर्भाव हो जाता है और वही तत्त्वज्ञान अन्तिम चारों भूमिकाओंमें स्थित रहता है। व्युत्थान दशाके तारतम्यसे इनमें भेद माना गया है।

शास्त्र कहता है–'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति।' अतः ब्रह्मके जाननेवालोंको ज्ञानी, तत्त्वज्ञानी, आत्मज्ञानीकी संज्ञासे शास्त्रोंने स्थान-स्थानपर उल्लेख किया है—

एताः सत्त्वापत्त्याद्याश्चतस्रो भूमिका एव ब्रह्मविद्‌ब्रह्मविद्वरब्रह्मविद्वरीयोब्रह्मविद्वरिष्ठेत्येतैर्नामभिर्यथाक्रमेण पूर्वं व्याख्याताः।

'इस प्रकार सत्त्वापत्ति, असंसक्ति, पदार्थाभावनी और तुरीया—इन चार भूमिकाओंमें स्थित महात्मा क्रमशः ब्रह्मविद्, ब्रह्मविद्वर, ब्रह्मविद्वरीयान् और ब्रह्मविद्वरिष्ठ कहलाता है।'

योगाभ्यासद्वारा तपोबलको बढ़ाकर उसके प्रभावके द्वारा विश्वको वशमें करनेवाले अनेकों महापुरुषोंका आविर्भाव हो, इस शुभ भावनाके साथ यह ज्ञानभूमिकाओंका परिचय समाप्त किया जाता है।

भोगमें योग

(लेखक—काव्यतीर्थ प० श्रीकृष्णदत्तजी शास्त्री, साहित्यायुर्वेदोभयाचार्य)

योग-विषय अनन्त तथा असीम है। सभी आचार्योंने सकी पृथक्-पृथक् परिभाषाएँ की है। योग-जैसे गहन ौर दुरूह विषयमे पूर्वाचार्योंके अनेक मत होना ाभाविक है। जो विषय गूढ़ और जटिल होता है उसका नेक प्रकारसे समीक्षण किया जाना भी एक प्रकारसे सके महत्त्वका सूचक है। 'योग' शब्द प्रसङ्गाधीन अनेक र्योंमे पाया जाता है। अतः उसका सांकेतिक अर्थ करना चित नहीं। कोई योगका अर्थ समाधि करता है तो सीके मतमे अष्टाङ्गयोगद्वारा चित्तवृत्तिका निरोध करना ी योग है। कुछ लोग योगका अर्थ सहकार करते हैं तो सीके मतमे 'योग' नाम दो भावोंके सयोग या मिलापका । गवेषणापूर्वक निरीक्षण करनेसे पता चलता है कि ोगका अर्थ 'त्याग' करना ही उचित है। वह चाहे किसी भिप्रेत—अभीष्टके मिलापके लिये हो या स्वतन्त्र हो केन्तु योगका अर्थ 'त्याग' करना युक्ति एवं हेतुपूर्ण है। ोकमें भी योगका अर्थ त्याग ही देखा जाता है। जैसे मुक मनुष्य योगी हो गया, अमुकने तो मानो ससारसे ोग ही ले लिया हो, ऐसा लोग कहते हैं। सन्यासयोग, ांख्ययोग, निष्काम कर्मयोग आदि शब्दोंपरसे स्थिर ोता है कि योग शब्द त्यागमात्रमे पर्यवसित है। क्योकि एकके त्याग विना दूसरेका मिलन नहीं होगा। वस्तुतः 'योग है क्या पदार्थ? उसे कैसे प्राप्त किया जा सकता है और उसके लिये क्या करना होगा?' यह एक जटिल और गम्भीर प्रश्न है। इस विषयमे विद्वानोंके अनन्त मतभेद पाये जाते हैं—जैसे अष्टाङ्गयोग, हठयोग, राजयोग, भक्तियोग, प्रेमयोग, ध्यानयोग, सन्यासयोग, सांख्ययोग समाधियोग, क्रियायोग इत्यादि शतशः नाम लिये जा सकते हैं। परन्तु ध्येय सबका एक है। वह है 'ऐहिक पदार्थोंके प्रति अनासक्तिपूर्वक ब्रह्मसाक्षात्कार किंवा तत्प्राप्ति।' इसपर किसीका वैमत्य नहीं। अत. सिद्ध होता है कि योगाभिप्रेत परीक्षाका परीक्ष्य विषय अनासक्ति और फल ब्रह्मप्राप्ति है। अनासक्तिको वासनात्याग भी कहते हैं। ऐहिक वासनाका सम्यक् लय करना योगका काम है। वासना किंवा आसक्ति-त्याग दो प्रकारसे किया जा सकता है। किसी प्रेय पदार्थका स्वरूपसे त्याग और कामना और वासना-त्याग। इस विश्वकी विचित्रता और व्यापकताको देखते हुए यथार्थ त्याग कामना और वासनाद्वारा ही हो सकता है। यदि हठयोगद्वारा जङ्गलमे जाकर या अन्य क्रियाओंद्वारा ससारका स्वरूपसे त्याग किया भी जाय तो पूर्ण त्याग नहीं बन सकता। किसी-न-किसी रूपमे ससारका अस्तित्व बना ही रहेगा। कदाचित् बाह्य जगत्का त्याग किया भी तो आन्तरिक जगत्का त्याग न होगा। पाञ्चभौतिक शरीरद्वारा ही पञ्चभूतोंका त्याग नहीं हो सकता। शरीरके रहते हुए शरीरका स्वरूप-त्याग नहीं बन सकता, अतः वासनात्याग-को ही यथार्थ मानना चाहिये।

वासनात्यागके लिये जङ्गलमें जानेकी या अमुक क्रिया करनेकी जरूरत नहीं, उसके लिये तो ब्रह्मज्ञ गुरुद्वारा आत्म-परमात्मस्वरूपका यथार्थ ज्ञान प्राप्तकर अन्तःकरण-वृत्त्यवच्छिन्न वासनाका त्याग करना होगा। सघर्षमय जीवनकी चञ्चलताको नष्टकर समताके साम्राज्यमे विचरना होगा। 'समत्व योग उच्यते' का पालन करना होगा; 'सर्वमनास्था खलु' की धारणा दृढ़ करनी होगी, ऐहिक ऐश्वर्योंको पाकर भी पद्मपलाशवत् निर्लिप्त रहना होगा, जीते हुए मुरदा बनना पड़ेगा, सच्चा जनक विदेह बनना होगा; तभी भोगमे योगका आनन्द प्राप्त होगा, गृहमे जङ्गलसे अधिक मङ्गलमय जीवन व्यतीत होगा। इसीका नाम योग है। हठयोगद्वारा किसी वृत्तिको समूल नष्ट करना या किसी वृत्तिविशेषकी उत्पत्तिके पूर्व ही उसका नष्ट कर देना वास्तविक योग नहीं। दमनका नाम यथार्थ त्याग नहीं, बल्कि वह त्यागका उपहासमात्र है। त्याग-शक्तिकी दुर्बलताका परिचय देना तो एक प्रकारसे योग-की अवज्ञा करनेके बराबर है।

किसी प्रकार प्रश्न-पत्रोंको प्राप्त कर लेना, किसीसे पूछ लेना अथवा आत्मघातका भय दिखाकर परीक्षा पास कर लेनेको 'उत्तीर्ण' होना नहीं कह सकते। इसी प्रकार जन्मसे ही दूर रहकर हठयोगद्वारा वृत्तियोंका दमनकर वासनालय या आसक्तित्याग प्राप्त करना योगीका काम नहीं। योगी तो वही है जो विश्ववैभवसरोवरमें खड़ा होकर भी अपनेको सूखा रख सके, उसकी तरङ्गोंका रग न चढ़ने दे, विषयद्वन्द्वमें भी निर्द्वन्द्व रहे। निर्वात

दीपकी भाँति चित्तको निश्चल और मनको एकाग्र रक्खे। विषयरसको नीरस बना दे। किसीने कहा भी है—

ईंधन विहूनी आग राखिवेको जतन कहा,
ईंधनमें आग राखे वाहीको जतन है।
इन्द्री गलित करै, कहौ कौन साधपनो,
इन्द्री वलित बाँधे सोई साधपन है॥
'अक्षर अनन्य' विन विषय पाए त्याग कहाँ,
पाय करै त्याग सोई वैराग मन है।
घर छोड़ वन जोग माँडनको निहोरो कहा,
घरहींमें जोग माँडे सोई गुरुजन है॥

वास्तवमें योगविषयक 'अक्षर अनन्य' कविके उपर्युक्त पद्यका भाव अक्षरशः सत्य है। जब सम्भावना ही नहीं तब त्याग किसका? बलात् इन्द्रियोंका दमन करना तो योगकी विडम्बना है। तृणके अभावमें अग्निका रखना, 'अग्निकी यथार्थ रक्षा' नहीं। तृणसमूहके होते हुए अग्निको सुरक्षित रखनेका नाम ही रक्षा है। कमल जलमें वास करता है किन्तु जलमें लिप्त नहीं। जो गृहमें रहकर भी गृहमे लिप्त नहीं, उसमें आसक्त नहीं, वही सच्चा योगी है। किसीने सत्य कहा है—

पंकज ज्यों जलमाँहिं बसै, तो पै भिन्न रहै, जल परस न लावे।
हस बसै सर माँहिं सदा, पै छीर मखै नीरहि बिलगावे॥
व्यूह-समूह बसै जिमि ध्यानी, पै ध्यान धरै, नहिं चित्त डिगावे।
भोग न बाधि सकै तिमि योगै जो भोगमें योग समाधि लगावे॥

शुद्धान्तःकरण और सात्त्विक अन्नभोगीके चित्तमें कभी विक्षेप उत्पन्न नहीं होता तब बाधा कैसी? वह चाहे जिस आश्रममें बसे, किसीसे कम नहीं। चित्तवृत्तिके निरोधका नाम समाधि है, वह चाहे किसी प्रकार क्यों न प्राप्त हो। मानसिक वेगोंके शान्त होते ही 'नोद्विजति न च द्वेष्टि योगी विगतकल्मषः' हुआ नहीं कि वही सच्चा योगी हो गया।

यदि हमें भोगमें योग साधना है तो सबसे प्रथम आचार-विचारोंको शुद्ध और परिमित करना होगा। तभी अन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्न इस प्रपञ्चमय प्राणीको योगी बना सकेंगे। जहाँतक चित्तकी चञ्चलता और विक्षेपका नाश नहीं वहाँतक योग (त्याग) प्राप्त नहीं होता और त्याग बिना ब्रह्मसाक्षात्कार कैसा? अतः स्थिर धारणा प्राप्त करनी होगी। स्थिरता तो समतामें है। तराजूके किसी पलड़ेमें यदि बोझ कम-ज्यादा होगा तो स्थिरता नहीं प्राप्त हो सकती। बस, यही दशा योगीकी है। मनकी तरङ्गोंका रग किसी तरफ चढ़ जाने दिया या उसकी परवा न की तो फिर स्थिरता कहाँ? चित्तवृत्तिमें विक्षेपका प्रवेश हुआ नहीं कि बस, किया-कराया सब धूल! अतः यदि भोगमें योग प्राप्त करना है तो चित्तमें विक्षेपका प्रवेश मत होने दो, मनके विकारोंको नष्ट करो, कल्पनाको मिटा दो, उदासीनताका सेवन सीखो, जङ्गलमें नहीं किन्तु घरमें ही सच्चे जनक विदेह बनो। कौन कहता है कि भोगमे योग नहीं हो सकता? निर्लेप होते ही सब ऋद्धि-सिद्धि आपकी दासी हो जायँगी। तृष्णा आपके आगे हाथ जोड़े खड़ी रहेगी। सन्तोष आपका मित्र होगा, फिर भय किसका? कल्पना-कालका अभाव हुआ कि आप अजर-अमर योगी हो गये—'जलमें न्हाइये, कोरे रहिये, अन्तरमें कीजे बास'। अब शेष क्या रहा? विशुद्धान्तःकरण मनुष्यको कुछ भी दुर्लभ नहीं—

विक्षेपकल्पनातीतः समचित्तो विचारधीः।
भोगे योगं न जानाति स योगी किं करिष्यति॥

कल्पना, काल एवं विक्षेपरूप शत्रुको जीतनेवाला, शान्तिके साम्राज्यमें स्थिरचित्त हो निश्चिन्त विचरनेवाला यदि भोगमें योग नहीं साध सकता तो वह योगी होकर ही क्या करेगा? अरे, बन्धन तो वासनामें है, जब वासनालय हो गया, तब जाग्रदवस्था होते कितनी देर लगती है। और वासनारहित योगी सदा ही जीवन्मुक्त है, उसे भोगबन्धन कैसे हो सकता है!

वासनालिङ्गसम्बद्धो जीवः संसृतिहेतुकः।
वासनालिङ्गनिर्लिप्तो योगी जाग्रदवस्थकः॥

शान्तिः शान्तिः शान्तिः

क्लेशोंका स्वरूप और निवृत्ति

(लेखक—सेठ श्रीकन्हैयालालजी पोद्दार)

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः ।

(पातञ्जल योगदर्शन, साधनपाद सू० ३)

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश, इन पाँचोंकी क्लेश-संज्ञा है । इन पाँचोंमें अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश इन चारोंका मूल कारण भी अविद्या ही है—अस्मिता आदि चारों क्लेश अविद्याके कारण ही उत्पन्न होते हैं और अविद्याके नष्ट होनेपर उनकी निवृत्ति है ।

(१) अविद्या—अविद्याका अर्थ है विपर्यय ज्ञान अथवा मिथ्या ज्ञान । अर्थात् अनित्यमे नित्यकी, अशुचिमें शुचिकी, दुःखमे सुखकी और अनात्ममें आत्मत्वकी प्रतीति होना ।

(अ) अनित्यमे नित्यकी प्रतीति—अर्थात् अनित्य वस्तुको नित्य समझ लेना । स्वर्गादि लोक और उनके दिव्य भोगविलास, उनमे विहार करनेवाले देवता एव अपने पुण्यकर्मोंके फलसे स्वर्गीय सुखोपभोग प्राप्त करनेवाले व्यक्ति, सभी अनित्य हैं । क्योंकि इन्द्रादि देवताओंकी भी अवधि निश्चित है और पुण्यकर्मसे स्वर्गादि उपलब्ध करनेवाले पुण्यात्माओंकी भी । उनका वह वैभव नित्य नहीं, पुण्य क्षीण होनेपर वे भी स्वर्गसे गिरा दिये जाते हैं । भगवान्‌ने उद्धवजीके प्रति कहा है—

तावत्प्रमोदते स्वर्गे यावत्पुण्यं समाप्यते ।
क्षीणपुण्यः पतत्यर्वागनिच्छन् कालचालितः ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । १० । २६)

अतः स्वर्गलोकादिके अनित्य भोगोको सर्वदा स्थिर समझकर उनके लिये अभिलाष करना प्रथम अविद्या है ।

(आ) अशुचिमे शुचिकी प्रतीति—अर्थात् अपवित्र वस्तुको पवित्र समझना । मनुष्यशरीरकी अत्यन्त अपवित्रता प्रत्यक्ष सिद्ध है—

स्थानाद् बीजादुपष्टम्भान्निष्यन्दान्निधनादपि ।
कायमाधेयशौचत्वात्पण्डिता ह्यशुचिं विदुः ॥

(पातञ्जलदर्शन-भाष्य २ । ५)

अर्थात् मलमूत्रादि अत्यन्त दुर्गन्धित पदार्थोंसे लिप्त माताका उदर तो इस शरीरका उत्पत्तिस्थान है । माता और पिताका अत्यन्त मलिन रज और वीर्य इस शरीरका उपादान कारण है । तथा जिससे यह शरीर धारण किया जाता है—जो शरीरका उपष्टम्भ (आश्रय) है वह रस भी खाये-पीये हुए अन्नजलादिके परिपाकसे उत्पन्न होनेवाले रुधिर आदि अत्यन्त अपवित्र पदार्थोंसे बनता है । एवं इस शरीरसे मल-मूत्र, प्रस्वेद आदि अत्यन्त अपवित्र पदार्थ तो सर्वदा ही झरते रहते हैं । केवल इतना ही नहीं, जिस शरीरको चन्दनादि सुगन्धित द्रव्योंसे सुवासित और वस्त्रालङ्कारोंसे विभूषित किया जाता है वही शरीर प्राण-वियोग होनेपर अस्पृश्य हो जाता है और शूकर-कूकर आदि मांसभक्षी पशुपक्षियोंका भक्ष्य बन जाता है । भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने कहा है—

वासोविलेपनैर्यानि लालितानि पुनः पुनः ।
तान्यङ्गान्यङ्ग लुण्ठन्ति क्रव्यादाः सर्वदेहिनाम् ॥
मेरुशृङ्गतटोल्लासिगङ्गाजलरयोपमा ।
दृष्टा यस्मिन्स्तने मुक्ताहारस्योल्लासशालिता ॥
श्मशानेषु दिगन्तेषु स एव ललनास्तनः ।
श्वभिरास्वाद्यते काले लघुपिण्ड इवान्धसः ॥

(योगवासिष्ठ वैराग्य प्र० २१ । ४—६)

'सुन्दर वस्त्र और अनेक प्रकारके सुगन्धित द्रव्योंसे शोभित किये जानेवाले देहधारियोंके अङ्गोंको मांसाहारी जीव नोच-नोचकर खा जाते हैं । एवं मोतियोंकी मालासे विभूषित स्त्रीके जो स्तन निर्मल गङ्गाजलसे सुशोभित मेरुशृङ्गके तुल्य आह्लादक प्रतीत होते हैं उन्हीं स्तनोंको कालान्तरमे श्मशानभूमिमे या अन्यत्र श्वान इस प्रकार आस्वादन करते हैं जैसे चावलके छोटे-से पिण्डको ।'

इसके अतिरिक्त यदि मृत शरीरको तत्काल दग्ध न किया जाय तो सड़कर कीड़े पड़ जानेपर शूकर और श्वान आदि भी उससे घृणा करने लग जाते हैं । मनुष्य-शरीर ऐसा बीभत्स और घृणास्पद होनेपर भी किसी स्त्रीको देखकर यह समझना कि यह बड़ी ही सुन्दरी है, मानो इसकी रचना विधाताने अमृतके अवयवोंसे की है, या यह चन्द्र-मण्डलका भेदन करके पृथ्वीपर आ गयी है, निरी मूर्खता है । इस प्रकार स्त्रीमें कामान्ध होकर आसक्त होनेवाले व्यक्तियों-मे और मलमूत्रमे विहार करनेवाले कीड़ोंमे क्या भेद है

सकता है ? उर्वशीमें आसक्त होकर पश्चात्ताप करते हुए राजा ऐलने कहा है—

तस्मिन् कलेवरेऽमेध्ये तुच्छनिष्ठे विषज्जते।
अहो सुभद्रं सुनसं सुस्मितं च मुखं स्त्रियः॥
त्वङ्मांसरुधिरस्नायुमेदोमज्जास्थिसंहतौ।
विण्मूत्रपूये रमतां कृमीणां कियदन्तरम्॥

(श्रीमद्भागवत ११। २६। २०-२१)

"उस अपवित्र और तुच्छ शरीरमें 'अहो इस स्त्रीका कैसा मनोहर मुख है, इसकी नासिका कैसी सम और सुन्दर है, इसकी मुस्कान कैसी मनोहारिणी है—ऐसी भावना करके मनुष्य आसक्त हो जाता है। यह कैसा मोह है ? त्वचा, मांस, रुधिर, स्नायु, मेद, मज्जा और अस्थियोंके समूहरूप इस देहमें आसक्त पुरुषोंमें और अति अपवित्र मल-मूत्रमें किलबिलानेवाले कीड़ोंमे क्या अन्तर है ?"

अतएव एवभूत घृणास्पद स्त्रीके शरीरको पवित्र समझना केवल मिथ्या ज्ञान है। स्त्रीमें आसक्त होना साधारण क्लेश नहीं, किन्तु सर्वनाशका कारण भी है। श्रीदत्तात्रेयजीने राजा यदुसे कहा है—

योषिद्धिरण्याभरणाम्बरादि-
द्रव्येषु मायारचितेषु मूढः।
प्रलोभितात्मा ह्युपभोगबुद्ध्या
पतङ्गवन्नश्यति नष्टदृष्टिः॥

(श्रीमद्भागवत ११। ८। ८)

'स्त्रियोंके वस्त्रालङ्कारके सौन्दर्यपर प्रलुब्ध होकर कामान्ध मूढ पुरुष उस पतङ्गकी भाँति नष्ट हो जाता है जो दीपकके रूपपर मुग्ध होकर उसपर गिरकर नष्ट हो जाता है।'

इसी प्रकार यज्ञादिमे की हुई पापरूप हिंसाको पुण्यकर्म समझना और अनेक अनर्थ कर्मोंद्वारा अर्जन-पालन किये जानेवाले धनको पवित्र समझना भी मिथ्या ज्ञान है। इसीसे उद्धवजीके प्रति भगवान्ने आज्ञा की है—

स्तेयं हिंसानृतं दम्भः कामः क्रोधः स्मयो मदः।
भेदो वैरमविश्वासः संस्पर्धा व्यसनानि च॥
एते पञ्चदशानर्था ह्यर्थमूला मता नृणाम्।
तस्मादनर्थमर्थाख्यं श्रेयोऽर्थी दूरतस्त्यजेत्॥

(श्रीमद्भागवत ११। २३। १८-१९)

'चोरी, हिंसा, झूठ, दम्भ, काम, क्रोध, क्षोभ, मद, भेदबुद्धि, वैर, अविश्वास, स्पर्धा और स्त्री, द्यूत एवं मद्यका व्यसन, ये पन्द्रह मनुष्योंमें धनके कारणसे ही होते हैं; इसलिये श्रेयार्थी पुरुषको इस अर्थरूप अनर्थका दूरसे ही त्याग कर देना चाहिये।'

इस प्रकार अशुचिको शुचि समझना दूसरी अविद्या है।

(३) दुःखमे सुखकी प्रतीति—विषयसुख वास्तवमें महान् दुःखप्रद है। उसे सुख मानना भी मिथ्या ज्ञान है। क्योंकि—

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः। (पातञ्जलदर्शन, साधनपाद सू० १५)

अर्थात् विवेकशील जनोकी दृष्टिमे सारे विषय-सुख परिणाम, ताप और संस्कारदुःखोसे परिपूर्ण एवं गुणवृत्ति-विरोध होनेके कारण दुःखरूप हैं।

परिणामदुःख—मनुष्यको पुत्र, स्त्री, मित्र आदि चेतन और गृह, क्षेत्र आदि अचेतन पदार्थोंमे सुखका जो अनुभव होता है वह राग (प्रीति) के संयोगसे होता है—जिसमे राग होता है उसी पदार्थमें सुख भी माना जाता है। राग रजोगुणका कार्य होनेके कारण रागद्वारा सुखकी प्राप्तिके लिये धर्माधर्ममे प्रवृत्ति होती है। एवं सुखके अनुभवकालमे दुःखकारक पदार्थोंसे द्वेष होना भी स्वाभाविक है। और द्वेष होनेपर अनर्थ कार्यमे प्रवृत्ति होती है। तथा दुःखके दूर करनेमें असमर्थ होनेपर मोह होता है। मोह होनेपर कर्तव्याकर्तव्यका ज्ञान नहीं रह सकता। अतः मोह भी अनर्थरूप होनेके कारण पापजनक है। इसके अतिरिक्त विषय-सुखमे भूतहिंसाका होना भी अनिवार्य है। क्योंकि हिंसाके बिना विषय-सुखका होना असम्भव है। जब गृहस्थी जनोसे अपने जीवनयापन-के साधनोंमे भी—

पञ्च सूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः।
कण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन्॥

(मनुस्मृति ३। ६८)

—चुल्ली आदि पाँच प्रकारकी हिंसाओंका होना अपरिहार्य है, तब नाना प्रकारके विषयोपभोगोंमें हिंसाओंके होनेकी क्या गणना हो सकती है ?

यदि यह कहा जाय कि विषयोंके उपभोगद्वारा इन्द्रियों-की तृप्ति होनेके कारण भोग-तृष्णाकी जो शान्ति होती है

क्या वह सुख नहीं है ? और उस तृष्णाकी शान्तिका न होना क्या दुःख नहीं है ? इसका उत्तर यह है कि विषय-भोगद्वारा भोग-तृष्णाकी शान्ति कहाँ ? प्रत्युत अग्निमें घृत छोड़नेपर जिस प्रकार अग्निकी अभिवृद्धि होती है उसी प्रकार विषयोंके उपभोगसे तो विषय-तृष्णाकी अधिकाधिक वृद्धि होती है—शान्ति नहीं । कहा है—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते ॥

(मनुस्मृति २ । ९४)

अतएव विषयोंके उपभोगसे भोग-तृष्णा कभी शान्त नहीं हो सकती, यह प्रत्यक्षानुभवसिद्ध है । विषय-भोगका परिणाम क्या होता है, इस विषयमें भगवान् श्रीरामचन्द्रजी-ने कहा है—

पुत्राश्च दाराश्च धनं च बुध्या
प्रकल्प्यते तात रसायनाभम् ।
सर्वं तु तन्नोपकरोत्यथान्ते
यन्नातिरम्या विषमूर्च्छनैव ॥
विषादयुक्तो विषमामवस्था-
मुपागतः कायवयोऽवसाने ।
भावान् स्मरन् स्वानिह धर्मरिक्तान्
जन्तुर्जरावानिह दह्यतेऽन्तः ॥

(योगवासिष्ठ, वैराग्य प्र० २७ । १३-१४)

अर्थात् पुत्र, स्त्री और धन आदि जितने भी पदार्थ कल्पनामें अमृतके समान सुखकारक माने जाते हैं, वे अत्यन्त रमणीय प्रतीत होनेवाले सब पदार्थ कुछ भी उपकार न करके प्रत्युत अन्तकालमें विषके समान दुःख-प्रद हो जाते हैं । जब स्वयं सन्तप्त मनुष्य वृद्धावस्थासे ग्रसित होता है तब यह अपने पापकर्मोंका स्मरण करता हुआ दग्ध हो जाता है । विषयासक्ति ही सारे बन्धनोंका कारण है—

बन्धाय विषयासङ्गि मुक्त्यै निर्विषयं मनः ॥

(विष्णुपुराण ६ । ७ । २८)

अतएव विषयसुखमें यह परिणामदुःखता है ।

तापदुःखता—विषयसुखोंके साधनोंकी पूर्णता न होनेसे चित्तमें जो परिताप होता है वह तापदुःखता है । विषय-सुखोंकी प्रतीतिके समय उसके विरोधी पदार्थोंमें द्वेष होनेके कारण कायिक, वाचिक और मानसिक चेष्टाओंद्वारा दूसरों-को दुःख देनेमें अवश्य प्रवृत्ति होती है । क्योंकि अपने सुखके बाधक समझ कर ही—

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।

'आज इस शत्रुको मारा, अब औरोंको मारूँगा ।' —इस प्रकारकी चित्तवृत्ति उत्पन्न हुआ करती है । इस प्रकारकी चित्तवृत्ति भी भावी दुःखका कारण होनेसे विषयसुखमें तापदुःखता है । अतएव विषयचिन्तनमात्रको श्रीमद्भगवद्गीतामें सर्वनाशका कारण कहा है—

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥

(२ । ६२-६३)

संस्कारदुःखता—सुखके संस्कारकी स्मृतिसे जो धर्माधर्म कार्योंमें प्रवृत्ति होती है उसके द्वारा भविष्यमें दुःख होनेकी सम्भावना, विषय-सुखमें संस्कारदुःखता है । अर्थात् सुखका अनुभव होनेसे सुखका संस्कार चित्तमें स्थिर हो जाता है । उस संस्कारसे सुखका स्मरण होता है । स्मरणद्वारा सुखमें राग (अभिलाषा या वासना) उत्पन्न होता है । जिससे सुखकी प्राप्तिके लिये कायिक, वाचिक और मानसिक चेष्टाओंद्वारा शुभाशुभ कर्मोंमें प्रवृत्ति होना अवश्यम्भावी है । और उन कर्मोंके फलसे पुनः जन्म होता है । पुनर्जन्म होनेपर सुखादिके अनुभवद्वारा संस्कार, संस्कारसे स्मरण और स्मरणसे राग आदि उत्पन्न होनेसे सुखानुभवजनित संस्कारोंसे प्रत्येक जन्ममें कर्मोंका समूह बनता जाता है, यह विषयसुखमें संस्कारदुःखता है ।

जिस प्रकार विषयसुखमें उपर्युक्त परिणाम, ताप और संस्कारदुःख हैं, उसी प्रकार गुण-वृत्तियोंके परस्पर विरुद्ध होनेके कारण भी विषयसुख दुःखरूप है । अर्थात् सत्त्व, रज और तम, ये तीनों गुण परस्परमें अन्योन्याश्रित होकर ही प्रत्येक कार्यका सम्पादन कर सकते हैं, न कि स्वतन्त्र । अतएव विषयसुखोपभोगरूप शान्तवृत्ति भी त्रिगुणात्मक होनेके कारण दुःख और विषादमिश्रित होती है । इसके द्वारा सिद्ध है कि विषयसुख स्वभावतः दुःख-रूप है । यदि सुखोपभोगात्मक शान्तिवृत्तिकी कुछ कालतक अचल स्थिति रहना सम्भव होता तो विषयसुख किसी अंशमें सुख कहा भी जा सकता था । किन्तु गुण चञ्चल होनेके कारण वे क्षण-क्षणमें विलक्षण परिणामको प्राप्त होते

रहते हैं अतएव सुख क्षणिक होनेके कारण अन्तमें दुःखरूप है। अतएव भगवान्‌ने आज्ञा की है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥
(श्रीमद्भगवद्गीता ५। २२)

'हे अर्जुन! इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न भोग दुःखके हेतु और आदि-अन्तवाले हैं, अतएव बुद्धिमान् उनमें नहीं रमता।'

निष्कर्ष यह कि दुःखरूप विषयभोगमें सुख समझना तीसरी अविद्या है।

(ई) अनात्ममें आत्मत्वकी प्रतीति—पशु, पुत्र, स्त्री और भृत्य आदि चेतन तथा शय्या, आसन, गृह और धन आदि अचेतन बाह्य उपकरण एवं भोगका अधिष्ठान[1] शरीर और पुरुषका उपकरण मन[2], ये सभी आत्मासे भिन्न हैं, इनको आत्मरूप अर्थात् मैं और मेरे मान लेना मिथ्या ज्ञान है। अनात्ममे आत्मत्वरूप मिथ्या ज्ञान ही सारे मिथ्या ज्ञानोंका मूल है। इसके नष्ट होनेपर सारे मिथ्या ज्ञान नष्ट हो जाते हैं। इसीसे बृहदारण्यक उपनिषद्‌की—

आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्॥
(४। ४। १२)

'यदि पुरुष अपने आपको जान जाय कि मैं सारे दुःखोके सम्बन्धसे रहित नित्यमुक्त आनन्दस्वरूप हूँ तो वह फिर किसी पदार्थकी इच्छा करता हुआ किसलिये शरीरमें मिथ्या अध्यास करके विषयभोगोंके लिये दुःखसे सन्तप्त होगा।'

इस श्रुतिमें व्यतिरेकद्वारा आत्म-अज्ञानको ही सम्पूर्ण अनर्थोंका कारण बताया गया है। अतएव यह चौथी अविद्या है।

उपर्युक्त चारों प्रकारकी अविद्या ही राग, द्वेष आदि शेष चारों क्लेशोंका मूल कारण है। अतएव महर्षि गौतमने—

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः।
(न्यायदर्शन, अध्याय १, सूत्र २)

—इस सूत्रमें मिथ्याज्ञानात्मक अविद्याकी निवृत्तिद्वारा रागादिकी निवृत्तिको ही आत्यन्तिक दुःखनिवृत्तिका कारण बताया है।

(२) अस्मिता—दृक्शक्ति (द्रष्टा अर्थात् पुरुष[1]) और दर्शनशक्ति (बुद्धि[2]) की एकात्मता-सी (अभिन्नता-सी) प्रतीत होना अस्मिता नामक क्लेश है।

पुरुष और बुद्धि, ये दोनो वस्तुतः अत्यन्त विलक्षण हैं—पुरुष कूटस्थ, शुद्ध, चेतन तथा भोक्ता है और बुद्धि परिणामी, मलिन तथा जड है। इन दोनोंका तादात्म्यभावसे (अभेदसे) प्रतीत होना अस्मिता है। यह अस्मिता ही पुरुषके लिये भोगका कारण है। क्योंकि इस अस्मिताके कारण ही नित्य, शुद्ध, चेतन, अविकारी और कूटस्थ होकर भी पुरुष अपनेको जडबुद्धिसे भिन्न न मानकर 'मैं कर्ता-भोक्ता हूँ, सुखी हूँ, दुखी हूँ'—इस प्रकार मान लेता है। अतएव द्रष्टा और दृश्यका अभेद-ज्ञानरूप अस्मितासञ्ज्ञक क्लेश बन्धनका कारण है। योगवासिष्ठमें कहा है—

द्रष्टुर्दृश्यस्य सत्ताङ्ग बन्ध इत्यभिधीयते।
द्रष्टा दृश्यबलाद्बद्धो दृश्याभावे विमुच्यते॥
(उत्पत्ति प्र० १। २२)

'द्रष्टाकी दृश्यरूपसे सत्ता मान लेना ही बन्ध है। दृश्यके वशमें होनेसे वह बद्ध है और दृश्यको मिथ्या समझनेसे मुक्त हो जाता है।'

(३), (४) राग और द्वेष—सुखानुभवके अनन्तर चित्तमें रहनेवाली सुखकी अभिलाषाका नाम राग और दुःखानुभवके अनन्तर चित्तमे रहनेवाली दुःखको निराकरण करनेकी इच्छाका नाम द्वेष है। अर्थात् सुख और दुःखके अनुभवके समय चित्तमें सुख और दुःखके सस्कार स्थिर हो जाते हैं। समयान्तरमे उस पूर्वानुभूत सुख या दुःखका स्मरण हो आनेपर, तादृश सुखकी इच्छा और दुःखके प्रति द्वेष

१ शरीरमें स्थित होकर पुरुष भोगोंको भोगता है, अत. शरीर भोगका अधिष्ठान है।

२. विषयभोगका साधन होनेके कारण मन पुरुषका उपकरण है।

१. सबका द्रष्टा होनेके कारण पुरुषकी द्रष्टा-सञ्ज्ञा है।

२ विषयाकारसे परिणत होकर विषयरूपको प्राप्त होनेके कारण बुद्धिकी दर्शनशक्ति-सञ्ज्ञा है।

उत्पन्न होना राग और द्वेष नामक क्लेश हैं। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने राग-द्वेषको महारोग कथन किया है—

रागद्वेषमहारोगा भोगपूगा विभूतयः।
कथं जन्तुं न बाधन्ते संसारार्णवचारिणम्॥

(योगवासिष्ठ)

अतएव राग-द्वेष क्लेशरूप बताये गये हैं। क्योंकि राग और द्वेष मनुष्यके परम शत्रु हैं—इनके वशीभूत होकर ही सब अनर्थ-कर्मोंमें प्रवृत्ति होती है। श्रीमद्भगवद्‌गीतामें भी कहा है—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥

(३। ३४)

सभी इन्द्रियोंके शब्दादि विषयोंमें राग और द्वेष स्थित हैं, अर्थात् इष्ट वस्तुमें राग और अनिष्टमें द्वेष रहता है। अतएव राग-द्वेषके वशमें कभी न होना चाहिये, क्योंकि ये इस पुरुषके परिपन्थी हैं। परिपन्थीका अर्थ पूज्यपाद भाष्यकारने यहाँ 'कल्याण-मार्गमें विघ्न करनेवाले चोरके समान' किया है।

(५) अभिनिवेश—स्वभावसिद्ध मरणभय अभिनिवेश-संज्ञक क्लेश है। अर्थात् प्राणिमात्रकी अपने विषयमें 'मैं कभी न मरूँ, सर्वदा जीवित रहूँ' ऐसी इच्छा रहना ही अभिनिवेश है। अभिनिवेश केवल सम्प्रज्ञात समाधिस्थ योगीजन तथा विवेकशील ज्ञानी एवं भगवद्भक्तोंके अतिरिक्त क्या मूढ, क्या पण्डित, क्या वृद्ध, क्या बालक, सभीके हृदयमें एक समान स्थित रहता है। यह अभिनिवेश स्व-रस-वाही है अर्थात् पूर्वमरणके अनुभवकी वासनाद्वारा रहा करता है। यदि पूर्वजन्ममें मरणका अनुभव न हुआ होता तो इस जन्ममें मृत्युका भय न होता। क्योंकि तत्कालका बालक या कीड़े आदि, जिन्होंने न तो मरण-दुःखका वर्तमानमें प्रत्यक्ष अनुभव ही किया है, न अनुमान ही कर सकते हैं और न आगम-प्रमाणसे ही अभिज्ञ हैं, उनको भी यह मृत्युभय होना प्रत्यक्ष देखा जाता है।

उपर्युक्त अविद्यादि पाँचों क्लेशोंकी चार अवस्थाएँ हैं—प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार।

प्रसुप्त अवस्थामें चित्तमें वर्तमान रहते हुए भी क्लेश अपने कार्य करनेमें समर्थ नहीं होते। किन्तु अपने कार्यको सम्पादन करनेकी शक्ति उनमें बीजभावसे बनी रहती है।

तनु अवस्थामें प्रतिपक्षभावनाद्वारा अर्थात् तप एवं स्वाध्याय आदि क्रियायोगोंके अनुष्ठानद्वारा क्लेश उपहत होकर क्षीण हो जाते हैं। अर्थात् सम्यक्ज्ञानद्वारा अविद्या, विवेकज्ञानद्वारा अस्मिता, माध्यस्थ्य[1]द्वारा राग-द्वेष और अहंता-ममताके त्यागद्वारा अभिनिवेश तनु अवस्थाको प्राप्त हो जाते हैं। यद्यपि क्लेशोंकी तनु अवस्था क्रियायोग-द्वारा साध्य होनेके कारण उपादेय है, किन्तु असम्प्रज्ञात समाधिस्थ[2] योगीके लिये तनु अवस्थावाले क्लेश भी त्याज्य होनेके कारण तनु क्लेश भी अविद्या मूलक ही हैं।

विच्छिन्न अवस्थामें क्लेश बीच-बीचमें विच्छिन्न होकर भी फिर उसी रूपमें प्रादुर्भूत होते रहते हैं। यह विच्छिन्न अवस्था दो प्रकारसे होती है—सजातीय रागकी उदारताद्वारा और विजातीय रागकी उदारताद्वारा। जैसे किसी पुरुषका अन्य स्त्रियोंकी अपेक्षा किसी विशेष स्त्रीमें उत्कट अनुराग हो, वह अनुराग लब्धवृत्ति अर्थात् उदार है। किन्तु अन्य स्त्रियोंमें वही अनुराग उस समय भविष्यद्वृत्ति होनेके कारण विच्छिन्न है। अतः ऐसा राग सजातीय रागकी उदारताद्वारा विच्छिन्न होता है। और रागके समय क्रोध उत्पन्न न होनेके कारण जो अदृश्यमान क्रोध है वह विजातीय रागकी उदारताद्वारा विच्छिन्न हो जाता है।

एक क्लेशकी उदार अवस्थाके समय अन्य क्लेशोंकी केवल विच्छिन्न अवस्था ही नहीं किन्तु कहीं प्रसुप्त और कहीं तनु अवस्था भी रहती है।

उदार अवस्थामें क्लेश अपने विषयमें लब्धवृत्ति होनेके कारण उत्कटरूपमें प्रकट होकर अपने कार्यमें तत्पर रहते हैं।

क्लेशोंकी उक्त चारों अवस्थाएँ क्रियायोगके अनुष्ठान-द्वारा जिस प्रकार तनु हो जाती हैं उसी प्रकार विषय-चिन्तन आदि उत्तेजक कारणोंद्वारा उदार हो जाती हैं।

---

१ यह ग्रहण करने योग्य है और यह त्याग करने योग्य, इस प्रकारके अनुकूल और प्रतिकूल ज्ञानके अभावको माध्यस्थ कहते हैं।

२. निर्बीज या निरालम्ब समाधिप्राप्त योगी।

अर्थात् क्रियायोग क्लेशोंकी क्षीणताका और विषयासक्ति क्लेशोंकी वृद्धिका कारण है।

क्लेशोंकी उक्त चारों अवस्थाओंमें प्रसुप्त अवस्था तत्त्वलीन[1] व्यक्तियोंमें रहती है। तनु अवस्था योगीजनोंमें और विच्छिन्न तथा उदार अवस्था विषयासक्त मनुष्योंमें रहती है—

प्रसुप्तास्तत्त्वलीनानां तन्ववस्थाश्च योगिनाम्।
विच्छिन्नोदाररूपाश्च क्लेशा विषयसङ्गिनाम्॥

(योगदर्शन—वाचस्पतिमिश्रकृत व्याख्या)

पूर्वोक्त अविद्या आदि पाँचों क्लेशोंकी उक्त प्रसुप्त आदि चार अवस्थाओंके अतिरिक्त एक दग्ध अवस्था भी है। परन्तु वह अवस्था तो वाञ्छनीय है, उस अवस्थाको प्राप्त हो जानेपर क्लेश पुरुषको बाधित करनेमें समर्थ नहीं रहते।

क्लेशोंकी निवृत्ति

प्राणिमात्र क्लेशोंकी निवृत्ति और सुखकी प्राप्तिके लिये निरन्तर प्रयत्नशील रहते हैं। किन्तु जिस विषय-भोगकी प्राप्तिको वे दुःखनाश और सुखकी प्राप्ति समझते हैं, वह न तो वस्तुतः दुःखका नाश है और न सुख ही। प्रत्युत विषय-भोगमें माना जानेवाला सुख तो दुःख (क्लेश)-रूप है, जैसा कि पहले स्पष्ट किया गया है। इसके अतिरिक्त जो लोग दुःखके नाश और सुखकी प्राप्तिके लिये स्वच्छन्द (अपने मनोनुकूल) उपायोंकी योजना करते हैं, उनके द्वारा भी दुःखका नाश या सुखकी प्राप्ति सम्भव नहीं। क्लेशोंकी निवृत्ति तो शास्त्रोक्त साधनोंद्वारा ही हो सकती है।

क्लेशोंकी निवृत्तिके लिये प्रथम उदार अवस्थाप्राप्त क्लेशोंको क्षीण करनेके लिये तप और स्वाध्याय आदि क्रियायोग[2] ही एकमात्र साधन है। क्योंकि अनादिकालसे किये गये कर्म और तज्जनित क्लेशोंकी वासनाद्वारा असंख्य प्रकारसे विषयोंमें प्रवृत्त करनेवाला रजोगुण और तमोगुणका विकास तप और स्वाध्याय आदि क्रियायोगके अतिरिक्त कभी विनष्ट नहीं हो सकता। यहाँ 'तप' द्वारा शरीरको शोषण करनेवाले स्मृतियोंमें निरूपित कृच्छ्रचान्द्रायणव्रत आदि दुःसाध्य तपोंसे तात्पर्य नहीं, क्योंकि चान्द्रायणव्रत आदि धातुवैषम्यकारक होनेके कारण योगके विरोधी हैं। यहाँ तो हित[2], मित[3] एवं मेध्य[4] भोजन, शीतोष्ण आदि द्वन्द्वोंकी सहिष्णुता और इन्द्रियोंके दमनात्मक युक्ताहार-विहार आदि तप ही अभीष्ट हैं। जैसा कि श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा गया है—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥

स्वाध्यायसे यहाँ प्रणवका जप, रुद्रसूक्त, पुरुषसूक्त आदि वैदिक मन्त्र और मोक्ष-प्रतिपादक पौराणिक शास्त्रोंका अध्ययन और श्रीभगवन्नामका जप अभीष्ट है।

उदार अवस्थाप्राप्त क्लेशोंकी क्रियायोगद्वारा क्षीण अवस्था हो जानेपर भी वे समूल नष्ट नहीं होते—बीजभावसे स्थित रहते हैं, अतः बीजभावसे स्थित क्लेश-वृत्तियाँ ध्यान (निदिध्यासन) योगद्वारा—जिसकी योगशास्त्रमें प्रसंख्यान अग्नि संज्ञा भी है—दग्धबीज की जा सकती हैं।

ध्यानका अर्थ है ध्येयाकार चित्तवृत्तिकी एकाग्रता हो जाना—

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।

(यो० वि० पा० सू० २)

चित्तकी एकाग्रताके लिये अर्थात् चित्तवृत्तियोंके निरोध करनेके लिये अभ्यास और वैराग्य ही एकमात्र साधन है—

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।

(यो० समा० पा० सू० १२)

---

१ आत्मतत्त्वभावना करके (जो अज्ञानजन्य है) पञ्चभूत आदिमेंसे किसी तत्त्वका समाधिमें आलम्बन करके जो ध्यान करते हैं उनको तत्त्वलीन अथवा विदेहप्रकृतिलय कहते हैं और यह सम्प्रज्ञात समाधि कही जाती है। यह समाधि मुक्तिका साक्षात् साधन नहीं, क्योंकि अपनी अवधिके अनन्तर तत्त्वलीनोंको फिर संसारमें आना पड़ता है।

२. क्रियायोगमें तीसरे साधन ईश्वरप्रणिधान (भक्ति) का भी योगदर्शनमें उल्लेख है, वह आगे लिखा जायगा।

२ योगीके विरोधी अति अम्ल, अति लवण, अति उष्ण, अति रूक्ष, तिल, सरसों, दही और मांस आदिको छोड़कर गेहूँ, चावल, मूँग, गोदुग्ध, शर्करा, घृत और मधु आदि हित-भोजन है।

३ उदरके दो भाग अन्नसे और एक भाग जलसे पूर्ण करके शेष चौथा भाग वायुके सञ्चारके लिये रिक्त (खाली) रखना मितभोजन है।

४ मद्य, मांस, मत्स्य, लहसुनको छोड़कर परवल, सूरण (जिमीकन्द) आदि मेध्यभोजन है।

अर्थात् अभ्यासद्वारा यमनियमादि साधनोंकी दृढ़ अवस्था हो जानेपर और ऐहिक एवं पारलौकिक विषयोंमें अत्यन्त ग्लानि रखनेसे ही चित्तकी एकाग्रता उपलब्ध हो सकती है।

अभ्यास और वैराग्यद्वारा चित्तकी एकाग्रता उपलब्ध हो जानेपर एकाग्रचित्तमें सच्चिदानन्दघन परमेश्वरके ध्यानद्वारा क्लेश दग्धबीज हो जाते हैं। ध्यान अमूर्त और मूर्त दो प्रकारका होता है—

आश्रयश्चेतसो ब्रह्म द्विधा तच्च स्वभावतः।
भूप मूर्तममूर्तं च परं चापरमेव च॥

(विष्णुपुराण ६। ७। ४७)

नारदपाञ्चरात्रगत आनन्दसहितामें भी कहा है—

आनन्दो द्विविधः प्रोक्तो मूर्तश्चामूर्त एव च।

अमूर्त अर्थात् अव्यक्त—निर्गुण ब्रह्मका ध्यान और व्यक्त अर्थात् भगवान् श्रीरामकृष्ण आदि अपने अभिमत भगवान्‌की इष्टमूर्तिका ध्यान।

इस प्रकार भगवान्‌के ध्यानद्वारा क्लेशोंके दग्धबीज हो जानेपर उन क्लेशोंको निर्मूल करनेका एकमात्र साधन असम्प्रज्ञात समाधि ही है—

ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः। (यो० सा० पा० सू० १०)

असम्प्रज्ञात समाधिमें ध्याता और ध्येयकी प्रतीति नहीं होती है[1] अर्थात् वह निर्बीज (निरालम्ब) होती है। यह समाधि ही योगकी परमावधि है। इसीके लिये यम, नियम आदि अष्टाङ्गयोगादि अनेक साधनोंका योगदर्शनमें उल्लेख किया गया है। किन्तु असम्प्रज्ञात समाधिके योगशास्त्रोक्त साधनोंका अनुष्ठान सहज नहीं। अर्जुनके प्रश्न करनेपर स्वयं भगवान् आज्ञा करते हैं—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥

(श्रीमद्भगवद्गीता १२। ५)

जो अव्यक्त (अक्षर निर्गुण निराकार) ब्रह्मके उपासक हैं उनको देहाभिमानका परित्याग करना परमावश्यक है। देहाभिमानके त्याग बिना निराकार ब्रह्मात्मक समाधि उपलब्ध नहीं हो सकती। देहाभिमानका त्याग अत्यन्त दुष्कर है—इसके लिये यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि, इन अष्टाङ्गयोगों[2]के दुःसाध्य साधनोंद्वारा इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करना नितान्त आवश्यक है। अतएव इन साधनोंके अत्यन्त कष्टसाध्य होनेके कारण परमदयालु भगवान् पतञ्जलिने क्लेशोंकी निवृत्ति और समाधिकी उपलब्धिके लिये एक सुखसाध्य साधन और भी बताया है—

ईश्वरप्रणिधानाद्वा।

(योगदर्शन, समाधिपाद, सू० २३)

ईश्वरप्रणिधानका अर्थ है भगवान्‌की भक्ति। इस सूत्रमें 'वा' के प्रयोगद्वारा ईश्वरप्रणिधानसे भी समाधिका उपलब्ध होना कहा गया है। अर्थात् जिस प्रकार श्रद्धापूर्वक यमनियमादि साधनोंके करनेसे तीव्र वैराग्य उत्पन्न होकर चित्तके निरोधद्वारा समाधि उपलब्ध होती है, उसी प्रकार भक्तिसे भी समाधि उपलब्ध हो सकती है। इससे स्पष्ट है कि भगवान् पतञ्जलिने सम्पूर्ण क्लेशोंको नष्ट करनेके लिये असम्प्रज्ञात समाधिको ही परम पुरुषार्थ बताया है, जो उपर्युक्त योग और भक्ति दोनोंसे उपलब्ध हो सकती है। किन्तु, जैसा पहले दिखाया गया है, योगमार्ग बड़ा दुःसाध्य है। भक्तिमार्गमें उन कठिन साधनोंकी आवश्यकता नहीं रहती। इस बातको ध्यानमें रखते हुए ही देवर्षि नारदजीने वेदव्यासजीको कहा है—

यमादिभिर्योगपथैः कामलोभहतो मुहुः।
मुकुन्दसेवया यद्वत्तथात्माद्धा न शाम्यति॥

(श्रीमद्भागवत १। ६। ३६)

अर्थात् कामलोभादि क्लेशोंसे अहर्निश सन्तप्त मन जिस प्रकार भगवान्‌की सेवाद्वारा शान्त होता है उस प्रकार यम-नियमादि योगमार्गद्वारा नहीं हो सकता। इसीलिये नारदभक्तिसूत्रमें भी उन्होंने भक्तिको कर्म, ज्ञान और योगकी अपेक्षा अधिकतर बताकर मुमुक्षुजनोंको भगवद्भक्तिका ही आदेश दिया है—

स तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा।

(सूत्र २५)

तस्मात्सैव ग्राह्या मुमुक्षुभिः। (सूत्र ३३)

निष्कर्ष यह है कि क्लेशोंके विनाशके लिये योग और भक्ति दोनों ही महत्त्वपूर्ण साधन हैं। किन्तु इस कलिकालमें अष्टाङ्गयोगका यथावत् साधन होना असम्भव नहीं तो अत्यन्त दुःसाध्य होनेके कारण संसारके क्लेशोंके आत्यन्तिक विनाशके लिये इस समय भगवद्भक्तिका आश्रय ही सुसाध्य है।

---

१ कहा है—मनसो वृत्तिशून्यस्य ब्रह्माकारतया स्थितिः। असम्प्रज्ञातनामासौ समाधिरभिधीयते॥

२. पातञ्जल योगसूत्र, साधनपाद, सूत्र २९–५५ तथा विभूतिपादके प्रारम्भमें है।

योगमाया

(लेखक—प० श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज, आचार्य, शास्त्री, एम० ए०)

श्रीयोगमाया वह अद्भुत तत्त्व है जिसके कारण निर्गुण, निराकार परब्रह्म कल्याणगुणगणाकर मूर्तिमान् बन जाते हैं। यद्यपि इन दोनों—शक्ति तथा शक्तिमान्में कोई भेद नहीं है तथापि भक्तोंसे आराधित शक्तिमान् जिस प्रकार श्रीरामकृष्णादि अनेक रूपोंमे दर्शन देते हैं उसी प्रकार ऋषि-मुनि-सस्तुता शक्ति भी श्रीदुर्गा, देवी, काली आदि नानाविध रूपोंमें प्रकट होती हैं। भावके तारतम्यके अनुसार ही शास्त्रमें, उपासना-विधिमें, व्यावहारिक भेद दृष्टिगोचर होता है, जैसे किसी भावुक भक्तको अघटनघटनापटीयसी शक्तिदेवीकी अपार महिमाके सम्मुख ब्रह्मा-विष्णु-महेश भी गौण प्रतीत होते हैं तो किसी दूसरे भक्तको शक्ति शक्तिमान्के अधीन विदित होती हैं। परमार्थतः दोनों एक ही वस्तु हैं।

शास्त्रमें इन महाप्रभावा योगमायाका वर्णन अनेक स्थलोंपर उपलब्ध है। वेदके एक मन्त्रमें शक्ति-शक्तिमान्को भाई-वहिन मानकर उनका आह्वान किया गया है—

'एष ते रुद्र भागः सह स्वसाम्बिकया
तज्जुषस्व .....' (शुक्लयजु० ३।५७)

'अम्बिका बहिनके साथ हे रुद्र! यह आपका भाग है, इसे पाइये।'

मार्कण्डेयपुराण तथा देवीभागवत इन जगज्जननीके सर्वोपरि माहात्म्यका वर्णन कर ही रहे हैं। श्रीमद्भागवतमें वह ब्रह्मके परिपूर्णावतार श्रीकृष्णचन्द्रजीकी अनुजा कही गयी हैं—

अदृश्यतानुजा विष्णोः सायुधाष्टमहाभुजा।

'भगवान् श्रीविष्णुकी छोटी बहिन अष्टमहाभुजा आयुध लिये दिखायी दीं।' इन्हीं योगमायाने श्रीमन्नारायणके आदेशके अनुसार गर्भसङ्कर्षण नामक त्रिलोकीमें अश्रुतपूर्व चमत्कार किया था और अजा होकर भी यशोदा-माताकी गर्भशय्यामें शयन किया था—

या योगमायाजनि नन्दजायया।

योगमायाकी इच्छासे ही वसुदेवजीके कारागृहके निरीक्षक द्वारपाल निद्राभिभूत हो गये थे।

तया हृतप्रत्ययसर्ववृत्तिषु
द्वाःस्थेषु पौरेष्वथ शायितेष्वपि।

इन्हींके साहाय्यसे भगवान् श्रीकृष्णने रास नामक लोकोत्तर विस्मय किया था—

योगमायामुपाश्रितः। (श्रीमद्भा० १०।२९।१)

'योगमायाका आश्रय करके।'

सगुण ब्रह्मका जो सर्वातिशायी ऐश्वर्य है वह सब योगमायाका प्रभाव है। सनकादि नित्यमुक्त ब्रह्मर्षियोंके वैकुण्ठाधिष्ठान श्रीविष्णुभगवान्के साथ सलापमें भगवान्का जो विशेषण है उससे यही बात सिद्ध होती है—

ते योगमाययारब्धपारमेष्ठ्यमहोदयम्।
प्रोचुः प्राञ्जलयो विप्राः प्रहृष्टाः क्षुभितत्वचः॥
(श्रीमद्भा० ३।१६।१५)

'योगमायासे जिनके परमैश्वर्यका महोदय प्रकट हुआ उन परमेश्वरसे वे आनन्दित पुलकित ब्राह्मण हाथ जोड़कर बोले।'

योगियोंके योगप्रभावको भी योगमाया कहा जा सकता है। किन्तु प्रस्तुत प्रसङ्गमें वह अभीष्ट नहीं है, क्योंकि बद्ध मनुष्यकी अपेक्षा मुक्त योगीका ऐश्वर्य यद्यपि निरवग्रह हो सकता है और शास्त्रमें ऐसा कहा भी गया है, तथापि परमात्माके साथ तुलना करनेमें वह सावग्रह ही ठहरता है। योगदर्शनके मतानुसार समाधिके अनन्तर अन्यान्य विभूतियोंके अतिरिक्त योगियोंको सर्वज्ञत्व नामकी सिद्धिकी प्राप्ति हुआ करती है।

सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च।

'प्रकृति और पुरुषके भेदका यथार्थ ज्ञान जिसको हो गया वह सब भावोंका अधिष्ठाता और सर्वज्ञ हो जाता है।' यह सर्वज्ञत्व तथा सर्वभावाधिष्ठातृत्व अवश्यमेव आपेक्षिक है। साधारण ससारी जीवकी अपेक्षा योगी सर्वज्ञ है ही, किन्तु उसमें निरतिशय सर्वज्ञबीज नहीं है, वह तो नित्य-सिद्ध परमपिताका ही सहज गुण है।

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्।

'वहाँ सर्वोपरि सर्वज्ञताका बीज है।' इसी प्रकार योगीको प्रकृतिपर विजय प्राप्त हो जाता है, किन्तु वह जगत्की सृष्टि-स्थिति-प्रलय नहीं कर सकता। वेदान्त-शास्त्रका—

जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च।

—यह सूत्र इस विषयमें प्रमाण है। विश्वव्यापार तो भगवान्की ही योगमायाका विलास है।

जिन अतर्क्यमहिमशालिनी ब्रह्मशक्ति भगवती श्री-योगमायाके भृकुटिविलासमात्रसे अनन्त आकाशमे अनन्त तारावली यथानियम अप्रमत्तरूपसे परिभ्रमण किया करती है उन जगज्जननी भक्तकल्याणकारिणी योगमायादेवीके श्रीचरण-नलिन-युगलमें हम सादर मस्तक नवाते हैं।

त्याग और लोकसेवारूप योग

(लेखक—रेवरेण्ड आर्थर ई० मैसी)

'यदि कोई मनुष्य मेरा अनुसरण करना चाहता है तो वह अपना अहङ्कार त्याग दे और प्रतिदिन अपना क्रॉस उठाकर मेरे पीछे हो ले।'* (ल्यूक ९। २३)

योगके द्वारा मुक्ति तभी मिल सकती है जब उसकी सारी प्रक्रियाओ और पद्धतियोमे त्याग और लोकसेवाकी प्रधानता हो, क्योंकि मायिक परिच्छिन्न जीवकी प्रत्येक चेष्टा व्यर्थ होती है। ईश्वर प्रेमरूप है और प्रेममे विधिकी पूर्णता है। जहाँ प्रेमकी प्रधानता है वहाँ त्याग, त्याग नहीं रह जाता, क्योंकि प्रेममें केवल प्रेमास्पदका ही ध्यान रहता है, अपना ध्यान बिल्कुल नहीं रहता। वास्तवमें प्रेम ही सब कुछ है, जिसे हम अहङ्कार कहते हैं वह तो प्रतीतियोका एक निरा ढेर है जो हमारी भेद-बुद्धिको दृढ करता हुआ हमें उस एक एव अद्वितीय सत्ताके साथ एकताका अनुभव नहीं करने देता। प्रत्येक सच्चा योगी एव प्रत्येक सद्गुरु ज्ञानपूर्वक परमात्मयोगके प्रकाशमे विचरता है, उसके अतिरिक्त किसी दूसरी वस्तुको न तो वह जानता है और न इच्छा करता है। वह जगत्के परस्परविरोधी स्वरोंको अपने कानोंके समीप नहीं जाने देता, अपने अहङ्कारयुक्त विचारों और अनुभूतियोको शान्त कर देता है और उस आभ्यन्तर प्रकाशकी सहायतासे ससारके कार्य करता है जो प्रकाश प्रत्येक वस्तुके वास्तविक स्वरूपको प्रकट करता है। वह यथार्थ मार्गको ही देखता और ग्रहण करता है और यथार्थ बात ही कहता है। प्रेमरूप शक्तिको ग्रहणकर उसे सब लोगोंको वितीर्ण करना ही उसका कार्य होता है, अतएव मनुष्यशरीरको तो वह अपने आपको सर्वतोभावेन जनतारूप जनार्दनकी सेवामे उत्सर्ग कर देनेका एक सुन्दर अवसर समझता है। सद्गुरु और आन्तरिक ज्योतिमें कोई अन्तर नहीं है, इसलिये सद्गुरु या योगी बनना ही प्रत्येक कल्याणकामी पुरुषका ध्येय होना चाहिये। हमलोग विच्छिन्न व्यक्तियाँ नहीं हैं, अपि तु एक ही शरीरके अङ्ग हैं, और यदि हममेंसे कोई एक भी प्रभुकी पूर्णता प्राप्त करनेकी चेष्टा करे तो वह सारा समष्टिशरीर ही ऊँचा उठा हुआ अनुभव करेगा। क्योंकि शरीरके एक अङ्गमें पीड़ा होनेपर अन्य समस्त अङ्गोंको उस पीड़ाका अनुभव होता है, अथवा एक अङ्गके पूजित होनेपर समस्त अङ्गोंको प्रसन्नता होती है। इसलिये, यह जानकर कि दुःखसे चरित्रकी दृढ़ता होती है, हमको दुःखमें भी आनन्दित होना चाहिये। एक अङ्गकी पुष्टिसे सारा शरीर पुष्ट होता है और जगत्में उसकी क्षमता बढती है, अतः त्याग और लोकसेवा योगका विशुद्धतम एवं सर्वोत्कृष्ट रूप है। "मैं उनके अन्दर रहता हूँ और मेरे अन्दर वे रहते हैं जिससे कि वे पूर्ण होकर 'एक-मेवाद्वितीयम्' बन जायँ।"

प्रेमके बिना परमात्मासे मिलनेकी सारी आकांक्षाएँ, योगकी सारी प्रक्रियाएँ और उसके विविध प्रकार व्यर्थ एवं निष्फल हैं। प्रेम नवीन जीवन प्रदान करनेवाली तथा पवित्र करनेवाली महान् एव अमोघ शक्ति है। 'सत्यं शिव सुन्दरम्' बननेकी सतत चेष्टासे ही मनुष्यके आध्यात्मिक शरीर अथवा आत्माका विकास एव अभि-व्यक्ति होती है। हमारा आध्यात्मिक स्वरूप स्वयं पूर्ण होनेपर भी सदा किसी ऐसे साधनकी खोजमे रहता है जिसके द्वारा वह मानवजातिकी सेवा एव सहायता कर सके और हमारे अन्दर सेवा और सहायता करनेकी

* "If any man would come after Me, let him deny himself and take up his cross daily and follow Me." (*Luke IX 23*)

जितनी योग्यता एव क्षमता आती है उतनी ही मात्रामे ईश्वर हमारे द्वारा अपनी इच्छा और अभिसन्धिको पूर्ण करते हैं।

सेवाके मार्गमें पैर रखनेके पूर्व हमें जाति, वर्ण, रग, धर्म अथवा स्त्री-पुरुषके भेदको सर्वथा भुला देना होगा, नहीं तो हम कदापि इस कार्यमें सफल नहीं हो सकते, क्योंकि प्रेमकी दृष्टिमें मनुष्यमात्र उस 'एकमेवाद्वितीयम्' के ही अनेक रूप है, अतः उनमें छोटे-बड़ेकी कल्पना भी नहीं हो सकती।

मनुष्यके लिये परमात्माको खोजनेकी आवश्यकता नहीं है, जितनी अधिक उसकी खोज की जायगी उतना ही अधिक वह दुर्लभ होता जायगा। क्योंकि किसी कविने ठीक ही कहा है—

'वह (परमात्मा) प्राणसे भी समीप है और हाथ-पैरसे भी निकट है।'* जब जीव अपनी युगान्तव्यापिनी मोहनिद्रासे जागता है, जब भौतिक विचारका आवरण उसकी दृष्टिके सामनेसे हट जाता है और वह ब्रह्मसाक्षात्कारके समीप पहुँच जाता है, उस समय उसे यह दिव्य अनुभव होता है कि 'मेरे अन्दर अब 'अहम्' (मायिक क्षुद्र अहभाव) नहीं रहा, वल्कि स्वय प्रभु प्रतिष्ठित हो गये हैं।'† और इस प्रकार वह सच्चा त्यागी एव लोकसेवक योगी बन जाता है।

बाहरी वेष, कर्मकाण्ड, प्रतिमापूजन, तपश्चर्या आदि सभी आत्माके विकासमें सहायक हैं, यद्यपि इनमेंसे कोई भी अनिवार्य नहीं है। किन्तु ध्येयकी प्राप्ति होते होते ये सब साँपकी केंचुलीकी भाँति अवश्य छूट जाते हैं और जब कुछ भी नहीं बच रहता तब वहाँ स्वय भगवान् आ विराजते हैं। इस भौतिक जगत्के लिये 'भवाटवी' और 'दुःखालय' आदि शब्दोंका प्रयोग इसीलिये किया गया है कि हम इसे मूर्खतावश प्रकृति नटीका एक नश्वर खेल न समझकर प्रत्यक्ष एव सत् मान बैठे हैं। अतएव वे कष्ट, निर्वेद एव यन्त्रणाएँ जिनका हम जीवनमे अनुभव करते हैं सभी इस रूपमे आवश्यक हैं कि वे हमे सनातन सत्य तत्त्वका—उस अलौकिक शान्तिका लक्ष्य कराते हैं जो हमारी बुद्धिमें भी नहीं आ सकती ("Peace that passeth all understanding") प्रसिद्ध पाश्चात्य दार्शनिक स्पिनोजा (Spinoza) ने एक जगह कहा है कि 'ईश्वरका लक्षणोंके द्वारा निर्देश करना उसका अपलाप करना है' (To define God is to deny Him)। उनका यह कहना सर्वथा सत्य है, क्योंकि जितना ही अधिक हम ईश्वरका लक्षणोंके द्वारा निर्देश करनेकी चेष्टा करते हैं उतना ही अधिक हम उस अपरिच्छिन्नको परिच्छिन्न अथवा ससीम बनाते हैं। अतः सभी विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थों, दर्शनों, आचार्यों एवं अधिकारी पुरुषोंको नमस्कार कर निरन्तर एव दृढतापूर्वक मौनका ही अभ्यास करना श्रेयस्कर है, जिससे हम अपने हृदयस्थित अन्तरतम प्रदेशमें परमात्माका सयोग प्राप्तकर उनके साथ आलाप करें और अन्तमें उन्हींके अन्दर अपने आपको विलीन कर दें—जिन परमात्माको उपनिषदोंने 'एकमेवाद्वितीयम्' कहा है तथा जिनके अतिरिक्त और कोई सत्य वस्तु है ही नहीं।

इस बातको जान लेना श्रेयस्कर है कि परमात्मा ही प्रकृतिके द्वारा अपनी अभिसन्धिको पूर्ण कर रहे हैं।

"सर्वप्रथम बाष्पसदृश धूम्रवर्ण ज्योति उत्पन्न हुई और तदनन्तर ग्रह, उपग्रह, नक्षत्र आदिकी सृष्टि हुई। इसके अनन्तर खनिज पदार्थों एव शख, सीप आदिकी उत्पत्ति हुई, इसके अनन्तर छोटी-छोटी मछलियाँ एव बिसतोइया आदि जीव उत्पन्न हुए और फिर उन गुहाओं और कन्दराओंकी रचना हुई जिनमें जगली मनुष्य रहने लगे। इसके बाद मनुष्योंको कानून एव सौन्दर्यका ज्ञान हुआ और अन्तमें उनकी दृष्टि पार्थिव पदार्थोंके परे आत्माकी ओर गयी। कुछ लोग उत्पत्तिके इस क्रमको परिणाम या विकास कहते हैं और दूसरे लोग इसीको ईश्वरके नामसे पुकारते हैं।"* हाँ, प्रकृति कोई बिरानी अथवा ईश्वरसे भिन्न वस्तु नहीं है, वल्कि उन्हींका निःश्वास है। एक सच्चे योगीकी दृष्टिमें प्रकृति ईश्वरका ही प्रत्यक्ष रूप है,

* "Closer is He than breathing,
Nearer than hands and feet."

† "Not 'I' but Christ that liveth in Me."

* "A fire-mist and a planet,
A crystal and a shell,
A jelly-fish and a saurian,
And caves where the cave-men dwell,
Then a sense of law and beauty,
And a face turned from the clod,
Some call it Evolution,
And others call it God."

विश्वात्माका शरीर है । 'तुम्हारी ज्योतिमें ही हमे प्रकाश-का दर्शन होता है।' प्राकृतिक शक्तियॉ परमात्माके सनातन कर्मका—जगत्के अन्तःस्थित उनके सजीव सङ्कल्पका द्योतन करती हैं । ईसाने जिस सत्यका उपदेश दिया उसकी पूर्वके आत्मवित् योगियोंको नये ढगसे व्याख्या करनी होगी। ईसामसीह पूर्वीय आचार्य थे। उनका प्राकृतिक जगत्के साथ जो गाढ़ परिचय था, उन्हें मनुष्य-के अन्तःकरणका जो परिज्ञान था, उन्होंने सहानुभूति, प्रेम और सेवाका जो रहस्यमय सिद्धान्त ससारके सामने रक्खा, उनका छोटे बच्चों, दीन-दुखियों, पापियों और पतितों—उन पथभ्रष्ट प्राणियोंके प्रति जिन्हे संसार उपेक्षाकी दृष्टिसे देखता है किन्तु जगत्का वह महान् मातृहृदय जिन्हें सदा आलिङ्गन करनेके लिये प्रस्तुत रहता है,—उनके प्रति उनका जो विशेष प्रेम था, उनकी एकान्तप्रियता जो शोकके सौन्दर्यको प्रकट करती थी, उनकी उत्सर्गजनित कोमलता, उनकी सौम्य वाणी और उससे भी सौम्यतर मौन, उनकी प्रेम और विनयपूर्ण आचारनीति, उनका हृदयस्थित परमात्माके साथ संयोग स्थापित करनेवाला धर्म, उनका विशुद्ध जीवन, उनकी मृत्यु जिससे उन्होंने ससारको सनातन परमात्माके पवित्र हृदयका परिचय दिया—अवश्य ही ये सब बातें पूर्वके आदर्शवादी योगियोको सहज ही हृदयङ्गम हो सकती हैं और इन्हींके द्वारा की जानेवाली व्याख्यासे पाश्चात्य जगत्के आध्यात्मिक जीवनका पुनरुत्थान होगा । हमलोग ससारके इतिहासमें एक नवीन युगका आरम्भ देख रहे हैं, जगत्के पुनर्जन्मका काल उपस्थित है, प्राचीन व्यवस्थाका स्थान नवीन व्यवस्था ग्रहण कर रही है । समाज, शासन-व्यवस्था, दार्शनिक सिद्धान्त एवं धर्म, सभीका नये ढगसे पुनर्निर्माण होनेवाला है और इस कार्यमे पूर्व और पश्चिम दोनों ही अपने-अपने ढंगसे योग देंगे । पाश्चात्य जगत् भावी ससारको वैज्ञानिक सघटन, नैतिक शक्ति और राजनैतिक प्रगतिका पाठ पढ़ायेगा, वह व्यक्तित्वका मूल्य और परिस्थितिका महत्त्व बतायेगा और कर्मके सिद्धान्त-का समर्थन करेगा, और प्राच्य जगत् उसकी इस आवश्यक शिक्षाको प्रसन्नता एव कृतज्ञतापूर्वक ग्रहण करेगा ।

यह सब ठीक है, परन्तु पश्चिमको भी उच्चतर जीवनके गहनतत्त्वोका अनुशीलन करनेके लिये, पुरातन ज्ञानको आत्मसात् करके उसका अपनी दैनिक आवश्यकताओंमे उपयोग करनेके लिये, योगियोंकी-सी दृष्टि प्राप्त करनेके लिये, प्रकृतिको केवलमात्र वैज्ञानिकोंकी प्रयोगशाला न समझकर उसे आत्माके मन्दिररूपमें देखनेके लिये, ध्यान-का अभ्यास करनेके लिये, और इस बातको भलीभॉति समझ लेनेके लिये कि कर्म ही उपासना नहीं है अपितु उपासना भी एक आवश्यक कर्म है, पूर्वकी ही शरण लेनी होगी। हम पाश्चात्य देशवासियोंके लिये अभी यह सिद्धान्त समझना बाकी है कि सत्य कोरी कल्पना नहीं है अपितु आत्माके अनुभवका विषय है और उसकी उपलब्धि केवल आलोचन-प्रत्यालोचनसे अथवा पदार्थोंका बुद्धिके द्वारा विश्लेषण करनेसे नहीं हो सकती, अपितु उसके लिये सहृदयतापूर्ण आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि और उसी प्रकारके जीवनकी अपेक्षा है। प्रसिद्ध पाश्चात्य दार्शनिक शोपनहॉर उस दिनका स्वप्न देखा करते थे जब पूर्वकी ज्ञानगङ्गा पश्चिमकी ओर बह निकलेगी । जिस दिन वह काल पूर्ण-रूपसे आ जायगा उस दिन पूर्वके रहस्यमय ज्ञानका विकासवादकी अपेक्षा कहीं गहरा प्रभाव पड़ेगा। उस समय भिन्न-भिन्न विश्वधर्मोंके प्रति योरपकी दृष्टि बिल्कुल बदल जायगी और वहॉके निवासी इस बातको भलीभॉँति समझ जायँगे कि सत्यका किसी धर्मविशेषने ठीका नहीं ले रक्खा है, ईश्वरीय ज्ञानके प्रकाशकी कहीं इतिश्री नहीं हो गयी और रहस्यमय ज्ञानमें एक ऐसा समन्वय-तत्त्व है जिससे अन्तमे जाकर पूर्व और पश्चिम दोनों पारस्परिक सौहार्द एवं सामञ्जस्य, तथा एक दूसरेके प्रति त्याग और सेवाके अटूट पाशमें बँधकर एक हो जायँगे, यहीं योगका प्रारम्भ और यही उसका चरम लक्ष्य है ।
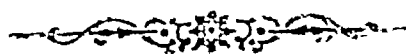
योग-शब्द

(लेखक—पण्डितप्रवर श्रीश्रीपञ्चाननजी तर्करत्न)
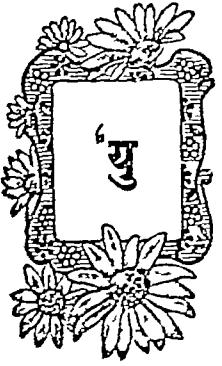
‘युज्’ धातुसे ‘योग’ शब्द बनता है। पाणिनिके गणपाठमे तीन ‘युज्’ धातु हैं। दिवादिगणके ‘युज्’ धातुका अर्थ है समाधि। हमारा आलोच्यमान ‘योग’ शब्द इसी ‘युज्’ धातुसे उद्भूत हुआ है, इसमें कोई मतभेद नहीं है। इसके सिवा और दो ‘युज्’ धातु हैं। एक रुधादिगणमे, जिसका अर्थ सयोग होता है, और दूसरी चुरादिगणमें, जिसका अर्थ होता है संयमन। अब यह विचारना है कि ये दोनों ‘युज्’ धातु भी आलोच्यमान योग-शब्दकी प्रकृति हो सकते हैं या नहीं।

बहुतेरे कहेंगे कि ‘दूसरी दोनों युज् धातुओंसे योग-शब्दका उद्भव होनेपर भी यह इस लेखका आलोच्य विषय नहीं है, क्योंकि वह योग समाधि नहीं है। ‘समाधि’ शब्दका भट्टोजि दीक्षितद्वारा प्रदर्शित अर्थ है चित्तवृत्तिनिरोध। पातञ्जलदर्शनमें उसका मूल विद्यमान है—‘योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः’। अतएव समाधिबोधक ‘युज्’ धातुसे ही इस योग-शब्दका उद्भव है, अन्य ‘युज्’ धातुसे नहीं।’

परन्तु मैं इस मतका पूर्णतः समर्थन नहीं करता। मैं कहूँगा कि ‘दिवादिगणीय ‘युज्’ धातुसे जो ‘योग’ शब्द उद्भूत होता है उसके समाधिबोधक होनेपर भी अन्य ‘युज्’ धातुसे उद्भूत ‘योग’ शब्द समाधिबोधक नहीं हो सकता’, यह कोई आवश्यक बात नहीं है। क्योंकि समाधि-शब्दके प्रकृति-प्रत्ययका निर्देश करनेसे उसकी उपलब्धि यों होती है। सम्+आ+धा+कि, सम्=सम्यक्, आ+धा= स्थापन, यहाँ ‘किप्’ प्रत्ययका अर्थ धात्वर्थसे अतिरिक्त नहीं है, क्योंकि ‘किप्’ प्रत्यय भाववाच्यमें होता है।

सम्यक्स्थापन समाधि-शब्दका प्रकृति-प्रत्ययद्वारा प्राप्त अर्थ है। चित्तको इस प्रकार एक नाड़ीमें स्थापन करना पड़ता है जिसके द्वारा चित्तवृत्ति निरुद्ध हो जाती है। अतएव ‘समाधि’ शब्दके प्रकृति-प्रत्ययके अर्थानुसार पातञ्जलदर्शनका सूत्र ‘योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः’ है। प्रकृति-प्रत्ययसे प्राप्त अर्थद्वारा यदि पदसमुदयके वाचकत्व-का निर्वाह होता है तो इसके विषयमे रूढि-कल्पना करना व्यर्थ है। सामान्यवाचकका विशेषपरक अर्थ होनेपर तो रूढि-कल्पना मान्य ही होती है।

मेरा कथन यह है कि नैयायिक लोग प्रधानतः सयोगको ही समाधि कहते हैं—

अस्मद्विशिष्टानान्तु योगिनां युक्तानां योगजधर्मानुगृहीतेन मनसा स्वात्मान्तराकाशदिक्कालमनस्सु तत्समवेतगुणकर्मसामान्यविशेषेषु समवाये चावितथं स्वरूपदर्शनमुपपद्यते। (प्रशस्तपादभाष्य)

इस भाष्यके व्याख्याकार बंगालके प्रथम नैयायिकाचार्य श्रीधराचार्य कहते हैं—

योगः समाधिः, स द्विविधः, सम्प्रज्ञातोऽसम्प्रज्ञातश्च। सम्प्रज्ञातो धारकेण प्रयत्नेन क्वचिदात्मप्रदेशे वशीकृतस्य मनसः तत्त्वबुभुत्साविशिष्टेनात्मना संयोगः। असम्प्रज्ञातश्च वशीकृतस्य मनसो निरभिसन्धिनिरभ्युत्थानात्क्वचिदात्मप्रदेशे संयोगः।

अर्थात् जिस विषयमें तत्त्वनिर्णयकी इच्छा हो, उसके अतीन्द्रिय होनेपर भी चञ्चलताको दूर करनेवाले प्रयत्नके द्वारा वशीकृत मनका उस इच्छासे युक्त अपने आत्माके साथ किसी एक अंशमें संयोग होना सम्प्रज्ञात समाधि है। तथा निम्नलिखित विशेषरूपसे मनःसंयोगको असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। यह मनःसंयोग अभ्युत्थान और व्युत्थानके अभावके कारण, अभिसन्धिसम्बन्धसे रहित तथा अपने किसी आत्मप्रदेशमें उत्पन्न होता है। अतएव ‘युजिर् योगे’—यह ‘युज्’ धातु भी यहाँ परित्यक्त नहीं होती, यह बात तो सुस्पष्ट हो ही गयी। बल्कि कारिकावलीके कर्ता विश्वनाथ पञ्चाननकी प्राचीनोक्ति भी प्रधान कारिकामें देखी जाती है—‘युक्तयुञ्जानभेदतः’ अर्थात् योगजप्रत्यक्ष दो प्रकारका होता है, एक युक्तका और दूसरा युञ्जानका। यह युञ्जान-शब्द ‘युज् समाधौ’ इस ‘युज्’ धातुसे नहीं उद्भूत हो सकता। उससे तो युज्यमान पद बनेगा। नैयायिक-सम्प्रदायमें ‘युजिर् योगे’ यह रुधादिगणीय धातु भी योगजप्रत्यक्षवर्णनके प्रसङ्गमे सादर गृहीत हुई है।

संयमन अर्थवाली चुरादिगणीय 'युज्' धातुका सम्बन्ध भी 'वशीकृतस्य मनसः' इस अंशद्वारा समर्थित होता है। मनको वशमें करना ही मनका संयमन है। पातञ्जल दर्शनमें भी समाधिमें संयमनके विशेष सम्बन्धकी सूचना है—'त्रयमेकत्र संयमः।' समाधिके अन्तरङ्ग प्रत्याहार, धारणा और ध्यान, इन तीनोंको एक ही साथ 'संयम' नाम दिया गया है। इस प्रकार त्रिविध 'युज्' धातु ही योग-शब्दके मूलमें वर्तमान रह सकती है, यह सिद्ध हुआ।

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।

यह गीता-वचन भी वियोगबोधक 'योग' शब्दके निर्देशके द्वारा रुधादिगणीय 'युज्' धातुको योग-शब्दकी प्रकृतिरूपमें ग्रहण करनेका सङ्केत करता है। 'योग' शब्दका यह प्रकृति-विचार प्राचीन योगदर्शनके स्वरूपनिर्णयमें उपयोगी है।

न्याय और वैशेषिक समानतन्त्र होनेके कारण एक ही सम्प्रदायमें सामान्यतः गृहीत होते हैं। अवान्तर भेद होते हुए भी ये दोनों सम्प्रदाय 'शैवयोगी' नामसे प्रसिद्ध हैं। षड्दर्शनसमुच्चयकी गुणरत्न नामक टीकामें इनका सामान्यतः ऐक्य और विशेषतः भेद वर्णित है। कौटिल्य* या कौटल्यकृत अर्थशास्त्रमें जो योगका नाम आया है वह न्याय और वैशेषिकका ही ज्ञापक है, असलमें वैशेषिक पूर्वन्याय और गौतमसूत्र उत्तरन्याय कहलाता है। कौटिल्य या कौटल्यकृत अर्थशास्त्रमें गृहीत 'योग' शब्द न्याय और वैशेषिकका ही बोधक है। इसके प्रमाण-स्वरूप उन्हींके द्वारा रचित न्यायभाष्यकी † यह स्पष्टोक्ति पढ़िये—

पुरुषकर्मादिनिमित्तो भूतसर्गः कर्महेतवो दोषा. प्रवृत्तिश्च स्वगुणविशिष्टाश्चेतना असदुत्पद्यते उत्पन्नं निरुध्यत इति योगानाम्।

यहाँ न्यायभाष्यकारने योगमतके द्वारा असत् वस्तुओंकी उत्पत्ति, उत्पन्नके ध्वंस आदिका उल्लेख किया है। यह मत न्यायवैशेषिकका है, प्रचलित योगदर्शनका अर्थात् पातञ्जलदर्शनका नहीं। पातञ्जल दर्शन सांख्यके ही अन्तर्गत है, इसीसे इसका दूसरा नाम 'सेश्वर सांख्य' है। विज्ञानभिक्षुने पातञ्जलका 'सांख्यप्रवचन दर्शन' नाम स्वीकार किया है। पातञ्जलदर्शन असद्वस्तु-उत्पत्तिवादी नहीं है, बल्कि सत्कार्यवादी है। अतएव वात्स्यायन अर्थात् कौटिल्यके मतसे त्रिविध आन्वीक्षिकी या आन्वीक्षकीके अन्तर्गत 'सांख्य' शब्दसे कापिल और पातञ्जलदर्शनका ही बोध होता है।

न्यायवैशेषिकके मतसे 'चित्तवृत्तिनिरोध' शब्दका तात्पर्य 'चित्तकी चञ्चलताका निवारण' हो सकता है, परन्तु पातञ्जलवर्णित प्रमाणसशयादिवृत्ति उस मतमें चित्तवृत्ति न होनेके कारण उनका निरोध इस लक्षणके द्वारा निर्णीत नहीं हो सकता। वृत्ति-शब्दका अर्थ यदि धर्म हो तो चित्तकी चञ्चलता जिस प्रकार चित्तका धर्म है, उसी प्रकार आत्माके साथ जो चित्तका सयोग है वह भी चित्तका धर्म अर्थात् चित्तवृत्ति हो सकती है। परन्तु यह संयोग समाधिकालमे भी निरुद्ध नहीं होता। इसी कारण नैयायिकोंके मतसे 'मनःसंयोगविशेष' ही योग है और वह सयोग ही समाधि है। इसी सयोगका उल्लेख श्रीधराचार्यकी पंक्तियोंको उद्धृत करके पहले किया गया है।

नैयायिकसम्प्रदायके मतसे चित्त, मन और अन्तःकरण एक ही पदार्थ है। 'बुध्यते अनेन' इस प्रकार करण वाच्यमें 'बुध्+क्तिन्' प्रत्ययद्वारा निष्पन्न 'बुद्धि' शब्दका अर्थ भी मन होता है। मनको निर्देश करनेके लिये 'बुद्धि' शब्दका प्रयोग न्यायसूत्रमे आया है—

प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारम्भः। (१।१।१७)

भाष्यकार लिखते हैं—

मनोऽत्र बुद्धिरित्यनेन अभिप्रेत—बुध्यते अनेनेति बुद्धिः।

अर्थात् प्रवृत्ति-शब्दका अर्थ यहाँ वाचिक, कायिक और मानसिक कर्मोंका समूह है। प्रयत्नरूप प्रवृत्तिकी बाह्य मूर्ति उक्त कर्मसमूह है। बुद्धिपदवाच्य जिस अन्तःकरणको न्यायके मतसे मन कहते हैं, उसका एक

* कौटिल्य या कौटल्य चाणक्यका ही नामान्तर है। वात्स्यायन नाम भी चाणक्यका ही है। चणक मुनिके पुत्र होनेसे चाणक्य नाम पड़ा।

† वत्स ऋषिकुलकी अन्यतम शाखाके कुटिल या कुटल नामक गोत्रकार मुनिके वंशमें चाणक्यका जन्म हुआ था, इसलिये उन्हें वात्स्यायन और कौटिल्य या कौटल्य कहते हैं। विख्यात जैनाचार्य हेमचन्द्रसूरिके अभिधानमें चाणक्यके इन सब नामोंका उल्लेख है। बंगीय साहित्यसम्मेलनके नैहाटीके अधिवेशनमें दर्शनशाखाके सभापतिरूपसे मैंने जो भाषण दिया था उसमें इसका विशेषरूपसे वर्णन है।

और आभिधानिक नाम आत्मा भी है। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि यह आत्मा ब्रह्म नहीं है, तथा नैयायिकमतसिद्ध जीवात्मा और परमात्मा भी नहीं है। उपनिषदोंमें भी इस प्रकार अन्तःकरणको 'आत्मा' शब्दके प्रयोगद्वारा अनेक स्थलोंमें प्रतिपादित किया गया है। जैसे—

बुद्धेरात्मा महान् परः। महतः परमव्यक्त-मव्यक्तात्पुरुष परः।

(कठोपनिषद्)

यहाँ पुरुष ही ब्रह्म अथवा न्यायमतप्रतिपादित आत्मा है। इस उपनिषद्-मन्त्रमे प्रथम व्यवहृत 'आत्मा' शब्द पुरुष नहीं, महत्तत्त्व है। यह बात उक्त मन्त्रमें स्पष्ट है।

महत्तत्त्वकी बात सांख्यदर्शनमें है, न्यायके मतसे वह मन ही है। मुण्डकोपनिषद्में है—

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥

प्रणवके आश्रयसे यहाँ योगका उपदेश दिया गया है, प्रणव धनुरूप है, आत्मा अर्थात् अन्तःकरण बाण-स्वरूप है। ब्रह्मको लक्ष्य करके इस बाणके प्रयोगके द्वारा लक्ष्यको वेधनेसे तन्मयता आ जाती है। लक्ष्यवेध-शब्दके द्वारा संयोगविशेषका ही बोध होता है। यहाँ आत्मा-शब्दका 'अन्तःकरण' अर्थ सर्ववादिसम्मत नहीं है, केवल नैयायिकमतसम्मत है, परन्तु लक्ष्यवेध-शब्दमें जो संयोग-विशेष जान पड़ता है वह सभी द्वैतवादियोंको अभिप्रेत है। ज्ञानादिके लिये मनके जो विशेष-विशेष संयोग स्वीकार किये जाते हैं, न्यायके मतसे उसका स्थूल विवरण इस प्रकार है—'मन अणुपरिमाण है, परन्तु विद्युत्के समान क्षिप्रगतियुक्त है। नाडीविशेषके साथ संयोग होनेपर वही एक मन ज्ञान, इच्छा, सुख, दुःख, प्रयत्नादि विभिन्न गुणोंका उत्पादन करता है, जिस नाडीसे मनका संयोग होनेसे चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है उसी नाडीसे मनः-संयोगके द्वारा श्रावणादि प्रत्यक्ष नहीं होते। उसी प्रकार जिस नाडीसे मनःसंयोग होनेपर श्रावण प्रत्यक्ष होता है उसीके साथ मनःसंयोग होनेसे चाक्षुषादि प्रत्यक्ष नहीं होते। इसी कारण अन्यमनस्कता-शब्दका व्यवहार होता है।

एकाग्रचित्तसे रूपका दर्शन करते समय किसीकी बात शीघ्र नहीं सुन पड़ती, संगीत श्रवण करते समय दूसरा ज्ञान नहीं होता। क्योंकि शरीरमें बहत्तर हजार नाडियाँ हैं, उनमें केवल बहत्तर ही प्राणवहा प्रधान नाडियाँ हैं। इन प्रधान नाडियोंमें दस प्रमुख हैं—(१) इडा, (२) पिङ्गला, (३) सुषुम्ना, (४) गान्धारी, (५) हस्ति-जिह्वा, (६) पूषा, (७) यशस्विनी, (८) अलम्बुषा, (९) कुहू और (१०) शङ्खिनी।

शङ्खिनी नाडीके अभ्यन्तर जो नाडी है उसके अन्तर्गत पुरीतत् नाडी है। मनके पुरीतत् नाडीमें प्रविष्ट होनेपर सुषुप्ति हो जाती है, उस समय कोई भी ज्ञान नहीं होता। पुरीतत् नाडी जिस मेध्या नाडीद्वारा आवृत है उसमें मनःसंयोग होनेसे निद्रा और निद्रामें स्वप्न-दर्शनादि ज्ञान होता है। मनका गान्धारीके साथ संयोग होनेपर वाम चक्षुद्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान होता है और हस्तिजिह्वामें मनका संयोग होनेसे दक्षिण चक्षुद्वारा। पूषामें मनका संयोग होनेसे दक्षिण-कर्णद्वारा श्रावण प्रत्यक्ष होता है और यशस्विनीमें मनःसंयोग होनेसे वाम कर्णद्वारा। अलम्बुषाके ऊर्ध्वदेशमें मनःसंयोग होनेसे घ्राणज प्रत्यक्ष, और मध्यदेशमें मनः-संयोग होनेसे रसास्वादनका ग्रहण अर्थात् रासनप्रत्यक्ष होता है। कुहूमें मनःसंयोग सम्भोगसुखका हेतु है, शङ्खिनीमें मनःसंयोग मलोत्सर्ग-प्रयत्नका हेतु है। सुषुम्नामें मनःसंयोग योगारम्भ, और सुषुम्नामध्यस्थित चित्रिणी प्रभृति नाडीमें शान्त मनका गाढ संयोग समाधि है। यह समाधि दो प्रकारकी है, यह बात पहले कही जा चुकी है।

सुषुम्नाके अतिरिक्त अन्य सब नाडियोंमें मनका संयोग विविध प्रकारके यत्न, इच्छा, द्वेष, शारीरिक चेष्टा तथा विविध विषयोंके भोगके लिये उपयोगी होता है। इडा-पिङ्गलाके साथ मनःसंयोग जीवन, योनि, यत्न प्रभृतिका उत्पादक है।

पातञ्जलोक्त चित्तवृत्तिनिरोध सुषुम्नान्तर्गत नाडीमें मनःसंयोगसे होता है। 'युज् समाधौ' यह 'युज्' धातु उसी गाढ संयोगका बोध करती है। अपर दोनों 'युज्' धातुओंसे 'योग' शब्द उद्भूत होनेपर भी उसके सामान्यवाचक होनेके अतिरिक्त विशेष अर्थका भी बोध होता है—जिस प्रकार ब्राह्मण कहनेसे पञ्चगौड, पञ्चद्राविड सब ब्राह्मणोंका बोध होता है, किन्तु कान्यकुब्ज कहनेसे एक विशेष सम्प्रदायका ही ज्ञान होता है।

'योग' शब्दके 'युज्' धातुसे उद्भूत होनेपर भी समाधि या संयोगविशेषके अर्थमें उसका प्रयोग पुँल्लिङ्ग, तथा शास्त्रवाचक होनेपर नपुंसकलिङ्गमें होता है। 'योगमाचष्टे यत्' इस वाक्यमें योग+णिच्+अच् प्रत्ययसे निष्पन्न 'योग' शब्द ही शास्त्रवाचक है। यह योगवक्ता पुरुषका वाचक भी हो सकता है।

विद्यासमुद्देशप्रकरणमें कौटिल्य लिखते हैं—'सांख्यं योग लोकायत चेत्यान्वीक्षिकी'—यहाँ 'योग' शब्दसे न्याय और वैशेषिकका ही बोध होता है, यह बात प्रमाण पूर्वक पहले ही बतलायी जा चुकी है। आन्वीक्षिकीका मुद्रित पुस्तकमें आन्वीक्षकी पाठ मिलता है।

ब्रह्मसूत्रमें 'एतेन योगः प्रत्युक्तः' सूत्र है, इसमें भी पुँल्लिङ्ग प्रयोग है; परन्तु इसका वाच्यार्थ शास्त्र नहीं है, अर्थात् यहाँ 'योग' शब्द शास्त्रका वाचक नहीं है। शास्त्र यहाँ लक्ष्यार्थ है, 'योग' शब्दकी योगसाधनशास्त्रमें लक्षणा है। यह लक्षणा निम्नलिखित न्यायसूत्रद्वारा सिद्ध होती है—

सहचरणस्थानतादर्थ्यवृत्तमानधारणसामीप्ययोगसाधनाधिपत्येभ्यो ब्राह्मणमञ्चकटराजसक्तुचन्दनगंगाशाटकान्नपुरुषेष्वतद्भावेऽपि तदुपचारः। (२।२।५९)

'साधनात् अन्न प्राणाः' इति भाष्यम्। भगवान् शङ्कराचार्यके मतसे ब्रह्मसूत्रस्थ 'योग' शब्द हिरण्यगर्भोक्त योगशास्त्रपरक होनेपर भी सूत्रकारके अभिप्रायानुसार यह न्यायका बोधक है या नहीं, यह कौन कह सकता है? क्योंकि ब्रह्मसूत्रमें ही नहीं, बल्कि शारीरकभाष्यमें भी न्यायमतका खण्डन नहीं है।

'एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याताः'—इस ब्रह्मसूत्रकी व्याख्या करते समय भगवान् शङ्कराचार्य परमाणुकारणवादका उल्लेख करते हुए भी न्यायमतका खण्डन नहीं करते। न्यायसूत्रकारका सृष्टिविषयमें वैशेषिकके साथ मतसाम्य प्रसिद्ध होते हुए भी मोक्षक्रममें न्यायसूत्रका प्रामाण्य स्वयं शङ्कराचार्य स्वीकार करते हैं, तथा—

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तराभावादपवर्गः। (१।१।२)

—इस न्यायसूत्रको उद्धृत करते हैं। परमाणुकारणवादके खण्डनमें ब्रह्मसूत्र और शारीरकभाष्यमें जो विचार हैं उनमें भी भगवान् शङ्कराचार्य वैशेषिकमतका ही उल्लेख करते हैं, न्यायमतका तो नाम भी नहीं लेते।

अद्वैतज्ञानके बिना मुक्ति नहीं होती। न्यायमत अद्वैतज्ञानका समर्थक नहीं है, उसका योग मुक्तिका साक्षात्कारण नहीं है, इस अभिप्रायसे 'योगः प्रत्युक्तः' हो सकता है। जो हो, उस विचारकी यहाँ विशेष आवश्यकता नहीं है। नपुंसकलिङ्गमें 'योग' शब्द न्याय और वैशेषिकका वाचक है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। अभिधानचिन्तामणि और अन्य कतिपय प्राचीन जैन ग्रन्थोंमें नैयायिकके पर्याय शब्दरूपमें 'यौग' शब्द व्यवहृत हुआ है। 'योग' शब्द त्रिविध 'युज्' धातुसे उद्भूत हो सकता है तथा तदुपदेशक शास्त्रवाचक हो सकता है, एवं शास्त्रोपदेशकवाचक भी हो सकता है—इस सिद्धान्तकी इस लेखके द्वारा आलोचना की गयी है।

जग माहीं ऐसो रहो, ज्यों अम्बुज सर माहिं।
रहै नीरके आसरे, पै जल छूवत नाहिं॥
जग माहीं ऐसे रहो, ज्यों जिह्वा मुख माहिं।
घीव घना भच्छन करै, तौ भी चिकनी नाहिं॥
ऐसा हो जो साध हो, लिये रहै वैराग।
चरनकमलमें चित धरै, जगमें रहै न पाग॥

—चरनदास

श्रीरामचरितमानसमें भक्तियोग

(लेखक—श्रीजयरामदासजी 'दीन', रामायणी)

यों तो श्रीरामचरितमानसमे सर्वत्र ही भक्तियोगका पवित्र और परम शान्तिदायी सागर लहरा रहा है, परन्तु प्रकृत भक्तियोगका प्रसङ्ग वनकाण्डके अन्तर्गत—

एक बार प्रभु सुख आसीना। लछिमन बचन कहे छलहीना॥

इस चौपाईसे आरम्भ होता है और—

भगतियोग सुनि अति सुख पावा। लछिमन प्रभु चरनन्हि सिर नावा॥

—इस चौपाईपर समाप्त हो जाता है। इस भक्तियोगके साथ उन पाँचों स्वरूपोंके विषयमें प्रश्न किया गया है जिनका वेद-शास्त्रानुसार बोध प्राप्त करना भवसागर पार करनेवाले मुमुक्षुका परम ध्येय है। पाँच स्वरूप ये हैं—

प्राप्यस्य ब्रह्मणो रूपं प्राप्तुश्च प्रत्यगात्मनः।
प्राप्त्युपायं फलं प्राप्तेस्तथा प्राप्तिविरोधकः॥
वदन्ति सकला वेदाः सेतिहासपुराणकाः।
मुनयश्च महात्मानो वेदवेदान्तवेदिनः॥

अर्थात् (१) परस्वरूप, (२) स्वस्वरूप, (३) उपास्यस्वरूप, (४) फलस्वरूप और (५) विरोधस्वरूप इन्हींके सम्बन्धमें प्रश्न किया गया है, यथा—

कहहु ग्यान बिराग अरु माया। कहहु सो भगति करहु जेहि दाया॥

ईश्वर जीवहिं भेद प्रभु, सकल कहहु समुझाइ।
जाते होइ चरन रति, सोक-मोह-भ्रम जाइ॥

ज्ञान-विराग (उपास्यस्वरूप), भक्ति (फलस्वरूप) माया (विरोधस्वरूप), ईश्वर (परस्वरूप) और जीव (स्वस्वरूप) के विषयमें यह प्रश्न पूछा गया है। परन्तु इन सब प्रश्नोंका पर्यवसान केवल भक्तियोगमे ही हुआ है, जिसका सम्पुट प्रश्नके साथ ही लगा हुआ है, यथा—

प्रश्नके आदिमें कहा है—

मोहिं समुझाइ कहहु सोइ देवा। सब तजि करौं चरन-रज-सेवा॥

और प्रश्नके अन्तमें कहा है—

'जाते होइ चरन रति, सोक-मोह-भ्रम जाइ॥'

और 'मैं पूछौं निज प्रभुकी नाईं।'—भावको स्पष्ट करके ही प्रश्न पूछा गया है, जिससे भगवान्‌का यह विरद भी—

भगतिवन्त अति नीचउ प्रानी। मोहिं प्रान प्रिय असि मम बानी॥

—लक्षित हो जाय।

उपर्युक्त प्रश्नोंका उत्तर आरम्भ करते समय भी सर्वप्रथम अहङ्कारका ही त्याग कराया गया है। जैसे—

थोरेहि महँ सब कहौं बुझाई। सुनहु तात मति मन चित लाई॥

तात्पर्य यह कि अन्तःकरणचतुष्टयमेसे (१) मन, (२) बुद्धि और (३) चित्तको लगाकर अर्थात् अहङ्कार (चौथे) को त्याग कर सुनो।

इस भक्तियोगका मुख्य सार अहङ्कारका निःशेषरूपसे त्याग ही है। विरोधस्वरूपा मायाका स्वरूप भी जो दो भेदोंसे—'मैं अरु मोर तोर तैं' अविद्या, और 'गो गोचर जहँ लगि मन जाई' विद्या—बतलाया गया है, उसका भी मूल कारण अहंकार ही है। क्योंकि दुःखरूपा अविद्या-में तो 'मैं' 'मोर' 'तोर' आदि शब्द स्पष्ट ही अहङ्कार-सूचक हैं और यवनिका (परदा) स्वरूपा विद्याके कार्य-रूप जगत्‌में जो नानात्वका दर्शन होता है, वह भी अहङ्कार-मूलक ही है। तभी तो दोनोंकी निवृत्तिमें निर्मानावस्था उत्पन्न होनेपर समदृष्टिसे जगत्‌को ब्रह्मरूप देखना ही ज्ञान कहा गया है—

ग्यान मान जहँ एकौ नाहीं। देखु ब्रह्म समान सब माहीं॥

तथा—

तृन सम सिद्धि तीन गुन त्यागी—

—द्वारा वैराग्य बताकर इस ज्ञान-वैराग्यको भक्तियोगका उपायस्वरूप बतलाया गया है।

ईश्वर (परस्वरूप) के लक्षण '(१) बन्धमोक्षप्रद, (२) सर्वपर, और (३) मायाप्रेरक' कहकर भी सर्वथा अहङ्कारकी ही जड़ उखाड़ दी गयी है। क्योंकि ईश्वर, जीव और माया—इन तीनोंमेसे जो एक शेष दोनोंपर अपना अधिकार जमाये हुए है, वही सर्वपर (सबसे बड़ा) हुआ। अतः सर्वपरत्व गुण ईश्वरमे निश्चित होनेसे जीवका अहङ्कार जाता रहा। पुनः बन्धमोक्षप्रदत्व गुणसे भी जीवके बन्धन और मुक्तिका अधिकार ईश्वरमे ही रहा, जिसे इस चौपाईके द्वारा दरसाया गया है—

नट मरकट इव सबहिं नचावत। राम खगेस बेद अस गावत॥

चेतन मर्कटकी ही तरह यह चेतन जीव नट-रूप

ईश्वरके अधीन है; उसका बन्धन और मोक्ष अपने अधीन न होनेसे अहङ्कारको स्थान कहाँ ? पुनः 'मायाप्रेरक' तीसरे गुणसे जो मायाको प्रेरित करनेका अधिकार है, वह—

उमा दारु जोषित की नाईं। सबहिं नचावत राम गुसाईं॥

—इस चौपाईद्वारा जड कठपुतलीकी उपमा देकर स्थापित किया गया और फिर—

ईस्वर बस माया गुणखानी। माया बस्य जीव अभिमानी॥

—यह कहकर जीवके अहङ्कारकी आत्यन्तिक निवृत्ति सूचित की गयी है। क्योंकि यह जीव जब मायाके वश हो रहा है और माया ईश्वरके वश है तब 'परबस जीव स्वबस भगवन्ता' यह स्पष्ट हो जानेसे 'माया ईश न आपु कहँ जान कहिय सो जीव'—जीवका (स्वस्वरूप) अपना स्वरूप निर्दिष्ट हो जाता है। तात्पर्य यह है कि उपर्युक्त चौपाइयोंमें जो मायाके लक्षण कहे गये हैं तथा दोहेके नीचेवाले पदमें जो ईश्वरके लक्षण वर्णित हैं, उन दोनोंसे अलग ही जीवको अपना स्वरूप समझनेके लिये कहा गया है। अतः यह जीव जब ईश्वर और ईश्वरकी आज्ञानुवर्तिनी माया दोनोंके ही अधीन ठहरा तब इसका अहङ्कारसे कल्याण होना कैसे सम्भव है ? बल्कि अहङ्कारकी ही स्फुरणा होनेसे इसके सहज स्वरूपकी हानि होती है। इसीलिये जीवमात्रके कल्याणका मार्ग अहङ्कारको सर्वथा त्यागकर सर्वोपायशून्य होकर श्रीभगवान्के शरणापन्न-प्रपन्न होना ही बतलाया गया है, इस प्रपत्तिको ही 'भक्तियोग' कहते हैं। अतएव स्पष्ट वाक्योंमें कहा गया है—

जाते बेगि द्रवौं मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई॥
सो स्वतंत्र अवलम्ब न आना। तेहि आधीन ज्ञान बिज्ञाना॥

क्योंकि कर्मयोग और ज्ञानयोग दोनो अपने-अपने पूर्व साधनोंके अपेक्षित रहनेसे स्वतन्त्र अवलम्ब नहीं हैं। कहा है—

धर्म ते बिरति योग ते ज्ञाना। ज्ञान मोक्षप्रद बेद बखाना॥

अर्थात् जबतक वर्णाश्रम आदिके अनुसार स्वधर्मका पूर्ण पालन नहीं किया जायगा तबतक (धर्म ते बिरति) वैराग्य उत्पन्न ही न होगा; जबतक वैराग्य न होगा तबतक कर्मोंका फलत्यागादि न होनेके कारण कर्मयोग न हो सकेगा, जबतक कर्मयोग न होगा तबतक (योग ते ज्ञाना) ज्ञान उत्पन्न न होगा, और जबतक ज्ञान न होगा तबतक मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकेगी। परन्तु यह भक्तियोग मेरे भक्तोंके लिये सुखद, सुलभ, स्वतन्त्र अवलम्ब है। इसके द्वारा मैं बेगि (तुरन्त) ही द्रवीभूत होकर (अहं भक्तपराधीनः) स्वयं अपने भक्तोंके अधीन हो जाता हूँ (फिर मोक्षकी तो गिनती ही क्या है ?)।

इस प्रकार जो जीव ईश्वर तथा माया दोनोंके अधीन होकर—

सो माया बस भयो गुसाईं। बँध्यो कीर मरकटकी नाईं॥

—दुःखरूप भवकूपमें पड़ा था, वही जीव भक्तियोगके सुलभ सहारेसे सहज ही मायाको कौन कहे, 'सर्वपर' नित्यस्वरूप ईश्वरको भी अपने प्रेमाधीन कर लेता है, क्योंकि 'राम पुनीत प्रेम-अनुगामी' हैं।

इस भक्तियोगकी प्राप्तिके सुलभ और सुगम पन्थ निवृत्ति-मार्ग और प्रवृत्ति-मार्गवालोंके लिये अलग-अलग दो प्रकारके बतलाये गये हैं।

भगति तात अनुपम सुखमूला। मिलै जो सन्त होहिं अनुकूला॥

सन्तके अनुकूल होनेपर भक्तिकी प्राप्ति होनेकी बात उन बड़भागियोंके लिये कही गयी है, जिनका मन प्रवृत्ति-मार्गसे उपराम हो गया है और जिन्होंने गृहस्थाश्रम-धर्मका त्यागकर, विरक्तवेष धारण कर, किसी विरक्त सन्त सद्गुरुकी शरण लेकर सदाके लिये शिष्यभावसे उनकी सेवामें अपना जीवन समर्पित कर दिया है। ऐसे समाश्रितोंको उनके अधिकारके अनुसार भगवद्भक्तिका पात्र समझकर जब भक्तियोगी सन्त उनके अनुकूल होते हैं, तब उन्हें भक्तिकी प्राप्ति होती है। इसी कारण इस मार्गकी नवधा साधन-भक्तिका वर्णन प्रसिद्ध श्रवण-कीर्तनादिके क्रमके अनुसार न होकर दूसरे ही क्रमसे है। इस क्रमको स्वयं श्रीभगवान्ने अपने श्रीमुखसे श्रीशबरीजीसे इस प्रकार कहा है—

प्रथम भगति सन्तन कर संगा। दूसरि रति मम कथा प्रसंगा॥
गुरु-पद-पंकज-सेवा, तीसरि भगति अमान।
चौथि भगति मम गुनगन, करै कपट तजि गान॥
मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा। पंचम भजन सो बेद प्रकासा॥
षट दम शील बिरत बहुकर्मा। निरत निरन्तर सज्जन धर्मा॥
सतईं सब मोहिंमय जग देखै। मोतें सन्त अधिक कर लेखै॥
अठईं जथालाभ सन्तोषा। सपनेहुँ नहिं देखै पर दोषा॥
नवम सरल सबसों छलहीना। मम भरोस हिय हरष न दीना॥

प्रवृत्ति-मार्गवाले गृहस्थाश्रमियोंके लिये (जिनको विरक्त होकर किसी त्यागी सन्त सद्गुरुकी अनुकूलताका

नुयोग नहीं प्राप्त हो सका है, उनके लिये) इस प्रकार बतलाया गया है—

भगतिके साधन कहौं बखानी। सुगम पंथ मोहि पावहिं प्रानी ॥
प्रथमहिं बिप्र चरन अति प्रीती। निज-निज धरम निरत श्रुतिरीती ॥
यहि कर फल पुनि बिषय बिरागा। तब मम चरन उपज अनुरागा ॥
श्रवनादिक नव भगति दृढाहीं। मम लीला रति अति मन माहीं ॥

अर्थात् इन भाग्यवानोंको पहले ब्राह्मणोंके चरणोंमे निष्ठा होने और गृहस्थाश्रमादि वर्णाश्रम धर्मोंका वेदानुसार पालन करनेसे (१) श्रवण, (२) कीर्तन, (३) स्मरण, (४) पादसेवन, (५) अर्चन, (६) वन्दन, (७) दास्य, (८) सख्य और (९) आत्मनिवेदन, इस नवधा साधनाद्वारा (जिसका वर्णन श्रीमद्भागवतमे स्पष्ट आया है) भक्तियोगकी प्राप्ति होती है। इस प्रकार साधनावस्थाकी नवधा भक्ति दोनों मार्गवालोंके लिये दो प्रकारकी होनेपर भी सिद्धा, प्रेमा या पराभक्ति एक ही है। अतएव गृहस्थ और विरक्त दोनोंके लिये अपने-अपने अधिकारानुसार उपर्युक्त प्रकारसे भक्तियोग सुलभ है।

अतएव स्वयं श्रीभगवान् कहते हैं—

सन्त चरन पंकज अति प्रेमा। मन क्रम बचन भजन दृढ नेमा ॥
गुरु पितु मातु बंधु पति देवा। सब मोहि कहँ जाने दृढ सेवा ॥
मम गुन गावत पुलक सरीरा। गदगद गिरा नयन बह नीरा ॥
काम आदि मद दंभ न जाके। तात निरंतर बस मैं ताके ॥

बचन कर्म मन मोरि गति, भजन करहिं निःकाम।
तिन्हके हृदयकमल महँ, करौं सदा बिश्राम ॥

अर्थात् उन भक्तियोगियोंकी प्रीति केवल भगवत् और भागवतोंमें ही अत्यन्त दृढ हो जाती है और मनसा, वाचा, कर्मणा अनन्यभावसे मेरा भजन करनेका ही उनका नियम निश्चित हो जाता है। वे गुरु, पिता, माता, बन्धु, पति, देवता आदि सब मुझको ही जानकर दृढतासे मेरी सेवामें लगे रहते हैं, मेरा गुणानुवाद गाते हुए पुलकित हो जाते हैं, उनकी वाणी मेरे प्रेममे गद्गद हो जाती है और उनके नेत्रोंसे अश्रुधारा प्रवाहित होती है। मैं सदा ऐसे निष्काम और निष्कपट भक्तियोगीके वशमें रहता हूँ।

वास्तवमें भक्तियोग ही एक ऐसा सुलभ और स्वतन्त्र अवलम्ब है जिसके प्रभावसे सर्वेश्वर स्वतन्त्र ईश्वरको भी प्रेमाधीन होकर निरन्तर भक्तोंके वशमें रहना पड़ता है तथा सदैव उनके हृदयमे ही वास करना पड़ता है। इसीलिये—

भगतियोग सुनि अति सुख पावा। लछिमन प्रभु चरनन्हि सिर नावा ॥

—इस भक्तियोगको सुनकर जीवमात्रको कल्याण-पथ लखानेवाले (शेषावतार रामानुजाचार्य) श्रीलक्ष्मणजीने परमानन्द प्राप्त किया और प्रभुके चरणोंमें शीश नवाकर शरणागति-मार्ग—भक्तियोगको शिरोधार्य किया। अतः जीवमात्रके लिये भगवत्-प्रेमावलम्बन ही यथार्थ योग है तथा भगवत्-प्रेमकी प्रधानता ही यथार्थमें ज्ञान है, नहीं तो जहाँ भगवान्‌की भक्तिका प्राधान्य नहीं है, वह योग कुयोग है एवं वह ज्ञान अज्ञान माना गया है। यथा—

जोग कुजोग ग्यान अग्यानू। जहँ नहिं राम प्रेम परधानू ॥

'सियावर रामचन्द्रकी जय'।

× × × ×

दूलन चरनन लागि रहु, नामकी करत पुकार।
भक्ति सुधारस पेट भरु, का दहुँ लिखा लिलार ॥
जग रहु जगतें अलग रहु, जोग जुगतिकी रीति।
दूलन फिरदे नाम तें, लाइ रहौ दृढ़ प्रीति ॥

—दूलनदास

× × × ×

मनको वश करनेके कुछ उपाय*

> असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
> वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥
> (गीता ६ । ३६)

श्रीभगवान् कहते हैं—'जिनका मन वशमें नहीं है उनके लिये योगका प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है, यह मेरा मत है, परन्तु मनको वशमें किये हुए प्रयत्नशील पुरुष साधनद्वारा योग प्राप्त कर सकते हैं।'

भगवान् श्रीकृष्ण महाराजके इन वचनोंके अनुसार यह सिद्ध होता है कि मनको वश किये विना परमात्माकी प्राप्तिरूप योग दुष्प्राप्य है। यदि कोई ऐसा चाहे कि मन तो अपनी इच्छानुसार निरङ्कुश होकर विषयवाटिकामे स्वच्छन्द विचरण किया करे और परमात्माके दर्शन अपने-आप ही हो जायँ, तो यह उसकी भूल है।

दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति और आनन्दमय परमात्माकी प्राप्ति चाहनेवालेको मन वशमे करना ही पड़ेगा, इसके सिवा और कोई उपाय नहीं है। परन्तु मन स्वभावसे ही बड़ा चञ्चल और बलवान् है, इसे वशमें करना कोई साधारण बात नहीं। सारे साधन इसीको वश करनेके लिये किये जाते हैं, इसपर विजय मिलते ही मानो विश्वपर विजय मिल जाती है। भगवान् शङ्कराचार्यने कहा है—'जित जगत् केन, मनो हि येन'। 'जगत्को किसने जीता ?—जिसने मनको जीत लिया।' अर्जुनने भी मनको वशमे करना कठिन समझकर कातर शब्दोंमे भगवान्से यही कहा था—

> चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम् ।
> तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥
> (गीता ६ । ३४)

'हे भगवन्! यह मन बड़ा ही चञ्चल, हठीला, दृढ़ और बलवान् है; इसे रोकना मैं तो वायुके रोकनेके समान अत्यन्त दुष्कर समझता हूँ।'

इससे किसीको यह न समझ लेना चाहिये कि जो बात अर्जुनके लिये इतनी कठिन थी वह हमलोगोंके लिये कैसे सम्भव होगी। मनको जीतना कठिन अवश्य है, भगवान्ने इस बातको स्वीकार किया, पर साथ ही उपाय भी बतला दिया—

> असशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
> अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥
> (गीता ६ । ३५)

भगवान्ने कहा, 'अर्जुन! इसमे कोई सन्देह नहीं कि इस चञ्चल मनका निग्रह करना बड़ा ही कठिन है, परन्तु अभ्यास और वैराग्यसे यह वशमें हो सकता है।' इससे यह सिद्ध हो गया कि मनका वशमें करना कठिन भले ही हो, पर असम्भव नहीं, और इसके वश किये विना दुःखोंकी निवृत्ति नहीं। अतएव इसे वश करना ही चाहिये। इसके लिये सबसे पहले इसका साधारण स्वरूप और स्वभाव जाननेकी आवश्यकता है।

मनका स्वरूप

मन क्या पदार्थ है? यह आत्म और अनात्म पदार्थके बीचमे रहनेवाली एक विलक्षण वस्तु है। यह स्वय अनात्म और जड है, किन्तु बन्ध और मोक्ष इसीके अधीन हैं।

> मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।

बस, मन ही जगत् है, मन नहीं तो जगत् नहीं! मन विकारी है, इसका कार्य सकल्प-विकल्प करना है। यह जिस पदार्थको भलीभाँति ग्रहण करता है, स्वय भी तदाकार बन जाता है। यह रागके साथ ही चलता है, सारे अनर्थोंकी उत्पत्ति रागसे होती है, राग न हो तो मन प्रपञ्चोंकी ओर न जाय। किसी भी विषयमें गुण और सौन्दर्य देखकर उसमें राग होता है, इसीसे मन उस विषयमे प्रवृत्त होता है। परन्तु जिस विषयमे इसे दुःख और दोष दीख पडते हैं उससे इसका द्वेष हो जाता है, फिर यह उसमें प्रवृत्त नहीं होता, यदि कभी भूलकर प्रवृत्त हो भी जाता है तो उसमें अवगुण देखकर द्वेषसे तत्काल लौट आता है। वास्तवमें द्वेषवाले विषयमे भी इसकी प्रवृत्ति रागसे ही होती है। साधारणतया यही मनका स्वरूप और स्वभाव है। अब सोचना यह है कि यह वशमे क्योंकर हो। इसके लिये उपाय भगवान्ने

* इस लेखमें जितने उपाय बतलाये गये हैं वे सभी किसी-न-किसी ऊँचे साधक या महात्मा पुरुषके द्वारा अनुभूत हैं। लेखक

बतला ही दिया है—अभ्यास और वैराग्य। यही उपाय योगदर्शनमें महर्षि पतञ्जलिने बतलाया है—

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।

(समाधिपाद १२)

'अभ्यास और वैराग्यसे ही चित्तका निरोध होता है', अतएव अब इसी अभ्यास और वैराग्यपर विचार करना चाहिये।

वशमें करनेके साधन

(१) भोगोंमें वैराग्य

जबतक संसारकी वस्तुएँ सुन्दर और सुखप्रद मालूम होती हैं तभीतक मन उनमें जाता है, यदि यही सब पदार्थ दोषयुक्त और दुःखप्रद दीखने लगें (जैसे कि वास्तवमें ये हैं) तो मन कदापि इनमें नहीं लगेगा। यदि कभी इनकी ओर गया भी तो उसी समय वापस लौट आवेगा, इसलिये संसारके सारे पदार्थोंमें (चाहे वे इहलौकिक हों या पारलौकिक) दुःख और दोषकी प्रत्यक्ष भावना करनी चाहिये। ऐसा दृढ़ प्रत्यय करना चाहिये कि इन पदार्थोंमें केवल दोष और दुःख ही भरे हुए हैं। रमणीय और सुखरूप दीखनेवाली वस्तुमें ही मन लगता है। यदि यह रमणीयता और सुखरूपता विषयोंसे हटकर परमात्मामें दिखायी देने लगे (जैसा कि वास्तवमें है) तो यही मन तुरन्त विषयोंसे हटकर परमात्मामें लग जाय। यही वैराग्यका साधन है और वैराग्य ही मन जीतनेका एक उत्तम उपाय है। सच्चा वैराग्य तो संसारके इस दीखनेवाले स्वरूपका सर्वथा अभाव और उसकी जगह परमात्माका नित्यभाव प्रतीत होनेमें है। परन्तु आरम्भमें नये साधकको मन वश करनेके लिये इस लोक और परलोकके समस्त पदार्थोंमें दोष और दुःख देखना चाहिये, जिससे मनका अनुराग उनसे हटे।

श्रीभगवान्‌ने कहा है—

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्॥

(गीता १३। ८)

'इस लोक और परलोकके समस्त भोगोंमें वैराग्य, अहङ्कारका त्याग, (इस शरीरमें) जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा और रोग (आदि) दुःख और दोष देखने चाहिये।' इस प्रकार वैराग्यकी भावनासे मन वशमें हो सकता है। यह तो वैराग्यका संक्षिप्त साधन हुआ, अब कुछ अभ्यासोंपर विचार करें।

(२) नियमसे रहना

मनको वश करनेमें नियमानुवर्त्तितासे बड़ी सहायता मिलती है। सारे काम ठीक समयपर नियमानुसार होने चाहिये। प्रातःकाल बिछौनेसे उठकर रातको सोनेतक दिनभरके कार्योंकी एक ऐसी नियमित दिनचर्या बना लेनी चाहिये जिससे जिस समय जो कार्य करना हो, मन अपने-आप स्वभावसे ही उस समय उसी कार्यमें लग जाय। संसार-साधनमें तो नियमानुवर्त्तितासे लाभ होता ही है, परमार्थमें भी इससे बड़ा लाभ होता है। अपने जिस इष्ट स्वरूपके ध्यानके लिये प्रतिदिन जिस स्थान-पर, जिस आसनपर, जिस आसनसे, जिस समय और जितने समय बैठा जाय उसमें किसी दिन भी व्यतिक्रम नहीं होना चाहिये। पाँच मिनटका भी नियमित ध्यान अनियमित अधिक समयके ध्यानसे उत्तम है। आज दस मिनट बैठे, कल आध घण्टे, परसों बिल्कुल लाँघा, इस प्रकारके साधनसे साधकको सिद्धि कठिनतासे मिलती है। जब पाँच मिनटका ध्यान नियमसे होने लगे तब दस मिनटका करे, परन्तु दस मिनटका करनेके बाद किसी दिन भी नौ मिनट न होना चाहिये। इसी प्रकार स्थान, आसन, समय, इष्ट और मन्त्रका बारम्बार परिवर्त्तन नहीं करना चाहिये। इस तरहकी नियमा-नुवर्त्तितासे भी मन स्थिर होता है। नियमोंका पालन खाने, पीने, पहनने, सोने और व्यवहार करने, सभीमें होना चाहिये। नियम अपनी अवस्थानुकूल शास्त्रसम्मत बना लेने चाहिये।

(३) मनकी क्रियाओंपर विचार

मनके प्रत्येक कार्यपर विचार करना चाहिये। प्रतिदिन रातको सोनेसे पूर्व दिनभरके मनके कार्योंपर विचार करना उचित है। यद्यपि मनकी सारी उधेड़-बुनका स्मरण होना बड़ा कठिन है, परन्तु जितनी याद रहे उतनी ही बातोंपर विचार कर जो-जो सङ्कल्प सात्त्विक मालूम दें उनके लिये मनकी सराहना करना और जो-जो सङ्कल्प राजसिक और तामसिक मालूम पड़ें उनके लिये मनको धिक्कारना चाहिये। प्रतिदिन इस प्रकारके अभ्याससे मनपर सत्कार्य करनेके और असत्कार्य छोड़नेके संस्कार जमने लगेंगे, जिससे कुछ ही समयमें मन बुराइयोंसे

बचकर भले-भले कार्योंमें लग जायगा। मन पहले भले कार्यवाला होगा, तब उसे वश करनेमें सुगमता होगी। कुसङ्गमें पड़ा हुआ बालक जबतक कुसङ्ग नहीं छोड़ता तबतक उसे कुसङ्गियोंसे बुरी सलाह मिलती रहती है, इससे उसका वशमें होना कठिन रहता है। पर जब कुसङ्ग छूट जाता है तब उसे बुरी सलाह नहीं मिल सकती, दिनरात घरमें उसको माता-पिताके सदुपदेश मिलते हैं, वह भली-भली बातें सुनता है। तब फिर उसके सुधरकर माता-पिताके आज्ञाकारी होनेमें विलम्ब नहीं होता। इसी तरह यदि विषय-चिन्तन करनेवाले मनको कोई एक साथ ही सर्वथा विषयरहित करना चाहे तो वह नहीं कर सकता। पहले मनको बुरे चिन्तनसे बचाना चाहिये, जब वह परमात्म-सम्बन्धी शुभ चिन्तन करने लगेगा तब उसको वश करनेमें कोई कठिनाई नहीं होगी।

(४) मनके कहनेमें न चलना

मनके कहनेमें नहीं चलना चाहिये। जबतक यह मन वशमें नहीं हो जाता तबतक इसे अपना परम शत्रु मानना चाहिये। जैसे शत्रुके प्रत्येक कार्यपर निगरानी रखनी पड़ती है वैसे ही इसके भी प्रत्येक कार्यको सावधानीसे देखना चाहिये। जहाँ कहीं यह उलटा सीधा करने लगे वहीं इसे धिक्कारना और पछाड़ना चाहिये। मनकी खातिर भूलकर भी नहीं करनी चाहिये। यद्यपि यह बड़ा बलवान् है, कई बार इससे हारना होगा, पर साहस नहीं छोड़ना चाहिये। जो हिम्मत नहीं हारता वह एक दिन मनको अवश्य जीत लेता है। इससे लड़नेमें एक विचित्रता है। यदि दृढ़तासे लड़ा जाय तो लड़नेवालेका बल दिनोदिन बढ़ता है और इसका क्रमशः घटने लगता है, इसलिये इससे लड़नेवाला एक-न-एक दिन इसपर अवश्य ही विजयी होता है। अतएव इसकी हाँ-में-हाँ न मिलाकर प्रत्येक कार्यमें खूब सावधानीसे वर्तना चाहिये। यह मन बड़ा ही चतुर है। कभी डरावेगा, कभी फुसलावेगा, कभी लालच देगा, बड़े-बड़े अनोखे रंग दिखलावेगा, परन्तु कभी इसके धोखेमें न आना चाहिये। भूलकर भी इसका विश्वास न करना चाहिये। इस प्रकार करनेसे इसकी हिम्मत टूट जायगी, लड़ने और धोखा देनेकी आदत छूट जायगी। अन्तमें यह आज्ञा देनेवाला न रहकर सीधा-सादा आज्ञा-पालन करनेवाला विश्वासी सेवक बन जायगा।

मन लोभी, मन लालची, मन चंचल, मन चौर।
मनके मत चलिये नहीं, पलक पलक मन और॥

(५) मनको सत्कार्यमें संलग्न रखना

मन कभी निकम्मा नहीं रह सकता, कुछ-न-कुछ काम इसको मिलना ही चाहिये; अतएव इसे निरन्तर काममें लगाये रखना चाहिये। निकम्मा रहनेसे ही इसे बुरी बातें सूझा करती हैं, अतएव जबतक नींद न आवे तबतक चुने हुए सुन्दर माङ्गलिक कार्योंमें इसे लगाये रखना चाहिये। जाग्रत् समयके सत्कार्योंके चित्र ही स्वप्नमें भी दिखायी देंगे।

(६) मनको परमात्मामें लगाना

श्रीभगवान्‌ने कहा है—

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥
(गीता ६। २६)

'यह चञ्चल और अस्थिर मन जहाँ-जहाँ दौड़कर जाय वहाँ-वहाँसे हटाकर बारबार इसे परमात्मामें ही लगाना चाहिये।'

मनको वशमें करनेका उपाय प्रारम्भ करनेपर पहले-पहले तो यह इतना ज़ोर दिखलाता है—अपनी चञ्चलता और शक्तिमत्तासे ऐसी पछाड़ लगाता है कि नया साधक घबड़ा उठता है, उसके हृदयमें निराशा-सी छा जाती है; परन्तु ऐसी अवस्थामें धैर्य रखना चाहिये। मनका तो ऐसा स्वभाव ही है और हमें इसपर विजय पाना है, तब घबड़ानेसे थोड़े ही काम चलेगा। मुस्तैदीसे सामना करना चाहिये। आज न हुआ तो क्या, कभी-न-कभी तो वशमें होगा ही। इसीलिये भगवान्‌ने कहा है—

शनैः शनैरुपरमेद् बुद्धया धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥
(गीता ६। २५)

'धीरे-धीरे अभ्यास करता हुआ उपरामताको प्राप्त हो, धैर्ययुक्त बुद्धिसे मनको परमात्मामें स्थिर करके और किसी भी विचारको मनमें न आने दे।'

बड़ा धैर्य चाहिये। घबड़ाने, ऊबने या निराश होनेसे काम नहीं होगा। झाड़ूसे घर साफ कर लेनेपर भी जैसे धूल जमी हुई-सी दीख पड़ती है, उसी प्रकार मनको सस्कारोंसे रहित करते समय यदि मन और भी अस्थिर या अपरिच्छिन्न दीखे तो इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। पर इससे डरकर झाड़ू लगाना बन्द नहीं करना चाहिये।

इस प्रकारकी दृढ प्रतिज्ञा कर लेनी चाहिये कि किसी प्रकारका भी वृथा चिन्तन या मिथ्या सङ्कल्पोंको मनमें नहीं आने दिया जायगा। बड़ी चेष्टा, बड़ी दृढता रखनेपर भी मन साधककी चेष्टाओंको कई बार व्यर्थ कर देता है, साधक तो समझता है कि मैं ध्यान कर रहा हूँ पर मनदेवता सङ्कल्प-विकल्पोंकी पूजामें लग जाते हैं। जब साधक मनकी ओर देखता है तो उसे आश्चर्य होता है कि यह क्या हुआ। इतने नये-नये सङ्कल्प–जिनकी भावना भी नहीं की गयी थी—कहाँसे आ गये? बात यह होती है कि साधक जब मनको निर्विषय करना चाहता है तब संसारके नित्य अभ्यस्त विषयोंसे मनको फुरसत मिल जाती है, उधर परमात्मामें लगनेका इस समयतक उसे पूरा अभ्यास नहीं होता। इसलिये फुरसत पाते ही वह उन पुराने दृश्योंको (जो संस्काररूपसे उसपर अङ्कित हो रहे हैं) सिनेमाके फिल्मकी भाँति क्षण-क्षणमें एकके बाद एक उलटने लग जाता है। इसीसे उस समय ऐसे सङ्कल्प मनमें उठते हुए मालूम होते हैं जो संसारका काम करते समय याद भी नहीं आते थे। मनकी ऐसी प्रबलता देखकर साधक स्तम्भित-सा रह जाता है, पर कोई चिन्ता नहीं। जब अभ्यासका बल बढ़ेगा तब उसको संसारसे फुरसत मिलते ही तुरन्त परमात्मामें लग जायगा। अभ्यास दृढ़ होनेपर तो यह परमात्माके ध्यानसे हटाये जानेपर भी न हटेगा। मन चाहता है सुख। जबतक इसे वहाँ सुख नहीं मिलता–विषयोंमें सुख दीखता है, तबतक यह विषयोंमें रमता है। जब अभ्याससे विषयोंमें दुःख और परमात्मामें परम सुख प्रतीत होने लगेगा तब यह स्वयं ही विषयोंको छोड़कर परमात्माकी ओर दौड़ेगा, परन्तु जबतक ऐसा न हो तबतक निरन्तर अभ्यास करते रहना चाहिये। यह मालूम होते ही कि मन अन्यत्र भागा है, तत्काल इसे पकड़ना चाहिये। इसको पक्के चोरकी भाँति भागनेका बड़ा अभ्यास है, इसलिये ज्यों ही यह भागे त्यों ही इसे पकड़ना चाहिये।

जिस-जिस कारणसे मन सांसारिक पदार्थोंमें विचरे उस-उससे रोककर परमात्मामें स्थिर करे। मनपर ऐसा पहरा बैठा दे कि यह भाग ही न सके। यदि किसी प्रकार भी न माने तो फिर इसे भागनेकी पूरी स्वतन्त्रता दे दी जाय; परन्तु यह जहाँ जाय वहींपर परमात्माकी भावना की जाय, वहींपर इसे परमात्माके स्वरूपमें लगाया जाय। इस उपायसे भी मन स्थिर हो सकता है।

(७) एक तत्त्वका अभ्यास करना

योगदर्शनमें महर्षि पतञ्जलि लिखते हैं—

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः। (समाधिपाद ३२)

चित्तका विक्षेप दूर करनेके लिये पाँच तत्त्वोंमेंसे किसी एक तत्त्वका अभ्यास करना चाहिये। एक तत्त्वके अभ्यासका अर्थ ऐसा भी हो सकता है कि किसी एक वस्तुकी या किसी मूर्तिविशेषकी तरफ एकदृष्टिसे देखते रहना। जबतक आँखोंकी पलक न पड़े या आँखोंमें जल न आ जाय तबतक उस एक ही चिह्नकी तरफ देखते रहना चाहिये। चिह्न धीरे-धीरे छोटा करते रहना चाहिये। अन्तमें उस चिह्नको बिल्कुल ही हटा देना चाहिये। 'दृष्टिः स्थिरा यत्र विनावलोकनम्'—अवलोकन न करनेपर भी दृष्टि स्थिर रहे। ऐसा हो जानेपर चित्तविक्षेप नहीं रहता। इस प्रकार प्रतिदिन आध-आध घण्टे भी अभ्यास किया जाय तो मनके स्थिर होनेमें अच्छी सफलता मिल सकती है। इसी प्रकार दोनों भ्रुवोंके बीचमें दृष्टि जमाकर जबतक आँखोंमें जल न आ जाय तबतक देखते रहनेका अभ्यास किया जाता है। इससे भी मन निश्चल होता है, इसीको त्राटक कहते हैं। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि इस प्रकारके अभ्यासमें नियमितरूपसे जो जितना अधिक समय दे सकेगा उसे उतना ही अधिक लाभ होगा।

(८) नाभि या नासिकाग्रमें दृष्टि स्थापन करना

नित्य नियमपूर्वक पद्मासन या सुखासनसे बैठकर सीधा बैठकर नाभिमें दृष्टि जमाकर जबतक पलक न पड़े तबतक एक-मनसे देखते रहना चाहिये। ऐसा करनेसे शीघ्र ही मन स्थिर होता है। इसी प्रकार नासिकाके अग्रभागपर दृष्टि जमाकर बैठनेसे भी चित्त निश्चल हो जाता है। इससे ज्योतिके दर्शन भी होते हैं।

(९) शब्द श्रवण करना

कानोंमें अँगुली देकर शब्द सुननेका अभ्यास किया जाता है। इसमें पहले भँवरोंके गुंजार अथवा प्रातःकालीन पक्षियोंके चुँचुँहाने-जैसा शब्द सुनायी देता है, फिर क्रमशः घुँघुरू, शङ्ख, घण्टा, ताल, मुरली, भेरी, मृदङ्ग, नफीरी और सिंहगर्जनके सदृश शब्द सुनायी देते हैं। इस प्रकार दस प्रकारके शब्द सुनायी देने लगनेके बाद दिव्य ॐ शब्दका श्रवण

होता है, जिससे साधक समाधिको प्राप्त हो जाता है। यह भी मनके निश्चल करनेका उत्तम साधन है।

(१०) ध्यान या मानसपूजा

सब जगह भगवान्‌के किसी नामको लिखा हुआ समझकर वारंवार उस नामके ध्यानमे मन लगाना चाहिये अथवा भगवान्‌के किसी स्वरूपविशेषकी अन्तरिक्षमे मनसे कल्पना कर उसकी पूजा करनी चाहिये। पहले भगवान्‌की मूर्तिके एक-एक अवयवका अलग-अलग ध्यान कर फिर दृढताके साथ सारी मूर्तिका ध्यान करना चाहिये। उसीमे मनको अच्छी तरह स्थिर कर देना चाहिये। मूर्तिके ध्यानमे इतना तन्मय हो जाना चाहिये कि संसारका भान ही न रहे। फिर कल्पना-प्रसूत सामग्रियोंसे भगवान्‌की मानसिक पूजा करनी चाहिये। प्रेमपूर्वक की हुई नियमित भगवदुपासनासे मनको निश्चल करनेमें बड़ी सहायता मिल सकती है।

(११) मैत्री-करुणा-मुदिता-उपेक्षाका व्यवहार

योगदर्शनमें महर्षि पतञ्जलि एक उपाय यह भी बतलाते हैं—

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्। (समाधिपाद ३३)

'सुखी मनुष्योंसे प्रेम, दुखियोंके प्रति दया, पुण्यात्माओंके प्रति प्रसन्नता और पापियोंके प्रति उदासीनताकी भावनासे चित्त प्रसन्न होता है।'

(क) जगत्‌के सारे सुखी जीवोंके साथ प्रेम करनेसे चित्तका ईर्ष्यामल दूर होता है, डाहकी आग बुझ जाती है। संसारमे लोग अपनेको और अपने आत्मीय स्वजनोंको सुखी देखकर प्रसन्न होते हैं, क्योंकि वे उन लोगोंको अपने प्राणोंके समान प्रिय समझते हैं। यदि यही प्रिय भाव सारे संसारके सुखियोंके प्रति अर्पित कर दिया जाय तो कितने आनन्दका कारण हो! दूसरेको सुखी देखकर जलन पैदा करनेवाली वृत्तिका नाश हो जाय।

(ख) दुखी प्राणियोंके प्रति दया करनेसे पर-अपकाररूप चित्त-मल नष्ट होता है। मनुष्य अपने कष्टोंको दूर करनेके लिये किसीसे भी पूछनेकी आवश्यकता नहीं समझता, भविष्यमे कष्ट होनेकी सम्भावना होते ही पहलेसे उसे निवारण करनेकी चेष्टा करने लगता है। यदि ऐसा ही भाव जगत्‌के सारे दुखी जीवोंके साथ हो जाय तो अनेक लोगोंके दुःख दूर हो सकते हैं। दुःखपीड़ित लोगोंके दुःख दूर करनेके लिये अपना सर्वस्व न्योछावर कर देनेकी प्रबल भावनासे मन सदा ही प्रफुल्लित रह सकता है।

(ग) धार्मिकोंको देखकर हर्षित होनेसे दोषारोप नामक मनका असूया-मल नष्ट होता है, साथ ही धार्मिक पुरुषकी भाँति चित्तमें धार्मिक वृत्ति जाग्रत हो उठती है। असूयाके नाशसे चित्त शान्त होता है।

(घ) पापियोंके प्रति उपेक्षा करनेसे चित्तका क्रोधरूप मल नष्ट होता है। पापोंका चिन्तन न होनेसे उनके संस्कार अन्तःकरणपर नहीं पड़ते। किसीसे भी घृणा नहीं होती। इससे चित्त शान्त रहता है।

इस प्रकार इन चारो भावोंके वारवार अनुशीलनसे चित्तकी राजस, तामस वृत्तियाँ नष्ट होकर सात्त्विक वृत्तिका उदय होता है और उससे चित्त प्रसन्न होकर शीघ्र ही एकाग्रता लाभ कर सकता है।

(१२) सद्ग्रन्थोंका अध्ययन

भगवान्‌के परम रहस्यसम्बन्धी परमार्थ-ग्रन्थोंके पठन-पाठनसे भी चित्त स्थिर होता है। एकान्तमें बैठकर उपनिषद्, श्रीमद्भगवद्गीता, श्रीमद्भागवत, रामायण आदि ग्रन्थोंका अर्थसहित अनुशीलन करनेसे वृत्तियाँ तदाकार बन जाती हैं। इससे मन स्थिर हो जाता है।

(१३) प्राणायाम

समाधिसे भी मन रुकता है। समाधि अनेक तरहकी होती है। प्राणायाम समाधिके साधनोंका एक मुख्य अङ्ग है। योगदर्शनमे कहा गया है—

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य। (समाधिपाद ३४)

नासिकाके छेदोंसे अन्तरकी वायुको बाहर निकालना प्रच्छर्दन कहलाता है, और प्राणवायुकी गति रोक देनेको विधारण कहते हैं। इन दोनों उपायोंसे भी चित्त स्थिर होता है। श्रीमद्भगवद्गीतामे भगवान्‌ने भी कहा है—

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः॥
(४।२९)

'कई अपानवायुमें प्राणवायुको हवन करते हैं, कई प्राणवायुमें अपानवायुको होमते हैं और कई प्राण और अपानकी गतिको रोककर प्राणायाम किया करते हैं।'

इसी तरह योगसम्बन्धी ग्रन्थोंके अतिरिक्त महाभारत, श्रीमद्भागवत और उपनिषदोंमें भी प्राणायामका यथेष्ट वर्णन है। श्वास-प्रश्वासकी गतिको रोकनेका नाम ही प्राणायाम है। मनु महाराजने कहा है—

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्॥

'अग्निमें तपाये जानेपर जैसे धातुका मल जल जाता है उसी प्रकार प्राणवायुके निग्रहसे इन्द्रियोंके सारे दोष दग्ध हो जाते हैं।'

प्राणोंको रोकनेसे ही मन रुकता है। इनका एक दूसरेके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। मन सवार है तो प्राण वाहन है। एकको रोकनेसे दोनों रुक जाते हैं। प्राणायामके सम्बन्धमें योगशास्त्रमें अनेक उपदेश मिलते हैं, परन्तु वे बड़े ही कठिन हैं। योगसाधनमें अनेक नियमोंका पालन करना पड़ता है। योगाभ्यासके लिये बड़े ही कठोर आत्मसंयमकी आवश्यकता है। आजकलके समयमें तो कई कारणोंसे योगका साधन एक प्रकारसे असाध्य ही समझना चाहिये। यहाँपर प्राणायामके सम्बन्धमें केवल इतना ही कहा जाता है कि बाईं नासिकासे बाहरकी वायुको अन्तरमें ले जाकर स्थिर रखनेको पूरक कहते हैं, दाहिनी नासिकासे अन्तरकी वायुको बाहर निकालकर बाहर स्थिर रखनेको रेचक कहते हैं और जिसमें अन्तरकी वायु बाहर न जा सके और बाहरकी वायु अन्तरमें प्रवेश न कर सके, इस भावसे प्राणवायु रोक रखनेको कुम्भक कहते हैं। इसीका नाम प्राणायाम है।

साधारणतः चार बार मन्त्र जपकर पूरक, सोलह बारके जपसे कुम्भक और आठ बारके जपसे रेचककी विधि है। परन्तु इस सम्बन्धमें उपयुक्त सद्गुरुकी आज्ञा बिना कोई कार्य नहीं करना चाहिये। योगाभ्यासमें देखादेखी करनेमें उलटा फल हो सकता है।

देखा देखी साधै जोग। छीजै काया बाढै रोग।

पर यह स्मरण रहे कि प्राणायाम मनको रोकनेका एक बहुत ही उत्तम साधन है।

(१४) श्वासके द्वारा नाम-जप

मनको रोककर परमात्मामें लगानेका एक अत्यन्त सुलभ और आडम्बररहित उपाय और है, जिसका अनुष्ठान सभी कर सकते हैं। वह है आने-जानेवाले श्वास-प्रश्वासकी गतिपर ध्यान रखकर श्वासके द्वारा श्रीभगवान्के नामका जप करना। यह अभ्यास बैठते-उठते, चलते-फिरते, सोते-खाते हर समय, प्रत्येक अवस्थामें किया जा सकता है। इसमें श्वास जोर-जोरसे लेनेकी भी कोई आवश्यकता नहीं। श्वासकी साधारण चालके साथ-ही-साथ नामका जप किया जा सकता है। इसमें लक्ष्य रखनेसे ही मन रुककर नामका जप हो सकता है। श्वासके द्वारा नामका जप करते समय चित्तमें इतनी प्रसन्नता होनी चाहिये कि मानो मन आनन्दसे उछला पड़ता हो। आनन्दरससे छका हुआ अन्तःकरण-रूपी पात्र मानो छलका पड़ता हो। यदि इतने आनन्दका अनुभव न हो तो आनन्दकी भावना ही करनी चाहिये। इसीके साथ भगवान्को अपने अत्यन्त समीप जानकर उनके स्वरूपका ध्यान करना चाहिये, मानो उनके समीप होनेका प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा है। इस भावसे संसारकी सुध भुलाकर मनको परमात्मामें लगाना चाहिये।

(१५) ईश्वर-शरणागति

ईश्वर-प्रणिधानसे भी मन वशमें होता है, अनन्य भक्तिसे परमात्माके शरण होना ईश्वर-प्रणिधान कहलाता है। 'ईश्वर' शब्दसे यहाँपर परमात्मा और उनके भक्त दोनों ही समझे जा सकते हैं। 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति', 'तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्', 'तन्मयाः'—इन श्रुति और भक्ति-शास्त्रके सिद्धान्त-वचनोंसे भगवान्, ज्ञानी और भक्तोंकी एकता सिद्ध होती है। श्रीभगवान् और उनके भक्तोंके प्रभाव और चरित्रके चिन्तनमात्रसे चित्त आनन्दसे भर जाता है। संसारका बन्धन मानो अपने-आप टूटने लगता है। अतएव भक्तोंका सङ्ग करने, उनके उपदेशोंके अनुसार चलने और भक्तोंकी कृपाको ही भगवत्प्राप्तिका प्रधान उपाय समझनेसे भी मनपर विजय प्राप्त की जा सकती है। भगवान् और सच्चे भक्तोंकी कृपासे सब कुछ हो सकता है।

(१६) मनके कार्योंको देखना

मनको वशमें करनेका एक बड़ा उत्तम साधन है 'मनसे अलग होकर निरन्तर मनके कार्योंको देखते रहना।' जबतक हम मनके साथ मिले हुए हैं तभीतक मनमें इतनी चञ्चलता है। जिस समय हम मनके द्रष्टा बन जाते हैं उसी समय मनकी चञ्चलता मिट जाती है। वास्तवमें तो मनसे हम सर्वथा भिन्न ही हैं। किस समय मनमें क्या सङ्कल्प होता है, इसका पूरा पता हमें रहता है। बम्बईमें बैठे हुए

एक मनुष्यके मनमें कलकत्तेके किसी दृश्यका सङ्कल्प होता है, इस बातको यह अच्छी तरह जानता है। यह निर्विवाद बात है कि जानने या देखनेवाला जाननेकी वा देखनेकी वस्तुसे सदा अलग होता है। आँखको आँख नहीं देख सकती। इस न्यायसे मनकी बातोंको जो जानता या देखता है वह मनसे सर्वथा भिन्न है, भिन्न होते हुए भी वह अपनेको मनके साथ मिला लेता है, इसीसे उसका जोर पाकर मनकी उद्दण्डता बढ़ जाती है। यदि साधक अपनेको निरन्तर अलग रखकर मनकी क्रियाओंका द्रष्टा बनकर देखनेका अभ्यास करे तो मन बहुत ही शीघ्र सङ्कल्परहित हो सकता है।

(१७) भगवन्नामकीर्तन

मग्न होकर उच्च स्वरसे परमात्माका नाम और गुण-कीर्तन करनेसे भी मन परमात्मामें स्थिर हो सकता है। भगवान् चैतन्यदेवने तो मनको निरुद्धकर परमात्मामें लगानेका यही परम साधन बतलाया है। भक्त जब अपने प्रभुका नाम-कीर्तन करते-करते गद्गदकण्ठ, रोमाञ्चित और अश्रुपूर्णलोचन होकर प्रेमावेशमें अपने आपको सर्वथा भुलाकर केवल प्रेमिक परमात्माके रूपमें तन्मयता प्राप्त कर लेता है, तब भला मनको जीतनेमें और कौन-सी बात बच रहती है? अतएव प्रेमपूर्वक परमात्माका नामकीर्त्तन करना मनपर विजय पानेका एक अत्युत्तम साधन है।

इस प्रकारसे मनको रोककर परमात्मामें लगानेके अनेक साधन और युक्तियाँ हैं। इनमेंसे या अन्य किसी भी युक्तिसे किसी प्रकारसे भी मनको विषयोंसे हटाकर परमात्मामें लगानेकी चेष्टा करनी चाहिये। मनके स्थिर किये बिना अन्य कोई भी अवलम्बन नहीं। जैसे चञ्चल जलमें रूप विकृत दीख पड़ता है उसी प्रकार चञ्चल चित्तमें आत्माका यथार्थ स्वरूप प्रतिबिम्बित नहीं होता। परन्तु जैसे स्थिर जलमें प्रतिबिम्ब जैसा होता है वैसा ही दीखता है, इसी प्रकार केवल स्थिर मनसे ही आत्माका यथार्थ स्वरूप स्पष्ट प्रत्यक्ष होता है। अतएव प्राणपणसे मनको स्थिर करनेका प्रयत्न करना चाहिये। अबतक जो इस मनको स्थिर कर सके हैं वे ही उस श्यामसुन्दरके नित्यप्रसन्न नवीन-नील-नीरद प्रफुल्ल मुखारविन्दका दर्शन कर अपना जन्म और जीवन सफल कर सके हैं। जिसने एक बार भी उस 'अनूप-रूपशिरोमणि' के दर्शनका सयोग प्राप्त कर लिया वही धन्य हो गया! उसके लिये उस सुखके सामने और सारे सुख फीके पड़ गये। उस लाभके सामने और सारे लाभ नीचे हो गये!

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।

'जिस लाभको पा लेनेपर उससे अधिक और कोई-सा लाभ भी नहीं जँचता।'

यही योगसाधनका चरम फल है अथवा यही परम योग है।

हनुमानप्रसाद पोद्दार

योगबल

(लेखक—पू० स्वामीजी श्रीश्रीविद्यानन्दजी महाराज)

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

(गीता ६। ३२)

त्रिकालदर्शी ऋषियोंके द्वारा प्रकट होनेवाले ईश्वरके ज्ञानरूप वेदको हम परिपूर्ण ग्रन्थ मानते हैं। जो वेदोंमें है वही न्यूनाधिक रूपसे सर्वत्र मिलता है और जो उसमें नहीं है उसका कहीं अस्तित्व ही नहीं है। वेदमें जो जड-चेतन, लोक-परलोक, स्वर्ग-नरक, पाप-पुण्य, कर्म-अकर्म आदि लौकिक-अलौकिक विषयोंका वर्णन किया गया है उनके यथार्थ स्वरूपको प्रत्यक्षतया देखनेवाला योगी है। निगूढ वैदिक तत्त्वोंको प्रत्यक्ष करानेवाला योगाभ्यास है। वेदमें सब विषयोंका स्पष्ट उल्लेख है। पर लोग उसको वैसा नहीं समझ सकते, क्योंकि उनके पास योगबल नहीं है। यदि योगशक्तिसे वैदिक सिद्धान्तका अवलोकन किया जाय तो आज नाना मतभेदपूर्ण विभिन्न सम्प्रदायवादसे कर्तव्यकर्म या धर्मके स्वरूपके विषयमें जो सन्देह हो रहा है वह न हो। जब शान्तिके साधनमें सन्देह है तब शान्ति कहाँ?

हम योगसे परमात्माके असली स्वरूपका अवलोकन कर सकते हैं। हम प्रकृति और उसके विकारोंको यथार्थ रूपमें देखने योग्य हो सकते हैं। हम पहले क्या और कहाँ थे, आगे क्या और कहाँ होंगे, इत्यादि अनेक जन्म-जन्मान्तरोंका पता लगा सकते हैं, पाप और पुण्यजनक कर्मोंका निश्चय कर सकते हैं। अभी तो हमें यही पता नहीं कि मनुष्यका क्या कर्तव्य है? इनका पता भी योगसे ही लगेगा। संसारमें एक-से-एक शक्तिशाली लोग पड़े हैं। उनमेंसे एक सुचतुर वाग्मी हमें तर्कयुक्तियोंसे आज

जो बात समझा गया, कल उससे भी कोई अधिक वावदूक बड़ी-बड़ी दलीलें देकर विपरीत बोध करा गया, फिर तीसरा आकर और कुछ निश्चय करा गया, इससे हमारा बुद्धिभेद कम होनेके बजाय दृढ़ हो गया। हमारी बुद्धि मानो फुटबॉल हो गयी, जिसको खेलाड़ी लोग ठोकरें मार-मारकर इधर-से-उधर लिये फिरा करते हैं। योग ऐसी कर्तव्याकर्तव्यविमर्शशून्य बुद्धिको कर्तव्यपरायण बनाकर भ्रान्त होनेसे रोक देगा। योग उस अस्थिर और चञ्चल चित्तवृत्तिको पर्वतसे भी अधिक दृढ़ और समुद्रसे भी ज्यादा गम्भीर बना देनेवाला एकमात्र साधन है। योग सब शङ्काओंका समाधान कर देनेवाला प्रधान प्रकार है। योगीके समक्ष सब झगडे आप-से-आप मिट जाते हैं। विवाद (झगड़ा) दुराग्रह और वस्तुके असली स्वरूपके न जाननेसे होता है। योगी सब वस्तुओंके यथार्थ स्वरूपको देख लेता है। हाथीके पाँव, सूँड़, पूँछ और पेट आदि अवयवको अन्धजन अवयवी (हाथी) कहकर लड़ सकते हैं, पर जो इनके संयोगको जानता है उसका झगड़ा आप-से-आप मिटा पड़ा है। सब मत-मतान्तरोंके विवाद उस समय आप-से-आप मिट जायँगे जब वे योगमहिमासे धर्मके असली स्वरूपको देख या पहचान जायँगे, जब योगके दीपकसे धर्मका सम्पूर्ण रहस्य हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष हो जायगा। योग प्रकृति-पुरुषके भेदको प्रत्यक्ष दिखाकर मायाके सारे बन्धनोंको तोड़कर जीव या पुरुषको उससे मुक्त कर देता है। वस्तुतः योगका प्रधान उद्देश्य ही यह है कि वह प्रत्येक वस्तुके स्वरूपको प्रत्यक्ष कर दे।

बृहदारण्यकादि उपनिषदोंमें आत्माके साक्षात्कार करनेका उपाय योग बताया गया है—

आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।

हे मैत्रेयि! आत्मा देखने, सुनने, मनन करने और निदिध्यासन करने योग्य है। यहाँ निदिध्यासनका अर्थ ध्यान है, और ध्यानको ही समाधि कहते हैं। समाधि (योग) से चित्तवृत्तिका निरोध हो जाता है, जिसका चित्त स्थिर है, जिसका मन चञ्चल नहीं है, वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म गहनातिगहन विषयोंको बड़ी आसानीसे समझ लेता है। हमारे साथ नदिया-शान्तिपुरमें एक आचारी छात्र न्याय पढ़ता था, उसे बहुत समझानेपर भी मोटी-सी बात भी नहीं समझमें आती थी। उसने एक सन्यासी महात्मासे तीन वर्षमें कुछ योगका अभ्यास कर लिया, इतनेहीसे उसकी बुद्धि इतनी निर्मल हो गयी कि वह तीन वर्षकी पढाई तीन मासमें पढ गया। गीता-प्रचार करते-करते जब मेरा शरीर श्रान्त हो जाता है या जब मुझे कोई सामयिक सार्वजनिकलाभविषयक प्रश्न हल करना होता है तब मैं अपनी आदतके अनुसार कुछ दिनोंके लिये एकान्तवास करने हिमालयपर्वतपर कैलास आदि स्थानोंकी ओर चला जाता हूँ। वहाँ मैंने कई बार योगकी अद्भुत शक्तिका चमत्कार स्वयं अपनी आँखों देखा है। एक महात्मा बहुत दिनोंसे पहाड़ोंमें रहनेके कारण यह भी नहीं जानते थे कि अखबार क्या चीज होती है, पर मैंने समाचारपत्र पढ़कर जो बातें उनको सुनानी चाही, उसके आगेकी बात उन्होंने स्वयं कह दी। एक साधुको रात-दिन बरफकी चट्टानपर ऐसे सोते देखा मानो वे शय्यापर सो रहे हों। तिब्बतके इस तरफ टिङ्करीनूर (आकाश-सरोवर) के तटस्थ जंगली प्रदेशमें बहुत कालसे रहनेवाले एक महात्माको बहुत दिनोंतक निराहार रहनेकी सामर्थ्य थी। पूछनेपर मालूम हुआ कि वे योगद्वारा ब्रह्मरन्ध्रसे स्राव होनेवाले अमृतबिन्दुसे हमेशा तृप्त रहते थे। इससे उनकी शारीरिक सम्पत्ति बहुत ही सुन्दर और सुडौल हो गयी थी। मैंने कई गृहस्थ भोटियोंको दीर्घायु और सदा आरोग्य रहते देखा है। पूछनेपर मालूम हुआ कि वे लामा साधुओंकी कृपासे कुछ योगाभ्यासकी विधि जान गये हैं। कई उनमें आसनदृढ़ (बहुत कालतक एक जगहसे न हिलना-डुलना) और कई गुडाकेश थे। ये चमत्कार तो क्या चीज हैं, अणिमादि अष्टसिद्धि और नव निधियाँ भी योगके साधारणतम करिश्मे हैं। योगका प्रधान प्रयोजन तो अन्तःकरणकी शुद्धिपूर्वक ज्ञानानन्तर मोक्षकी प्राप्ति है। सिद्धि-निधि तो नान्तरीयकतया आप-से-आप आ उपस्थित होती हैं।

मैंने उत्तराखण्डके पर्वतोंमें विचरते हुए एक दिन इन प्रश्नोंपर विचार करना आरम्भ किया कि एक सम्प्रदायके लोग दूसरे सम्प्रदायपर क्यों आक्रमण किया करते हैं? मनुष्य मनुष्यके खूनका प्यासा क्यों है? सबके लिये समान भागसे दी हुई ईश्वरकी भू, जल आदि विभूतियोंपर केवल अपना अधिकार करके, दूसरोंको उससे प्राप्त होनेवाले लाभसे वञ्चित और अपने-आपको

लाभान्वित करके मनुष्य क्यों अनधिकार चेष्टा किया करता है? इत्यादि अनेक प्रश्नोंका उत्तर मुझे एक यही मालूम पड़ा कि मनुष्यके वस्तुस्थिति न जाननेके कारण (पदार्थोंके असली स्वरूपको न जाननेके कारण) ही ये सब बखेड़े खड़े होते हैं और उनके सही स्वरूपका प्रत्यक्ष करा देनेवाला एकमात्र योग है। राजा-प्रजा, छोटे-बडे, नीच-ऊँचके बीचका विवाद उस दिन काफूर हो जायगा जब योग सबकी आँखे खोल देगा। नहीं तो संसार पाँव, पेट आदि अवयवोंको हाथी बताकर लड़नेवाले अन्धोंकी तरह पारस्परिक झूठे विवादके कारण कभी शान्ति नहीं पा सकेगा।

लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं
वर्णप्रसादः स्वरसौष्ठवं च।
गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पं
योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति॥
न तस्य रोगो न जरा न दुःखं
प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्।

इसमें योगका फल बताया गया है। आलस्य मनुष्यको कुछ करने नहीं देता, और योग आलस्यका परम विरोधी है। योगसे शरीर हलका हो जाता है, नीरोग रहता है, विषय-वासनाकी लालसा जाती रहती है, कान्ति बढ जाती है, स्वरमें माधुर्य आ जाता है, गन्ध अच्छी आने लगती है, मल-मूत्र कम होने लगता है-यह योगकी पहली सीढ़ी है। उसे न रोग होता है, न बुढ़ापा आता है, न कोई कष्ट होता है, जिसने योगाग्निमय देदीप्यमान शरीर पा लिया।

पर विना अधिकारी हुए किसीको कोई वस्तु मिल नहीं सकती। योगका अधिकारी वह हो सकता है जिसकी आत्मामे परलोक, शुभाशुभ कर्मोंके अनुष्ठान, वेद और आचार्यमें श्रद्धा हो। जो महात्माओंका सत्सङ्ग अन्य काम छोड़कर भी करनेकी इच्छा रखता हो, योगका नाम सुनते ही जिसके रोमाञ्च हो जाते हों और आँखोंसे प्रेमाश्रुओंकी झड़ी लग जाती हो, जिसने पूर्व जन्म या इसी जन्ममे कोई शुभ कर्म किया होगा वही इसका अनुरागी हो सकता है।

क्लिष्ट और अक्लिष्टभेदसे प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति, ये चित्तकी पाँच वृत्तियाँ हैं। 'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः'-अभ्यास और वैराग्यसे उनका निरोध होता है। 'तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः' इस सूत्रमें बल और उत्साहपूर्वक ईश्वरमें चित्तकी वृत्ति सम्पादन करनेका नाम अभ्यास बताया गया है। योगभाष्यके अनुसार यों समझना चाहिये कि चित्त एक नदी है। इसमें वृत्तियोंका प्रवाह सदा बहता रहता है। इसकी दो धाराएँ हैं—एक विषयोंके मार्गमें बहती हुई ससारसागरमे जा मिलती है, और दूसरी विवेकके मार्गमें बहती हुई कल्याणसागरमें जा मिलती है। पहलीका पता तो जन्मके साथ ही मिल जाता है, पर दूसरी धाराका पता शास्त्र और आचार्य बताते हैं। जब एक नदीकी दो धारा होकर दोनों तरफ बहती है, यदि एक तरफकी धारा बाँध बाँधकर रोक दी जायगी तो स्वाभाविक ही दूसरी धारा तीव्र होकर बहने लगेगी। यह बात हरिद्वार-ब्रह्मकुण्डके तटपर बैठकर उस पारके नील पर्वतके नीचेवाले नहर विभागके उन फाटकोंको देखनेपर अच्छी तरह समझमे आ सकती है जिनके खोल देनेसे ब्रह्मकुण्डकी धाराका सारा पानी पर्वतकी तरफ बहने लगता है और बन्द कर देनेसे सब जल बड़ी भारी धाराके रूपमे ब्रह्मकुण्डकी ओर प्रवाहित होने लगता है। इसी प्रकार जब विषयोंके स्रोतपर वैराग्यका बाँध बाँधकर अभ्यासकी सहायतासे सारे प्रवाहको विवेकके स्रोतमे डाल दिया जाता है, तब बड़े वेगसे सारी धारा कल्याणके सागरमे जा गिरती है और उससे आगे बढकर निरोधके सागरमे लीन हो जाती है। मन अत्यन्त चञ्चल है, अभ्यास और वैराग्य दोनों मिलकर मनको साध लेते हैं। 'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते'-इस गीतावचनमे मनके निरोधका कारण अभ्यास और वैराग्यको ही बताया गया है।

ससारमें जो कार्य सिद्ध हो जाते है वे इष्ट और जो विफल हो जायँ वे अनिष्ट माने जाते हे। पर योगके लिये यह बात नहीं है। 'शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते', 'अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्' इत्यादि भगवद्-वाक्योंके अनुसार योगीको एक बार विफलता होनेपर भी फिर उस मार्गमें आनेका अवसर मिल जाता है।

योगी लोग 'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः'-ईश्वरका ऐसा स्वरूप मानते है कि वह क्लेश, कर्म, उसके फल और वासनाओंसे नहीं छुआ गया है और उसका प्रणिधान करनेके लिये 'तस्य वाचकः प्रणवः' इस योगसूत्रमे 'ॐ' यह (परमात्माका) सबसे बड़ा नाम बताया गया है, 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' इस सूत्रमें उसका प्रणिधान (उपासना) बताया गया है। नामसे नामीके गुण, शक्ति, स्वभावादिविषयक जिज्ञासाका स्फुरण होना

स्वाभाविक है। रामायण, महाभारतादिकी कथामें राम, कृष्ण आदिके नाम सुननेसे श्रोताको उनके गुण, स्वभावादिके विषयमें जिज्ञासा पैदा होनी उचित ही है। 'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्'—जिसमें चित्तकी वृत्ति लगी है उसीमें लगी रहे, उसका नाम ध्यान है। उसीको समाधि कहते हैं। बात यह है कि जब एकान्तताकालमें ध्याता, ध्यान, ध्येय—ये तीनों भासते हैं तब वह ध्यान कहलाता है। जब ध्यानकी प्रबलतासे ध्येयके अतिरिक्त (विशेषरूपसे) कुछ भी नहीं भासता, उस अवस्थामें वह ध्यान समाधि कहाने लगता है। इस समाधिके किलेमें बैठकर यह नश्वर मनुष्य-जीवन कालबलिसे लड़कर विजयी बन जाता है।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ।
परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखे हतः॥

—इस अभिजनोक्तिके अनुसार जब चाहता है तभी योगी सूर्यमण्डलमेंसे होकर यथेष्ट प्रदेशमें चला जाता है।

उपादानकारणभूत रजोवीर्य-जैसी गन्दी चीजसे इस शरीरकी उत्पत्तिका होना आश्चर्यमें डाल देता है। यदि शरीर और प्राणका वियोग हो जाय तो चाहे जितने वारण्ट कटा दिये जायँ, चाहे जितने वर्षों खोजा जाय, पर इसका कहीं पता न लगेगा। जिस शरीरके तैयार होनेमें इतना कष्ट और समय लगाना पड़ा, उसके बिगड़ते क्षण-मात्र भी नहीं लगता। जो आपाततः साफ-सुथरा प्रतीत होता है, जिसके साथ बैठना, सोना, खाना, पीना बहुत अच्छा लगता है, यदि उस शरीरसे चेचकके व्रणोंके कारण पीब बहने लगे, या विसूचिका-रोगसे निरन्तर वह मल-मूत्र त्यागने लगे तो उसके प्रेमी ही उससे घृणा करने लगेंगे। परन्तु धन्य है उन उद्यमशील ऋषि-मुनि महापुरुषोंको कि जिन्होंने ऐसे अनित्य और मलसार शरीरमें ऐसी विद्या प्रकट कर दी है कि जिसकी सहायतासे मनुष्य इस लोक और परलोकमें भी अधिक-से अधिक सुखोपभोग कर सकता है। प्रकृतिके प्रतिकूल आघात-प्रत्याघातको भी सहन करनेयोग्य हो जाता है। वस्तुतः मनुष्य जबतक शरीरके भीतरके पदार्थ नहीं जान सकता तबतक बाहरके पदार्थ क्या जानेगा। मनुष्यके शरीरके भीतर अन्तःकरणचतुष्टयके अन्तर्गत मन एक ऐसा विघ्नकारक है कि मनुष्यको मझारी झझटोंमें फँसाकर इहलौकिक और पारलौकिक सुखोंसे वञ्चित कर देता है। धर्म और मोक्षका चिन्तन नहीं करने देता। अर्थ और कामके चक्करमें डाले रहता है। इस उपद्रवको दूर करनेके लिये महापुरुषोंने योगका प्रकार बताया है, योगी मनको ऐसे वशमें कर लेता है जैसे अच्छा सारथी घोड़ोंको। आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक दुःखोंकी निवृत्तिका कारण मोक्ष है। इस अक्षय सुखकी प्राप्तिका साधन मन और इन्द्रियोंका निग्रह है। मनोनिग्रह योगके बिना हो नहीं सकता। जैसे अग्निमें तपा देनेसे धातुओंके सब मल नष्ट हो जाते हैं वैसे ही योगाभ्याससे मनुष्यके मलविक्षेप और आवरण-दोष छूटकर अन्तःकरणशुद्धिद्वारा आत्मज्ञानसे उसकी मुक्ति हो जाती है।

साधारण-से-साधारण काममें भी चित्तवृत्तिका निरोध किये बिना काम नहीं चलता। बिना चित्तके एकाग्र किये स्त्रियाँ अपने सिरपर कई घड़े कैसे उठा सकती हैं? ऐसे ही नटका निराश्रय तारपर चलना तथा जिमनास्टिकके बड़े-बड़े कुतूहलजनक खेल चित्तवृत्तिके निरोधके फल हैं। मन लगाकर किया हुआ कोई भी काम अवश्य सफल होता है।

योग बहुत-सी चीजोंके एकत्रीकरणका भी नाम है। ऐसा होनेपर भी यह कहना पड़ेगा कि संसारमें कोई भी काम बिना योग (मेल) के हो ही नहीं सकता। कलियुगमें तो योग (संघशक्ति) का बड़ा महत्त्व है—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद् योगी भवार्जुन॥

—इस वाक्यमें भगवान् योगको सबसे अधिक महत्त्व देते हुए सबके लिये आवश्यक बता रहे हैं।

योगके विषयमें बुद्धिमानोंने अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। किन्तु जिज्ञासुओंको ग्रन्थकृपाकी अपेक्षा गुरुकृपा अधिक आवश्यक है। हमने कई सज्जन ऐसे देखे हैं कि जिन्होंने किसीके साधारण इशारेपर या कोई ग्रन्थ देखकर योगाभ्यासकी सदिच्छासे प्रेरित हो क्रिया करना आरम्भ कर दिया, फल यह हुआ कि जन्मभरके लिये रोगी हो गये। ग्रन्थ सहायक हो सकते हैं, पर कार्यसिद्धि गुरुकृपापर ही निर्भर है, लगन सच्ची चाहिये, फिर तो सद्गुरु मिलना दुर्लभ होनेपर भी अलभ्य नहीं है। जो जितना ऊँचा काम होगा, अन्तराय भी उसमें उतना ही प्रबल होगा। घण्टेमें सैकड़ों मीलकी दौड़ लगानेवाला व्योमयान (हवाई-जहाज) यदि बिगड़कर नीचे गिर पड़े तो उसके सवारोंकी एक हड्डी भी खोजे न मिलेगी। ऊँचे-से-ऊँचे ध्येयतक पहुँचानेमें समर्थ नियमपूर्वक किया जानेवाला योगमार्ग जैसा निष्कण्टक है वैसा ही वह विधिहीन किया हुआ

खतरनाक भी है। भय किसमें नहीं है, किन्तु भयके कारणको दूर करते हुए उद्योग करना चाहिये।

यह नियम नहीं है कि संन्यासी ही योगाभ्यास कर सकता है, या वह विना पहाड़ोंकी कन्दरोंमें गये योग हो ही नहीं सकता। काश्मीरके पहलगाँव नामक स्थानमें एक ब्राह्मण, जिसके स्त्री-पुत्र, पुत्रवधू साथ थी वह बहुत-से लोगोंको योगाभ्यासकी शिक्षा देता था। और उसकी स्त्री शिक्षार्थियोंकी क्रियामें सहायता पहुँचाती देखी गयी है। एक दिन योगी ब्राह्मण घरपर नहीं थे। क्रिया करते हुए एक अभ्यासीके गलेमें धोती अटक गयी। उस समय उस ब्राह्मणीने गरम पानीकी सहायतासे अनायास धोती निकाल दी। वह ब्राह्मण सफलतापूर्वक शिक्षा दे रहा था। हाँ, यह अवश्य है कि विरक्त महात्मा इसको अनायास थोड़े समयमें ही सम्पादन कर सकते हैं, क्योंकि उनकी अवस्था और एकान्त स्थान इनकी शीघ्र सिद्धिमें सहायक हो जाते हैं। वे इसके द्वारा बहुत ऊँची स्थितिमें पहुँच सकते हैं। योग सबके लिये शक्य और आवश्यक है, क्योंकि युक्त-युञ्जानभेदसे योगीके लिये सब कुछ जान लेना कठिन नहीं है।

हम तो बार-बार यही कहेंगे कि सब धर्मोंका तभी समन्वय होगा जब लोग योगसे असलियत समझनेमें समर्थ होंगे। योगियोंके आश्रममें सिंह-मृग, बाघ-बकरी, श्येन-वर्तिका, बिड़ाल-मूषक, अहि-नकुल आदि जीवोंका शाश्वतिक विरोध जाता रहता है। तब फिर मनुष्य तो विवेकी है, समझदार है, उसका पारस्परिक प्रेम होना कौन कठिन बात है। सब शान्ति चाहते हैं, सब सुख चाहते हैं और यह सब कुछ योगद्वारा सुलभ है। सब बल सङ्घर्षके कारण हैं, एक बली दूसरेसे उलझ बैठता है; पर योगबल सब बल और बलियों-का सम्मेलन करा देगा। अतः योगबल ही सब कुछ है। मनुष्य यदि योगबल सम्पादन कर ले तो आज रामराज्यके सुखानुभव करनेका सौभाग्य सबको अनायास प्राप्त हो सकता है।

भक्तिके दो रूप-रागानुगा और वैधी

(लेखक—डा० श्रीप्रभातचन्द्र चक्रवर्ती, एम० ए०, पी० आर० एस०, पी-एच० डी०)

रागानुगा और वैधी, इन दो प्रकारकी भक्तियोंका भेद बतलानेके पूर्व हमारा इस लेखके प्रारम्भमें भक्तिका संक्षिप्त विवेचन करनेका विचार है। सबसे पहली बात तो इस सम्बन्धमें यह कहनी है कि अनेक धर्मोंकी जन्मदात्री हमारी इस जगत्प्रसिद्ध भारतभूमिमें भक्तिमार्ग-का प्रचार अत्यन्त प्राचीन कालसे है। जगत्में जो सबसे महान् और सर्वोपरि तत्त्व है उसके प्रति श्रद्धा और भक्ति-के नैसर्गिकभावसे अथवा यों कहें कि देवताओंके अच्छे-पनमें विश्वाससे, जगत्के आदिम निवासियोंमें यज्ञ और कर्मकाण्डके अनुष्ठानका प्रारम्भ हुआ, ऐसा माना जाता है। धार्मिक उपासना और ईश्वरके साथ सम्बन्ध जोड़नेके जितने प्रकार हैं उन सबका मूल हमारी भक्तिभावना ही है। साधनाके पवित्र मार्गमें भक्तिका स्थान अद्वितीय है। सभी भगवत्कामी पुरुषों, सभी योगियों और सभी भक्तोंके लिये भक्तिका साधन आवश्यक है। भक्तिके विना कोई भी ब्रह्मविद्याके उच्च आसनपर बैठने और उसके द्वारा परमात्माका दिव्य ज्ञान प्राप्त करनेकी आशा नहीं कर सकता।

> यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
> तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥
>
> (श्वेताश्व० ६।२३)

'जिसकी परमात्मामें उत्तम भक्ति है और परमात्माके समान ही अपने गुरुमें भक्ति है उस महात्माको ऊपर कहे हुए सभी पदार्थ स्पष्ट हो जाते हैं।'

भारतवर्षमें अति प्राचीन कालसे आध्यात्मिक साधना-के भक्ति, ज्ञान और कर्म इन तीन भिन्न-भिन्न मार्गोंका प्रचार चला आया है। हम लोग सभी इस बातको सामान्यरूपसे जानते हैं कि भक्ति बीजरूपसे मनुष्यके हृदयमें रहती ही है। यह एक पवित्र भाव है जो हृदयके भीतरसे निकलता है, परमात्माके अधिकाधिक स्मरणसे पुष्ट होता है और अन्तमें पूर्ण आत्मनिवेदनमें परिणत हो जाता है।

तब प्रश्न यह होता है कि भक्ति क्या वस्तु है। इसके लिये सर्वप्रथम हमें उन ग्रन्थोंके पन्ने उलटने होंगे जो

केवल भक्तिका प्रतिपादन करते हैं । भक्तिमीमांसामें ईश्वरके प्रति परम अनुरागको भक्ति कहा है—

सा परानुरक्तिरीश्वरे । (शाण्डिल्यसूत्र)

यहाँ अनुरागका अर्थ है परमात्मा अथवा अपने इष्टदेवमें कामनाशून्य आसक्ति । भक्ति जब पराकाष्ठाको पहुँच जाती है तब भक्तका मन परमात्मामें सर्वथा लीन होकर अद्वैतभावको प्राप्त हो जाता है, उसका अहङ्कार सर्वथा नष्ट हो जाता है । अतः भक्ति एक सर्वथा दिव्य भाव है और उसमें आनन्दका एक अजस्र प्रवाह बहता रहता है । हमारा अपने पुत्रकलत्रादिमें जो प्रेम है उसको भी लौकिक भाषामें अनुराग ही कहते हैं, परन्तु वह अनुराग इतना अधिक स्वार्थपूर्ण एवं लौकिक है कि उसमें भक्तिका कोई भी उदात्त लक्षण नहीं देखनेमें आता । अर्थात् लौकिक प्रेम स्वार्थबुद्धिसे कलुषित रहता है और उस माधुर्यसे सर्वथा शून्य होता है जिसके कारण भक्ति इतनी प्रिय मालूम होती है । प्रेम अथवा अनुरागकी भक्ति-संज्ञा तभी होती है जब वह हमारे जीवनके सर्वस्व एवं चरम लक्ष्य भगवान्‌की ओर मुड़कर धन्य हो जाता है । ऊपर उद्धृत किये हुए सूत्रसे यह बात सुतरां स्पष्ट हो जाती है कि भगवान्‌को परम प्रेमास्पद एवं श्रद्धास्पद मानना ही भक्तिका स्वरूप है ।

देवर्षि नारदने ईश्वरके प्रति परम प्रेमको ही भक्तिका लक्षण बताया है—

सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा । (ना० सू० २)

उक्त दोनों सूत्रकारोंने प्रेमकी प्रगाढ़ताको ही भक्तिका मुख्य लक्षण बताया है और उसीपर विशेष जोर दिया है, जिससे यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि दोनोंका इस विषयमें एक मत है । नारदने अनुरागके स्थानपर 'प्रेम' शब्दका व्यवहार करके अप्रकटरूपसे यह संकेत किया है कि भक्ति अन्तमें जाकर किस श्रेणीतक पहुँच सकती है । भक्तिरसामृतसिन्धुमें भक्तिके विकासका जो क्रम बताया गया है, यह शब्द उसके अनुकूल ही है । उक्त ग्रन्थमें रूप गोस्वामीने भक्तिका विवेचन करते हुए बड़े सुन्दर ढंग-से यह बताया है कि श्रद्धाके विकासकी कितनी श्रेणियाँ हैं और बढ़ते-बढ़ते अन्तमें जाकर वह किस प्रकार प्रेमके रूपमें परिणत हो जाती है । ईश्वरमें अटल विश्वास भक्ति-का प्रथम सोपान है । जहाँ विश्वास नहीं वहाँ भक्ति कहाँ ? ज्ञानके सम्बन्धमें भी यही बात है । ज्ञानपिपासुओंका भी श्रद्धाके बिना काम नहीं चलता—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः । (गीता ४ । ३९)

भक्तिके विकासके पूर्व श्रद्धाकी आवश्यकता है अथवा भक्तिके साथ श्रद्धाका होना अनिवार्य है, इस बातको गीतामें बार-बार कहा गया है । उदाहरणके लिये देखिये—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥

अर्थात् जो नित्ययुक्त पुरुष मेरे अन्दर मनको आवेशितकर परम श्रद्धाके साथ मेरी उपासना करते हैं वे ही मेरे मतमें युक्ततम योगी हैं ।

रूप गोस्वामीने अपने उक्त ग्रन्थमें भक्तिका जो लक्षण बताया है वह भी ध्यान देनेयोग्य है, यद्यपि प्रत्यक्ष ही उसमें थोड़ी-बहुत साम्प्रदायिकता अवश्य है । वे कृष्ण-भक्तिको ही सर्वोत्तम भक्ति बतलाते हैं और उसे ज्ञान और कर्मसे सर्वथा शून्य कहते हैं—

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम् ।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा ॥

अर्थात् अन्य किसी वस्तुकी कामना न रखते हुए, ज्ञान-कर्मादिके आवरणको हटाकर श्रीकृष्णरूप परमात्माके सर्वथा अनुकूल होकर उन्हींका निरन्तर चिन्तन करना ही श्रेष्ठ भक्ति है ।

भक्तिरसायन नामक ग्रन्थके रचयिता अद्वैतशिरोमणि आचार्य श्रीमधुसूदन सरस्वतीने अपने उक्त ग्रन्थमें भक्ति-का बिल्कुल दार्शनिक ढंगसे विवेचन किया है । अद्वैत-सिद्धि नामक अद्वैतवेदान्त अथवा शाङ्करवेदान्तका प्रसिद्ध ग्रन्थ भी इन्हीं महानुभावका लिखा हुआ है । यह कम आश्चर्यकी बात नहीं है कि मधुसूदन सरस्वती-जैसे कट्टर अद्वैतवादीने अपने असाधारण बुद्धि-बलके द्वारा भक्तिको जीवनका परमपुरुषार्थ सिद्ध किया है और ज्ञानकी अपेक्षा श्रेष्ठ बतलाया है । उक्त दार्शनिकशिरोमणिके मतमें भक्ति मनकी एक विशेष वृत्ति है जिसमें मन रागजन्य आनन्दा-तिरेकसे द्रवीभूत होकर भगवदाकार बन जाता है—

द्रवीभावपूर्विका हि मनसो भगवदाकारता सविकल्पक-वृत्तिरूपा भक्तिः ।

उन्होंने भक्तिका लक्षण इस प्रकार किया है—

द्रुतस्य भगवद्धर्माद्धारावाहिकतां गता ।
सर्वेशे मनसो वृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते ॥

'भगवद्भावसे द्रवीभूत हुए चित्तकी चराचरनायक भगवान्‌के अन्दर धारावाहिक रूपको प्राप्त हुई वृत्तिको ही भक्ति कहते हैं।'

कहते हैं, भक्ति तभी उत्पन्न होती है जब मनको भगवान्‌में निरन्तर लगे रहनेका अभ्यास हो जाता है। इस प्रकार भक्ति चित्तका एक अजस्र एवं अविच्छिन्न प्रवाह है, एक पवित्र धारा है जो सर्वदा आनन्दार्णवकी ओर बहती रहती है। श्रीमद्भागवतमें भक्तिके इस अजस्र प्रवाहको त्रैलोक्यपावनी मन्दाकिनीकी उपमा दी गयी है। भगवान् वेदव्यास अपनी समाधिभाषामें कहते हैं—

मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ।
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्॥

अव्यावृत चिन्तन ही वह बीज है जिसमेंसे भक्तिका अङ्कुर उत्पन्न होता है।

आचार्य मधुसूदन सरस्वतीने यह भी बतलाया है कि भक्तका चित्त भक्तिके प्रभावसे किस प्रकार मृदु हो जाता है अथवा पिघल जाता है, वे कहते हैं कि तीव्र भक्ति-योग हृदयको कोमल बनाकर प्रसारित कर देता है। भक्ति वह जादूगरकी छड़ी है जो अपने विलक्षण स्पर्शसे सारे काठिन्यको दूर कर देती है, हृदयको दिव्य आनन्दके रसमें सराबोर कर देती है और क्रूरताको पिघल जानेवाली मृदुताके रूपमें परिणत कर देती है।

भक्तिविषयक सर्वमान्य ग्रन्थ श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीमद्भागवत हैं, पीछेसे भक्तिका प्रतिपादन करनेवाले जितने ग्रन्थ बने उन सबोंने अधिकांशमें इन्हीं दोनों ग्रन्थोंका आधार लिया है। गीताके एक अध्यायका तो नाम ही 'भक्तियोग' है, और वैसे यह सारा ग्रन्थ ही भक्तिके इस महान् आदर्शसे ओतप्रोत है। भगवद्भक्ति और भगवच्छरणागति ही गीताका मूलमन्त्र है। गीतामें यह खास तौरपर बतलाया गया है कि भगवान्‌की भक्ति करनेवालोंकी चार श्रेणियाँ हैं। उनमेंसे जो अपना सब कुछ भगवान्‌को दे डालते हैं वे उत्तम श्रेणीके भक्त माने गये हैं।

श्रीमद्भागवतमें भक्तिकी विस्तृत व्याख्या की गयी है। वहाँ भक्तिको मनकी एक स्वाभाविक वृत्ति बतलाया गया है जो किसी कारणविशेष अथवा पूर्वकल्पित हेतुसे उत्पन्न नहीं होती। श्रीकृष्णके प्रति अहैतुकी भक्तिको ही इस ग्रन्थमें सर्वश्रेष्ठ धर्म कहा गया है—

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति॥

'भगवान् नारायणके प्रति अहैतुकी एवं किसी प्रकार भी नहीं रुकनेवाली भक्ति, जिससे आत्मा सुप्रसन्न होता है,—यही मनुष्यमात्रका परमधर्म है।

श्रीमद्भागवतमें तो बराबर प्रेमलक्षणा भक्तिकी, खास-कर उस भक्तिकी जो वृन्दावनकी व्रजबालाओंमें प्रकट हुई थी, श्रेष्ठता सिद्ध करनेकी चेष्टा की गयी है। उन व्रजललनाओंका अनुराग इतना पवित्र एवं उत्कट था कि भगवान्‌ने उसके सामने स्वयं अपनी लघुता प्रकट की। श्रीभगवान्‌के शब्द हैं—

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां
स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।
या माभजन् दुर्जरगेहशृङ्खलाः
संवृश्च्य तद्वः प्रतियातु साधुना॥

'निर्मल प्रेमकी ध्वजास्वरूपिणी आप महानुभावाओंके उपकारसे मैं देवताओंकी आयुमें भी उऋण नहीं हो सकता, जो बड़ी कठिनतासे टूटनेवाले गृहस्थके पाशको तृणकी तरह तोड़कर मेरी शरणमें आयी हो, इस ऋणको तो आप ही दया करके माफ़ कर दें तो भले ही उससे मैं मुक्त हो जाऊँ, अन्यथा उससे छूटनेका कोई उपाय नहीं है।'

यहाँ डंकेकी चोट प्रेमकी विजय हुई। इस प्रकारका अलौकिक प्रेम मानवीय ज्ञानके बाहरकी वस्तु है।

आचार्य रामानुजके श्रीभाष्यको देखनेसे मालूम होता है कि वे वैधी भक्तिके उपासक थे। वे प्रख्यात वेदान्ती होनेपर भी भक्तिके प्रबल पक्षपाती थे। उनके मतमें भक्ति ज्ञानका श्रेष्ठ अंग है।

भक्तिशास्त्रमें प्रेम और भक्ति समानार्थक शब्द हैं। जिस वस्तुमें हमारी भक्ति होती है वही हमारे प्रेमकी वस्तु होती है। विष्णुपुराणके निम्नलिखित श्लोकमें भक्तिके स्थानमें 'प्रीति' शब्दका व्यवहार किया गया है—

या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु॥

'अविवेकी पुरुषोंकी विषयोंमें जैसी निश्चल प्रीति होती है, तुम्हें स्मरण करते हुए मेरी वैसी ही प्रीति तुम्हारे अन्दर सदा बनी रहे; क्षणमात्रके लिये भी हटे नहीं।'

ऐसा माना जाता है कि बिना अनुरागके ऐसी भक्ति नहीं हो सकती और बिना प्रेमके आत्मानन्दकी उपलब्धि नहीं हो सकती। भक्ति ही अन्ततोगत्वा प्रेमके रूपमें प्रकट होती है और जो लोग ज्ञान और कर्मको छोड़कर भक्तिका साधन करते हैं उनके लिये अभीष्टतम वस्तु यह प्रेम ही है। परमात्मविषयक परोक्षज्ञानसे अथवा पुण्यकर्मोंके अनुष्ठानसे यह अलभ्य वस्तु प्राप्त नहीं हो सकती। भक्तिका मार्ग इन सबकी अपेक्षा कहीं सुगम है और उससे भक्तका भगवान्के साथ निकटतम सम्बन्ध हो जाता है।

हमारे सामने बहुधा यह कठिन प्रश्न आता है—क्या ज्ञान और भक्ति परस्परविरोधी हैं? हमारा उत्तर है—नहीं। सच तो यह है कि दोनो परस्परसम्बद्ध हैं और एक दूसरेके सहायक हैं। यद्यपि ज्ञानको ही जन्ममृत्युके बन्धनसे छूटनेका साक्षात् कारण उद्घोषित किया गया है तथापि हमारी धारणा यह है कि भक्तिका ज्ञानके साथ कोई विरोध नहीं है। बल्कि कुछ लोग तो दोनोंको एक दूसरेके आश्रित मानते हैं (अन्योन्याश्रयत्वमित्यन्ये)। दोनोंका फल एक है। दोनोंमेंसे किसी भी मार्गका अनुसरण करनेसे शाश्वत आनन्दकी प्राप्ति होती है। भक्ति और ज्ञानके चरम फलके सम्बन्धमें भक्तिसूत्र और वेदान्तसूत्र दोनोंका एक मत है (देखिये—'तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात्' और 'तत्स्थस्यामृतत्वोपदेशात्')।

अब हम भक्तिके प्रकारोका कुछ वर्णन करेंगे। श्रीमद्भागवतमें नवधा भक्तिका निरूपण किया गया है। भक्तिके नौ भेद इस प्रकार है—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

सूक्ष्म विचार करनेसे इस नवधा भक्तिका आत्मनिवेदन नामक अन्तिम भक्तिमें ही अन्तर्भाव हो जाता है। तीव्र भक्तियोगके लिये यह आवश्यक है कि भक्त सर्वतोभावेन अपनेको भगवान्की दयापर छोड़ दे। सच्चा भक्त अनुरागकी गाढ़तामें अपने आपको सर्वथा खो बैठता है। किसी सांसारिक हेतुका आश्रय न लेकर भगवान्में जो प्रेम किया जाता है वही सबसे ऊँची भक्ति है। भगवान् विष्णुकी निष्काम आराधनामें यह सामर्थ्य है कि उसका साधन करनेवाला निर्वाणपदका अधिकारी हो जाता है—

प्राप्नोत्याराधिते विष्णौ निर्वाणमपि चोत्तमम्।
(विष्णुपुराण)

वैष्णवधर्मकी उत्तरकालीन शाखामें भक्तिके दो प्रकार देखनेमें आते हैं, रागानुगा और वैधी। वैधी भक्तिमें शास्त्रोक्त विधिका अक्षरशः पालन होता है और लौकिक आचारके अनुसार सारी क्रिया होती है, किन्तु रागानुगा भक्ति शास्त्रोक्त विधिके बन्धनमें जकड़ी हुई नहीं है। तीव्र अनुराग ही उसका स्वरूप है और उसमें किसी प्रकारके नियमोंका बन्धन नहीं है। रागानुगा भक्तिमें हृदय खोलकर रख दिया जाता है और इस प्रकारका आवरणशून्य हृदय नियमों और आचारोंके बन्धनको स्वीकार नहीं करता। इस कोटिका तीव्र अनुराग वृन्दावनकी सरलहृदया गोपबालाओंमें प्रकट हुआ था। जिसने अपने सारे कर्म और सारे सङ्कल्प भगवान्को अर्पण कर दिये उसके लिये इस बातकी आवश्यकता नहीं है कि वह मानवसमाजके नियमोंका अवश्य ही पालन करे। ध्रुव आदि भक्त वैधी भक्तिके अनुयायी थे। रागमार्गकी भक्तिका साधन बड़ा कठिन है। बहुत थोड़े भक्तोंको इस अत्यन्त विकट मार्गपर चलनेका अधिकार मिलता है। इस जन्ममें अथवा प्राक्तन जन्मोंमें महान् सुकृतोंका अर्जन किये बिना मनुष्य इस मार्गपर नहीं चल सकता। जिस प्रकारके तीव्र अनुरागसे प्रेरित होकर जयदेव और चण्डीदास-जैसे भक्तोंने भगवान्के प्रति अपने उद्दाम भावको चरितार्थ करनेके लिये इस मार्गका अवलम्बन किया था हम विषयविमोहित पामर जीव उसकी कल्पना भी नहीं कर सकते।

किन्तु प्रायः लोग ऐसा कहा करते हैं कि रागानुगा भक्तिकी सर्वोच्च साधना करनेवाली गोपिकाएँ बिल्कुल ज्ञानशून्य थीं, अर्थात् जिन भगवान् श्रीकृष्णमें वे अनुरक्त थीं उनके वास्तविक स्वरूपका ज्ञान उन्हें नहीं था। उनका भगवान्में विशुद्ध एव निश्छल प्रेम था, जिसमें नैतिक अथवा धार्मिक किसी प्रकारका कोई विचार नहीं था। कुछ अविवेकी लोग तो उनके विरुद्ध और भी निन्दनीय आक्षेप करते हैं।

ये सारे-के-सारे आक्षेप और अभियोग सर्वथा निःसार हैं। ये कदापि ठहर नहीं सकते। ब्रह्मके स्वरूपका ज्ञान न

होनेके कारण गोपियोंके अनुरागमें किसी प्रकारकी कमी नहीं आयी थी, वल्कि वह अनन्तगुना अधिक तीव्र हो गया था। प्रेमराज्यमें अनुरागकी गाढता ही मूल्यवती समझी जाती है, बुद्धिकी प्रबलता नहीं। प्रेमका स्वभाव ही यह है कि वह बुद्धिको भक्तिकी अपेक्षा गौण बना देता है। 'अतएव तदभावाद् वल्लवीनाम्'—इस सूत्रके द्वारा महर्षि शाण्डिल्यने यह स्पष्टरूपसे कह दिया कि वृन्दावनकी गोपललनाओंको ज्ञान न होनेपर भी वे कृतार्थ हो गयीं। वे भगवान्‌को कान्तरूपमें भजती थीं, उन्हींको अखिल आनन्द और सुखका स्रोत समझती थीं, वे श्रीकृष्णके सिवा अन्य किसी परब्रह्मको नहीं जानती थीं—

कृष्णं विदुः परं कान्तं न च ब्रह्मतया मुने।

योग
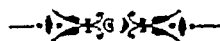
(लेखक—स्वामीजी श्रीअतुलानन्दजी)

आत्मत्राण अथवा जीवित रहनेकी इच्छा मनुष्यजातिका सर्वोपरि सिद्धान्त है; केवल मनुष्योंमें ही क्यों, यह जीवनसंघर्ष प्राणिमात्रमें पाया जाता है। सिंह-व्याघ्र, विल्ली, कुत्तों तथा अन्य जातिके पशुओं, पक्षियों, यहाँतक कि कीटपतङ्गादिकोंको भी नख, पजे, दाँत और सींग आदि रक्षा और आक्रमणके साधन प्राप्त हैं, जिनके द्वारा वे आत्मत्राण और जीवनरक्षा कर सकते हैं। वैज्ञानिक, समाजसेवक, देशभक्त, कवि, महात्मा और पापी, सभी अपने-अपने ढगसे और अधिकांशमें विना जाने ही इतिहासके पृष्ठोंमें अपना नाम छोड जानेका प्रयत्न करते रहते हैं, जिससे उनका जीवन अमर हो जाय और इस भौतिक शरीरके छूट जानेपर भी बना रहे। एक रोगी जो किसी भयानक यन्त्रणासे पीड़ित होकर आत्महत्या कर लेता है वह अपने आपको सर्वथा नष्ट करनेकी बुद्धिसे नहीं, अपितु इस भौतिक जीवनकी नारकी यन्त्रणाओं तथा क्लेशोंसे मुक्त होनेके लिये ही ऐसा करता है। योगियोंकी धारणा यह है कि यह अमर जीवन स्थूल शरीरकी क्रियाओं तथा चित्तकी वृत्तियोंके निरोधसे ही प्राप्त होता है।

योगियोंका यह कहना है कि मनके द्वारा ही वे सत्यका साक्षात्कार कर सकते हैं और इसीलिये वे आन्तर एवं बाह्य प्रकृतिपर जय प्राप्त करके सत्यके साक्षात्कारकी चेष्टा करते हैं। जिसे हम आधुनिक भाषामें धर्म (religion) कहते हैं वह अपरोक्षानुभवका ही फल है और नित्य, अनित्य सभी पदार्थोंमें है, किन्तु उसका स्वरूप कतिपय आदेशात्मक सिद्धान्तों एवं मतवादोंको मानना ही नहीं है। आधुनिक सभ्यताके पक्षपाती जड़वादकी मोहमयी मदिराको पीकर इतने मस्त हो गये हैं कि वे जीवनकी इस उन्मादरहित एव सुखमय दिशाको विल्कुल भूल गये हैं, यही नहीं, उन्हे धर्मके नामतकसे ऐसी चिढ़ हो गयी है कि जिस किसी वस्तुमें उन्हे धार्मिकताका लेश भी दिखायी देता है उसीकी वे निन्दा करने लगते हैं। उनका कथन यह है कि धर्म और अध्यात्मविद्याकी सारी चर्चा, नहीं-नहीं, सत्यकी उपलब्धि तथा अतीन्द्रिय एवं बाह्य ज्ञानसे ऊपर उठी हुई अवस्थाको प्राप्त करनेके सारे यत्न व्यर्थ एवं अकिञ्चित्कर हैं। अतएव जगत्‌के भिन्न-भिन्न भागोंमें सुधारकों तथा धार्मिक क्षेत्रके कार्यकर्ताओंद्वारा जितनी दौड़-धूप और प्रचारकार्य होता है उसका एकमात्र उद्देश्य है अर्धसभ्य और वर्वर जातियोंको अपने ही जैसे साधु, सच्चरित्र और सौम्य नागरिक बनाना। आधुनिक जड़वादियोंकी दलीलें भ्रान्त एव भूलसे भरी हैं; क्योंकि वे मिथ्या आधारपर टिकी हुई हैं और उनके मूलमें ही उदारता एव दूरदर्शिताका अभाव है। सत्यकी खोज करनेवाले उनकी युक्तियोंको बालिशतापूर्ण कहकर उनका इन शब्दोंमें खण्डन करते हैं—'प्रकृति सर्वत्र समान है। जो बात एक बार हो चुकी है वह उसी प्रकारकी परिस्थिति प्राप्त होनेपर दुबारा उसी रूपमें होनी चाहिये और इस प्रकार हममेंसे प्रत्येक व्यक्ति उसी प्रकारका अनुभव और साक्षात्कार प्राप्त कर सकता है जैसा भगवान् बुद्ध, प्रभु ईसामसीह आदि महापुरुषोंने अपने-अपने जीवनमें प्राप्त किया था। अवश्य ही हमारे विचार उतने ही दृढ, हमारी लालसा उतनी ही तीव्र और हमारी लगन उतनी ही सच्ची होनी चाहिये।'

तर्क और अनुभवके सम्बन्धमें बहुत-सा भ्रम फैला हुआ है और देखनेमें विरोध भी मालूम होता है। दार्शनिक योगीके समीप आकर उससे प्रश्न करता है, 'मैं किसी वस्तुमें किसी खास प्रकारसे विश्वास या उसका

अनुभव कर सकता हूँ, परन्तु मेरा अनुभव सत्य ही होगा, इसमें क्या प्रमाण है?' इसका उत्तर योगी इस प्रकार देता है—सहज ज्ञान, तर्क और अन्तर्दृष्टि या अतीन्द्रिय ज्ञान, ये चित्तकी भिन्न-भिन्न आनुपूर्विक अवस्थाएँ हैं। इनमेंसे एक-एक उत्तरोत्तरका हेतु है—सहज ज्ञान आगे चढकर तर्क अथवा विवेचनात्मक बुद्धिके रूपमें परिणत हो जाता है और तर्क-बुद्धिका विकास होते-होते वह अलौकिक ज्ञानका रूप धारण कर लेती है। अन्तर्दृष्टि अथवा ईश्वरप्रेरित ज्ञान तर्कका विरोधी नहीं होता, बल्कि उसकी पूर्ति करता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक युक्तिका आधार प्राक्तन अनुभव ही होता है। परन्तु शोक! आज हमलोगोंकी बुद्धिमें कितना विपर्यास हो गया है! भगवान् बुद्ध आदि जगत्को हिला देनेवाली महान् आत्माओंके भिन्न-भिन्न अनुभव, चाहे वे देखनेमें कितने ही विसदृश एवं विमवादी हों, एक ही सत्यकी भिन्न-भिन्न उपलब्धियाँ हैं, जिस प्रकार एक ही सूर्यको भिन्न-भिन्न रंगके चश्मेसे देखनेसे वह भिन्न-भिन्न रंगका दीख पड़ता है।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि दैवी प्रकृतिसे सम्पन्न होनेपर भी तथा हजार प्रयत्न करनेपर भी साधकको बार-बार असफलता क्यों होती है। मनोविज्ञानके अध्ययनसे हमारे जीवनकी एक खास बात हमारे ध्यानमें आती है। वह यह है कि विषयसुख ही हमें भ्रम, अज्ञान और दुःखके गर्तमें गिराता है और हमें जीवनके लक्ष्यके समीप न ले जाकर उलटे हमारी उन्नतिके मार्गमें बाधा डालता है। अतः पवित्रता धार्मिक एवं आध्यात्मिक जीवनकी पहली सीढी ही नहीं, अपितु उसका आवश्यक अङ्ग है। शुचिताहीन धार्मिक जीवन धार्मिक जीवन ही नहीं है, अपितु उसका विरोधी है। इसीलिये प्रभु ईसा-मसीहने कहा है—'जिनका हृदय निर्मल हो चुका है वे पुरुष धन्य हैं, क्योंकि परमेश्वरका साक्षात्कार उन्हींको होगा।'* भगवान् श्रीकृष्ण भी गीतामें कहते हैं—'इन्द्रिय और विषयके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले विषयसुख दुःख-को ही उत्पन्न करते हैं और आदि-अन्तवाले हैं, हे कौन्तेय! विवेकी पुरुष उनमें रमण नहीं करता।'†

'बाह्य संयोगोंमें अनासक्त चित्तवाला वह पुरुष आत्मसुखका लाभ करता है और ब्रह्मके योगमें चित्तको लगाकर अक्षय सुखका उपभोग करता है।'‡

अतः साधकके लिये आवश्यक है कि वह जगत्में रमे हुए चित्तको शुद्ध करे और वह चित्तशुद्धि पहले (निष्काम) कर्मसे और पीछे कर्मसंन्याससे होती है। गीतावक्ता भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

'एकाग्रताके साधनरूप चित्तशुद्धिकी इच्छा करनेवाले मननशील व्यक्तिके लिये (निष्काम) कर्मको ही साधनरूप कहा गया है। और इस प्रकार चित्तके एकाग्र हो जानेपर उस मुनिके लिये अकर्म ही साधन है।'§ इस प्रकार जब शरीर और मनके सारे मल धुल जाते हैं, खासकर जब इच्छाओं और संवेगोंसे उत्पन्न होनेवाले कर्मबीजोंसे मन वियुक्त हो जाता है, तब साधक पूर्ण एकाग्रताको प्राप्त होता है, जिससे अन्तमें निर्वाण अथवा समाधिकी प्राप्ति होती है।

योगके अनेकों दार्शनिकों तथा योगियोंने अनेक प्रकारके लक्षण किये हैं। Miss Evelyn Underhill नामक महिलाने अपने 'Mysticism' नामक उत्कृष्ट ग्रन्थमें Mysticism (योग) की व्याख्या इस प्रकार की है—'Mysticism (योग) सत्यरूप परमात्माके साथ एकत्व सम्पादन करनेकी विद्या है। Mystic (योगी) उसे कहते हैं जिसने न्यूनाधिक रूपसे परमात्माके साथ एकीभाव प्राप्त कर लिया है, अथवा जिसका लक्ष्य है परमात्माके साथ एकात्मभावको प्राप्त करना और जो इस प्रकारके एकात्मभावमें विश्वास करता है।'× भगवान् श्रीकृष्णने योगके अनेक अर्थ किये हैं। एक

---

* "Blessed are the pure in heart, for they shall see God"

† ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥
(गीता ५। २२)

‡ बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते॥
(गीता ५। २१)

§ आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥
(गीता ६। ३)

× "Mysticism is the art of union with Reality The mystic is a person who has attained that union in greater or less degree or who aims at and believes in such attainment"

जगह वे 'योगः कर्मसु कौशलम्' कहकर कर्ममें प्रवीणताको योग कहते हैं तथा दूसरे स्थानपर वे 'समत्वं योग उच्यते' कहकर समत्वको ही योगका लक्षण बतलाते हैं। यद्यपि 'योग' के सम्बन्धमें लोगोंकी अनेक धारणाएँ हैं तथापि सभी महान् आचार्यों और विद्वानोंने अलौकिकवाद अथवा अतीन्द्रिय ज्ञानको स्वीकार किया है, और इस अपरोक्ष अथवा अतीन्द्रिय ज्ञानको ही सबने अपना ध्येय माना है, चाहे यह ध्येय कितना ही विप्रकृष्ट, दुष्प्राप्य और अस्पष्ट क्यों न हो।

योगके सबसे बड़े आचार्य महर्षि पतञ्जलिने अपने योगदर्शनके एक सूत्रमें योगका बहुत थोड़े शब्दोंमें बहुत सुन्दर लक्षण किया है। वे कहते हैं—'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'। अर्थात् चित्तकी वृत्तियोंके निरोधका नाम ही योग है। सांख्यशास्त्रके प्रवर्तक महर्षि कपिलाचार्यने अपने सूत्रोंमें मनोविज्ञानका जो सुन्दर निरूपण किया है उसके लिये सभी भारतीय दर्शनशास्त्र उनके ऋणी हैं। महर्षि कपिल कहते हैं कि किसी बाह्य वस्तुको प्रत्यक्ष करनेके लिये निम्नलिखित कारणोंकी अपेक्षा होती है—पहले बाह्य विषय, दूसरे इन्द्रिय, तीसरे इन दोनोंसे सम्बन्धित मन, चौथे बुद्धि और पाँचवें पुरुष अथवा आत्मा। मन, बुद्धि और अहङ्कारकी समष्टिको 'अन्तःकरण' कहते हैं। ये चित्तकी भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ हैं। विचारकी धाराओंका नाम वृत्ति है। जगत्का प्रत्येक पदार्थ स्वभावतः अज्ञात एवं अज्ञेय है। ऊपर बताये हुए करणोंके साथ सम्पर्कमें आनेपर ही उसे ज्ञेयता प्राप्त होती है अथवा वह ज्ञान या दूसरे शब्दोंमे प्रत्यक्षका विषय होता है। किसी सरोवरके जलमें ढेला अथवा ईंट फेंकनेसे उसमें लहरें और तरङ्गें उठने लगती हैं, इसी प्रकार बाह्य विषयोंका इन्द्रियों तथा मनके साथ संयोग होनेपर विचारोंकी अनेक लहरें और तरङ्गें उठने लगती हैं। मन उन अनन्त वृत्तियों तथा प्रवाहोंका खजाना है जो हमारे चित्तकी सूक्ष्म अवस्थामें समूहित होते हैं, बनते हैं तथा रक्षित रहते हैं। इसीलिये जब इन वृत्तियोंको व्यक्त होनेका उचित अवसर मिलता है उस समय भी ये लहरें बनती हैं। बाहरसे तथा भीतरसे आनेवाले सङ्केत ही इन लहरोंके बननेमें कारण होते हैं।

पातञ्जल योगका आदर्श है वह चरम कोटिका मार्ग जिसमें शरीर और मनके समस्त व्यापार सर्वथा बन्द हो जाते हैं। योगीको इस प्रकारकी स्थितिमें रहनेका अभ्यास डालना चाहिये जिसमें वह अन्न-जलके बिना एक या दो दिनतक नहीं, बल्कि महीनों और सालों रह सके और सब प्रकारके शारीरिक एवं मानसिक व्यापारोंको बन्द रक्खे। इसलिये समस्त कामनाओं और रागोंको निर्मूल करनेका सतत प्रयत्न करना चाहिये और मनपर कड़ा पहरा रखना चाहिये कि उसके अन्दर कोई नये ऐन्द्रिय विषय, प्रत्यक्षगोचर पदार्थ, कामनाएँ अथवा विचार अलक्षित अथवा प्रकटरूपसे न आने पावें। और साथ-ही-साथ चित्तको सूक्ष्म-से-सूक्ष्म पदार्थोंपर एकाग्र एवं स्थिर करनेका अभ्यास करना चाहिये, ऐसा करनेसे सूक्ष्म मन क्रमशः क्षीण होकर सर्वथा नाशको प्राप्त हो जायगा। इस प्रकार एक ओर तो मनको नये ऐन्द्रिय विषय, सङ्कल्प, कामना आदिके रूपमें भोजन न देकर सुखाना चाहिये और दूसरी ओर उसे सूक्ष्मसे सूक्ष्मतर पदार्थोंपर एकाग्र एवं स्थिर करनेके अभ्यासद्वारा अर्थात् धीरे-धीरे किन्तु दृढताके साथ मनसे सारे सङ्कल्पोंको निकाल बाहर कर उसे अनन्यविषयक बनाना चाहिये। ऐसा करनेसे मन बिल्कुल खाली हो जायगा और सूक्ष्म मन, जिसमें पहलेके ग्रहण किये हुए संस्कार जमा रहते हैं, सर्वथा नष्ट हो जायगा। इस प्रकार महर्षि पतञ्जलिद्वारा अवधारित योगका ध्येय प्राप्त हो जाता है।

प्राणायाम—प्राणायाम योगीके जीवनका आधार-स्तम्भ है, अतः उसकी प्रक्रियाको बहुत कुछ स्पष्ट एवं विशद करनेकी आवश्यकता है। अद्वैतियोंके आदिगुरु भगवान् शङ्कराचार्यने श्वेताश्वतरोपनिषद्के भाष्यमें प्राणायामके सम्बन्धमें निम्नलिखित आशयका उपदेश दिया है—

'प्राणायामके द्वारा जिसका निःशेष मल धुल गया है ऐसा मन ही ब्रह्ममें स्थिर होता है, अतः प्राणायामका उपदेश दिया जाता है। सर्वप्रथम नाडीशोधन करना चाहिये, ऐसा करनेसे ही प्राणायाम करनेकी शक्ति प्राप्त होती है। अँगूठेसे दाहिने नासारन्ध्रको दबाकर बायें नथुनेसे अपनी शक्तिके अनुसार वायुको खींचना चाहिये; फिर तुरन्त बायें नासापुटको दबाकर दाहिने नासापुटसे हवाको बाहर निकाल दे, इसी प्रकार दाहिने नथुनेसे अपनी शक्तिके अनुसार हवा खींचकर बायेंसे बाहर निकाले। इस क्रियाको दिन-रातमें चार बार अर्थात् सूर्योदयसे पूर्व,

मध्याह्नमें, सायकालके समय तथा अर्द्धरात्रिमें तीन या पॉच आवृत्ति करनेसे पन्द्रह दिनमें अथवा एक महीनेके अन्दर नाडी-शुद्धि हो जाती है। इसके अनन्तर प्राणायाम-की क्रिया शुरू होती है।'

प्राणायामका सम्बन्ध श्वाससे नहीं है। श्वासोच्छ्वास तो असली प्राणायामको सिद्ध करनेके अनेक प्रकारोंमेंसे एक-तम प्रकार है। स्वामी विवेकानन्दजी कहा करते थे कि श्वास इस शरीररूपी यन्त्रकी गतिको नियममें रखनेवाला चक्का (flywheel) है। किसी भी बडे इञ्जिनमें हम देखते हैं कि यह चक्का ही सबसे पहले घूमता है और इसके घूमनेसे दूसरे छोटे छोटे बारीक पुर्जे चलने लगते हैं और इस क्रमसे अन्तमें मशीनका सबसे नाजुक और सबसे सूक्ष्म पुर्जा भी गतिशील हो जाता है। हमारी इस शरीररूपी मशीनका Flywheel श्वास है, इसीसे इस शरीरके अङ्ग-प्रत्यङ्गमें हलचल पैदा होती है और सारे कल-पुर्जे व्यवस्थितरूपसे काम करते हैं।*

प्राणायामका अर्थ है प्राणोंको वशमें करना। भारतीय दर्शनशास्त्रके अनुसार यह समस्त जगत् और जो कुछ भी इसके अन्दर है वह सब कुछ आकाश और प्राण, इन दो तत्त्वोंसे बना हुआ है। प्रत्येक आकारवाली वस्तु सघटनका परिणाम है और इस आकाशसे उद्भूत है, जो सर्वगत एव सर्वत्र अनुस्यूत है, और कल्पके अन्तमें प्रत्येक वस्तु आकाशमें पुनर्लीन हो जाती है। 'प्राण वह शक्ति है जिसने आकाश-को अधिष्ठितकर विश्वकी रचना की है। ठीक जिस प्रकार आकाश सर्वशक्तिमान् और सर्वव्यापक है, उसी प्रकार प्राण भी इस विश्वकी सर्वसमर्थ एव सर्वव्यापिनी अभिव्यञ्जिका शक्ति है। जगत्में गुरुत्वशक्ति, आकर्षणशक्ति, अपकर्षण-शक्ति, विद्युत्-शक्ति, विचार-शक्ति, नाडी प्रवाह आदि जितनी शक्तियाँ हैं वे सब-की-सब प्राणनामक एक ही शक्तिकी भिन्न-भिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं। अतः प्राण विश्वकी मानसिक एवं शारीरिक सभी प्रकारकी शक्तियोंकी समष्टि है। इसी प्राणके ज्ञान और निग्रहको प्राणायाम कहते हैं। इस समष्टि जगत्के जो नियम हैं वे ही इस व्यष्टि जगत्में भी लागू हैं। अतः प्राण ही प्रत्येक जीवकी जीवनी शक्ति है और विचार-धाराओं, नाडी-प्रवाह, श्वासोच्छ्वास तथा साधारण शारीरिक क्रियाके रूपमें व्यक्त हो रही है। योगियोंके मतमें जो कोई भी दिव्य आनन्दका आस्वादन करना चाहता है तथा सारे दुःखों और व्याधियों-से छूटना चाहता है उसके लिये यह आवश्यक है कि वह इस प्राणको वशमें करके इसीकी सहायतासे निर्वाण अथवा समाधिरूप अमृतार्णवमें मग्न होकर अलौकिक अथवा अतीन्द्रिय ज्ञानको प्राप्त करे। इस प्राणको वशमें करनेके लिये प्रत्येक मनुष्यको चाहिये कि वह अपने निकटतम पदार्थोंको अधीन करनेकी सच्चे दिलसे चेष्टा करे। यों तो शरीर हमारे बहुत निकट है, परन्तु मन सबसे निकट है। जो प्राण हमारे शरीर और मनके भीतर कार्य कर रहा है वह विश्वके अन्य सभी प्राणोंकी अपेक्षा हमारे निकट है। इस व्यष्टि प्राणके निग्रहीत हो जानेपर, जो समष्टि-प्राणरूपी समुद्रके एक शीकरके समान है, मनुष्य उस अनन्त समष्टि-प्राणको वशमें करनेकी आशा कर सकता है। जो योगी प्राणको वशमें कर लेता है वह सिद्ध हो जाता है और जगत्के किसी भी दृश्य-अदृश्य पदार्थ अथवा प्राणीके वशमें नहीं रहता और इस मृत्युसंसारसागरमें फिर नहीं आता। स्वामी विवेका-नन्दने अपने 'राजयोग' नामक ग्रन्थमें इस प्राणायाम और समाधिसिद्धिके सम्बन्धमें जो सुन्दर दृष्टान्त दिया है मैं उसे यहाँ उद्धृत किये बिना नहीं रह सकता। वे लिखते हैं—

'किसी बड़े राजाका एक मन्त्री था, उससे कोई निन्दित कार्य बन गया, राजाने उसे दण्डरूपमें किसी ऊँची बुर्जके शिखरपर ले जाकर कैद कर देनेकी आज्ञा दी। अधिकारियोंने यही किया और मन्त्रीको वहाँ ले जाकर मृत्युके मुँहमें छोड दिया। मन्त्रीकी स्त्री बड़ी पतिव्रता थी, वह रातको बुर्जके नीचे आयी और शिखरपर स्थित अपने स्वामीको पुकारकर कहा कि 'क्या मैं आपकी किसी प्रकारसे सहायता कर सकती हूँ ?' पतिने कहा कि अभी तो जाओ, कल इसी समय फिर आना और अपने साथ एक लम्बा मोटा रस्सा, थोड़ी-सी मजबूत पतली रस्सी, थोड़ा पक्का सूती धागा जो पार्सल आदि बाँधनेके काममें

*"Breath is like the flywheel of this machine, the body In a big engine, you find the flywheel first moving, and that motion is conveyed to finer and finer machinery until the most delicate and finest mechanism in the machine is in motion The breath is that flywheel, supplying and regulating the motive power to everything in this body"

आता है, कुछ रेशमी धागा, एक कीड़ा और थोड़ा शहद लेते आना। उस साध्वी स्त्रीने पहले तो बड़ा आश्चर्य किया कि स्वामी इन सब चीजोंका क्या करेंगे, किन्तु फिर उनकी आज्ञा समझकर वैसा ही किया और दूसरे दिन वह सब सामान ले आयी। स्वामीने उससे कहा कि रेशमी धागेको कीड़ेके पैरोंमें मजबूतीसे बाँध दो और उसके मुँहके पासके सींग-जैसे अवयवोंमें शहद चुपड़ दो, फिर उसे बुर्जकी दीवालपर ऊपरकी तरफ़ सिर करके छोड दो। स्त्रीने ऐसा ही किया और कीड़ा ऊपरकी ओर चला। उसे अपने आगेकी ओरसे जो मधुकी गन्ध आ रही थी उसीसे आकृष्ट होकर वह शहद पानेकी आशामे धीरे-धीरे दीवालके ऊपर चढने लगा और थोडी देरमें शिखरपर पहुँच गया। मन्त्रीने उसे पकड लिया और इस प्रकार रेशमी डोरेको हस्तगत कर लिया, तब उसने अपनी स्त्रीसे कहा कि इसके दूसरे छोरको सूती धागेसे बाँध दो और इस रीतिसे सूती धागेको खींच लेनेपर उसने वही बात पतली रस्सीके सम्बन्धमें और अन्तमें मोटे रस्सेके सम्बन्धमे कही। बाकी काम आसानीसे हो गया। मन्त्री रस्सेके सहारे नीचे उतर आया और भाग गया। इसी दृष्टान्तको हमारे इस शरीरपर घटानेसे मालूम होगा कि हमारे शरीर-के अन्दर जो प्राणवायुकी गति हो रही है वही रेशमी धागा है। इस श्वासरूपी रेशमी धागेको पकड़कर अपने अधीन कर लेनेसे हम नाडी-प्रवाहरूप मोटे डोरेको पकड लेते हैं, इनके सहारे हम अपने विचाररूपी पतली रस्सीको और अन्तमें प्राणरूपी मोटे रस्सेको हस्तगत कर लेते हैं जिसे वशमें करके हम मुक्त हो जाते हैं।'

सूक्ष्म प्राण—इडा, पिङ्गला, सुषुम्ना, मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा और सहस्रार, रेचक, पूरक और कुम्भक—कुण्डलिनी।

संसारमें यदि सबसे अद्भुत कोई वस्तु है तो हमारा यह मानवदेह है। इसी शरीरके द्वारा भौतिक एवं आध्यात्मिक जगत्के अनेक चमत्कारोंका हमें पता लगा है, इसीलिये हम इसे आश्चर्योंका आश्चर्य कहते हैं। निर्वाणसुख, निर्विकल्प समाधि अथवा भगवत्प्राप्ति भी जिन्हें हुई है वह इसीसे हुई है, चाहे हम इसके दोषों और दुष्परिणामोंकी कितनी ही निन्दा और गर्हणा करें। योगीलोग इस शरीर-को एक सातमंजिले मकानकी उपमा देते हैं। मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा और सहस्रार—ये इसकी सात मंजिलें हैं और अनन्त शिराओंके जालरूप तार इसमें लगे हैं। इन शिराओं अथवा नाडियोंमें इडा और पिङ्गला ये दो नाडियाँ मुख्य हैं। ये मेरुदण्डके उभयपार्श्वमें नद्ध हैं। इनके अतिरिक्त एक भीतरसे पोली नली और है जो सुषुम्ना कहलाती है और मेरुदण्डके भीतर होकर गयी है। इस नलीके नीचेके सिरेसे लगा हुआ मूलाधार चक्र है जहाँ कुण्डलिनी शक्ति निवास करती है और ऊपरके सिरेसे सटा हुआ सहस्रारचक्र अर्थात् हजार दलका कमल है जो ज्ञानका आयतन है। प्राणशक्ति निरन्तर इडा और पिङ्गला नाडियोंमेंसे होकर प्रवाहित होती रहती है। योगी यदि किसी साधनविशेषसे प्राणको सुषुम्ना नाड़ीके नीचेके द्वारमेंसे निकाल ले जाय, जो मुँदा हुआ है, तो उसकी कुण्डलिनी शक्ति, जो सदा सोयी रहती है, जाग्रत होकर धीरे-धीरे किन्तु दृढताके साथ जीवनके ध्येयकी ओर अग्रसर होती है और सहस्रारमें जाकर परमात्मासे मिल जाती है। इस स्थितिमें साधकको बहुत-से विचित्र आध्यात्मिक अनुभव होते हैं। इस तुरीयावस्थारूप परम ध्येयको प्राप्त करनेके उद्देश्यसे योगी प्राणायामका अभ्यास करता है, जिसका प्रारम्भिक स्वरूप पूरक अर्थात् श्वासको भीतर ले जाना, कुम्भक अर्थात् श्वास-को रोकना और रेचक अर्थात् श्वासको बाहर निकालना है, और क्रमशः श्वास, नाड़ी और विचारके प्रवाहको संयतकर अन्तमें सूक्ष्म प्राणको अधीन करनेमें समर्थ होता है और इस वशमें किये हुए प्राणकी सहायतासे वह जगत्-के मायारूप भ्रमजालको छिन्न-भिन्न कर देता है। परन्तु प्राणायामके इस विशिष्ट साधनको प्रारम्भ करनेके पूर्व साधकके लिये यह आवश्यक है कि वह योगके चार मुख्य अङ्गोंकी पूर्ति कर ले। वे हैं ब्रह्मचर्य, किसी सिद्ध योगीके तत्त्वावधानमें रहना, अनुकूल सङ्ग और हित भोजन, जिसमें अधिक नमकीन, अधिक मीठी अथवा कोई खट्टी, कड़वी और नशीली चीज न हो। इन प्रारम्भिक नियमोंका पालन न होनेपर साधकको भयङ्कर हानि उठानी पडती है, जो उन्माद, हृद्रोग, श्वास और इसी प्रकारके अन्य दुष्ट रोगोंके रूपमें प्रकट हो सकती है। प्राणायामका विधिपूर्वक अभ्यास करनेसे तो कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत होती ही है, किन्तु प्राणायामके अतिरिक्त बहुत-से अन्य उपाय भी हैं जो मनुष्यकी सुप्त शक्तिको जगानेमें निसर्गतः समर्थ हैं। दार्शनिकोंकी सूक्ष्म सङ्कल्प-

शक्तिसे, भगवत्प्रेमसे और सिद्ध महापुरुषोंकी दयासे भी यह कार्य हो सकता है।

निर्वाण अथवा समाधिके मार्गमें अनेकों विघ्न भी हैं। इनमें सबसे बड़ा विघ्न सिद्धियोंकी प्राप्ति है, जिनका लुभावना और चित्ताकर्षक रूप साधकको चौंधिया देता है। सच्चे साधकको चाहिये कि वह इन सिद्धियोंके जादूमें न आवे और अपने आध्यात्मिक जीवनकी नौकाको निर्वाणके सुखद एवं निरापद तीरपर ही ले जाकर विश्राम ले।

शरीर और मनके बीच सनातन कालसे परस्पर सम्बन्ध चला आया है। शरीरका प्रभाव मनपर पड़ता है और मनका शरीरपर। इसीलिये मनको सूक्ष्म शरीर और शरीरको स्थूल मन कहते हैं। हमलोगोंका यह प्रतिदिनका अनुभव है कि पूजा, जप, ध्यान आदिके अभ्याससे जब मन ऊपरको उठता है तब शरीरमें भी स्फूर्ति, उत्साह और बल आ जाता है और रोगी होनेपर भी वह अपनेको रोगमुक्त अनुभव करता है। इसी प्रकार जब शरीर स्वस्थ और नीरोग होता है उस समय मन भी शान्त और समाहित हो जाता है। यह बात साधारण लोगोंमें देखी जाती है। कुछ इने-गिने लोग ऐसे भी होते हैं जिनका शरीर अनेक प्रकारकी व्याधियोंसे जर्जरित एवं आकस्मिक दुर्घटनाओंका शिकार होनेपर भी वे प्रकृतिस्थ और शान्त बने रहते हैं और उनका चित्त प्रशान्त महासागरकी भाँति सदा अक्षुब्ध एवं स्थिर रहता है। परन्तु साधारणतया यह देखनेमें आता है कि एकका असर दूसरेपर पड़ता ही है। स्वास्थ्यके सम्बन्धमें तो चिकित्सकों, वैज्ञानिकों और शरीरमर्मज्ञोंके अनेक परस्परविरोधी मत हैं। इन लोगोंका जो कुछ भी मत हो, योगियोंकी धारणा तो यह है कि शरीरमें प्राणोंका विभाग उचित अनुपातमें न होनेके कारण रोग होते हैं। इसीलिये व्याधिनाशके लिये योगी लोग शरीरके जिस भागमें प्राण आवश्यकतासे अधिक होता है वहाँसे निकालकर जहाँ उसकी कमी होती है वहाँ ले जाते हैं। ध्यानसे हमें शरीरमें प्राणका अनुपात ठीक रखनेमें सहायता मिलती है और इससे साधकका शरीर बिल्कुल स्वस्थ रहता है। परन्तु जब साधकको योगकी सिद्धि प्राप्त हो जाती है तब वह शीत, उष्ण आदि द्वन्द्वोंके आक्रमणको तथा प्राणशक्तिके व्ययसे होनेवाली क्षीणताको सहन करनेमें समर्थ हो जाता है। योगशास्त्र कहता है—

न तस्य मृत्युर्न जरा न व्याधिः
प्राप्तं हि योगाग्निमयं शरीरम्।

अर्थात् जिसने योगाग्निमय शरीर प्राप्त कर लिया वह जरा, मृत्यु और व्याधिके पाशसे मुक्त हो जाता है।

पद्मासन, सर्वाङ्गासन आदि कई क्रियाएँ और आसन ऐसे हैं जिनकी सहायतासे अनेकों रोग नष्ट हो जाते हैं और शरीर स्वच्छ और निर्मल रहता है। हठयोगी नित्य प्रातःकाल एक ऐसी क्रिया करते हैं जिसे नेती-धोती कहते हैं। इस क्रियाके द्वारा योगी एक लम्बे कपड़ेके टुकड़े तथा गरम पानीकी सहायतासे पेट तथा मुख्य-मुख्य नाड़ियोंका शोधन करते हैं। देशी वैद्योंका भी कहना है कि इस अद्भुत क्रियासे अनेक रोग, जो देखनेमें असाध्य प्रतीत होते थे, अच्छे होते देखे गये हैं। यह महान् शोककी बात है कि हठयोगियोंकी शरीरके संसर्गमें रहते-रहते शरीरमें दृढ़ आसक्ति हो जाती है और वे लोग जीवनके लक्ष्यकी ओर जरा भी आगे नहीं बढ़ पाते। यद्यपि शरीरकी इस हदतक सेवा और साधना अवश्य करनी चाहिये कि जिससे नैसर्गिक व्याधियोंसे वह मुक्त रहे परन्तु स्मरण रहे, शरीरकी स्वस्थता ही हमारे जीवनका एकमात्र लक्ष्य न बन जाय। पञ्च महाभूतोंके संघातसे शरीरकी रचना हुई है, अतः कालात्ययसे उन भूतोंका वियुक्त होना अवश्यम्भावी है। अतः केवल शरीरकी ही सँभालमें तल्लीन हो जाना कदापि अभीष्ट नहीं है। मनुष्यको साथ-ही-साथ आध्यात्मिक साधना भी करते रहना चाहिये और निरन्तर स्थूल और सूक्ष्म जगत्से ऊपर उठने तथा निर्वाण अथवा निर्विकल्प समाधिकी अवस्थामें आरूढ होनेकी चेष्टा करते रहना चाहिये, जहाँ पहुँचकर मनुष्य इस भौतिक जगत्में नहीं लौटता और जहाँ शाश्वत शान्ति तथा सुखका साम्राज्य रहता है। यही जीवनका परम ध्येय है।

योगमार्गके विघ्न

(लेखक—वैद्यशास्त्री प० श्रीकमलाकान्तजी त्रिवेदी)

समाधौ क्रियमाणे तु विघ्नान्यायान्ति वै बलात् ।

'समाधिकालमें विघ्न बलपूर्वक आने लगते हैं ।' योगीको चाहिये कि उन विघ्नोंका धीरे-धीरे त्याग करे । भगवान् पतञ्जलिने योगदर्शनमें कहा है—

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ।

(समाधिपाद ३०)

'व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व और अनवस्थितत्व—यह नौ चित्तके विक्षेप हैं, यही अन्तराय (विघ्न) कहलाते हैं ।' ये अन्तराय क्या हैं और किस प्रकार इनसे छुटकारा मिलता है, इस बातको योगमार्गमें प्रवेश करनेके पहले जानना आवश्यक है ।

शरीरको धारण करनेमें समर्थ होनेके कारण धातु नामको प्राप्त हुए वात, पित्त और कफकी न्यूनाधिकता, खाये तथा पिये हुए आहार-पदार्थोंके परिणामस्वरूप रसकी न्यूनाधिकता और मनसहित एकादश इन्द्रियोंके बलकी न्यूनाधिकताको व्याधि अथवा रोग कहते है । व्याधि होनेपर चित्तवृत्ति उसमें अथवा उसे दूर करनेके उपायोंमें लगी रहती है । इससे वह योगमें प्रवृत्त नहीं हो सकती । इसी कारण व्याधिकी गणना योगके विघ्नोंमे होती है ।

अजीर्ण, नींदकी खुमारी, अति परिश्रम प्रभृतिसे ब्रह्माकारवृत्तिका अभाव हो जाता है । अजीर्ण आदि स्त्यके कारणरूप विघ्नोंके निवारण करनेके लिये पथ्य और लघु भोजन करनेसे और प्रत्येक व्यवहारमें युक्ति तथा नियमके अनुसार चलनेसे एव उत्थानके प्रयत्नद्वारा चित्तको जाग्रत् करनेसे यह विघ्न दूर होते हैं । इस विषयमें श्रीकृष्ण भगवान्ने भी अर्जुनके प्रति कहा है—

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥

(गीता ६ । १६)

'जो अधिक भोजन करता है, जो बिल्कुल बिना खाये रहता है, जो बहुत सोता है तथा जो बहुत जागता है, उसके लिये हे अर्जुन योग नहीं है । बल्कि—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥

(गीता ६ । १७)

'जो नियमपूर्वक भोजन करता है, नियमित विहार करता है, कर्म करनेमे भी नियमपूर्वक रहता है, जागना और सोना भी जिसका नियमपूर्वक होता है, उसके लिये योग दुःखका नाश करनेवाला होता है ।'

योगसाधनकी इच्छा होनेपर देश-कालादिकी विपरीतताकी कल्पना करके योग-साधनकी प्रवृत्तिमे जो चित्तकी असमर्थता होती है उसे स्त्यान कहते हैं । देश-कालादिकी कल्पित विपरीतताको दूर करनेमे सामर्थ्यरहित चित्तकी यह अयोग्यता भी योगमे प्रवृत्त होने नहीं देती । इसलिये यह भी योगमें विघ्नरूप है ।

यह वस्तु ऐसी ही है या अन्य प्रकारकी है ? इस प्रकारका परस्परविरोधी और उभयकोटिको विषय करनेवाला विज्ञान संशय कहलाता है । 'योग होता है या नहीं ?' 'गुरु और शास्त्र, योग और योगसाधनकी जो महिमा वर्णन करते हैं वह सत्य है या असत्य ?' 'योगका फल कैवल्य होता है या दूसरा कुछ ?' 'ईश्वर-प्रणिधानसे समाधि-लाभ तथा कैवल्य-प्राप्ति सिद्ध होती है या नहीं ?' 'योगका परिणाम कैवल्य सत्य है या यह कल्पनामात्र है ?'—इस प्रकारके अनेकों विरोधी तथा उभयकोटिको विषय करनेवाले ज्ञानको संशयरूप समझना चाहिये । इस प्रकारके संशय मनुष्यको कभी भी योगमे निश्चलतापूर्वक प्रवृत्त नहीं होने देते । अतः ये योगके प्रबल विरोधी हैं । अतद्रूप-प्रतिष्ठत्व अर्थात् अपने वास्तविक रूपमें स्थिर न होनेसे संशय और भ्रान्तिदर्शनके अभेद होनेपर भी उभयकोटिके स्पर्श और अस्पर्शरूप अवान्तरभेद कहनेकी इच्छासे ही उनका भेद कहा जाता है । इसलिये संशयका नाश कर भ्रान्तिदर्शनमे भी श्रीसद्गुरुके वचन और शास्त्रप्रमाणमें श्रद्धा रखनी चाहिये ।

समाधि-साधनमे प्रयत्न न करना अथवा उसमें उदासीनता रखना प्रमाद कहलाता है ।

कफादिके द्वारा शरीरके भारी होने तथा तमोगुणके

द्वारा चित्तके भारी होनेसे भी योग-साधनमें प्रवृत्ति नहीं होती, इसे ही आलस्य कहते हैं।

प्रमाद और आलस्य, ये दोनों यमादि योगसाधनमें साधककी प्रवृत्ति नहीं होने देते। इसलिये ये दोनों योगमें विघ्नरूप हैं।

विषयके समीप रहनेसे विषय-स्थित दोषोंके अत्यन्त विस्मरणके द्वारा विषय-भोगकी चित्तमें जो तीव्र इच्छा (तृष्णा) होती है उसे अविरति अथवा अवैराग्य कहते हैं।

विषय-तृष्णा योगकी प्रबल विरोधिनी है। क्योंकि वह वृत्तिको अन्तर्मुखी नहीं होने देती। यदि कदाचित् अति यत्नपूर्वक वृत्ति अन्तर्मुखी होती भी है तो फिर अल्प समयमें ही विषयोंके स्फुरणद्वारा चित्तको क्षुब्ध करके उसे बहिर्मुख कर देती हैं। स्मृति भी यही कहती है—

निःसङ्गता मुक्तिपदं यतीनां
सङ्गादशेषाः प्रभवन्ति दोषाः।
आरूढयोगोऽपि निपात्यतेऽधः
सङ्गेन योगी किमुताल्पसिद्धिः॥

'यतियोंका सङ्गरहित रहना मुक्तिका स्थान है, सङ्गसे सारे दोष उत्पन्न होते हैं। योगारूढ भी सङ्गसे अधोगतिको प्राप्त होते हैं, फिर अल्प सिद्धिवाला अपक्व योगी यदि सङ्गसे अधोगतिको प्राप्त हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या?'

विषय-तृष्णामें दोषदृष्टि करनेसे यह विघ्न दूर होता है। जिस प्रकार लड्डूमें विष डाला गया है—यह बात जान लेनेपर भूखा भी उसके खानेकी इच्छा नहीं करता, उसी प्रकार शास्त्रोंका अध्ययन और सद्गुरुके उपदेशके द्वारा विषयोंमें दोषदृष्टि होनेपर उनके भोगनेकी इच्छा नहीं होती।

सद्गुरु तथा योगशास्त्रोंके द्वारा उपदिष्ट योगसाधनमें असाधनत्वबुद्धिको भ्रान्तिदर्शन या विपर्ययज्ञान कहते हैं। यह भ्रान्तिदर्शन भी विपरीतज्ञान तथा विपरीत प्रवृत्तिके कारण साधकको योगमें प्रवृत्त नहीं होने देता। अतः इसकी गणना योगके विघ्नोंमें होती है।

मधुमती आदि समाधिकी भूमिकाओंमें किसी भी भूमिकाका अभ्यास करते रहनेपर भी किसी कारणसे उसका प्राप्त न होना अलब्धभूमिकत्व कहलाता है। अलब्धभूमिकत्व भी साधकके चित्तको असन्तोषके द्वारा बहिर्मुख रखनेके कारण योगमें विघ्नरूप है।

मधुमती आदि योगकी भूमिकाओंमें किसी भूमिकाकी प्राप्ति होनेपर भी विस्मय अथवा कर्तव्यके विस्मरण या अज्ञानके द्वारा उसमें चित्तको सुस्थिर न करना अनवस्थितत्व कहलाता है। योगकी किसी भूमिकाके प्राप्त होनेपर, इसीसे भलीभाँति स्थिरता हुई है, किसी कारणसे ऐसा मान लिया जाय और उससे आगेकी सुस्थिरताके लिये प्रयत्न नहीं किया जाय तो उसको उत्तर भूमिकाकी प्राप्ति तो होती ही नहीं, साथ ही उस भूमिकासे भी वह भ्रष्ट हो जाता है। अतः प्राप्त हुई योगभूमिकामें अपने चित्तको सुस्थिर करनेके लिये साधकको प्रयत्न करना चाहिये। ऐसा प्रयत्न न करनेसे उस भूमिकामें चित्तकी अस्थिरता रहती है, और वह भी योगमें प्रतिबन्धक होती है।

चित्तको विक्षिप्त करनेवाले ये नौ योग-मल योगके विघ्न कहलाते हैं। संशय और भ्रान्तिदर्शनरूप वृत्तियाँ भी वृत्तिनिरोधरूप योगकी विरोधिनी हैं। और व्याधि आदि वृत्ति न होनेपर भी वृत्तियोंके साहचर्यसे योगमें बाधक हैं।

केवल ये नौ ही योगके विघ्न नहीं हैं। वरं चित्तके विक्षेप करनेवाले इन विघ्नोंके साथ दुःखादि अन्य विघ्न भी हैं। भगवान् पतञ्जलि उनका भी नाश करनेके लिये कहते हैं—

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः। (समाधि० ३२)

उस विक्षेप तथा उसके साथ होनेवाले दुःखादिकी निवृत्तिके लिये एक तत्त्वका अभ्यास करना चाहिये। इसी प्रकार योगवासिष्ठमें भी कहा है।

तावन्निशीथवेताला वल्गन्ति हृदि वासनाः।
एकतत्त्वदृढाभ्यासाद्यावन्न विजितं मनः॥

'जबतक एक तत्त्वके दृढ़ अभ्याससे मनको पूर्णरूपसे जीत नहीं लिया जाता तबतक अर्द्धरात्रिमें नृत्य करनेवाले वेतालोंके समान वासनाएँ हृदयमें नृत्य करती रहती हैं।'

इस प्रकार अनेक विघ्न योगीके समाधिमें विघ्नरूपसे आते हैं, अतएव उनको हटानेका धीरे-धीरे यत्न करना चाहिये।

इस विषयका एक दृष्टान्त है। एक चरवाहेको रखवाली करनेके लिये दी हुई एक बछिया जंगलमें भटकती है और भटकनेकी आदत सीखती है। पीछे जब वह गाभिन हो जाती है तब कुछ खिलानेका लालच देकर उसे लोग घर ले आते हैं। पर उसको भटकना छोड़कर

घरपर रहना अच्छा नहीं लगता, और मौका पाकर वह फिर निकल जाती है। पीछे फिर पकड़कर लायी जाती है। ऐसा करते-करते जब वह व्याती है तब अपने बछड़ेके प्रेमपाशमें ऐसी बँध जाती है कि फिर लाठीसे मारकर बाहर निकालनेपर भी नहीं निकलती। इसी प्रकार बुद्धिरूपी बछिया संसाररूपी जंगलमें भटकती है और विषयभोगरूपी कुटेव सीखती है। पीछे पुण्योदय होनेपर जब वह मुमुक्षारूप गर्भ धारण करती है तब योगद्वारा बुद्धिको स्थिर करनेका प्रयत्न होता है, तथा ध्यानादि क्रियाओंके द्वारा उसे रसरूपी भोजन प्राप्त होता है। तथापि भटकनेकी आदत होनेके कारण मौका मिलते ही बुद्धि चलायमान हो जाती है। परन्तु बुद्धिको जब समाधिद्वारा ज्ञानरूपी वत्स उत्पन्न होता है तब उसके प्रेममें निमग्न होकर वह किसी भी दुःखरूपी प्रहारसे घबराकर घर नहीं छोड़ती अर्थात् कभी बहिर्मुख नहीं होती। इस प्रकार दोषोंको निवृत्तकर निरोधप्रयत्नके द्वारा निश्चल किया हुआ चित्त स्वाभाविक चञ्चलतासे विषयाभिमुख होकर बाहर जाय तो उसे फिर निरोधप्रयत्नसे ब्रह्ममें लगावे। इस प्रकार ब्रह्ममें एक हुआ चित्त लय तथा स्तब्ध अवस्थामें नहीं जाता, शब्दादि विषयाकार वृत्तिका अनुभव नहीं करता तथा रसका भी आस्वादन नहीं करता। यह निवात प्रदेशमें दीपशिखाके समान अचल होकर किसी भी विषयके आकारको न धारणकर केवल ब्रह्माकार होता है। यह अद्वैतभावनारूप निर्विकल्प समाधि है। यह अद्वैतभावनारूप वृत्ति भी केवल शुद्ध सात्त्विक होनेपर ब्रह्मका अनुभव कर स्वयं लीन हो जाती है। इसलिये योगाभ्यास करनेवालेको इन सब विघ्नोंके दूर करनेके लिये प्रबल पुरुषार्थ करना चाहिये। क्योंकि 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि'—श्रेयस्कर कार्यमें अनेकों विघ्न आते हैं, यह प्राकृतिक नियम है। इसलिये विघ्न करनेवाले उपकरणोंमें लोभवश न फँसकर उनसे सदा सचेत रहना चाहिये, क्योंकि वे बलपूर्वक फँसाते हैं।

ॐ तत्सत्

श्रीकुण्डलिनी-शक्तियोग

(लेखक—पं० श्रीत्र्यम्बक भास्करशास्त्री खरे)

पाश्चात्य शिक्षाकी चमक-दमकसे चौंधियायी हुई जनताकी योगशास्त्रविमुख बुद्धि कुछ कालसे परमहंस स्वामी रामकृष्ण, स्वामी विवेकानन्द, श्रीअरविन्द, स्वामी कुवलयानन्द, श्रीयोगीन्द्र आदिके प्रयत्नसे और पाश्चात्य तत्त्ववेत्ताओंके उद्गारोंसे पुनः योगशास्त्रकी ओर झुकने लगी है और कुछ लोगोंकी समझमें यह आने लगा है कि इस शास्त्रमें कुछ है।

२ योगशास्त्रमें जो अनेक गूढ़ विषय हैं उनमें श्रीकुण्डलिनी-शक्ति गूढ़तम विषय है। योगशास्त्रके प्रथम सोपानसे अन्तिम सोपानतक चढ़ जानेके पश्चात् ही इस शक्तिका अनुभूत ज्ञान प्राप्त होता है।

३ ऐसे क्लिष्ट और गूढ़ विषयपर लिखनेका प्रयोजन यह है कि अबतक इस विषयपर साङ्गोपाङ्ग और अनुभवसिद्ध विवरण हिन्दी भाषामें ग्रथित किया हुआ कहीं भी देखनेमें नहीं आया। इसलिये अनेक ग्रन्थोंमें अनेक सम्प्रदायोंके सिद्ध पुरुषोंकी सिद्धवाक्सरिताओंमें जिन्होंने अवगाहन किया है—सिद्धवचन पढ़े और सुने हैं और उन्हें अनुभव करनेका महल्लाभ जिन्हें प्राप्त हुआ है ऐसे एक सत्पुरुषसे इस विषयमें जो कुछ बातें मालूम हुई हैं, उन्हींको एकत्र करके प्रबुद्ध साधकोंके उपयोगार्थ प्रकाशित करनेसे उपकार होगा, ऐसा समझकर ही यह प्रयास किया जाता है।

४ इतना कष्टसाध्य कार्य करनेकी योग्यता प्रस्तुत लेखकमें नहीं है। कारण, सदा-सर्वदा प्रापञ्चिक उपाधियोंमें अटके रहनेका ही उसका व्यवसाय है। ऐसी अवस्थामें उसके द्वारा यह काम कहाँतक बन सकेगा, इसका कोई भरोसा नहीं। इसलिये आगे जो कुछ लिखा जायगा वह यदि पाठकोंको नीरस जान पड़ा और मनको विचारशून्य अज्ञात जगत्‌में प्रवेश करानेमें सर्वथा अयोग्य ही जँचा तो इससे मुझे कुछ भी विषाद न होगा। परन्तु यदि इसमें कोई तथ्य देख पड़ा तो यह श्रीगुरु-मैयाकी दया है, मेरा

उसमे कुछ भी नहीं।

५ विवेचनके सुभीतेके लिये इस विषयके यहाँ पाँच विभाग किये जाते हैं—

(१) वेद, आगम, उपनिषद्, पुराण और साधु-सन्तोंके वचनोंमें आया हुआ कुण्डलिनी-वर्णन।
(२) कुण्डलिनी-शक्तिका वर्णन।
(३) योग और योगके विभागोंका वर्णन।
(४) अभ्यासक्रम, ध्यानप्रकार।
(५) कुण्डलिनी-साधनके फल।

अवतरण

यत्कुमारी मन्द्रयते यथोविद्य पतिव्रतो अरिष्टं यत्किञ्च क्रियते अग्निस्तदनुवेधति। (यजुर्वेद)

कुण्डलिनीशक्तेरवस्थात्रयं विद्यते। यद्यस्मिन् चक्रे कुमारी कुमारावस्थामापन्ना प्रथमं सुप्तोत्थिता मन्द्रयते मन्द्रं स्वरं करोति।

पुरं हिरण्मयीं ब्रह्मा विवेशो पराजिता।
(यजुर्वेद)

अपराजिता कुण्डलिनीशक्तिः षट्चक्राणि भित्त्वा भूयो भूयः प्रविशति।
(सौन्दर्यलहरी—लक्ष्मीधरव्याख्या)

कुण्डले अस्याः स्तः इति कुण्डलिनी।
मूलाधारस्थ वह्न्यात्मतेजोमध्ये व्यवस्थिता।
जीवशक्तिः कुण्डलाख्या प्राणाकाराथ तैजसी॥
महाकुण्डलिनी प्रोक्ता परब्रह्मस्वरूपिणी।
शब्दब्रह्ममयी देवी एकानेकाक्षराकृतिः॥
शक्तिः कुण्डलिनीनाम विसतन्तुनिभा शुभा।
(योगकुण्डल्युपनिषद्)

विसतन्तुस्वरूपां तां विन्दुत्रिवलयां प्रिये।
(ज्ञानार्णव तन्त्र)

पराशक्तिः कुण्डलिनी विसतन्तुतनीयसी।
(ललितासहस्रनाम)

शक्तिः कुण्डलिनीति विश्वजननीव्यापारबद्धोद्यता।
(लघुस्तुति)

मूलाधारे मूलविद्यां विद्युत्कोटिसमप्रभाम्।
सूर्यकोटिप्रतीकाशां चन्द्रकोटिद्रवां प्रिये॥
विसतन्तुस्वरूपां तां विन्दुत्रिवलयां प्रिये।
(ज्ञानार्णव तन्त्र)

यदोल्लसति शृंगारपीठाव कुटिलरूपिणी।
शिवार्कमण्डलं भित्त्वा द्रावयन्तीन्दुमण्डलम्॥
(वामकेश्वर तन्त्र)

अष्टधा कुण्डलीभूतामृज्वीं कुर्यात्तु कुण्डलीम्।
(योगशिखोपनिषद्)

कला कुण्डलिनी चैव नादशक्तिसमन्विता।
(षट्चक्रनिरूपणम्)

मूलाधार आत्मशक्तिः कुण्डली परदेवता।
शायिता भुजगाकारा सार्धत्रिवलयान्विता॥
(घेरण्डसंहिता)

कन्दोर्ध्वं कुण्डलीशक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनाम्।
बन्धनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स योगवित्॥
कुण्डली कुटिलाकारा सर्पवत् परिकीर्तिता।
सा शक्तिश्चालिता येन स युक्तो नात्र संशयः॥
(हठयोगप्रदीपिका)

अधोमुखसर्पिणी निदेली असे।
विद्युल्लतेची विडी। वह्नि ज्वाला ची घडी।
पघेरया ची घोटीव जैशी।
(श्रीज्ञानेश्वरी अ० ६, २२२-२३-२४)

मग कुडलिनी येचा टेंभा। आधारीं केला उभा।
तिया चोजविलिया प्रभा। निमथावेरी॥
(श्रीज्ञानेश्वरी अ० १२। ५१—५२)

मग शक्ति जे का कुडलिनी। आदि माया विश्वसजीवनी॥
शरीर मात्रीं असे निजेली। परी शरीर चालवी स्वसत्ता॥
मग जेवि काते नागाचें पिलें। कुकुम केशरीं सर्वांगीं न्हाणलें॥
नातरीते विद्युल्लतेची विडी। कींते अग्नि ज्वाळाची केवळ घडी॥
नातरी वावन कसाची चोखडी। पुतळी ओतिली॥
(स्वानुभवदिनकर कलाप ९)

६ भिन्न-भिन्न ग्रन्थोंमें बिखरे पड़े असंख्य वचनोंसे कुछ थोड़े-से ही वचन ऊपर उद्धृत किये है। इन वचनोंसे, कुण्डलिनी क्या है, इसका ऊहापोह करना विचारा है। वस्तुतः यह योगशास्त्रका विषय है। योगशास्त्र प्रयोगसिद्ध शास्त्र है। इसमें जिन बातोंका विवरण है वे सब अनुभवजन्य हैं। जिन सिद्धपुरुषोंको कुण्डलिनी-शक्ति जैसी अनुभूत हुई वैसा ही उन्होंने उसका वर्णन किया है। आज भी यदि कोई अभ्यास करे उसे ये ही अनुभव प्राप्त हो सकते हैं।

७ समष्टि सृष्टिकी कुण्डलिनीको महाकुण्डलिनी कहते हैं और उसीके व्यष्टि—व्यक्तिमें व्यक्त होनेपर उसे कुण्डलिनी कहते

है। सम्पूर्ण जगत्को जो चलाती है वह अव्यक्त कुण्डलिनी है और व्यष्टिरूप जीवको चलानेवाली व्यक्त कुण्डलिनी है। जो ब्रह्माण्डमें है सो ही पिण्डमे है, यह बात प्रसिद्ध ही है। 'कुण्डले अस्या स्त' इति कुण्डलिनी। 'कुण्डले' अर्थात् दो कुण्डल—इडा और पिंगला। बायीं ओरसे बहनेवाली नाडी है वह इडा और दायीं ओरसे बहनेवाली पिंगला। इन दो नाडियोंके बीचमे जिसका प्रवाह है वह है सुषुम्ना नाडी। इस सुषुम्ना नाडीके अन्तर्गत और भी नाडियाँ हैं, जिनमें एक चित्रिणी नामकी नाडी है। इसी चित्रिणी नाडीमेंसे होकर कुण्डलिनी-शक्तिका रास्ता है। इसलिये इस सुषुम्ना नाडीकी दोनो ओरसे बहनेवाली उपर्युक्त दो नाडियाँ ही पहले दो कुण्डल हैं।

८ कुण्डलिनी-शक्तिके व्यक्त होनेके साथ वेग उत्पन्न होता है। उससे जो पहला स्फोट होता है उसको नाद कहते हैं। नादसे प्रकाश होता है और प्रकाशका व्यक्त रूप महाविन्दु है। नादके तीन भेद हैं—महानाद, नादान्त और निरोधिनी। विन्दुके भी तीन भेद हैं—इच्छा, ज्ञान और क्रिया, सूर्य, चन्द्र और अग्नि, ब्रह्मा, विष्णु और महेश। जीव-सृष्टिमें उत्पन्न होनेवाला जो नाद है वही ॐकार है, उसीको शब्द-ब्रह्म कहते हैं। ॐकारसे बावन मातृकाएँ उत्पन्न हुईं। इनमे पचास अक्षरमय हैं, इक्यावनवीं प्रकाशरूप है और बावनवीं प्रकाशका प्रवाह है। यह बावनवीं मात्रा वही है जिसे सतरहवीं जीवन-कला कहते हैं। उपर्युक्त पचास मातृकाएँ लोम और विलोमरूपसे सौ होती हैं। ये ही सौ कुण्डल हैं। इन कुण्डलोंको धारण किये हुई मातृकामयी कुण्डलिनी है। इस कुण्डलिनी-शक्तिसे चैतन्यमय जीव देहेन्द्रियादियुक्त जीवरूप धारण करते हुए प्राणशक्तिको सग लिये स्थूल शरीर अर्थात् अन्नमय कोषका स्वामी होता है।

९ इस जीवको जीवत्वकी चेतना सहस्रार चक्रसे अनाहतमे अर्थात् हृच्चक्रमें आनेपर होती है। सहस्रार चक्रमे अव्यक्त नाद है, वही आज्ञाचक्रमे आकर ॐकाररूपसे व्यक्त होता है। इस ॐकारसे उत्पन्न होनेवाली पचास मातृकाओं-की अव्यक्त स्थितिका स्थान सहस्रार चक्र है। इस स्थानको अकुल स्थान कहते हैं। यही श्रीशिव-शक्तिका स्थान है। श्रीशिव-शक्ति अर्धनारीनटेश्वर हैं—शक्ति व्यक्त और शिव अव्यक्त हैं। इस अकुल स्थानसे उत्पन्न होनेवाली जो-जो मातृकाएँ जिस-जिस स्थानमे व्यक्त हुई उन-उन मातृकाओ और उनके उन-उन स्थानोंको लोम-विलोमरूपसे नीचे दरसाते हैं—

पार्श्वमे दरसाये पचीस स्थानोंके सम्बन्धमे लोम-विलोमात्मक श्लोक नीचे देते हैं। यह एक माला ही है और यह माला फेरते हुए जप करनेसे पुरश्चरण-का फल बताया है। कारण, इस मालासे जप करनेसे वृत्तिका इधर-उधर भटकना असम्भव हो जाता है। अस्तु।

लोमश्लोक

आधारनादसूत्रेण ध्यायेद् वर्णमणीन् क्रमात्।
अकुलं च महाबिन्दुः उन्मना समना तथा॥
व्यापिका शक्तिनादान्त-नादरोधार्धचन्द्रिका।
बिन्दुराज्ञा ततश्चैकं लम्बि-काथ विशुद्धिका॥
एकं ततोऽनाहतं द्वे मणिपूरं तथैव च।
स्वाधिष्ठानाधारके च विषुसंज्ञं कुलं तथा॥
कुलाथ चेति स्थानानां पञ्चविंशतिसंख्यका॥

विलोमश्लोक

कुलाथ कुलपद्मं च विषुवाधारसंज्ञकम्।
स्वाधिष्ठानं मणिपूर-मन्तरालद्वयं तथा॥
अनाहतं चान्तरालं विशुद्धिश्चाथ लम्बिका।
अन्तरालाज्ञा च बिन्दुरर्ध-चन्द्रा च रोधिनी॥
नादो नादान्तशक्तिश्च व्यापिका समना तथा।
उन्मना च महाबिन्दुर-कुलं च विलोमत॥

चित्र नम्बर (१) में, भ्रूमध्यमें 'ह' 'म' (क्ष) 'सोऽहं' मन्त्रके दो बीज दिखाये हैं। इनके अन्तर्गत, ॐकार बीजसे पहले स्वरोत्पत्ति, पीछे व्यञ्जनोत्पत्ति हुई।

भ्रूमध्यगत आज्ञाचक्रके नीचे विशुद्धाख्य, अनाहत, मणिपूर, स्वाधिष्ठान और मूलाधारचक्रोंमें क्रमसे इस वर्णोत्पत्तिका क्रम दिखाया है। इसमें यह सिद्ध है कि इन चक्रोंमेंसे ही मातृकात्मक स्वरमाला और वर्णमाला उत्पन्न हुई। इस चित्रमें यह दिखाया गया है कि विशुद्धाख्य चक्रके समीप रुद्रग्रन्थि, मणिपूरके समीप विष्णुग्रन्थि और मूलाधारके समीप ब्रह्मग्रन्थि है।

१० इन मातृकाओंके स्थान जीवके शरीरमें कहाँ-कहाँ किस प्रकार हैं, यह आगे बतलाते हैं—

अ, आ, कवर्ग, ह—कण्ठस्थान।
इ, ई, चवर्ग—तालुस्थान।
ऋ, ॠ, टवर्ग—मूर्धास्थान।
ऌ, ॡ, तवर्ग, ल, स—दन्तस्थान।
उ, ऊ, पवर्ग—ओष्ठस्थान।

इन उत्पत्तिस्थानोंको बताते हुए मूलाधार, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धि, ये नाम नहीं दिये हैं। बात यह है कि परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी, इन चार वाणियोंके स्थान मूलाधारसे बताये जाते हैं। शब्दोत्पत्तिके स्थान इस प्रकार बतानेपर भी अनुभव इससे भिन्न है।

११ वैखरी वाणी अर्थात् शब्दोच्चारण। इस वैखरी वाणीका मूलस्थान परा वाणी है। शब्द पहले परा वाणीसे उठता है। पहले मनमें वृत्ति उठती है, तब वृत्तिसदृश विचार उत्पन्न होता है। विचार प्रकट करनेका मूलस्थान परा वाणी है। विचार सूक्ष्म शब्दमें आता है तब उसे पश्यन्ती कहते हैं। पश्यन्ती वाणीके शब्द नेत्रोंको दिखायी देने लगते हैं। ये शब्द जब अर्धवाक् और रसनाकी क्रियातक आते हैं तब वे मध्यमा वाणी हैं, और स्पष्ट शब्दोच्चार होनेपर वह वैखरी वाणी है। मन्त्रोंका उच्चार पहले मध्यमामें करे और 'पीछे वैखरीसे रामका नाम पहले ले'। समर्थ रामदास स्वामीकी इस उक्तिके अनुसार मध्यमामें अर्थात् कण्ठमें अस्पष्ट उच्चार करे और पीछे वैखरीसे स्पष्ट शब्द उच्चारे।

१२ सहस्रारके नीचे षोडशदल सोमचक्र है, उसके नीचे द्वादशदल मनश्चक्र है, उसीमें विचार उत्पन्न होनेका स्थान है। वह मूर्धास्थानके ऊपर है। ये चक्र सर्वमान्य योगमार्गके श्रीहाट, गोल्हाट और त्रिकुटचक्रोंके समीप ही हैं। मनश्चक्रकी नाडी मनोवहा या आज्ञावहा नलिका है। श्रवणेन्द्रियगोलक शब्दवहा नाडी, नेत्रेन्द्रियगोलक रूपवहा नाडी, वागिन्द्रिय गोलक रसवहा नाडी, घ्राणेन्द्रियगोलक गन्धवहा नाडी, और स्पर्शेन्द्रियगोलक स्पर्शवहा नाडी है। ये नाडियाँ सहस्रार चक्रके आस-पास और मनोवहा नाडीके ऊपर हैं। श्रवणेन्द्रियगोलक यदि उत्पन्न न हो अथवा नष्ट हो जाय तो वह प्राणी गूँगा होता है। ये सब नाडियाँ सहस्रार चक्रके आस-पास हैं, यह जो बात अभी कही उससे यह भी सिद्ध है कि इन ज्ञानेन्द्रियोंके स्थान सहस्रार चक्रमें ही हैं। किसी भूली हुई बातका स्मरण करने अथवा किसी बातका विचार करनेके लिये मनुष्य सिरपर हाथ रखकर, आँखें बन्द करके ऊपरकी ओर ही देखता है। इस तरहसे वह भूली हुई बातको याद करता है। आजकल ऐसे वैज्ञानिक आविष्कार हुए हैं जिनसे विचारोंके फोटोतक खींचे जाते हैं। इनमें यही देखा जाता है कि विचार-मालिका सहस्रार चक्रसे बाहर निकल रही है। इससे यह प्रमाणित होता है कि परा, पश्यन्ती वाणियोंके स्थान मूलाधार-स्वाधिष्ठान नहीं, बल्कि सहस्रारके समीप ही हैं।

१३ मनश्चक्रका स्थान भ्रूमध्यके ऊपर पहले बता आये हैं। पर कुछ ग्रन्थोंमें मनश्चक्रका स्थान अनाहतके समीप बताया है और यह मनश्चक्र आठ दलका है। इस प्रकार मनके दो भेद हैं—एक विचार करनेवाला मन और दूसरा विषयोंको अनुभव करनेवाला मन। इस दूसरे मनकी उत्पत्ति कैसे हुई, यह अब देखें।

१४ वामकेश्वरतन्त्रमें यह वर्णन है कि मस्तकमें जैसा सहस्रारचक्र है वैसा ही सहस्रारचक्र मूलाधारमें भी है और कुण्डलिनी जिस स्वयम्भू लिङ्गको लपेटकर बैठी है वह स्वयम्भू लिङ्ग इसी मूलाधारके सहस्रारमें है। ऊपर स्तम्भ ९ में जिस रुद्रग्रन्थि और ब्रह्मग्रन्थिका उल्लेख हुआ है उनके विषयमें इस तन्त्रमें यह कहा है कि रुद्रग्रन्थि मूलाधारके समीप है और ब्रह्मग्रन्थि विशुद्धाख्यके समीप। इसी प्रकार इस वामकेश्वर-तन्त्रके अनुसार जो चित्रपट तैयार किया है उसमें मूलाधारमें 'वँ शँ षँ सँ' इन बीजोंके बदले 'अ आ इ ई' बीज आते हैं। इसके बाद स्वाधिष्ठानमें 'उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ' बीज आते हैं और यही अनुक्रम आगे चलता है और आज्ञाचक्रमें 'ह क्ष' बीज आते हैं। (चित्रपट न० २ देखिये।) इस चित्रपटके अनुसार परा वाक् मूलाधारमें, पश्यन्ती मणिपूरमें, मध्यमा अनाहतमें और वैखरी विशुद्धिमें,

यह क्रम है । और अनाहतचक्रके समीप अष्टदल मनश्चक्र है । इस सम्बन्धमें ऐसी कल्पना की जा सकती है कि जैसे श्रीबदरीनारायणके रास्तेमें गुप्तकाशी और गुप्त-प्रयाग स्थान हैं और फिर नीचे उतरनेपर पुनः काशी और प्रयाग नामके तीर्थ-स्थानोंके दर्शन होते हैं, वैसे ही शिरोदेशगत सहस्रारसे कुण्डलिनी जब चली और चलकर अपने विश्रान्तिस्थान अर्थात् मूलाधारमें पहुँची तब वहाँ भी उसने सहस्रारकी भावना की । इसी प्रकार परा, पश्यन्ती वाणीकी भी भावना की गयी होगी ।

१५ इस चित्रपट (नं० २) में और एक विशेषता यह है कि इसमें अधिष्ठान-देवता भी भिन्न हैं । दलोंके वर्ण इस चित्रपटमें नहीं बताये हैं । पञ्चमहाभूतोंका भी निर्देश इसमें नहीं है ।

१६ 'जीवो ब्रह्मैव नापरः ।' जीव ब्रह्मरूप ही है और तदनुसार जो ब्रह्माण्डमें है वही पिण्डमें है । कुण्डलिनी-शक्ति जैसे ब्रह्माण्डमें है वैसे ही पिण्डमें है । 'पिण्डमें पिण्डका ग्रास' करना यह है कि कुण्डलिनीरूप पिण्ड देहरूप पिण्ड-का ग्रास करे । कुण्डलिनी जब जाग उठती है तब यह देहगत सब त्याज्य पदार्थ, कफ-पित्तादि दोष नष्ट कर डालती है, और वह जब ऊर्ध्वगामिनी होती है तब देहके चलन-वलनादि व्यापार बन्द हो जाते हैं । यही क्यों, हृदयका आकुञ्चन-प्रसरण और नाडीकी गति भी बन्द हो जाती है, अन्तमें कुण्डलिनी-शक्ति सहस्रार-स्थित परम शिवसे जा मिलती है । इससे जीव अपना जीवत्व पीछे छोड शिवपदवीको प्राप्त होता है ।

१७ कुण्डलिनी शक्ति और प्राण-शक्ति साथ लेकर जीव इहलोककी यात्रा करनेके लिये माताकी कोखमें आता है । प्रारब्धकर्मको भोगनेके उपयुक्त अथवा प्रारब्धकर्मके अनुसार अन्धत्व-मूकत्वादि दोष भी संग लेकर आता है । छः महीनेतक तो जीव माताके आस-पास ही घूमा करता है । सांसारिक व्यवहारमें भी हम देखते हैं कि मकान-मालिक मकान तैयार होनेतक मकानके बाहर ही रहता है । इस प्रकार यह जीवेश्वर अपनी सङ्गिनी कुण्डलिनी और प्राणशक्तिके साथ मातृगर्भमें प्रवेश करता है । प्रवेश करते हुए, कुण्डलिनी-शक्ति सहस्रार चक्रमें अपना मुख्य स्थान नियत करती है और पीछे षट्चक्रोंमें तथा अन्यान्य सब रन्ध्रों और कुहरोंमें प्राणशक्तिके साथ प्रवेश करती है और अन्तमें स्वयम्भू लिङ्गको साढे तीन लपेटोंमें लपेटकर और लिपटकर बैठ जाती या सो रहती है । अथवा साम्यावस्थामें रहती है ।

१८ सभी जीव जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति इन्हीं तीन अवस्थाओंको अनुभव करते हैं । तुरीय अवस्थाका ज्ञान और विज्ञान केवल योगियोंको होता है । इन तीन अवस्थाओंमें कुण्डलिनीकी स्थिति साम्यावस्थामें होती है और उसके द्वारा शरीर-धारणाका कार्य होता है । अव्यक्त 'सोऽहं' शब्द ही कुण्डलिनीकी साम्यावस्था है । इस अव्यक्त 'सोऽहं' शब्द-की अनुभूति आज्ञाचक्रमें होती है, और वही 'सोऽहं' शब्द प्राणवायुके सहारे अनाहतचक्रमें पहुँचकर अनाहतचक्रकी प्रथम मातृका 'क' का सहारा पाकर 'कोऽहं' शब्दमें परिणत होता है । आज्ञा-चक्रतकको अनुभव करनेवाला जीव आत्मस्वरूपको नहीं भूलता । परन्तु नीचे उतरनेपर नाना प्रकारके विषयोंमें लोलुप होकर वह 'सोऽहं' के बदले 'कोऽहं' कहने लगता है और आस-पासके लोगोंके साहचर्य-से विकृतज्ञान होकर 'देहोऽहं' कहने लगता है और देहात्मवादी बनता है । 'अधःस्रोता वै जीवाः' इस वचनके अनुसार सहस्रार चक्रसे नीचे आकर अनाहतमें, अनाहतसे मणिपूरमें, फिर स्वाधिष्ठान और वहाँसे मूलाधारमें आकर प्राणशक्तिके सहारे पूर्ण जीवत्वको प्राप्त होता है । परन्तु यही जीव 'ऊर्ध्वस्रोता वै देवाः' इस वचनके अनुसार स्वयम्भू लिङ्गको लपेटी हुई कुण्डलिनी-शक्तिको जाग्रत करके ऊर्ध्वगामी होकर देवत्वको प्राप्त होता है, स्वयं देवस्वरूप होता है ।

१९ चिदाकाशमें 'एकोऽहं बहु स्याम्' रूप स्पन्द हुआ । स्पन्दसे नाद उत्पन्न हुआ । नाद उत्पन्न होनेके लिये गतिको उत्पन्न होना पड़ता है । कहते हैं कि विद्युत्प्रकाश उत्पन्न होनेके समय विद्युत्कण विलक्षण वेगसे घूमा करते हैं । उनकी गतिका यह वेग यदि नियमित हो तो वे अणुत्व-को प्राप्त होते हैं । वक्र गतिसे और सरल गतिसे घूमनेवाले विद्युत्कण ही शब्दरूप गति हैं । यह शब्द सामान्य मनुष्य-के श्रवणेन्द्रियको गोचर नहीं होता । तथापि जिनकी दिव्य श्रवणशक्ति जाग्रत हो चुकी है वे उस शब्दको सुनते हैं । यही क्यों, हमारी यह ग्रहमाला जिस विशिष्ट गतिसे अपने चारों ओर तथा सूर्यके चारों ओर घूमती है उस गतिसे उत्पन्न होनेवाली सूक्ष्म ध्वनियाँ भी उस पुरुषको अनुभूत होती हैं जिसकी दिव्य श्रवणशक्ति जाग उठी है ।

२० ऐसी ध्वनियाँ दो प्रकारकी हैं । एक अनाहत ध्वनि और दूसरी आहत ध्वनि । यों ही उत्पन्न होनेवाली

आहत ध्वनिसे कोई अर्थोत्पत्ति नहीं होती। अनाहत ध्वनिका अर्थ है 'सोऽहं' ध्वनि। यह ध्वनि पहले अव्यक्तरूपसे आज्ञाचक्रमें मनोऽनुभूत हुई, अनन्तर अनाहतचक्रमें जाकर श्रवणेन्द्रियका द्योतक हुई। परन्तु मात्रोत्पत्ति अनाहतचक्रपर अवलम्बित नहीं है।

२१ आज्ञाचक्रके 'सोऽहं' ध्वनिमें जो ॐकार है उससे स्वर और व्यञ्जन उत्पन्न हुए। इन्हींको वर्ण अथवा अक्षर कहते हैं। भगवतीकी स्तुति करते हुए 'एकानेकाक्षराकृति' कहा है। अक्षरोंसे पद हुए और पदोंसे वाक्य, और वाक्योंके समुदायसे भाषा। अर्थात् शब्द अक्षर यानी अविनाशी हैं। शब्दोच्चारके पूर्व वे थे, शब्दोच्चारके होते भी वे हैं और उच्चार हो चुकनेपर भी हैं। जैसे अँधेरेमें रक्खा हुआ घट प्रकाश होनेके पूर्व भी है, प्रकाश होनेपर भी है और प्रकाशके जानेपर भी है।

२२ तडिल्लतासमरुचिर्विद्युल्लेखेव भास्वरा।

× × × ×

तडिल्लेखा तन्वी तपनशशिवैश्वानरमयी।

—इत्यादि प्रकारसे ग्रन्थोंमें कुण्डलिनी-शक्तिका वर्णन किया गया है। ब्रह्माण्डकी उत्पत्तिके पूर्व स्फोट हुआ अर्थात् महानाद उत्पन्न हुआ। परब्रह्मकी इच्छाशक्ति ही स्फोट है और महानाद उसकी क्रियाशक्ति है। नाद उत्पन्न होनेके लिये गतिका होना आवश्यक है और गतिके होते ही प्रकाश उत्पन्न होता है। उष्णताके विना गति नहीं उत्पन्न होती। उष्णता, नाद और गति तीनों परस्परसापेक्ष हैं। जहाँ उष्णता होगी वहीं गति होगी और जहाँ गति होगी वहीं नाद होगा। उष्णताका दृश्यरूप प्रकाश है। महानादके साथ अक्षरोत्पत्ति हुई। परम शिवके डमरूसे 'अ इ उ ण्' अक्षर उत्पन्न हुए। अक्षर ही मातृकाएँ हैं। जो ब्रह्माण्डमें है सो ही पिण्डमें है—इस न्यायसे जीवकी उत्पत्तिके साथ नाद, अक्षर और प्रकाश उत्पन्न हुए। मातृकाओं अथवा अक्षरोंके साथ प्रकाशका साहचर्य अनिवार्य है। अर्थात् प्रकाश अक्षरोंमें अनुस्यूत है। 'पश्च पश्च उषः' कालमें नियतमानस होकर मध्यमा वाणीसे नामस्मरण करके, जिस नाडीसे योगश्वास चल रहा हो उस ओर अर्धोन्मीलित दृष्टिसे ध्यान लगाने या छः महीने अभ्यास करनेवालेको अपनी श्वासगतिके साथ आनेवाली प्रकाशकिरणोंका साक्षात्कार होता है अर्थात् अव्यक्त और व्यक्त अक्षरोंकी उत्पत्तिके साथ-साथ ही प्रकाशोत्पत्ति भी रहती ही है। इसका अनुभव अवश्य ही अभ्यासके विना, एकाग्रता साधे विना नहीं होता। यह प्रकाश कहीं तो कोटिसूर्य-प्रकाशके सदृश होता है और कहीं कोटिचन्द्रप्रकाशके समान। इडा यानी सूर्यनाडी जो दाहिने नासारन्ध्रसे होकर चलती है और पिङ्गला यानी चन्द्रनाडी जो बायें नासारन्ध्रसे होकर चलती है, ऐसी ये दो नाडियाँ हैं। साधक जिस नाडीके सहारे अभ्यास करेगा, वैसा ही अनुभव उसे प्राप्त होगा। जब हमलोग स्वप्न देखते हैं तब उस स्वप्न-सृष्टिमें हमलोग अपने प्राणमय कोषके सहारे स्वप्नानुभव करते हैं। यह हर किसीको स्वानुभवसे ही ज्ञात है कि स्वप्नसृष्टिके सब व्यवहार प्रकाशमें ही हुआ करते हैं। अर्थात् प्राणमय कोष प्रकाशरूप है। डा० किलनरने प्राणमय कोष (Etheric body) को देखनेके लिये ऑरोस्पेक (Aurospec) नामका चश्मा ढूँढ निकाला है। इस चश्मेसे दिव्य दृष्टि होती है अर्थात् उसके द्वारा चाहे जिसका प्राणमय शरीर हम देख सकते हैं। परन्तु यह जो प्राणमय शरीर प्रकाशरूप दिखायी देता है सो प्रकाशात्मक कुण्डलिनी-शक्तिके सारे शरीरमें व्याप्त होनेके कारणसे दिखायी देता है। मनोमय शरीरमें ऊर्मियोंके उत्पन्न होनेपर अन्नमय शरीरमें उनकी क्रिया होनेका साधन प्राणमय शरीर ही है। अर्थात् प्राणमय शरीरका प्रकाशरूप अपने अनुभवसे तथा डा० किलनरके 'ऑरोस्पेक' से प्रत्यक्ष होता है। इससे यह सिद्ध है कि कुण्डलिनी-शक्ति प्रकाशरूप है।

२३ यह कुण्डलिनी सहस्रारमें प्रकाशरूपसे स्थित है। जीवको जीवत्व देनेके लिये यह शरीरके सूक्ष्मात्-सूक्ष्मतर छिद्रोंमें प्रवेश करके, सूक्ष्म नाडी जो सुषुम्ना है उससे भी सूक्ष्म वज्रा, वज्रासे भी सूक्ष्म चित्रिणी और चित्रिणीसे भी सूक्ष्म जो ब्रह्मनाडी है उस सूक्ष्मतम ब्रह्मनाडीमेंसे होकर प्रवाहित होती है। ऐसी सूक्ष्मतम नाडीको मृणालतन्तुकी जो उपमा दी गयी है वह ठीक ही है। यह प्रकाशमय है, यह ऊपर बताया ही है।

२४ प्रस्तुत प्रबन्धका शीर्षक 'कुण्डलिनी-शक्तियोग' है। इस शब्दसमुच्चयमेंसे 'कुण्डलिनी-शक्ति' का स्पष्टीकरण हो गया। अब 'योग' शब्दका स्पष्टीकरणक्रम प्राप्त है।

२५ योग शब्द 'युज्'—जोड़ना, इस धातुसे बना है। रवि और चन्द्र अमावस्याको एक स्थानमें आते हैं। उनके इस एकत्र होनेको रवि-चन्द्रयोग कहते हैं। अर्थात् दो वस्तुओंके एकत्र होनेका नाम योग है। अथवा किसी पदार्थमें या किसी कार्यमें या किसी मनुष्यमें किसी भी कारणसे किसी प्रकारकी जो न्यूनता देख पड़ती है

उसकी पूर्तिका होना भी एक प्रकारका योग ही है। कोई दरिद्र मनुष्य है, उसे यदि धन मिल जाय तो वह धनयोग है। जहाँ जल न हो वहाँ यदि जल आ जाय तो वह जलयोग है। जीवको ज्ञान-विज्ञानका प्राप्त होना ज्ञानविज्ञान-योग है। पुराण-पुरुषोत्तमका ज्ञान प्राप्त होना पुराण-पुरुषोत्तमयोग है। जीवकी समाधि लग जाय तो वह समाधियोग है। जायते वर्धते इत्यादि षड्विकारोंसे जो युक्त है वह जीवात्मा है और जो क्लेशकर्मविपाकरहित, षड्विकाररहित है वह है परमात्मा। जिन अनेक प्रक्रियाओंसे इस जीवात्माका उस परमात्माके साथ योग होता है, वह जीवात्म-परमात्म-योग है। अद्वैतमतसे जीवात्मा और परमात्मा एक ही हैं। तब उनका योग क्या है? दो पृथक् वस्तुओंका मिलना ही योग है इसलिये अद्वैतसिद्धान्तके अनुसार जीवात्माको परमात्म-स्वरूपका ज्ञान होना और उस ज्ञानके होनेकी प्रक्रिया ही योग है। आत्मसाक्षात्कार यानी जीवात्मयोग अर्थात् जिन शारीरिक और मानसिक साधनोंसे साक्षात्कार होता है उन्हे योग समझिये। मायामृगजलसे जीवात्मा और परमात्मा भिन्न भासते है। यह भिन्नत्व मानसिक सङ्कल्प-विकल्पोंसे प्रतीत होता है। कहते हैं कि माया-सा बलवत्तर बन्धन संसारमें और कोई नहीं, और उस बन्धनको काटनेवाला योग-सा अव्यर्थ और कोई साधन भी नहीं। इसलिये उपर्युक्त मनोर्मियोंका निरसन या निरीक्षण अथवा निरोध करनेके साधनको योग कहते हैं। 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोध.' यह श्रीपतञ्जलि महामुनिकी योगव्याख्या है। इस प्रकारका योग कुण्डलिनी-शक्तिके द्वारा साधना कुण्डलिनी-शक्तियोग है।

२६ मायातन्त्रमें जीव-शिवैक्य-योगको ही यथार्थ योग कहा है। अन्य ग्रन्थकारोने जीव-शिवके सादृगुण्यको योग कहा है। ईशशक्ति कर्तुम्, अकर्तुम्, अन्यथाकर्तुम् इस प्रकार त्रिविध है। इन तीन शक्तियोंमें पहली दो शक्तियाँ योगियोंमें जाग्रत होती है। आगमवादी कहते है कि शक्तिका ज्ञान होना अर्थात् ज्ञानशक्त्यात्मिका जो स्थिति है वही योग है। हठयोगप्रदीपिकामे कहा है कि राजयोग-समाधि, उन्मनी, मनोन्मनी, अमरत्व, शून्याशून्य परमपद, अमनस्क अद्वैत, निरालम्ब निरञ्जन जीवन्मुक्ति, सहजावस्था, तुरीयातीतावस्था इन सब पदोका अर्थ योग ही है। द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि सभी सम्प्रदायोमें योगकी बड़ी महिमा वर्णन की हुई है। इन सब सम्प्रदायोंमें तथा जैन, बौद्ध, मुसलमान सूफी, अमेरिकाके मेस्मेरियन इन सब पन्थोंमें योगतत्त्व पूर्णतया अनुस्यूत है और सत्यज्ञान अनन्तरूप जो परब्रह्म है उसका ज्ञान प्राप्त कर उसको अनुभव करना ही इन सबका ध्येय है।

२७ योगशास्त्रके ग्रन्थोंमें योगके चार विभाग किये गये हैं। श्रीमद्भगवद्गीतामें तीन ही विभाग हैं और सम्मोहन-तन्त्रयोगमें पाँच विभाग हैं। योगशास्त्रके ग्रन्थानुसार चार विभाग ये हैं—मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग और राजयोग। श्रीमद्भगवद्गीतामे कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग ये तीन विभाग हैं। परन्तु छठे अध्यायको पढ़िये तो हठयोग भी श्रीमद्भगवद्गीतामे आ जाता है। सम्मोहनतन्त्रके पाँच विभाग इस प्रकार हैं—ज्ञानयोग, राजयोग, लययोग, हठयोग और मन्त्रयोग। इस प्रकार सम्मोहनतन्त्रमे अन्य दो प्रकारके वर्गीकरण भी आ जाते हैं। इसलिये सम्मोहनतन्त्रके वर्गीकरणके अनुसार ही इन योग-विभागोंका विचार करें।

२८ ज्ञानयोग—इस योगमें स्थूल शरीरसे लेकर सूक्ष्म, कारण, महाकारण और फिर अतिमहाकारण देहतक सब देहोंकी, पञ्चीकरणकी दृष्टिसे तथा व्यतिरेक और अन्वयसे, आत्मासे भिन्नता सिद्ध करते हैं। और चित्तवृत्तिका लय करते हुए ज्ञानकी जो सात भूमिकाएँ पार करनी पडती है वे इस प्रकार हैं—१ शुभेच्छा अर्थात् विवेक-वैराग्यकी स्थिति, २ विचारणा अर्थात् श्रवण-मननकी अवस्था। (इन दो भूमिकाओंको पार करनेके पश्चात् मुमुक्षु साधकपदपर आता है।), ३ तनुमानसा अर्थात् अनेक अर्थोंमेंसे यही एक अर्थ ग्रहण करना कि पञ्चभूतात्मक देह अनित्य और आत्मा नित्य-शुद्ध-बुद्ध है, ४ सत्त्वापत्ति अर्थात् 'अहं ब्रह्मास्मि' मैं ब्रह्म हूँ, इस धारणाको दृढ करना, ५ असंसक्ति अर्थात् नानाविध सिद्धियोंकी ओरसे अनासक्ति, ६ पदार्थाभाविनी—'अहं ब्रह्मास्मि' भी तो एक अहंवृत्ति ही है अतः इसका भी लय होना, ७ तुर्यगा अर्थात् आत्मस्वरूपसे न उठना। इन सात भूमिकाओंको पार करते हुए विक्षिप्तता, गतायाता, सश्लिष्टता और सुलीनता इन चार अवस्थाओं तथा लय, विक्षेप, कषाय और रसास्वाद इन चार विघ्नोंको लाँघकर केवल निरालम्ब स्थितिमें तल्लीन होकर रहनेको कहा गया है।

२९ राजयोग—इस योगका आधारभूत ग्रन्थ है पातञ्जल योगसूत्र। इसमे चार पाद वर्णित हैं—१ समाधिपाद, २ साधनपाद, ३ सिद्धिपाद और ४ कैवल्यपाद। अष्टाङ्गयोग-साधन करके शरीरके भिन्न-भिन्न स्थानोंमें मनःसंयम करे। इस संयमसे भुवनज्ञान, ताराव्यूहज्ञान, कायव्यूहज्ञान, क्षुत्पिपासानिवृत्ति, सिद्धदर्शन और अणिमा, गरिमा, लघिमा, महिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व ये आठ

सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं । परन्तु ये सिद्धियाँ आत्मस्थितिमे अन्तराय हैं । इसलिये विवेकख्याति करके निर्विकल्प समाधि-सुख लाभ करना चाहिये यही परम उपदेश है । 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' इस योगसूत्रके अनुसार ध्यानयोग राज-योगका ही एक भाग माना गया है । इस राजयोगमें जो प्राणायाम बताया है उसको करते हुए, रेचकके समय बाह्य जगत्को अपने भीतर आकर्षण करे और कुम्भक करनेमें उसे अपने अन्दर दृढ़ धारण करे और पूरकमे मनकी सब द्वैत कल्पनाओंको निकाल बाहर करे । श्री-मन्महाभारतमे कथा है कि एक ऋषिपत्नीको यह शाप मिला कि सूर्योदय होनेके साथ ही तुम विधवा हो जाओगी, तब उस सतीने ऊपर लिखे अनुसार धारणा की । उसकी उस धारणासे सूर्यदेवका उदय होना ही रुक गया । सूर्योदयका समय निकल गया, चौदह घण्टे और बीत गये, पर सूर्योदय नहीं हुआ । तब महर्षि वशिष्ठने आकर उससे कहा, 'सूर्यदेवका उदय होना क्यों रोकती हो ? सूर्योदय होने दो, तुम्हारे मृत पतिको सञ्जीवन-मन्त्रसे पुनः जीवित कर देंगे ।' तब उस सतीने मनःसयमको छोड़ा । तात्पर्य, ऋषिपत्नियाँ भी महायोगिनी हुआ करती थीं । भवन, कर्म और ध्यान इस योगके भेद हैं । भवनका अभिप्राय यह है कि मूलाधारसे ब्रह्मरन्ध्रतक सप्तलोकव्याप्त प्रकाश-रूप एक दण्ड है, उसमें जलज, उद्भिज, जारज, देव, दानव, मानव ये सब एक-पर-एक अपने तेजोरूप दण्डमें रहते हुए समाविष्ट हैं, इस प्रकारकी भावना करे । कर्मका अभिप्राय है कि मैं ब्रह्मशक्तिसम्पन्न हूँ, ऐसा जप करे । ध्यानका अभिप्राय है—

शुद्धमात्मात्ममखिलं शुद्धज्ञानतपोमयम् ।
शुद्धेन्द्रियगुणोपेतं परं तत्त्वं विभावये ॥

यह कहकर भ्रूमध्यमें शुभ्र कमलके बीच परमपुरुषका ध्यान करे ।

३० लययोग—प्राणशक्ति, कुण्डलिनीशक्ति, मन, मन-की वृत्तियाँ, इन सबका लय जिस योगमे किया जाता है वह लययोग है । कुण्डलिनी-योग तन्त्रमें वर्णित है और हठयोगमे भी वर्णित है । कुण्डलिनीयोगमें यम-नियमादि अष्टाङ्ग साधन बताकर शोधन, धृति, स्थिरता, धैर्य, लाघव, प्रत्यक्ष और निर्विकल्प समाधि ये सात अङ्ग वर्णन किये हैं । कुछ ग्रन्थोंमें षट्चक्र, उनके दलोंके रग, उन दलोंपर स्थित मातृकाएँ तथा उन चक्रोंके देवता (चित्रपट न० २ के अनुसार) बताये गये हैं । कुछ ग्रन्थोंमें उन षट्चक्रोंके देवता और उनके वाहन नीचे लिखे अनुसार बताये हैं*—

३१— चक्रोंके नाम	स्थान (मेरुदडमे)	दल	दलकी मातृकाएँ	तत्त्व और गुण	तत्त्व-का रग	मण्डलका आकार	बीज	वाहन	देवता वाहन	शक्ति	तत्त्वका गुण	इन्द्रिय	लिङ्ग
मूलाधार	गुदासमीप	४	व श ष स	पृथ्वी सकली-करण गन्धवाह	पीत	चतु-ष्कोण	ल	ऐरावत	ब्रह्मा ऐरावत	डाकिनी	गन्ध	पाद कर्मेन्द्रिय	स्वयम्भू
स्वाधि-ष्ठान	लिङ्गके सामने	६	ब भ म य र ल	आप, आ-कुञ्चन रसवाह	शुभ्र	अर्ध चन्द्र	व	मकर	विष्णु गरुड	राकिनी	रस	हस्त स्पर्शेन्द्रिय	
मणिपूर	नाभिके सामने	१०	ड ढ ण त थ द ध न प फ	तेज, प्रसरण उष्णवाह	रक्त	त्रिकोण	र	मेष	रुद्र नदी	लाकिनी	रूप	गुद कर्मेन्द्रिय	
अनाहत	हृदयके सामने	१२	क ख ग घ ङ च छ ज झ ञ ट ठ	वायु, गति स्पर्शज्ञान		षट्कोण	ष		ईश	काकिनी	स्पर्श	लिङ्ग	बाण लिङ्ग
विशुद्धि	कण्ठके सामने	१६	अ आ इ ई ···अ अः	आकाश	शुभ्र	वर्तुल	ह	शुभ्र हस्ति	सदाशिव	शाकिनी	शब्द	श्रवण मुख	
आज्ञा	भ्रूमध्य	२	ह क्ष (स)	मन			ॐ	···	शम्भु	हाकिनी	महत्	हिरण्यगर्भ	पाताल लिङ्ग
सहस्रार	मूर्धन्	१०००		आत्मा			अ० प्रणव		कामेश्वरी कामनाथ			गुरु-पादुका	

* चक्रोंके सात चित्र और एक षट्चक्रमूर्तिका चित्र इसमें अन्यत्र प्रकाशित है । उनके दलोंके रङ्ग और देवता आदिमें कुछ भेद है । परन्तु मौलिक कोई भेद नहीं है । इनका विशेष वर्णन कल्याणके 'शक्ति-अङ्क' मे देखना चाहिये । —सम्पादक

३२ इस सम्प्रदायमे यह बताया है कि सहस्रार-चक्रमे कामेश्वरी और कामेश्वरका ध्यान करे। आमूल सब चक्रोंके देवताओंका जो वर्णन किया गया है वह 'पञ्चब्रह्मासनासीना पञ्चब्रह्मसमन्विता' इस वचनके आधारपर किया गया है। श्रीकामेश्वरी और श्रीकामनाथ आद्यगुरु हैं, इसलिये उनका स्थान सहस्रारके अन्तमें श्रीगुरुपादुका ही बताया है। मूलाधारसे सहस्रारतक सब चक्रोंके स्थान स्थूल देहगत स्थानोंके समीप ही, ऊपरके कोष्ठमे बताये हैं। परन्तु स्थूल देहगत स्थान विद्युत्के विना विद्युद्दीपके समान हैं। विद्युत्के विना प्रकाश कहाँ? विद्युद्धाराके चलते ही विद्युद्दीप प्रकाशमान होते हैं उसी प्रकार कुण्डलिनीका उत्थापन होनेसे ही ये चक्र अपने-अपने वर्णोंके साथ प्रकाशित हुए देख पडते हैं। ये चक्र मेरुदण्डगत सुषुम्ना नाडीके भीतर वज्रा नाडी और ब्रह्म नाडीसे संलग्न हैं। उसी प्रकार ये चक्र प्राणमय, तेजोमय और मनोमय कोषके भीतर हैं। सहस्रारचक्र ब्रह्मरन्ध्रके ऊपर चार अङ्गुल फैला हुआ है। जिनकी दृष्टि दिव्य हो चुकी है वे ही इन चक्रोंके नाना प्रकाशरूपी मातृकाओंको अनुभव करते हैं। अन्य लोग दृढ भावनाके साथ तत्तच्चक्रकी मातृकाओं, उनके वर्णों और तत्त्वोंका प्रकाशरूपमे ध्यान कर सकते हैं। षट्चक्रनिरूपण-ग्रन्थमें कुण्डलिनीका उत्थापन नहीं है पर उसका चिन्तन करनेको कहा है। भावनासे और क्रमशः इष्टदेव-प्रसादसे तथा गुरुकृपासे यह कुण्डलिनीयोग सिद्ध होता है। इस भावनासे जो अनुभव प्राप्त होता है वही अनुभव हठयोग-साधनसे प्राप्त होता है। हठयोगसे कुण्डलिनी उत्थान हो जाय तो भी इष्टदेवताप्रसादसे दिग्बन्धका होना तो आवश्यक ही है, नहीं तो पिशाचादि अनिष्ट भूतसङ्घद्वारा प्रत्यवाय हो सकता है। इष्टदेवके प्रसन्न होनेपर इष्टदेव ही मानवरूप धारणकर साधकसे योगकी सब क्रियाएँ करा लेते हैं। इसके प्रमाणस्वरूप परमहंस श्रीरामकृष्णका दृष्टान्त है। उनके चरित्रग्रन्थमें यह लिखा हुआ है कि श्रीभगवतीने उनके पास एक योगिनीको भेजा जिन्होंने छ: महीनेमें उनसे योगकी सब क्रियाएँ करा लीं। तन्त्रशास्त्रके इस लय-योगमें कुण्डलिनीका जागना केवल गुरुकृपासे ही होता है। इसलिये इस सम्प्रदायमे गुरु ही मुख्य देवता माने गये हैं। श्रीगुरु ही स्पर्शदीक्षा और फिर दिव्यदीक्षा शिष्यको देते हैं। और दीक्षा होनेपर एक क्षणमें ही शिष्यकी कुण्डलिनी जाग उठती है। इस कुण्डलिनीशक्तिके जाग उठनेपर मूलाधारसे सहस्रार-पर्यन्त सम्पूर्ण शरीर प्रकाशमय हो जाता है। विद्युत्-रूपसे कुण्डलिनी जब ऊपर जाने लगती है तब प्रकाशका साक्षात्कार होता है।

३३ तन्त्रमार्गीय गुरु शक्तिपात करके शिष्यके भ्रूमध्य और विशुद्धाख्यमे स्पर्श कर प्रकाशका अनुभव कराते हैं। हठयोगके क्लिष्ट और कष्टसाध्य साधनोंसे प्राप्त होनेवाला अनुभवजन्य ज्ञान इस सम्प्रदायमे केवल गुरुकृपासे प्राप्त हो जाता है। आजकल शक्तिपात करके कुण्डलिनी-उत्थान करानेवाले गुरु विरले ही कोई मिलते हैं। हमारे देखते इन पचीस वर्षोंमें एक ही गुरु ऐसे मिले। आप बङ्गाली शरीर सन्यासी योगी हैं। पूर्वाश्रममें ये बहुत बड़े उपासक थे। इनका नाम श्रीनित्यानन्द महाराज है। इनके गुरु-बन्धु टेहरीप्रान्तमें जङ्गलमें रहते हैं। इन महाराजने पूनेके ड्राइंग मास्टर (जो अभी पूनेमे हैं) श्रीगुलवणी महाशयकी कुण्डलिनी जाग्रत् कर दी और चमत्कार यह कि स्वामी महाराजने जब उन्हें स्पर्शदीक्षा दी तब उनकी वह दीक्षा देनेकी शक्ति श्रीगुलवणी महाशयको भी प्राप्त हो गयी। इन श्रीगुलवणीजीने पीछे दूसरे एक साधककी कुण्डलिनी जाग्रत् कर दी। 'अपने सरीखे तत्काल ही कर देते है, इसमें उन्हे कुछ भी देर नहीं लगती' इस सन्त-वचनके अनुसार ऊपर दिया हुआ वर्णन प्रत्यक्ष प्रमाण है। उपर्युक्त स्वामी महाराजके समीप हम तीन दिन थे। उनसे दीक्षा पानेकी प्रार्थना की। उन्होंने मिलने-के साथ ही कहा कि श्रीभगवतीकी आज्ञा है। पर पीछे यह सूचित किया कि आपको इसकी आवश्यकता नहीं है। 'तुम अपात्र हो' यह न कहकर उन्होंने उक्त प्रकारसे उत्तर दिया। स्वामी महाराज भगवतीकी इच्छाके अनुसार विचरते हैं, इसलिये इस समय महाराज कहाँ हैं यह बात नहीं हो सका।

३४ शक्तिसम्मोहनतन्त्रमें 'नवचक्रात्मिका देवी' का वर्णन है। उन चक्रोंका विवरण नीचे देते हैं—

स्थान	चक्रका नाम	देवता
शिर	सर्वानन्दमय	श्रीललितामातादुर्गा
शिखरी	सर्वसिद्धिचक्र	त्रिपुराम्बा
गोल्लाट	सर्वरोगहरचक्र	त्रिपुरासिद्धि
विशुद्धि	सर्वरक्षाकरचक्र	त्रिपुरमालिनी
आज्ञा	सर्वार्थसाधकचक्र	त्रिपुराश्रीचक्राधीश्वरी
अनाहत	सर्वसौभाग्यदायक	त्रिपुरवासिनी
मणिपूर	सर्वसंक्षोभिणीचक्र	त्रिपुरसुन्दरी
स्वाधिष्ठान	सर्वाशापरिपूर्णचक्र	त्रिपुरेशि
मूलाधार	त्रैलोक्यमोहनचक्र	त्रिपुराम्बा

इस वर्गीकरणमें चक्रोंके दल आदि विवरण नहीं हैं। श्रीत्रिपुराम्बादेवीके भिन्न-भिन्न रूप दिये हैं। इस साधन-क्रममें भावना और महाभाव अवस्थाओंका वर्णन है।

३५ इसके अतिरिक्त महानिर्वाणतन्त्रमे ऐसे ही नौ चक्र हैं। परन्तु चक्रोंके आकार और बीज दूसरे ही दिये हैं।

३६ लययोगमें हठयोगकी तरह ही योगनाडियोंका वर्णन है, वह आगे देते हैं। चित्रपट नं० २ मे इडा, पिङ्गला और सुषुम्ना नाडियाँ दिखायी है। इडा नाडी (बायें नासारन्ध्रसे चलनेवाली) चन्द्र नाडी है। उसका वर्ण शुभ्र है। और पिङ्गला (दायें नासारन्ध्रसे चलनेवाली) सूर्य नाडी रक्तवर्णकी है। इन दोनोंके बीचमें सुषुम्ना नाडी है। इडा और पिङ्गला सुषुम्ना नाडीको लपेटे हुई चलती है। इन दोनों नाडियोंकी वक्रगतिसे षट्चक्रोंमेंके पाँच चक्र बनते हैं, इन्हें पञ्चचक्र कहते हैं। इडा नाडीको अमृतविग्रहा और पिङ्गला नाडीको रौद्रात्मिका कहते है। ये दोनों नाडियाँ कालस्वरूप दिखाती हैं। ये दोनों नाडियाँ जब समगतिसे चलती हैं तब सुषुम्ना नाडीमें उनका लय होता है। इसी अवस्थामे सुषुम्ना नाडीमे कुण्डलिनी प्रवेश करती है। योगीलोग सुषुम्ना नाडीमें प्रवेश करके महाप्रयाणका समय बदल देते हैं। इसीलिये कहते हैं कि सुषुम्ना नाडी कालभक्षक या कालरोधक है। कुण्डलिनी सुषुम्ना नाडीमे प्रवेश करके सहस्रारचक्रमे पहुँचकर वहाँ जब शान्त होती है तब उस अवस्थाको समाधि कहते है। योगी जब इस समाधिस्थितिमे होते हैं तब उनके शरीर विकाररहित अर्थात् वर्धते, विपरिणमते, नश्यतीति विकारोंसे रहित होते हैं। उनके नखकेशादि नहीं बढ़ते। प्राणक्रिया बन्द होनेसे नाडीका चलना और हृदयका आकुञ्चन-प्रसरण बन्द हो जाता है। इसलिये ऐसे योगीको कालभक्षक अथवा कालान्तक योगी कहते हैं। योगी चांगदेव महाराज १४०० वर्ष जीये और आज भी तीन-तीन सौ वर्ष वयस्के योगी हिमालय-प्रदेशमें देख पडते हैं।

३७ इस लययोगमे नाडी-शुद्धि अथवा नाडी-जय करनेके लिये कोई खास क्रिया-साधन नहीं बताया है। इडा, पिङ्गला और सुषुम्ना नाडियाँ आज्ञाचक्रके समीप मुक्त त्रिवेणीरूप दिखायी देती हैं और मूलाधारसे जहाँ वे निकलती हैं वहाँ उन्हें युक्त-त्रिवेणी कहते है। इडा-पिङ्गला नाडियोंकी वक्रगतिसे षट्चक्रमेंसे जो पाँच चक्र बनते हैं वे मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत और विशुद्धाख्य हैं। इसके अतिरिक्त मेरुदण्डकी बायीं ओर कुहू नाडी है। बायीं आँखसे बायें पैरके अँगूठेतक चलनेवाली गान्धारी नाडी है। दायीं आँखसे दायें पैरके अँगूठेतक हस्तिजिह्वा नाडी है। हमारे परिचित एक सज्जन पेड़परसे गिरे और उस चोटसे उनकी बायीं आँख बाहर निकल आयी। उन्हें लोग श्रीयोगाम्यानन्द माधव-नाथ महाराजके पास ले गये। नाथ महाराजने कहा कि बायाँ अँगूठा चला जाना यदि स्वीकार हो तो आँख जहाँ-की-तहाँ लग जायगी। तब उन सज्जनका बायाँ अँगूठा बाँधकर उसपर हथौडा चलाया गया। उससे आँख अपने स्थानमें आ गयी और अँगूठा टेढा होकर बेकार हो गया। अस्तु। सुषुम्नाकी दायीं ओर सरस्वती नाडी है। वह जिह्वाके समीप आकर मिली है। दायीं आँखसे पेटतक पूषा नाडी है। पूषा और सरस्वतीके बीचमे पयस्विनी नाडी है। गान्धारी और सरस्वतीके बीचमें शंखिनी नाडी है। दाहिने हाथके अँगूठेसे बायें पैरतक यशस्विनी नाडी है। कुहू और यशस्विनीके बीचमें वारुणी नाडी है और उसकी व्याप्ति शरीरके निचले भागमे है। कुहू और हस्तिजिह्वाके बीचमें विश्वोदरा नाडी है, वह भी वारुणी नाडीके समान शरीरके निचले भागमें फैली हुई है।

३८ सुषुम्नाके मध्य भागमें वज्रा नाडी है और वज्रा नाडीके मध्य भागमें चित्रा नाडी है और चित्रा नाडीके मध्य भागमें ब्रह्म नाडी है। सुषुम्ना नाडी अग्निस्वरूप है। वज्रा नाडी सूर्यरूपा है और चित्रिणी नाडी पूर्ण चन्द्र-मण्डलरूपा है। शब्दब्रह्मके ये तीन प्रकार हैं। शब्दब्रह्म-रूपा कुण्डलिनी जब ऊर्ध्वगामिनी होती है तब इन तीन

नाडियोंको स्पर्श करती हुई चलती है । इसलिये इन तीन नाडियोंको शब्दब्रह्मरूप कहा है । चित्रा नाडीको ब्रह्मद्वार कहते हैं, क्योंकि इसी नाडीके पाससे कुण्डलिनी ऊर्ध्वगामिनी होती है ।

३९ पञ्चतत्त्वात्मक पञ्च चक्र जो मेरुदण्डगत सुषुम्ना नाडीसे सटे हुए हैं वे इस प्रकार हैं—पृथ्वीतत्त्वका दर्शक मूलाधारचक्र है, अप् तत्त्वका दर्शक स्वाधिष्ठानचक्र है और तेजस्तत्त्वका दर्शक मणिपूरचक्र है । वायुका अधिष्ठान अनाहतचक्रमें है और आकाशतत्त्वका अधिष्ठान विशुद्धिचक्रमें । आज्ञाचक्र तृतीय नेत्रका आधारभूत चक्र है । एक स्थानमें यह कहा है कि जिसे षट्चक्रका ज्ञान नहीं वह कुण्डलिनीको नहीं जगा सकता और दिव्य मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकता ।

४० अब संक्षेपमें इन षट्चक्रोंका वर्णन करते हैं—पहला मूलाधारचक्र है, इसके चार दल हैं, देवता ब्रह्मदेव हैं । ये चार दल प्राणशक्तिरूप योगनाडीकी सहायतासे उत्पन्न हुई चार आकृतियाँ हैं । इनमें प्राणशक्तिके साथ कुण्डलिनी प्रसृत होती है । प्राणशक्तिका जब लय होता है तब इन दलोंका भी लय होता है । इन दलोंपर जो मातृकाएँ या अक्षर हैं वे कुण्डलिनीके रूप हैं । कुण्डलिनी स्वयं, इस चक्रके नीचे त्रिकोणाकृति अग्निचक्रमें अवस्थित स्वयम्भूलिङ्गसे साढे तीन वलयोंमें लिपटी हुई सुप्तावस्थामें पड़ी है । इस स्वयम्भू-लिङ्गको घेरे हुए अग्निचक्र त्रिकोणको त्रैपुर कहते हैं । सहस्रारचक्रमें कामकलारूप जो त्रिकोण है उसीकी यहाँ यह प्रतिकृति है । इस मूलाधारचक्रका ध्यान करनेसे वाक्य-काव्य-प्रबन्ध-दक्षता-सिद्धि प्राप्त होती है ।

४१ इसके बाद स्वाधिष्ठानचक्र है, इसके छः दल हैं, देवता भगवान् श्रीविष्णु हैं । इसके अनन्तर नाभिपद्म अथवा मणिपूरचक्र है । इसके देवता श्रीरुद्र हैं । इन चक्रदेवताका ध्यान जिस साधकको पूर्णतया सिद्ध हो वह पालन और संहार-जैसे कार्य कर सकता है । इसके बाद हृत्पद्म अथवा अनाहत-चक्र है, इसीके समीप आठ दलोंका निम्न (Lower-Mind) मनश्चक्र है । सहस्रारचक्रकी जिन्हें अनुभूति नहीं और जो भक्तिमार्गप्रवण हैं, जिन्हें अन्य चक्रोंकी खबर नहीं और सारे योगशास्त्रको जो हठयोग ही मान बैठे हैं वे 'हृदयमन्दिरमें हरिको भजें' इस वचनके अनुसार या 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' इस गीतोक्तिके अनुसार अथवा—

> हृत्पुण्डरीकमध्यस्था प्रातःसूर्यसमप्रभाम् ।
> पाशाङ्कुशधरां सौम्यां वराभयहस्तकाम् ॥

इस मन्त्रके अनुसार अपने-अपने इष्टदेवका ध्यान अपने हृच्चक्रमें करते हैं । इस कमलके समीप कल्पतरु और मणिपीठ है । विश्वसारतन्त्रमें कहा है कि इस स्थानमें उत्पन्न होनेवाली अनाहतध्वनि ही भगवान् सदाशिव है । त्रिगुणमय ॐकार इसी स्थानमें व्यक्त होता है । इसी स्थानमें बाणलिङ्ग है । निर्वात स्थानकी दीपज्योतिके समान जीवात्मा इसी स्थानमें है । दृश्य जगत्के पदार्थ मेरे और यह शरीर ही मैं, इस प्रकारकी देहात्मवादियोंकी जो विचारपद्धति है वही हृदयग्रन्थि है और गुरुकृपासे वह टूट जाती है । इसी हृदयग्रन्थिमें जीवात्मा उलझा रहता है । वित्तैषणा और दारैषणाके नष्ट होनेपर भी साधक लोकैषणामें अटक जाता है । किसीसे पूछिये कि इस बड़े कामको करनेवाले देवदत्त कौन हैं तो वह अपनी छातीपर हाथ रखकर ही अपने देवदत्त होनेका प्रशस्त परिचय देता है । इसके लिये वह कभी मस्तकको स्पर्श नहीं करता, न आधारचक्रको स्पर्श करके अपना परिचय देता है । तात्पर्य, जीवात्माका वासस्थान हृदय ही है । तैत्तिरीय आरण्यकमें इन चक्रोंके अधिष्ठातृ देवता तथा आवरण देवता बताये हैं और आनन्दलहरीके १७ वें श्लोकमें भी वशिन्याद्या आवरण देवताओंका उल्लेख है ।

४२ इसके बाद कण्ठपद्म अर्थात् विशुद्धिचक्र है । इसे विशुद्धिचक्र इसलिये कहते हैं कि जीव यहाँ भ्रूमध्यस्थित परमेश्वरको देखकर वासनाजालसे मुक्त होता है । यहाँ अर्धनारी-नटेश्वर देवता हैं । इन नटेश्वरका अर्धाङ्ग शुभ्र और अर्धाङ्ग सुवर्णमय है । यही मोक्षद्वार है । इस स्थानमें ध्यान करनेसे ज्ञानी त्रिकालज्ञ होता है । इस विशुद्धिचक्रके ऊपर और आज्ञाचक्रके नीचे एक चक्र है जिसे ललनाचक्र या कलाचक्र कहते हैं । उसके १२ दल हैं । उसकी ये वृत्तियाँ हैं—श्रद्धा, सन्तोष, अपराध, दम, मान, स्नेह, शुद्धता, आराती (वैराग्य), सम्भ्रम (मनोद्वेग), ऊर्मी (क्षुधातृषा) ।

४३ इसके अनन्तर आज्ञाचक्र है । इस चक्रका नाम आज्ञाचक्र इसलिये रक्खा गया है कि सहस्रारमें स्थित श्रीगुरुसे इसी स्थानमें आज्ञा मिलती है । इसके दो दल हैं । मूलाधारसे आज्ञाचक्रतक ५० मातृकाएँ और ५० दल हैं । ये मातृकाएँ लोम-विलोम मिलाकर १००

होती है। सहस्रारचक्रमे १००० दल है, यह जो कहा गया है वह इस हिसाबसे कि १०० तो मातृकाएँ है और फिर दस इन्द्रियोंके दस-दस गुण अथवा दस-दस न्यास हैं। इस हिसाबसे सहस्रदल होते है। कुछ अन्य ग्रन्थकार यह कहते हैं कि सहस्रारचक्रमे कुल २० विवर हैं, इनमे पचास-पचास मातृकाएँ गिनी जायँ तो भी १००० दल होते है। आज्ञाचक्रमें योनित्रिकोण है, उसमें कहते हैं कि इतर लिङ्ग अथवा पाताल-लिङ्ग है। अग्नि, सूर्य और चन्द्र इस त्रिकोणमे एकत्र होते है। महत्तत्त्व और प्रकृतितत्त्व इसी स्थानमे है। महत्तत्त्वके वुद्धि, चित्त, अहङ्कार और सङ्कल्प-विकल्पात्मक मन ये चार भेद है। अव्यक्त प्रणवरूप आत्माका यही स्थान है। इसी स्थानमें प्रवेश करके और प्राण धारण करके योगीलोग महाप्रयाणके समय, 'भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्' इस वचनके अनुसार पुराण पुरुषमे प्रवेश करते है।

४४ आज्ञाचक्रके समीप मनश्चक्र है, उसके छः दल हैं। इनमेसे पॉच दल शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इन पॉच विषयोंके स्थान है और छठे दलसे स्वप्नगत अनुभव और सम्भ्रमगत ज्ञान प्राप्त होता है। मनश्चक्रके ऊपर सोमचक्र है, उसके १६ दल है। यही निरालम्बपुरी, तुरीयातीत अवस्थामे रहनेका स्थान है। इसी स्थानमे योगीजन तेजोमय ब्रह्मको अनुभव करते है।

४५ इस आज्ञाचक्रके समीप कारणशरीररूप सत कोश है। इन कोशोंके नाम—१ इन्दु, २ बोधिनी, ३ नाद, ४ अर्धचन्द्रिका, ५ महानाद, ६ कला (सोमसूर्याग्निरूपिणी), ७ उन्मनी। इस उन्मनी-कोशमे पहुँचनेपर जीवकी पुनरावृत्ति नहीं होती अर्थात् पराधीनसम्भवत्व नष्ट हो जाता है। स्वाधीनसम्भवमे अर्थात् स्वेच्छासे या परमेश्वरी इच्छासे देह धारण करनेमें आत्मस्वरूपकी पूर्ण स्मृति बनी रहती है। इन कोशोंके ऊपर, सहस्रारके नीचे वारह दलोंका एक अधोन्मुख कमल है। इसके नीचेके सभी चक्र इसी प्रकारसे अधोन्मुख ही है। कुण्डलिनी-उत्थान जब होता है तभी वे ऊर्ध्वोन्मुख होते हैं। कुण्डलिनी-शक्तिका जाग उठना दो प्रकारसे होता है, या तो हठयोगसे या भावनायोगसे। भावनायोग या हठयोग करते हुए साधक आसनस्थ रहे। आसन भी तदुपयुक्त हो, क्योंकि चाहे जिस आसनसे यह काम नहीं बन सकता। कोई साधक यदि कहे कि शवासन लगाकर कुण्डलिनी-उत्थान कर लूँगा और चक्रोंको ऊर्ध्वोन्मुख कर दूँगा तो यह नहीं हो सकता। कोई भी मनुष्य बैठे रहनेकी अपेक्षा पर्वतासनकी तरह लेट रहनेमें अधिक सुख अनुभव करता है। परन्तु पर्वतासनमें ये चक्र उन्मुकुलित नहीं होते, पद्मासन अथवा वज्रासन लगानेसे ये चक्र उन्मुकुलित होते हैं। उपर्युक्त द्वादशदल कमलमें ही वह त्रिकोण है जिसका ऊपर वर्णन हो चुका है। इस त्रिकोणमे मणिपीठ और उस मणिपीठमें मणिद्वीप है। मणिद्वीपके चतुर्दिक् अमृतार्णव है। ऊपरके कोणमे विन्दु और नीचे परमशिव काम-कलाके साथ विराजते है। त्रिकोणके दो कोनोपर सूर्य और चन्द्र हैं और उन सूर्य-चन्द्रकी १६ और १७ कलाएँ हैं। १७ वीं कला ही जीवनकला है। 'पादुकापञ्चक' मे कामकलाका विशेष वर्णन है।

४६ अब हठयोगका वर्णन करें। बहुतोका यह खयाल है कि हठयोग कोई और चीज है और राजयोग कोई और। परन्तु श्रीमद्भगवद्गीता, गोरक्षसहिता, हठयोगप्रदीपिका आदि ग्रन्थोंमें हठयोगको राजयोगकी नींव कहा है। 'ह' माने सूर्य—पिङ्गला दाहिनी ओरकी वायु और 'ठ' माने चन्द्र—इडा बायीं ओरकी वायु। वायुको अन्दर खींचना है 'ह' और वाहर छोड़ना है 'ठ'। 'प्राणापानौ समौ कृत्वा' अथवा 'अपाने जुह्वति प्राणम्' यह जो विद्या है, यह हठयोगके बिना नहीं सिद्ध होती। 'चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवो.' इस वचनमें चक्षु एकवचन है अर्थात् इस चक्षुसे तृतीय नेत्रका अभिप्राय है। कुण्डलिनी जबतक आज्ञाचक्रमे नहीं पहुँचती तबतक यह क्रिया हो ही नहीं सकती। राजयोगरूपी उच्च राजप्रासादको जानेके लिये हठयोगकी सीढ़ी लगी है। 'हठयोगप्रदीपिका' मे कहा ही है—'केवल राजयोगाय हठविद्योपदिश्यते,' और 'घेरण्डसहिता' मे कहा है—

. . . . हठयोगविद्या॥
विराजते प्रोन्नतराजयोग-
मारोढुमिच्छोरधिरोहिणीव।

४७ यम-नियम और आसन इन तीन साधनोंके सिद्ध होनेपर नाडी-शुद्धि या नाडी-जय साधनेको कहा है। नाडी-शब्दका (नाड्-गमने) अर्थ है, विशेष प्रकारकी गति जिसमें है—वह। इडा बायीं नाडी और पिङ्गला दाहिनी नाडी है। नाडिजयका अर्थ है श्वास-जय। अमुक समयमें अमुक ओरसे ही श्वास चले ऐसा अभ्यास जब पक्का हो जाय तब यही नाडिजय है। इसीको नाडि-शुद्धि कहते हैं।

४८ नाडिजयके लिये आदिनाथ श्रीशङ्करने श्रीपार्वतीजीको 'शिवस्वरोदय' ग्रन्थ सुनाया। 'शिव-स्वरोदय' स्वरशास्त्रका स्वतन्त्र ग्रन्थ है। इडा और पिङ्गला मनुष्यमात्रके नासारन्ध्रोंमेंसे चलनेवाली नाडियाँ हैं। प्रत्येक नाडी २ घण्टे २४ मिनट चलती है, तब दूसरी नाडीका चलना आरम्भ होता है। प्रातःकाल सूर्योदयके समय यदि इडाका चलना आरम्भ हो तो इसके २ घण्टे २४ मिनट बाद पिङ्गलाका चलना आरम्भ होगा। 'शिवस्वरोदय' में भिन्न-भिन्न कार्योंके लिये भिन्न-भिन्न नाडियोंका चलना आवश्यक बताया गया है। अमुक कार्यके होते अमुक ही नाडी चले, ऐसा विधान है। भोजनके समय चन्द्र नाडी, प्रातर्विधिके समय सूर्य नाडी, सोते समय सूर्य नाडी, क्रूर कर्मके समय सूर्य नाडी, यजन, याजन, दान, अध्ययनादि शान्त कर्मोंमें चन्द्रनाडी चले। ग्वालियरके दीवान राव राजा स्वर्गीय श्रीदिनकर राव राजवाडेके विषयमें यह बात प्रसिद्ध है कि वह नाडी देखकर ही किसी कार्यमें प्रवृत्त होते थे, अनुकूल नाडी न चलती हो तो वह उस कार्यमें प्रवृत्त न होते थे। पुत्रेच्छा हो तो अभिगमनके प्रसङ्गमें पत्नीकी चन्द्र नाडी और पतिकी सूर्य नाडी चलती हो। १५ दिन लगातार यदि किसीकी सूर्यनाडी ही चलती रहे तो यह समझना चाहिये कि एक महीनेमें उसकी मृत्यु होगी। जो योगारूढ होना चाहें उनके लिये यह बताया है कि सूर्योदयसे सूर्यास्ततक चन्द्र अथवा सूर्य कोई भी एक ही नाडी चलती रहे, ऐसा अभ्यास करें। बारह घण्टे बराबर एक ही नाडीका चलना सिद्ध होनेपर नाडीमें उदय होनेवाले पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, आकाश-तत्त्वोंका अभ्यास करें। तत्त्वोंका उदयास्त समझनेके लिये विशिष्ट गतिकी मर्यादा बतायी हुई है। प्रातःकाल या सायंकालमें ४ घण्टे ४८ मिनट आकाशतत्त्व ही स्थिर रहता है, उसी समयको सन्धिकाल कहते हैं और यही सन्ध्या-वन्दनका समय है। आकाशतत्त्वके उदयके समय अथवा पृथ्वीतत्त्वके उदयके समय २-३ मिनटतक समस्वर रहते हैं अर्थात् उस समय दोनो स्वर चलते हैं। यह सुषुम्ना नाडी है। इस नाडीको ऐसे ही स्थिर करके यदि प्राणायाम किया जाय तो वह सिद्ध होता है। यही प्राणजय है। नाडिशुद्धि होनेपर धौति, बस्ति, नेति, त्राटक, नौलि और कपालभाति ये षट्कर्म बताये हैं।

४९ 'श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः' यह पातञ्जल योगका सूत्र है—यह श्वासायाम है, प्राणायाम नहीं। श्वासकी अपेक्षा प्राणशक्ति अधिक सूक्ष्म है, इसलिये इस सूत्रका अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि श्वासायाम साधनेसे प्राणायाम आप ही पीछे होने लगेगा। प्राणशक्ति-के विषयमें बहुतोंकी कल्पना ठीक नहीं है। देवमूर्तिकी प्राणप्रतिष्ठा करते हुए 'इह प्राणाः इह प्राणाः' कहते हैं। पर प्राण क्या है, यह न जाननेसे वह क्रिया केवल अन्धानुकरणकी-सी होती है। स्वामी विवेकानन्दने प्राणशक्तिकी व्याख्या एक स्थानमें की है। प्राणायामके सम्बन्धमें स्वतन्त्र विवेचन करना हमने विचारा है, इसलिये यहाँ उसका विस्तार नहीं करते। रेचक, कुम्भक और पूरकसे एक प्राणायाम होता है। कुम्भकके भ्रामरी, भस्त्रा, मूर्छा, प्लाविनी, केवली ये भेद हैं।

५० अनन्तर महामुद्रा, महाबन्ध, खेचरी, मूलबन्ध, उड्डियान, जालन्धरबन्ध, विपरीतकरणी, वज्रोली, शक्तिचालिनी और महावेध ये दस मुद्राएँ साधकको साधनी पड़ती हैं तब कुण्डलिनी जाग्रत होती है और जैसा कि पहले कहा है, षट्चक्रोंको भेदकर सहस्रारमें प्रवेश करती है। इन षट्चक्रोंके ऊपर हठयोगने त्रिकूट, श्रीहाट, गोल्हाट, औटपीठ और भ्रमरगुफा नामके पाँच चक्र और बताये हैं। उनका वर्णन नीचे देते हैं—

मुक्ति	चक्र	अभिमानी	देवता	वाचा	वर्ण	गुण	अक्षर	स्थान	वेद	अवस्था
सलोकता	त्रिकूट	विश्व	ब्रह्मा	वैखरी	सुपीत	रजोगुण	अकार	भूमि	ऋग्वेद	जाग्रति
समीपता	श्रीहाट	तैजस	विष्णु	मध्यमा	नव-मौक्तिक	सत्त्वगुण	उकार	आप	यजुर्वेद	स्वप्न
सरूपता	गोल्हाट	प्राज्ञ	हर	पश्यन्ती	श्वेत	तमोगुण	मकार	तेज	सामवेद	सुषुप्ति
सायुज्यता	औटपीठ	प्रत्यगात्मा	ईश्वर	परा	विद्युत्	शुद्ध-सत्त्वगुण	ॐ	वायु	अथर्ववेद	तुरीया
कैवल्य	भ्रमरगुम्फा	ज्ञानात्मा	सदाशिव	परात्पर	कृष्ण	सगुण	अर्द्धमात्रा	आकाश	सूक्ष्मवेद	उन्मनी
स्वयंब्रह्म	ब्रह्मरन्ध्र	परमपुरुष	परमात्मा	...	बहुवर्ण	निर्गुण	ब्रह्म	स्थिरचर	आत्मवेद	पूर्णता

५१ इसमें अन्तमें वही कैवल्य प्राप्त होता है जो राजयोगसे प्राप्त होता है और सब योगसिद्धियाँ भी प्राप्त होती हैं। एक विद्यमान योगी महाराजने एक बार अपने पूनावासी शिष्यको प्राणायाम करके अपना मस्तक इतना तपाकर दिखाया कि स्पर्श करनेसे उबलते हुए पानी-जैसा गरम मालूम हुआ। पूर्वकालमें श्रीज्ञानेश्वर महाराजने अपनी पीठपर मुक्ताबाईसे मालपूए पकवा लिये थे। यहाँ-तक हठयोगसहित राजयोगका वर्णन हुआ।

५२ मन्त्रयोगमें भक्तियोग आ जाता है। इस योगमें प्राणायामको छोड़ बाकीके सात अङ्ग हैं और चक्रोंमेंसे तीन चक्र हैं—मूलाधार, मणिपूर और आज्ञा। मन्त्रयोगमें मन्त्रजपसे भी प्रकाश-साक्षात्कार होता है।

५३ इन सब योगोंका पृथक्-पृथक् वर्णन किया है तथापि इन सबका परस्पर सम्बन्ध है। श्रीमद्भगवद्गीतामें कर्म, ज्ञान और भक्ति, योगके ये तीन प्रकार बताये गये हैं, तथापि ज्ञानके बिना भक्तियोग नहीं होता और कर्मके बिना ज्ञान नहीं होता और इसलिये ये तीनों योग युक्तत्रिवेणीरूप हैं। वैसे ही इन पाँच योगोंकी यह पञ्चवेणी है।

५४ इस समिश्रराजहठयोगके सम्बन्धमें विचार करते हुए एक योगीने योगसाधनाके सम्बन्धमें कुछ खास बातें बतायीं सो आगे लिखते हैं।

५५ नीलगिरिपर रहनेवाले एक योगी लगभग ३५वर्ष पूर्व पूनेमें पधारे थे। स्व० डा० गर्दे महोदयके यहाँ ठहरे थे। उन्होंने यहाँ कई व्याख्यान दिये। व्याख्यानोंके समय एक चित्रपट वह श्रोताओंके सामने रक्खा करते थे। उसमें मानव-शरीरका शुक्र अथवा ओजमार्ग शुभ्र गुलाबी रंगमें दिखाया गया था। चार दिन व्याख्यान होनेके बाद पाँचवें दिन उन्होंने चित्रपटमें प्रदर्शित रीतिसे ध्यान करनेको कहा। इस प्रकार ध्यान करनेसे उन्होंने बताया कि सम्पूर्ण शरीर अन्तर्दृष्टिसे प्रकाशमय दिखायी देता है। शरीरका यह ओजमार्ग जैसे ओजस् याने तेजसे व्याप्त है वैसे ही वह प्राणशक्तिसे भी व्याप्त है। प्राणशक्तिदर्शक प्राण भी प्रकाशमय हैं। 'अथ आदित्य उदयन् प्राचीं दिशां सर्वान् प्राणान् रश्मिसु सन्निधत्ते' इस ऋग्वेद-वचनसे प्राण तेजोमय ही हैं। यह सुना है कि डा० किलनरने भी यह सिद्ध किया है कि हमारा Etheral Body याने प्राणमय शरीर प्रकाशमय है और इस बातको सैकड़े ९५ मनुष्य अनुभव भी कर सकते हैं। अपने यहाँ देवादिकोंकी मूर्तियोंके मुखमण्डलोंकी चारों ओर तेजोवलय चित्रित करनेकी रीति है। ये तेजोवलय सारे शरीरको घेरे हुए हैं, मुखके चारों ओर जो तेज है वह अधिक है। इसका भी कारण प्राणमय शरीर ही है। जिस मनुष्यकी दृष्टि जन्मतः ही सूक्ष्म होती है अथवा उपर्युक्त साधनोंसे जो उसे सूक्ष्म बना लेता है वह मनुष्यके स्थूल शरीरके बाहर प्रकाश छिटका हुआ देख पाता है।

५६ उपर्युक्त योगी महाराजने जो पद्धति बतायी उस पद्धतिसे अथवा डा० किलनरके बताये साधनसे यदि सम्पूर्ण शरीरमें प्रकाश फैला हुआ दिखायी दे तो वह प्रकाश सहस्रारचक्र और कुण्डलिनीमार्गमें अधिक दिखायी देगा। सहस्रारके इस प्रकाशमें भगवान् वासुदेवका ध्यान करनेसे साधक सब भूतोंमें उस प्रकाशको देख सकेगा और 'वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः' इस गीता-वचनानुसार महात्मापदको प्राप्त हो सकेगा। भक्तियोगमें हृदयमें ध्यान करनेको कहा है—वह हृदय 'अष्टपत्रोपरि-स्फीत सूक्ष्मं हृदयपङ्कजम्' वाला हृदय है। यह हृदय और योगी महाराजने जिस सहस्रारमें ध्यान करनेको बताया वह सहस्रार, ये दोनों ही स्थान पास-ही-पास हैं।

५७ इस प्रकार ध्यानयोगी अपनी ध्यानशक्तिसे परम पुरुषके साथ समत्व लाभ करता है। लययोगकी कुछ सिद्धियाँ ध्यानयोगीको भी प्राप्त होती हैं। ध्यानयोगीको अपना महाप्रयाणकाल भी ज्ञात हो जाता है। परन्तु ध्यानयोगीको शारीरिक दुःख भोगने पड़ते हैं, इस कारण ध्यानयोगमें अन्तराय पड़ता है। परन्तु लययोग में 'योगो भोगायते मोक्षायते शरीरम्' इस वचनके अनुसार ध्यानके समयमें शरीर-व्याधियोंको मनसे हटाकर दैनन्दिन ध्यानक्रम पूर्ण किया जा सकता है और इस प्रकार वह योगी महाप्रयाणकालमें पूर्णज्ञ स्थितिमें ही प्रयाण करता है। यही नहीं प्रत्युत लययोगमें भी षट्चक्रनिरूपणमें बताये अनुसार खेचरीमुद्रा सिद्ध करनेसे महाप्रयाणकालको भी योगी अपने वशमें रख सकता है।

५८ इस लययोगमें अर्थात् कुण्डलिनीशक्तियोगमें साधक सदा ही आनन्दमें रहता है। उसे किसी सङ्गिनी स्त्रीकी आवश्यकता नहीं, क्योंकि विद्युत्-प्रवाहरूपिणी, सर्वसौन्दर्यशालिनी, सर्वकषा, सर्वसुखदायिनी कुण्डलिनी-शक्ति उसके साथ है। ऐसे साधकको दिव्य साधक कहते हैं। और जो लौकिक साधक अपनी सहधर्मिणीके साथ श्रीभगवतीकी उपासना करता है वह वीर साधक कहाता है।

५९ योगाङ्गोंका वर्णन करते हुए कुछ स्थानोंमें अभ्यास-क्रम भी लिख दिया है। तथापि विशेष स्पष्टीकरणके लिये कुछ विवरण यहाँ देते हैं।

६० ज्ञानयोगमें बताया है कि 'येनात्मैवात्मना जितः' आत्मासे आत्माको जीते अर्थात् मनसे ही मनको जीते। (दो प्रकारके मनोंका वर्णन पहले आ ही चुका है।) पञ्चीकृत शरीर नाशवान् है, केवल आत्मा ही अविनाशी है, ऐसा विचार करके जीवात्मा अपनी अनेक आवरणोंमें व्याप्त जीवदशाको व्यतिरेकसे नष्ट करके 'अहं ब्रह्मास्मि' की वृत्तिको अनवरत बना रखनेका अभ्यास करे। श्रीशिवराम स्वामी बतलाते हैं कि—'वृत्ति जिधर जाय उधर आप न जाय, पीछे साक्षी होकर खड़े-खड़े देखता रहे तो निजस्वरूपसे भेंट हो जाती है।' अर्थात् वृत्तिकी ओर देखते रहनेसे वह आप ही अपने अन्दर विलीन हो जाती है। पीछे रह जाता है केवल उर्वरित वस्तु चैतन्यघन आप। इसका यही अभ्यास है। ऐसे चैतन्य घनानन्दमें निमग्न रहनेसे देखना-सुनना, बोलना-सूँघना, चलना-फिरना इत्यादि सब कामोंके होते हुए भी आप निजस्वरूपमें ही लीन रहता है और इन सब कामोंको तटस्थवत् देखता है। ऐसी सहज स्थितिको पहुँचा हुआ साधक ऐहिक-पारलौकिक सभी भोगोंको तुच्छ समझता है। यही निर्विकल्प समाधि है। इस ज्ञानयोगमें 'गुरुरेव परम्, गुरुरेव परम्' इस प्रकार गुरुकी बड़ी महिमा है।

६१ लययोग अथवा कुण्डलिनी-शक्ति-योगमें साधकको षट्चक्रोंका ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिये और महाभाव-योगसे शुक्लपक्षमें ऐसी भावना करनी चाहिये कि कुण्डलिनी-शक्ति मूलाधारसे सहस्रारतक चलती है और कृष्णपक्षमें ऐसी भावना करनी चाहिये कि कुण्डलिनी सहस्रारसे चलकर मूलाधारमें आती है। षट्चक्रनिरूपणमें बताया है कि 'इह स्थाने लीने सुसुखसदने चेतसि पुरं निरालम्ब बद्ध्वा'। 'पुरं बद्ध्वा' माने 'अन्तःपुरं बद्ध्वा'। पुः यानी योनिमुद्रा और षण्मुखीमुद्रा अथवा पुर यानी खेचरीमुद्रा, सिद्ध करे। प्रणवका ध्यान भ्रूमध्यमें करे। 'प्रणवचारी दिशानाम्' होनेसे अन्तःकरणके अन्तरिक्षमें 'पवनसुहृदां वह्निकणान् ज्योतिः पश्यति', इस प्रकार उसे प्रकाश-साक्षात्कार होता है।

६२ खेचरीमुद्रा सिद्ध करनेके लिये जिह्वा-छेदन बताया है। छेदनके पश्चात् दोहन है। जिह्वा तीन प्रकारकी होती है—नागजिह्वा, हस्तिजिह्वा और वेनुजिह्वा। नाग-जिह्वा निसर्गतः ही लम्बी होती है। अन्य दो जिह्वाएँ छेदन-योग्य होती हैं। कुछ बालक अपनी जीभ नासाग्रमें अनायास ही लगाते हैं। ऐसी जीभको छेदनकी आवश्यकता नहीं, केवल दोहनकी आवश्यकता होती है। दोहनके लिये पहले वच (उग्रगन्धा) के चूर्णसे जिह्वाको मलना चाहिये। इससे कफादि दोष नष्ट होते हैं। वेण्डाके चूर्णसे दोहन करे और सैन्धवलवणसे जिह्वाका छिदा हुआ भाग

विमे। छेदन गुरुके समीप रहकर ही करे। डाक्टरके द्वारा छेदन करानेमे वाचाशक्ति नष्ट होती है।

६३ खेचरी यदि सिद्ध हो जाय तो नाडिशुद्धि और भूतशुद्धिके विना भी काम चलता है। खेचरी सिद्ध होनेपर प्राणायाम करके खेचरी करे। इसका अभ्यास जब हो जाता है तब प्राणशक्ति सिद्ध करनेके लिये शक्तिचालिनी मुद्रा बतायी है। इस मुद्रासे कुण्डलिनी मणिपूरचक्रतक आती है। अनन्तर खेचरीसे जालन्धरबन्ध करके रुद्रग्रन्थिका भेदन होता है और प्राणशक्ति उड्डियान-बन्धके सहारे विशुद्धिचक्रसे मणिपूरतक आकर कुण्डलिनीको ऊपर ले जाती है। इसके पश्चात् वह आज्ञाचक्रसे ललनाचक्र, मनश्चक्र और सोमचक्रमेसे होकर सहस्रारमें पहुँचती है।

६४ हठयोगमें भी खेचरीमुद्राका बड़ा महत्त्व है। यथार्थमे खेचरी हठयोगकी ही चीज है, राजयोगमें भी खेचरीमुद्रा है पर उसका वर्णन भिन्न प्रकारका है। वह खेचरी आकाशकी ओर दृष्टि लगाना है (खे चरति प्राणः)। नाडिशुद्धिके अभ्यासके लिये बताया है कि बायें नथुनेसे श्वास चले ऐसा यदि करना हो तो दायें नथुनेको रुई डालकर बन्द कर दे और सदा दायीं करवट बैठा करे जिसमें शरीरके दायें अंशपर ही शरीरका अधिक बोझ पडे, छः महीने अभ्यास करनेसे नाडिजय होता है। नाडिजय होनेपर आकाश-तत्त्व जब नाडीमे बह रहा हो तब श्वासायाम करके खेचरी-साधन करे।

६५ किसी भी प्रकारका साधक हो, सूर्योदय और सूर्यास्त ये दो सन्धि-काल उसके लिये निश्चित हैं। चन्द्रस्वरसे सूर्यस्वरमे जाते हुए दो-एक मिनट दोनों श्वास बराबर चलते हैं अर्थात् उस समय सुषुम्ना नाडी चलती है, उस समय श्वासायाम करके बैठ जाय। सन्ध्याका समय यथार्थमे यही है। यह अभ्यास गुरुके सामने करे। महामुद्रा, महाबन्ध और शक्तिचालनी मुद्रा करनेसे अर्थात् गुदद्वार और मूत्रद्वारके बीचमें दो अंगुल मध्यस्थानपर एडीसे चोट करे तब प्राणवायु जाग उठता है और पीछे कुण्डलिनी जागती है।

६६ मन्त्रयोगके द्वारा प्रकाश-साक्षात्कार करनेके लिये मन्त्राक्षरोंको उच्चारते हुए नासारन्ध्रसे बहनेवाले प्राणवायुकी ओर दृष्टि रक्खे। छ महीने ऐसा अभ्यास करनेसे अनुभव मिल जाता है। निवातस्थ दीपज्योतिकी ओर त्राटक करनेसे भी प्रकाश-साक्षात्कार होता है। षण्मुखीमुद्राके अभ्याससे (अँगूठोंसे कानोको बन्द करना, तर्जनी और मध्यमासे नेत्र बन्द करना और अनामिका-कनिष्ठिकासे नासारन्ध्रोंको बन्द करना, ऐसे अभ्याससे) भी प्रकाश-साक्षात्कार होता है। मन्त्रयोगके मन्त्राक्षरोका तेजोरूपमे दिखायी देना ही मन्त्रसिद्धि है। मन्त्रयोग ध्यानयोग ही है। महम्मदानुयायी मन्त्रयोगी ही हैं। 'कलमा पढ़े सो कल-कलमे कलमा' वाली बात प्रसिद्ध ही है। इसका आशय यही है कि कलमा पढे तो ऐसा पढे कि हर नाडीसे वही स्वर निकले। पर अभ्यास उनमे भी कौन करता है?

६७ श्रीभगवती यन्त्रमयी, मन्त्रमयी और प्रकाशमयी हैं। मन्त्रमयी भगवतीका ध्यान होता रहे, इससे वह प्रसन्न होती हैं और साधकसे सब क्रियाएँ करा लेती हैं। श्रीरामकृष्ण परमहसके पास एक योगिनीको भेजकर भगवतीने ही उनसे सब योगक्रियाएँ करा लीं।

६८ इस प्रकार कुण्डलिनी-शक्ति-योग सिद्ध होनेपर श्रीभगवतीकी कृपासे साधक सर्वगुणसम्पन्न होता है। सब कलाएँ, सब सिद्धियाँ उसे अनायास प्राप्त होती हैं। ऐसे साधकका शरीर १०० वर्षतक बिल्कुल स्वस्थ और सुदृढ रहता है। वह अपने जीवनको श्रीभगवतीकी सेवामें लगा देता है और श्रीभगवतीकी इच्छाके अनुसार लोकोद्धार करते हुए अन्तमें स्वेच्छासे अपना कलेवर छोड़ जाता है। मृत्यु उसकी इच्छाके अधीन होनेसे उसे मृत्युका भय नहीं रहता। पूनेके, अब आनन्दलोकवासी, महर्षि श्रीअण्णासाहब पटवर्धन ऐसे ही इच्छामृत्युवाले थे। उन्होने अपने महाप्रयाणका समय निश्चित किया। कहा कि हम अमुक समयमे प्रस्थान करेंगे। जो समय उन्होने निश्चित किया था वह ज्योतिषशास्त्रके हिसाबसे कुयोग था। उनसे कहा गया कि महाप्रयाणके लिये वह शुभ घड़ी नहीं है। उस समयके दो घण्टे बाद सुयोग था। यह उनसे निवेदन किया गया तो उन्होने कहा—अच्छी बात है, २ घण्टे बाद ही सुयोग आनेपर चलेंगे। ठीक उसी समय उन्होंने अपना शरीर छोड़ा। श्रीरेवतीनन्दन महाराजने भी अपना शरीर पूनेमे रक्खा तब उनकी प्राण-शक्ति ब्रह्मरन्ध्रको भेदकर निकल गयी। श्रीवासुदेवानन्द सरस्वती महाराजने भी अपना प्रयाणकाल दो दिन पहलेसे ही बता दिया था। उनके शिष्य श्रीगुरुभक्त

अण्णासाहब नेनेने भी अपने प्रयाणका समय दो दिन पहले ही बता रक्खा था।

६९ कुण्डलिनी-शक्ति-योगी इस प्रकार निर्भय और स्वानन्दनिमग्न रहता है। श्रीभगवतीकी उसपर पूर्ण कृपा होती है और वह भी सदा भगवतीके ही सङ्ग रहता है। भगवतीके चिरसङ्गका अनुभव उसे समय-समयपर प्राप्त होता ही रहता है। उसके कानोंमें इस दिव्य सन्देशकी ध्वनि सदा गूँजती रहती है कि 'मैं तुम्हारे पीछे खड़ी हूँ।' कुण्डलिनी-शक्तिका सङ्ग क्या है, सहज अवस्था है। कुण्डलिनीके सङ्ग रहनेवाला साधक लोकमें लौकिक दृष्टिसे व्यवहार नहीं करता। लोकदृष्टिसे तो वह सोया हुआ ही है—

यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।

७० अन्तमें श्रीभगवतीसे यह प्रार्थना है कि इस प्रबन्धके पाठसे पाठकोंका ध्यान तुम्हारी सेवाकी ओर लगे और सम्पूर्ण जगत् त्वद्भक्तिप्रेरित होकर विषयोंके तुच्छ सुखोंसे मुँह फेरकर कुण्डलिनी-शक्ति-योगके दुर्लभ आनन्दकी ओर चले। यही वर-प्रार्थना करके यह लेख समाप्त करता हूँ। इति शुभम्॥

योग और कुण्डलिनी

(लेखक—श्रीहीरेन्द्रनाथ दत्त)

योगसाधनके साथ कुण्डलिनी-जागरण घनिष्ठरूपसे सम्बद्ध है। योगियोंका कहना है कि साधारण जीवमें कुण्डलिनी सोयी रहती है—विशेष-विशेष योग-प्रक्रियाद्वारा कुण्डलिनीको जाग्रत् कर षट्चक्रभेद करते हुए मस्तिष्क-स्थित सहस्रारमें ले जानेपर योगसिद्धि प्राप्त होती है। यह कुण्डलिनी क्या है?

कुण्डलिनी उपनिषदोंकी 'नाचिकेत' अग्नि है। जो 'त्रि-नाचिकेत' हो सकते हैं, वे ही जन्म-मृत्युसे तरते हैं 'तरति जन्ममृत्यू'—उनका शरीर योगाग्निमय हो जाता है और वे जरा, व्याधि और मृत्युके पार हो जाते हैं—

न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः
प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्।
(श्वेताश्वतर•)

चैनिक योगदीपिकामें इस कुण्डलिनीको Spirit-Fire (स्पिरिट-फायर) कहा गया है।

Only after the completed work of a hundred days will the Light be real, there will it become Spirit-fire The heart is the fire, the fire is the Elixir (*I' lohin*)

पाश्चात्य लोग इस कुण्डलिनीको Serpent-fire (सर्पवत् वलयान्विता अग्नि) कहते हैं। ऋषिशिष्या मैडम ब्लैवेट्स्की इसको Cosmic Electricity (विश्वव्यापी विद्युत्शक्ति) कहा करती थीं—क्योंकि कुण्डलिनी विश्व-विद्युत्की सजातीय एक अत्यन्त प्रचण्ड शक्ति है।

Kundalini is called the serpentine or annular power, on account of its spiral-like working or progress in the body of the ascetic, developing the power in himself. It is an electric firy occult or *fohatic* power, the great pristine force which underlies all organic and inorganic matter.
(*The voice of the Silence, p. 27*)

'कुण्डलिनी सर्पाकार या वलयान्विता शक्ति कही जाती है, क्योंकि इसकी गति वलयाकार सर्पकी-सी है, योगाभ्यासी यतिके शरीरमें यह चक्राकार चलती है और उसमें शक्ति बढ़ाती है। यह एक वैद्युत अग्निमय गुप्त शक्ति है। यह प्राक्तन शक्ति है जो सेन्द्रिय और निरीन्द्रिय सृष्ट पदार्थमात्रके मूलमें है।'

इस कुण्डलिनीकी गति प्रकाशकी गतिकी अपेक्षा भी अधिक तेज है। मैडम ब्लैवेट्स्कीने कहा है—'Light travels at the rate of 185000 miles a second, Kundalini at 345000 miles a second' अर्थात् 'प्रकाश १८५००० मील प्रति सेकण्डकी गतिसे चलता है और कुण्डलिनी ३४५००० मील प्रति सेकण्डकी चालसे।' तन्त्रसारमें इस कुण्डलिनीके विषयमें लिखा है—

ध्यायेत् कुण्डलिनीं सूक्ष्मां मूलाधारनिवासिनीम्।
तामिष्टदेवतारूपां सार्द्धत्रिवलयान्विताम्॥
कोटिसौदामिनीभासां स्वयम्भूलिङ्गवेष्टिणीम्।
तामुत्थाप्य महादेवीं प्राणमन्त्रेण साधकः॥

प्रकृतिके निगूढ़ विधानके अनुसार यह प्रचण्ड शक्ति शरीरस्थ मूलाधारचक्रमें सोयी हुई रहती है। असंयमी साधकको—जो अकाम, निष्काम नहीं हुआ है, जो passion-proof (मनोविकारका प्रभाव जिसपर न पड़ता हो ऐसा) नहीं हुआ है—असावधानीके साथ तथा सद्गुरुका सान्निध्य प्राप्त हुए बिना इस शक्तिको जागरित करनेकी चेष्टा न करनी चाहिये। इसीलिये अष्टाङ्गयोगका प्रथम भाग यमनियम—सत्य, संयम, सन्तोष, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह इत्यादि—रक्खा गया है। इस विषयमें हड्सन साहबने सावधानीकी कुछ सूचनाएँ की हैं—उनकी ओर हम पाठकोंका ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं।

Note that the actual arousing of the tremendous force of Kundalini may only be safely attempted under the expert guidance of a Master of occult science—otherwise Kundalini may act downwards and intensify both the desire-nature and the activity of the sexual organs

(*Science of Seership*)

'यह ध्यान रहे कि कुण्डलिनीकी प्रचण्ड शक्तिको जगानेका काम इस गुप्त विद्याके गुरुके ही तत्त्वावधानमें किया जाना चाहिये, अन्यथा कुण्डलिनी नीचेकी ओर प्रवृत्त होकर भोगवासना और जननेन्द्रियकी प्रवृत्तिको बेहद बढ़ा सकती है।'

हमने मूलाधारचक्रको कुण्डलिनीका सुषुप्तिस्थान कहा है। मनुष्यकी पिण्डदेहमें (जिसे Etheric Body कहते हैं) स्थूल शरीरके विशेष-विशेष प्रत्यङ्गोंसे सम्बद्ध जो छः चक्राकार घूमनेवाले शक्तिकेन्द्र हैं, मूलाधार उन्हीं षट्चक्रोंमेंसे एक है—

They are the force-centres in the human body and are so called, 'because' to clairvoyant sight, they have the appearance of spinning vortices They are the six plexuses (*Hodson*)

'मनुष्य-शरीरमें ये शक्तिके केन्द्र हैं और ये चक्र इसलिये कहलाते हैं कि अन्तर्दर्शियोंको वे तन्तुचक्रोंके समान दीखते हैं। ये छः नाडिजाल हैं।'

ये षट्चक्र कौन-कौन हैं? मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञाचक्र।

मूलाधारं स्वाधिष्ठानं मणिपूरमनाहतम्।
विशुद्धञ्च तथाज्ञां च षट्चक्राणि विभावयेत्॥

मूलाधार मेरुदण्डके निम्नभागमें अवस्थित है। उसी चक्रके भीतर कुण्डलिनी-शक्ति त्रिवली-आकारमें सुषुप्त रहती है।

In the heart of this Chakram lies the serpent fire (Kundalini), and there it to sleeps throughout the ages until the time is ripe for it to be roused (*Hodson*)

अर्थात् इस चक्रके अन्तस्तलमें सर्पाकार अग्नि (कुण्डलिनी) रहती है और वहाँ यह युगानुयुग सोयी रहती है जबतक इसके जागनेका समय नहीं उपस्थित होता।

कुण्डलिनी जब विश्वशक्ति है तब मूलाधार उसका उत्पत्ति-स्थान नहीं हो सकता। मालूम होता है, यौगिक उपायसे जब मूलाधार प्रज्वलित होता है तब यह चक्र विश्वव्यापक कुण्डलिनी-शक्तिको व्यष्टिभावमें आत्मसात् करनेकी योग्यता प्राप्त करता है—जलस्तम्भमें जिस तरह जलद जलधिको आंशिकरूपमें आत्मसात् करता है, यह भी उसी तरहका कार्य है। इस प्रकार कुण्डलिनी जाग्रत् होकर मेरुदण्डके मध्यमें स्थित सुषुम्ना मार्गसे होकर इडा और पिङ्गला (इनका नाम सूर्यनाडी और चन्द्रनाडी भी है)-की सहायतासे ऊपरकी ओर प्रवाहित होती है। इन तीन नाडियोंके अन्दरसे उठकर ऊपर जाती हुई कुण्डलिनीशक्ति एक-एक कर स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञाचक्रको प्रज्वलित और अनुप्राणित करती हुई अन्तमें (तन्त्रकी भाषामें) सहस्रारमें जाकर सदाशिवके साथ मिल जाती है—

As it passes up the spine, it vivifies in turn each *Chakram,* thereby causing the etheric centres to be opened and channels to be made from the superphysical to the physical worlds, so providing conductors for super-physical vibrations when it is thus aroused, all the psychic powers are fully unfolded and become available

for use, while the man is awake in the physical body

(*Hodson, p* 213)

'जब यह कुण्डलिनी मेरुदण्डमेंसे होकर ऊपर जाती है, तब एक-एक चक्रको जगाती हुई चलती है, इससे वे चक्र खुल जाते हैं और पारभौतिकसे भौतिक जगत्में आनेके रास्ते बनते हैं; इस प्रकार कुण्डलिनीके जागनेसे पारभौतिक स्पन्दोंको वहन करनेके साधन उपस्थित हो जाते हैं, चैत्य पुरुषकी सब शक्तियाँ खुल जाती हैं और उनका उपयोग किया जा सकता है, इसके होते हुए मनुष्य अपने भौतिक शरीरमें जागता रहता है।'

मूलाधारके बाद स्वाधिष्ठानचक्र है। उसका स्थान प्लीहाके पासमें है। स्वाधिष्ठानके ऊपर मणिपूर है। मणिपूर-चक्रका स्थान है नाभि। इस मणिपूरका अंग्रेजी नाम Solar Plexus (सोलर प्लेक्सस—सौर जाल) है। ब्लैवेट्स्कीका कहना है—

'There are three principal centres in man—the heart, the head and the navel' अर्थात् मनुष्यके अन्दर तीन प्रधान केन्द्र हैं—हृदय, मस्तक और नाभि।

स्वाधिष्ठान और मणिपूरके कुण्डलिनीद्वारा प्रज्वलित होनेपर, 'This influence strengthens, rejuvenates and normalises the life-process' अर्थात् इस प्रभावसे जीवन-क्रम बलयुक्त, नवशक्तिसम्पन्न और नियत हो जाता है।

इसके अतिरिक्त स्वाधिष्ठान-चक्रके प्रदीप्त होनेपर मनुष्य सूक्ष्मतर लोकमें स्वच्छन्द विहार करनेका अधिकार प्राप्त करता है, और मणिपूरकी प्रदीप्तिके फलस्वरूप साधकमें आत्मरक्षाकी क्षमता बहुत अधिक मात्रामें बढ जाती है। थोड़ेमें कह सकते हैं—

The solar plexus gives conscious emotional control

अर्थात् मणिपूर-चक्र मनोविकारोंका सज्ञान प्रभुत्व प्रदान करता है।

मणिपूरके ऊपर अनाहत-चक्र (Cardiac plexus) है। इस चक्रका स्थान है हृदय (Heart), हृत्पद्म—'हृत्पद्मकोषे विलसत तडित्प्रभम्।' इस पद्मको ईसाई साधक Mystic Rose (गुप्त गुलाब) कहते हैं—

'The petals of which open only after the Christ's child has been born in the heart.'

अर्थात् जिसकी पङ्खड़ियाँ तब खिलती हैं जब हृदयमें ईसारूप बालक पैदा होता है—यही चैनिक 'आईच्नि', कनक-कमल है। अनाहत-चक्रके उद्भासित होनेपर मनुष्यकी बुद्धिके ऊपर जो बोधि (Intuition) है, उसका उद्भव होता है—

It becomes the organ of intuition,—through it flows the power of the intuitional worlds

अर्थात् यह बोधि (अन्तर्दृष्टि) का करण बन जाता है—इसके द्वारा बोधिजगत्की शक्तियाँ प्रवाहित होती हैं।

अनाहतके ऊपर विशुद्ध-चक्र है। इसका स्थान है कण्ठ (Throat)। आधुनिक विज्ञान जिस Thyroid gland (थिरायड ग्लैण्ड) के अद्भुत कार्योंका आविष्कार कर रहा है, वह इस विशुद्ध-चक्रके साथ ही संलग्न है। इस चक्रके प्रज्वलित होनेपर साधक दिव्य श्रुति (Clairaudience) प्राप्त करता है।

Throat Chakram when vivified bestows the faculty of clairaudience

विशुद्धके ऊपर आज्ञाचक्र है। इसका स्थान है भ्रूमध्य। यह चक्र द्विदल है—एक दल पाश्चात्य विज्ञानका Pineal gland (पाइनियल ग्लैण्ड) और दूसरा दल Pituitary body (पाइट्यूटरी बॉडी) है। साधारण जीवन-विज्ञान (Physiology) के ग्रन्थोंमें इन दोनों ग्रन्थियों glands को 'Two insignificant excrescences in man's cranial cavity' (मनुष्यके मस्तकके भीतर उत्पन्न दो निरर्थक मांसपिण्ड) कहा गया है। अध्यापक बिचेने उन्हें 'Two horny warts covered with grey sand' (भूरी बालूसे ढके हुए दो कठोर मांसपिण्ड) कहकर उनकी उपेक्षा की है। किन्तु मैडम ब्लैवेट्स्कीने उस बालूको ध्यानपूर्वक देखकर एक दिन कहा था—

'This sand is very mysterious and baffles the enquiry of every materialist.'

अर्थात् इस बालूमें बड़ा रहस्य है जिससे जडवादीमात्रकी बुद्धि चकरा जाती है।

साधारण मनुष्यमें यह आज्ञा-चक्र अविकसित (undeveloped) रहता है। जिस समय कुण्डलिनी-शक्ति जागरित होकर सुषुम्ना-मार्गसे इस आज्ञाचक्रमें प्रवेश करती है, उस समय क्या होता है?

On reaching the pituitary and pineal centres, it polarizes them into positive and negative conditions and vivifies them into a hyper-active state, in which they interact so closely that they become one centre (*Hodson*)

अर्थात् भ्रूमध्यकी इन दो ग्रन्थियोंमें पहुँचकर यह (कुण्डलिनी) इन्हें ऐसे सञ्चालित कर देती है कि एक धनात्मक और दूसरी ऋणात्मक गतिवाली बनकर दोनों बड़ी तेजीके साथ चलने लगती हैं, दोनोंकी गति एक-दूसरेसे इतनी परस्पर-तन्मयताके साथ होती है कि दोनो मिलकर एक चक्र बन जाती हैं।

इस प्रसङ्गमें योगसिद्धा श्रीमती ब्लैवेट्स्की इस प्रकार लिखती हैं—

The pulsation of the pituitary body, mounts upward more and more until the current finally strikes the pineal gland and the dorment organ (आज्ञाचक्र) is awakened and set all glowing with the pure Akashic Fire (कुण्डलिनी)—

अर्थात् इन दो ग्रन्थियोंमें जो नीचेकी ओर ग्रन्थि है (पिट्यूटरी बॉडी) उसका स्पन्दन ऊपरकी ओर अधिकाधिक होकर अन्तमें ऊपरवाली ग्रन्थिमें आघात करता है और तब जो सोया हुआ-सा रहता है वह आज्ञाचक्र जाग उठता है और विशुद्ध आकाशाग्नि (कुण्डलिनी) से चमकने लगता है।

यह विकसित और प्रज्वलित आज्ञाचक्र ही तन्त्रोक्त त्रिनेत्र है। इसका उन्मीलन होनेपर साधक त्रि-अम्बक (त्रिनेत्र) होता है। यह आज्ञाचक्र ही दिव्य दृष्टिका यन्त्र (organ of clairvoyance) है—इसीसे साधकको अतीन्द्रिय अनुभूतियाँ प्राप्त होती हैं।

It [illegible] strange, almost incomprehensible that the chief [illegible] in the [illegible] of occult knowledge, should [illegible] by a [illegible] of clairvoyance, and that the latter should depend in man, on two insignificant excrescences in his cranial cavity

(*Madam Blavatsky*)

'यह बात बड़े अचरजकी-सी मालूम होगी और सहसा समझमें भी न आवेगी कि इस गुप्त विद्याको अविगत करनेके यत्नकी सफलता इस दिव्य दृष्टिके ऐसी चमकपर निर्भर करती है और यह चमक भी मनुष्यके कपालके अन्दरकी कुछ नहीं-सी दो फालतू-सी ग्रन्थियोंपर अवलम्बित है।'

आज्ञाचक्रके ऊपर ब्रह्मरन्ध्रमें सहस्रार है। इसका स्थान मस्तिष्कके सामनेवाले विवर (anterior fontanelle) में है। अतीन्द्रिय दृष्टिसे देखनेपर इस पद्मके एक हजार दल दृष्टिगोचर होते हैं। इसी कारण इसका नाम सहस्रार (सहस्रदल पद्म—thousand petalled lotus) है।

आज्ञाचक्रको उद्भासित करके, उसके बाद कुण्डलिनी सहस्रारमें उपस्थित होती है। इस सहस्रारको प्रज्वलित करना ही कुण्डलिनी-साधनाकी अन्तिम सीमा है।

When the Sahasrara is fully vivified, the ego gains the power to withdraw from and return to the physical body at will, without a break in consciousness occurring

'सहस्रार जब पूर्णरूपसे जाग उठता है तब देहाभिमानी आत्मामें चाहे जब देहसे अपने-आपको खींच लेने और चाहे जब देहमें लौट आनेकी शक्ति आ जाती है और यह सब करते हुए चित्तमें चैतन्य बना रहता है।'

इस स्वच्छन्द विहारको उपनिषदोंमें 'कामचार' कहा गया है—

तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति।

तन्त्रकी भाषामें कह सकते हैं कि उस समय कुण्डलिनी-देवी सहस्रारमें सदाशिवके साथ मग्न होती है। यही सर्वगता-सिद्धि है—

तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम्। (योगसूत्र ३।५४)

इस अवस्थाका वर्णन करती हुई चैनिमयोग-दीपिका कहती है—

Then body and heart are completely controlled and one is quite free and at

place, letting go all entanglements, untroubled by the slightest excitement, with the Heavenly Heart exactly in the middle

'तब मनुष्यका शरीर और चित्तपर पूर्ण अधिकार होता है, वह सर्वथा सब अवस्थाओंमे स्वच्छन्द और सुखासीन होता है, सब बन्धन छूट जाते हैं, क्षोभका नाम भी नहीं रह जाता, ठीक मध्यमे जो दिव्य हृदय है उसीके साथ वह रहता है।'

यही चाईनिजकी भाषामें—'action in inaction' (अकर्ममें कर्म)—गीताका 'शारीरं केवलं कर्म' है। उस अवस्थामे साधक 'instead of being in it, is above it' (इसके अन्दर होनेकी जगह इसके ऊपर होता है,—यही वास्तवमें निर्द्वन्द्व होना है—the union of the opposites on a higher level of consciousness (चैतन्यके उच्चतर स्तरमे परस्पर-विरोधोंका मिलन) है। इसीको सांख्य-मतवाले कहते हैं—

प्रेक्षकवदवस्थितः स्वस्थः।

उस समय साधक साक्षी, द्रष्टामात्र रहता है, कर्ता या भोक्ता नहीं रहता। यही योगकी चरम सिद्धि है—

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्। (योगसूत्र १। ३)

इसी अवस्थाको लक्ष्य करके छान्दोग्य-उपनिषद् कहता है—

एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते।

'यह जीव इस शरीरसे ऊपर उठकर परम ज्योतिको प्राप्तकर अपने स्वरूपमे स्थित होता है।'

बुद्धियोग ही सबसे उत्तम और अन्तिम साधन है

(लेखक—श्रीतपोवनस्वामीजी महाराज)

परमात्माकी प्राप्तिका उपाय ही योग कहलाता है, यही योग शब्दका यौगिक अर्थ है। यह योग साक्षात् और परम्परासे ईश्वर-प्राप्तिका साधन होनेके कारण फल तथा साधनरूपसे दो प्रकारका है। परमात्मप्राप्तिका साक्षात् साधन बुद्धियोग ही है, अतः वही उत्तम और अन्तिम योग है। परम पुरुषार्थरूप भगवान्‌की प्राप्ति एकमात्र ज्ञानसे ही हो सकती है और किसी भी उपायसे नहीं, यही श्रुतियों और स्मृतियोंकी एक स्वरसे घोषणा है—

ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति। (मु० उ०)

अर्थात् 'ब्रह्मको जाननेवाला नित्य मुक्त ब्रह्मस्वरूप ही हो जाता है।'

तमेव विदित्वातिमृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥
(श्वेता० उ०)

'आत्माको परमात्मासे अभिन्न जानना ही मोक्षका साक्षात् साधन है, परमात्मप्राप्तिरूप परम पुरुषार्थके लिये इसके अतिरिक्त और कोई साधन है ही नहीं।'

आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चन।
(तै० उ०)

'ब्रह्मके स्वरूपभूत आनन्द अथवा आनन्दरूप ब्रह्मका साक्षात्कार करनेवाला पुरुष किसीसे भी नहीं डरता; अर्थात् वह निर्भय अद्वितीय ब्रह्मस्वरूप हो जाता है।'

तरति शोकमात्मवित्। (छा० उ०)

'आत्मवेत्ता ही शोकरूप ससारको पार कर सकता है।'

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥

अर्थात् 'जिन अधिकारियोंका आत्मविषयक अज्ञान ज्ञानसे नष्ट हो जाता है, उनका वह ज्ञान सूर्यके समान उस वेदान्तप्रसिद्ध परम तत्त्वको प्रकाशित कर देता है।'

'आत्मज्ञानकी प्राप्ति हो जानेपर ज्ञानी पुरुष तत्काल ही आत्माकी स्वरूपभूत निरतिशय शान्तिको प्राप्त कर लेता है।'

यदि यह कर्ता-भोक्तारूप दुःखमय ससार रज्जुमे सर्प और शुक्तिमें रजतकी प्रतीति होनेके समान अज्ञान-जन्य ही माना जाता है तो अवश्य इसकी निवृत्ति केवल ज्ञानसे ही

हो सकती है, भक्ति, ध्यान अथवा कर्मसे नहीं। इस प्रकारकी युक्तियो तथा ऊपर बतलायी हुई श्रुति-स्मृतियोंसे भी यही बात सिद्ध होती है कि परमानन्दस्वरूप परब्रह्मकी प्राप्तिका उत्तम साधन ज्ञान ही है। अतः किसीके भी मिथ्या ज्ञानसे बढे हुए जन्म-मरणके प्रवाहरूप ससारका आत्यन्तिक विनाश ज्ञानके बिना कभी नहीं हो सकता—यह बात निर्विवाद सिद्ध है।

मिथ्या ज्ञानसे प्राप्त हुई सुदृढ भेद-बुद्धि ही सारे अनर्थोंकी जड है। महान् व्यामोहके कारण देह आदिमें प्रकट हुई आत्मबुद्धिके द्वारा जबतक 'मैं कर्ता हूँ' 'भोक्ता हूँ' 'दुर्बल हूँ' 'उन्नत हूँ' 'सुखी हूँ' 'दुखी हूँ' 'यह सब कुछ मेरा ही है' तथा विधि-निषेध, पुण्य-पाप और इहलोक-परलोक इत्यादि व्यवहार होते रहते हैं, तबतक इसी व्यवहारमें बँधे रहनेके कारण जन्म-मृत्युरूप ससार-समुद्रसे जीवका लेशमात्र भी छुटकारा नहीं हो सकता। और इसीलिये प्रिय-अप्रिय विषयोंकी वेदनासे चित्त चिन्तित रहनेके कारण वह जीव अत्यन्त व्याकुल रहा करता है। जबतक शरीर धारण करना पड़ता है तबतक स्वप्नमें भी लेशमात्र भी शान्तिका अनुभव नहीं हो सकता—यह निश्चित बात है। कहा भी है—

यत्र यत्र शरीरपरिग्रहस्तत्र तत्र दुःखम्।

(वासुदेव-मनन)

अर्थात् 'जहाँ-जहाँ शरीर धारण करना पड़ता है वहाँ-वहाँ दुःख है।'

न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति।

(छा० उ०)

'देहधारणकी अवस्थामें प्रिय-अप्रिय विषयोंके ग्रहणसे होनेवाली व्याकुलता कभी भी नहीं मिटती।' देहधारी होना ही दुःखका मूल है, उस समय जो कभी क्षणिक सुखका अनुभव होता है वह भी दुःखोंसे सम्बन्ध रखनेके कारण दुःख ही है। अतः सम्पूर्ण दुःखोंका मूलभूत जो शरीरग्रहण है उसका अभाव हो जाना ही परम पुरुषार्थ-रूप मोक्ष है—यह अनेकों दार्शनिकोंका सिद्धान्त है। इसी आशयका बोधक भगवान् गौतमका न्यायसूत्र भी है—

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः।

इसका तात्पर्य यह है कि भ्रान्तिरूप मिथ्या ज्ञानसे पहले राग-द्वेष आदि चित्तके दोष प्रकट होते हैं, उनसे धर्माधर्ममें प्रवृत्ति होती है, धर्माधर्ममें प्रवृत्ति होनेसे ही देव, मनुष्य और तिर्यग् आदि योनियोंमें जन्म होता है, फिर उससे दुःख होता है। इस प्रकार यहाँ क्रमशः उत्तरोत्तर भावोंमें पूर्व-पूर्व भाव कारण होते हैं। अतः इसी क्रमसे मूलहेतु मिथ्या ज्ञानके नाश होनेपर उसके कार्यभूत रागादि दोषकी निवृत्ति होती है, दोषनिवृत्ति होनेपर धर्माधर्मकी प्रवृत्ति नहीं होती, प्रवृत्तिका अभाव होनेसे किसी योनिमे शरीर-ग्रहण नहीं करना पड़ता और शरीरके न होनेसे सम्पूर्ण दुःखोंका नाश हो जाता है।

ऐसी स्थितिमें सभी विचारकोंका मत यही है कि 'समस्त दुःखोंका एकमात्र कारण मिथ्या ज्ञान ही है।' उस मिथ्या ज्ञानकी निवृत्ति कैसे होगी और उसकी निवृत्ति हो जानेपर नित्य निरतिशय आनन्दस्वरूप अपने आत्मभूत परमात्मामें स्थिति किस प्रकार हो सकती है? ऐसी आकाङ्क्षा होनेपर भगवान् भाष्यकार यह सूत्रभूत वाक्य कहते हैं—

मिथ्याज्ञानापायश्च ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानाद्भवति।

ब्रह्म और आत्माकी एकताका ज्ञान हुए बिना इस जन्म, जरा, मृत्यु और दुःखरूप अज्ञान-जन्य ससारका विनाश सौ करोड कल्पोंमे भी किसी तरह नहीं हो सकता! इससे बढ़कर बुद्धियोगका माहात्म्य क्या कहा जा सकता है?

इसके अतिरिक्त जबतक ईश और ईशितव्यका भेद बना हुआ है अर्थात् 'मैं नियम्य हूँ और ईश्वर मेरा नियामक है' इस प्रकार जीव और ईश्वरमे भेदकी कल्पना है तथा ऐसा होनेके कारण ही हाथमें तलवार उठाये हुए स्वामीके सामने सेवककी भाँति पुरुषका जीवन जबतक भयपूर्ण और पराधीन है तबतक उसे स्वतन्त्रता कैसे प्राप्त हो सकती है? तथा स्वतन्त्र हुए बिना सुखकी वार्ता भी कैसे की जा सकती है? स्वतन्त्रताके द्वारा ही कृतार्थ हो जानेके कारण जीवको सुख मिलता है—यह सभीका मत है। बड़े खेदकी बात है कि अपनेसे भिन्न नियामक और फलदाता ईश्वरकी कल्पना करके उसके अधीन हो उससे डरते हुए पण्डित पुरुष भी मोहित और दुखी हो रहे हैं! जबतक सम्यक् रूपसे विचारके द्वारा परमार्थतत्त्वका निश्चय नहीं होता तबतक अपनेको नियम्य मानकर अपनेसे भिन्न नियामककी अज्ञान-जन्य कल्पना अवश्य ही होगी। अतः परमार्थतत्त्वस्वरूप परब्रह्मका ज्ञान ही नियम्य-नियामकभावसे उसमें आरोपित की हुई अनर्थकी कारणभूत

जीवईश्वरभेदकल्पनाका नाशक है, इसलिये तत्त्वज्ञान ही सब साधनोंमें उत्तम और विशेष है। जैसा कि सुरेश्वराचार्यने कहा है—

ईशेशितव्यसम्बन्धः प्रत्यगज्ञानहेतुजः।
सम्यग्ज्ञाने तमोध्वस्तावीश्वराणामपीश्वरः॥

'अपने आत्माके परम तत्त्वको न जाननेसे ही नियम्य-नियामकभावकी उत्पत्ति होती है। विचारजन्य सम्यक् ज्ञानके द्वारा अज्ञानकी निवृत्ति हो जानेपर तो यह संसारी जीव हिरण्यगर्भ आदि ईश्वरोंका भी ईश्वर हो जाता है।'

जीव, ईश्वर, जगत् इत्यादि नाना प्रकारकी कल्पनाएँ माया-मोहके ही कारण स्फुरित होती हैं। तत्त्वज्ञानसे माया-मोहकी निवृत्ति हो जानेपर वैसी भेद-कल्पनाएँ नहीं हो सकतीं। उस समय स्वयं ब्रह्मभावको प्राप्त होकर पुरुष नित्य मुक्त शुद्धस्वरूप अपनी महिमामें विराजमान होता है। इसी बातका हमने भी बदरीशस्तोत्रमें अन्वय-व्यतिरेकन्यायसे निरूपण किया है—

सत्यज्ञानसुखस्वरूपमचलं यद्वस्तु तस्योदरे
विश्वं भाति विचित्रमूर्ध्वनगरीतुल्यं निजाविद्यया।
मायामोहपरिक्षये तु न जगज्जीवोऽपि वा नेश्वरः
शुद्धात्मात्मनि शिष्यतेऽस्तु बदरीभर्ता गतिस्तद्वपुः॥

'नित्य निर्विकार सच्चिदानन्दघन नामक जो वस्तु है उसीके अन्दर गन्धर्वनगरके समान अज्ञानवश जीव, ईश्वर और जगत्के रूपमें यह द्वैत प्रतीत हो रहा है। जिस समय ज्ञान-प्रकाशका उदय होनेसे महामोहरूप तम निवृत्त हो जाता है उस समय न तो जीवकी प्रतीति होती है और न जीवके नियामकरूपसे ईश्वरकी ही प्रतीति होती है, द्वैतका भान तो लेशमात्र भी नहीं होता। उस समय भेदकी कल्पनाओंसे रहित एक अद्वितीय आत्मा ही अपनी महिमामें शेष रह जाता है, ऐसे निर्विकल्प आत्मस्वरूप श्रीबदरीनाथजी ही मेरे आश्रय हों'—यही इस श्लोकका सारांश है।

इस प्रकार भेद-कल्पना और उससे प्राप्त होनेवाले संसाररूप अनर्थकी परम्पराके एकमात्र बीज महामोहका अत्यन्त विनाश करके नित्यानन्दस्वरूप परमात्माके साथ एकताकी प्राप्ति करानेका साधन बुद्धियोग ही है, अतः वही उत्तम और अन्तिम योग है—इस विषयमें विद्वानोंको तनिक भी संशय नहीं है। अन्य जो भक्तियोग, राजयोग, कर्मयोग, लययोग, जपयोग, क्रियायोग और हठयोग आदि अप्रधान योग हैं वे सभी उपर्युक्त महिमावाले परम पदके प्रापक मोहविध्वंसक बुद्धियोगके साधनमात्र हैं। उन अप्रधान योगोंमें भक्तियोग ही सबसे प्रधान है, क्योंकि वह अन्य योगोंकी अपेक्षा शीघ्र ही बुद्धियोगको उत्पन्न करता है। भक्तियोग जिस प्रकार अपने साधकको ऊँचे उठाता है—परम तत्त्वके निकट पहुँचाता है उस प्रकार अन्य योग नहीं पहुँचाते, अतः परमेश्वरकी भक्तिकी अपेक्षा सभी योग कनिष्ठ हैं।

यथानुरक्तिर्भवतोऽङ्घ्रिमूले
भक्तानुकम्पस्य भवार्तिहारिन्।
तथात्र कर्माथ च राजयोगः
सुखेन नैवोन्नमयेत्पुमांसम्॥
(बदरीशस्तोत्र)

'हे भवबाधाको मिटानेवाले भगवन्! आप भक्तवत्सल प्रभुके चरणोंमें की हुई भक्ति जिस प्रकार साधकको अनायास ही उन्नतिकी ओर ले जाती है उस प्रकार इस लोकमें कोई कर्म अथवा राजयोग पुरुषको अनायास और शीघ्र ही उन्नत पदपर नहीं ले जा सकते।'

गौणी भक्ति और परा भक्तिके भेदसे भक्ति दो प्रकारकी है। यदि परा भक्ति नित्य निरतिशय निर्विकल्पाद्वैतरूपिणी और भेदकी गन्धसे रहित हो तो वह पूर्वोक्त अद्वैत ज्ञानरूपा ही है, अतः उसकी मोक्षके प्रति साक्षात् साधनता निषिद्ध नहीं है। इसलिये यहाँ बुद्धियोगके साधनरूपसे गौणी भक्ति ही विवक्षित है। श्रीमद्भागवत आदि पुराणोंमें न्याययुक्त अनेकों श्लोकोंद्वारा उन-उन स्थलोंपर भक्तिके सर्वोत्तम माहात्म्यका वर्णन किया गया है। उन सभी श्लोकोंको भक्तिप्रधान 'कल्याण' पत्रके पाठक भलीभाँति सुन और जान चुके होंगे, अतः उनको यहाँ उदाहरणरूपमें उद्धृत करनेका प्रयत्न हम नहीं करते हैं। भागवत-प्रसिद्ध नवधा भक्तिके द्वारा अपनेको प्रिय लगनेवाले भगवान्‌के किसी भी रूपसे उनकी उपासना करनेवाले पुरुष भगवत्कृपासे अपने पाप और चित्तमलके नाश हो जानेपर विशुद्धचित्त होकर शीघ्र ही भगवान्‌के पारमार्थिक निरुपाधिक तत्त्वको जाननेमें समर्थ होते हैं। भक्तोंके मार्गमें जो-जो विघ्न आते हैं उन सबको दूर करके भक्तवत्सल भगवान् सदा ही अपने भक्तोंका पालन करते हैं, अतः राजयोग आदिसे भक्तियोगका माहात्म्य अवश्य ही विशेष है।

क्योंकि भगवान्की यह प्रतिज्ञा है—

न मे भक्तः प्रणश्यति ।

'मेरे भक्तका कभी नाश नहीं होता।' इस विषयपर निम्नाङ्कितरूपसे मैंने भी विचार किया है—

भक्तिर्यदीयसगुणात्मनि शीघ्रशुद्धे
चित्तस्य साधनमतस्तदुपार्जनीयम् ।
भक्तो न नश्यति यतोऽवति तं विपद्भ्यो
भक्तप्रियस्तमनिशं स्मर बद्रिकेशम् ॥

(बदरीशस्तोत्र)

'भगवान्के सगुण साकार स्वरूपमे की हुई भक्ति अत्यन्त शीघ्रतापूर्वक चित्तशुद्धिका कारण होती है, अतः सभी मुमुक्षुओंको चाहिये कि निरन्तर उस भक्तिका उपार्जन करें। क्योंकि परमेश्वरके चरणोंमे जिसने सर्वथा अपना चित्त समर्पण कर दिया है उसका कभी नाश नहीं होता। जो भक्तवत्सल भगवान् इहलोक और परलोक दोनोंको विनष्ट करनेवाली सभी आपदाओंसे अपने भक्तकी सदा ही रक्षा करते हैं उन ऐसे माहात्म्यवाले बदरीनाथजीका हे मन ! तू निरन्तर स्मरण कर।'

इसके अतिरिक्त जिस प्रकार भगवान् अभक्तोंको बन्धनका हेतुभूत अज्ञान देते हैं उसी प्रकार वे ही भक्तोंको चित्तशुद्धिपूर्वक ज्ञान भी देते हैं, अतः तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके लिये भगवान्की प्रसन्नताके सिवा और कोई भी उपाय नहीं है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥

(गीता १०।१०-११)

'मुझमें सदा चित्त लगाये रहनेके कारण जो लोग अनन्य प्रेमपूर्वक मेरा भजन करते हैं उन्हें मैं शीघ्र ही परम तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ जिसके द्वारा वे मुझ नित्यानन्दैकरस निर्विशेष अद्वय परब्रह्मको प्राप्त कर लेते हैं। उन भक्तोंपर ही दया करके मैं प्रत्यगात्मारूपसे उनके अन्तःकरणमे रहता हुआ अत्यन्त प्रकाशमय ज्ञानात्मक प्रदीपसे उनके अज्ञान-जन्य आवरणको नष्ट कर देता हूँ।'

तथा जबतक चित्त पापकलापोंसे कलुषित है तबतक उसमें शुद्धता और शुद्धतासे होनेवाले आत्मप्रकाशकी लेशमात्र भी सम्भावना नहीं है। कीचड़से मलिन हुए जलमें जिस प्रकार सूर्यमण्डलका प्रतिबिम्ब स्पष्ट नहीं दीखता उसी प्रकार पापकलुषित हृदयमें आत्मप्रतिबिम्ब तनिक भी स्फुरित नहीं होता। परन्तु कीचड़ धो देनेसे निर्मल हुए चित्तमे सहज ही आप-ही-आप आत्मतत्त्व प्रकाशित होने लगता है—

ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः ।
यथादर्शनके प्रख्ये पश्यत्यात्मानमात्मनि ॥

(महाभारत)

'पहलेके किये हुए पापोंका क्षय हो जानेपर ही सम्यक्रूपसे पुरुषोंको तत्त्वज्ञान होता है। कीचड़ धुल जानेपर अत्यन्त विमल दर्पणमें जिस प्रकार अपना प्रतिबिम्ब स्पष्ट पड़ता है, उसी प्रकार अपनी विमल बुद्धिमें पुरुष अपने आत्माको अपरोक्षरूपसे उपलब्ध करता है।'

धर्माधर्मकी मर्यादाके व्यवस्थापक और धर्माधर्मके फलदाता सर्वनियामक परमेश्वरकी प्रसन्नताके साथ ही होनेवाली करुणाके विना किसीके भी पाप-समूहका नाश नहीं हो सकता। अतः भगवान्के अनुग्रहका एकमात्र हेतु उनकी भक्ति ही अन्य सभी कल्याण-साधक योगोंसे श्रेष्ठ है—इसमे कहना ही क्या है ! इसीलिये श्रीमद्भागवतमें कहा है—

एवं प्रसन्नमनसो भगवद्भक्तियोगतः ।
भगवत्तत्त्वविज्ञानं मुक्तसङ्गस्य जायते ॥

'भगवान्की अनन्य भक्ति करनेसे जिसका चित्त निर्मल हो गया है और चित्तशुद्धि हो जानेसे ही जिसकी विषयोंमें लेशमात्र भी आसक्ति नहीं है ऐसे पुरुषको ही भगवान्के पारमार्थिक स्वरूपका ज्ञान हो सकता है, अन्य किसी साधनसे किसी प्रकार नहीं हो सकता।'

इस प्रकार भक्तिका सर्वोपरि माहात्म्य सिद्ध होनेपर भी कुछ लोग ऐसा कहा करते हैं कि 'भाष्यकार शङ्कराचार्यने, भक्तिशास्त्रका खण्डन किया है, अतः अद्वैतपथके पथिक शङ्करभक्तोंको भक्तिमार्गका अनुसरण नहीं करना चाहिये।' यद्यपि उनका कथन ठीक है तथापि जिनके राग-द्वेषादि मल-विक्षेप दूर नहीं हुए है उनके अन्दर आत्मविवेचनकी शक्ति कैसे हो सकती है ? और मलिन चित्त होनेके कारण किस प्रकार वे आत्मसमाधि कर सकते हैं ? अतः भक्तिमार्ग ही सरल और श्रेष्ठ है तथा उसीका सबको अनुसरण करना चाहिये। भाष्यकार

भगवान् शङ्कराचार्य स्वयं ही परमात्माके बहुत बड़े भक्त थे। संसारमें उनके समान भक्त कोई विरला ही हो सकता है। हिमालयसे लेकर सेतुबन्ध रामेश्वरतक भारतवर्षके अन्दर अनेकों प्रसिद्ध-प्रसिद्ध क्षेत्रोंमें अपनी सर्वोत्तम भक्तिसे उन्होंने वहाँके देवताओंको प्रसन्न किया जिससे उन-उन देवताओंने उन्हें प्रत्यक्ष दर्शन और मनोवाञ्छित वरदान दिया—यह बात उनके चरित्रवेत्ताओंसे छिपी नहीं है।

इसके अतिरिक्त यद्यपि उन्होंने वैष्णवोंके भक्तिशास्त्रकी प्रक्रियाका तिलशः खण्डन किया तथापि भक्तिका खण्डन कहीं नहीं किया है; क्योंकि भगवान् शङ्कराचार्य स्वयं ही भक्तिको तत्त्वज्ञानका परम साधन मानकर उसके सर्वोत्तम माहात्म्यका स्वरचित शारीरकभाष्यमें पाञ्चरात्रोंके चतुर्व्यूहवादका खण्डन करते समय इस प्रकार समर्थन करते हैं—

यदपि तस्य भगवतोऽभिगमनादिलक्षणमाराधनमजस्रमनन्यचित्ततयाभिप्रेयते तदपि न प्रतिषिध्यते श्रुतिस्मृत्योरीश्वरप्रणिधानस्य प्रसिद्धत्वात्।

अर्थात् 'अव्यक्तसे भी पर और स्वयं ही नाना प्रकारके व्यूहोंमें स्थित रहनेवाले सर्वात्मा परमेश्वर देवदेव भगवान् नारायणके मन्दिरमें जाना, पूजा आदिके लिये उपयुक्त सामग्रियोंको लेकर उनकी पूजा करना, अष्टाक्षर आदि मन्त्रोंका जप, कीर्तन और ध्यान आदि जो यजनकर्म वैष्णव-शास्त्रोंमें निरन्तर अनन्यभावसे विधान किये गये हैं उनका हम निषेध नहीं करते, क्योंकि श्रुतियाँ और स्मृतियाँ एक स्वरसे शरीर, मन और वाणीके द्वारा ईश्वरकी विशेष भक्तिका उपदेश करती हैं।'

अतः यह निष्कर्ष निकला कि 'अनन्यचित्तसे अभ्यास किया हुआ भक्तियोग परम पुरुषार्थकी साधनभूत अद्वैत बुद्धिका उत्पादक होता है और अनायास ही शीघ्रतापूर्वक फलयोग (बुद्धियोग) का, अप्रतिबन्धकभावसे साधक होता है, इसलिये वही सब साधनोंमें परम उत्तम है।'

इसके बाद यम-नियम आदि आठ अङ्गोंसे युक्त, चित्तवृत्तिका निरोधरूप फलवाला राजयोग भी सम्यग्रूपसे आत्मज्ञानका उपयोगी है इसलिये वह भी उत्तम साधन है।

ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः।

(मुण्डक०)

'चित्तशुद्धि होनेके अनन्तर एकाग्रमनसे अखण्ड, अपरिच्छिन्न आत्माका निरन्तर चिन्तन करनेवाला पुरुष अपरोक्षभावसे आत्माका अनुभव करता है।'

अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं
मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति।

(क० उ०)

'आत्मामें चित्तकी समाधि ही अध्यात्मयोग कहलाता है, उसकी प्राप्ति हो जानेसे बुद्धिमान् पुरुष स्वयंप्रकाश आत्माका साक्षात् अनुभव करके हर्ष और शोक आदिसे रहित हो जाता है।'

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥
युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति॥

(गीता ६। १३, १५)

अर्थात् 'शरीर, मस्तक और ग्रीवा—इन्हें इस प्रकार धारण करे जिससे वे सम एवं अचञ्चल हों और स्थाणु (ठूँठ पेड़) की भाँति स्थिर होकर नेत्रोंसे अपनी नासिकाके केवल अग्रभागको देखता हुआ अन्य दिशाओंकी ओर दृष्टि न ले जाकर आत्म-भावनामें संलग्न हो चुपचाप बैठा रहे। योगनिष्ठ पुरुष इस प्रकार एकाग्र चित्तसे निरन्तर आत्माका अनुसन्धान करता हुआ, मुझमें स्थित हो जाना ही जिसका स्वरूप है ऐसी नित्य निरतिशय परमकैवल्यरूपिणी शान्तिको प्राप्त कर लेता है।'

—ऐसी अनेकों श्रुतियाँ और स्मृतियाँ तत्त्वदर्शनके उपायरूपसे राजयोगका वर्णन करती हैं। यह योग केवल अद्वैत-विज्ञानको ही नहीं, सगुण भक्तिको भी चित्तकी एकाग्रताका सम्पादन करता हुआ सुदृढ करता है। इसी आशयका समर्थक शाण्डिल्यसूत्र भी है—

'योगस्तूभयार्थमपेक्षणात्.........'

अर्थात् 'भक्ति और ज्ञान दोनों ही चित्तवृत्तिकी स्थिरताकी अपेक्षा रखते हैं, अतः योग इन दोनोंका निमित्त एवं सहायक होता है।'

जिस प्रकार राजयोग भक्तिका उपकारक है उसी प्रकार भक्ति भी योगके लिये उपयोगिनी है। अतः इन दोनोंमें परस्पर उपकार्य-उपकारकभाव सम्बन्ध है।

'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' 'तस्य वाचकः प्रणवः' 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' (योगसूत्र)

अर्थात् 'परमेश्वरमें किये जानेवाले कायिक, वाचिक और मानसिक प्रणिधान—भक्तिविशेषसे सन्तुष्ट होकर ईश्वर अपने भक्तपर अनुग्रह करते हैं, अतः पाप आदि कारणोंसे होनेवाले विघ्न और प्रतिबन्धकोंके अभाव हो जानेसे उस भक्तको थोड़े ही समयमें समाधि और उसके फलकी सिद्धि प्राप्त हो जाती है।' 'उस ईश्वरका वाचक—नाम प्रणव—ॐकार है।' 'प्रणव-मन्त्रका जप और प्रणव-प्रतिपाद्य ईश्वरका चिन्तन ही पूर्वोक्त प्रणिधान (भक्ति) है।'

इस प्रकार प्रणव-जप और प्रणवके अर्थभूत परमात्माका भलीभाँति चिन्तन करनेसे अवश्य ही चित्त एकाग्र होता है। तदनन्तर बुद्धिमें स्पष्टरूपसे परमात्मा प्रकाशित होते हैं, अर्थात् परम तत्त्वज्ञानका उद्गम होता है—यह इन तीनों सूत्रोंका सम्मिलित अर्थ है।

ऊपरके कथनानुसार यद्यपि राजयोग और भक्तियोग परस्पर उपकार्य-उपकारकभाव सम्बन्धसे युक्त होनेके कारण कुछ शास्त्रकारोंद्वारा तुल्यप्रधान बतलाये गये हैं तथापि यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार आदिके द्वारा समाधि-लाभ करना अत्यन्त कठिन, दुष्कर, परिश्रमसाध्य तथा अनेक विघ्नोंके कारण विषम कार्य है। अतः भक्तिमार्गपर चलना ही अत्यन्त सरल, सुकर तथा परिश्रम एवं विघ्नोंसे रहित है। इसलिये भक्तियोग ही शीघ्र फलदायक उत्तम साधन है। यही उन महात्मा विद्वानोंका भी सिद्धान्त है, जिन्होंने कि अनेकों साधनोंका अनुष्ठान स्वयं किया है। इस विषयमें व्यासजीके निम्नाङ्कित प्रकारके वचन ध्यान देनेयोग्य हैं—

यत्फलं नास्ति तपसा न योगेन समाधिना।
तत्फलं लभते सम्यक् कलौ केशवकीर्तनात्॥

'अन्य युगोंमें तपस्या, योग और समाधिसे भी जो फल प्राप्त नहीं होता वही फल कलियुगमें मनुष्य केवल भगवान्‌का नाम-कीर्तन करनेसे पा लेता है।'

इस प्रकार यहाँ भक्तियोगकी प्रधानता होनेपर भी चित्तवृत्तिनिरोधके विषयमें राजयोगका माहात्म्य निषिद्ध नहीं है। सिद्ध योगियोंकी सहायतासे प्राणायाम और प्रत्याहारादि योगसाधनोंका परिशीलन तथा उसके द्वारा समाधिसम्पादन भी कल्याणपदपर आरूढ़ होनेका उपाय होनेके कारण प्रशंसनीय ही है। दुःखके साथ कहना पड़ता है कि जो लोग योगकला-निष्णात सिद्ध महात्माओंकी सहायताके बिना ही अपनी धृष्टताके कारण केवल पुस्तकोंकी सहायतासे प्राणायामादि योगमार्गपर चलते हैं वे महान् अनर्थके गड्ढेमें गिरते हैं। हमें तो उनके दुःसाहस और विपरीत बुद्धिपर आश्चर्य होता है।

पूर्वोक्तरूपसे राजयोग और भक्तियोग परस्पर उपकार्य-उपकारकभावसे सम्बद्ध होनेपर भी दोनों ही ज्ञानयोगके उपकारक होते हैं। और अद्वैतबुद्धि (ज्ञान)-योग किसी अन्यका अङ्गभूत होकर उपकारक नहीं है, अतः वही ईश्वर-प्राप्तिका प्रयोजक उत्तम और अन्तिम योग है।

अपने-अपने वर्ण और आश्रमके लिये विहित सभी कर्मोंका ईश्वरार्पणबुद्धिसे अनुष्ठान करनारूप जो निष्काम कर्मयोग है वह भी रागादि दोषोंको दूर करके चित्त-शुद्धिके द्वारा ज्ञानयोगका साधक होता है, अतः वह भी आदरणीय ही है। इस कर्मयोगका स्वरूप और माहात्म्य श्रीमद्भगवद्गीता और भागवत आदि प्रामाणिक ग्रन्थोंमें विस्तारके साथ उपलब्ध होता है। कुछ प्राचीन कर्मठों और किन्हीं-किन्हीं आधुनिकोंकी भी यह सम्मति है कि 'कर्मयोग ही अन्य सभी साधनयोगोंसे श्रेष्ठ है, अतः उसीका सबको अनुष्ठान करना चाहिये।'

इनके अतिरिक्त अन्य जो क्रियायोग, जपयोग, हठयोग, लययोग आदि हैं वे सभी परम्परासे बुद्धियोगके लिये उपयोगी होनेके कारण आदरणीय हैं और मुमुक्षुओंको उनका भी अनुष्ठान करना चाहिये—इन साधनोंके विषयमें मैं संक्षेपसे इतना ही कहता हूँ। इनका विस्तार करनेका प्रयत्न नहीं करूँगा।

अब अन्तमें मुझे कुछ और भी विशेषरूपसे कहना है—इन सभी योगोंका मूल कारण क्या है, जिसके प्रभावसे उन-उन योगोंमें पुरुषोंकी प्रवृत्ति होती है और क्रमशः बुद्धियोग-सम्पादनके द्वारा परम कैवल्यकी प्राप्ति होती है? इसके उत्तरमें यह बतलाना चाहता हूँ कि सभी योगोंका मूल कारण साधु-सङ्ग है। साधु-सङ्ग ही सभी योगोंका मूलभूत योग है इसलिये उसे मूलयोग कहा गया है। इस प्रकार सत्सङ्गयोग परम्परासे परम बुद्धियोगका भी कारण है, अतः वही परमसे भी परमयोग है, उसकी उत्कृष्टताका

अनुमान कोई भी नहीं कर सकता। अतः सभी लोग इस बातको जान ले कि समस्त कल्याणों और सभी योगोंका आदिकारण सत्सङ्ग ही है। संसाररोगसे पीडित हुए मनुष्योंके लिये सत्संग ही सबसे उत्तम ओषधि है। भव-तापसे सन्तप्त पुरुषोंके लिये सत्सग ही सबसे बढ़कर सहारा है। संसार-सागरमें डूबते हुओंको सत्सग ही पार लगानेवाला उपाय है।

निमज्ज्योन्मज्जतां घोरे भवाब्धौ परमायनम्।
सन्तो ब्रह्मविदः शान्ता नौर्दृढेवाप्सु मज्जताम्॥
(श्रीमद्भा०)

'जिस प्रकार पानीमें डूबते हुए प्राणियोंके लिये सुदृढ़ नौका ही एकमात्र सहारा है उसी प्रकार भयङ्कर ससार-समुद्रमें डूबते-उतराते हुए अत्यन्त दीन-दुखी मनुष्योंके लिये अत्यन्त शान्त ब्रह्मवेत्ता साधु ही सबसे बड़े सहारे हैं।'

इति।
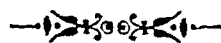
हठयोग और प्राचीन राजविद्या अथवा राजयोग

(लेखक—एक 'दीन')

शरीर और उसकी नाडियोंकी शुद्धि और स्वास्थ्यकी रक्षा करना हठयोगका मुख्य उद्देश्य है। आसनसे स्वास्थ्यकी रक्षा और व्याधिनाश होता है और इसका अभ्यास करनेमें कोई भय नहीं। परन्तु इसमें शरीरविज्ञान-का अनुभव पहले आवश्यक है इसलिये अनुभवी पुरुषके द्वारा सीखकर ही अभ्यास करना चाहिये, नहीं तो व्याधि-नाशके बदले व्याधिवृद्धि हो सकती है।

प्राणायाम

विधिपूर्वक किये हुए थोड़े प्राणायामसे दोषोका नाश होता है। सन्ध्योपासनामें तीनों समय तीन-तीन बार अर्थात् कुल नौ बार प्राणायाम करनेकी विधि है। श्रीमद्भागवत एकादश स्कन्धमें प्रातः, मध्याह्न और सन्ध्यामे दस-दस बार अर्थात् कुल तीस बार करनेका आदेश है; किन्तु तीसों बार एक साथ करनेका आदेश नहीं। प्राणायाम करनेसे शरीरके भीतर शुष्कता आती है, इसके लिये अभ्यास करनेवालेको गोघृतका सेवन करना चाहिये। एक प्राणायाम ऐसा है जिसका रेचक ब्रह्मरन्ध्रसे मेरुदण्डके बीचकी सुषुम्ना नाडीमे किया जाता है और जो गुरुगम्य है। प्राणायाम करनेसे उन्माद भी होता है। एक साधकने एक बार मुझसे कहा कि मैंने इतना अधिक प्राणायाम किया कि मेरे रोम-रोमसे प्रणवकी ध्वनि होने लगी; किन्तु कोई आन्तरिक अनुभव या लाभ नहीं हुआ। सच तो यह है कि योगके प्रथम और द्वितीय अग यम-नियमकी प्राप्ति और आसनसिद्धिके बिना प्राणायाम विशेष लाभदायक नहीं होता। शास्त्रोंमें प्राणायामकी बहुत प्रशसा की गयी है, किन्तु यह भी कहा गया है जैसा कि श्रीमद्भागवत पुराणमे मिलता है कि वायु जीतनेपर भी मनको न जीतनेसे लक्ष्यकी प्राप्ति नहीं हो सकती। मन प्राण-वायुसे उच्च है, क्योंकि प्राण-वायु मनका अनुसरण करता है, परन्तु मन प्राणवायु-का अनुसरण नहीं करता। काम-क्रोधसे उत्तेजित होनेपर श्वासकी गति तीव्र हो जाती है और मन शान्त होनेपर प्राण भी शान्त हो जाता है। किन्तु प्राणका निरोध करने-पर भी मनकी चञ्चलता पूरी दूर नहीं होती। इस कारण राजयोगमें प्राणनिग्रह न करके सीधे मनका निरोध किया जाता है, जिससे प्राणका निरोध हठके बिना स्वय हो जाता है। हठयोगका भी सिद्धान्त है कि राजयोग ही हठयोगका लक्ष्य है, किन्तु भेद यह है कि हठयोगके ग्रन्थका कथन है कि हठयोगके बिना राजयोगकी प्राप्ति नहीं होगी और हठ भी राजयोगके बिना व्यर्थ है। परन्तु राजयोगका सिद्धान्त है कि हठयोग राजयोगकी प्राप्तिके लिये आवश्यक नहीं है, वरं किञ्चित् बाधक है।

आपत्ति

हठयोगकी बन्ध-सम्बन्धी क्रियामें भय नहीं है। धोती और जलधौती स्वास्थ्यके लिये उत्तम है, किन्तु इनके बदले ऊपरकी जठराग्निके भागको रबरके ट्यूब (Stomach Tube) के द्वारा साफ करना और मलाशयको एनिमा (Enema) द्वारा साफ करना उत्तम है। हठयोगकी क्रियामें ब्रह्मचर्य और सात्त्विक भोजन जैसे गेहूँ, मूँगकी दाल, दूध, घी आदिका व्यवहार आवश्यक है। जो लोग राजसिक आहार—जैसे तेल, मिर्च, खटाई, रूखा, कडुआ और तीखा आदि

व्यवहार करते हैं, वे रोगग्रस्त हो जाते हैं, क्योंकि साधकका अन्तर्भाग इसे सहन नहीं कर सकता और इस कारण स्वास्थ्योन्नतिके बदले 'योगे रोगभयम्' की उक्ति चरितार्थ होती है। कितने ही हठयोगके साधक केवल क्रियाके कारण असमयमें मर गये अथवा रोगी हो गये। आजकल हठयोगके तत्त्वका जाननेवाले गुरु प्रायः दुर्लभ हैं। यदि उपयुक्त गुरु मिलें और उनकी देखभालमें साधना की जाय तो कोई भय नहीं। केवल हठयोगके अभ्यासमें यह दोष है कि इसके सब साधनोंके स्थूल शरीरसे सम्बन्ध रखनेके कारण स्थूल शरीरमें जो अज्ञानके कारण आत्माभिमान है, उसकी कमी न होकर, उसकी पुष्टि होती है, जो अध्यात्म-पथमें बहुत बड़ा प्रतिबन्धक है। राजयोगमें तो स्थूल शरीरको केवल घोर मायिक मानकर और केवल आवरण समझकर उसकी ओर कुछ भी ध्यान नहीं दिया जाता, उसकी अवहेलना करके केवल मनोमय कोषसे अभ्यास आरम्भ किया जाता है। दूसरा दोष हठयोगमें यह है कि इसके अधिकांश अभ्यास स्थूल शरीरसम्बन्धी होनेके कारण इसका जो परिणाम होता है वह मृत्युके समय स्थूल शरीर छोड़ देनेपर बेकार हो जाता है और आगे उसका प्रभाव नहीं रहता। किन्तु राजयोगकी मानसिक क्रियाका परिणाम जन्म-जन्मान्तरतक बना रहता है, क्योंकि मृत्युके साथ अन्तःकरणका नाश नहीं होता, वह स्थूल शरीरका त्याग करनेके बाद भी बीजरूपसे वर्तमान रहता है।

चमत्कारकी तुच्छता

आजकल आकाश-तरङ्गके कारण 'ब्रॉडकास्टिङ्ग' द्वारा दूरकी बातें सुनी जाती हैं, अर्थात् विलायतका गाना भारतवर्षमें उसी क्षण सुना जाता है। इस तरह बिना यन्त्रकी सहायताके दूर-श्रवण या दूसरे प्रकारकी चमत्कारिक शक्तियाँ योगके द्वारा प्राप्त होती हैं जिन्हें सिद्धि कहते हैं। किन्तु इन सिद्धियोंका परमार्थसे कोई सम्बन्ध नहीं। अनेक सिद्धियाँ असुरोंको भी प्राप्त थीं। ये योग-मार्गमें विघ्न हैं। अतएव सिद्धियाँ प्राप्त करनेकी दृष्टिसे हठयोगका अभ्यास करना समीचीन नहीं है।

लिये चला जाता है और इस प्रकार समाधिमें जीता पड़ा रहता है। इस अवस्थाको शरीर-चित् (Catelıptic) कहते हैं। वह मेढक वर्षा होनेपर इस अवस्थाको त्यागकर पुनः ऊपर आ जाता है। क्लोरोफार्म देनेपर भी बेहोशी हो जाती है और छुरीके आघातका भी प्रभाव मालूम नहीं होता। इसी प्रकारकी हठयोगकी जड-समाधि है। एक मेरे परिचित जड-समाधिसिद्ध साधुने मुझको लिखा कि मैं अब आत्महत्या करूँगा, क्योंकि मेरा जीवन व्यर्थ हुआ। इस तरहके समाधिसिद्ध अन्य योगियोंके असीम लोभ और तृष्णाकी कहानियाँ सुनी जाती हैं। एक कथा यह प्रसिद्ध है कि एक बाजीगरने घोड़ा पानेका वचन पाकर किसी राजाके सामने समाधि लगायी। जड-समाधि भङ्ग करनेके लिये तो दूसरोंकी आवश्यकता होती है, जिसके अभावमें यह समाधि-भङ्ग कर उठ न सका। अन्तमें राजाने उसे एक गुफामें रख दिया जो कालान्तरमें जमीनके नीचे दब गयी। बहुत दिनों बाद उस राजाके उत्तराधिकारियोंने उस जमीनको खुदवाया। खुदाईमें वह गुफा निकली और उसमें समाधिस्थ वह बाजीगर भी मिला। किसी प्रवीण व्यक्तिने ठीक युक्तिसे उसे जगाया। समाधिसे कई सौ वर्ष बाद जागकर भी, कहते हैं, उसने घोड़ा ही पानेकी प्रार्थना की। वह इतनी बड़ी समाधि पानेपर भी अज्ञानी ही रहा। वास्तवमें राजयोगकी चैतन्य समाधि ही यथार्थ समाधि है, जो प्रत्याहारकी सिद्धि होनेपर धारणा और ध्यानसे प्राप्त होती है और जिसकी प्राप्ति होनेपर संयमद्वारा संसारके लिये हितकर ज्योतिष, आयुर्वेद आदि विषयोंके ज्ञानकी प्राप्ति होती है।

कुण्डलिनीका दुरुपयोग

मन और इन्द्रियका दमन किये बिना केवल स्थूल शारीरिक अभ्यासके द्वारा कुण्डलिनीका उत्थान और षट्-चक्र-भेद करनेसे बड़ी हानि होती है। भुवर्लोकके राजसिक-तामसिक क्षुद्र देव नाना प्रकारका मायाजाल फैलाकर, असत्य भाषण करके, असत्य दृश्य दिखाकर, साधकके दोषोंको बढ़ाकर तथा उसे भ्रममें डालकर उसका अधःपतन करा देते हैं। यदि साधक इनसे बच भी जाय तो भी वह इस जन्ममें योगोन्नति नहीं कर सकता, क्योंकि उसके चक्र निस्तेज और निःशक्त हो जाते हैं। जिस तरह किसी फूलकी कलीको तोड़कर उसे खिलानेका यत्न करनेपर वह फूल मुरझा जाता है, उसी तरह हठ-

योगकी क्रियासे चक्र नष्ट-से हो जाते हैं।

अनाहत शब्द

कान बन्द कर लेनेपर जो दश प्रकारके शब्द सुनायी पड़ते हैं, वे सूक्ष्म आकाश-तरङ्गोंके शब्द अथवा भुवर्लोकके शब्द हैं। ये शब्द भौतिक अथवा भुवर्लौकिक हैं; यथार्थ अनाहत अथवा सार शब्द अथवा परम नाद नहीं हैं। इन शब्दोंको निरन्तर सुननेसे किसी-किसीके मस्तिष्कमें गर्मी आ जाती है और किसी-किसीका अपने ऊपरसे प्रभुत्व जाता रहता है और वह भुवर्लोकके माया-जालमें फँस जाता है।

भौतिक चमत्कार

विष-पान आदि चमत्कार भी योग नहीं हैं। शरीरका असाधारण बल-प्रदर्शन भी योग नहीं है, जिसे प्रोफेसर राममूर्ति आदि व्यायामप्रवीण भी दिखाया करते हैं।

अजपा-योग

किसी मन्त्रका दो भाग करके एक भागको पूरक करते हुए अर्थात् श्वासके भीतर जाते समय जपना और पूरक पूरा हो जानेपर बहुत थोड़ी देर रुक जाना अर्थात् कुम्भक करना और फिर रेचक करते हुए अर्थात् श्वासको बाहर निकालते समय मन्त्रके दूसरे भागका जप करना और रेचक पूरा हो जानेपर फिर बहुत थोड़ी देर रुक जाना—यह अजपा-योग है। यदि कोई मन्त्र न हो तो पूरक करते हुए 'सो' का उच्चारण करना (पूरक करते समय स्वाभाविक ढगसे 'सो' शब्दका उच्चारण होता है), उसके बाद थोड़ा रुक जाना, फिर रेचक करते हुए 'अहम्' का उच्चारण करना (रेचकके समय श्वास निकलनेसे 'अहम्' शब्दका स्वाभाविक उच्चारण होता है), फिर थोड़ा रुक जाना—इसे भी अजपा-जप ही कहते हैं। इसमें मन्त्रका उच्चारण करनेकी आवश्यकता नहीं है, आवश्यकता है केवल श्वासके पूरक और रेचककी गतिपर ध्यान देना, जिससे स्वयं मालूम होगा कि 'सोऽहम्' मन्त्रका जप स्वतः, बिना उच्चारण किये ही, हो रहा है अर्थात् पूरकमें 'सो' और रेचकमें 'अहम्', दोनों मिलकर 'सोऽहम्' का जप बिना जप किये ही हो रहा है। यही अजपा-जपयोग है। इस जपमें वृत्ति अन्तरात्मापर रखनी चाहिये अर्थात् वही 'सो' (वह—ब्रह्म) है और वही 'अहम्' (साधकका जीवात्मा) है; दोनों मिलकर 'सोऽहम्' हुआ है। इसमें पूरक और विशेषकर रेचक धीरे-धीरे करना चाहिये।

यह अजपा-योग उत्तम है और इसमें कोई आपत्ति नहीं है यदि यह जीवात्मा और परमात्माके चैतन्य-स्वरूपकी एकता प्राप्त करनेकी दृष्टिसे किया जाय। श्रीगुरु नानकके अनुयायी कतिपय साधकोंमें यह अभ्यास प्रचलित है।

राजविद्या और राजगुह्य-योग

गीताके नवें अध्यायमें जिस राजविद्या-राजगुह्य-योगका उल्लेख है, उसकी प्राप्तिके लिये जिस ज्ञान, भाव और साधनाकी आवश्यकता है, उसका यहाँ सक्षेपमें वर्णन किया जाता है।

(१) जड प्रकृति और उसके कार्य शरीर आदि नाम-रूपात्मक दृश्यको अनात्मा और चैतन्य आत्माका केवल आवरणमात्र जानकर प्राकृतिक पदार्थोंमें आसक्ति नहीं रखनी चाहिये, अपने चैतन्य आत्मासहित अखिल विश्वब्रह्माण्डको कारणकी दृष्टिसे चैतन्यघन श्रीपरमात्माका व्यक्त रूप जानकर उसी ज्ञानमें दृढ विश्वास रखना चाहिये। इस ज्ञानके आधारपर सम्पूर्ण दृश्यके प्रति राग-द्वेषसे रहित होकर सबके अन्दर चैतन्यरूपमें श्रीभगवान् अर्थात् अपने इष्टदेवको वर्तमान देखना चाहिये और इसलिये सबको प्रेम और आदरकी दृष्टिसे देखना और मनसे नमस्कार करना चाहिये (भागवतपुराण स्क० ११ अ० २। श्लो० ४१)। श्रीभगवान्‌की इन विभूतियोंमें जो विभूति हृदयको आकर्षित करे, उस रूपमें प्रेमपूर्वक श्रीभगवान्‌की उपासना और पूजा करनी चाहिये (भागवत ११। २७। ४८)। सर्वत्र भगवद्भावकी इस दृष्टिके अनुसार आचरण करना चाहिये अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय (परद्रव्यापहरण न करना), ब्रह्मचर्य (इन्द्रियनिग्रह), अपरिग्रह (दूसरेकी वस्तु, देनेपर भी, न ग्रहण करना), शौच, सन्तोष आदिका अभ्यास करना चाहिये और इनके विरोधी दुर्गुणोंका त्याग करना चाहिये।

(२) ऊपरके ज्ञानके आधारपर शरीरके प्रति अहंता और पदार्थोंके प्रति ममताका त्याग कर सब प्रकारके कर्मोंको श्रीभगवान् अर्थात् अपने इष्टदेवके कर्म समझकर केवल उन्हींके निमित्त निःस्वार्थ—निष्कामभावसे करना चाहिये और उन कर्मोंको श्रीभगवान्‌के चरणोंपर अर्पित कर

देना चाहिये। काम करते हुए यह ध्यानमे रखना चाहिये कि केवल ईश्वरानुकूल ही कर्म हो, अपनेसे कदापि ऐसा कोई कर्म न हो जो श्रीभगवान्के गुण, वंचन, इच्छा आदिके विरुद्ध हो। अपने सांसारिक व्यावहारिक कर्म भी श्रीभगवान् अर्थात् इष्टदेवके कार्य समझकर उन्हींके निमित्त निष्कामभावसे करने चाहिये। (श्रीभागवत)

(३) ऊपर कहे हुए ज्ञान, भाव और कर्मके द्वारा इन्द्रियोका निग्रह और शुद्धि, मनका सयम तथा चित्त-शुद्धि करके अहङ्कार, ममता और स्वार्थको भलीभाँति त्याग देना चाहिये, दूसरोके द्वारा किये हुए अपमान, अपकार आदिको धैर्यपूर्वक सहते हुए जन-जनार्दन अर्थात् सब प्राणियोंको श्रीभगवद्रूप जानकर उनके हितसाधनको ही श्रीभगवान्की परम सेवा मानकर उनका सम्पादन निष्कामभावसे करना चाहिये और विशेषकर सदाचार, ज्ञान और भक्तिभावका सब प्रकारसे अपने आचरणद्वारा प्रचार करना चाहिये (भागवत ११। ७। ३८, ४४ तथा ११। ११। २३-२४)।

(४) श्रीभगवान्के जिस सगुण-साकारभावके प्रति हृदयका स्वाभाविक झुकाव हो, उसीके प्रति अनुरक्त होकर उसके सशक्तिक दिव्य रूपकी (जो सच्चिदानन्दरूप है, प्राकृतिक कदापि नहीं), कीर्तन, स्मरण, अर्चन, वन्दन, स्तोत्रपाठ, जप आदिके द्वारा निःस्वार्थ प्रेमके साथ नित्य उपासना करनी चाहिये और उसीमे चित्तको निरन्तर लगाना चाहिये। परमात्माके उसी दिव्य नामका निरन्तर मानसिक जप करते हुए ही शरीरसे अन्य काम भी करते रहना चाहिये।

(५) अन्तिम साधना—अपने शरीररूप पिण्ड (छोटे ब्रह्माण्ड) के आध्यात्मिक हृदयमे जो अङ्गुष्ठमात्रका चेतनात्मा (पिण्डका केन्द्रस्वरूप) वर्तमान है, उसमें, हृदयशुद्धि आदिके द्वारा, स्थिति लाभकर अभ्यासद्वारा उसमें मनको लय करना चाहिये।

(६) तत्पश्चात् उस हृदय-केन्द्रमें अपने शक्तिसहित इष्टदेवको स्थापित कर, निरन्तर उनके ध्यानके द्वारा अन्तरात्माको उनमें लय करना चाहिये। इन दोनो अभ्यासोंमें ध्यान मुख्य है। इष्टके साकार ध्यानकी सुगमताके लिये इष्टदेवकी मूर्ति या चित्रको ध्यान करते समय अपने सामने रखना आवश्यक है। उस मूर्ति या चित्रके समान अपने हृदयमे एक मूर्ति नीचेके भागसे लेकर ऊपरके भागतक बनानी चाहिये और उस हृदयस्थ मूर्तिमें मनको सन्निवेशित करना चाहिये, अन्य किसी भावनाको नहीं आने देना चाहिये। यदि कोई दूसरी भावना आवे तो उसे दूरकर फिर चित्तको मूर्तिमें ही सलग्न करना चाहिये।

(७) श्रीशिवकी कृपा होनेपर ध्यानके द्वारा हृदय-कमलमे इष्टके दर्शन होते हैं। श्रीमद्भागवतपुराणमें कथा है कि गुरुके उपदेशके अनुसार हृदयमें ध्यान करनेसे श्रीनारदजीको भगवद्दर्शन हुए। इनके अतिरिक्त दो और सोपान हैं।

(८) जगद्गुरु श्रीशिवकी कृपासे साधकको अपने अदृश्य सद्गुरुके दर्शन हृदयमें ही होते हैं और उनके तेजके प्रकाशसे, अन्तरमे उनसे सम्बन्ध हो जाता है।

(९) श्रीसद्गुरु योगकी यथार्थ उच्च दीक्षाद्वारा साधकका दैवीप्रकृतिके प्रकाशके साथ सम्बन्ध करा देते है, जिस प्रकाशकी सहायतासे श्रीसद्गुरु साधकको अविद्यान्धकारसे पार करके उसके इष्टदेवमे उसे समर्पित और युक्त कर देते है। यह सद्गुरुकी सहायताके बिना कदापि सम्भव नहीं है।

श्रीसद्गुरु

श्रीशिवका सद्गुरु होना तो लोगोंको विदित है, किन्तु श्रीसद्गुरुका ज्ञान प्रायः आजकल एक प्रकारसे लुप्त हो गया है। गुरु-गीता आदिमें जो गुरुका वर्णन इस प्रकार आया है कि गुरु मिलते ही साधकको ज्ञानचक्षु देकर अज्ञानान्धकारको दूरकर उसे अखण्डमण्डलाकार सर्वव्यास ब्रह्मका साक्षात्कार करा देते हैं, गुरु स्वय त्रिमूर्ति और परब्रह्मके रूप हैं, इस वर्णनसे त्रिकालदर्शी महर्षियों और सिद्धोंसे तात्पर्य है जो यद्यपि आजकल कलियुगमें अदृश्य हैं, तथापि इस भूलोकमें ही वर्तमान हैं। कलियुगके आरम्भ होनेपर राजा श्रीपरीक्षितको शाप लगनेके बाद शुकादि ऋषि उनके पास आये थे और फिर उसके बाद जनमेजयके यज्ञमें भी वे सब लोग पधारे थे। ऋषि और सिद्धगण प्रायः शरीर-त्याग नहीं करते, वे तो अमर हैं। लिंगपुराणके सातवें अध्यायमें उन सद्गुरुओंका वर्णन योगाचार्यके रूपमें आया है और उसमें उनके शिष्यों-प्रशिष्योंका भी उल्लेख है। उसमे कहा गया है कि

उन लोगोंका वासस्थान हिमालय और सुमेरु पर्वतमें सिद्धाश्रम नामसे पुकारा जाता है। वे सब जगद्गुरु श्रीशिवजीके शिष्यपुत्रके समान हैं। श्रीमद्भागवतपुराणके १२ वें स्कन्धके दूसरे अध्यायके ३७ वें श्लोकमें लिखा है कि श्रीदेवापि और श्रीमरु, जिनका आश्रम कलापग्राममे है, कलियुगमें वर्णाश्रमधर्मकी रक्षा करेंगे। श्रीश्रीधर स्वामी इस श्लोककी टीकामे लिखते हैं कि, 'कलापग्रामो नाम योगिनामावासः प्रसिद्धः।' उसी पुराणके स्क० १० अ० ८७ श्लोक ५ से ७ तक और महाभारतके मौसल-पर्वके अध्याय ७ के अन्तमें कलापग्राममें सिद्धोंके रहनेका वर्णन मिलता है। श्रीसनकादि चारों कुमारोंका आश्रम उत्तरमें है और श्रीअगस्त्य दक्षिणमे हैं, यह बात भी प्रसिद्ध है। प्रत्येक मन्त्रके एक-एक ऋषि होते हैं, जिनका आवाहन मन्त्रके पूर्व नामोच्चारणद्वारा कवच अथवा स्तोत्रमे किया जाता है। इसका भाव यह है कि उन ऋषिकी कृपाके बिना मन्त्रसिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि उस मन्त्रके यथार्थ आविष्कारक वही हैं और उन्होंने उसे लोगोंके हितके निमित्त प्रकाशित किया। सिद्धान्त यह है कि महर्षि और सिद्धगण वर्तमान हैं और उनका ज्ञान, भक्ति, योग आदिका लोगोंमें प्रचार करना ही एकमात्र कार्य है। इसी कारण इस ऋषि-ऋणसे मुक्त होनेके लिये प्रतिदिन ऋषि-यज्ञ करना नित्यकर्मका एक प्रधान अंग माना गया है।

वे लोग अदृश्यभावसे सब जिज्ञासुओंकी सहायता उनकी योग्यताके अनुसार करते हैं और ठीक समय आ जानेपर हृदयमें प्रत्यक्ष दर्शन देकर योगदीक्षा देते हैं। इनमें ऊपर कहे हुए दो ऋषि श्रीदेवापि और श्रीमरु विशेष कार्य कर रहे हैं। क्योंकि आगामी युगमें उनमेंसे एक व्यास और एक मनु होंगे। अतएव वे लोग योग्य साधकोंको चुनकर अपने भावी कार्यके लिये तैयार कर रहे हैं। श्रीभगवान्‌ने प्रभाससे प्रस्थान करनेके पूर्व श्रीउद्धवको इन्हीं दोनों ऋषियोंसे अथवा श्रीमरुसे उपदेश लेनेको कहा था। जो लोग इनको सद्गुरु मानकर इनके साथ प्रेम करेंगे और इनके पादपद्मोंका ध्यान करेंगे, उनका इनकी प्राप्तिसे विशेष उपकार होगा।

राजयोगकी विशेषता

इस राजविद्या-राजयोगके मार्गकी एक विशेषता यह है कि इसके सिद्धान्त और साधन सर्वमान्य हैं और इसकी उपयोगितामें किसी आस्तिकको किसी प्रकारका कदापि सन्देह नहीं हो सकता। गीतामें कहा है कि इस धर्मका थोड़ा भी आचरण बहुत बड़े भयसे बचा देता है (२।४०)।

आध्यात्मिक अनुभवकी गोपनीयता

आध्यात्मिक अनुभवको प्रकाशित करनेसे अनुभवका आना बन्द हो जाता है, क्योंकि प्रकाशित करनेका मुख्य उद्देश्य दूसरोंसे प्रशंसा और मान-बड़ाई प्राप्त करना ही होता है जो अध्यात्म-मार्गका बाधक है। साधकको प्रशंसा, मान, बड़ाई आदिको विष समझना चाहिये और निन्दाको ही अच्छा मानना चाहिये। प्रशंसा, मान आदिसे अहङ्कार-की वृद्धि होती है। अतएव उच्च साधक यदि आवश्यक समझकर किसीसे अपना अनुभव कहते हैं तो वे साथ ही दूसरोंसे कहनेका निषेध भी कर देते हैं। यहाँ हम थोड़े-से अनुभवोंको, जिनका पता हमें मिला है, अनुभवीका नाम-स्थान बिना दिये ही, इस निमित्त दे रहे हैं कि साधक यह समझ जायँ कि वर्तमान समयमें भी श्रीसद्गुरुलोग सहायता कर रहे हैं और जो लोग उनपर विश्वास करके उचित पथका अनुसरण करेंगे उन्हें अपनी योग्यताके अनुसार उनसे अवश्य सहायता मिलेगी। साधकोंको उचित है कि वर्तमान समयमें नकली और केवल धन हरण करनेवाले अथवा मान-बड़ाई चाहनेवाले गुरुओंके फेरमें न पड़कर सीधे सद्गुरुपर विश्वास करके उनके भरोसे निर्दिष्ट पथका, जिसका वर्णन गीतामें है, अनुसरण करें।

कतिपय साधारण आध्यात्मिक अनुभव

महात्मा श्रीविजयकृष्णजी गोस्वामीने एक बार अपने एक परम योग्य ब्रह्मचारी ब्राह्मण शिष्यको योगदीक्षा देते समय जब उसमें शक्ति-सञ्चार किया तब शिष्यको मालूम हुआ कि उसका सम्पूर्ण मेरुदण्ड स्वाधिष्ठानसे लेकर भ्रूमध्यतक ज्वालासे भर गया है। यह कुण्डलिनीके उत्थानका चिह्न है, और कुण्डलिनीके उत्थानकी यह उत्तम प्रकारकी दीक्षा है जो सद्गुरुद्वारा प्राप्त होती है, न कि भौतिक क्रियाद्वारा।

आजकल ऐसे साधक वर्तमान हैं, जिन्होंने उपर्युक्त श्रीमरु अथवा श्रीदेवापिसे सम्बन्ध प्राप्त किया है तथा उनके दिव्य रूप देखे हैं। ऐसे सम्बन्धप्राप्त उच्च साधककी संज्ञा इस लेखमें 'सत्पुरुष' रक्खी जायगी।

एक ब्राह्मणी स्त्रीको हृदयके भीतर सद्गुरुके दर्शन होने लगे। उसने जब यह बात एक सत्पुरुषसे कही तो उन्होंने बताया कि वह इन्हींमेंसे एक है। उस स्त्रीको सद्गुरुने इष्टका ध्यान-श्लोक बताया और सीधे उपदेश दिया, जिससे वह बड़ी उच्च कोटिकी साधिका हो गयी।

एक परोपकारी योग्य ब्राह्मणको सत्पुरुषद्वारा मन्त्रदीक्षा मिलनेपर और कई मासतक श्रद्धा और भक्तिके साथ ध्यानोपासना तथा जप नियमपूर्वक ब्राह्ममुहूर्त्तमें करनेपर सद्गुरु, तत्पश्चात् इष्ट और मन्त्र-ऋषिका साक्षात्कार हुआ और उन लोगोंके द्वारा उन्हें आवश्यक उपदेश मिलने लगा।

एक जनसेवाव्रतमें परम परायणा युरोपीय स्त्रीको एक सद्गुरुने एक सत्पुरुषसे उपदेश लेनेको कहा और जो सङ्केत उन्होंने दिखाया, उसीके अनुसार उस सत्पुरुषने उसे मन्त्रदीक्षा दी।

एक परोपकारी सच्चरित्र कायस्थ महाशयको अभ्यन्तरमे श्रीसद्गुरुके दर्शन होने लगे। पहले तो उन्होंने नहीं पहचाना, किन्तु पीछे एक सत्पुरुषद्वारा उन्हे मालूम हुआ कि यह श्रीसद्गुरु हैं। उनको एक बार हैजेकी बीमारी हुई और बीमारीमें श्रीसद्गुरुने आकर उनके पेटपर अपना हस्तस्पर्श कर दिया जिससे बीमारी जाती रही। उन्होंने उस समय स्पष्ट शब्दोंमें यह भी कहा कि जिस कारणसे यह रोग हुआ, उसे फिर कभी न करना।

एक परम सच्चरित्र वैश्य साधक एक सत्पुरुषसे मन्त्रदीक्षा लेकर ध्यान-जप करने लगे। उससे उनका हृदय-चक्र जागा और उसका स्पष्ट अनुभव भी उन्हें अपने अन्दर होने लगा।

एक श्रीरामोपासक साधक, जिनका एक सत्पुरुषसे घनिष्ठ सम्बन्ध है, अपने हृदयमें उस सत्पुरुषको देखते हैं और उस सत्पुरुषके हृदयके भीतर श्रीसद्गुरुको शिष्य-सहित देखते हैं।

एक साधक एक सत्पुरुषसे मन्त्रदीक्षा लेकर ध्यान-जप करने लगे, किन्तु उनको श्रीसद्गुरुमें विश्वास नहीं था। उन्होंने श्रीसद्गुरुको अपने भीतर देखा और फिर अनेक महात्माओंको देखा और उन सबसे बातचीत भी की। उन्होंने श्रीचैतन्य महाप्रभुके भी दर्शन प्राप्त किये। उन्हें उपदेश यही मिला कि नामका प्रचार करो और होम करो। किन्तु ये सब घटनाएँ स्वप्नमें हुईं।

एक कायस्थकी विधवा स्त्री श्रीशबरीकी भाँति एक सत्पुरुषकी सेवा करती है और जब सत्पुरुषसे पृथक् रहती है तब ध्यान-जप करती है। वह भी अपने इष्ट और श्रीसद्गुरुको अपने हृदयमें देखती है।

एक कायस्थ जिज्ञासुने उपयुक्त उपायद्वारा योग्य गुरुका पता जाननेकी चेष्टा की और उन्हें सो जानेपर एक सत्पुरुषका नाम स्वर्णाक्षरोमे लिखा हुआ दिखायी पड़ा। उन्होंने फिर उन्हींसे मन्त्रदीक्षा ली।

एक दूसरे कायस्थ महाशयने स्वप्नमे सत्पुरुषको देखकर उनसे मन्त्रदीक्षा ली।

एक ब्राह्मण युवकने सत्पुरुष और श्रीसद्गुरुको स्वप्नमें देखा और पीछे वह उन सत्पुरुषके पास आकर कृतकृत्य हुए।

एक ब्राह्मणको सत्पुरुषसे मन्त्रदीक्षा लेकर ध्यान-जप करनेसे अभ्यन्तरमे अपनी इष्टदेवी आदिके दर्शन हुए।

एक ब्रह्मचारी ब्राह्मण उत्तम साधक थे। उन्होंने हठयोगका अभ्यास किया, किन्तु शान्ति नहीं मिली। उसके बाद वह एक भक्तकी सगतिमें आकर श्रीभगवान्की सुन्दर विभूतिके उपासक हुए। परन्तु फिर भी उनकी आन्तरिक पिपासा शान्त न हुई, बल्कि वह और भी बढ़ती ही गयी। आखिर उनकी व्याकुलता असह्य हो उठी और उनकी अन्तरात्माने शान्ति-पथ पानेके निमित्त क्रन्दन किया। तब स्वप्नमे एक विशेष सद्गुरुने दर्शन देकर उनसे एक व्यक्तिके निकट जाकर उपदेश लेनेको कहा। वहाँ उनको श्रीसद्गुरुका परिचय तथा राजयोग, उपासना, ध्यान आदिका उपदेश मिला और सत्पुरुषका भी समागम प्राप्त हुआ। फिर वह अभ्यास करने लगे और उसके बाद उक्त श्रीसद्गुरु प्रायः ही उनसे स्वप्नमें यह कहते थे कि जो उपदेश तुम्हें मिला है, वही ठीक मार्ग है, उसीका अनुसरण करो। कभी-कभी स्वप्नमें श्रीसद्गुरुद्वारा उनको चेतावनी भी मिलती थी कि अभ्यासमे सशय मत करो और उपदेशके अनुसार काम करते रहो। किन्तु किसी हठयोगीकी सगतिसे वह सिद्धिके लोभमें पड़ गये और पुनः हठयोगका अभ्यास करने लगे। अन्तमें फिर सँभलनेकी पूरी चेष्टा की गयी, किन्तु हैजेके रोगसे उन्हें शरीर त्यागना पड़ा।

जब श्रीसद्गुरु देखते हैं कि किसी साधकका वर्तमान शरीर साधनके योग्य नहीं है, तब वह परिवर्तन करा देते

हैं और प्रायः हैजेके रोगसे ही ऐसा परिवर्तन होता है।

एक ब्राह्मण प्रायः २१ वर्षसे जप-ध्यान करते थे, किन्तु उसके तत्त्वको नहीं समझते थे। जब उनको तत्त्व समझाया गया और उन्होंने उचित ढगसे अभ्यास किया तब उन्हें अपने भीतर प्रकाश दिखायी पड़ा और सत्पुरुषके सम्बन्धसे उनके अन्तरकी दृष्टि बहुत कुछ खुल गयी।

एक वैष्णव साधक जालन्धर-बन्ध करके हृदयमें प्रातः-सायं नियमसे जप-ध्यान करते हैं और इसके फलस्वरूप हृदयमें प्रकाश और प्रकाशके अन्दर इष्टदेवको देखते हैं। उनसे दीक्षाप्राप्त शिष्य भी प्रायः ऐसा देखते हैं।

एक शूद्रको, जो सत्पुरुषसे दीक्षा लेनेकी प्रतीक्षामें बैठे थे, यह सुनायी पड़ा कि अमुक देवताकी युगल मूर्तिका मन्त्र लो। उस मन्त्रको उन्होंने लिया और उसके थोड़े दिनके अभ्याससे ही उन्हें अपने हृदयमें इष्टकी युगल मूर्तिके दर्शन हुए तथा स्वप्नमें श्रीसद्गुरुके दर्शन मिले। उन्होंने श्रीसद्गुरुको दो शिष्योंके सहित ध्यानावस्थित देखा और वहाँपर जलती हुई आरती तथा होमकी ज्वाला भी देखी।

एक कायस्थको किसी सद्गुरुने आदेश दिया कि तुम विष्णु-मन्त्र ग्रहण करो। जब उनके कुल-गुरु उन्हें परम्परानुसार शक्ति-मन्त्र देने लगे तब उन्होंने उनसे कहा कि मैं विष्णुका मन्त्र लूँगा। गुरुने तदनुसार उन्हे विष्ण-मन्त्र दिया। उनका ऐसा विश्वास है कि उनके यह श्रीसद्गुरु श्रीनारदजी हैं, जिन्होंने उनसे ऐसा करनेको कहा।

एक हरिजन एक कबीरपन्थी गुरुसे मन्त्र लेकर नित्य नियमपूर्वक रात्रिके तीसरे पहरमें भ्रूमध्यमें ध्यान करते हुए मन्त्र जपने लगे। पाँच-छः महीने बाद उन्होंने किसी महापुरुषको देखा जो शायद श्रीकबीर हो सकते हैं। तबसे वह रोज रातमें भ्रूमध्यमें ध्यान करनेपर उन्हें देखने लगे। कुछ दिनों बाद एक दूसरे महापुरुष प्रकट हुए जो श्रीबुद्धके समान थे। कुछ दिन उन्हें देखनेके बाद उन्होंने एक और तीसरे श्रीसद्गुरुको देखा। उसके बाद वह एक ऐसे महात्माको देखने लगे जिनके नेत्रोंसे अश्रु चलते थे। 'कल्याण' के किसी विशेषांकमें महात्मा श्रीसियारामदासजीके चित्रको देखकर उन्होंने कहा कि आजकल मैं इन्हींको ध्यानमें देखता हूँ। पता लगानेपर मालूम हुआ कि जीवितावस्थामें उक्त महात्माके नेत्रोंसे प्रायः अश्रु बहा करते थे। फिर उन्होंने श्वेतवर्ण मुकुटधारी युगल मूर्ति (स्त्री-पुरुष) देखना आरम्भ किया। इसके बाद भी परिवर्तन हुआ और हो रहा है। किन्तु अब यह आदेश है कि किसीसे इन अनुभवोंको न कहो।

एक विरक्त साधुको स्वप्नमे श्रीसद्गुरुके दर्शन हुए और मन्त्रोपदेश भी मिला। वह क्रमशः उन्नति करने लगे; किन्तु पीछे उपनिषदोंके अर्थको न समझ निर्गुणवादमें पड़ गये और उन्होंने अपने पहलेके अनुभवोंकी अवहेलना कर दी।

एक जिज्ञासुको हठयोगके गुरुने कहा कि हठयोगके लिये पूर्ण ब्रह्मचर्यकी आवश्यकता है; इसलिये जबतक तुम्हें पुत्र उत्पन्न नहीं हो जाता तबतक अभ्यास नहीं बताया जायगा। एक श्रीसद्गुरुने उनसे कहा कि अब हठयोगीसे जाकर कहो कि पुत्र हो गया, उपदेश दीजिये। उन्होंने ऐसा ही किया और इसके बाद उन्हें समाचार मिला कि पुत्र उत्पन्न हुआ है। थोड़े ही कालतक हठयोगका अभ्यास करनेपर उन्हे यह आदेश मिला कि अमुक देवीके स्थानमें जाकर केवल पयाहार करके अभ्यास करो। ऐसा करनेके बाद हठयोग छोड़कर उपासना-ध्यान आदि राजयोगका अभ्यास करनेका उपदेश मिला। किन्तु उन्होंने हठयोगके अभ्यासका त्याग नहीं किया तथा मालूम होता है, राजयोगका अभ्यास करनेमें ढिलाई की। कुछ कालके बाद रोगग्रस्त होकर उन्होंने शरीरका त्याग किया।

व्रजके एक ब्रह्मचारीको भी एक श्रीसद्गुरुके दर्शन हुए थे।

एक सेठको भी, जो विरक्त स्वभावके साधक थे, श्रीसद्गुरुके दर्शन हुए और उपदेश भी मिला।

अधिकांश साधकोंको कुछ दिन साधना करनेके बाद, यदि वे शैव न हों तो, स्वप्नमें शिवमूर्ति, शिवलिङ्ग, शिवपूजा आदिके दर्शन होने लगते हैं, जिसका भाव यही है कि अब उनको अपने इष्टकी उपासनाके साथ-साथ श्रीशिवजीकी भी उपासना जगद्गुरुके रूपमें करनी चाहिये, जिसमें उनकी कृपासे इष्टकी प्राप्ति हो।

इन अनुभवोंके सम्बन्धमें एक बात जाननेकी यह है कि यह कोई नियम नहीं है कि जितने लोग सत्पुरुषसे दीक्षा, उपदेश लेते हैं, उनमें सबको अनुभव होता है— अधिकांशको नहीं होता, थोड़े लोगोंको ही होता है। जिस साधकको इष्टकी दीक्षा मिल चुकी है, उसके लिये

आवश्यक नहीं है कि वह पुनः दीक्षा ले, बल्कि उसे नहीं ही लेनी चाहिये, यदि उसे इष्टका परिवर्तन न करना हो। हाँ, उपासना-ध्यानके विषयमें उपदेश लेना चाहिये। प्रथम तो योग्यता न प्राप्त होने और अभ्यास ठीक प्रकारसे न करनेके कारण अनुभव नहीं होता, दूसरे, जिसे कुछ अनुभव न हो उसे यह नहीं समझना चाहिये कि उसने कुछ भी उन्नति नहीं की। बात यह है कि उपासना-ध्यानके द्वारा उन्नति विशेषकर सूक्ष्म और कारण शरीरकी होती है। यदि स्थूल शरीर शुद्ध और उन्नत न हो तो उसको भीतरके शरीरोंकी उन्नतिका पता भी नहीं मिलता।

ऊपरके अनुभव लिखनेका उद्देश्य किसीकी विज्ञप्ति करना नहीं है। केवल इसी निमित्त इन्हें यहाँ लिखा गया है कि साधकोंको यह दृढ़ विश्वास हो जाय कि श्रीसद्गुरु, सत्पुरुष सहायता करनेके लिये सदा प्रस्तुत रहते हैं। यह हमलोगोंका दोष है कि हम सहायता पानेकी उचित योग्यता प्राप्त करनेके निमित्त चेष्टा नहीं करते, इधर-उधर केवल भटकते फिरते हैं और सुलभ मार्गके लोभवश स्वार्थियोंके पञ्जेमें पड़ जाते हैं। जो प्रारम्भिक मार्ग है, उसका पता, अनुगमन करनेकी साधना आदिका वर्णन गीता आदिमें स्पष्ट शब्दोंमें किया गया है। उसीके अनुसार अभ्यास करते हुए साधन-पथमें अग्रसर होना चाहिये। इस लेखमें भी आवश्यक साधना बतलायी गयी है, जिसके अनुसार अभ्यास करनेसे सहायता मिल सकती है। अतएव इन अनुभवोंके विषयमें कोई व्यक्तिगत जिज्ञासा नहीं करनी चाहिये।

एक परमावश्यक और परम स्मरणीय बात यह है कि श्रीसद्गुरु वे ही हैं जिन्होंने निर्वाण पानेकी योग्यता प्राप्त करके भी संसारके हितसाधनके निमित्त निर्वाणका त्याग कर दिया। इस परम त्यागके बादसे वे संसारका सब तरहसे कल्याण करनेके व्रतमें लगे हुए हैं और इस व्रतको पूरा करनेके लिये वे सर्वदा सब व्यक्तियोंपर अपनी दृष्टि रखते हैं तथा यथासमय सबकी सहायता करते हैं। इस कारण उनकी कृपा-दृष्टि विशेषरूपसे उन्हीं व्यक्तियोंपर होगी जो स्वयं भी उनके इस संसार-हित-कार्यके करनेमें निष्काम-भावसे प्रवृत्त हों अर्थात् उनकी साधनाका मुख्य उद्देश्य अपना स्वार्थसाधन न हो, बल्कि जन-जनार्दनकी सेवा करना हो और उसीके निमित्त योग्यता प्राप्त करना साधनाका मुख्य लक्ष्य हो, और जो साथ-साथ यथाशक्ति और यथावसर ऐसी सेवा करते भी जायँ। जनताकी पारमार्थिक उन्नतिके निमित्त यत्न करना ही इस निष्काम सेवाका मुख्य लक्ष्य होना चाहिये, क्योंकि पारमार्थिक उन्नति ही यथार्थ उन्नति है।

समाधियोग

(लेखक—श्री श्रीधर मजूमदार एम० ए०)
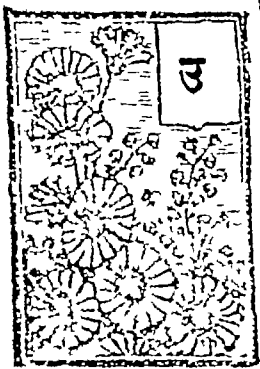
उपनिषदोंके द्रष्टा ऋषियोंने ध्यानबलसे अपने अतीन्द्रिय ज्ञानद्वारा इस बातको अवगत किया कि बाहरी समस्त चराचर जगत्के एकमात्र कारण अनन्त चेतन ब्रह्मके दो रूप हैं—एक व्यक्त रूप और दूसरी वह आभ्यन्तर चेतना जो बाह्य, व्यक्त जगत्को अनुप्राणित करती है, सत्ता-स्फूर्ति देती है। पहला रूप इन्द्रिय-गोचर है और बाह्य प्रपञ्च (phenomenon) कहलाता है और दूसरा अतीन्द्रिय है और प्रत्यक् चैतन्य (noumenon) कहलाता है। बाह्य प्रपञ्च परिणामी है और प्रत्यक् चैतन्य अपरिणामी है।

'ये सब दृश्य पदार्थ विनाशी हैं, अन्तरात्मा अविनाशी कहलाता है। निर्विशेष निरञ्जन परब्रह्म अक्षर है।' (योगशिखोपनिषद् ३। १६)

जहाँ बाह्य प्रपञ्च है वहाँ प्रत्यक् चैतन्य भी है। दूधमें मक्खनकी भाँति प्रत्यक् चैतन्य बाह्य प्रपञ्चमें सर्वत्र सर्वदा व्याप्त है, किन्तु प्रत्यक् चेतनके सर्वांशमें सर्वदा बाह्य प्रपञ्च नहीं है। दूधके अणु-अणुमें मक्खन है, किन्तु जबतक दूध मथा नहीं जायगा तबतक उसमें मक्खन दृष्टिगोचर नहीं होगा। इसी प्रकार समाधिका आश्रय लिये बिना प्रत्यक् चैतन्यका साक्षात्कार नहीं होता। जाग्रत् अवस्थामें क्षिप्त मनको इन्द्रियोंके द्वारा रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्दके रूपमें बाह्य प्रपञ्चका प्रत्यक्ष होता है, उस समय प्रत्यक् चैतन्य अन्तर्हित रहता है। किन्तु प्रत्यक् चैतन्यका साक्षात्कार इन्द्रियोंके निरोधसे अर्थात् निरुद्ध मनके द्वारा समाधि-अवस्थामें सच्चिदानन्दरूपमें

होता है; उस समय इन्द्रियाँ निश्चेष्ट हो जाती हैं और बाह्य प्रपञ्च तिरोहित हो जाता है।

'जब मनुष्य परमात्माको परमार्थतः देख लेता है तब अखिल दृश्य जगत् विलीन हो जाता है।' (जाबाल दर्शनोपनिषद् १०। १२)

इस प्रकार एक समयमें ब्रह्मके एक रूपका ही साक्षात्कार होता है। आत्मदर्शी मुनि ब्रह्मके अविनाशी प्रत्यक् चैतन्यस्वरूपका ही वरण करते हैं और परिणामी दृश्य स्वरूपका अपलाप करते हैं।

हमें दृश्य प्रपञ्चकी प्रतीति इन्द्रियोंके द्वारा होती है; किन्तु ये इन्द्रियाँ अर्थात् चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना और त्वचा मनके सहयोग विना व्यापार नहीं करतीं। उदाहरणतः यदि हमारा मन किसी दूसरे विचारमें संलग्न हो तो हमारे नेत्र खुले रहनेपर भी तथा किसी खास वस्तुपर हमारी दृष्टि जमी रहनेपर भी हमें उस वस्तुका प्रत्यक्ष नहीं होता। यही हाल दूसरी इन्द्रिया—श्रोत्र, घ्राण, रसना और त्वचाका है। इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंका अनुसन्धान करनेके अतिरिक्त मन प्राक्तन संस्कारोंकी ही आवृत्ति करता हुआ अथवा आगे मिलनेवाले पदार्थोंकी चिन्ता करता हुआ क्षिप्त अवस्थामें रह सकता है। चित्तकी वृत्तियोंका निरोध कर देनेसे, अर्थात् मनको सब प्रकारके सङ्कल्पोंसे सर्वथा शून्य कर देनेसे—इसीको चित्तकी निरुद्ध अथवा समाहित अवस्था कहते हैं—सारी इन्द्रियाँ निर्व्यापार हो जाती हैं, जिससे बाह्य प्रपञ्चका दीखना बन्द हो जाता है। परिणामी बाह्य प्रपञ्चके अदृश्य हो जानेपर उससे इतर अविनाशी प्रत्यक् चैतन्यकी उपलब्धि होती है। अर्थात् बाह्य आवरणके दृष्टिके सामनेसे हट जानेपर भीतरकी सार वस्तु प्रकट हो जाती है।

'चित्तके (बाह्य विषयोंका अनुसन्धान करते समय) चञ्चल होनेपर संसारका भान होता है। मनका निश्चल होना ही मुक्ति है। अतः हे विश्वके नियन्ता! परम तत्त्वके ज्ञानसे ही मनको स्थिर करना चाहिये।' (योगशिखोपनिषद्में महेश्वरका ब्रह्माके प्रति उपदेश देखिये ६। ५८)

'चञ्चलतासे शून्य मन अमर कहलाता है; वही तप है और उसीको मोक्ष कहते हैं—यह शास्त्रोंका सिद्धान्त है।'

सब प्रकारके सङ्कल्पोंसे सर्वथा शून्य हो जानेका नाम ही 'समाधि' है, जिस समाधिमें मन सर्वथा निश्चल हो जाता है और जीवात्मा और परमात्माका भेद मिट जाता है। जीवात्माका प्रत्यक् चैतन्यमें, सर्वव्यापी अन्तरात्मामें, ब्रह्मके अतीन्द्रिय रूपमें स्थित होना ही समाधि है। जीवात्माके अन्दर यह प्रत्यक् चैतन्य अथवा परमात्मा, जिसे निर्विकल्प 'परम अहम्' भी कहते हैं, क्षुद्र अहं-प्रत्ययसे आच्छन्न रहता है, जो देहाभिमानका कारण है। इस क्षुद्र अहं-बुद्धिके निवृत्त हो जानेपर अथवा चूर्ण हो जानेपर प्रत्यक् चैतन्य अथवा निर्विकल्प 'परम अहम्'का उदय होता है। अतः समाधिलाभके लिये क्षुद्र अहंबुद्धिकी निवृत्ति आवश्यक है। दूसरे शब्दोंमें क्षुद्र अहंबुद्धिकी निवृत्ति ही समाधि है, जिस समाधिमें हृदयकी गाँठ खुल जाती है और चित्तका विस्तार होकर उसे पूर्णताकी अवस्था प्राप्त हो जाती है।

'जीवात्मा और परमात्माकी एकताके ज्ञानके उदयको ही 'समाधि' कहते हैं।' (जाबालदर्शनोपनिषद् १०। १ और अन्नपूर्णोपनिषद् ५। ७५)

'जीवात्माकी परमात्माके साथ एकता ही, जिसमें सङ्कल्पकी सारी क्रिया ही नष्ट हो जाती है, 'समाधि' कहलाती है।' (सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद् १६)

'मुनियोंके द्वारा साधित समाधि उस सङ्कल्पशून्य अवस्थाका नाम है जिसमें न तो मनकी क्रिया है और न बुद्धिका व्यापार है, जो आत्मज्ञानकी अवस्था है और जिसमें उस (प्रत्यक् चैतन्य) के अतिरिक्त सबका बाध है।' (मुक्तिकोपनिषद् २। ५५)

'ब्रह्माकारवृत्तिके द्वारा अथवा सर्वसङ्कल्पनिवृत्तिके द्वारा चित्तकी वृत्तियोंको सर्वथा भूल जानेका नाम ही 'समाधि' है।'§ (तेजोबिन्दुपनिषद् १। ३७)

'हे ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण, 'समाधि' शब्द उस संशयरहित मानसिक पूर्णताका वाचक है जिसमें आसक्तिका सर्वथा अभाव है और जिसमें सदसद्विवेक भी नहीं है।' (अन्नपूर्णोपनिषद् १। ५०)

जीवात्मा परमात्मरूप महासागरके वक्षःस्थलपर नृत्य करते हुए एक तरङ्गके समान है। तरङ्गके पीछे समुद्ररूप महान् आधार है। इसी प्रकार जीवात्माके पीछे परमात्मारूप महान् आधार है। वासना अथवा उससे उत्पन्न होनेवाली अहंबुद्धि ही तरङ्गकी सत्ताको अक्षुण्ण रखती है। जिस क्षण वासना नष्ट हो जाती है और उसके साथ ही अहंप्रत्यय भी निवृत्त हो जाता है उसी क्षण तरङ्ग विलीन

होकर सागरमें मिल जाती है, अर्थात् जीवात्मा परमात्मामें प्रवेश कर उसके साथ एकीभावको प्राप्त हो जाता है।

समाधिसिद्धि तथा मोक्षके लिये आवश्यकता है मनको निरुद्ध करनेकी, वासनाशून्य करनेकी अर्थात् सर्वथा सङ्कल्पशून्य होनेकी। इस सङ्कल्पशून्यताको ही जीवात्माकी प्रत्यक् चैतन्यमें, सर्वव्यापक अन्तरात्मामें, ब्रह्मके अतीन्द्रिय भावमें स्थिति कहते हैं।

'प्रत्येक वस्तुको ब्रह्मसे अभिन्न देखना ही ज्ञान है, मनको निर्विषय करना ही परमात्माका ध्यान है, मनोमलके नाशको ही स्नान कहते हैं और इन्द्रियनिग्रहका नाम ही शौच है।' (स्कन्दोपनिषद् ११ और मैत्रेय्युपनिषद् २।२)

'जब निश्चल मनके द्वारा क्षिप्त मनकी चिकित्सा करनेसे मनकी वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं तभी सुदुर्लभ परब्रह्मका साक्षात्कार होता है।' (योगशिखोपनिषद् ६। ६२)

'जिस क्षण हृदयमें भरी हुई सारी कामनाएँ नष्ट हो जाती हैं उसी क्षण यह मरणधर्मा मनुष्य अमृतत्व लाभ कर लेता है और इसी जीवनमें ब्रह्मानन्दका आस्वादन करता है।' (बृहदारण्यकोपनिषद् ४।४।७)

'जब इस क्षिप्त मनको सङ्कल्पाभावके शस्त्रसे शान्त कर दिया जाता है तभी (और उससे पूर्व नहीं) समग्र सर्वगत निर्विशेष ब्रह्मका साक्षात्कार होता है।' (महोपनिषद् ४। ९१)

'जिस भाग्यवान् पुरुषकी आत्मामें रति हो गयी है, जिसका मन पूर्ण और शुद्ध है और जिसे अनुत्तम विश्राम प्राप्त हो गया है उसके लिये इस संसारमें कोई भी कामनाकी वस्तु नहीं रह जाती।' (महोपनिषद् २। ४७)

'जो चित्त आत्मा (परमात्मा) में निवेशित हो गया है और जिसके सारे मल समाधिके द्वारा धुल गये हैं उसके आनन्दका वाणीद्वारा वर्णन नहीं हो सकता, केवल अन्तःकरणद्वारा अनुभव हो सकता है। (मैत्र्युपनिषद् ६। ३४)

'जीवात्मा और परमात्माकी एकताकी अवस्था जिसमें ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयरूप त्रिपुटीका अभाव है, जो परमानन्दरूपा है और शुद्ध चैतन्यात्मिका है, वही समाधि है।' (शाण्डिल्योपनिषद् १। ११)

उपनिषदों तथा पातञ्जल योगसूत्रमें समाधिकी अवस्था प्राप्त करने अर्थात् मनको निरुद्ध अथवा सब प्रकारके सङ्कल्पोंसे सर्वथा शून्य करनेको अनेक विधियाँ बतायी गयी हैं। परन्तु मेरी समझसे उन सबमें श्रेष्ठ तथा सुगम विधि है प्रत्यक् चैतन्य, निर्विकल्प ब्रह्म, परमात्मा अथवा सर्वव्यापी अन्तरात्माको सर्वतोभावेन आत्मसमर्पण करने अथवा उनके अन्दर आत्मनिक्षेप करनेकी मन-ही-मन भावना और अभ्यास करना। स्मरण रहे कि प्रत्यक् चैतन्य, निर्विकल्प ब्रह्म, परमात्मा और सर्वव्यापी अन्तरात्मा आदि सारे शब्द ब्रह्मके अतीन्द्रिय रूपका ही लक्ष्य कराते हैं। इस पूर्ण समर्पणकी साधनामें तीव्र भक्ति और श्रेष्ठ ज्ञान दोनों मिले हुए रहते हैं। पूर्ण समर्पणकी भावना तीव्र भक्तियोगसे ही उत्पन्न होती है और सर्वव्यापी अन्तरात्माके अन्दर आत्मनिक्षेप इस श्रेष्ठ ज्ञानसे होता है कि यह सर्वव्यापी अन्तरात्मा, जो अमृतत्वका कारण है, पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश, इन पञ्चमहाभूतों अर्थात् इन्द्रियगोचर बाह्य प्रपञ्चके पीछे छिपा रहता है। 'यह आत्मा ही इन सबके भीतर चल रहा है। इस आत्माकी ही उपासना करो, जो अनन्त, तथा जन्म, मृत्यु, भय एवं शोकसे रहित है।' (सुबालोपनिषद् ५। १)

जीवात्माको परमात्माके शरणापन्न कर देनेकी मन-ही-मन भावना करनी चाहिये। परन्तु यह अहंबुद्धि ही जीवात्माको परिच्छिन्न एवं परमात्मासे पृथक् बना रखती है। अतः जीवात्माको परमात्माके अर्पण कर देनेका अर्थ है अहंबुद्धिको सर्वव्यापी अन्तरात्मा अर्थात् निर्विकल्प परम अहम्‌के अर्पण कर देना। इसके लिये व्यष्टि बुद्धिकी भावना एवं ध्यानरूप अभ्याससे समष्टिबुद्धि अर्थात् समष्टि अहङ्कारके रूपमें परिणत करना होगा, इससे सम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध होगी। यह समष्टिमें फैली हुई बुद्धि परिपक्व होनेपर शुद्ध अहङ्कारके, निर्विकल्प परम अहम्‌के रूपमें बदल जाती है। इस अवस्थामें मनकी क्रिया सर्वथा निरुद्ध हो जाती है और क्षुद्र अहंबुद्धि निर्विकल्प ब्रह्ममें विलीन हो जाती है। इससे असम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध होती है जिसमें जीवात्मा निर्विकल्प ब्रह्मके साथ एकात्मताको प्राप्त हो जाता है।

'हे पद्मसम्भव! इस परम तत्त्वकी उपलब्धि भक्तिके द्वारा, चित्तके अन्तर्लीन होनेसे होती है। भावनामात्र ही इस स्थितिका कारण है।' (योगशिखोपनिषद्—महेश्वरका ब्रह्माके प्रति उपदेश १। २३)

'चित्तवृत्तिका अहङ्कारशून्य होकर ब्रह्माकार बन जाना ही सम्प्रज्ञात समाधिका स्वरूप है। यह स्थिति ध्यानके परिपक्व अभ्याससे सिद्ध होती है।' (मुक्तिकोपनिषद् २।५१)

'चित्तकी प्रशान्त वृत्ति, जो ब्रह्मानन्दको देनेवाली है, असम्प्रज्ञात समाधि कहलाती है। यह अवस्था योगियोंको अतिशय प्रिय है।' (मुक्तिकोपनिषद् २।५२)

'जब चित्त अपनी चैत्य दशा अर्थात् विषयचिन्तनसे मुक्त हो जाता है, तब इस प्रकारके क्षीणचित्त पुरुषोंकी स्थितिको बाह्यप्रतीतिशून्यता अथवा कलनाशून्यता कहते हैं। यह एक प्रकारकी जाग्रत् अवस्थामें सुषुप्ति है।

'हे निदाघ! यह जाग्रत् अवस्थाकी सुषुप्ति अभ्याससाध्य है। यही जब प्रौढ़ हो जाती है तब इसे तत्त्ववेत्ता पुरुष तुरीयावस्था अथवा समाधि-अवस्था कहते हैं।' (अन्नपूर्णोपनिषद्—महर्षि रिवका अपने शिष्य निदाघके प्रति उपदेश २। १२, १३)

'मैं केवल सत्तारूप हूँ, मैं क्षुद्र अहबुद्धिसे शून्य परम अहम् हूँ। मेरा स्वरूप बाह्य प्रपञ्चसे विरहित है, मैं चिदाकाशमय हूँ।' (तेजोबिन्दूपनिषद् ३।३)

यह आगे बताया जायगा कि अहबुद्धिसे विशिष्ट परमात्मा ही जीवात्मा बना हुआ है, जिस प्रकार तरङ्ग वायुजन्य आन्दोलनसे विशिष्ट समुद्रके अतिरिक्त कुछ नहीं है। जीवात्माकी परमात्माके प्रति आत्मसमर्पण बुद्धि उसके अहङ्कारका नाश कर देती है और उसे समाधि अथवा तुरीय अवस्थाको पहुँचा देती है जहाँ पहुँचकर वह अपने असली तेजोमय स्वरूपको प्राप्त हो जाता है।

'केवल सद्भावकी भावना दृढ हो जानेसे वासना (अहबुद्धि) का लय हो जाता है। वासनाका निःशेषरूपसे क्षय ही मोक्ष है और उसीको जीवन्मुक्ति भी कहते हैं।' (अध्यात्मोपनिषद् $\frac{१२}{२}$, $\frac{१३}{२}$)

'इस गुणसमाहार (बाह्य प्रपञ्च) को आत्मासे भिन्न देखनेवाले तत्त्वदर्शी पुरुषकी आन्तरिक शान्तिसे उत्पन्न स्थितिका नाम समाधि है।' (अन्नपूर्णोपनिषद् १।२९)

पातञ्जलयोगसूत्रकी समीक्षा करनेसे हम इसी सिद्धान्तको पहुँचते हैं। वहाँ भी इस बातकी ओर सकेत किया गया है कि चित्तकी चञ्चलता अथवा क्षुद्र अहबुद्धि ही जीवात्माको परमात्मासे अलग रखती है, परन्तु ज्यों ही यह अहंकार अथवा भेदबुद्धि निवृत्त हो जाती है त्यों ही जीवात्मा अपने असली तेजोमय रूपको प्राप्त होकर परमात्माके साथ एक हो जाता है। जब चित्त अपनी चित्तताको भूलकर ध्येयाकार बन जाता है, उस अवस्थाको 'समाधि' कहते हैं। पातञ्जलयोगसूत्रमें भी अहकारके नाशका सर्वोत्तम उपाय अपरिच्छिन्न निर्विकल्प ब्रह्मके प्रति आत्मसमर्पणबुद्धिपूर्वक कायिक, वाचिक, मानसिक सब प्रकारकी क्रियाके त्यागका अभ्यास कहा गया है। दृश्य प्रपञ्चकी आड़में छिपे हुए निर्विकल्प ब्रह्मका साक्षात्कार करनेमें जब इन्द्रियाँ अपनेको असमर्थ अनुभव करती हैं तब इस प्रकारकी निष्क्रियता एव समर्पणका अभ्यास होता है। इस अभ्याससे उस क्रियाके अनुकूल आसन अपने-आप लग जाता है और साधक धीरे-धीरे शीतोष्ण, सुख-दुःख, सत्-असत् आदि द्वन्द्वोंके अभिघातसे मुक्त हो जाता है, साथ ही प्राणोंकी क्रिया भी अपने-आप बन्द हो जाती है और प्राणायाम सध जाता है, जिससे आत्मसाक्षात्कारका अवरोधक अहङ्कारका पर्दा हट जाता है।

'चित्तवृत्तिका निरोध ही योग है।'[१] (पातञ्जलयोगसूत्र, समाधिपाद २)

'तब द्रष्टा अपने असली स्वरूपमें स्थित होता है।' (पा० यो० समाधि० ३)

'चित्तको किसी देश-विदेशमें बाँध देना 'धारणा' है।'[३] (पा० यो० विभूति० १)

'इस प्रकारकी एकाग्रताके द्वारा वृत्तिके अखण्ड प्रवाहका नाम 'ध्यान' है।'[४] (पा० यो० विभूति० २)

'ध्यानके स्थिर हो जानेपर मन ध्येयाकार बन जाता है और अपने स्वरूपको भूल जाता है। इस अवस्थाको 'समाधि' कहते हैं।'[५] (पा० यो० विभूति० ३)

'ईश्वरको सर्वतोभावेन आत्मसमर्पण कर देनेसे समाधि सिद्ध होती है।'[६] (पा० यो० साधन० ४५)

---

१ योगश्चित्तवृत्तिनिरोध ।

२. तदा द्रष्टु स्वरूपेऽवस्थानम्।

३. देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।

४. तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।

५. तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधि.।

६ समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्।

'सब प्रकारके प्रयत्नोंको शिथिल कर देनेसे तथा अनन्त परमात्माको आत्मसमर्पण करनेसे (ध्यानोपयोगी सरल आसन लग जाता है) ।[७] (पातञ्जल यो० साधन० ४७)

'इसके अनन्तर द्वन्द्वोंमें समभाव हो जाता है ।[८] (पा० यो० साधन० ४८)

'ऐसा होनेपर श्वास-प्रश्वासकी गति रुककर प्राणायाम लग जाता है ।[९] (पा० यो० साधन० ४९)

'तब (आत्माके) प्रकाशका अवरोधक आवरण क्षीण हो जाता है ।[१०] (पा० यो० साधन० ५२)

'उस अनन्त (परमात्मा) में निरतिशय सर्वज्ञताका बीज रहता है ।[११] (पा० यो० समाधि० २५)

'उसके (सर्वव्यापी अन्तरात्माको आत्मसमर्पण करनेके) बाद सारे विघ्न हट जाते हैं और प्रत्यक्चेतनकी उपलब्धि हो जाती है ।[१२] (पा० यो० समाधि० २९)

योगकी प्राचीनता

(लेखक—पं० श्रीविधुशेखरजी भट्टाचार्य, एम० ए०)

'कल्याण'के इस योगाङ्कमें, हमारे देशमें योगसाधना कबसे प्रचलित हुई इस सम्बन्धमें दो-चार शब्द लिखना अप्रासङ्गिक नहीं होगा । इस बातको बतलानेके लिये अब किसी प्रमाणकी आवश्यकता नहीं है कि जबसे द्रव्ययज्ञोंके स्थानमें ज्ञानयज्ञोंका अनुष्ठान प्रारम्भ हुआ तबसे ज्ञानयज्ञका अनुष्ठान करनेवाले ब्राह्मणों, बौद्धों, जैनों आदि सभी लोगोंके लिये योगसाधना स्वाभाविक ही आवश्यक हो गयी, क्योंकि बिना योगके ज्ञानयज्ञ कोई चीज नहीं है । इसीलिये इन सभी लोगोंके धर्मग्रन्थ जिनमें वे ग्रन्थ भी शामिल हैं जो अपौरुषेय माने जाते हैं, अर्थात् किसी मनुष्यके बनाये हुए नहीं माने जाते, योगचर्चासे भरे हैं ।

इस प्रसङ्गमें इस प्रश्नका उठना स्वाभाविक ही है कि इस योगसाधनाका जन्म इस देशमें ही हुआ अथवा भारतवासियोंने किसी अन्य देशके लोगोंसे इसे सीखा ।

एक विद्वान्का मत है कि वैदिककालके उपासक महान् आशावादी थे । वे इस लोकमें धन-धान्य और दीर्घायुके अभिलाषुक थे और परलोकमें पितृलोकके सुखकी कामना किया करते थे । अतः प्राणायामके द्वारा शरीरको कष्ट पहुँचाना जो योगका एक आवश्यक अङ्ग है, उन लोगोंकी प्रकृतिके सर्वथा प्रतिकूल था । वैदिककालके आर्यलोग कतिपय अर्द्धसभ्य जातियोंके सम्पर्कमें आकर उन्हें समुन्नत बनानेकी चेष्टा कर रहे थे । उन्हींसे इन्होंने शरीरको मूर्तिके समान अचल बनानेकी क्रिया सीखी ।

परन्तु उपर्युक्त विद्वान्की यह धारणा युक्तियुक्त नहीं है । क्योंकि ऋग्वेदमें ही (देखिये १० । १३६ । २) कुछ ऐसे मुनियोंका वर्णन आता है जो दिगम्बरवेशमें रहते थे तथा मटमैले पीलेरंगके वस्त्र पहनते थे । (मुनयो वातवसनाः पिशङ्गा वसते मलाः)❋ यही नहीं, अन्यत्र (देखिये १० । १३६ । ३) उनके मौनेय (मुनियोंके उचित आचरण) का भी वर्णन मिलता है । उक्त स्थलोंमें निःसन्देह योगियोंका ही उल्लेख हुआ है ।

इस प्रकार यह बात अनुमानसे ठीक मालूम होती है कि ऋग्वेदके कालमें योगसाधनाका प्रचार था और यह साधना भारतीय आर्योंकी विशेष सम्पत्ति थी । परन्तु कुछ विद्वान् जो मोहन-जो-दड़ो तथा हरप्पामें प्राप्त हुए प्राचीन ध्वंसावशेषोंके आधारपर सिन्धुप्रदेशकी संस्कृतिका

---

७. प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम् ।

८. ततो द्वन्द्वानभिघातः ।

९. तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ।

१०. ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ।

११. तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् ।

१२. ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ।

❋ हमारे जैन मित्रोंकी यह धारणा है कि उपर्युक्त मन्त्रोंमें उनके जैन साधुओंका उल्लेख है

अध्ययन कर रहे हैं, उनका मत यह है कि वैदिक कालके आर्योंने सिन्धुप्रदेशके अनार्य निवासियोंसे इस विद्याको सीखा, वे अपने मतकी पुष्टिमें प्रमाण यह देते हैं कि सिन्धुप्रदेशकी सभ्यता वैदिक सभ्यतासे बहुत पहलेकी है।

परन्तु यह तो उनकी कल्पनामात्र है, क्योंकि अभीतक यह बात सन्तोष-प्रद रीतिसे सिद्ध नहीं हुई है कि सिन्धुप्रदेशकी सभ्यता वैदिक सभ्यताकी अपेक्षा प्राचीन है। सिन्धुप्रदेशकी सभ्यताका काल ईस्वी सन्से तीन-चार हजार वर्ष पूर्व माना जाता है और ऋग्वेद, कुछ लोगोंके मतमें, ईसामसीहसे २५०० वर्ष पहलेका माना जाता है। किन्तु कुछ विद्वान् यह सिद्ध करनेकी चेष्टामें हैं कि ऋग्वेद ईसामसीहसे करीब ४५०० वर्ष पुराना है। इस विषयका विस्तार न बढ़ाकर हम इतनी बात दावेके साथ कह सकते हैं कि वैदिक साहित्यका विकास ईसामसीहसे कम-से-कम २५०० वर्ष पूर्व अवश्य प्रारम्भ हुआ होगा, इसके लिये हमारे पास पर्याप्त प्रमाण हैं। ऐसी दशामें हम ऐसा नहीं मान सकते कि हमें मोहन-जो-दडो तथा हरप्पामें जो कुछ उपलब्ध हुआ है वह आर्य संस्कृतिसे पहलेका है। अतः जबतक हमारे सामने कोई प्रबल प्रमाण नहीं रक्खे जाते तबतक हम इस बातको माननेके लिये तैयार नहीं हैं कि भारतीय आर्योंने योगसाधना अनार्योंसे सीखी।

योग और उसके फल

(लेखक—स्वामी श्रीशिवानन्दजी सरस्वती)

योग क्या है ?

'योग' शब्द संस्कृतके 'युज्' धातुसे बना है, जिसका अर्थ है जोड़ना। योगका आध्यात्मिक अर्थ है वह साधन-सरणि जिसके द्वारा योगीको जीवात्मा और परमात्माकी एकताका अनुभव होता है—जीवात्माका परमात्माके साथ ज्ञानपूर्वक संयोग होता है। इस गुह्य ज्ञानको सिखानेवाला शास्त्र योगशास्त्र कहलाता है।

योग वह आध्यात्मिक विद्या है जो जीवात्माका परमात्माके साथ संयोग करानेकी प्रक्रिया बतलाती है। योग वह परमार्थविद्या है जो जीवको इन्द्रियगोचर बाह्य प्रपञ्चके जञ्जालसे मुक्तकर अखण्ड आनन्द, परम-शान्ति, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त जीवन आदि स्वाभाविक गुणोंसे युक्त परमात्माके साथ उसका संयोग करा देती है।

योगका व्यापक अर्थ करनेसे उसके अन्दर कर्मयोग, भक्तियोग, राजयोग, ज्ञानयोग, हठयोग, मन्त्रयोग, लययोग अथवा कुण्डलिनीयोग आदि सभी योगोंका समावेश हो जाता है। उसका सङ्कुचित अर्थ करनेसे वह केवल अष्टाङ्गयोग अथवा महर्षि पतञ्जलिद्वारा प्रवर्तित राजयोगका ही वाचक प्रतीत होता है।

चतुर्विध योग

जिस प्रकार एक ही अन्न भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंके उपयोगमें नहीं आ सकता, इसी प्रकार एक ही मार्ग सब लोगोंके लिये अनुकूल नहीं हो सकता। मनुष्य चार प्रकारके होते हैं—कर्मप्रधान, भक्तिप्रधान, योग-प्रधान और दार्शनिक अथवा बुद्धिप्रधान, अतः उनकी प्रकृतिके अनुकूल मार्ग भी चार ही हैं, यद्यपि उन सबका लक्ष्य एक ही है—परमतत्त्वकी उपलब्धि। मार्ग भिन्न-भिन्न होनेपर भी प्राप्तव्य स्थान एक ही है। इस परम तत्त्वको उपर्युक्त चार प्रकारके मनुष्योंकी भिन्न-भिन्न दृष्टियोंसे उपलब्ध करनेके जो चार मार्ग बताये गये हैं उन्हींको कर्मयोग, भक्तियोग, राजयोग और ज्ञानयोगके नामसे पुकारते हैं।

ये चारों मार्ग परस्परविरोधी न होकर एक दूसरेके सहायक हैं। ये इस बातके द्योतक हैं कि हिन्दू-धर्मके भिन्न-भिन्न मार्गोंमें परस्पर सामञ्जस्य है। धर्मके द्वारा समग्र मनुष्यका—उसके हृदय, मस्तिष्क और हाथ तीनों अंगोंका संस्कार एवं विकास होना चाहिये। तभी वह पूर्णताको प्राप्त हो सकता है। एकदेशीय विकास अभिनन्दनीय नहीं है। कर्मयोगसे मलका नाश होता है, चित्तकी शुद्धि होती है और हाथोंमें कुशलता आती है। भक्तियोगसे विक्षेप दूर होता है और हृदयका विकास होता है। राजयोगसे मनकी स्थिरता एवं एकाग्रता सिद्ध होती है। ज्ञानयोगसे अज्ञानका आवरण हटकर इच्छा एवं बुद्धिका विकास होता है और आत्मज्ञानकी उपलब्धि होती है। अतः साधकको चाहिये कि वह चारों प्रकारके

योगका अभ्यास करे। अध्यात्ममार्गमें तेजीके साथ आगे बढ़नेके लिये हम ज्ञानयोगको मुख्य आधार बनाकर अन्य योगोंका सहायकरूपमें साधन कर सकते हैं।

सर्वांगीण विकास आवश्यक है

कर्म, भाव और बुद्धि ये तीन घोड़े इस शरीररूपी रथमें जुड़े हुए हैं। इन तीनोंके व्यापारमें पूर्ण सामञ्जस्य होना चाहिये; तभी रथ आसानीसे चल सकता है। समस्त अंगोंका विकास होना चाहिये, हमारा मस्तिष्क शङ्करका-सा, हृदय बुद्धका-सा और हाथ जनकके-से होने चाहिये। भक्तिशून्य वेदान्त बिल्कुल रसहीन हो जाता है। ज्ञानविरहित भक्ति पूर्ण नहीं होती, और जिसने आत्मसाक्षात्कार कर लिया है, आत्माके साथ अपनी एकताका अनुभव कर लिया है वह अपने आत्मरूप जगत्‌की सेवा किये बिना कैसे रह सकता है? भक्ति ज्ञानसे वियुक्त नहीं है, बल्कि यों कहना चाहिये कि ज्ञान भक्तिकी पूर्णतामें सहायक है।

विरोधका परिहार

इस प्रश्नको लेकर लोगोंमें बड़ा मतभेद है कि ज्ञान भक्तिका आवश्यक अंग है या नहीं। कुछ लोग कहते हैं कि ज्ञान भक्तिका साधन है। उन लोगोंका कहना यह है कि भगवान्‌को बिना जाने हम उनकी भक्ति कैसे कर सकेंगे। कुछ प्रसिद्ध भक्त ऐसा कहते हैं कि ज्ञान और भक्ति बिल्कुल स्वतन्त्र साधन है। वे अपने अनुभवके आधारपर पूर्ण निश्चयके साथ यह कहते हैं कि भक्ति स्वयं साध्यरूपा है और उसकी सफलताके लिये ज्ञानकी आवश्यकता नहीं है। बिजलीके रहस्योंको जाननेवाला इञ्जिनियर यदि किसी अँधेरी रातको घने जंगलमें पड़ जाय और वहाँसे निकलनेका रास्ता उसे न मिले तो निरा बिजलीका ज्ञान उसके क्या काम आवेगा? क्या अन्नके ज्ञानमात्रसे किसीकी भूख बुझ सकती है?

भक्ति और ज्ञान परस्पर विरोधी हैं, ऐसा कहना निरी मूर्खता है। पूर्ण ज्ञान ही प्रेम है और पूर्ण प्रेम ही ज्ञान है। पराभक्ति और ज्ञान एक ही वस्तु हैं। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

> तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
> ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
> (गीता १०। १०)

'इस प्रकार जो मुझमें निरन्तर मनको लगाकर प्रेमसे मेरा भजन करते हैं उनको मैं यह ज्ञान देता हूँ जिसके द्वारा वे मुझे प्राप्त कर लेते हैं।'

गीतामें अन्यत्र भी कहा है—'श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्' (श्रद्धा अर्थात् भक्तिवान्‌को ही ज्ञानकी प्राप्ति होती है)।

राजयोग

(१) उसके आठ अङ्ग

राजयोगके यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये आठ अङ्ग हैं। यमका अर्थ है आत्मनिग्रह अर्थात् अहिंसा (किसीको कष्ट नहीं पहुँचाना), सत्य, अस्तेय (चोरी नहीं करना), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (निर्लोभता) का अभ्यास करना। शौच (बाहर-भीतरकी पवित्रता), सन्तोष, तप (स्वधर्म-पालनके लिये कष्ट सहन करना), स्वाध्याय (वेदादि उत्तम शास्त्रोंका अध्ययन तथा भगवान्‌के नामका जप-कीर्तन आदि) और ईश्वरप्रणिधान (ईश्वरकी उपासना करना तथा सारे कर्मोंका फल उन्हें अर्पण कर देना)—इन पाँच व्रतोंके पालनका नाम नियम है। यम-नियमके अभ्याससे योगाभ्यासीकी चित्तशुद्धि होती है। मैत्री, करुणा और मुदिताको बढ़ानेसे घृणा, ईर्ष्या और हृदयकी कठोरताका नाश होकर मनको शान्ति मिलती है। आसन साधनेसे शरीर स्थिर और दृढ़ हो जाता है। प्राणायामके अभ्याससे चित्तका विक्षेप दूर होता है और प्रकाशके आवरणभूत रज और तमका नाश होता है। प्राणायाम करनेवालेका शरीर भी हलका हो जाता है। प्रत्याहार (इन्द्रियोंकी विषयोंसे निवृत्ति) के अभ्याससे साधकको मनोबल और मानसिक शान्ति मिलती है। मनको एकाग्र करनेका नाम धारणा है। ध्यान कहते हैं किसी वस्तुके निरन्तर चिन्तनको। समाधि तुरीयावस्थाका नाम है। धारणा, ध्यान और समाधि, इनके युगपत् अभ्यासका नाम संयम है। बाह्य पदार्थोंमें संयम करनेसे अनेक प्रकारकी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं और इस पञ्च महाभूतोंसे बने हुए जगत् और उनसे भी सूक्ष्म पञ्च तन्मात्रोंके रहस्योंका ज्ञान होता है। इन्द्रिय, अहङ्कार, मन इत्यादिपर संयम करनेसे अनेक प्रकारकी सिद्धियाँ और अनुभव प्राप्त होते हैं।

(२) अष्ट सिद्धियाँ

अष्ट महासिद्धियाँ ये हैं—(१) अणिमा (अपनेको

अणुके सदृश सूक्ष्म बना लेना), (२) महिमा (अपनेको पर्वतके समान विशालकाय बना लेना), (३) लघिमा (अपने शरीरको रूईके समान हलका बना लेना), (४) गरिमा (अपने शरीरको लोहेके पर्वत-जैसा भारी बना लेना, (५) प्राप्ति (चन्द्रमाको उँगलीके अग्रभागसे छू लेना), (६) प्राकाम्य (सब प्रकारकी इच्छाओंका पूर्ण हो जाना), (७) ईशित्व (सृष्टि उत्पन्न करनेकी शक्ति) और ८ वशित्व (सबपर शासन करने तथा पञ्च महाभूतोंपर विजय प्राप्त कर लेनेकी शक्ति) ।

(३) समाधिके अवान्तरभेद

योगी क्रमशः योगकी भिन्न-भिन्न भूमिकाओंपर आरूढ होकर अनेक प्रकारके अनुभव, ज्ञान और शक्तियाँ प्राप्त करता है । उसे पहले सवितर्क और निर्वितर्क समाधि सिद्ध होती है और इसके अनन्तर वह सविचार एवं निर्विचार समाधिमें प्रवेश करता है । अन्तमें जाकर वह सानन्द एव सस्मित समाधिका आनन्द लूटता है । इन निम्न श्रेणीकी समाधियोंमें आलम्बन (आधार), सस्कार और ध्याता-ध्यान-ध्येयरूप त्रिपुटी विद्यमान रहती है । इन समाधियोंसे मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती । जो योगी सबसे ऊँची असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त करना चाहता है उसके लिये ये निम्न स्तरकी समाधियाँ अन्तरायरूप हैं । असम्प्रज्ञात समाधिके सिद्ध हो जानेपर जन्म-मृत्युके कारणभूत सस्कारबीज निःशेषतया भर्जित हो जाते हैं ।

(४) राजयोगियोंके चार भेद

योगी भी चार प्रकारके होते हैं । इनमेंसे पहली श्रेणीके योगी 'प्रथमकल्पित' कहलाते हैं । ये बिल्कुल नौसिखुए होते हैं । इनके अन्दर प्रकाशकी झलकमात्र दिखलायी देती है । इन्हे सिद्धियाँ प्राप्त नहीं होतीं । ये लोग सवितर्क समाधिका अभ्यास करते है । दूसरी श्रेणीके योगी 'मधुभूमिक' कहलाते हैं । ये लोग निर्वितर्क समाधिमें प्रवेशकर ऋतम्भरा प्रज्ञाको प्राप्त किये हुए रहते हैं । इस भूमिकाको 'मधुमती' भूमिका कहते हैं, जिसका कारण यह है कि इसके अन्दर हमे वह ज्ञान प्राप्त होता है जो मधुके समान आनन्ददायक एव तृप्तिकारी है । तीसरी श्रेणीके योगियोंका नाम है 'प्रज्ञाज्योतिः' । ये लोग पञ्च महाभूतों और इन्द्रियोंको जीते हुए रहते हैं । इस श्रेणीके योगी देवताओंके भी प्रलोभनमें नहीं आते । इस अवस्थाका नाम 'मधुप्रतीक' है । चौथी श्रेणीके योगियोंका नाम है 'अतिक्रान्तभणनीय ।' ये योगी 'विशोका' और 'संस्कारशेषा' नामक भूमिकाओंपर आरूढ रहते हैं, ये कैवल्यको प्राप्त होते हैं ।

राजयोगी बिना सयम किये ही प्रतिभासे सारी सिद्धियाँ प्राप्त कर सकता है । उच्चतम ज्ञानका नाम 'प्रसख्यान' है जो विवेकख्याति अर्थात् प्रकृति और पुरुषके भेदज्ञानसे उत्पन्न होता है ।

इस ज्ञानको प्राप्त हुए योगीके अन्दर अब 'धर्ममेघ' समाधिका उदय होता है । उसे परवैराग्यकी प्राप्ति होती है । वह सब प्रकारकी सिद्धियोंसे, यहाँतक कि सर्वज्ञता एव सर्वशक्तिमत्त्व आदिसे भी मुँह मोड़ लेता है, क्योंकि वह जानता है कि ये सारी-की-सारी सिद्धियाँ सर्वोच्च समाधिकी प्राप्तिमे अन्तरायरूप ही हैं । तब उसे असम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध होती है, जिससे जन्म-मृत्युके कारणभूत सारे सस्कार निःशेषरूपसे दग्ध हो जाते हैं ।

इस स्थितिको प्राप्त हुआ योगी बिना नेत्रोंके देखता है, बिना जिह्वाके रसास्वाद करता है, बिना कानोंके सुनता है, बिना नाकके सूँघता है और बिना त्वचाके स्पर्श करता है । वह सङ्कल्पमात्रसे अगणित चमत्कार कर सकता है । उसकी इच्छासे ही सब कुछ हो जाता है । तैत्तिरीय आरण्यक (१ । २५) मे इस स्थितिका इसप्रकार वर्णन मिलता है—

'नेत्रहीनने मोती बींध दिया, बिना उँगलीवालेने उसमे धागा पिरो दिया, कण्ठहीनने उसका हार पहन लिया और जिह्वाहीनने उसकी प्रशसा की ।'

(५) कैवल्य

अन्ततोगत्वा पुरुष अपने ऐश्वर्यमय अथवा कैवल्यात्मक स्वरूपकी उपलब्धि कर लेता है । वह प्रकृति और उसके कार्योंसे सर्वथा असम्पृक्त रहता है । वह अपनेको सर्वथा स्वतन्त्र (मुक्त) अनुभव करता है और राजयोगीके चरम लक्ष्य कैवल्यको प्राप्त हो जाता है । अब उसके समस्त क्लेशकर्म नष्ट हो जाते हैं । गुणोंका कार्य भोग और अपवर्ग-सिद्ध हो जानेके कारण अब उनका कार्य बिल्कुल बन्द हो जाता है । अब उसका ज्ञान सारा-का-सारा एककालिक हो जाता है । भूत और भविष्य उसके लिये वर्तमानमे मिल जाते हैं । प्रत्येक वस्तु वर्तमान हो जाती है, सामने आ जाती है । ऐसा योगी देश-कालको अतिक्रमणकर जाता है । कैवल्यप्राप्त योगीके अनन्त ज्ञानके सामने

त्रैलोक्यका समग्र ज्ञानभण्डार तथा समस्त लौकिक विद्याओंका ज्ञान कुछ नहीं है, निःसार है। जय हो, जय हो ऐसे महान् योगियोंकी! उनका आशीर्वाद हम सबको प्राप्त हो।

हठयोग

हठयोगीका जोर आसन, बन्ध, मुद्रा और प्राणायामपर अधिक रहता है। उसे शरीरके निम्न भागमें स्थित मूलाधार-चक्रके अन्दर सोयी हुई कुण्डलिनी-शक्तिको जगाकर उसे शेष पाँच चक्रोंके मार्गसे सहस्रारचक्रमें ले आनेकी धुनि सवार रहती है। यह सहस्रारचक्र मस्तकके ऊर्ध्वभागमें ब्रह्मरन्ध्रके समीप स्थित है। यहाँ कुण्डलिनी-शक्तिका शिवके साथ योग हो जाता है। तब योगी निर्विकल्प समाधिमें स्थित होकर मुक्ति एवं भुक्ति (आध्यात्मिक आनन्द) दोनों प्राप्त कर लेता है। प्राणायामका अभ्यास करते समय उसे चार अवस्थाओंका अनुभव होता है जिन्हें 'आरम्भावस्था', 'घट-अवस्था', 'परिच्छाया-अवस्था' और 'निष्पत्ति-अवस्था' कहते हैं।

भक्तियोग

भक्त श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदनरूप नवधा भक्तिका अभ्यास करता है। वह अपनी रुचि, प्रकृति, साधनकी योग्यता तथा स्थितिके अनुसार शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य इन पाँच भावोंमेंसे किसी एक भावका वरण करता है और सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य तथा सायुज्य-मुक्तिको प्राप्त होता है।

उसकी इस प्रकारकी मुक्ति क्रममुक्ति कहलाती है। इस क्रममुक्तिको प्राप्त भक्त ब्रह्मलोकमें जाकर वहाँ महाप्रलय-पर्यन्त ब्रह्माके समीप रहता है और तदनन्तर ईश्वरके साथ ही निर्गुण ब्रह्ममें लीन हो जाता है।

ज्ञानयोग

ज्ञानयोगका साधक मुक्तिके चार साधनों—विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति (शम, दम, तितिक्षा, उपरति, श्रद्धा, समाधान) और मुमुक्षुत्वको बढ़ाता है। तदनन्तर वह श्रुतियोंको सुनता है, फिर मनन करता है और अन्तमें निदिध्यासन करता है, वह प्रणवके तथा जीव और ब्रह्मकी एकताके प्रतिपादक 'तत्त्वमसि' वाक्यके वास्तविक अर्थका ध्यान करता है। इस साधनको अन्तरङ्ग साधन कहते हैं। तब उसे आत्मसाक्षात्कार अथवा ब्रह्मानुभव होता है।

प्रारम्भमें उसे सविकल्प श्रेणीकी शब्दानुविद्ध एवं दृश्यानुविद्ध समाधि होती है। फिर वह अद्वैतभावनारूप (वृत्तिसहित) समाधिमें प्रवेश करता है और अन्तमें अद्वैतावस्थानरूप (वृत्तिरहित) समाधिको प्राप्त होता है। ज्ञानयोगकी सात भूमिकाएँ हैं, जिनपर साधक क्रमशः आरूढ़ होता है। इनके नाम हैं शुभेच्छा, सुविचार, तनुमानसी, सत्त्वापत्ति, असंसक्ति, पदार्थाभावनी और तुरीय।

ज्ञानी सद्योमुक्ति अथवा आत्यन्तिक प्रलयको प्राप्त होता है। वह किसी लोकविशेषमें नहीं जाता। उसके प्राणोंका उत्क्रमण नहीं होता। स्थूल शरीरका पतन होते ही वह ब्रह्ममें लीन हो जाता है।

जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्तिका भेद

ज्ञानीको जीवित अवस्थामें ही विदेहमुक्ति मिल जाती है। ज्ञानी जब सत्त्वापत्ति नामक चतुर्थ भूमिकापर आरूढ़ होता है उसी समय वह जीवन्मुक्त हो जाता है। जब उसके अन्दर देहाभिमान लेशमात्र भी नहीं रहता तब उसे विदेहमुक्त कहते हैं। तुरीयावस्थाको प्राप्त होनेपर ज्ञानी जीवन्मुक्त कहलाता है। वही जब तुरीयातीत अवस्थाको प्राप्त होता है तब उसे विदेहमुक्त कहते हैं। ज्ञानीको जब जाग्रत्-अवस्था स्वप्नवत् भासने लगती है तब वह जीवन्मुक्त कहलाता है। वही जाग्रत्-अवस्था जब उसके लिये सुषुप्ति-के समान हो जाती है तब उसकी विदेहमुक्त-अवस्था कहलाती है। जिस अवस्थामें चित्तका अरूप नाश होता है, उस अवस्थाको जीवन्मुक्ति कहते हैं। जिस अवस्थामें उसका स्वरूप नाश हो जाता है उसे विदेहमुक्ति कहते हैं। जीवन्मुक्त संसारमें रहकर संसारका कार्य कर सकता है। भगवान् शङ्कराचार्य जीवन्मुक्त थे। भगवान् श्रीदत्तात्रेय और जडभरत विदेहमुक्त थे। वास्तवमें इनकी आभ्यन्तरिक स्थितिमें कोई अन्तर नहीं है।

भक्त और ज्ञानीकी तुलना

ज्ञानयोगी इस दुस्तर भवसरिताको तैरकर पार करता है। भक्तियोगी उसीको भक्तिरूप नौकापर आरूढ़ होकर पार करता है। ज्ञानी आत्मनिर्भरता तथा आत्मबलका आश्रय लेकर ज्ञान प्राप्त करता है। भक्त आत्मसमर्पणके द्वारा भगवान्का साक्षात्कार करता है। ज्ञानी अपने स्वरूपको पहचानकर अपने अहङ्कारका विस्तार कर देता

हैं। भक्त अपने आपको भगवान्‌के अर्पण कर देता है, भगवान्‌के प्रति आत्मनिवेदन कर देता है और उनके सामने दीन-हीन बन जाता है। भक्त मिश्रीका स्वाद लेना चाहता है। ज्ञानी स्वय मिश्री बनना चाहता है। भक्तको क्रममुक्ति मिलती है। ज्ञानीको सद्योमुक्ति प्राप्त होती है। भक्त बिल्लीके बच्चेके समान भगवान्‌की सहायताकी अपेक्षा रखता है और भगवान्‌को असहाय होकर पुकारता है। ज्ञानी बँदरियाके बच्चेकी भाँति स्वय दृढ़तापूर्वक अपनी माताकी छातीसे चिपट जाता है।

ज्ञानी और योगीकी तुलना

ज्ञानी चलते-फिरते, खाते-पीते तथा बात-चीत करते हुए भी अपना साधन कर सकता है। उसे किसी एकान्त कोठरीमे आसन लगाकर बैठनेकी आवश्यकता नहीं है। राजयोगीको अभ्यासके लिये आसनकी भी अपेक्षा है और अलग स्थानकी भी। ज्ञानी सर्वदा समाधि (सहज अवस्था) में स्थित रहता है। उसकी नित्य-दृष्टि होनेसे वह मायाके वशीभूत नहीं होता। ज्ञानीके लिये 'समाधि' तथा 'व्युत्थान' दो अवस्थाएँ नहीं होतीं। परन्तु योगी जब समाधिसे नीचे उतरता है उस समय उसे माया फिर घेर लेती है। जिस प्रकार हम किसी शीशीका मुँह ढक्कनसे बन्द कर देते हैं उसी प्रकार राजयोगी भी अपने प्रयत्नसे चित्तरूपी शीशीका मुँह बन्द कर देता है, जिससे उसके अन्दर वृत्तियोंका आना-जाना बन्द हो जाता है। दूसरे शब्दोंमे, वह चित्त-रुपी बर्तनको बिल्कुल खाली कर देता है। ज्ञानी अपनी वृत्तियोका इस प्रकार निरोध नहीं करता। वह उनका साक्षी बन जाता है। वह अपने सात्त्विक अन्त करणसे ब्रह्माकार वृत्ति उत्पन्न करता है। ज्ञानी अपने सत्सङ्कल्पके द्वारा सिद्धियोंको प्रकट करता है, राजयोगी धारणा-ध्यान-समाधिके समवायरूप सयमके द्वारा ऐसा करता है। राज-योगीकी साधना मनसे प्रारम्भ होती है। ज्ञानी अपना अभ्यास बुद्धि और इच्छाशक्तिके आधारपर करता है।

हठयोगी और राजयोगीकी तुलना

हठयोगका सम्बन्ध स्थूल शरीर और प्राणवायुके निग्रहसे है। राजयोगका सम्बन्ध मनसे है। राजयोग और हठयोग अन्योन्याश्रित हैं। वे एक दूसरेके आवश्यक सहकारी अङ्ग हैं। दोनोका ज्ञान हुए बिना कोई पूर्ण योगी नहीं बन सकता।

हठयोगका समुचित अभ्यास जहाँ समाप्त होता है वहींसे राजयोगका प्रारम्भ होता है।

हठयोगकी साधना शरीर और प्राणसे शुरू होती है। राजयोगकी साधनाका मनसे प्रारम्भ होता है।

हठयोगी प्राण और अपानवायुको सयुक्तकर उन्हें भिन्न-भिन्न चक्रोमेसे ले जाता है। तब उसे सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। राजयोगीको उपर्युक्त सयमसे सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। ज्ञानी इन्हीं सिद्धियोंको सत्सङ्कल्पसे प्रकट कर देता है। भक्त आत्मसमर्पणके द्वारा भगवत्कृपाको प्राप्तकर सारे ऐश्वर्योंका स्वामी बन जाता है।

उपसंहार

शास्त्र अनन्त हैं, जाननेकी बातें बहुत-सी हैं, समय अति स्वल्प है, उसपर अनेको विघ्न हैं। अतः मनुष्यको चाहिये कि वह केवल सारको ग्रहण करे, जिस प्रकार हस पानी मिले हुए दूधमेसे केवल दूधको ले लेता है और पानीको छोड़ देता है।

हे अमृतके पुत्रो! जागो। अपनी आँखें खोलो। ससारके दुःखोंका स्मरण करो। मृत्युको याद करो। महात्माओंको याद करो। ईश्वरको याद करो। उनके नामोंका गान करो। भक्तिका साधन करो। नवधा भक्ति-का अभ्यास करो। भागवतोंकी सेवा करो। भगवान्‌की अन्तःस्थित सत्ताका सर्वत्र अनुभव करो। श्रीकृष्णका दर्शन इसी जीवनमे, नहीं, इसी क्षणमें प्राप्त करो। दिव्य भागवत अथवा जीवन्मुक्त बनो और सर्वत्र, चारों दिशाओं-मे सुख, शान्ति और आनन्दकी वर्षा करो। मित्रो! मैं आपको एक बार फिर याद दिलाता हूँ, उस वृन्दावन-विहारी वशीरवकारीको एक क्षणके लिये भी मत भूलो। वही तुम्हारा शाश्वत सनातन सङ्गी है, वही तुम्हारे आनन्द-का स्रोत है, वही तुम्हारे जीवनका आधार है।

उनके 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' इस द्वादशाक्षर मन्त्रको सर्वदा रटते रहो। तुम सबपर भगवान नन्दनन्दन-की कृपा बरसती रहे।

हरि. ॐ तत्सत्।

गीताका योग

(लेखक—स्वामी श्रीसहजानन्दजी सरस्वती)

यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो मानना होगा कि 'योग' एक पेचीदा पहेली है। जितने अर्थोंमें इस योग शब्दका प्रयोग अबतक हुआ है शायद ही किसी अन्य शब्दका उतने अर्थोंमें हुआ हो। यद्यपि कोषोंमें—

योगोऽपूर्वार्थसम्प्राप्तौ सङ्गतिध्यानयुक्तिषु ।
वपुःस्थैर्यप्रयोगे च विष्कम्भादिषु भेषजे ॥
विश्रब्धघातिनि द्रव्योपायसंनहनेष्वपि ।
कार्मणेऽपि च योगः स्यात् '' . ।

आदि वचनोंके द्वारा नयी चीजकी प्राप्ति, सङ्गति, ध्यान, युक्ति, शरीरकी दृढता, प्रयोग, (ज्योतिषियोंके) विष्कम्भ आदि, औषधि, विश्वासघाती, द्रव्य, उपाय, कवच, तन्त्रमन्त्रक्रिया, कर्मठ इन चौदह अर्थोंमें इसे व्यवहृत किया है और धातुपाठमें युजिर् तथा युज् इन दो धातुओंके तीन अर्थ योग, समाधि तथा संयमन लिखे गये हैं, तथापि इससे यह नहीं मान लेना होगा कि योग शब्दके इतने ही अर्थ हैं। केवल श्रीमद्भगवद्गीताके ही अठारह अध्यायोंमें प्रत्येकके प्रतिपाद्य विषयको भी 'योग' ही नाम दिया गया है—अर्जुनविषादयोग, साङ्ख्ययोग, कर्मयोग आदि। इससे यह तो सिद्ध ही है कि योग शब्दार्थके भीतर कम-से-कम अठारह पदार्थ और भी आ गये। बेशक गीताके साङ्ख्ययोग, कर्मयोग आदि शब्दोंके साथ ही प्रत्येक अध्यायके अन्तमें पठित समाप्तिसूचक सङ्कल्पोंमें 'योगशास्त्रे' को देखकर बहुत लोगोंने 'योगशास्त्र' का 'कर्मयोगशास्त्र' अर्थ कर दिया है और नारायणीय धर्मके साथ, जिसका प्रतिपादन महाभारतके शान्तिपर्वमें आया है, गीताप्रतिपादित विषयका मिलान करके गीतामें भी नारायणीय धर्मका ही निरूपण माना है और इस निर्णयपर पहुँचनेमें उन्होंने 'भगवद्गीता' नामसे भी सहायता ली है। कारण, नारायणीय धर्मके वक्ता जहाँ नारायण हैं वहाँ गीताधर्मके वक्ता भी भगवान् या नारायण ही हैं और भगवद्गीता शब्दका यही अर्थ भी है। फिर भी हमारे जानते ऐसा करना खींचतानकी पराकाष्ठा एवं दूरकी कौड़ी लाना है। आखिर 'अर्जुनविषादयोग'में, जो प्रथमाध्यायका प्रतिपाद्य विषय है, कौन-सा कर्मयोग है? केवल तीसरे अध्यायके अन्तके सङ्कल्पमें 'कर्मयोग' आया है। बाकीमें तो साङ्ख्ययोग, ज्ञानकर्मसन्यासयोग, श्रद्धात्रयविभागयोग, दैवासुरसम्पद्विभागयोग आदि शब्द आये हैं। इनमें कहाँ कर्मयोग छिपा हुआ है? और अगर इन सभीका अर्थ प्रकारान्तरसे कर्मयोग ही करनेका हठ किया जाय, जो असम्भव है, तो फिर योग शब्द वही भानमतीकी पिटारी ही सिद्ध हो जाता है और इसके भीतर संसारभरके पदार्थोंका समावेश हो ही जाता है। इससे अच्छा है कि गीताके प्रत्येक अध्यायके प्रतिपाद्य विषयोंको ही योग नाम दे डालें और भगवद्गीता नाम उसका केवल इसीलिये मान लें कि उसमें सर्वत्र 'भगवानुवाच' यही लिखा है। न कि नारायणीय धर्मसे इसका कोई भी सम्बन्ध है। इसीलिये 'भगवद्गीता' यह स्त्रीलिङ्ग नाम भी ठीक हो जाता है। क्योंकि यह गीता तो शब्दान्तरसे भगवान्के द्वारा गायी हुई (उपदिष्ट) उपनिषद् ही है और उपनिषद् शब्दके स्त्रीलिङ्ग होनेके कारण उसका विशेषणरूप गीता शब्द भी स्त्रीलिङ्ग हो गया है। यदि नारायणीय धर्मकी बात होती तो 'भगवानुवाच' की जगह 'नारायण उवाच' कहते और नाम भी नारायणगीता रखते। या नहीं तो धर्म शब्दका खयाल करके पुल्लिङ्ग या नपुंसक लिङ्ग 'गीतः' 'गीतम्' रखते।

लेकिन इतनेसे ही योगके शब्दार्थका निश्चय तो हो नहीं जाता और योग क्या है यह पहेली सुलझनेके बजाय और भी उलझ जाती है। बहुत लोग यह समझते होंगे कि पतञ्जलिके योगदर्शनमें शायद इसकी सुलझन हो। लेकिन उन्हें यह जानकर आश्चर्य होगा कि जहाँ गीताके अठारहों अध्यायोंमें सब मिलाकर योग, युक्त, युञ्जन् आदि अर्थात् उसी युज् धातुसे बने शब्दोंका प्रयोग प्रायः डेढ़ सौ बार आया है और यदि इसीमें हर एक अध्यायके समाप्तिसङ्कल्पमें दो-दो बार लिखे योग शब्दको जोड़ दें तो एक सौ नब्बेसे अधिक या प्रायः दो सौ बार आया है ऐसा कह सकते हैं, वहाँ योगदर्शनमें कुल

मिलाकर केवल नौ-दस ही बार इसका प्रयोग हुआ है और उसमें भी योगके अर्थमें केवल चार ही बार, जैसा कि पहले पादके दूसरे, दूसरेके पहले और अट्ठाईसवें और चौथेके सातवें सूत्रोंसे स्पष्ट है। इसके विपरीत गीताके प्रायः सभी प्रयोग इसी अर्थमें हैं। अतः यह तो मानना ही होगा कि योग शब्दको किसी-न-किसी रूपमें गीतामें जितनी बार दुहराया गया है उतनी बार शायद ही किसी और पुस्तकमें दुहराया है। एक बात और है। गीतामें योग शब्दके अभ्यासके साथ ही उसका निर्वचन भी स्पष्टरूपसे दो श्लोकोंमें जरूर किया है और वे हैं द्वितीय अध्यायके ४८ तथा ५० श्लोक जिनमें लिखा है कि 'कर्म और उसके फलमें लिपटनेके भाव (आसक्ति) को छोड़ और उद्देश्य पूरा होने-न-होनेमें बेफिक्र होकर योगबुद्धिसे कर्म करो, क्योंकि इसी अनासक्ति (आसक्तित्याग) और पूरा होने-न-होनेमें बेफिक्रीको—समताको योग कहते हैं।'—'कर्मके सम्बन्धकी विशेषज्ञताको—कौशलको—योग कहते हैं।'

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥

(गीता २। ४८)

'योगः कर्मसु कौशलम्' (गीता २। ५०)

यद्यपि योगदर्शनमें भी 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' (१। २) तथा 'तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः' (२। १) सूत्रोंमें योगशब्दकी व्याख्या की गयी है। फिर भी वह दूसरे ढगकी है-सकुचित एव एकदेशी है। वह व्याख्या केवल योगदर्शनवालोंके ही कामकी है और यह तो मानना ही होगा कि योगदर्शन जनसाधारणकी पहुँचके परेकी चीज है—व्यावहारिक जीवनकी चीज नहीं है। उससे केवल विरक्त या अध्यात्मवादी ही लाभ उठा सकते हैं जिनकी सख्या उँगलियोंपर गिनी जा सकती है, संसार तो दिनरात कामों (कर्म) में लिप्त है, फँसा है, उसे चित्तवृत्तिनिरोधसे क्या काम ? फलतः जिन कामोंको वह कर रहा है उनसे उसे न हटाकर भी कोई ऐसी युक्ति (तरकीब) बतायी जाय जिससे अभीष्टकी सिद्धि और असिद्धि, हार-जीत, हानि-लाभ आदिकी उसके दिलपर चोट न पहुँचे और हर हालतमें वह एक-सा रहे—निर्द्वन्द्व रहे तथा जनककी तरह हिम्मतसे कह सके कि समूची मिथिला जली सही, लेकिन मेरा क्या जला ?

मिथिलायां प्रदग्धायां न मे किञ्चन दह्यते।

—तो कितना सुन्दर हो, कितना अच्छा हो और इस बेहाल दुनियाको वह कितनी रुचे! इतना ही नहीं, काम करते-करते थक गये और नतीजा कुछ न हुआ तो फिर शुरू किया और इस तरह करते-करते थक गये, मरनेकी नौबत आ गयी, फिर भी यदि काम छूट जानेका मौका आया तो मारे चिन्ताके जलने लगे, यहाँतक कि अन्त-दममें भी उस कामकी फिक्रमें ही बेहाल हैं! ठीक वही हालत है कि बँदरीका बच्चा तो मर गया, मगर वह उसे फिर भी छातीसे चिपकाये फिरती है और छोड़ना नहीं चाहती। ऐसी मनोवृत्ति भी कैसी भयङ्कर और दुःखद है! यह कर्मकी ममता भी कैसी भयावनी है! ठीक वैसी ही है, जैसी फलकी। आसक्ति सभी बुरी है फिर वह चाहे फलकी हो या कर्मकी, वह समुद्र या नदीमें तैरनेवालेके गलेकी चक्की है। फल जबतक कच्चा है, डालमें लगा रहता है और बलात् उसका तोड़ना ठीक नहीं है। साथ ही, पकनेपर जब वह अनायास डाल (वृन्त) से छूट रहा तो हठात् वृन्तमें ही उसे चिपकाये रखना या रखनेकी कोशिश कम बुरी नहीं है, ऐसा करना तो फल, वृन्त, डाल, वृक्ष सभीको बेकार बनाना है। ऐसी हालतमें यदि इस मनोवृत्तिको हटानेका कोई उपाय हो तो कितना बढ़िया हो, रमणीय हो! यह उपाय, तरकीब या रास्ता योगदर्शनके अरण्यमें मिलनेका नहीं; इसीलिये भर्तृहरिने कहा है और ठीक ही कहा है कि योगमें तो रोगोंका खतरा है—'योगे रोगभयम्'। परिणाम यह होता है कि साधारण जनताकी ज्ञानपिपासा और आकांक्षा योगदर्शनके पढ़नेके बाद भी शान्त नहीं होती। वह या तो उसे समझ पाती ही नहीं या उसे अपने लिये बेकार समझती है। साथ ही सांसारिक झंझटोंमें लिप्त रहनेके कारण कार्योंके फलाफलसे होनेवाली वेदनाओंसे समय-समयपर ऊबकर उनसे छुटकारा भी चाहती है जो सहज हो। क्योंकि समय-समयपरकी यह ऊब तो केवल मसानियाँ वैराग्य है, स्वभावतः लोग कामोंसे तो अलग हो ही नहीं सकते, उन्हें कामोंमें ही मजा आता है। हाँ, कभी-कभी वह मजा किरकिरा हो जाया करता है और उसी किरकिरेपनसे पिण्ड छुड़ानेकी इच्छा लोगोंको स्वभावतः रहती है और गीताके 'योग' निर्वचनकी खूबी, इसीमें है कि वह उस आकांक्षाकी पूर्ति करता है, यद्यपि आज हमें यह बात विदित न हो और मतवाद एव साम्प्रदायिक आग्रहमें पड़कर हमने गीताके इस रहस्यको भुला दिया है, तथापि गीताके सर्वाधिक

लोकप्रिय बननेका प्रारम्भिक कारण यही है कि जन-साधारणके भावोंको समझ उन्हींके उपयुक्त साधनोंके सम्पादनद्वारा उनकी पूर्त्तिका उपाय उसमें बताया गया है।

बहुत लोगोंके मनमें यह शङ्का होती है कि गीतामें ही योगकी दो परिभाषाएँ क्योंकर दी गयी हैं जो परस्पर मेल नहीं खाती हैं। एकमें तो 'समत्व' का नाम योग रक्खा गया है और दूसरेमें 'कौशल' का। समत्व कर्म तथा फलकी अनासक्ति है जो निषेधात्मक है और कर्ममें 'कौशल' विशेषज्ञता या विशेषरूपकी जानकारी है जो भावात्मक है। कुशल या विशेषज्ञ (specialist) तो वही होता है जो उस वस्तुके रगरेशेको रत्ती-रत्ती जाने। ऐसी हालतमें तो यह विशेष ज्ञान विधानात्मक (positive) हुआ और पूर्वोक्त अनासक्ति निषेधात्मक (negative)। लेकिन यदि थोड़ा भी प्रवेशपूर्वक देखा जाय तो यह बात नहीं है। आखिर योगके उक्त दोनों निर्वचन गीताके द्वितीय अध्यायमें ही नहीं, किन्तु पास-पासके ही श्लोकोंमें लिखे गये हैं। ४८ और ५० के बीचमें तो केवल ४९ सख्या-वाला श्लोक ही व्यवधायक है। बल्कि ४९वें श्लोकमें जो 'बुद्धियोग' शब्द आया है उसीका स्पष्टीकरण ५० वेंमें है। फलतः व्यवधान भी नहीं है, किन्तु दोनों निर्वचन आगे-पीछे मिले ही हुए हैं। ऐसी दशामें पूर्वापरविरोधका अवसर ही कहाँ ? जब साधारण मनुष्य भी एक साथ बोलनेमें एक समय पूर्वापरविरोधसे बचता है तो फिर गीतोपदेशक श्रीकृष्ण या गीताके पदबद्धकर्त्ता व्यासका क्या कहना ? असलमें यह मानव स्वभाव है कि बुरा-भला जो कुछ किया जाता है उसका, उसके फलका तथा ससार-में निरन्तर होनेवाली घटनाओंका प्रभाव दिल-दिमागपर—आत्मापर—पड़ता ही है। यह असम्भव है कि आईनेके सामने कोई पदार्थ लाया जाय और उसकी छाया उसमें न पड़े—प्रतिबिम्ब न दीखे। और घटनाचक्रका यही आत्मा-पर पड़नेवाला प्रभाव हमारे सभी कष्टों एव वेदनाओंका कारण है। जबतक दिल-दिमाग दुरुस्त हैं, काम करते हैं तबतक ये वेदनाएँ अनिवार्य हैं। गाढ़ी नींदके बाद जब कोई हृष्ट-पुष्ट मनुष्य उठता है तो उसके दिल-दिमाग शान्त और एकरस—सम मालूम होते हैं और इस दशाको हम दूसरे शब्दोंमें बैलेन्स्ड (balanced) कह सकते हैं। लेकिन उसके बाद घटनाचक्रके करते रसभङ्ग शुरू होता है और मनुष्य कभी प्रसन्न और कभी खिन्न होता है, कभी रोता है तो कभी हँसता और कभी उदासीन बनता है। यही विषमताकी (Unbalanced) अवस्था उसके दिल दिमागकी है। यदि यह अवस्था न आवे तो जिन्दगी कितनी मजेदार हो, जीवन कितना सरस हो, जैसा कि अबोध बच्चोंमें प्रायः पाया जाता है। गाढ़ निद्रा और बेहोशी-की हालतमें भी इस विषमताका पता नहीं रहता, मानो आईना बन्द है और प्रतिबिम्ब नहीं पड़ते। मानव-हृदय और मानव-मस्तिष्क इतने भावग्राही हैं, भावव्यञ्जक हैं, ससर्गग्राही हैं, sensitive हैं कि प्रत्येक घटनाका प्रभाव लिये बिना नहीं रहते, अवश्य प्रभावित हो जाते हैं। इधर हमारी हालत यह है कि अच्छे भावों और उनके परिणामों-के साथ तो तन्मय होना हमें पसन्द है लेकिन असद्भावों और दुष्परिणामोंसे बचना चाहते हैं। यह परस्परविरोधी बातें हैं। यह ऐसी ही हैं जैसी दिनको चाहकर रातको न चाहना। ससार तो परिणामी है, परिवर्तनशील है। फलतः अच्छेके बाद बुरे और बुरेके बाद अच्छेका आना अनिवार्य है। इसमें कोई अन्तर नहीं कि हम दुःख चाहें या सुख। इन दोनोंको तो अयुत सिद्ध कहना चाहिये जिसके मानी हैं कि एकके बिना दूसरा रह ही नहीं सकता। अतएव बुद्धिमानी इसीमें है कि हम एकको भी न चाहें। यह कोई असम्भव बात नहीं। हाँ, कठिन अवश्य है। और जब यह दशा प्राप्त हो गयी तो दिल-दिमाग एकरस (balanced) रहते हैं, सम रहते हैं। इसी दशाका नाम 'समत्व' है जिसका उल्लेख उक्त ४८वें श्लोकमें है।

कह ही चुके हैं कि कामोंका प्रभाव दिल-दिमागपर पड़ता ही है। बल्कि यों कहना चाहिये कि कर्मोंके फलके रूपमें जो हानि-लाभ, जय-पराजय, सुख-दुःख आदि होते हैं उनका अनुभव दिल-दिमाग तभी करते हैं, उनसे प्रभावित तभी होते हैं, जब उन कर्मोंसे पहले प्रभावित हो लेते हैं। बीजमें अङ्कुर-उत्पादनकी शक्ति होती है जो प्रतीत नहीं होती। लेकिन भाड़में डाल देनेपर वह शक्ति नष्ट हो जाती है यद्यपि बीज ज्यों-का-त्यों रहता है। ठीक यही दशा कामोंकी है। जो काम हमारे दिल-दिमागको प्रभावित नहीं करते उनकी सुखदुःखानुभावक शक्ति नष्ट हो जाती है। बेहोश आदमीको छुरी भोंकनेकी जानकारी न होनेसे उसके बाद होनेवाली पीड़ाका भी अनुभव नहीं होता। पागलों तथा अबोधोंकी तन्मयता क्रियाके साथ न होनेसे तज्जन्य फलसे भी वे लोग सुखी-दुःखी नहीं

होते। अतएव बुरे-भले कर्मोंके साथ यदि हमारी तन्मयता छूट जाय तो फिर उनके फलोंसे भी पिण्ड अनायास ही छूटे। इसके लिये यदि कोई हिकमत, उपाय या तदबीर हो तो क्या खूब! काम करनेसे तो पिण्ड छूट नहीं सकता। मजबूरन कुछ-न-कुछ करना ही पडता है—

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥
(गीता ३। ५)

फिर कर्मोंसे बचनेकी निरर्थक कोशिशसे क्या प्रयोजन और क्या प्रयोजन इस बेहूदा दुराग्रहसे कि मै अमुक कर्म करूँगा ही? एकमात्र उनकी आसक्तिसे बचनेकी कोशिशमें बुद्धिमानी है जिससे फल भोगने न पड़ें। इसी बुद्धिमानी-को, चातुरीको, कौशलको 'योग' कहा है उक्त ५०वें श्लोकमें और यह कौशल वही अनासक्ति या समता या दिल-दिमागका balance है। इस प्रकार देखने-से दोनोंमें विरोध कहाँ है? बात असल यह है कि ४८ वें श्लोकमे 'समत्व' नामक जिस योगका उल्लेख किया है उसीका विशदीकरण ४९, ५०, ५१ आदि आगेके श्लोकोंमें किया है और कहा है कि कर्मोंको करता हुआ भी ऐसी बुद्धिमत्ताका सम्पादन करे, ऐसे कौशलको प्राप्त करे जिससे सिद्धि, असिद्धिमे हमेशा बेफिक्र रहे। क्योंकि बिना ऐसी बुद्धिमत्ताके सुकृत-दुष्कृत या भले-बुरे कर्मों तथा उनके फलोंसे छुटकारा नहीं हो सकता। इसके बादके ५१वें श्लोक 'कर्मज बुद्धियुक्ता हि' में फिर उसी बुद्धिमत्ता-का विवेचन किया है और दिखलाया है कि किस प्रकार अनासक्ति या समत्वज्ञानरूपी बुद्धिमत्ताके प्राप्त होनेपर जन्म-मरणसे छुटकारा हो जाता है।

गीताके इस योगका निष्कर्ष यह है कि मनुष्यको किसी प्रकारका आग्रह कर्मके सम्बन्धमे नहीं होना चाहिये। प्राकृत नियमोंके अनुसार प्रवाहपतित कर्मोंसे भागना भी ठीक नहीं और अगर सस्कारवश कर्म अपने-आप ही छूट जायँ या एक छूटकर उसकी जगह दूसरा आ जाय तो हर-हालतमे महाभारतोक्त धर्मव्याधकी तरह उसमें भला-बुरा नहीं मानना चाहिये। क्योंकि न तो कर्मोंमे ही कुछ रक्खा है और न उनके त्यागमें ही। कर्मोंके करने या उनके त्यागके सम्बन्धमें जो हमारी मनोवृत्ति है, भावना है वही असल चीज है और उसीके सम्पादनमे हमारा ध्यान रहना चाहिये। यदि कर्मोंमें हमारी आसक्ति या ममता न हो तो वे हमसे छूट जायँगे, यह धारणा भ्रान्त है। कर्म तो सृष्टिके नियमान्तर्गत हैं। फिर वे छूटेंगे कैसे? और अगर उन्हें छूटना ही है तो आसक्ति या ममता उन्हे रख नहीं सकती। प्रत्युत यह आसक्ति विचारको अन्धा और दुर्बल बना देती है। कारण, आसक्ति तो एक प्रकारका हठ है और हठके साथ विवेकका सम्बन्ध ही क्या? आसक्तिमें बहुत बडा दोष है कि वह मनुष्यको अधीर बना देती है, साहसहीन कर देती है और अधीरताकी दशामें कोई भी काम ठीक-ठीक किया ही नहीं जा सकता। यह तो केवल कर्मकी आसक्तिकी बात है। फलकी आसक्ति तो और भी बुरी है। वह मनुष्यके ध्यानको बॉट देती है और जब ध्यान बलात् फलकी ओर चला जाता है तो पूरी शक्तिसे कर्मका अनुष्ठान हो नहीं सकता। साथ ही, जिसपर आसक्ति होती है उसीपर अधिक दृष्टि होती है। फल यह होता है कि कर्म या फलपर आसक्तिके करते उसीमें दृष्टि बँध जाती है और कर्मके साधनोंपर पूर्ण दृष्टि नहीं रहती। परिणाम यह होता है कि साधन-सम्पत्ति पूर्ण न होनेसे क्रिया (कर्म) ठीक नहीं होती, जिससे फल भी सन्दिग्ध रहता है। अतएव कर्म या उसके फलकी ओरसे दृष्टि हटाकर कर्मके साधनोंपर रखनी चाहिये। एतदर्थ दोनोंकी आसक्ति त्याज्य है। बात भी है कि जब मनोयोगपूर्वक कर्मके साधन ठीक रहेंगे तो कर्मकी पूर्ति और उसके द्वारा फलकी सिद्धिको कोई रोक नहीं सकता, वह अनिवार्य है। ऐसी दशामें कर्म और फल दोनोंकी आसक्ति सर्वथा हेय है और जब वह रही ही नहीं तो दिलदिमागकी समता (Balance) अवश्य ही रहेगी। गीताके 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' (२। ४७), 'कृपणाः फलहेतवः' (२। ४९) आदिका यही भाव है।

हृदय तथा मस्तिष्कके इस समता (Balance) को पातञ्जलयोगवाले भी अपने रास्तेमे प्राप्त करना चाहते हैं। लेकिन यह मार्ग साधारण लोगोंके लिये, जिनमें ससारसे वैराग्य नहीं है, नहीं बताया गया है। क्योंकि 'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः' (१। १२) सूत्रके द्वारा योगकी सिद्धि अभ्यास और वैराग्य दोनोंकी सहायतासे बतायी गयी है। इसीलिये इस योगको हम व्यावहारिक नहीं कहते। जीते-जी मृतक बननेको कितने

लोग तैयार हो सकते हैं ? दूसरी ओर गीताका योग है। इसमें किसी भी कामकी मनाही नहीं है। प्रत्युत 'कर्म ज्यायो ह्यकर्मण.' (गीता ३ । ८) के द्वारा नहीं करनेकी अपेक्षा कुछ भी करना अच्छा बताया गया है। यह भी नहीं कि कर्मके फलसे वञ्चित करनेका यत्न किया गया हो। प्रत्युत जहाँ आसक्तिके करते फल सन्दिग्ध रहता है, वहाँ गीताने अनासक्तिके द्वारा उसे और भी निश्चित कर दिया है, कारण, कर्मोंके सुसम्पादनसे उनके फल अवश्यम्भावी हैं। यह भी नहीं कि किन्हीं विशेष प्रकारके कर्मोंमें कोई महत्ता रक्खी गयी हो। वहाँ तो—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
(गीता ९ । २७)

—के द्वारा साधारण खान-पानसे लेकर यज्ञ-हवनादि सभीके द्वारा समान रूपसे कल्याण लिखा हुआ है। यम, नियमादि कठिन व्रतोंका भी प्रश्न नहीं है और प्राणायाम, आसन आदिका भी नहीं। किन्तु सभी कुछ करते-कराते रहनेपर भी या तो यह भाव रखना कि इन कर्मोंके द्वारा हम भगवान्‌की पूजा करते हैं, या यह कि प्रकृतिनियमके वश ये हमारे लिये कर्तव्य हैं, इसीसे इन्हें करते हैं, अथवा जो कुछ करते हैं वह यज्ञ हो रहा है—

तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ (गीता ९ । २७)

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
(गीता १८ । ९)

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र । (गीता ३ । ९)

—बस, इन तीनोंमेंसे किसी भी भावनासे, लेकिन कर्मके करने, न करने या उसकी फलकी आसक्ति छोड़कर, जितने भी कर्म छोटेसे बड़ेतक (यहाँतक कि मलमूत्रत्यागसे लेकर समाधितक) किये जाते हैं, सभी कल्याणकारक होते हैं। इस प्रकार 'आमका आम और गुठलीका दाम' चरितार्थ होता है। क्योंकि एक तो कोई विशेष परिश्रम या तैयारी नहीं करनी पड़ती, दूसरे कर्मोंके सांसारिक फल भी मिलते ही हैं, तीसरे दिल-दिमागकी एकरसता (Balance) बनी रहती है जिससे जीवन किरकिरा नहीं होता। चौथे परलोकमें बन्धन नहीं होता और अन्तमें कल्याण होता है। यद्यपि प्रारम्भिक अवस्थामें ये सभी बातें नहीं होती हैं किन्तु धीरे-धीरे एकके बाद दूसरी होती हैं। फिर भी इनका होना असम्भव नहीं। साथ ही यह मार्ग साधारण लोगोंके लिये भी सुकर होनेसे सार्वभौम एवं व्यावहारिक है। यही गीताके योगकी विशेषता है और इसीसे इसे सार्वभौम धर्म कहते हैं। इसके अनुसार किसी भी हिन्दू, मुसलमान, क्रिस्तान आदि सम्प्रदायका मनुष्य समानरूपसे कल्याण प्राप्त कर सकता है—

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
(गीता १८ । ४७)

—का भी यही अभिप्राय है। यदि गीताका यह योग प्रचलित हो जाय तो धार्मिक कलह स्वयमेव विलीन हो जायँ।

जैसा कि पहले कह चुके हैं गीतामें योग शब्दका प्रयोग प्रायः दो सौ बार आया है—सभी अध्यायोंमें यह शब्द ओतप्रोत है। केवल प्रथम और सत्रहवें अध्यायके श्लोकोंमें यह नहीं मिलता। यह भी बात है कि सर्वत्र योग शब्दका प्रयोग हमारे बताये अर्थमें ही नहीं हुआ है, किन्तु पातञ्जलयोगके अर्थमें तथा कोषमें निर्दिष्ट अर्थोंमें भी हुआ है और प्रत्येक अध्यायके प्रतिपाद्य विषयकी भी योगसंज्ञा गीतामें है। फिर भी यह गीताकी कोई माननीय विशेषता नहीं है और इससे जनताका कोई विशेष लाभ नहीं। गीताने मनुष्यके व्यावहारिक जीवनकी पारमार्थिक या पारलौकिक जीवनके साथ एकता करके उसे जो सर्वजनसाध्य व्यावहारिकता प्रदान की है वही उसकी विशेषता एवं उपादेयताका कारण है। चाहे घरमें हो या जंगलमें, हल जोतता हो या समाधिस्थ हो, नमाज पढ़ता हो, प्रार्थना करता हो या सन्ध्योपासनमें लगा हो, हर हालतमें वह समानरूपसे कल्याणका अधिकारी हो सकता है, इसे गीताने दार्शनिकरूपसे बताया है। यह बात इस रूपमें कहीं नहीं मिलती। यह गीताकी देन है—उसकी अपनी वस्तु है और यही गीताका योग है।